उ० प्र० हि० ग्र० अ० प्रकाशन : 66

भारतीय संस्कृति और कला

लेखक
वाचस्पति गैरोला

उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी • लखनऊ

प्रकाशक
ब्रह्मदत्त दीक्षित
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ

●

शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

●

प्रथम संस्करण
1973

●

मूल्य 17·50

●

डॉ० सतीश चन्द्र काला, निदेशक प्रयाग संग्रहालय

●

●

मुद्रक
पर्वतीय मुद्रणालय
18, राय रामचरन दास रोड, इलाहाबाद-2

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1964 . 66) की सस्तुतियो के आधार पर भारत सरकार ने 1968 मे शिक्षा-सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी, 1968 को ससद के दोनो सदनो द्वारा इस सम्बन्ध मे एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एव युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओ के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्य पुस्तको के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चय किया। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार की शत-प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य मे एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य मे भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रन्थ-निर्माण की योजना के अन्तर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओ की पाठ्य पुस्तको को हिन्दी मे अनूदित करा रही है और अनेक विषयो मे मौलिक पुस्तको की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रन्थो में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत वे पाण्डुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही थी, जो भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अधिकरणो द्वारा तैयार की गयी थी।

प्रस्तुत पुस्तक इस योजना के अन्तर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गयी है। इसके लेखक श्री वाचस्पति गैरोला हैं। इसका विषय-सम्पादन डॉक्टर सतीश-चन्द्र काला, निदेशक, इलाहाबाद सग्रहालय ने किया है। इन विद्वानों के इस बहुमूल्य सहयोग के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी उनके प्रति आभारी है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रो के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षको द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जाएगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिन्दी मे मानक ग्रन्थो के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है कि इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिन्दी मे परिवर्तित हो सकेगा।

हजारी प्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष
शासी मण्डल
उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

विषय-विवृत्ति

खण्ड : 1

•

चित्र सूची

●

भारतीय संस्कृति और कला

खण्ड : 1

एक/भारत की भौगोलिक और प्राकृतिक स्थिति

भौगोलिक स्थिति

प्राचीन भारत की भौगोलिक तथा प्राकृतिक स्थिति के सम्बन्ध मे वेदो से लेकर पुराणो और परवर्ती विभिन्न विषयक ग्रन्थो तक पर्याप्त सामग्री बिखरी हुई मिलती है। इस सामग्री मे लोक-लोकान्तरो, समुद्रो, नदियो, पर्वतो और उपत्यकाओ का विस्तार से उल्लेख हुआ है। उसके द्वारा तत्कालीन राष्ट्रो, जनपदो, देशो और वहाँ के विभिन्न निवासी जातियो के स्वभाव, प्रभाव तथा नैतिक-वैचारिक मान-मूल्यो पर पर्याप्त प्रकाश पडता है।

वैदिक भारत के सम्बन्ध मे विचार करने पर ज्ञात होता है कि वेदो के ऋषि तत्कालीन भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिस्थितियो से अपरिचित एव अनपेक्षित नही थे। उनकी दृष्टि व्यापक थी और उन्होने समस्त ब्रह्माण्ड पर विचार करते हुए उसे पृथिवी-लोक, अन्तरिक्ष-लोक और स्वर्ग-लोक—इन तीन विभागो मे विभक्त किया, ऋग्वेद (८।१०।९०) मे जिसे 'त्रयी' नाम से कहा गया है। इस प्रथम विभाग पृथिवी को ऋग्वेद (१।२२।१५४) मे भूमि, क्ष्मा और ग्मा आदि अनेक नामों से कहा गया है और उसे महान् (मही), चौड़ी (उर्वी), विस्तृत (उत्ताना) तथा असीम (अपारा) बताया गया है। सहिताओं मे पृथिवी और अन्तरिक्ष का अलग-अलग वर्णन होने के साथ-साथ उनका युगल-रूप मे भी उल्लेख हुआ है; यथा रोदसी, क्षोणी और द्यावा-पृथिवी आदि। इन युगल रूपो को 'अर्धक' कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि वे एक-दूसरे की ओर मुँह किये हुए थे। जैसा कि प्राचीन ग्रन्थो और आधुनिक खोजों के आधार पर विदित होता है कि पृथिवी महासागर से घिरी हुई मण्डलाकार या वृत्ताकार है, मत्र-सहिताओ में ऐसा कुछ नही कहा गया है।

सहिताओ मे अन्तरिक्ष-लोक को 'वायुमण्डल' कहा गया है। मेघ और कुहरे से युक्त इस लोक को 'रजस्' भी कहा गया है, जो कि जलमय है और जिससे समस्त नदी-नदों को जल-धाराएँ प्राप्त होती हैं। उसे अन्धकारावृत भी

कहा गया है और उसका एक द्विस्तरीय तथा त्रिस्तरीय विभाजन भी देखने को मिलता है। इस अन्तरिक्ष-लोक मे जल, सोम, अलौकिक अग्नि और विष्णु का निवास है।

तीसरे ब्रह्माण्ड भाग स्वर्ग-लोक को संहिताओ मे दिव्, व्योमन् और प्रकाश से परिपूर्ण (प्रदीप्त स्थान, रोचन्) कहा गया है। इस व्योमन् मे देव, पितर और सोम निवास करते हैं। उसे सानु (शीर्ष), विष्टप् (सतह) और पृष्ठ (गिरिपृष्ठ) आदि नामो मे भी कहा गया है।

ब्रह्माण्ड विभाजन का यह त्रिविध स्वरूप-वर्णन ऋग्वैदिक ऋषियो की देन है। किन्तु इस विराट परिकल्पना के आधार पर वैदिक राष्ट्र की भौगोलिक परिधियो की वास्तविकता का पता लगाना संभव नही है। ऋग्वेद मे वस्तुतः इस दृष्टि से कुछ नही कहा गया है।

अथर्ववेद के कतिपय सन्दर्भो से तत्कालीन भारत के भौगोलिक परिवेश का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। अथर्ववेद (५।२२) मे गान्धार, मूजवत्, महावृष, बाह्लीक, मगध तथा अगदेश का उल्लेख हुआ है। एक मंत्र (१०।२।३१) मे अष्टचक्र (या अष्टापद) आकारयुक्त अयोध्या का और एक अन्य मंत्र (४।७।१) मे वरुणावती का उल्लेख हुआ है। वरुणावती मे विद्वानो ने वाराणसी का समीकरण किया है। अन्य दो मंत्रो (१८।२७।३-४) मे दक्षिण-पश्चिम समुद्र की ओर संकेत किया गया है।

अथर्ववेद के उल्लेखो से स्पष्ट होता है कि अथर्ववैदिक आर्यो ने दक्षिण, पश्चिम और पूर्व की ओर अपनी सीमाओ का विस्तार कर लिया था। वहाँ उन्होंने अपने प्रभुत्व तथा अपने देवताओ की स्थापना की और अपनी सस्कृति का विकास किया। उक्त उल्लेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि पश्चिम मे बल्ख (बाह्लीक) से लेकर पूर्व मे बिहार तक अथर्ववैदिक आर्यो का अस्तित्व व्याप्त हो चुका था।

प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध मे 'मनुस्मृति' मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है। कहा जाता है कि मनु द्वारा सूत्र-रूप मे प्रोक्त उपदेशो को भृगु मुनि ने श्लोक-रूप मे निबद्ध कर 'मनुस्मृति' के रूप मे प्रकाशित किया। किन्तु 'मनुस्मृति' का जो वर्तमान स्वरूप है उसको विद्वानो ने शुग युग (द्वितीय या प्रथम शती ई० पूर्व) का बताया है।

'मनुस्मृति' मे प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति के चार रूप बताये गये हैं, जिनके नाम हैं : ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश और आर्यावर्त।

ब्रह्मावर्त

मनु ने ब्रह्मावर्त की सीमाओं को निर्धारित करते हुए 'मनुस्मृति' (२।१७) मे लिखा है कि 'सरस्वती और दृषद्वती, इन दो देवनदियो के मध्य में अवस्थित देवनिर्मित देश 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है।' मनु ने इस देश के ब्राह्मणो तथा अम्बष्ठ, रथकार आदि वर्णसंकर जातियो के कुल-परम्परागत आचार को 'सदाचार' की सज्ञा से सम्मानित किया है। कतिपय आधुनिक विद्वानो ने प्राचीन ब्रह्मावर्त को पंजाब का वर्तमान हिसार जिला बताया है, जो कि उचित नही है।

सप्तसिन्धु मे अपना अस्तित्व जमा लेने के उपरान्त आर्यों ने भारत के विभिन्न अचलो मे अपना विकास-विस्तार किया। उनके विस्तार की इस स्थिति को ही 'ब्रह्मावर्त' के नाम से कहा गया है।

ब्रह्मर्षिदेश

मनु ने ब्रह्मर्षिदेश की सीमाओं का उल्लेख करते हुए 'मनुस्मृति' (२।१९) मे लिखा है कि 'कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल और सूरसेन जनपदो से युक्त भू-खण्ड को 'ब्रह्मर्षिदेश' के नाम से कहा जाता है, जो कि आर्यावर्त के अन्तर्गत है।' मनु ने इस ब्रह्मर्षि-देशवासी ब्राह्मणों के चरित्र को सर्वोच्च स्थान दिया है और उनसे पृथिवी के समस्त मानवो को शिक्षा ग्रहण करने का निर्देश किया है।

मध्यदेश

मध्यदेश की चतुर्दिक् सीमाओं का उल्लेख करते हुए मनु ने 'मनुस्मृति' (२।२१) मे लिखा है कि 'उत्तर मे हिमालय और दक्षिण मे विन्ध्याचल; पश्चिम मे बीकानेर (विनशन) और पूर्व मे प्रयाग; इन सीमाओं से परिवेष्टित भू-भाग 'मध्यदेश' के नाम मे कहा जाता है।' इस भौगोलिक वृत्त के अनुसार मध्यदेश मरुभूमि मे सरस्वती के विलीन हो जाने के स्थान से लेकर गगा-यमुना के सगम के बीच के भू-भाग मे स्थित था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (८।१४।३) मे कुरुओ, पांचालों, वृषो और उशीनरो को इस क्षेत्र का मूल निवासी कहा गया है। इसी ब्राह्मण-ग्रन्थ में कहा गया है मध्यदेश मे एकतंत्र शासन प्रणाली प्रचलित थी (डॉ० जायसवाल : हिन्दू राजतत्र २, पृ० ४)।

आर्यावर्त

मनु के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थकारो ने आर्यावर्त की सीमाओं के सम्बन्ध मे उल्लेख किया है। इन ग्रन्थकारों मे बडा मतभेद देखने को मिलता है। यास्क

ने 'निरुक्त' (२।२) में लिखा है कि कम्बोज देश आर्यों की सीमा से बाहर है, यद्यपि वहाँ भी आर्य भाषा ही बोली जाती है। पतजलि के 'महाभाष्य' मे सुराष्ट्र को आर्यदेश के अन्तर्गत नही माना गया है। 'वशिष्ठ धर्मसूत्र' (१।८-६, १२-१३) और 'बौधायन धर्मसूत्र' (१।२।६) मे आर्यावर्त की सीमाएँ मरु-मिलन के पहले सरस्वती से पूर्व, कालकवन (संभवतः हरिद्वार) के पश्चिम; पारियात्र (विन्ध्य का पश्चिमी भाग, जिससे चम्बल, बेतवा तथा क्षिप्रा आदि नदियाँ निकलती हैं) एव विन्ध्य पर्वत के उत्तर, और हिमालय के दक्षिण तक विस्तृत है। इसी धर्मसूत्र (१।१।२८) मे एक अन्य स्थान पर गगा और यमुना के मध्य मे अवस्थित देश को आर्यावर्त नाम से कहा गया है। 'शंख धर्मसूत्र' मे लिखा गया है कि सिन्धु, सौवीर से पूर्व, काम्पिल्य नगर से पश्चिम; हिमालय के दक्षिण; और पारियात्र पर्वत के उत्तर आर्यावर्त मे पुनीत आध्यात्मिक महिमा (अनवद्य ब्रह्मवर्चस्) विराजमान है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' (२।२०) मे इस क्षेत्र के निवासी विशेष आदरणीय माने गये है। 'विष्णु धर्मसूत्र' (८४।४) और 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' (१।२) मे भी लगभग ये ही बाते कही गयी है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि 'इस भूमि पर कृष्ण मृग विचरण करते है। यही यज्ञों की भूमि है।'

इस प्रकार उक्त मन्तव्यो मे विविधता देखने को मिलती है। आर्यावर्त की सीमाओ के सम्बन्ध मे प्रामाणिक बहुमान्य मत 'मनुस्मृति' (२।२२) का है। उसमे लिखा है कि 'पूर्वी और पश्चिमी समुद्रो, उत्तरी हिमालय और दक्षिणी विन्ध्याचल के बीच अवस्थित भू-भाग आर्यावर्त कहलाता है'—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तर गिर्योरार्यावर्तं प्रचक्षते ।।

'मनुस्मृति' के उक्त भौगोलिक वृत्त का समर्थन 'वशिष्ठ धर्मसूत्र' (१।६) और 'कौषीतकी उपनिषद्' (१।१३) भी करते है। यह आर्यावर्त अनेक जनपदो मे विभक्त था। वहाँ की शासन-प्रणालियाँ भी भिन्न-भिन्न थी। मनु ने स्वराष्ट्र (७।३२), परराष्ट्र (७।६८), मित्रराष्ट्र तथा शत्रुराष्ट्र (७।३२) और मण्डल-राष्ट्र (७।१५४) आदि अनेक आर्यावर्तिक जनपदो का उल्लेख किया है और यह भी कहा है कि इन जनपदो के पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण थे।

इस 'आर्यावर्त' शब्द मे निहित 'आवर्त' से किसी अन्य क्षेत्र से लौटने का आभास होता है। इस आधार पर कुछ विद्वानो ने आर्यों को बाहर मे आया हुआ सिद्ध किया है, किन्तु उसका ऐसा अर्थ लगाना नितान्त कल्पना है। वस्तुतः उसका आशय यह है कि जल-प्लावन की समाप्ति पर जब उत्तर गिरि

प्रदेश, अर्थात् तराई-भावर का समुद्र सूख गया था या उत्तर आया था तो आर्य लोग पुनः ब्रह्मावर्त (हरिद्वार से ऊपर मानसरोवर तक) से आर्यावर्त में लौट आये थे।

अन्य जनपद

आर्यावर्त तथा ब्रह्मावर्त आदि की सीमाओं के अतिरिक्त, ऐसे भी अनेक क्षेत्र थे, जिनमे वैदिक सभ्यता-संस्कृति का प्रवेश नही था, अथवा वे वैदिको की परम्परा से भिन्न आचारो वाले थे। 'बौधायन धर्मसूत्र' (१।१।३१) मे उन जनपदो के अवन्ति, अग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिन्धु और सौवीर नाम दिये गये है; और कहा गया है कि इन जनपदो के लोग शुद्ध आर्य नहीं हैं। इन जनपदो को जाने वाले लोगो को प्रायश्चित्त के लिए 'सर्पपृष्ठ' तथा 'वैश्वानर' यज्ञ करने पडते है। सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, म्लेच्छदेश, अग, बग, कलिंग और आन्ध्र जनपदो मे जाने वाले लोगो को उपनयन संस्कार करना पडता था। 'महाभारत' (कर्ण पर्व ४३।५-८) मे सिन्धु तथा पंचनद निवासियो को अशुद्ध एव धर्मवाह्य कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनार्यो की उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण मे प्रमुखता होने से वहाँ वासयोग्य नही समझा जाता था। आर्यावर्त के बाहर सतलज से उत्तर मे काबुल तक और दक्षिण मे द्रविड (दक्षिणापथ) तक के क्षेत्र को अनार्य या म्लेच्छदेश कहा गया है। इस सम्बन्ध मे यास्क का 'निरुक्त', पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और पतजलि का 'महाभाष्य' विशेष रूप से द्रष्टव्य है। 'अष्टाध्यायी' से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत की सीमाएँ पूर्व मे कलिंग तक, पश्चिम मे विन्ध्य तथा कच्छ तक, उत्तर मे तक्षशिला तथा स्वात नदी-प्रदेश तक और दक्षिण मे अश्मक (गोदावरी नदी) तक विस्तृत थी।

भारतवर्ष

पुराणो मे जिस धर्म, शासन, न्याय और आचार आदि का वर्णन हुआ है वह भारतवर्ष या भारतवर्ष के निवासियो के लिए है। पौराणिको की दृष्टि मे भारतवर्ष वही है, जहाँ वैदिक धर्म और सस्कृति का प्रचार-प्रसार है। आर्यावर्त का भारतवर्ष नामकरण कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध मे पुराणकारों मे मतान्तर देखने को मिलते है। 'मार्कण्डेय पुराण' (५३।४१) और 'वायु पुराण' (१।३३।५२) आदि में कहा गया है कि मनु के परवर्ती वशज ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का भारतवर्ष नामकरण हुआ। किन्तु 'वायु पुराण' (२।३७।१।३०) के एक अन्य सन्दर्भ में कहा गया है कि दुष्यन्त-

शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष नामकरण हुआ। भरतों की प्रजा की निवास-भूमि होने के कारण भी इसको भारतवर्ष कहा गया (विष्णु पुराण २।१२७।१२६)।

पुराणों मे भारतवर्ष की सीमाओ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। 'मार्कण्डेय पुराण' (५७।५६) और 'विष्णु पुराण' (२।३।१) के अनुसार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण —इन तीनो दिशाओ के समुद्र और उत्तर मे हिमालय से आवृत भू-भाग ही भारतवर्ष है। अन्य पुराणो मे यह सीमा गगा (भागीरथी—उत्तरी हिमालय) से कुमारी अन्तरीप तक कही गयी है। 'विष्णु पुराण' (२।१२७।१२६) मे भारतवर्ष के सात मुख्य पर्वतो का उल्लेख किया गया है, जिनके नाम ये महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमत, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र। उसके पूर्व मे किरात, पश्चिम मे यवन और मध्य मे आर्य निवास करते थे। जैमिनि के 'मीमासासूत्र' (१०।१।३५।४२) के भाष्य मे शबरस्वामी ने इस भू-भाग के अन्तर्गत बसने वाले बृहद् समाज मे भाषा तथा सस्कृति की एकता बतायी है।

कविराज राजशेखर द्वारा वर्णित भारत की भौगोलिक स्थिति

प्रसिद्ध काव्यशास्त्री, कविराज और नाटककार राजशेखर (857-884 ई०) के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यमीमासा' के 'देश-विभाग' नामक सत्रहवे अध्याय मे प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से यह सामग्री अत्यन्त ही उपयोगी है। इस अध्याय के आरभ मे देश-काल का महत्त्व बताते हुए राजशेखर ने लिखा है कि 'देश और काल का विभाग करने वाला कवि, अर्थों के दर्शन की दिशा मे दरिद्र नही रहता' (देश काल च विभजमान कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति)। इसका यह आशय है कि 'जिस कवि को देश और काल का ज्ञान रहता है, उस वर्णनीय पदार्थों का अभाव नही रहता। इसके विपरीत यदि कवि को देश-काल का ज्ञान न हो तो वह विभिन्न देश-कालो की प्राकृतिक स्थिति, उन-उन देशो के सामान्य और विशेष लोक-व्यवहार, उन-उन ऋतुओ तथा महीनो आदि मे उत्पन्न होने वाली वस्तुओ तथा आचार-व्यवहार आदि का वर्णन करने मे विमूढ रहता है, उसकी रचना अप्रौढ एव हास्यास्पद हो जाती है। अतः किसी भी कवि के लिए देश-काल का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है।'

इस सन्दर्भ मे पूर्वाचार्यों के विभिन्न मतो का उल्लेख करते हुए राजशेखर ने इक्कीस लोका का वर्णन करने के उपरान्त भू-लोक के सात महाद्वीपो का

इस प्रकार नामोल्लेख किया है : 1. जम्बू, 2. प्लक्ष, 3 शाल्मली, 4. कुश, 5. क्रौंच, 6. शाक और 7. पुष्कर।

सात महाद्वीपो का उल्लेख करने के उपरान्त राजशेखर ने तीन, चार अथवा सात समुद्रो से सम्बद्ध पूर्ववर्ती परम्पराओ का वर्णन किया है। उसके बाद लिखा है कि "जम्बूद्वीप के मध्य मे पर्वतो का प्रथम राजा सुवर्णमय मेरु पर्वत है, जो मूर्तिमान् ओषधियो का आकर और समस्त देवताओ का आवास स्थल है।"—

मध्ये जम्बूद्वीपमाद्यो गिरीणां
मेरुर्नाम्ना काञ्चनः शैलराजः।
यो मूर्त्तानामोषधीनां निधानं
यश्चावासः सर्ववृन्दारकाणाम्॥

इसी सुमेरु पर्वत को सीमा (अवधि) मानकर ब्रह्मा ने उसके ऊपर विश्व की रचना की। इसीलिए सुमेरु को पर्वतो मे प्रथम एव प्रधान स्थान दिया गया है। उसके चारो ओर इलावृत वर्ष है। जम्बूद्वीप के उत्तर मे क्रमशः नील, श्वेत और शृंगवान् नाम के तीन वर्ष-पर्वत और रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर-कुरु देश हैं। उनके दक्षिण मे निषध, हेमकूट और हिमवान् नामक तीन वर्ष-पर्वत और हरिवर्ष, किंपुरुष तथा भारत ये तीन वर्ष हैं। उनमे से एक यह भारतवर्ष है (तत्रेद भारत वर्षम्)। उसके नौ भेद है: 1. इन्द्रद्वीप, 2 कसेरुमान्, 3 ताम्रपर्ण, 4 गभस्तिमान्, 5 नाग द्वीप, 6. सौम्य, 7. गन्धर्व, 8. वरुणद्वीप और 9 कुमारी द्वीप। ऐसा प्रतीत होता है कि इन नौ द्वीपो के अन्तर्गत श्रीलका, मलय, जावा, सुमात्रा तथा वर्मा आदि देश भी सम्मिलित थे।

इन नौ द्वीपो का पाँच भाग जलमय और पाँच भाग स्थलमय है। इस प्रकार प्रत्येक द्वीप की सीमा एक सहस्र योजन है। वे दक्षिण समुद्र मे हिमालय तक फैले हुए है और परस्पर अगम्य है। इन सभी द्वीपो पर जो विजय प्राप्त करता है वह 'सम्राट्' कहा जाता है। कुमारी द्वीप से लेकर विन्दुसर तक एक सहस्र योजन का भाग 'चक्रवर्ति-क्षेत्र' कहा जाता है। इस समस्त क्षेत्र पर विजय करने वाला राजा 'चक्रवर्ती' कहा जाता है। यही वह विन्दुसर है, जहाँ भगीरथ ने गगावतरण के लिए तप किया था।

इस विन्दुसर का पुराणों तथा 'महाभारत' आदि मे विस्तार से उल्लेख हुआ है। सम्प्रति भी उसका अस्तित्व और महत्त्व पूर्ववत् विद्यमान है। गगोत्री से वह लगभग दो मील ऊपर स्थित है।

अन्तिम कुमारी द्वीप के सम्बन्ध मे राजशेखर ने आगे लिखा है 'इस कुमारी द्वीप मे सात कुल पर्वत हैं, जिनके नाम है : 1. विन्ध्य, 2. पारियात्र, 3. शुक्तिमान्, 4. ऋक्ष, 5 महेन्द्र, 6. सह्य और 7. मलय।' मलय पर्वत के राजशेखर ने चार भेद बताये है। भारत की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, मध्य और अन्तर्वेदी आदि दिशाओं का राजशेखर ने विस्तार से वर्णन किया है।

पूर्वांचल

राजशेखर ने लिखा है कि 'पूर्व और पश्चिम समुद्र के तथा हिमालय और विन्ध्य के मध्य मे आर्यावर्त है। इस आर्यावर्त मे चार वर्णों और चार आश्रमो की व्यवस्था प्रचलित है। इन्ही वर्णों और आश्रमो के आधार पर यहाँ का सदाचार निश्चित है। प्रायः कवियो का व्यवहार आर्यावर्त की प्रथा के अनुकूल होता है। इस आर्यावर्त मे वाराणसी से पूर्व की ओर 'पूर्व देश' है। इसमे अग, बग, कलिग, कोशल, तोषल, उत्कल, मगध, मुद्गर, विदेह, नेपाल, पुण्ड्र, प्राग्ज्योतिष, ताम्रलिप्तक, मलद, मल्लवर्तक, सुह्म और ब्रह्मोत्तर आदि जनपद सम्मिलित है। इस पूर्व देश मे ही बृहद्गृह, लोहितगिरि, चकोर, दुर्दुर, नेपाल, और कामरूप आदि पर्वत; शोण तथा लौहित्य नद, और गगा, करतोया, कपिशा आदि नदियाँ अवस्थित है।'

दक्षिणांचल

माहिष्मती (इन्दौर से 40 मील दक्षिण नर्मदा नदी के तट पर अवस्थित महेश्वर नामक स्थान) के आगे दक्षिणापथ है। उसमे महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, क्रथकैशिक, सूर्पारक, काञ्ची, केरल, कावेर, मुरल, वानवासक, सिहल, चोल, दण्डक, पाण्ड्य, पल्लव, गाग, नाशिक्य, कोकण, कोल्लगिरि और वल्लर आदि जनपद है। उनमे दक्षिण विन्ध्य, महेन्द्र, मलय, मेकल, पाल, मञ्जर, सह्य तथा श्रीपर्वत आदि पर्वत, और नर्मदा, ताप्ती, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भीमरथी, वेणा, कृष्णवेणा, वञ्जुरा, तुगभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती तथा रावणगगा आदि सम्मिलित है।

पश्चिमांचल

देवसभा (देवास, मध्य प्रदेश) के आगे पश्चिम देश है। उसमे देवसभ, सुराष्ट्र, दशेरक, त्रवण, भृगुकच्छ, कच्छीय, आनर्त, अर्बुद, ब्राह्मणवाह तथा यवन आदि जनपद हैं। गोवर्धन, गिरिनगर, देवसभ, माल्य शिखर तथा अर्बुद आदि

पर्वत; और सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्तघ्नी, मही तथा हिडिम्बा आदि नदियाँ उस पश्चिम देश में हैं।

उत्तरांचल

पृथूदक (वर्नाल जिले का पिहोवा या पृथूदक तीर्थ, जो सरस्वती नदी के तट पर थानेश्वर से पश्चिम 40 मील की दूरी पर अवस्थित है) के आगे उत्तरापथ है। उसमे शक, केकय, वोक्काण, हूण, वाणायुज, काम्बोज, बाह्लीक, पह्लव, लिम्पाक, कुलूत, कीर, तगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूरव, हुहुक, सहुड, हसमार्ग, रमठ और करकण्ठ आदि जनपद है। उसमे हिमालय, कलिन्द, इन्द्रकील तथा चन्द्राचल आदि पर्वत; और गगा, सिन्धु, सरस्वती, चन्द्रभागा, यमुना, इरावती, वितस्ता, विपाशा, कुहू तथा देविका आदि नदियाँ हैं।

मध्यदेश

इन चारो देशो के बीच मे मध्यदेश है, जो कवियो का व्यवहार-क्षेत्र है। वह केवल कवियो का व्यवहार-देश ही नही, अपितु शास्त्रीय अर्थ के अनुकूल भी है। राजशेखर ने मध्यदेश के जनपदो, पर्वतो और नदियो का नाम-निर्देश इसलिए नही किया है कि कवियो के लिए उनका विशेष उपयोग नही है।

अन्तर्वेदी

विनशन (थानेश्वर के पास बीकानेर से पश्चिम मे 40 मील की दूरी पर) और प्रयाग के बीच का देश अन्तर्वेदी कहा जाता है। इसी अन्तर्वेदी से दिशाओं का विभाग करना चाहिए।

इस प्रकार कविराज राजशेखर द्वारा वर्णित भारत की यह भौगोलिक स्थिति भारत के प्राचीन इतिहास-ज्ञान के लिए नितान्त उपादेय है और उसके आधार पर भारत की सांस्कृतिक वस्तुस्थिति की खोज का कार्य अधिक विश्वस्त एव सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

प्राकृतिक स्थिति

भारत के सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन के लिए उसकी भौगोलिक स्थितियो के साथ-साथ प्राकृतिक दशाओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है। किसी भी राष्ट्र के जन-जीवन को प्रभावित एवं प्रेरित-प्रोत्साहित करने मे उसका प्राकृतिक वातावरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्राकृतिक वातावरण के निर्माणक हैं समुद्र, नदी और पर्वत आदि।

भारत के आध्यात्मिक और भौतिक जीवन के निर्माण में समुद्र का अपरिहार्य योगदान रहा है। जैसा कि आधुनिक भूगोलवेत्ता विद्वानों का अभिमत है, 'ऐतरेय ब्राह्मण' (८।२०) में भी पृथ्वी के चारों ओर समुद्र का व्याप्त होना बताया गया है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने समुद्र की महिमा और उसमें निहित निधियों का भूरि-भूरि वर्णन किया है।

ऋग्वेद के अनेक सन्दर्भों में ऋग्वैदिक भारत के चार समुद्रों का उल्लेख हुआ मिलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र (१०।४७।२) में कहा गया है कि 'हे इन्द्र, तुम्हें हम शोभन अस्त्र और शोभन रक्षण वाले, सुन्दर नेत्रों वाले, चारों समुद्रों को जल से परिपूर्ण करने वाले, धनपति, बार-बार स्तुत्य और दुःखों के निवारक मानते हैं।'

इन चारों समुद्रों की भौगोलिक स्थितियों के सम्बन्ध में ऋग्वेद (३।३३।२-३; १०।१३६।५), अथर्ववेद (११।५।६) और 'शतपथ ब्राह्मण' (१।६।३।१२) में जो चर्चाएँ हुई हैं उनका अनुशीलन कर आधुनिक विद्वानों का कहना है कि एक समुद्र दक्षिण भारत में था जो कि राजस्थान तक फैला हुआ था और जिसमें पंजाब की शुतुद्री (सतलज) और विपाशा (व्यास) दोनों नदियाँ गिरती थीं। इसके अतिरिक्त वैदिक भारत के पूर्व और पश्चिम में भी दो समुद्र थे। चौथा समुद्र 'उत्तर सागर' था, जो कि हरिद्वार से लेकर मानसरोवर तक फैला हुआ था। जल-प्लावन के समय वैवस्वत मनु की नौका जिस समुद्र से होकर हिमालय पर जा लगी थी, वह वही उत्तर सागर था, जिसे कुछ विद्वानों ने आर्कटिक महासागर से जोड़ने का विफल प्रयास किया है।

वैदिक भारत के ये समुद्र वस्तुतः भूकम्पों, अतिवृष्टियों तथा बाढ़ों के कारण बार-बार बदलते रहे और इसीलिए उनकी भौगोलिक स्थितियों में परिवर्तन होता गया। इसी कारण शेष तीन समुद्र तो अस्तित्वहीन हो गये। केवल दक्षिण का समुद्र ही सम्प्रति विद्यमान रह सका है। उसकी भी भौगोलिक स्थिति ठीक वैसी नहीं है, जैसी कि प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित है।

नदियाँ इस राष्ट्र की प्राणदायिनी शक्तियाँ रही हैं। आर्यों ने इस देश को अपने स्थायी निवास के लिए सम्भवतः इसीलिए पसन्द किया कि यहाँ समुद्रों, नदी-नदों और विशाल झीलों की अधिकता थी। आर्य ऋषियों ने अपने आश्रम प्रायः इन्हीं नदी-तटों या नदी-संगमों पर बनाये थे, जिससे कि आध्यात्मिक तथा भौतिक द्विविध कामनाओं की पूर्ति की जा सके। ऋग्वेद के ऋषियों ने इन दिव्य नदियों की महिमा का उद्गायन करने के लिए 'नदी सूक्त' (१०।७५) के नाम से एक

स्वतत्र सूक्त की रचना की। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर उनकी सख्या 90 या 99 बतायी गयी है। समस्त भारतीय साहित्य मे इन नदियो को दैविक तथा भौतिक शक्तियों का स्रोत बता कर उनकी श्रद्धा और पवित्रता का विस्तार से वर्णन किया गया है। सायण ने उन्हें 'मातृरूपा' (ऋग्वेद भाष्य ८।८५।१) कहा है। ये नदियाँ वस्तुतः इस देश की प्राणदायिनी शक्तियाँ रही है और उनके कारण यह भारत-भूमि सतत सस्यश्यामला और उर्वर बनी रही।

ये नदियाँ भारत की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक स्थितियो की सूचक तथा धार्मिक और सामाजिक जीवन की प्रेरणास्रोत रही है। वे अतीत के समान आज भी मनुष्य की आध्यात्मिक तृप्ति का साधन और कृषि तथा व्यापार की दृष्टि से भौतिक उन्नति की सहायिका बनी हुई हैं।

नदियो, वनस्पतियो और ओषधियो के उद्गम पर्वतो का भी वेदो से लेकर परवर्ती साहित्य तक विस्तार से वर्णन किया गया है। उन्हे 'वृक्षकेशा' (वृक्ष रूपी बालो वाले) कहा गया है। वे पखयुक्त और जीवधारी थे, जिसमे कि इच्छानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते थे। इन्द्र ने उनके पख काट कर उन्हे स्थिर एव दृढ किया। पर्वतो की दो मुख्य श्रेणियो का विभाजन हुआ है—दक्षिणी और उत्तरी। दक्षिण मे विन्ध्यवर्ती और उत्तर मे हिमालयवर्ती पर्वतमालाओ की गणना की गयी है। हिमालय की आध्यात्मिक तथा भौतिक गरिमा से भारत का गौरव विश्व मे विश्रुत हुआ।

इन पर्वतो ने यहाँ के जन-जीवन के निर्माण तथा उन्नयन मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया और उससे भी अधिक इस राष्ट्र की भौगोलिक सीमा के रूप मे उसकी सुरक्षा को सतत अजेय बनाये रखा।

इस प्रकार सुदूर अतीत से लेकर आज तक भारत के आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन के उत्थान मे समुद्रो, पर्वतो और नदियो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस देश के साहित्यकारो और कलाकारो के वे प्रेरणास्रोत बने रहे।

• • •

दो/भारत के सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि

इतिहास के स्रोत

भारतीय इतिहास के अनुसन्धान और क्रमबद्ध रूप मे व्यवस्थित करने का श्रेय आधुनिक विद्वानो को है। उनमे भी पाश्चात्य विद्वानो का प्रयास निःसन्देह प्रशमनीय है। उन्होने भारत की साहित्यिक, सास्कृतिक और कलात्मक उपलब्धियो की बिखरी हुई विपुल ज्ञान-थाती को क्रमबद्ध रूप मे व्यवस्थित कर प्रकाशित किया। भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालते हुए यद्यपि इन विद्वानो ने भारतीयो की असामान्य उच्च मेधा की भूरि-भूरि प्रशंसा की, किन्तु साथ ही उन्होने यह भी कहा कि भारत मे लेवी तथा हेरोदोतस के समान इतिहास-लेखन का कार्य नही हुआ। उनमे से कुछ विद्वानो का तो यह भी अभिमत है कि भारत मे इसलिए इतिहास-लेखन के प्रति विमुखता रही, क्योकि भारतीयों मे इतिहास-बुद्धि का सर्वथा अभाव था। वे इतिहास-ज्ञान से अनभिज्ञ थे और उनकी इतिहास के प्रति कोई अभिरुचि नही थी।

इन विद्वानो के इस कथन का यदि यह आशय हो कि आधुनिक वैज्ञानिक विधा पर प्राचीन भारत मे इतिहास-लेखन का कार्य नही हुआ, तो इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता है, किन्तु भारतीयो मे इतिहास-बुद्धि के अभाव की उनकी दलीलें निश्चित ही कपोल-कल्पना मात्र हैं; क्योकि यह आक्षेप तो विश्व के किसी भी देश तथा जाति के इतिहास-लेखन के सम्बन्ध मे चरितार्थ हो सकता है। भारतीय मनीषी इतिहास-विषय के प्रति सर्वथा उदासीन थे, अथवा उनमे इतिहास-ज्ञान का अभाव था, ऐसा सोचना कदाचित् उपयुक्त नही है। उपयुक्त इसलिए कि इतिहास-ज्ञान की जो मान्यता और परम्परा पश्चिम की रही है, भारतीय विचार-दृष्टि से वह सर्वथा भिन्न है। भारत और पश्चिमी देशो मे इतिहास-निर्माण की कार्यविधा मे मौलिक भिन्नता है।

मानव इतिहास की सरचना मे कल्पना का सर्वाधिक योगदान रहा है। प्रथम इतिहास-बुद्धि मनीषी ने इतिहास मे विभिन्न जातियो के आदर्शों को सजोने

के लिए कल्पनाओं का आधार लिया है। प्रत्येक जाति के इतिहास की ये कल्पनाएँ ही उसकी पुराण कथाएँ हैं। पुराण कथाएं, अर्थात् ऐसे विचार, जो जन-जीवन के प्रत्यक्ष-दृष्ट साक्ष्यों से उगे और जनवाणी द्वारा प्रकाशित हुए। वे विचार भविष्य की अनेक पीढ़ियों तक अलिखित ही रहे और मौखिक रूप मे श्रुतजीवी होकर आगे बढते रहे। उन्हें जब क्रमबद्ध रूप में पिरोकर प्रस्तुत किया गया तो वे ही इतिहास के रूप मे परिणत हो गये। इस प्रकार कल्पनाएँ ही इतिहास का सत्य सिद्ध होती हैं।

इन कल्पना-प्रसूत घटनाओ के आधार पर ही कालातीत और काल-सीमाओं का इतिहास निबद्ध होना है। ये कल्पनाएँ विभिन्न रूपो मे इतिहास का सत्य बन कर अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ती है और तब इतिहास की अविच्छिन्न परम्परा का निर्माण होता है।

योरोप और एशिया के देशो में साहित्य, संस्कृति तथा समाज का ऐतिहासिक क्रम निर्धारित करने के लिए राजाओ, राजवशो, राजनीतिक तथा आर्थिक विकास के आधार पर इतिहास का निर्णय हुआ; किन्तु भारत मे सभ्यता-सस्कृति के काल-विभाजन का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न रहा है। योरोप के इतिहास में व्यक्तिपरक दृष्टि है, जबकि समष्टिपरक भारतीय इतिहास उन विशिष्ट उपलब्धियो पर आधारित है, जो व्यक्ति की नही, समस्त युग की देन है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास का युग-विभाजन उन महान् सिद्धान्तो तथा विचारधाराओ पर आधारित है, जिन्होने सर्वथा नयी परिस्थितियो तथा परम्पराओ को स्थापित किया। वैदिक, महाकाव्य, पुराण, दर्शन, बौद्ध और जैन आदि भारतीय इतिहास का परम्परावर्ती विकास अपनी-अपनी मौलिक उपलब्धियो के कारण अलग-अलग युगो के रूप मे अभिहित हुआ। इस भारतीय दृष्टि मे राज्यों तथा साम्राज्यो के उत्थान-पतन को, नर-संहारो की अनर्थकारी घटनाओ और राजनीतिक तथा आर्थिक क्रिया-कलापो को उतना अधिक महत्त्व नही दिया गया है, जितना कि उन विचारो तथा मान्यताओं को, जो तत्कालीन समस्त समाज के जीवनाधार रही। इसलिए भारतीय सभ्यता-सस्कृति का इतिहास घटनाप्रधान न होकर विचारप्रधान रहा है; और उसके धारावाहिक प्रवाह मे निरन्तर एकरूपता तथा अजस्रता बनी रही।

भारतीय इतिहास, जो कि अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार की परस्थितियो मे एकरस, अखण्ड तथा सतत प्रवहमान् बना रहा, एकमात्र विचारों की धारा पर उभरा और सर्वाद्धित हुआ। उसका धर्म, दर्शन, कला, साहित्य उन महान्

विचारों पर आधारित रहा है, जो मानव-मात्र की जिज्ञासा का विषय बना तथा विश्व में फैला और विशाल भू-मण्डल पर जिसके प्रभाव की छाप आज भी विद्यमान है।

इस भारतीय सभ्यता और संस्कृति का इतिहास उन चिरन्तन एव शाश्वत मानमूल्यो पर आधारित है, जिन्होने एक निश्चित जीवन-पद्धति का निर्माण कि या और इसीलिए जिनका महत्त्व सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक बना रहा। इतिहास का भारतीय दर्शन न तो युग-विधायक ऋषियो, ब्राह्मणो, देवो और मनुष्यो का जीवन-चरित मात्र है, अपितु उस शाश्वत धर्म, अर्थात् नैतिक आदर्शो तथा प्रकृत नियमो का इतिहास है, जिसमे कभी विकार उत्पन्न नही हुआ, सदा एकरूपता और एकरसता बनी रही।

विभिन्न शास्त्रो तथा विद्याओ के प्रति अतीत के युगो-युगो मे जैसी-जैसी मान्यताएँ तथा धारणाएँ बदलती गयी और रचनाकार तथा अध्येता जैसे-जैसे उत्तरोत्तर नवीनता की ओर उन्मुख होता गया, वैसे-वैसे अतीत का सारा निर्माण और उसकी निर्माण-विधा के क्षेत्र मे भी नयी मान्यताओ तथा दृष्टिकोणो मे परिवर्तन होता गया। इस वास्तविकता को ओझल करने के कारण ही कुछ पाश्चात्य विद्वानो को भारतीय साहित्य मे इतिहास-बुद्धि का अभाव दिखायी दिया।

विशाल भारतीय वाङ्मय के निर्माता पुरातन मनीषियो द्वारा इतिहास-निर्माण की दृष्टि से जो बहुविध प्रयास हुए और जिनके आधार पर आधुनिक विद्वानो को भारत का बहुत् इतिहास लिखने की आधार-सामग्री तथा प्रेरणा प्राप्त हुई, उसको मुख्य रूप से दो भागो मे विभक्त करके इस प्रकार देखा जा सकता है—साहित्यिक और पुरातात्त्विक।

साहित्यिक सामग्री

भारतीय इतिहास को आलोकित करने वाली यह साहित्यिक सामग्री भी दो रूपो मे उपलब्ध होती है—इतिहासेतर और इतिहासपरक।

इतिहासेतर साहित्यिक सामग्री की दृष्टि मे भारतीय इतिहास-निर्माण के लिए बिखरे हुए प्रचुर साधन वेदो मे सुरक्षित हैं। प्राग्वैदिक और वैदिक युग के जन-जीवन की परिस्थितियो को अभिव्यजित करने वाली प्रमाण-सामग्री वेदो मे ही देखने को मिलती है। आर्यो के साथ आर्येतर कही जाने वाली 'दास' तथा 'दस्यु' जातियो के निरन्तर सघर्ष और वैदिक भारत के सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक पुनरुत्थान का इतिहास ऋग्वेद मे सुरक्षित है। इसी प्रकार

'ऐतरेय', 'शतपथ' तथा 'तैत्तिरीय' आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में और 'वृहदारण्यक' तथा 'छान्दोग्य' आदि उपनिषद्-ग्रन्थो मे उपनिबद्ध तत्कालीन घटना-क्रमों, परिस्थितियो और व्यक्तियो आदि के सम्बन्ध मे परम्परागत तथा सामयिक कथाम्रो एवं वृत्तो में जो इतिहास-सूत्र अनुस्यूत हैं, कतिपय आधुनिक विद्वानो ने उन पर प्रकाश डालने का सराहनीय यत्न किया है। इसी प्रकार प्राचीन भारत की प्रामाणिक इतिहास-सामग्री के मूल्यवान् संग्रह बौद्धो के त्रिपिटक, निकाय, वश-ग्रन्थ, जातक और जैनों के कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन तथा आचाराग आदि हैं। इनके अतिरिक्त गर्गाचार्य की 'गार्गीसंहिता', पाणिनि की 'अष्टाध्यायी', पतंजलि के 'महाभाष्य' और परवर्ती कवि-नाटककार-कथाकारो की बहुसख्यक इतिहासेतर कृतियों का अनुशीलन कर आधुनिक विद्वानो ने प्राचीन भारतीय इतिहास को प्रकाश मे लाने का श्लाघ्य प्रयास किया है।

यद्यपि 'रामायण' और 'महाभारत' की गणना इतिहासेतर साहित्यिक ग्रन्थो के रूप की जाती रही है, किन्तु उनमे कतिपय सन्दर्भ ऐसे भी है जो विशुद्ध इतिहास-दृष्टि से लिखे गये हैं, क्योकि उनमे तथ्यपूर्ण घटनाओं के आधार पर दो महान् ऐतिहासिक वशो का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। इन दोनो ग्रन्थो की गणना यद्यपि काव्य-विषय के अन्तर्गत की गयी हैं; किन्तु उनमे पुरातन भारतीय राजवशो के क्रमबद्ध इतिहास के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक जीवन की यथातथ्य झाँकी भी प्रस्तुत की गयी है। वे यद्यपि विशुद्ध इतिहास नही है, फिर भी वेदोत्तरकालीन भारत के विश्वकोश है और इतिहास की वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि के निर्वाहक न होते हुए भी अपने-अपने युगो तथा चरितनायकों के इतिहास-ज्ञान के एकमात्र प्रामाणिक आधार हैं। आधुनिक इतिहासकारो की इतिहास-बुद्धि के प्रेरक तथा साधन होते हुए भी यह सत्य है कि उनमें केवल इतिहासविधा की एकागिता नहीं है।

इस सन्दर्भ मे बहुसंख्यक विशाल पुराण-ग्रन्थो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिनका निर्माण इतिहास-बुद्धि मनीषियो के द्वारा हुआ है और जिनमें 1. सर्ग (सृष्टिज्ञान), 2. प्रतिसर्ग (सृष्टि की पुनरुत्पत्ति), 3. वंश (सृष्टि का वश-वृत्त), 4. मन्वन्तर (विभिन्न मनुष्यो की कालावधि) और 5. वशानुचरित (सूर्यवश तथा चन्द्रवश का इतिहास) पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। वृहत्तर भारत पर प्रकाश डालने वाली भौगोलिक सामग्री भी पुराणो मे संकलित है। सृष्टि के उदय का इतिवृत्त होने के कारण पुराण समस्त मानवता के विकास-क्रम को बताने वाले सर्व प्रथम महान् प्रयत्न हैं।

पुराणों के इतिहास-कथन की अपनी विशेष पद्धति एवं शैली रही है। सृष्टि के उदय से ही पुराणों के इतिहास का आरम्भ होता है। सृष्टि की उत्पत्ति और उसके भौगोलिक परिज्ञान के बाद स्वायम्भुव मनु और तदनन्तर मनुवंश के पुरुषों का इतिहास निरूपित है। अन्तिम वैवस्वत मनु के अनन्तर महाभारत-युद्ध के राजाओ, राजवंशो और महापुरुषो का उनमे वर्णन किया गया है। अन्तिम चन्द्रवंशी और सूर्यवंशी राजाओ के इतिवृत्त मे प्राचीन भारत के इतिहास की एकमात्र प्रामाणिक सामग्री सुरक्षित है। देश-काल की सीमाओ से अतीत इतिहास-गणना का भारतीय दृष्टिकोण एकमात्र पुराणो में ही देखने को मिलता है। पुराणो मे व्यापक विश्व काल-चक्र को सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, इन चार युगो मे विभाजित किया गया है। उनका विकास और ह्रास धर्ममूलक है। यह धर्ममूलक इतिहास-गणना वस्तुतः नैतिक आदर्शों तथा निर्धारित नियमो पर आधारित है, जिसके द्वारा समस्त जन-मानस का तथा उसकी सस्कृति की अविच्छिन्न भावधारा का सही मूल्यांकन किया गया है। ये चारो युग एक महायुग का निर्माण करते हैं और उसके द्वारा सनातन एव अखण्ड मानव-सस्कृति की स्थापना होती है। इसलिए भारतीय इतिहास की युगपरक तथा व्यक्तिपरक सभी घटनाएँ एक साथ विलयित होकर अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना करती हैं और उनके द्वारा व्यापक मानवीय सस्कृति का सुदृढ आधार बनता है।

यही इतिहास-गणना का भारतीय दृष्टिकोण है।

पुराणो के बाद इस सन्दर्भ मे मौर्य चन्द्रगुप्त के (321-297 ई० पूर्व) के महामंत्री कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का नाम उल्लेखनीय है। प्राचीन भारत का यह एक विश्वकोश है और एक विधि-ग्रन्थ के समान इसका आज भी महत्त्व बना हुआ है। विधि राजनीति और प्रशासन आदि विषयों की पारिभाषिक शब्दावली ग्रहण करने के कारण आधुनिक भारतीय सविधान उसका ऋणी है। उसमे इतिहास-विषय के महत्त्व को स्वतत्र रूप मे माना गया है और उसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि अनेक विषयो का समावेश किया गया है। कौटिल्य की इस इतिहास-विषयक मान्यता मे परम्परा की दृष्टि परिलक्षित होती है।

प्राचीन भारत के सघ-राज्यो का विशद इतिहास बताने मे 'अर्थशास्त्र' ही एकमात्र आधार है। वे संघ-राज्य आधुनिक प्रजातत्र की परम्परा के आधार-स्तम्भ थे। वैदिक युग से चली आती वर्णव्यवस्था मे समय-समय पर जो परिष्कार हुए और तब उनके द्वारा एक स्थिर समाज की रचना कैसे हुई, इसका

वास्तविक रूप भी 'अर्थशास्त्र' में ही देखने को मिलता है। विभिन्न शिल्पों और कलाओं से आजीविका चलाने वाले भारतीय कर्मकर-वर्ग का कौटिल्य ने विशेष रूप से उल्लेख किया है। 'अर्थशास्त्र' मौर्य-साम्राज्य की सांस्कृतिक वस्तुस्थिति का दर्पण है।

उक्त इतिहासेतर साहित्यिक सामग्री के अतिरिक्त ऐसे भी बहुसंख्यक ग्रन्थ संस्कृत में सम्प्रति उपलब्ध हैं, जिनका निर्माण विशुद्ध इतिहास-दृष्टि से किया गया है। इस प्रकार की ग्रन्थ-सामग्री कुछ तो काव्य-विषयक है, कुछ जीवनी-परक, कुछ विशुद्ध इतिहासगर्भित और कुछ मिश्रित। ऐसे ग्रथों की तालिका बहुत लम्बी है। उनके नाम हैं बाणभट्ट का 'हर्षचरित', वाक्पतिराज का 'गउडवहो,' पद्मगुप्त (परिमलगुप्त) का 'नवसाहसांकचरित', बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित,' सन्ध्याकरनन्दी का 'रामचरित', कल्हण की 'राजतरंगिणी', हेमचन्द्र का 'द्व्याश्रय काव्य' तथा 'कुमारपालचरित', जयानक (जयरथ) का 'पृथ्वीराजविजय', सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन', जयसिंह सूरि का 'हम्मीरमदमर्दन', मेरुतुंग की 'प्रबन्धचिन्तामणि', राजशेखर का 'चतुर्विंशति प्रबन्ध', चन्द्रप्रभ सूरि का 'प्रभावकचरित', गंगादेवी का 'कम्परायचरित' (मधुराविजय), जयसिंह सूरि, चरित्रसुन्दरगणि तथा जिनमण्डनोपाध्याय के एक ही शीर्षक से तीन ग्रन्थ 'कुमारपालचरित', जिन-हर्षगणि का 'वस्तुपालचरित', आनन्द भट्ट का 'बल्लालचरित', गंगाधर पाण्डेय का 'मण्डलीक महाकाव्य' और राजनाथ का 'अच्युतरायाभ्युदय काव्य' तथा 'मूषकवंश' का नाम उल्लेखनीय है।

इस इतिहास-सामग्री का निर्माण लगभग 7वीं शती ई० से लेकर लगभग 13वीं शती ई० तक होता रहा। संस्कृत के अतिरिक्त विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी ऐसी इतिहासपरक कृतियों का निर्माण हुआ, जिनमें प्राचीन भारत के विभिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्षों पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। तमिल भाषा में इस प्रकार के चार ग्रन्थों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। उनके नाम हैं 'नन्दिक्कलम्बम्', 'कुलोत्तुंगणपिल्लैत्तमिल', 'कलिंगत्तुप्परणि' और 'चोलवंशचरितम्'।

अतीत के युग-युगों से भारतीय-ज्ञान की विपुल विरासत को आज तक पहुँचाने वाले एकमात्र साधन हस्तलिखित पोथियाँ रही हैं, जो कि लाखों की संख्या में आज भी भारत के विभिन्न व्यक्तिगत एवं संस्थागत ज्ञान-केन्द्रों में सुरक्षित हैं। इन हस्तलेखों की पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है कि उनके निर्माता

ग्रन्थकारों ने अपना नाम, वंश-वृत्त, जिस शासक के आश्रय में अथवा शासनकाल में उनकी रचना हुई उसका नाम, वंश-वृत्त और रचनाकाल आदि का उल्लेख कर दिया है। यहाँ तक कि अपने ग्रन्थ की सामग्री-विषयक प्रामाणिकता को सुरक्षित बनाये रखने के लिए उसका परिमाण भी दे दिया है। यह परम्परा वैदिक सहिताओ तथा परवर्ती साहित्य से ही देखने को मिलती है। मूल ग्रन्थकार के अनुकरण पर उसके लिपिकर्ता तथा प्रतिलिपिकर्ता ने भी अपने विषय की समस्त जानकारी दे दी है। जैन ग्रन्थकारो तथा लिपिकारो मे यह प्रवृत्ति अधिक प्रचलित रही है। उन्होंने ग्रन्थ के अन्त मे अपनी गुरु-शिष्य-परम्परा की लम्बी तालिका देने के साथ तत्कालीन शासक का समय तथा लिपिकाल का भी उल्लेख कर दिया है।

इस प्रकार भारतीय ग्रन्थकार तथा लिपिकार परम्परा से ही इतिहास के प्रति भी जागरूक रहे है। इस सामग्री के आधार पर ही आधुनिक इतिहासकारो द्वारा साहित्य, संस्कृति और कला के इतिहास-लेखन का कार्य संभव हो सका है।

इतिहास-लेखन एक दुष्कर कार्य

कल्हण की 'राजतरगिणी' का उल्लेख विशुद्ध इतिहास-ग्रन्थो की कोटि मे किया जा सकता है। उसने इतिहासकार के दायित्व और इतिहास-लेखन की दुष्करता की ओर भी सकेत किया है। अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना (१।७-१५) मे कल्हण ने लिखा है कि 'वह गुणवान् कवि ही वास्तविक प्रशसा का पात्र है, जिसकी वाणी राग-द्वेष से रहित सही इतिहास को बताने मे समर्थ हो।' उसने आगे लिखा है, 'इतिहासकारो ने राजाओ के जो विस्तारपूर्वक इतिहास लिखे हैं, उन्हे देखकर तथा उनकी सत्यता-असत्यता की परीक्षा कर वास्तविक इतिहास को जनसमुदाय के समक्ष प्रस्तुत करना कोई साधारण कार्य नही है। अतएव पूर्णत. निर्दोष और सत्य पर आधारित इतिहास को प्रकट करने के लिए ही मै यह उद्योग कर रहा हूँ। प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ बहुत विस्तृत थे। उन्हे सक्षिप्त करके सुव्रत नामक एक कवि इतिहासकार ने एक अन्य ग्रन्थ की रचना की। वे सभी प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ अब विलुप्त हो गये है। कवि सुव्रत की इतिहास-कृति ही केवल सुरक्षित रह गयी है; किन्तु यह इतिहास-कृति भी पाण्डित्य की दुरूहता से युक्त होने के कारण जन-सामान्य को इतिहास का ज्ञान प्राप्त कराने मे समर्थ न हो सकी। क्षेमेन्द्र कवि की 'नृपावलि' यद्यपि काव्य की दृष्टि से एक उत्तम रचना है, किन्तु ग्रन्थकार की अनवधानतावश उसमे इतनी अधिक त्रुटियाँ रह गयी है कि उसका कोई भी अश निर्दोष न रह सका।

अतः मैंने अपने पूर्ववर्ती प्राचीन विद्वानों द्वारा रचित कथा-विषयक ग्यारह ग्रन्थों का अध्ययन-अनुशीलन किया और नील मुनि द्वारा रचित 'नीलमत पुराण' का भी परिशीलन किया। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त मैंने प्राचीन राजाओ द्वारा निर्मित देवमन्दिरो, नगरो, ताम्रपत्रो, आज्ञापत्रो प्रशस्तिपत्रों, और अन्याय शास्त्रो का अध्ययन तथा मनन-मन्थन कर अपने भ्रम का निराकरण किया।' अपनी इस परिमार्जित तथा प्रमाण-सम्परीक्षित इतिहास-कृति 'राजतरंगिणी' की विशिष्टता को बताते हुए उन्होने आगे लिखा है, "मेरे द्वारा लिखा गया यह इतिहास-ग्रन्थ विभिन्न राजाओं के शासनकाल में देश-काल की उन्नति एव अवनति की परिस्थितियो के सम्बन्ध मे पुरातन ग्रन्थो द्वारा प्रचारित भ्रम को दूर करने में भी सहायक सिद्ध होगा" (१।२१)।

इस प्रकार कल्हण ने अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना में उन सब कठिनाइयो और विषमताओ का वर्णन किया है, अतीत की घटनाओ की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए इतिहासकार के सामने आज भी जो अनिवार्य रूप से उपस्थित होती हैं। कल्हण के उक्त कथन से भी स्पष्ट होता है कि इतिहास-लेखन के लिए उसने अपने समय के उपलब्ध इतिहास-ग्रन्थो के अतिरिक्त, नगरो, मन्दिरो, अभिलेखो और दानपत्रो आदि पुरातात्त्विक सामग्री से भी सहायता ली थी। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रकार की द्विविधाओ और घटनाओं की सत्यता के सम्परीक्षण के लिए एक निपुण इतिहासकार की निष्पक्ष दृष्टि कल्हण मे विद्यमान थी, और इस पुष्ट प्रमाण को सामने रख कर यह कहना कि भारतीयो मे इतिहास-दृष्टि का अभाव था, अज्ञानता के अतिरिक्त कोई महत्त्व नही रखता।

इतिहास-लेखन का दृष्टिकोण

विशुद्ध इतिहासपरक और इतिहासेतर साहित्यिक ग्रन्थो की उक्त सामग्री की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि उनके निर्माण का दृष्टिकोण आज की अपेक्षा सर्वथा भिन्न था। 'रामायण', 'महाभारत' और पुराण आदि ग्रन्थों मे सर्वत्र ही सन्दर्भगत कथा के काव्य-सौन्दर्य के प्रवाह मे ऐतिहासिक घटनाओ के तथ्य गौण पड़ गये तथा खण्डित हो गये हैं। उसका एक कारण था। उनके निर्माताओ के समक्ष इतिहास की परम्परागत परिभाषा इतनी व्यापक और असन्तुलित थी कि उसको सामने रखकर केवल इतिहास की कोरी घटनाओ को प्रस्तुत करके कथा की काव्यगत सरसता को उपेक्षित करना संभव नही था। प्रत्येक ऐतिहासिक घटना को काव्य-शिल्प से परिमण्डित करके प्रस्तुत करने के

कारण उनके ग्रन्थों में कवित्व पक्ष अधिक निखर कर सामने आया । इसके अतिरिक्त धार्मिक तथा नैतिक आस्थाओं की परम्परा के प्रति निष्ठावान् होने के कारण वे एक इतिहासकार होने के साथ-साथ सुधारवादी, उपदेशक और दार्शनिक भी थे । नैतिकता, आदर्श और मर्यादा की परम्परागत मान्यताओं का निर्वाह करना भी उनके लेखन का एक महत्त्वपूर्ण अंग था । अन्य ग्रन्थो की तो बात अलग रही, सही ऐतिहासिक घटनाओं को प्रमाणो द्वारा सम्परीक्षित करके प्रस्तुत करने का दावा करने वाला कल्हण भी परम्परा के प्रवाह मे स्थिर न रह सका ।

इसी प्रकार ऊपर जिन ऐतिहासिक दृष्टि से लिखे गये चरितकाव्यों, प्रबन्धकाव्यो तथा महाकाव्यो का उल्लेख किया गया है उनमे भी काव्य-शिल्प का इतना गहन ताना-बाना बुना गया है कि उनके कारण न केवल उनके मूल कथानक की प्रवाहमयता मे अवरोध उत्पन्न हुआ, अपितु उनका ऐतिहासिक पक्ष भी धूमिल पड गया । जहाँ तक पुराणो का सम्बन्ध है उनमे सन्दर्भगत कथा को अनुश्रुतियो और उपकथाओ से इतना अधिक बोझिल बना दिया गया कि मूल ऐतिहासिक तथ्य बिखर गये ।

फिर भी पुरातन सन्दर्भ मे उक्त सामग्री का अध्ययन करके यह कहना नितान्त अर्थहीन है कि भारतीयो मे इतिहास-बुद्धि का अभाव था । भारतीयो की मौलिक एव ठोस इतिहास-बुद्धि की परिचायिका वह पुरातत्त्व-विषयक सामग्री है, जिसके बृहत् संग्रह आज भारत के विभिन्न सग्रहालयों मे सुरक्षित है और जिनके वैज्ञानिक अध्ययन पर अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तके प्रकाश मे आ चुकी हैं ।

पुरातात्त्विक सामग्री

भारत के सास्कृतिक इतिहास को भली भाँति आलोकित करने वाली आधारभूत सामग्री मे साहित्य के अतिरिक्त पुरातत्त्व का भी अपना विशिष्ट स्थान है । इतिहास-निर्माण की दृष्टि से पुरातत्त्व-विषयक सामग्री का सर्वाधिक महत्त्व है । यह सामग्री अपने-आप मे एक प्रामाणिक इतिहास है । उसके द्वारा अनेक सन्देहो, विवादों तथा भ्रमो का निराकरण होकर इतिहासकारो को निर्विवाद दृष्टि प्राप्त होती है । इतिहासकार के समक्ष प्रतिपाद्य विषय और उससे सम्बद्ध विभिन्न घटनाओं की सत्यता निरूपित करने के लिए प्रमाण रूप मे जो तथ्य वर्तमान रहते हैं, उन्ही को पुरातत्त्व के नाम से कहा गया है ।

उदाहरण के लिए यदि प्रयाग का स्तम्भलेख उपलब्ध न हुआ होता तो सम्प्रति दूसरा कोई साधन नहीं था, जिससे सम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजय की जानकारी हो सकती। इसी प्रकार हाथीगुम्फा का अभिलेख ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके द्वारा खारवेल नरेश का अस्तित्व सुरक्षित रह सका और यह ज्ञात हो सका कि उसने एक विशाल राज्य की स्थापना की थी।

अनेकानेक भ्रान्त तथा सन्दिग्ध घटनाओं के निश्चयीकरण तथा पुष्टीकरण के लिए भी पुरातत्त्व-सामग्री का महत्त्व सुविदित है। उदाहरण के लिए पुष्यमित्र शुंग के समकालीन (लगभग 200 ई० पूर्व) वैयाकरण पतजलि के 'महाभाष्य' से विदित होता है कि पुष्यमित्र शुंग ने कोई यज्ञ किया था। एक व्याकरण-ग्रन्थ के इस उल्लेख को इतिहास का असन्दिग्ध साधन मानने मे इतिहासकारो का मतभेद रहा है। किन्तु अयोध्या से उपलब्ध अभिलेख में जब स्पष्ट रूप से यह उल्लेख हुआ मिला कि 'पुष्यमित्र शुंग ने दो अश्वमेध यज्ञ किये' (द्विरश्वमेधयाजिन: सेनापते: पुष्यमित्रस्य), तब पतजलि के उल्लेख की सत्यता सिद्ध हुई। इसी प्रकार कतिपय अन्य उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

इतिहास-लेखन तथा अध्ययन के लिए उपयोगी यह पुरातत्त्व-सामग्री अनेक रूपो मे बिखरी हुई मिली है। उसको तीन मुख्य वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है : 1. अभिलेख, 2. स्मारक और 3. मुद्राएँ।

अभिलेख और उनके विभिन्न रूप

भारत के विभिन्न स्थानो मे, विभिन्न युगो मे समय-समय पर इतने अधिक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं और आज भी निरन्तर उपलब्ध हो रहे हैं कि देश के प्रायः सभी सग्रहालयो मे न्यूनाधिक रूप मे उनके संग्रह देखने को मिलते है।

अभिलेखो का इतिहास की दृष्टि से जितना अधिक महत्त्व है, उतना ही महत्त्व उनके प्रचलन और उनकी परम्परा का भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि मत्र सहिताओं के वीर-वृत्तो (गाथाओं) और नाराशंसियो (स्तुतिपरक ख्यातो) ने ही सभवतः परवर्ती युग मे अभिलेखों के उत्कीर्णन की परम्परा को जन्म दिया। वैदिक युग मे बहुधा यज्ञ के अवसरो तथा धार्मिक उत्सवों के समय ऋषियो तथा राजाओं की वीर-वृत्तावलियाँ ओजस्वी वाणी मे गीतिबद्ध ढंग पर उच्चरित होती थी। उनमे वीरता, दानशीलता तथा कीर्तिमत्ता आदि गुणों का वर्णन होता था। जहाँ तक उपलब्ध अभिलेखों का सम्बन्ध है, उनमें प्रायः यशोगान,

दानशीलता, वीरता, विजय आदि महनीय घटनाओं को उत्कीर्ण किया जाता था। जिस शासक ने जो विशिष्ट ख्यातियुक्त प्रशंसनीय कार्य किये; स्मारक, भवन, कलाकेन्द्र तथा धार्मिक मठ-मन्दिर, बिहार आदि बनवाये; बड़े-बड़े दान दिये; उन सब को अभिलेखों मे खुदवाया जाता था। राजाज्ञाओं को उत्कीर्ण कराया जाता था। अभिलेखों के ऐतिहासिक साक्ष्य के लिए उन पर तिथियाँ भी अंकित की जाती थी।

भारत मे अभिलेख कब से खुदवाये गये, इस सम्बन्ध मे विद्वान् एकमत नही हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि सम्राट् अशोक के समय (272-232 ई० पूर्व) से अभिलेख खुदवाये जाने आरम्भ हुए। किन्तु कुछ विद्वानो का कहना है कि सम्राट् अशोक से पूर्व ही अभिलेख उत्कीर्णित किये जाने लगे थे। उदाहरण-स्वरूप बस्ती से प्राप्त 'पिप्रा-कलश-अभिलेख' और अजमेर से प्राप्त 'बडली अभिलेख' का नाम लिया जाता है। इन दो अपवादो के बावजूद सामान्यत. यही कहा जा सकता है कि सम्राट् अशोक के स्तम्भ से ही अभिलेख खुदवाने की व्यापक परम्परा स्थापित हुई।

भारत के विभिन्न अचलो मे समय-समय पर ये अभिलेख अनेक रूपो मे प्राप्त हुए हैं। उनकी आधारभूत सामग्री के अनुरूप उनको अनेक वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है; यथा शिलाखण्डों, स्तम्भो, प्रतिमाओं, स्तूपों, गुफाओं, ताम्रपत्रो, मुद्राओ, मुहरो, वेदिकाओ, प्राकारो. और आयागपट्टो आदि के रूपो मे वे उपलब्ध हुए है। उनका उत्कीर्णन सस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं मे हुआ है। अन्य भारतीय भाषाओ मे भी वे उपलब्ध है।

शिलालेख

शिलाखण्डो पर लेख उत्कीर्ण करने का व्यापक प्रयत्न, सम्राट् अशोक के समय (272-232 ई० पूर्व) से हुआ। अपने सुविस्तृत साम्राज्य मे जनता को राजकीय आदेशों की जानकारी देने के लिए उसने विभिन्न अचलों मे धर्मलेख खुदवाये। ये शिलालेख पश्चिमोत्तर मे मानसरोवर (जिला पेशावर) तथा काठियावाड़ के गिरनार पर्वत से लेकर पूरब मे धौली (उडीसा) और उत्तर में कालसी (जिला देहरादून) से लेकर दक्षिण मे येरगुडी (तमिलनाडु) तक भारत के विभिन्न अचलो मे उपलब्ध हुए है।

अशोक के बाद पुष्यमित्र शुग (187-151 ई० पूर्व) का अयोध्या-अभिलेख तथा जैन खारवेल (200 ई० पूर्व) का हाथीगुम्फा अभिलेख और ईसा की प्रथम०

द्वितीय शती ई० मे वर्तमान कुषाण राजा हुविष्क का मथुरा अभिलेख और कनिष्क (प्रथम शती ई०) का मानिक्याला अभिलेख का नाम उल्लेखनीय है। शिलाखण्डो पर उत्कीर्णित अभिलेखो मे महाक्षत्रप रुद्रदामन का 150 ई० मे उत्कीर्णित गिरनार अभिलेख का विशेष महत्त्व है। जैसा कि उसके नाम से ही विदित होता है, उसे पर्वत-शिला को काट कर उस पर उत्कीर्ण किया गया है। अभिलेख की विशेष बात यह है कि जहाँ अन्य शक शासको के शिलालेख प्राकृत मे हैं, वहाँ रुद्रदामन का यह अभिलेख संस्कृत मे है। उसके पुत्र रुद्रसिंह का गुफालेख भी उसकी धार्मिक उदारता और भारतीयता के प्रति गहन अभिरुचि का परिचायक है।

इसी प्रकार गुप्त राजाओ मे समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-414 ई०) का शिलालेख, कुमारगुप्त प्रथम (414-455 ई०) का मन्दसौरलेख और स्कन्दगुप्त (455-467 ई०) का जूनागढ अभिलेख उल्लेखनीय हैं। कन्नौज के राजा यशोवर्मन (725-752 ई०) और मौखरि राजा ईशानवर्मा का हरहा अभिलेख (प्रशस्ति) भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ सिद्ध हुई हैं।

स्तम्भलेख

प्राचीन भारत के सास्कृतिक इतिहास की निर्माणक सामग्री शिलालेखो के अतिरिक्त स्तम्भलेखो के रूप मे भी प्राप्त हुई हैं। विभिन्न प्रयोजनो से स्तम्भ-निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। प्रागैतिहासिक सभ्यता के परिचायक हड़प्पा तथा मोहेनजोदडो आदि नगरो की खुदाइयो से प्राप्त सामग्री मे इस प्रकार के स्तम्भो के अवशेष प्राप्त हुए है। ये स्तम्भ समवत: धार्मिक प्रयोजनो से निर्मित किये जाते थे। बाद मे उन पर लेख भी खुदवाये जाने लगे। समवतः पत्थरो और पहाडो के अभाव मे स्तम्भ निर्मित किये गये और उनके द्वारा जनता तक सुगमतापूर्वक राजाज्ञा को पहुँचाया गया।

स्तम्भलेखो के खुदवाने का प्रचलन भी अशोक के ही समय मे हुआ। उसने लगभग सात स्तम्भलेख उत्कीर्णित कराये, जिनमे रूपनाथ (मध्य प्रदेश), सारनाथ (उत्तर प्रदेश), लौटिया (चम्पारन, बिहार), दिल्ली, साँची और कौशाम्बी के स्तम्भलेख मुख्य है। इन पर अशोक ने अपने धर्मलेख खुदवाये। सम्राट् अशोक के स्तम्भलेख एक ओर तो लोकहितकारी बौद्ध धर्म की महानताओ को अभिव्यक्त करते हैं और दूसरी ओर उसके ऐतिहासिक पक्ष पर भी प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार यूनानी राजदूत हेलियोदारस (200 ई० पूर्व) ने भी भिलसा (मध्य प्रदेश) मे अपना एक स्तम्भलेख खुदवाया।

मौर्यों के बाद गुप्त शासको के स्तम्भ लेख विशेष महत्त्व के है। उनमें समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भलेख, कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त और भानुगुप्त के स्तम्भलेखों मे उनकी विजय और वंशकीर्ति का मार्मिक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार यशोवर्मन के मन्दसौर स्तम्भलेख मे उसकी विजय और यशोगाथा का हृदयग्राही वर्णन किया गया है।

ये स्तम्भलेख वस्तुतः एक प्रकार के कीर्तिस्तम्भ थे। जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढी, उनके निर्माण-प्रयोजनो मे भी परिवर्तन होता गया। प्रारम्भ मे उन्हे धार्मिक भावना के प्रचार का माध्यम बनाया गया। किन्तु बाद मे विजय, यश, कीर्ति, स्मृति और वंश-वृत्त आदि को सुरक्षित रखने के लिए उनका निर्माण किया गया है। आधुनिक युग पर भी उनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय महत्त्व के भवनो, द्वारो और हुतात्माओं की स्मृति मे इस प्रकार के स्तम्भलेख आज भी खुदवाये जाते है।

ये स्तम्भलेख पत्थर के अतिरिक्त धातु पर भी उत्कीर्णित हुए। यद्यपि बहुसंख्यक अभिलेख प्रस्तर स्तम्भो पर ही उत्कीर्णित है, किन्तु धातुनिर्मित चन्द्रगुप्त द्वितीय का मेहरौली स्तम्भ अपनी परम्परा का उल्लेखनीय उदाहरण है।

मूर्तिलेख

धर्मप्राण भारत मे मन्दिरो और मूर्तियो के निर्माण की परम्परा जितनी व्यापक रही है उतनी ही प्राचीन भी है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी धर्मावलम्बियो ने मन्दिरो तथा मूर्तियो का निर्माण कराके अपनी धार्मिक भावना का परिचय दिया। प्रतिमा-विज्ञान सम्बन्धी प्राचीन प्राविधिक सस्कृत ग्रन्थो के आधार पर मूर्तियो के निर्माण की परम्परा जितनी प्राचीन है, उन पर लेख खुदवाने का प्रचलन उतना पुराना नही है। फिर भी पूर्व मे मौर्य युग मे ही मूर्तियों पर लेख उत्कीर्णित किये जाने लगे थे। उदाहरण के लिए पटना और परखम की यक्ष-प्रतिमाओ को उद्धत किया जा सकता है। ईसा की प्रथम शती के लगभग निर्मित बोधगया तथा मथुरा की लेखयुक्त बौद्ध मूर्तियो का नाम इस परम्परा मे उल्लखनीय है, जिनमे अधिकतर कुषाण राजाओ के लेख है। मथुरा के क्षत्रपो के समय भी लेखयुक्त मूर्तियो का निर्माण हुआ। गुप्त राजाओं के समय मनकुमार की बौद्ध प्रतिमा और करमदण्डा के शिवलिंग को उद्धृत किया जा सकता है। हूण राजा तोरमाण द्वारा निर्मित एरण (मध्य प्रदेश) की वाराह भगवान् की विशालकाय मूर्ति पर भी प्रशस्ति अकित है। इसी प्रकार जैन मूर्तियो और आयागपट्टो पर भी बहुसख्यक लेख खुदे हुए मिलते हैं। ये लेख

मूर्ति के शीर्ष भाग या निम्न भाग की पट्टिका पर उत्कीर्णित हैं। इन लेखयुक्त प्रतिमाओं से मूर्तिकला के इतिहास पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

स्तूपलेख

तथागत बुद्ध के पवित्र अवशेषों (फूलों) को पात्र में रख कर भूमि में गाड़ दिया जाता था और उनके ऊपर अण्डाकार या अर्धवृत्ताकार ढाँचा निर्मित किया जाता था, जिसे स्तूप नाम से कहा गया। स्तूप की वेष्ठनियों (प्राकारों) तथा तोरणों (द्वारों) पर लेख उत्कीर्ण किये जाते थे। भरहुत, साँची और अमरावती के स्तूप इसके उदाहरण हैं। साँची के दक्षिण तोरण पर सातवाहन राजा सातकर्णि का नाम और उसकी वेष्ठनी पर उन अनेक व्यापारियों एवं धनिकों के नाम खुदे हुए हैं, जिन्होंने स्तूप के निर्माण में दान दिया था। इसी प्रकार भरहुत की वेष्ठनी पर जातक कथाओं की ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है। उसके पूर्वी तोरण पर अंकित लेख के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उसका निर्माण ईसा पूर्व द्वितीय शती में शुंग युग में हुआ था। अमरावती तथा मथुरा में भी इसी प्रकार के स्तूप-अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार गुंटूर जिले के नागार्जुन पर्वत के समीप प्राप्त स्तूप-अवशेषों से तीसरी शती ई० में वर्तमान वीरपुरुषदत्त के अग्निष्टोम तथा अश्वमेध आदि यज्ञों का उल्लेख हुआ मिलता है।

गुफालेख

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में गुफाओं के निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। कला-केन्द्रों के रूप में और धार्मिक अभिप्राय से इन गुफाओं का निर्माण हुआ। इन गुफाओं का निर्माण प्रायः बौद्ध धर्म के उदय के बाद हुआ। जन-कोलाहल से दूर, एकान्त जंगलों में निवास करने के उद्देश्य से ही संभवतः उनका निर्माण हुआ। अशोक से लेकर शुंग-सातवाहनों और गुप्तों तथा उनके बाद तक निरन्तर उनका निर्माण होता रहा। इन गुफाओं के भीतर उनके संरक्षक शासकों, निर्माणक शिल्पियों और निर्माण के अभिप्रायों को शिलाओं पर उत्कीर्णित किया गया। अनेक गुफाएँ ऐसी हैं, जिनका निर्माण तथा पुनरुद्धार समय-समय पर विभिन्न संरक्षक शासकों द्वारा होता गया। इस प्रकार एक ही गुफा अनेक शासकों के योगदान का इतिहास बताने के कारण उस पर उत्कीर्णित गुफालेखों का बड़ा महत्त्व है।

इस प्रकार की प्राचीनतम गुफाओं में बराबर पर्वत (गया, बिहार) की गुफाओं का नाम पहले आता है, जिन्हें अशोक ने बनवाया था। उनमें

उत्कीर्णित अशोक के लेखो से विदित होता है कि उन्हे आजीवक साधुओ के निवास के लिए बनवाया गया था। उडीसा मे भुवनेश्वर के निकट हाथीगुम्फा मे सम्राट् खारवेल की प्रशस्ति उत्कीर्णित है। इसी प्रकार क्षत्रप नहपान के जामाता उषवदत्त के अभिलेख नासिक, जूनार तथा कार्ले की गुफाओ में सुरक्षित है, जिससे उनका निर्माण-काल 200 ई० पूर्व के लगभग ठहरता है। नासिक के गुफालेखो से सातवाहनो और शकों के सघर्ष के साथ-साथ उनके निर्माण काल पर भी प्रकाश पडता है। इस अभिलेख से उषवदत्त की दानशीलता तथा ब्राह्मणो के प्रति उसके विशेष आदर-भाव का पता चलता है। उसने ब्राह्मण कन्याओ से विवाह किया था और अजमेर के समीप पुष्कर तीर्थ मे अभिषेक किया था।

गुप्त युग मे गुफाओ के निर्माण मे प्रगति हुई। उदयगिरि की इतिहास-प्रसिद्ध गुफा चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे निर्मित हुई। गुप्त युग मे ही विश्वविख्यात अजन्ता की अधिकतर गुफाओ का निर्माण तथा पुनरुद्धार हुआ। वाकाटक राजा हरिषेण (600 ई०) के उपलब्ध गुफालेख से विदित होता है कि अजन्ता के निर्माण मे उसका भी योगदान रहा। इसी प्रकार ग्वालियर के निकट बाघ की प्रसिद्ध गुफाओ का निर्माण लगभग ईसा की प्रथम शती मे होने लग गया था और आगे की कई शताब्दियो तक होता गया।

राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण प्रथम के समय निर्मित एलोरा के कैलाश मन्दिर की प्रसिद्ध गुफा का कई दृष्टियों से महत्त्व है। सह्याद्रि पर्वत (पश्चिमी घाट) मे गुफाओ की सख्या सर्वाधिक है। दक्षिण मे महाबलीपुरम् और जैनधर्म से सम्बद्ध उडीसा की मचपुरी रानी गुफा प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार भज, कार्ले और कान्हेरी की गुफाओ का भी ऐतिहासिक महत्त्व है।

इन गुफाओ के निर्माण मे ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों धर्मो के अनुयायियों का समान योगदान रहा और अतीत की अनेक शतियो से लेकर आज तक वे हमारी धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना को उजागर करने मे अतीव उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

ताम्रलेख (दानपत्र)

प्राचीन भारत मे धार्मिक प्रतिष्ठानो की स्थापना के लिए दी जाने वाली भूमि तथा मन्दिर आदि अचल सम्पत्ति का विवरण ताम्रपत्र पर उत्कीर्णित करके उसे दानदाता की ओर से दानगृहीता को दिया जाता था। ये ताम्रपट्ट

वस्तुत: एक प्रकार के दानपत्र थे । ये दानपत्र दानगृहीता के लिए अधिकार पत्र के रूप मे हुआ करते थे । ब्राह्मणो तथा राज्याश्रित अन्य व्यक्तियो को दी जाने वाली भूमि आदि के लिए भी ताम्रपत्र लिखे जाते थे । कभी-कभी राज्य-सीमा के अधिकार, वीरोचित कार्यों और वैदुष्य के सम्मानार्थ ताम्रपत्र प्रदान किये जाते थे । उनमे दानदाता तथा गृहीता का नाम, वश, तिथि और उस वस्तु का पूरा विवरण लिखा होता था, जिसे दान मे दिया जाता था ।

उपलब्ध दानपत्रों मे महगौरा का ताम्रपत्र सर्वाधिक प्राचीन है, किन्तु अधिकतर दानपत्र ईस्वी सन् के बाद ही लिखे गये । ईसा की प्रथम शती मे शक तथा पह्लव राजाओ के समय तक्षशिला, कलवान और स्यूबिहार के ताम्रलेख प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं ।

गुप्त युग मे ताम्रपत्रो के उत्कीर्णन का प्रचलन अधिक हुआ। उत्तरी बगाल के दामोदरपुर मे उपलब्ध कुमारगुप्त प्रथम का ताम्रपत्र और स्कन्दगुप्त का इन्दौर ताम्रपत्र तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते है । मध्य प्रदेश के खोह नामक स्थान से प्राप्त हस्तिन और सक्षोभ के ताम्रपत्रो मे भूमिदान का उल्लेख हुआ है । हर्षवर्धन के बासखेरा तथा मधुबन के ताम्रपत्रो मे हर्ष के जीवनादर्शों तथा प्रबन्ध का महत्त्वपूर्ण इतिहास सुरक्षित है । नालन्दा महाबिहार से उपलब्ध ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि सुमात्रा के राजा बालपुत्रदेव ने बगाल के पालवशीय राजा देवपाल से बिहार-निर्माण के लिए भूमि दान करने की प्रार्थना की थी । इसी प्रकार गहडवाल नरेश गोविन्दचन्द के उपलब्ध अनेक ताम्रपत्र तत्कालीन परिस्थितियो पर व्यापक प्रकाश डालते है ।

ये दानपत्र न केवल इतिहास के आधार-स्तम्भ हैं, अपितु उनके द्वारा तत्कालीन सस्कृति, धर्म, शासन, जन-जीवन और परम्पराओ का महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक वृत्तान्त सुरक्षित रहता आया है ।

मुद्रालेख

पुरातत्त्व-विषयक अभिलेखो मे मुद्रालेखो का अपना विशेष स्थान है । मुद्राएँ भारत के सांस्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण धरोहर हैं । ये मुद्राएँ लौह, रजत, ताम्र, स्वर्ण और मृत्तिका आदि पर निर्मित विभिन्न रूपो मे उपलब्ध हुई हैं । समय-समय पर विभिन्न स्थानो से प्राप्त और भारत के अनेकानेक संग्रहालयो मे सुरक्षित इन मुद्राओ पर खुदे हुए लेखो के अध्ययन से इतिहासकारो ने प्राचीन भारत के इतिहास, सस्कृति और सामाजिक जीवन के सर्वथा अज्ञात एवं विलुप्त तथ्यो का पता लगाया है । 300 ई० से पहले के लगभग पाँच सौ

वर्षों के भारतीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में मुद्राएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। मुद्रालेखो का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि साहित्यिक ग्रन्थो के अन्तर्वाह्य साक्ष्यों के आधार पर इतिहास की जो मान्यताएँ स्थापित हुई हैं उनकी सम्पुष्टि के लिए मुद्रालेख महत्त्वपूर्ण प्रमाण-सामग्री सिद्ध हुई है।

इन मुद्राओ पर सम-सामयिक शासक का नाम, शासनकाल, उसकी उपाधि, विजय, धार्मिक-मान्यताएँ और नीतियो का उल्लेख हुआ मिलता है। कुछ मुद्राओ मे अकित प्रतीकात्मक चिह्नों द्वारा सम्बद्ध शासक की अभिरुचियो का भी पता चलता है। उदाहरण के लिए सम्राट् समुद्रगुप्त की मुद्राओ मे अकित वीणा से उसकी सगीतप्रियता की जानकारी प्राप्त होती है। कुछ मुद्राओ पर विजेता और विजित, दोनो पक्षों का उल्लेख हुआ है। उदाहरण के लिए जोगलथम्त्री माण्ड से प्राप्त मुद्राओ मे विजेता गौतमीपुत्र सातकर्णि और विजित राजा नहपान दोनो का उल्लेख हुआ है।

भारतीय सस्कृति के आदान-प्रदान में यूनानी शासको का जो योगदान रहा है उसके प्रामाणिक इतिहास की जानकारी के लिए मुद्रालेखो का बडा महत्त्व सिद्ध हुआ है।

भारत मे मुद्रालेखो की उपलब्धि का इतिहास दियोदोतस, यूथिडिमस, दिमित और अपलदत्तस (मिलिन्द) आदि प्राचीन शासको के समय से आरम्भ होता है। उन्ही के अनुकरण पर कुषाण राजाओ ने अपनी मुद्राओ पर लेख उत्कीर्णित कराये। उन्होने चाँदी की जगह सोने के सिक्को का प्रचलन किया। कनिष्क के मुद्रालेखो से ज्ञात होता है कि उसने अपनी मुद्राओ पर शिव, अरदोक्षा, सूर्य और बुद्ध की आकृतियो को अकित कर हिन्दू, यूनानी, ईरानी और बौद्ध धर्मों के प्रति अपनी समान निष्ठा का परिचय दिया। क्षत्रपो, सातवाहनो और गुप्तो की उपलब्ध कुछ मुद्राओ मे युगल नामो का उल्लेख हुआ है। शासक राजा के साथ उसकी महारानी या उत्तराधिकारी युवराज का नाम भी उल्लिखित है। उनके द्वारा तत्कालीन राज्य की सीमाओ, सुदूर द्वीपान्तरो मे राजनीतिक, व्यापारिक, सास्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्धो पर भी प्रकाश पडता है।

कुषाणो के बाद गुप्तो ने भी अपने स्वर्ण-निर्मित सिक्को पर सस्कृत मे छन्दोबद्ध लेख उत्कीर्ण कराये। उनके सिक्को पर अकित 'परम भागवत' उपाधि से ज्ञात होता है कि वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। धार्मिकता के अतिरिक्त उनकी उपाधियो और विजयों का भी उनमे उल्लेख हुआ है।

मुद्राएँ अपने युग की सम्पन्नता और असम्पन्नता की द्योतक भी सिद्ध हुई हैं। उदाहरण के लिए आरम्भिक गुप्त राजाओ की स्वर्णमुद्राएँ उस युग की समृद्धि का परिचय देती है; किन्तु स्कन्दगुप्त की धातु-मुद्राएँ देश की विपन्नता तथा अवनति की सूचना देती है।

गुप्तो के बाद मध्ययुगीन हूणो के मुद्रालेखो से उनकी भारतीय सस्कृति के प्रति अगाध अभिरुचि का पता चलता है। हूण राजा मिहिर के मुद्रालेखो से ज्ञात होता है कि वह शैव मतावलम्बी था। इसी प्रकार गोविन्दचन्ददेव, गगदेव, परिमर्दिदेव और पृथ्वीराजदेव की मुद्राओ के लेख मध्ययुगीन इतिहास की मूल्यवान् सामग्री सिद्ध हुई है।

उपलब्ध मुद्राओ से तत्कालीन भाषा, साहित्य और कला पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। उनसे विभिन्न युगो मे प्रचलित प्राकृत तथा सस्कृत भाषा के विभिन्न रूपो का परिचय प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मौर्यों, सातवाहनों और कुषाणो के मुद्रालेखो से जिस प्रकार जनभाषा प्राकृत की लोकप्रियता विदित होती है, ठीक उसी प्रकार गुप्तो के मुद्रालेखो मे प्रयुक्त सस्कृत भाषा तत्कालीन समाज की सस्कृतप्रियता का द्योतन करती हैं। गुप्तो की चित्रयुक्त मुद्राओ से उनकी कलाप्रियता का भी परिचय प्राप्त होता है।

लिपि-विकास की दृष्टि से मुद्राओ का विशेष महत्त्व सिद्ध हुआ है। उदाहरण के लिए उत्तर-पश्चिम भारत के यूथिडिमस, दिमित तथा मिलिन्द आदि यूनानी शासको के मुद्रालेखो मे जहाँ खरोष्ठी लिपि का प्रयोग हुआ है, वहाँ पश्चिम भारत से प्राप्त क्षत्रप, शक शासको तथा सघ-शासको के मुद्रालेखो मे ब्राह्मी लिपि का उपयोग हुआ है और गुप्त शासको की मुद्राओ मे गुप्त लिपि तथा मध्ययुगीन शासको की मुद्राओं में नागरी लिपि का उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार प्राचीन भारत के गणतत्रो की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियो के अध्ययन मे उनका बडा महत्त्व है। किन्तु मुद्रालेखो के अध्ययन तथा आधार पर सही ऐतिहासिक तथ्यो का पता लगाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। उदाहरण के लिए रोमक इतिहासकार प्लिनी की भारत सम्बन्धी भ्रामक स्थापनाएँ मुद्रालेखो के मनगढन्त अध्ययन पर ही आधारित थी।

मुहरलेख

मुहरे भी प्राचीन भारत के सास्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री हैं। ये मुहरें विभिन्न रूपो तथा अभिप्रायो से निर्मित की गयी प्रतीत होती हैं। वे

मृत्तिका, ताम्र, कांस्य, प्रस्तर तथा हाथीदाँत आदि विभिन्न उपकरणो से निर्मित हुई मिली है । उनमे कुछ तो मन्दिरो तथा बिहारो से, कुछ राजकीय कार्य-कलापो से, कुछ कार्यालयीय कार्यों से और कुछ व्यक्तिगत कार्यों से सम्बद्ध हैं । इस प्रकार की अनेक मुहरें प्रयाग के निकट भीटा तथा नालन्दा, असीरगढ, सोनपत, वैशाली और राजघाट आदि अनेक स्थानो की खुदाइयो से प्राप्त हुई हैं ।

इस प्रकार की मुहरो का सर्वाधिक प्राचीन रूप प्रागैतिहासिक स्थानो हडप्पा, मोहेनजोदडो तथा लोथल (अहमदाबाद) से प्राप्त हुआ है । उनमे चित्रमय लिपि अकित है, जिसका अध्ययन अभी तक नही हो पाया है । उन पर गैंडा, हाथी, शेर, बैल और भैसा आदि विभिन्न पशुओ की आकृतियाँ अकित हैं । ये चित्रमय मुहरे भारतीय कला के प्रथम जीवित प्रमाण है, जिनके प्रभाव की छाप दजला-फरात, दक्षिणी ईरान आदि देशों की कलाकृतियो पर स्पष्ट है । इन मुहरो पर अकित पशुओ की आकृतियो से तत्कालीन समाज के पशुपालन एव पशुप्रेम का पता चलता है ।

ऐतिहासिक युग की भीटा से प्राप्त मुहरो पर शिवलिंग, त्रिशूल और वृषभ की आकृतियाँ अकित है । नालन्दा की मृत्तिका मुहरो पर बुद्ध की प्रतिमा अकित है । इसी प्रकार गुप्तो की मुद्राओ मे गरुड, पालराजा देवपाल की मुहर मे बुद्ध की आकृति अकित है ।

वेदिकालेख

स्तूपो या स्तम्भलेखो का उल्लेख पहले किया जा चुका है । स्तूपो के चारो ओर वेदिकाओ का निर्माण प्रायः साँची, बोधगया, भरहुत और अमरावती आदि सभी स्थानो मे देखने को मिलता है । प्राय सभी स्तूप-वेदिकाओ पर लेख खुदे हुए है । उनमे उसके दानदाता का उल्लेख किया गया है । साँची की वेदिका पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का लेख खुदा हुआ है । भरहुत की वेदिका पर शुंगयुगीन लेख मे जातक कथाओ के आधार पर मानुषी बुद्ध तथा नृत्यरत अप्सराओं की आकृतियाँ अकित हैं । बोधगया की वेदिका पर भी लेख अकित है, जो बाद का प्रतीत होता है । इसी प्रकार अमरावती और साँची की वेदिकाओ पर सातवाहन शासको के लेख खुदे हुए हैं ।

अभिलेखो का महत्त्व

इसी प्रकार ये अभिलेख अतीतकालीन भारत के बौद्धिक, धार्मिक, प्रशासनिक और व्यापारिक स्थितियों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ अपने-अपने युगो के

नगरो, गाँवो और नागरिक तथा ग्रामीण जीवन के रीति-रिवाजों तथा प्रथाओं का वास्तविक रूप प्रदर्शित करने के कारण सांस्कृतिक इतिहास के भी बहुमूल्य स्रोत हैं। लेखनकला के इतिहास के वे एकमात्र साधन हैं। जिस पुरातन युग में विचारों को लिपिबद्ध करने के लिए कोई व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक साधन नही थे, मृत्तिका, प्रस्तर और धातु आदि को लेखन का आधार बनाया गया। इस दृष्टि से अभिलेख ही हमारी प्रथम पुस्तकें हैं। जिन स्तम्भो पर ये अभिलेख उत्कीर्णित किये गये उनके द्वारा तत्कालीन स्थपतियो की निपुणता के दर्शन होते है। अशोक की महानताओ के प्रतीक उनके कीर्तिस्तम्भ वस्तुतः भारतीय गौरव के चिरन्तन स्मारक है। उनका सारनाथ सिंहशीर्ष आज भी भारत की राष्ट्रीय गरिमा का प्रतीक बना हुआ है। जिन युगो की जानकारी के लिए कोई अन्य साधन उपलब्ध नही हैं, एकमात्र अभिलेखो द्वारा ही उनका अस्तित्व सुरक्षित रह पाया है। ये अभिलेख वस्तुतः अपने युगो के दर्पण हैं, जिनके द्वारा अतीत के सहस्त्रो वर्षो मे घटित भारतीय जन-जीवन की अविकल झाँकियाँ अभिव्यजित हुई हैं।

विदेशी पर्यटको के भ्रमण-वृत्तान्त

साहित्यिक तथा ऐतिहासिक ग्रन्थो और पुरातात्त्विक सामग्री के अतिरिक्त भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री उन विदेशी यात्रियो के भ्रमण-वृत्तान्तों के रूप मे भी सुरक्षित है, जिन्होने आँखो देखी परिस्थितियो के आधार पर अपने अनुभवो तथा भारतीयो द्वारा मौखिक रूप मे सुरक्षित घटनाओ का विश्लेषण कर उन्हे अपनी लेखनी मे उतारा है। भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ही अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक आचार-व्यवहार की परम्पराओ और रीति-नीतियो एव विचित्रताओ की जिज्ञासा से अनेक देशो के लोग समय-समय पर यहाँ आये। देश के विभिन्न स्थलो का भ्रमण कर यहाँ के जन-जीवन मे उन्हे जो उपादेय तथा ग्राह्य अनुभव हुआ उसको उन्होने लिपिबद्ध किया। इस प्रकार विदेशियो के ये वृत्तान्त तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक जीवन की यथार्थताओ और परम्पराओ का ज्ञान प्राप्त करने मे आधुनिक इतिहासकारो के प्रेरणास्रोत बने। इस प्रकार भारत आने वाले पर्यटक विद्वान् यूनान, रोम, चीन, तिब्बत और अरब आदि विभिन्न देशो से सम्बद्ध थे। इन विद्वानो द्वारा संगृहीत भारतीय ज्ञान-सम्बन्धी कुछ तथ्य तो उनकी कृतियो के साथ ही अतीत को भेंट हो गये; किन्तु जो सुरक्षित रह पाये हैं, उनका अनेक दृष्टियो से बडा महत्त्व है।

इस सामग्री का अनुशीलन करने पर विदित होता है कि भारत के साथ यूनान और चीन के पारस्परिक सम्बन्ध बडे घनिष्ठ तथा दीर्घकालीन रहे है। इन दोनो देशो के यात्री यद्यपि विभिन्न उद्देश्यो से भारत आये; किन्तु उनमे से कुछ के ही संस्मरण-अनुभव उल्लेखनीय हैं।

यूनानी पर्यटक

प्राचीन काल मे जिन अनेक यूनानी पर्यटको ने भारत भूमि का भ्रमण किया, उनमे से स्काइलैक्स का नाम अग्रणी है। यह यूनानी फारस के शासक दारा प्रथम का सैनिक था। दारा ने उसे प्रागैतिहासिक सिन्धु घाटी के सम्बन्ध में पता लगाने के लिए भारत भेजा था। उसके परवर्ती लेखक उसकी खोजो के जो तथ्य सुरक्षित रख पाये हैं, उनसे सिन्धु घाटी के सम्बन्ध मे कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नही होती है। उसके विवरणो के आधार पर दूसरे यूनानी लेखक हिकेटिअस मिलेटस (549-496 ई० पूर्व) ने सिन्धु घाटी के कुछ भौगोलिक स्थितियों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। किन्तु इन यूनानियो की खोजों के जो उद्धरण अन्य ग्रन्थो मे देखने को मिलते है, उनसे स्पष्टत. पता चलता है कि वे भारत के प्राचीन इतिहास की कोई विशेष जानकारी देने मे अधिक उपयोगी सिद्ध नही हुए।

प्राचीन भारत के सम्बन्ध मे सर्व प्रथम महत्त्वपूर्ण नयी जानकारी देने का श्रेय तीसरे यूनानी इतिहासकार हेरोदोतस (484-425 ई० पूर्व) को है। उसने उत्तर-पश्चिम स्थित सीमाप्रान्त (भारत) और हखमी (ईरान) के साम्राज्यो से राजनीतिक सम्पर्क स्थापित कर वहाँ की जातियो के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किये। किन्तु उसके ये ऐतिहासिक वृत्त उसके द्वारा प्रत्यक्षानुभूत न होकर इतरेतर साधनो पर अवलम्बित है, जिससे उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

इस सन्दर्भ मे यूनान के प्राचीन इतिहासकार केसिअस (416-398 ई० पूर्व) का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसने प्राचीन भारत के सम्बन्ध मे अधिकाधिक और प्रामाणिक सूचनाएँ देने का यथासाध्य प्रयत्न किया है। वह फारस के राजा अर्टाजे रेक्सस मेमन की राजसभा का राजवैद्य था। इस इतिहास-बुद्धि व्यक्ति ने फारस आये भारतीयो और भारत से लौटे फारसी व्यापारियो से सम्पर्क स्थापित कर उनसे भारत के विषय मे बहुविध जानकारी प्राप्त की थी। भारत-सम्बन्धी जिन तथ्यो को पुस्तकाकार रूप मे उसने एकत्र किया उसका नाम 'इण्डिका' रखा। यद्यपि उसके विवरण परानुभव-जन्य थे और इसलिए उनकी

सत्यता सर्वथा असन्दिग्ध नहीं थी, तथापि भारत के इतिहास को पुस्तकबद्ध करने वाले विदेशियों मे उसका स्थान अविस्मरणीय है। प्राचीन भारत पर अपेक्षया विस्तृत जानकारी देने वाली उसकी उक्त पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है; किन्तु अन्य पुस्तकों में उसके उद्धरण मात्र देखने को मिलते है। उसने ईरान पर भी एक इतिहास-ग्रन्थ 'पर्शिका' के नाम से लिखा था।

प्राचीन भारत की प्रामाणिक तथा विस्तृत इतिहास-सामग्री के स्रोत उन इतिहासकार विद्वानों के उपलब्ध वृत्तान्त हैं, जिन्हे महान् विजेता सिकन्दर (400 ई० पूर्व) अपने साथ भारत लाया था। जिन मार्गों से होकर सिकन्दर ने भारत में प्रवेश किया और जिस कौशल तथा पराक्रम से उसने अपने आक्रमणो को सफल बनाया उसका सविस्तार वर्णन उसके सैनिक पदो पर नियुक्त कुछ विद्वान् व्यक्तियो ने किया। यदि उन्होने अपने प्रत्यक्ष दृष्ट अनुभवो को लिपिबद्ध न किया होता तो सिकन्दर के भारत-आक्रमण की जानकारी देने के लिए अन्य कोई साधन नही थे। यद्यपि पूर्ववर्ती इतिहासकारो की मूल कृतियों की भाँति सिकन्दर के इन सहयोगी लेखको के क्रमबद्ध वृत्तान्त विलुप्त हो गये; किन्तु परवर्ती इतिहासकारो स्ट्रैबो, प्लिनी, एरियन और प्लूतार्च के ग्रन्थों मे उनके उद्धरण आज भी सुरक्षित हैं।

सिकन्दर के साथ आये इन तीन लेखको के नाम थे निआकस, एरिस्टीब्यूलस और ओनेसिक्रिटस। निआकस के भारत-विषयक वृत्तान्तों के उद्धरण स्ट्रैबो और एरियन के ग्रन्थो मे उद्धृत हैं। सिकन्दर के जहाजी बेडे का वह एडमिरल था। एरिस्टीब्यूलस ने सिकन्दर के युद्धो पर एक पुस्तक लिखी थी, एरियन और प्लूतार्च ने उसके बहुत से विवरणो को सुरक्षित रखा है। इसी प्रकार जहाजी बेडे के पाइलट ओनेसिक्रिटस ने अपने अनुभवो पर सिकन्दर की जीवनी लिखी थी। उसके वृत्तान्तों मे यद्यपि अतिरंजना, एकांगिता तथा सुनी-सुनायी बातो की अधिकता है, फिर भी उनका अपना महत्त्व है।

सिकन्दर के बाद भारत आने वाले विद्वान् इतिहासकारो एव खोजियों में मेगास्थनीज का नाम प्रमुख है। वह प्रसिद्ध यूनानी सीरिया के सम्राट् सेल्यूकस का राजदूत था और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय (321-297 ई० पूर्व) भारत आया था। भारत के अनेक स्थलो का भ्रमण और वहाँ की परम्पराओ का अध्ययन कर उसने भारत के तत्कालीन जन-जीवन तथा उसकी सास्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत पर 'इण्डिका' नाम से एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी, जो कि सम्प्रति मूल रूप में उपलब्ध नही है; किन्तु उसके लम्बे

अवतरण एरियन, स्ट्रैबो तथा जस्टिन आदि इतिहासकारों की पुस्तको मे सुरक्षित हैं। डॉ० स्वानवेक ने उस पुस्तक के विभिन्न बिखरे हुए विवरणो को एकत्र कर उन्हें 1846 ई० मे प्रकाशित किया। इस सग्रह का मैक क्रिण्डल ने 1891 ई० मे अग्रेजी अनुवाद किया। इस अनुवाद के माध्यम से मेगास्थनीज की पुस्तक के महत्त्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत के सम्बन्ध मे प्राचीन ऐतिहासिक जानकारी देने वाले यूनानी विद्वानो मे पैट्रोक्लीज (281-261 ई० पूर्व) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यूनानी सम्राट् सेल्यूकस और एण्टीआकस प्रथम के समय वह किसी पूर्वी प्रान्त का पदाधिकारी था। अपने पूर्वी देशो के इतिहास मे उसने भारत पर प्रकाश डाला है। उसके परवर्ती इतिहासज्ञ एव भूगोलवेत्ता विद्वान् एरैस्थोनीज (276-194 ई० पूर्व) और स्ट्रैबो ने पैट्रोक्लीज के विवरणो की बडी प्रशंसा की है।

मेगास्थनीज के बाद, मौर्य चन्द्रगुप्त के पुत्र मौर्य बिन्दुसार (297-272 ई० पूर्व) के शासनकाल मे यूनानी सम्राट् द्वारा प्रेषित राजदूत डीमेकस और उसके बाद डायोनीसिअस भारत आया। उन्होने भी भारत-विषयक अपने अनुभवो को लेखबद्ध किया, जो कि मूल रूप मे उपलब्ध नही है, किन्तु स्ट्रैबो ने उनके कुछ उद्धरण उद्धृत किये है। स्ट्रैबो ने उक्त तीनो यूनानी विद्वान् राजदूतो के भारत विषयक विवरणो की आलोचना की है और उनकी प्रामाणिकता पर अविश्वास करते हुए उन्हे भ्रान्त तथा अविश्वसनीय कहा है। यद्यपि मेगास्थनीज के भारत विषयक कुछ अनुमान नितान्त असत्य तथा कल्पित है, फिर भी तत्कालीन जन-जीवन के रहन-सहन, रीति-रिवाज और धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि उदात्त परम्पराओ का जिस निष्पक्षता से उसने उल्लेख किया है, उसका अपना विशेष महत्त्व है और भारत के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए वे एकमात्र साधन है।

भारत और यूनान के इन निरन्तर बढते हुए घनिष्ठ सम्बन्धो का अनेक दृष्टियो से बडा महत्त्व है। दोनो देशो के इन प्राचीन सम्बन्धो के परिणामस्वरूप न केवल इतिहास तथा सस्कृति के क्षेत्र मे, अपितु कला के क्षेत्र मे भी सामजस्य स्थापित हुआ। अपने पूर्ववर्ती विद्वानो के उल्लेखो से प्रभावित होकर ईसा की प्रथम शती मे प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् स्ट्रैबो ने विभिन्न देशों का भ्रमण कर वहाँ की भौगोलिक स्थितियो पर सर्व प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला। मूलतः भौगोलिक स्थितियो का चित्रण करने के साथ-साथ स्ट्रैबो ने तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक

तथा राजनीतिक विषयो पर भी प्रकाश डाला। स्ट्रैबो की इस पुस्तक मे भारत के प्राचीन इतिहास की महत्त्वपूर्ण मौलिक खोजे विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

उसके बाद प्रसिद्ध इतिहासकार और भूगोलवेत्ता विद्वान प्लिनी ने विश्व के प्राकृतिक इतिहास पर एक विशाल ग्रन्थ की रचना की। उसमे 37 अध्याय हैं। उसका छठा अध्याय भारत पर है। यद्यपि प्लिनी ने अपने अभिमतो तथा निष्कर्षों के लिए मेगास्थनीज के वृत्तान्तो को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है, फिर भी उसने भारत-विषयक अनेक अप्रकाशित एवं अज्ञात तथ्यो को पहली बार प्रकाश मे लाने की चेष्टा की है। उसकी 'नेचुरल हिस्ट्री' नामक यह बृहत् कृति 77 ई० मे प्रकाशित हुई। प्लिनी की कुछ भारत-सम्बन्धी स्थापनाएँ अत्यन्त भ्रान्त सिद्ध हुई हैं।

प्लिनी के लगभग सौ वर्ष बाद प्रसिद्ध इतिहासकार एरियन ने सिकन्दर के आक्रमणो पर एक प्रामाणिक पुस्तक लिखी। इसके अतिरिक्त, उसने 'इण्डिका' नामक अपनी पुस्तक मे अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारो के विवरणों एव निष्कर्षों को सकलित करते हुए भारत के राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक विषयों पर भी प्रकाश डाला। दूसरी शती ई० मे वर्तमान इस यूनानी विद्वान् एरियन ने भारत के इतिहास और भारत के पशुओं पर दो विभिन्न पुस्तके लिखी। इसके अतिरिक्त ईजिस्ट के मठाधीश कसमस इण्डिकोप्लुटर्स द्वारा लिखित 'दि क्रिश्चियन टोपोग्राफी ऑफ दि यूनिवर्स' भी भारतीय इतिहासकारो के लिए उपयोगी पुस्तक है।

इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक यूनानी इतिहासकारो, भूगोलवेत्ताओ ने अपने विवरणो मे प्राचीन भारत की जानकारी प्रस्तुत की है। किन्तु उनमें अधिकतर का केवल नाममात्र ही उपलब्ध होता है।

चीनी पर्यटक

भारत के प्राचीन इतिहास और भूगोल की जानकारी देने वाले विद्वानो मे यूनानवासियो के बाद चीनी इतिहासकारों का नाम मुख्य है। बौद्धधर्म का उद्गम स्थल भारत उनकी प्रेरणा का मुख्य केन्द्र रहा है। इतिहास के उन प्रचुर तथ्यो को विस्मृत नही किया जा सकता है, जो भारत और चीन की मूलभूत एकता के साक्ष्य हैं। इन दोनो देशो के जन-जीवन की सामान्य मान्यताओ और विश्वासो की अभिन्नता के कारण इतिहास, साहित्य, संस्कृति, धर्म और लोक-विश्वासो के विभिन्न क्षेत्रो मे इन दोनो देशो की पारस्परिक एकता अतीत की अनेक शतियो तक अटूट रूप मे बनी रही। बौद्धधर्म के

माध्यम से दोनो देशो के पारस्परिक सम्बन्ध इस रूप मे एकाकार हो गये कि उनके अतीत के कई सौ वर्षों तक के इतिहास को अलग करके देखा ही नही जा सकता है ।

भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाले चीनी विद्वानो मे शु-मा-चिन का नाम अग्रणी है। न केवल भारतीय, अपितु चीनी इतिहास लिखने वाला यह प्रथम विद्वान् था। उसका समय ईसा की प्रथम शती पूर्व या प्रथम शती के लगभग था। उसकी भारत-विषयक ऐतिहासिक सामग्री मौलिक और निर्भ्रान्त है।

प्राचीन भारत के इतिहास मे चीनी बौद्ध परिव्राजक फाहियान (399-414 ई०), ह्वेन-त्साग (629-645 ई०) और ईत्सिग (673-695 ई०) का नाम लगभग एकाकार हो गया है। यूनानी इतिहासकारो से यदि उनके विवरणो की तुलना की जाय तो दोनो मे बहुत अन्तर देखने को मिलता है। इन चीनी यात्रियो ने अपने-अपने समय के भारत के धर्म, शासन तथा जन-जीवन के वास्तविक चित्र अपने विवरणो मे प्रस्तुत किये हैं। अन्य ऐतिहासिक स्रोतो से उनकी सत्यता सिद्ध हो चुकी है।

प्रथम चीनी यात्री फाहियान गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल (375-414 ई०) मे 399 ई० को भारत आया था। वह लगभग सोलह वर्षों तक भारत मे रहा। उसने भारत के विभिन्न बौद्ध-तीर्थो और ऐतिहासिक स्थानो का भ्रमण किया। उसका प्रमुख उद्देश्य यद्यपि बौद्ध-साहित्य का अध्ययन करना था, किन्तु उसके साथ-साथ उसने भारतीय जन-जीवन और तत्कालीन संस्कृति पर भी प्रामाणिक प्रकाश डाला है। गुप्तयुगीन स्वर्णिम भारत का उसने आँखो देखा विवरण प्रस्तुत किया है। फाहियान स्वयमेव बड़ा विद्वान् था। उसकी यही विद्वल्लिप्सा ही उसे भारत की ओर खीच लायी थी। उसने भारतीय बौद्ध विद्वानो के निकट बैठकर बौद्धधर्म का मौलिक ज्ञान प्राप्त किया था।

ह्वेन-त्साग का जन्म सम्भ्रान्त विद्वत्वंश में हुआ था, जो कि बड़ा धर्मप्राण था। इन दोनो गुणो का उसके जीवन मे समन्वय था। सात्त्विक वातावरण मे रहकर ह्वेन-त्साग का विद्यानुराग निरन्तर बढता गया। वह देशाटन के लिए निकला और चीन की ही भाँति बाहर भी बौद्धधर्म की महानताओ से प्रभावित होकर वह बौद्ध भिक्षु बन गया। फिर उसने बौद्धधर्म पर ही चिन्तन

आरम्भ कर दिया। किन्तु उसको यह जानकर प्रसन्नता नही हुई कि बहुत घूमने पर भी उसे अपनी शंकाओ का समाधान नहीं मिला।

अन्त में वह बौद्धधर्म की जन्मभूमि भारत आया। कठिन तथा दुर्गम मार्ग को तयकर उसने 629 ई० को भारत मे प्रवेश किया। जिस समय उसका भारत मे पदार्पण हुआ उस समय यहाँ महाराज हर्ष का शासन-काल (607-647 ई०) था। भारत आकर ह्वेन-त्साग ने भारतीय विद्वानो से (नालन्दा विश्वविद्यालय मे) मूल बौद्ध-ग्रन्थो का सस्कृत मे अध्ययन किया। भारतीय विद्याओ तथा शास्त्रो के प्रति ही नही, भारतवासियो के प्रति भी उसका उतना ही आकर्षण था। उसने 15 वर्षों तक भारत के सभी धार्मिक, शैक्षिक तथा ऐतिहासिक स्थानो का भ्रमण किया तथा बौद्ध बिहारो के दर्शन भी किये। तत्कालीन विश्वविद्यालय नालन्दा मे वह दो वर्षों तक रहा। वहाँ उसे सर्वोच्च विद्वत्सम्मान 'मोक्षदेव' की उपाधि से विभूषित किया गया।

उसके भारत-भ्रमण-वृत्तान्त बडे ही रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं। विशेष रूप से हर्षयुगीन और उसके पूर्व के भारत के ऐतिहासिक, भौगोलिक, सास्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक विषयो की जानकारी देने के कारण वे भारतीय इतिहास के अग बन गये है। महाराज हर्ष की राजसभा मे उसका बडा सम्मान था। स्वय हर्ष और उसकी धर्मप्राण बहिन राज्यश्री की ह्वेन-त्सांग की विद्वता और निरपेक्ष साधुवृत्ति के प्रति बडी श्रद्धा थी।

चीन मे आकर उसने अनेक बौद्ध-ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। आधुनिक पाश्चात्य इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ का कहना है कि जब ह्वेन-त्साग चीन लौटा तो 20 घोडो की पीठ पर भारत से सहस्रो हस्तलिखित ग्रन्थ लाद कर ले गया था।

ह्वेन-त्साग के भारत-भ्रमण-वृत्तान्तो के अतिरिक्त भारत-विषयक चीनी विद्वानो की कृतियो मे हुई-ली की पुस्तक 'ह्वेन-त्सांग की जीवनी' भी इस दृष्टि से उपयोगी है। इस जीवनीकार ने ह्वेन-त्सांग के उन भ्रमण-वृत्तान्तो पर भी प्रकाश डाला है, जो स्वयं ह्वेन-त्साग से अछूते रह गये थे। हुई-ली, ह्वेन-त्साग का समकालीन विद्वान् होने के कारण भी प्रसिद्ध है।

तीसरा चीनी पर्यटक भिक्षु ईत्सिग सातवी शती ई० के अन्त में (673-695 ई०) भारत आया था। इस चीनी विद्वान् के भ्रमण-वृत्तान्तो मे मध्य-पूर्व और मध्यकालीन भारत की विभिन्न राजनीतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक

स्थितियो पर प्रामाणिक प्रकाश डाला गया है। भारतीय सस्कृति और उसके उच्चादर्शों की विशेष जानकारी के लिए ईत्सिग के भ्रमण-वृत्तान्त अधिक उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण है। ईत्सिंग के बाद मात्वान्-लिन (13वी शती ई०) की कृतियों और विशेष रूप से तिब्बतीय इतिहासकार लामा तारानाथ के विभिन्न ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

रोमन पर्यटक

यूनानी और चीनी विद्वानो के अतिरिक्त प्राचीन भारत के प्रति अपनी जिज्ञासा प्रकट करने वाले विद्वानो मे रोमन इतिहासकार एव भूगोलवेत्ता टालेमी का नाम उल्लेखनीय है। उसका स्थितिकाल ईसा की दूसरी शती के लगभग है। उसने भूगोल विषय पर एक ग्रन्थ लिखा, परवर्ती इतिहासकारो एव भू-वेत्ताओ मे जिसकी अधिक ख्याति रही। अपने इस ग्रन्थ मे भारत विषयक उसकी प्राकृतिक जानकारी अपरिपक्व प्रतीत होती है। इस दृष्टि से प्राचीन भारत के भौगोलिक वृत्त के सम्बन्ध मे उससे कोई प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नही होती।

परवर्ती मुस्लिम पर्यटक

भारत आने वाले उत्तरवर्ती मुस्लिम-पर्यटकों मे सस्कृत एव ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् अल्बेरूनी का नाम उल्लेखनीय है। अल् बिलादारी, सुलेमान तथा अल् मसऊदी आदि पूर्ववर्ती इतिहासकारो की कृतियो मे प्रेरणा प्राप्त कर अल्बेरूनी ने भारत की विद्या-बुद्धि की खोज की।

अल्बेरूनी, महमूद गजनवी (10वी शती) का दरबारी विद्वान् था, किन्तु महमूद के रक्तपात तथा विध्वस-कार्यों से उसका कोई सम्बन्ध नही था। उसने अपने व्यक्तित्व, गुणानुगामी स्वभाव और अपनी बौद्धिक-वैचारिक प्रवृत्ति के कारण भारत में रहकर यहाँ के शास्त्रो, विद्याओ और जन-जीवन की उदात्त परम्पराओ के अध्ययन, अनुशीलन तथा चिन्तन-मनन पर ही अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था। भारत के अनेक क्षेत्रो का भ्रमण कर उसने भारतीयो के आचार-व्यवहारो का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया। भारतीय विद्वानो के सम्पर्क मे रहकर उसने ज्योतिष, आयुर्वेद और दर्शन का मौलिक अध्ययन किया। उसने हिन्दुओ की रसायनविद्या पर गम्भीर प्रकाश डाला है और विभिन्न रासायनिक प्रयोगों, विशेष रूप मे हिन्दुओ द्वारा सुवर्ण तैयार करने की विधि पर विस्तार से विचार व्यक्त किये हैं। इस विद्वान इतिहासकार

द्वारा 1030 ई० में रचित 'तहकी-कए-हिन्द' (तारीख-उल्-हिन्द) नामक पुस्तक मे भारत तथा भारतवासियो के सम्बन्ध में पर्याप्त ऐतिहासिक ज्ञान निहित है।

उक्त विद्वानो के अतिरिक्त हसन निजामी, मीर खोद और फरिश्ता आदि मुस्लिम लेखकों की कृतियो मे भी प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार भारत के सास्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि के निर्माणक ठोस एव सुस्थिर तथ्यो का अनुशीलन करने पर इस मन्तव्य को स्थापित करने मे किसी भी प्रकार का विवाद एव सन्देह नही रह जाता है कि इस राष्ट्र की ग्रन्थ-राशि के निर्माणक महाज्ञानियो ने इतिहास-विधा की सापेक्षता को दृष्टि मे नही रखा। अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति और धार्मिकता, आदर्शवादिता तथा नैतिकता के अपने मान-मूल्यो को सामने रखकर ही उन्होंने इतिहास की विधा को उस सार्वभौम व्यापक भावधारा के अन्तर्गत समाहित किया, जिसने व्यष्टि मे समष्टि और समष्टि में व्यष्टि के दर्शन कर अतीत और आगत को एक साथ जोडने का महान् प्रयास किया। यह बात सभ्यता की दृष्टि से प्राचीन एव सम्पन्न कही जाने वाली ईसाई, इस्लामी और यूनानी आदि किसी भी जाति के इतिहास मे देखने को नही मिलती है। सक्षेप मे कहना चाहिए कि उन्होने इतिहास के सूत्रो पर इस राष्ट्र की सास्कृतिक अखण्डता को इस ढग से पिरोया कि उसकी परम्परा अविच्छिन्न, अव्यवहित एव अटूट रूप में सुरक्षित बनी रही। वह जैसे अतीत में थी, वैसे ही आज भी है।

● ● ●

तीन/भारतीय संस्कृति और उसकी परम्परा

सांस्कृतिक अवधारण के आधार

भारत प्राचीन काल से ही विभिन्न कबीलों तथा जातियो का केन्द्र रहा है। यहां की पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ और प्रथाएँ भिन्न-भिन्न रही है। इस दृष्टि से यहाँ के सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि अपने-आप मे सर्वथा स्वतत्र रूप मे परिवर्तित होती रही है। इस विषय पर अनेक विद्वानो ने अपने अलग-अलग विचार प्रस्तुत किये हैं। वर्तमान सन्दर्भों मे भारत की सांस्कृतिक अवधारणा के आधार पुराने मान-मूल्यो के साक्ष्यो पर निर्धारित नही किये जा सकते हैं, क्योकि इस दिशा की नयी खोजो ने उन्हे प्रायः प्रभावहीन एव निरर्थक सिद्ध कर दिया है। उसके अनेक कारण विद्यमान है। उनमे परिवर्तित आर्थिक वातावरण, नयी औद्योगिक व्यवस्था और कृषि-उन्नति प्रमुख रूप से प्रभावकारी सिद्ध हुए है। वर्तमान समाज इन भौतिक समस्याओ का सम्पूर्ण हल ढूँढ कर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करके यदि अपने को सुखी नही बना लेता, तो उसके अतीत की समस्त समुन्नतियाँ तथा गौरव-गाथाएँ प्राय. प्रयोजनहीन हो जाती हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि भारत मे कुछ वर्षों पूर्व जिस औद्योगीकरण का उदय हुआ, वह पूर्व निश्चित अथवा परम्परागत कार्यक्रमो पर आधारित या अवलम्बित नही था, और इसीलिए उनका सम्बन्ध हमारे बाह्य सन्तोष तक ही सीमित रहा, उनके द्वारा मूलभूत स्थायी समस्याओ का समाधान या निराकरण न हो सका। ऐसा होने का कारण यह था कि जो बहुसंख्यक श्रमिक जनता विभिन्न उद्योगो मे लगी हुई थी, उनसे उसका सीधा सम्बन्ध नही था। वे उन समस्त सुविधाओ से वंचित थे, जिनसे कि वे अपनी पारिवारिक खुशहालियो का अनुभव कर सकते और अपनी सामाजिक अपूर्णता को पूरी कर सकते।

भारतीय श्रमिक जीवन के इस विषमीकरण से उत्पन्न आर्थिक निष्क्रियता को आधुनिक राजनीतिक चेतना ने प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप एक नवीन दृष्टि का विकास सम्भव हुआ। उससे नयी सामाजिक कल्याण की

भूमिका तैयार हुई और संस्कृति के इस पुनरुद्धारवाद ने नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया।

अतीत के अनुभवों एवं परिणामों से यह तथ्य खुलकर सामने आया है कि समाज की सम-सामयिक भौतिक समस्याओं का समाधान हुए बिना आर्थिक, औद्योगिक तथा कृषिजन्य प्रगति सम्भव नही है। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के औजारों तथा यत्रो का आविष्कार किया; किन्तु आज के मनुष्य की भाँति वह उनका दास नही बना। अपने औजारो तथा यंत्रो का निर्माण उसने पहले पत्थरो से और फिर जगलो मे लोहे की खानो से कच्चा माल प्राप्त करके किया। इन्ही के द्वारा उसने शिकार करने, मछली मारने, लकडी काटने, बर्तन बनाने, लकड़ी का सामान तैयार करने आदि विभिन्न कार्य सम्पादित किये। उसके चरण निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर होते रहे। जगलो की अपार सम्पदा का उसने अधिकाधिक उपयोग किया। वनस्पतियो, पेडों की छालो तथा पत्तियो से उसने अपने लिए पानी पीने, अनाज भरने, धूप से बचने, रस्सियाँ बटने और झोपड़ियाँ बनाने का कार्य किया। बाँसो से उसने चटाइयाँ तथा टोकरियाँ बनायी।

बाँस की खोज आदिम मनुष्य के लिए प्रगतिदायक सिद्ध हुई। उसने उसका समस्त जीवन-स्तर ही परिवर्तित कर दिया। बाँस की खपच्चियों के परस्पर घर्षण से आग पैदा की। अब तक वह आग के अभाव मे कच्चे मास से ही उदरपूर्ति करता था। आग पैदा हो जाने के बाद उसे माँस पकाने में सुविधा हुई। आग की उत्पत्ति ने मनुष्य की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के द्वार खोले। धीरे-धीरे जगली पशुओ की खालो को निकाल कर उसने उनकी धौकनियाँ बनायी और उनकी सहायता से भट्टियो पर धातुओ को गला-कर नये-नये अधिक उपयोगी औजार निर्मित किये। जब उसने कृषियुग मे प्रवेश किया तो ये औजार उसके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। आग की सहायता से मनुष्य ने अपने लिए नये-नये आभूषणो का निर्माण किया। कच्चे महुवे तथा अन्य वनस्पतियों का अर्क निकाल कर उसने अपने लिए शराब तैयार की। इस प्रकार की आर्थिक उन्नति ने आदिम असभ्य मनुष्य मे सामाजिक आदतों का निर्माण कर उसको उत्तरोत्तर सुसभ्य बनाने मे मदद की।

आग की उपलब्धियों से कृषि-जीवन की उन्नति के नये स्रोत फूटे। आग की सहायता से मनुष्य ने जंगलो को जलाकर उन्हें कृषियोग्य बनाया। आदिम कूकी जाति के लोगो में आज भी यह प्रथा प्रचलित है कि जंगलो से कृषियोग्य

भूमि बनाते समय वे बीच मे एक पेड को सुरक्षित रखते हैं। उस क्षेत्र मे कृषि की उपज होने पर वे उस झुलसे हुए पेड को पूर्वजों की प्रेतात्मा का प्रतीक मान कर अनाज की प्रथम उपज से समारोह के साथ उसकी पूजा करते हैं तथा बलि चढाते हैं। नया खेत बनाते समय वहाँ जगल की देवी माता की भी स्थापना की जाती है और उसके सम्मान मे नृत्य-गान का आयोजन किया जाता है। बीज बोने से पहले कुछ बीज देवी माता को अर्पित किये जाते हैं।

इस प्रकार समाज की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति हुए बिना आर्थिक, औद्योगिक और कृषिजन्य प्रगति सम्भव नही है, और इसलिए तब तक एक समुन्नत, सम्पन्न सस्कृति के उदय की आशा करना सर्वथा असम्भव है। भारत का सास्कृतिक विकास, भारतवासियों की विभिन्नता के अनुरूप अनेक रूपो में हुआ। सास्कृतिक विकास की परम्परा को दृष्टि में रखकर प्रायः यह निश्चित है कि एक जाति की संस्कृति के निर्माण मे जो कारण तथा प्रयोजन विद्यमान रहे हैं, दूसरी जाति के सास्कृतिक निर्माण मे ठीक वे ही कारण तथा प्रयोजन विद्यमान नही रहे है।

सस्कृति का स्वरूप

संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने तथा उसे परिभाषित करने के लिए विभिन्न विद्वानो ने अनेक दृष्टियो से अपने-अपने अभिमत प्रकट किये है। मत-मतान्तरो का यह वैविध्य इसलिए भी सम्भव और स्वाभाविक दिखायी देता है कि सस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और गहन है। उसकी इस व्यापकता को दृष्टि में रखकर उसको किसी परिभाषा मे बाँधना कदाचित् अत्यन्त कठिन है। सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि समस्त मानव-समाज के विकास की व्यष्टिमय तथा समष्टिमय उपलब्धियाँ ही संस्कृति है। यह 'सस्कृति' शब्द अपने आप मे अधिक प्राचीन नही है, बल्कि यो कहना चाहिए कि वह आधुनिक युग की देन है। इस दृष्टि से उसका अधिक महत्त्व बढ गया कि आधुनिक युग के समस्त भारतीय साहित्य मे उसको व्यापक दृष्टि से अपनाया गया और इसीलिए आधुनिक युग के विद्वानो द्वारा ही उस पर विचार हुआ।

यदि उसकी व्युत्पत्ति की दृष्टि से उस पर विचार किया जाय तो 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'सस्कृति' पद निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर संस्कृति पद उस अर्थ का द्योतक है, जो समस्त मानवता को विशेषता प्रदान करता है। मानवता को विशिष्ट बनाने वाले उसके आदर्श तथा उसकी परम्पराएँ और मान्यताएँ हैं। जिन विद्वानो ने समस्त सीखे हुए व्यवहार को संस्कृति की

संज्ञा दी है, उनका आशय भी यही प्रतीत होता है कि मनुष्य ने परम्परा द्वारा आचार-विचार और रहन-सहन की जिन मान्यताओं को ग्रहण तथा प्रशस्त किया, उन्हीं ने उसे सामान्य से विशिष्ट बनाया और इसीलिए वे ही संस्कृति के मूल उपादान हैं।

'संस्कृति' अर्थात् 'सम्' = (उत्तम) + कृति = (चेष्टाएँ)। यदि संस्कृति का आशय उत्तम कृति (उपलब्धि) या सम्यक् चेष्टाएँ (अभिव्यक्तियाँ) हैं तो निश्चित ही उसका सम्बन्ध मनुष्य के शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि से है। इस दृष्टि से हमारी सर्वोत्तम उपलब्धियाँ या अभिव्यक्तियाँ श्रुति-स्मृति-पुराण आदि ही सिद्ध होती हैं। उनके निर्देश एव विधान ही सम्यक् चेष्टाएँ हैं। अतः वे उत्तम अभिव्यक्तियाँ ही सस्कृति है, जिनके द्वारा मानवता को सतत ही विशिष्टता प्राप्त होती रही है—भौतिक भी, आधिभौतिक भी और आध्यात्मिक भी।

विशिष्टता प्रदान करने के कारण सस्कृति आचार-विचारमूलक सिद्ध होती है। शुद्धाचार शुद्ध विचारो के जनक हैं। साहित्य और उसकी समस्त विधाएँ, यथा काव्य, नाटक, सगीत, कला आदि वाङ्मय की विभिन्न धाराएँ शुद्धाचार के ही प्रतिफल हैं। इस दृष्टि से समस्त ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल सस्कृति के व्यापक अन्तराल में समाहित हो जाते हैं। शुद्धाचार का रूपान्तर ही नैतिकता है। इसलिए केवल पढा-लिखा तथा कलाप्रवीण व्यक्ति ही सस्कृत हो सकता है, यह आवश्यक नही है। इसी प्रकार अपढ और कला-शून्य व्यक्ति ही असंस्कृत होता है, यह नियम भी अबाधित नही है।

ऊपर शुद्धाचार की चर्चा की गयी है। वस्तुतः शुद्ध करने की क्रिया ही सस्कृति है। किसी स्थूल पदार्थ से सूक्ष्म तत्त्व निकालने के लिए जिस क्रिया को अपनाया जाता है, वही क्रिया संस्कृति है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार "हरी मिट्टी को सस्कृत करने से भास्वत् ताम्र मिल सकता है, वैसे ही मनुष्य जाति के स्थूल धातु से सस्कृति द्वारा उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण प्रादुर्भूत होते हैं।" जिससे मानवता का संस्कार हो, ऐसी शिक्षा-दीक्षा, ऐसा रहन-सहन और ऐसी परम्पराएँ ही सस्कृति के उद्भावक हैं। सस्कृति एक सामाजिक विरासत है, और वह सचय से विकसित होती है।

भारतीय संस्कृति का विकास

भारतीय संस्कृति मानव संस्कृति के रूप में उभरी और विकसित हुई। इस संस्कृति की निर्मातृ और उसके उत्तराधिकार को वहन करने वाली जाति का

इतिहास सदा ही जीवन्त और ज्वलन्त रहा है। उसके मूल निर्माता थे वैदिक ऋषि, जिन्होने धर्म का, अर्थात् धर्मस्वरूप वेदमन्त्रों का साक्षात् किया और जिन्हें इसीलिए 'कवि' नाम से कहा गया। उनके बाद वे ऋषि हुए जिन्होंने साक्षात्कृतधर्मा ऋषियो से उपदेश द्वारा परम्परागत ज्ञान की विरासत को प्राप्त किया। वे श्रुतर्षि कहलाये और समस्त ब्राह्मण तथा आरण्यक वाङ्मय उन्ही की देन है। उनके बाद तीसरी कोटि के वे ऋषि हुए, जिन्होंने वेदो के यथार्थ बोध और ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थो के विस्तार के लिए अंगस्वरूप छह स्वतन्त्र विद्याओ का प्रवर्तन किया, जिन्हे षड्वेदांग के नाम से कहा गया।

वैदिक ऋषियो की उक्त तीनो परम्पराओ ने अपने-अपने ढग से संस्कृति के विकास मे योगदान किया। उसमे कर्म और ज्ञान का आधान प्रथम मंत्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा हुआ। उनके बाद के श्रुतर्षियो ने परम्परागत कर्म और ज्ञान की विरासत को विकसित करने की दृष्टि से वैदिक धर्म को अधिक व्यापक तथा बहुजनबोधगम्य बनाने का कार्य किया। इस युग के ऋषियो की सांस्कृतिक देन यज्ञ-संस्था के रूप मे प्रकाश मे आयी। इस यज्ञ-संस्था ने समस्त वैदिक समाज को एक साथ सगठित किया और उनमे सामूहिक चेतना के भाव भरे। सामाजिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास-विस्तार के कारण अधिकारों-कर्त्तव्यो के पारस्परिक सघर्ष से बचाने के लिए तीसरे युग के ऋषियो ने एक ओर तो सूत्र-ग्रन्थो तथा स्मृतियो के द्वारा वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की और दूसरी ओर सामाजिक नीति-नियमो को निर्धारित किया। इस तीसरे युग मे विभिन्न उद्योग-व्यवसायो और गृहशिल्पो की स्थापना होकर वैदिक समाज के आर्थिक विकास की नयी दिशाएँ खुली।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत के सांस्कृतिक निर्माण की यह स्थिति लगभग 700 ई० पूर्व से पहले की है।

संस्कृति के इस तीसरे विकास-युग मे यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म के रूप मे स्वीकार किया गया और उसके पूर्ववर्ती युग मे कर्म के नाम पर भौतिक उन्नति के प्रलोभन से जो अनर्थ हो रहे थे, उनको भी नियमित किया। इस तीसरे युग मे उपनिषदो की विचारप्रधान तर्क-पद्धति ने मोक्ष पुरुषार्थ का नया मार्ग उद्घाटित किया। उपनिषदो की इस विचारप्रधान संस्कृति ने ज्ञान की अनन्त धाराओ का विकास किया और परम्परागत वैदिक ज्ञान की विरासत को तर्क तथा प्रमाण की कसौटी पर कसकर तत्त्व-चिन्तन की नयी पद्धतियों के द्वार भी खोले। भारत के इस बौद्धिक उत्कर्ष की चरम परिणति आगे चल कर दर्शन की अनेक शाखाओं के रूप मे प्रतिफलित हुई।

उपनिषदों की इस विचारप्रधान संस्कृति के अनेक सुपरिणामो के उदय के बावजूद बहुसख्यक समाज प्राय: अछूता ही रहा। यद्यपि ऋषियों ने जन सुलभ छोटी-छोटी बोध-कथाओ द्वारा समाज को ज्ञान के गम्भीर मर्म को समझाने की भी चेष्टा की; किन्तु फिर भी उनका यह प्रयत्न एक वर्गविशेष तक ही सीमित रहा। जन-सामान्य की इस सामयिक इच्छा की पूर्ति पुराणो के मुनि-महात्माओ ने की।

पुराणो ने परम्परागत वैदिक धर्म को लोकोपयोगी बनाकर जन-जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। वेदो मे जिस समन्वित संस्कृति के दर्शन होते हैं, पुराणों ने उसको विकास के उच्च शिखर पर पहुँचाया। पुराणो के रचयिता, वक्ता, प्रवक्ता मुनि-महात्मा-सूतों ने परम्परागत ख्यातों तथा इतिवृत्तों को रोचक एवं सरल आख्यान-उपाख्यानो में संजोकर उनके द्वारा समाज को धर्म, आचार, नीति, सदाचार और सन्मार्ग का निर्देशन किया। नीति (अनुशासन) के निर्धारण का कार्य स्मृतियो ने किया। स्मृतियाँ और पुराण भारत के ही नही, मानव मात्र की आध्यात्मिक चेतना के अजस्र स्रोत रहे हैं। उनके द्वारा एक ओर तो सामाजिक सगठन की स्थापना हुई और दूसरी ओर मानवाधिकारो की रक्षा के प्रयत्न हुए। स्मृतियो ने यदि नैतिकता और सदाचार की स्थापना की तो पुराणो ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। इन स्मृतियो और पुराणो के द्वारा विगत हजारों वर्षों तक भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास का सरक्षण होता आया है।

यद्यपि स्मृतिकार और पुराणकार मनस्वियों मे कोई अन्तर नही है और इसीलिए स्मृतियो ने जो कुछ निर्धारित किया, पुराणों में उसका प्रवर्त्तन हुआ, तथापि पुराणो की सस्कृति, स्मृतियों की संस्कृति से अधिक उदार तथा जन-जीवन के अधिक निकट है। स्मृतियाँ वर्गविशेष की द्वैधता की विधायिका हैं, जब कि पुराण जन-सामान्य के आचार-विचारो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय के इतिहास मे स्मृतियों तथा पुराणो का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उनके द्वारा भारतीय जन-जीवन में मर्यादा तथा नियंत्रण के सुदृढ़ आधार बने, जिनके परिणामस्वरूप अनेक विपद्ग्रस्त परिस्थितियों में इस देश की रक्षा होती रही। विश्व में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के मूल मे जहाँ रक्त-रंजित प्रभुसत्ता तथा बल-वैभव की विकट भूख रही है, वहाँ भारत में इस पुनरुत्थान के मूल में ज्ञानवन्त एवं आत्मत्यागी मनीषियों के सुचिन्तित विचार निहित रहे हैं। उनकी इस अध्यात्मपरक एवं धार्मिक

मान्यताओं ने अतीत के अनेक युगों तक भारतीय जीवन को संचालित किया और समय-समय पर उठने वाले उनके पारस्परिक मतभेदों को सुलझाने में भी सहायता की।

पुराणों के आदर्शमय, लोकप्रिय आख्यान-उपाख्यानों के आधार पर समकालीन उदात्त चरित राजपुरुषों के जीवनादर्शों को काव्य के कलेवर में ढाल कर कृष्णद्वैपायन वेदव्यास और वाल्मीकि जैसे दिव्यचेता मनस्वियों ने क्रमशः 'महाभारत' और 'रामायण' की रचना कर परम्परागत सांस्कृतिक धारा को युग के अनुकूल नया रूप दिया। इन दोनों राष्ट्रीय महाकाव्यों में इस देश के जन-जीवन की वास्तविक प्रतिच्छवि को उतारा गया है। एक में भ्रातृ-द्रोह तो दूसरे में भ्रातृ-मोह के दो भिन्न-भिन्न उदाहरणों द्वारा समस्त भारतीय जन-मानस का दिग्दर्शन कराया गया। एक में स्वार्थ तथा अधिकारों की दुर्दान्त लिप्साओं के कुपरिणामों की व्याख्या की गयी तो दूसरे में लोकहितार्थ, सत्य, मर्यादा तथा आदर्श के परिपालन पर बल दिया गया। इन दोनों ग्रन्थों में धर्म और मर्यादा का लोकमंगलकारी सन्देश निहित था और यहाँ के समस्त मानव-समाज के विश्वास भी अनुस्यूत थे। अतः वे तब से लेकर आज लगभग ढाई हजार वर्षों के सुदीर्घ काल तक, जन-जीवन के कण्ठहार बने हुए है।

महाभारत-युद्ध के बाद उक्त महाकाव्यों के वर्तमान संस्करणों के निर्माण के आसपास (600-500 ई० पूर्व के लगभग) भारत का धार्मिक तथा सामाजिक जीवन अतीत की विभीषिकाओं से सन्त्रस्त तथा आकुल होकर एक ऐसी सुव्यवस्था की चाह में था, जिसके द्वारा स्थायी शान्ति के देशव्यापी आधार तैयार हो सके। ठीक इसी समय महावीर स्वामी और बुद्धदेव जैसे दो धार्मिक नेताओं का उदय हुआ, जिन्होंने नयी समाज-पद्धति के आधार पर नये सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना करके जनता को अपने साथ कर लिया। यद्यपि इन दो जन-नायकों ने पुरानी रूढ़ियों को अमान्य कर दिया; किन्तु परम्परागत नैतिकता, सदाचार और सद्भाव के उच्चादर्शों को तिरस्कृत नहीं किया। इस नयी सामाजिक जागृति ने सांस्कृतिक विकास के नये आधार बनाये।

महावीर स्वामी और बुद्धदेव द्वारा स्थापित एवं प्रवर्तित जैन-बौद्ध धर्मों के उदय से भारत के सांस्कृतिक इतिहास में नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। ये दोनों धर्म वस्तुतः उदात्त वैदिक संस्कृति के ही अंग हैं तथा वैचारिक दृष्टि से उपनिषदों के अधिक निकट हैं। आत्मदर्शन, चित्तशुद्धि, वैराग्य, तप, त्याग, समाधि, संन्यास और प्रज्ञा आदि जिन परमार्थ-प्राप्ति के साधनों को इन दोनों

धर्मों के विचारक मनीषियों ने प्रस्तुत किया, वे सांख्य, योग और वेदान्त के ही रूपान्तर हैं। अहिंसा, जीवदया, सत्य, अस्तेय, और ब्रह्मचर्य के नैतिक एवं चारित्रिक सद्गुणों ने उनको लोकप्रियता प्रदान की। यह नैतिक संहिता ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—तीनों धर्मों की प्रायः एक जैसी है।

अपनी असहज महानताओं के कारण बुद्ध का धर्म एक दिन विश्व मानवता का धर्म बन गया और शस्त्र तथा शासन का अधिकार तथा बल प्राप्त किये बिना ही बुद्ध के सत्य, अहिंसा तथा शान्ति के महान् सन्देश उत्तुंग हिमालय के शिखरों, निबिड़ अरण्यों और दुर्गम सागरों को लाँघ कर विश्व भर में फैल गये। समानता, सद्भाव और मैत्री की इस त्रिवेणी ने भारतीय संस्कृति और कला को सार्वभौमिक विश्वजनीन स्तर पर पहुँचाया।

बौद्धधर्म की ही भाँति जैनधर्म का भी भारतीय संस्कृति के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर जैनधर्म, बौद्धधर्म से भी प्रचीन सिद्ध हुआ है। वैदिक युग मे व्रात्य मुनियों का भी अपना एक स्वतंत्र सम्प्रदाय था, जिसे सायणाचार्य ने पुण्यशील, विश्वपूज्य और कर्मकाण्डी ब्राह्मणों का विद्वेषी बताया है (अथर्ववेद भाष्य १५।१)। व्रात्य मुनि उन सन्त, सन्यासी और तपस्वियों में से थे, जिनकी परम्परा वेदों से भी पहले की है। जैनधर्म उन्हीं सन्तों की देन है।

जैनधर्म के प्रवर्तक २४ तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी हुए। जैनधर्म को प्रशस्त मानवीय आदर्शों से परिमण्डित कर लोकप्रिय बनाने का एकमात्र श्रेय महावीर स्वामी को है। उनके करुणा, दया, अहिंसा और आत्मोन्नति की स्वतंत्रता के सिद्धान्तों को काशी, कोशल, सौवीर, अवन्ति आदि जनपदों और लिच्छवियों तथा मल्ल गणतंत्रों ने अपनाया। मगध के बिम्बिसार तथा अजातशत्रु जैसे प्रभावशाली सम्राटों ने जैनधर्म के सदाचारों तथा नैतिक आदर्शों को अपनी शासन-नीति का अंग बनाया।

जैन-बौद्ध धर्मों द्वारा प्रवर्तित भारत की सांस्कृतिक एवं कलात्मक विरासत निरन्तर आगे बढ़ती रही; किन्तु उनका यह परवर्ती विकास नितान्त भिन्न रूप में अपने-अपने ढंग से होता रहा। महावीर और बुद्ध के साथ ही भारतीय इतिहास का एक अध्याय समाप्त हो जाता है। यद्यपि इन दोनों महामानवों का सम्बन्ध क्षत्रिय राजवंशों से था; किन्तु उन्होंने उसको त्याग कर फकीरी का जीवन वरण किया। उनके बाद उनकी परम्परा का अनुवर्तन उनके बहुसंख्यक अनुयायियों द्वारा होता रहा, जिनमें की उत्तरवर्ती राजवंशों का योगदान भी

उल्लेखनीय है। जैनधर्म की परम्परा का प्रवर्तन शासन की अपेक्षा जनता के द्वारा अधिक हुआ और संभवतः यही कारण है कि भारत में आज भी वह बना हुआ है।

महावीर स्वामी और बुद्धदेव के अनन्तर भारत के सांस्कृतिक संरक्षण का उत्तराधिकार प्रतापी मौर्यवंश (321-184 ई० पूर्व) को प्राप्त हुआ। यद्यपि उससे भी पूर्व मगध पर हर्यंकवंश का वीर सेनानी बिम्बिसार तथा उसका पुत्र अजातशत्रु और तदनन्तर शूद्रराजा महापद्मनन्द और उसके आठ पुत्रों द्वारा नन्दवंश का शासन स्थापित हो चुका था, किन्तु इन दोनो राजवंशो की कोई उल्लेखनीय सांस्कृतिक उपलब्धियाँ नही हैं। अजातशत्रु द्वारा राजगृह में आयोजित प्रथम बौद्ध-संगीत का आयोजन निःसन्देह उसके बौद्धानुराग को सूचित करती है, जिसमे धर्म और संघ की एकता पर सर्व प्रथम विचार-विनिमय हुआ।

नन्दवंश के बाद मगध का स्वामित्व मौर्यवंश के प्रतापी शासक चन्द्रगुप्त के हाथो में आ गया। उसके समय की महानतम उपलब्धि कौटिल्य और उसका 'अर्थशास्त्र' है। यह ग्रन्थ भारतीय साहित्य का गौरव है। कौटिल्य ने मौर्य चन्द्रगुप्त के आदर्शमय शासन की घोषणा करते हुए कहा है, "प्रजा का सुख ही राजा का सुख है और प्रजा का हित ही राजा का हित है। राजा का हित अपने आनन्द मे नहीं, अपितु प्रजा के आनन्द मे है।" शासक का शासितो के प्रति यह आदर्श एवं दायित्व ससार के इतिहास में कदाचित् ही देखने को मिले। चन्द्रगुप्त के बाद उसके पौत्र अशोक भारत के राजनीतिक इतिहास का प्रथम प्रभावशाली सम्राट् हुआ। बौद्धधर्म ही उसका राजधर्म था और बौद्ध संस्कृति ही उसकी राजनीति थी।

मौर्यो के शासनकाल में समानता की सुदृढ़ व्यवस्था विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने कौटिल्य की उक्त घोषणा के अनुसार आर्य-आर्येतर, धनवान्-निर्धन और स्वामि-दास की विषमताओ को दूर करके, जन्म के आधार पर नहीं, अपितु कर्म के आधार पर समाज में प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति के लिए वैदिक आधारों को पुनः स्थापित किया। उनकी धर्म-निरपेक्षता ने उनके सुशासन को बलवान् बनाया। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की नयी संहिता बनायी, जिसमें स्वतंत्रता के जन्मसिद्ध अधिकारों को सर्वोपरि माना गया। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' मौर्य साम्राज्य की सर्वांगीण प्रगति का विश्वकोश है।

अशोक की धर्मलिपियाँ, जो कि भारत के चतुर्दिक् अभिलेखो के रूप में पायी जाती हैं, तत्कालीन भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य थाती हैं। उनमें

तत्कालीन सामाजिक जीवन के आदर्श सुरक्षित हैं। अशोक द्वारा पाटलिपुत्र (पटना) में आयोजित तृतीय बौद्ध-संगीति, उसके बौद्धानुराग और उच्च-उदात्त विचारों का प्रतीक है। सारनाथ का अशोक स्तम्भ भगवान् तथागत के प्रथम प्रवचन का स्मारक और अशोक की धर्मनिरपेक्ष, सहिष्णु तथा मानव-मंगलकारी नीति का द्योतक है। यह सिंहशीर्ष अशोक के समन्वयवादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचायक है। मौर्य-युग की कला-थाती भरहुत, साँची, बोधगया और सारनाथ में सुरक्षित है।

यद्यपि मौर्यों के बाद मगध का उत्तराधिकार शुंगों को प्राप्त हुआ; किन्तु ऐतिहासिक क्रम में शुगों से पूर्व दक्षिण के सातवाहनों (213 ई० पूर्व से 238 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। सातवाहनों के समय की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि साहित्य-निर्माण के लिए संस्कृत तथा लोकभाषा दोनों को अपनाया गया, जिसके कारण सस्कृत के साथ-साथ प्राकृत तथा पैशाची आदि लोकभाषाओं का पर्याप्त विकास हुआ। इस युग मे नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्य, नाटक, कथा आदि विभिन्न विषयो पर उच्चकोटि के अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। सातवाहन राजा हाल (प्रथम शती ई०) की सात सौ आर्या छन्दो की कृति 'गाथा सप्तशती' और उसी के सभा-विद्वान् गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का सस्कृत-साहित्य में बेजोड स्थान है। पहली कृति महाराष्ट्री प्राकृत मे है और दूसरी पैशाची प्राकृत में उल्लिखित थी। 'बृहत्कथा' अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसके दो संस्कृत रूपान्तर सुरक्षित हैं।

इस सातवाहन-युग मे पौराणिक भक्तिधर्म की पुनः स्थापना हुई और वह भागवत, शैव, पाशुपत और शाक्त आदि विभिन्न रूपों में विकसित हुआ। उनके साथ ही जैन, बौद्ध धर्म भी अनेक शाखाओं में प्रतिफलित हुए। सातवाहन शासकों ने ब्राह्मण, जैन और बौद्ध मठ-मन्दिरो तथा चैत्यों का निर्माण कर तीनों धर्मों की उन्नति में योगदान किया।

खण्डगिरि की जैन-गुफाएँ और मथुरा के अनेक जैन-मन्दिरों का निर्माण इसी युग में हुआ। भरहुत, साँची, मथुरा और अमरावती की भव्य मूर्तियों के निर्माण में सातवाहन-युगीन कलाकारों के कुशल कला-कर्म का पता चलता है। इनके अतिरिक्त भज, कोणानी, बेडसा, पीपलखोरा, अजन्ता, नासिक, जुन्नर, कार्ले और कान्हेरी की कला-मण्डित गुफाओं के पूर्ण तथा आंशिक निर्माण में भी सातवाहनों का योगदान रहा।

मौर्यों के बाद मगध का शासनाधिकार शुगवंश (१८५-७३ ई० पूर्व) के अधीन हुआ। यह शुंग-युग साहित्य और संस्कृति के निर्माण की दृष्टि से पुनर्जागरण का युग था। इस पुनर्जागरण का आधार था भागवतधर्म का उदय। यद्यपि इससे पूर्व के लगभग तीन सौ वर्षों तक भारत पर जैन-बौद्ध-धर्मों का प्रभाव रहा; किन्तु उनकी सन्यास और गृहत्याग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण समाज का मन धीरे-धीरे उनसे खिचता गया। समाज मे उदासीनता बढ़ती गयी और पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वो का कोई महत्त्व न रहा। ठीक इसी समय पौराणिक भागवतधर्म का उदय हुआ और सारा देश भक्ति की भावधारा मे विभोर हो गया। श्रद्धा और प्रेम में भाव-विभोर भारतीय जनता ने भागवतधर्म के ससर्ग से अपने धार्मिक विकास की परम्परा को सुदृढ़ किया।

शुग-शासन मे संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान हुआ। भारतीय स्मृति-ग्रन्थों के निर्माण का एकमात्र युग यही रहा है। संस्कृत के काव्य, नाटक, आयुर्वेद, ज्योतिष, दर्शन और व्याकरण आदि अनेक विषयों की युगविधायक कृतियों का निर्माण इसी शुग-शासन में हुआ। जैन-बौद्धो के लोकोपकारी साहित्य का भी इसी युग मे प्रणयन हुआ।

इस युग मे संस्कृत ने व्यवहार की भाषा का स्थान ग्रहण किया, जिससे कि उसे लोकप्रिय, जीवित भाषा के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके इस लोकव्यापी रूप से जैन-बौद्ध भी प्रभावित हुए, और उन्होने प्राकृत-पालि के स्थान पर संस्कृत को ही अपनी रचनाओ का माध्यम बनाया।

दक्षिण में आन्ध्र सातवाहनो से लेकर गुप्तो से पूर्व का भारत राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से प्राय: पाँच भागो मे विभक्त था। दक्षिण के स्वामी सातवाहन थे, पूर्व मे शुग-वंश का शासन था, पश्चिम पर ग्रीक-शासको का अधिकार था, उत्तर तथा पश्चिम-पूर्व के कुछ हिस्सो पर कुषाणो का शासन था और मध्य-पश्चिम के कुछ अंचलो का स्वामित्व क्षत्रपों के हाथों में था। तीसरी शती ई० पूर्व से लेकर तीसरी शती ई० के मध्य तक, लगभग साढे पाँच सौ वर्षो की इस अवधि मे विभिन्न धर्मों, रीति-रिवाजो और आचार-विचारो का एक साथ उदय हुआ, जिसका प्रभाव यहाँ के साहित्य, संस्कृति और कला पर लक्षित हुआ।

जिस समय मगध पर बिम्बिसार का शासन था तभी से उत्तर-पश्चिम भारत गन्धार, सिन्ध और पंजाब पर ईरानियो की हलचलें आरम्भ हो गयी

थी। जब उत्तर-पश्चिम भारत पर ईरान के दारा तृतीय का शासन था, लगभग 330 ई० पूर्व में मकदूनिया के सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया और ईरान-शासित उत्तर-पश्चिम भारत पर अपना अधिकार कर लिया। उसके बाद वहाँ की सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष होते रहे। अन्तिम आक्रमणकारी बख्त्री के दिमित, युक्रेतिद और मिनेंडर थे, जिनका समय 206-175 ई० पूर्व है। इन तीनो ग्रीक-शासको और उनके उत्तराधिकारियो ने लगभग 160 वर्षों तक सीमाप्रान्त, सिन्ध और पजाब पर एकच्छत्र शासन किया।

यद्यपि ग्रीकों का शासन उत्तर-पश्चिम तक ही सीमित रहा, किन्तु उनकी सांस्कृतिक एवं कलात्मक अभिरुचियों का प्रभाव भारत के दूराचलों तक प्रसारित हुआ। ग्रीक-शासक मिनेंडर के सिक्के उत्तर में काबुल से दक्षिण तक तथा पश्चिम में मथुरा और बुन्देलखण्ड तक प्राप्त हुए। उस धर्मप्राण शासक ने न केवल अनेक बौद्ध बिहारों का निर्माण कराया, अपितु कलाकारों, विद्याविदों को भी राज्याश्रय देकर सम्मानित किया। उसके शासन-काल में भारतीय कला तथा ज्योतिष की सर्वाधिक उन्नति हुई।

ग्रीको के प्रभाव के सुन्दर उदाहरण कलात्मक सिक्के हैं। ग्रीक कला के अनुकरण पर भारत में वास्तुकला और तक्षणकला के जो नमूने प्राप्त हुए हैं उनमें प्रसिद्ध ज्ञानपीठ तक्षशिला के 'यवन स्तम्भ' उल्लेखनीय हैं। गान्धार शैली के एकमात्र जनक ग्रीक ही थे। तथागत बुद्ध की मानवाकार मूर्तियों के निर्माण की परम्परा का श्रेय गान्धार शैली के कलाकारो को ही प्राप्त है।

कला के अतिरिक्त ग्रीको ने भारतीय ज्योतिर्विज्ञान को भी प्रभावित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय तथा ग्रीक गणितज्ञो का निकटतम सम्बन्ध था। भारतीय ज्योतिष मे अनेक लाक्षणिक शब्दो का प्रयोग और कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त एकमात्र ग्रीकों की देन है। होड़ाचक, (होरस्कोपस) और जैमित्रलग्न (दायामेत्रान्), रोमक और पौलिश सिद्धान्त ग्रीको की ही देन थी। इसीलिए 'गार्गी सहिता' मे उनके सम्मान मे कहा गया है कि 'यद्यपि यवन बर्बर हैं, किन्तु ज्योतिष विद्या के प्रवर्त्तक होने के कारण देवताओं के समान स्तुत्य हैं।' इस दृष्टि से मिनेंडर का शासन-काल विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

यवनराज दिमित तथा सातवाहन सातकर्णि प्रथम के समसामयिक (200 ई० पूर्व के लगभग) कलिंग के जैनधर्मानुयायी शासक खारवेल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके हाथीगुम्फा (भुवनेश्वर) अभिलेख से

ज्ञात होता है कि वह अनेक विद्याओं में निष्णात और एक बहुत बड़े साम्राज्य का शासक था। उसकी धार्मिक सहिष्णुता और कलानुरागिता के कारण भारत प्रगति के पथ पर अग्रसर था। अपने शासन की सीमाओं को उसने बढ़ते हुए ग्रीक-प्रभावों से अछूती रखा और इस प्रकार भारत की परम्परागत सांस्कृतिक थाती को वहन करने में देश का प्रतिनिधित्व किया।

भारत के परम्परागत सांस्कृतिक अभ्युत्थान और कला के विकास में कुषाण सम्राट् कनिष्क का योगदान उल्लेखनीय है। जब उत्तर-पश्चिम पर ग्रीक शासक मिनेंडर का शासन था, उसी के आस-पास 165 ई० पूर्व के लगभग तुर्की की एक खानाबदोश जाति ने तिब्बत होते हुए भारत में प्रवेश किया। उसका प्रथम प्रभावशाली विजेता कुजूल कडफिसस था। कनिष्क उसी का पौत्र था। वही भारतीय शक-सम्बत् का प्रवर्त्तक था। वह बौद्धधर्म का संरक्षक और उदार तथा सहिष्णु शासक था। उसने अनेक भव्य स्तूपों और बड़े-बड़े नगरों का निर्माण कराया।

कला की अवरुद्ध परम्परा की उन्नति के लिए उसने बौद्धाचार्यों के द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों पर पुनर्विचार करने के लिए काश्मीर के कुण्डलव महा-बिहार में इतिहास-प्रसिद्ध चौथी बौद्ध-संगीति का आयोजन किया था। इस संगीति में धर्म, संस्कृति, कला और साहित्य के नवोत्थान के लिए योजनाएँ पारित तथा कार्यान्वित की गयी। आचार्य वसुमित्र और महाकवि अश्वघोष जैसे प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् इस संगीति के अध्यक्ष थे। इस संगीति में बौद्धाचार्यों ने तथागत बुद्ध की प्रतिमाएँ उहेरने की अनुज्ञा प्रदान कर दी, जिसके फलस्वरूप बुद्ध की मानवाकार भव्य प्रतिमाओं का व्यापक रूप में निर्माण हुआ। कनिष्क के विद्याव्यसन और कलानुराग के कारण उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) विद्वानों, दार्शनिकों, कवियो और कलाकारो का तीर्थ बन गया था।

कला के इतिहास में कनिष्क की देन को सदा याद किया जायगा। उसके पूर्ववर्ती ग्रीक-शासको ने जिस गान्धार शैली का प्रचलन किया था उसमे विदेशी प्रभाव अधिक था। कनिष्क के समय वह शैली भारतीयता की ओर अग्रसर हुई। आगे गुप्त-युग मे जिसका पूर्णतः भारतीयकरण हो गया।

कुषाणों द्वारा अभिरक्षित एवं पल्लवित भारतीय संस्कृति और कला का पूर्ण प्रौढ़ रूप गुप्त साम्राज्य (275–510 ई०) मे प्रकाश में आया। गुप्त साम्राज्य के समय भारत मे धर्म, संस्कृति, राजनीति और कला आदि के विभिन्न

क्षेत्रों में सर्वांगीण उन्नति हुई। सांस्कृतिक नवजागरण के इस युग में राष्ट्र का बौद्धिक तथा सामाजिक स्तर अत्यन्त उन्नत हुआ। इसका कारण यह था कि अधिकतर गुप्त शासक स्वयमेव संस्कृतज्ञ और कलाप्रेमी थे। विभिन्न मठों तथा संघारामों का निर्माण कर उन्होंने वहाँ विद्वान् आचार्यों द्वारा संस्कृत तथा प्राकृत की शिक्षा का प्रबन्ध किया। राजभाषा के रूप में संस्कृत को मान्यता दी और उसी में राजाज्ञाओं की उद्घोषणा की। नालन्दा महाविहार के पुनरुद्धारक के रूप मे कुमारगुप्त प्रथम का विद्यानुरागी व्यक्तित्व स्मरणीय है। इस विश्वविद्यालय में 14 विषयों की पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। प्रसिद्ध चीनी पर्यटक बौद्ध विद्वान् ईत्सिंग ने भारत आकर नालन्दा में अध्ययन किया था।

गुप्त शासकों ने बड़े-बड़े विद्वानों को राजसम्मान देकर प्रोत्साहित किया, जिसके फलस्वरूप धर्म, दर्शन, विज्ञान, काव्य और नाटक आदि अनेक विषयों की बहुसंख्यक कृतियों के निर्माण से भारत के अद्‌भुत बौद्धिक विकास ने विश्व-साहित्य को प्रभावित किया।

गुप्तों के शासन में, पूर्ववर्ती शुंग शासकों द्वारा प्रोत्साहित, भक्तिप्रधान भागवतधर्म का पुनरभ्युदय हुआ, जिसके फलस्वरूप विष्णु, शिव, सूर्य तथा अनेक देवी-देवताओं की अवतारणा से जन-जीवन मे भावनात्मक विकास को बल मिला। गुप्त राजा परम भागवत थे और उनके शासनकाल में भारत का धार्मिक स्तर उन्नति के शिखर पर पहुँचा।

गुप्त युग मे भारत के धार्मिक तथा बौद्धिक विकास के साथ-साथ कला की भी अपूर्व उन्नति हुई। उन्होंने चित्र, मूर्ति, संगीत आदि कला के विभिन्न अंगों की उन्नति के लिए अविस्मरणीय प्रयत्न किये। 'प्रयाग-प्रशस्ति' में सम्राट् समुद्रगुप्त की तुम्बुरु तथा नारद को मात कर देनेवाली संगीत अभिज्ञता प्रकट होती है। अपने इसी संगीत-प्रेम के कारण अपने सिक्कों पर उसने स्वयं को वीणा-वादन करते हुए अंकित किया है। अजन्ता की कला को पूर्ण वैभव गुप्तों के शासनकाल में प्राप्त हुआ। देवगढ और भीतरगाँव के मन्दिरों की भव्य वास्तुकला गुप्तों की अविस्मरणीय देन है। भारतीय कला के इतिहास मे गुप्तकालीन स्थपतियों को तक्षण (भास्कर्य) कला का जनक कहा गया है। कुषाण-युग में ग्रीक-प्रभावों से मुक्त जिस गान्धार शैली का उदय हुआ था, गुप्त-युग में उसका सर्वथा भारतीयकरण हुआ। गुप्त-युग की मृण्मयी मूर्तियों में तत्कालीन शिल्पियों का असहज कौशल आज भी सुरक्षित है। ये

मूर्तियां अपनी सादगी, सजीवता, गतिमत्ता और शिल्पगत तकनीकों की दृष्टि से विश्व के कलाविदो द्वारा प्रशंसित होती रही हैं। कुर्किहार आदि स्थानो से प्राप्त ताम्रनिर्मित पुरुषाकार विशाल बुद्ध-प्रतिमाओ को देखकर तत्कालीन धातु-निर्मित कला के उन्नत स्तर का सहज ही मे विश्वास होता है। धातु-शिल्प की दृष्टि से मेहरौली का लौहस्तम्भ गुप्तयुगीन भारतीय कला-इतिहास का जीवित स्मारक है।

भारत के इस स्वर्णयुग में राष्ट्र के पुनरभ्युदय के लिए जो महान् कार्य हुए और जिनके कारण इस राष्ट्र को इतना अधिक गौरव प्राप्त हुआ, उसकी आगे की शासक-परम्परा अपने सीमित राजनीतिक तथा बौद्धिक कारणो से उसको ठीक उसी रूप मे प्रवर्तित करने मे विफल रही। फिर भी गुप्तोत्तरवर्ती भारत की अनेक उपलब्धियां आज भी भारत की चिरस्थायी मान-वृद्धि को सूचित करती हैं।

गुप्त-साम्राज्य के बाद भारत का जो नवोदय हुआ, सांस्कृतिक इतिहास मे उसे 'मध्ययुग' (600—1300 ई०) के अन्तर्गत रखा गया है। इस युग के अन्तर्गत थानेश्वर तथा कन्नौज का यशोवर्धनवंश, आयुधवश, प्रतिहारवश, गहड़वालवंश; पूर्वी सीमा के राजवंशो मे नेपाल का ठाकुरीवश; बगाल का पालवंश तथा सेनवंश; कामरूप (असम) का राजवंश और कलिंग (उडीसा) का केशरीवंश तथा कलिंग नगर का गगवश; इसी प्रकार पश्चिमोत्तर सीमा के राजवशो मे सिन्ध का रायवंश, शाहीयवंश; कश्मीर का कर्कोटकवश तथा उत्पलवश और मध्य-दक्षिण के राजवशो मे राजपूतो से सम्बद्ध त्रिपुरी का कलचुरीवश, जेवाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) का चन्देलवश, मालवा का परमारवश और अनहिलवाड का चालुक्यवश उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त मध्ययुगीन भारत के सास्कृतिक तथा कलात्मक अभियान को आगे बढानेवाले प्राचीन राजवंशो मे दक्षिण के पल्लववश और देवगिरि (आन्ध्र) के यादववश का नाम भी उल्लेखनीय है।

इस मध्य युग मे भारतीय धर्म, संस्कृति, कला और साहित्य की चतुर्मुखी अभ्युन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। उनका श्रेय इस युग के गुणग्राही शासको को ही है। उन्होंने हिन्दू, बौद्ध और जैन—तीनो धर्मो को विकसित होने की स्वतंत्रता दी, जिसके फलस्वरूप वे अनेक शाखा-उपशाखाओ मे विभक्त हो कर पल्लवित हुए। इस मध्ययुग में वैचारिक अभ्युत्थान की दृष्टि से नये दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई, जिनमें उपनिषदो के गम्भीर ज्ञान का

पुनर्मूल्यांकन हुआ। अध्ययन-अध्यापन के जिन अन्तरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर के विभिन्न विद्या-निकेतनो की इससे पूर्व प्रतिष्ठा हुई थी, उनमें से कुछ का पुनरुद्धार और कुछ का नव-निर्माण हुआ।

संस्कृत-साहित्य का प्रायः अधिकतर निर्माण इसी अवधि मे हुआ। काव्य, काव्यशास्त्र, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद और दर्शन की विभिन्न ज्ञान-शाखाओं ने इस युग में पूर्णता प्राप्त की। इनके अतिरिक्त अर्थशास्त्र के विभिन्न अंगों मे कृषि, भवन-निर्माण, शिल्प, रत्न-परीक्षा धातु-विज्ञान और नौ-परीक्षा जैसे नये विषयो की बहुसंख्यक कृतियो के निर्माण का श्रेय भी इसी युग को है। भारतीय ज्योतिर्विज्ञान ने इस युग मे इतनी उन्नति की कि उसका प्रसार विदेशो तक हुआ।

मध्ययुग के सांस्कृतिक नव-निर्माण में तक्षण, वास्तु और चित्र—कला की इस त्रिवेणी के अनेक स्रोत फूटे और उन्होंने भारत की चित्त-भूमि को अभिसिंचित कर उर्वर बनाया। गुप्तो की परम्परा के अनुसार यद्यपि अधिकतर मध्ययुगीन राजवंशो मे संस्कृत को राजभाषा का सम्मान प्राप्त होता रहा; किन्तु लोकभाषाओं के प्रचार-प्रसार के लिए भी अभूतपूर्व प्रयत्न हुए। मध्ययुग की जनभाषा प्राकृत थी। उसका सर्वांगीण व्याकरण तैयार हुआ और साहित्य मे उसको व्यापक रूप से स्थान प्राप्त हुआ।

इस देश के परवर्ती सांस्कृतिक विकास और कलाभ्युदय के इतिहास में उत्तर मध्ययुगीन मुगलवंश का नाम उल्लेखनीय है। जब इस देश मे मगध पर बिम्बिसार शासन कर रहा था, लगभग ३३० ई० पूर्व० मे सिकन्दर का आक्रमण हुआ। तभी से यहां निरन्तर ग्रीको का प्रभाव बढने लगा था और उसके फलस्वरूप भारत की एकच्छत्र शासन-व्यवस्था खण्डित होनी आरम्भ हो गयी थी। यद्यपि बढते हुए ग्रीक-प्रभाव से कई क्षेत्रो मे पारस्परिक सम्बन्धो के परिणाम अच्छे ही सिद्ध हुए; किन्तु अनेक क्षेत्रो मे विरोधो की स्थिति बनी रही, और फलतः इस देश को जो क्षति सहन करनी पड़ी, इतिहास उसका साक्षी है। महमूद गजनवी ने इस देश की असंगठित स्थिति का लाभ उठाकर यहाँ के जन-जीवन को सहज ही में एक कोन से दूसरे कोने तक रौंद डाला। इस राष्ट्र की अपार सम्पत्ति को उसने जिस नग्नता से लूटा, उससे अधिक अहित किया यहाँ के धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों को ध्वंस करके।

क्रूरता और आतंक की इन परिस्थितियों मे भारतीय संस्कृति का इस्लाम धर्म से सम्पर्क हुआ। किन्तु इस्लाम के सहिष्णु एवं दूरदर्शी शासकों ने आतंकित

एवं भयभीत भारतीय जनता के प्रति अपने सद्भावनापूर्ण सम्बन्धों से अमनचैन की स्थिति स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। इस्लामी सभ्यता के सम्बन्ध में एक स्मरणीय बात यह देखने को मिलती है कि जब तक उसकी स्थिति केवल अरब तक ही सीमित रही तब तक परम्परागत धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण कला के प्रति उसका असद्भाव बना रहा; किन्तु अरबों ने जब स्पेन, मिस्र, ईरान, भारत आदि देशों मे अपनी सल्तनत कायम की तो कला के प्रति उनमें सम्मान पैदा हुआ। भारत के सम्पर्क से जहाँ एक ओर तैमूरवंश के शासकों में कला के प्रति परम्परा का पूर्वाग्रह और धार्मिक भय शिथिल पड़ता गया, वहाँ दूसरी ओर इस्लामी संस्कृति के माध्यम से भारतीय संस्कृति मे अरबी, ईरानी और तुर्की आदि बाहरी संस्कृतियों का समागम हुआ। उसका प्रभाव साहित्य, कला, राजनीति, धर्म और जनता के दैनिक रहन-सहन पर परिलक्षित हुआ। भारत मे वास्तु, मूर्ति और चित्र, इन तीनों कला-रूपो में इस्लामी शिल्पियों एवं कलाकारों ने नयी चेतना और नवीनतम भाव-विधा का समावेश किया। ताजमहल जैसी अद्भुत कलाकृतियों में दोनों की संस्कृतियों के आदर्श मूर्तिमान हुए। मूर्तिकला के क्षेत्र में परम्परागत गान्धार शैली को अधिकाधिक उभरने का सुयोग मिला और चित्रकला के क्षेत्र में मुगल शैली ने इस देश को अक्षुण्ण अविस्मरणीय कला-थाती से समृद्ध किया।

मुगलकालीन भारतीय संस्कृति और कला की परम्परा को उजागर करने में तत्कालीन हिन्दू राजाओं का भी समान योगदान रहा। अपनी सीमित अधिकार-सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए भी उन्होंने साहित्य, संगीत, मूर्ति, चित्र और और स्थापत्य आदि परम्परागत भारतीय कला-थाती की पावनता तथा मौलिकता को बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। भारतीय संस्कृति की रक्षा को उन्होंने अपनी गौरवाभिवृद्धि का बाना बनाया।

वास्तव मे सत्य तो यह है कि मुगलकालीन भारत के सर्वांगीण निर्माण में कला का सर्वाधिक योगदान रहा। उसके द्वारा सारे देश में शान्तिमय सम्बन्धों की स्थापना हुई और पारस्परिक सद्भावना तथा मैत्री को बल मिला। मुगलकालीन भारत की इस देन को यदि विस्मृत कर दिया जाय तो इतिहास का यह अध्याय निर्जीव हो जाता है।

मुगलों के बाद इस देश पर अंग्रेजो का शासन हुआ। इस काल-खण्ड में यद्यपि हिन्दू-इस्लामी समन्वय की सांस्कृतिक धारा अवरुद्ध हो गयी; किन्तु उसके अन्वेषण और पुनर्मूल्यांकन का नया युग आरम्भ हुआ। यद्यपि इस देश के

जन-जीवन को प्रभावित करने में आंग्ल सभ्यता सफल न हो सकी, फिर भी आंग्ल विद्वानों के सम्पर्क से परम्परागत भारतीय संस्कृति और कला के अनुसन्धान और तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात इसी युग में हुआ। पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से भारत का विश्व की भौतिक तथा यांत्रिक प्रगति से परिचय हुआ।

इन सुपरिणामों के अतिरिक्त उसके दुष्परिणाम भी सामने आये। उदाहरण के लिए एक ओर अंग्रेजों की नयी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था ने शिक्षार्थी को अतीत से अलग कर दिया और दूसरी ओर प्रगति के नाम पर अधकचरी, अपंग सस्कृति का नया रूप सामने आया। किन्तु उसकी वास्तविकता को आंकने मे देर न लगी। सांस्कृतिक उत्थान के नाम पर आंग्ल शासकों के इस राजनीतिक अस्त्र को राष्ट्र के कर्णधारो ने निष्प्रभ एव निःशक्त बना दिया। इन राष्ट्रवादी भारतीयो ने भारतीय धर्म तथा संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए ब्रह्म समाज और आर्य समाज आदि नये अभियानो द्वारा जनता को उद्बोधित किया। राजा राम मोहनराय, न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द सरस्वती और लोकमान्य बालगगाधर तिलक आदि भारतीय संस्कृति के आधुनिक युग के सरक्षक तथा प्रवर्त्तक और राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी उनके प्रेरणा-स्रोत थे।

आधुनिक भारत के इस धार्मिक एवं सांस्कृतिक नव-जागरण मे राजनीतिज्ञों, बुद्धिजीवियो और कलाकारो का समान योगदान रहा। उनके एक स्वर ने मिलकर राष्ट्रीय स्वाधीनता का निर्माण किया और ऐसी अनुकूल परिस्थितियो का वातावरण तैयार किया जिनके द्वारा आज के भारत का निर्माण सम्भव हो सका।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति और कला के लम्बे इतिहास का सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि अतीत के विभिन्न युगो मे अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर वह चरम विकास को पहुँचा और प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी अपने स्वत्व एवं स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उसने अपने विकास की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा। इतिहास के सन्दर्भ में यदि राष्ट्रीय चरित्र का अवलोकन करना हो तो उसका वास्तविक दिग्दर्शन उसकी सास्कृतिक परम्परा द्वारा ही किया जा सकता है।

विश्व संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति

इस सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं कि मानव-सभ्यता के उदय का मूल केन्द्र एक ही रहा है। मनुष्य ने ज्यो-ज्यों अपना विकास किया, उसकी

सभ्यता-संस्कृति का क्षेत्र उतना ही विस्तृत होता गया। विकास की इस अवस्था में ही उसके मान-मूल्यों तथा आचार-व्यवहारों में भी भिन्नता उभरती गयी। विश्व की विभिन्न जातियों तथा राष्ट्रों की सस्कृति में जो भिन्नता दृष्टिगोचर होती है उसका कारण मानव-वंशों की पृथकता है। जब उनमें पारस्परिक संघर्ष हुए तो एक ने दूसरे के जीवन्त एवं उपादेय तत्वो को ग्रहण किया। संघर्ष में ही नही, जब कभी उनमे सामंजस्य हुआ तब भी उनमे इसी प्रकार आदान-प्रदान होता गया। सामजस्य की यह भावना कभी-कभी इतनी घनिष्ठतम हुई कि वे एक-दूसरी मे सर्वथा विलयित हो गयी। इस प्रकार इतिहास में ऐसे भी अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं कि अनेक जातियाँ तथा राष्ट्र नष्ट हो गये, किन्तु उनकी सांस्कृतिक थाती किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित रही और अनुकूल परिस्थितियो को पाकर पुनर्जीवित हो उठी।

मनुष्यमात्र की मूल इच्छाएँ एव चित्तवृत्तियाँ समान होने के कारण समस्त मानवता की सस्कृति स्वभावतः एक है। वह सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है। किसी देश तथा जाति के आधार पर या किसी युगविशेष को लेकर सस्कृति का विभाजन करना सम्भव नही है। किसी देशविशेष तथा जातिविशेष के नाम पर सस्कृति का जो आरोपण होता है, वह उसकी भिन्नता या अनेकता का द्योतक नही है, अपितु परम्परागत अजस्र स्रोत की ही अनेक शाखाएँ हैं। उनसे मानव सस्कृति की सार्वभौमिकता मे किसी प्रकार का अन्तर्विरोध उत्पन्न नही होता।

व्यापक मानव-संस्कृति मे जो अनेकता का आधान किया जाता है, उसका कारण परिस्थितियो की भिन्नता है। इन परिस्थितियो की भिन्नता ने ही समष्टि रूप सनातन सस्कृति को देश-काल की सीमाओं मे आबद्ध किया। भूमि, जलवायु, भौगोलिक परिस्थितियाँ, आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा, साहित्य और परम्पराएँ आदि संस्कृति के मूल उपादान हैं। उनकी समानता से सस्कृति में एकता और भिन्नता में अनेकता का दृष्टिकोण बनता है। एक ही वातावरण मे एक ही विचारधारा के अनुयायी, एक ही प्रकार के सुख-दुखो से साथ जीवन यापन करनेवाले समाज की आशाएँ तथा आकाक्षाएं प्रायः एक ही होती हैं। समान अनुभूति वाले समाज का साहित्य भी प्रायः एक-सा ही होता है। यद्यपि यह बात दूसरी है कि किसी देशविशेष के साहित्य मे इतनी गहन एव व्यापक अनुभूति हो कि समस्त मानव समाज के लिए वह एक जैसे रूप मे उपादेय तथा ग्राह्य हो सके। किन्तु बहुधा देश-काल और व्यक्ति के अनुरूप उनकी अनुभूतियों मे असमानता हुआ करती है। वास्तव मे संस्कृति की एकता और अनेकता के मुख्य आधार अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ ही हुआ करती हैं।

किसी देश तथा जाति के सांस्कृतिक अभ्युदय की जानकारी प्राप्त करने के लिए मुख्यतः उसके साहित्य तथा उसकी धार्मिक मान्यताओं को देखना होता है। विश्व के विभिन्न धर्मावलम्बियों के समाज में मूल धर्म और सचित ज्ञान का विश्लेषण करने पर अन्त मे इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि मनुष्य अपनी मूलावस्था में एक था और अतीत के हजारों वर्षों में उसने विभिन्न राष्ट्रों, जातियो तथा परम्पराओं के रूप में अपना जो सतत विकास किया, उससे उसकी अन्त:सलिला सरस्वती में कोई विरोध तथा विभेद उत्पन्न नही हुआ। इस दृष्टि से आज के व्यापक मानव-समाज मे भावनात्मक अभिन्नता को सुरक्षित बनाये रखने मे संस्कृति का योगदान अविस्मरणीय है और इसीलिए संस्कृति ही एकमात्र आधार है, जिसके माध्यम से आज के विश्व में एकता की भावना को स्थापित किया जा सकता है।

जहाँ तक विश्व-संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध है, उसमें एकमात्र मानव-मंगल की कामना की गयी है। उसने एकता में अनेकता और अनेकता मे एकता स्थापित करके इसी मानव मंगल को परिमण्डित किया है। भारतीय सस्कृति के शाश्वत तत्त्व हैं सत्य, शिव और सुन्दर। इन शाश्वत तत्त्वों ने मानव-चेतना को संस्कृत और परिष्कृत किया। दर्शन में उसके सत्य स्वरूप का, नीति (अनुशासन) में उसके शिव स्वरूप का और कला मे सुन्दर स्वरूप का दिग्दर्शन हुआ है। इन तीनो मूलतत्त्वो का समाहार ही संस्कृति है, जिसके द्वारा मानवता का हित और कल्याण होता आया है। जब हम विश्व-संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय सस्कृति की चर्चा करते हैं तो हमारे समक्ष वे ही चिरन्तन एवं शाश्वत आधार विद्यमान होते है।

विश्व-संस्कृत के आरम्भिक विकास-क्रम का विश्लेषण करनेवाले अधिकतर विद्वानों ने एकमत से इस बात को स्वीकार किया है कि भारत ही एकमात्र ऐसा देश है, जिसके मौलिक मानदण्ड विश्व की विभिन्न जातियो तथा राष्ट्रो के सांस्कृतिक उत्कर्ष के सहायक एव प्रेरणा-स्रोत बने। भारत के ये मौलिक मानदण्ड हैं पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति निष्ठा, जीवन की क्षणभंगुरता के प्रति विश्वास, कर्म तथा पुनर्जन्म की अनिवार्यता, मानवमात्र के प्रति बन्धुत्व और प्राणिमात्र के प्रति दया एवं करुणा का भाव और एक ऐसी व्यापक सत्ता के प्रति अटूट विश्वास, जो आनन्दमय सौन्दर्य-सम्पन्न और अमरत्व आदि उपाधियों से विभूषित है तथा मानव मात्र को जीवित रहने के लिए प्रेरित करती है। भारतीय संस्कृति के इन मौलिक मानदण्डो ने अतीत के अनेक उत्थान-पतनों के समय,

दासता और दुःख की घनीभूत पीड़ा में उसे सांत्वना प्रदान की और उसे ध्वस्त होने से बचाया।

इस दृष्टि से भारत का ऐतिहासिक अतीत विश्व के सभी देशों के ऐतिहासिक अतीत से सर्वथा भिन्न रहा है। इस्लामी, ईसाई, यहूदी और अरबी संस्कृतियों में सामाजिक जीवन के विकास की जो मान्यताएँ रही हैं, भारत के सांस्कृतिक विकास की स्थितियों से उनकी भिन्नता स्पष्ट है। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन विभिन्न राष्ट्रों की सभ्यताओं को विधर्मी बाहरी आक्रमणकारियों ने पराभूत कर दिया; किन्तु ठीक इन्हीं परिस्थितियों में भारत ने अपनी संस्कृति को नष्ट होने से ही नहीं बचाया, अपितु अपने विकास की परम्परागत शृंखला को भी अक्षुण्ण बनाये रखा। समय-समय पर बाहर से आयी विधर्मी जातियों के सारे वैर-विरोध, समस्त कटुताएँ-विषमताएँ अपने स्नेहांचल में समेट कर भारतीय संस्कृति ने सबको अपना बना लिया। अपने इसी रूप में भारतीय संस्कृति विश्वजनीन एवं सार्वभौमिक है।

अतीत में भारतीय संस्कृति को विधर्मियों के वैर-विरोधों का सामना करना पड़ा; किन्तु उसकी परम्परा में गतिरोध उत्पन्न करने में वे विफल ही सिद्ध हुए। अतीत में जब कि दास-दस्युओं और विदेशी आक्रमणकारियों ने छोटी-बड़ी शक्तियों में जातीय भेदभाव का बीजारोपण करके उसे छिन्न-भिन्न करने का दुःसाहस किया तो तत्कालीन शासकों तथा विचारकों ने एक होकर उस संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधारा के विघटनकारी तत्त्वों का प्रतिरोध कर राष्ट्रीय अखण्डता को बनाये रखने के लिए सांस्कृतिक जागरण का देशव्यापी अभियान चलाया। यह अभियान इतना कारगर सिद्ध हुआ कि सारा राष्ट्र एकता के सूत्र में आबद्ध हो गया।

विश्व-संस्कृति के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति पर विचार करते समय एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि भारतीय जन-जीवन के कुछ आदर्श ऐसे हैं, जो विश्व के किसी भी जातीय इतिहास में देखने को नहीं मिलते हैं। वे आदर्श हैं सहिष्णुता, उदारता और महानता के। इन्हीं उच्चादर्शों ने अतीत के हजारों वर्षों से उसको सुरक्षित रखा और उसकी परम्परा को अटूट रूप में आगे बढाया।

भारतीय संस्कृति का अनुशीलन करने पर विदित होता है कि अतीत के सभी युगों और परिस्थितियों में उसकी अन्तःधारा अजस्र, अव्यवहित रूप में निरन्तर आगे बढ़ती रही। विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के सन्दर्भ में यदि उसके विकास-क्रम का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि अत्यन्त विकट

और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसने अपने स्वत्व तथा अस्तित्व की अक्षुण्णता को सदा बनाये रखा। बार-बार के बाहरी तथा भीतरी युद्धों तथा शासन-सत्ता के परिवर्तनों के बावजूद उसकी सांस्कृतिक परम्परा अवरुद्ध नहीं हुई, अपितु विभिन्न धर्मों और जातियों के विश्वासों को अपने भीतर समाहित कर उसने अपने को परिपुष्ट और समृद्ध ही किया।

भारत में अत्यन्त पुरातन काल से ही अनेक जातियों और विभिन्न उपजातियों की असमान संस्कृतियों में एकता स्थापित करने की जटिल समस्या समय-समय पर उपस्थित होती रही है। वैदिक और प्राग्वैदिक भारत में यही स्थिति बनी रही। किन्तु धर्मप्रधान और अध्यात्मविश्वासी भारत ने आत्मनिष्ठा और परमात्म-विश्वास के कारण असमानताओं तथा विभिन्नताओं के बीच एकता, समानता तथा समन्वय का समाधान स्वयं ही खोज निकाला। कदाचित् पूजा, भक्ति, श्रद्धा, उत्सर्ग, उदारता और सहिष्णुता की सहज प्रवृत्ति के कारण ही भारतवासियों ने विगत की उन सभी विपरीत परिस्थितियों में अपने लिए एक सुगम मार्ग को खोज निकाला, जिसके कारण उसका अस्तित्व समाप्त करने वाले आक्रमणकारियों का स्वयं ही अस्तित्व समाप्त हो गया। उसका यह अजेय, अडिग आत्मबल इतिहास में सदा बना रहा।

भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक दृष्टिकोण ने ही उसे सबल बनाया। अनेक प्रकार की भाषाओं, रीति-रिवाजों और परम्पराओं की पारस्परिक विपरीतताओं में समन्वय स्थापित कर उसने इस राष्ट्र के विशाल जन-मानस में अभिन्नता का उच्चादर्श स्थापित किया। उस बहुविध समाज के मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के साथ-साथ उसे स्वतंत्रता तथा उन्नति के समान अवसर दिये।

इस प्रकार परिस्थितियों की पारस्परिक विपरीतावस्था में जीवन के मान-मूल्यों तथा आचार-विचारों की विभिन्नता में और परम्परागत मान्यताओं की अनेकता में एकता स्थापित कर भारतीय संस्कृति ने विश्व-संस्कृति के इतिहास में अपना प्रतिष्ठित स्थान बनाया।

भारतीय संस्कृति की इस अजस्र एकता का मूल कारण धर्म रहा है। आदिम मानव-सभ्यता के अन्वेषक इतिहासकार इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि मानव-अन्तश्चेतना तथा प्रेरणा का एकमात्र आधार धर्म रहा है। धर्म ने सभ्यता तथा संस्कृति के उन्नयन में मानव-समाज का पथ-प्रदर्शन किया। वैदिक युग की आर्य-आर्येतर संस्कृतियों ने धर्म की धरती पर ही अपना-अपना

विकास किया। जीवन और जगत् की अतल गहराइयों की खोज के लिए जब भारतीय विचारक उद्यत हुआ, तब सर्व प्रथम वह धर्म-जिज्ञासा की ओर प्रवृत्त हुआ। अपार विचार-सागर को मन्थन करके उसने धर्म के स्वरूप का साक्षात्कार किया और उसे इस प्रकार व्यक्त किया "यह मानव-धर्म, जिससे इहलोक तथा परलोक, दोनो में अभ्युदय (धर्म-अर्थ-काम) और निःश्रेयस् (मोक्ष) इन चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है वही धर्म है।" इसका आशय यह हुआ कि जो सबको समान रूप से, भेद-भाव किये बिना, अभ्युदय की ओर ले जाय और सब को कल्याण का मार्ग दिखाये वही धर्म है। धर्म एक मर्यादा है, अनुशासन है, जिसने समस्त ब्रह्माण्ड को नियंत्रित किया हुआ है। यह धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण एवं प्रेरणा-स्रोत रहा है।

भारतीय संस्कृति की व्यापक धार्मिक उदारता ने अपने प्रति सहिष्णुता का भाव लेकर आनेवाली विदेशी जातियो का स्वागत तो किया ही, इसके अतिरिक्त उसको भी अपने स्नेहांचल मे समेटा, जो उसके प्रति असहिष्णुताओ, क्रूरताओ और कुण्ठाओ की दुर्धारणाओं की गठरी बाँधकर यहां आये थे। इसीलिए विश्व के आधुनिक वेद विद्याविद् विद्वानो ने वैदिक धर्म को मानव-धर्म के रूप में स्वीकार किया है। यह अकारण नही हुआ। उसके अनेको उदाहरण भी हैं।

सम्राट् अशोक ने धर्म की प्रेरणा से राज्य से सन्यास ले लिया। उसकी इस गहन धार्मिकता के प्रति यह आक्षेप किया जाता है कि उसके कारण राष्ट्र निर्बल हो गया, जिसके परिणामस्वरूप भारत मे विदेशियो का प्रवेश सम्भव हो सका। किन्तु इस आक्षेप से अशोक की धार्मिक महानता में कोई अन्तर नही आता। अशोक के बाद शुगो और सातवाहनो की धार्मिक सहिष्णुता उनके सर्वधर्म-स्वातन्त्र्य मे देखने को मिलती है। भारत के इस धार्मिक सद्भाव के कारण ही कुषाण जैसे अभारतीय शासक का इतना अधिक स्वागत-सत्कार हुआ कि वह तथा उसके उत्तरवर्ती शासक भारतीयता मे ही समा गये। मुगल और उनकी सल्तनत के समय जितने भी विदेशी भारत आये, सब भारत के ही हो गये। अंग्रेजों ने भारतीय धर्म तथा संस्कृति को प्रकारान्तर से वरण किया। विशाल भारतीय वाङ्मय में परम्परागत धर्म और संस्कृति की जो विरासत संचित थी, उन्होने उसकी सन्तुलित व्याख्या की और भारत की उदात्त परम्पराओं से आधुनिक विश्व को परिचित कराया।

इस प्रकार प्राचीन काल में सुदूर एशिया की अनेक जातियों ने समय-समय पर भारत में प्रवेश किया; यहाँ तक कि इस्लामी और ईसाई आदि बाहरी धर्मानुयायियों का इस राष्ट्र पर सैकड़ों वर्षों तक शासन रहा; किन्तु वे भी यहाँ की सनातन परम्पराओं को तोड़-मोड़ न सके और अपना कोई ऐसा रिक्थ न छोड गये, जिसे यहाँ के सांस्कृतिक इतिहास के लिए अपूर्व तथा चिरन्तन कहा जा सके।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यता की पारस्परिक एकता तथा भिन्नता के प्रश्न को लेकर विद्वानों में मत-मतान्तर रहे हैं। किसी ने दोनों में भिन्नता तथा किसी ने दोनो मे एकता स्थापित की है। वास्तव में देखा जाय तो दोनो में कोई विशेष अन्तर नहीं है, अपितु दोनों मे किसी हद तक एकता है, और कुछ भिन्नता होने की स्थिति मे भी उनमे पारस्परिक इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक-दूसरे के बिना उनका कोई अस्तित्व ही सिद्ध नही होता है। उनके विकास-क्रम का इतिहास इसी रूप मे आगे बढ़ा।

आरम्भ में मनुष्य कबीलों मे रहते थे। एक-एक कबीले का एक-एक भौगोलिक प्रदेश और एक-एक भाषा होती थी। वे कबीले पहिले जगलो, तब नगरो, फिर राज्यो और तदनन्तर राष्ट्रों के रूप में विकसित हुए। जिन कबीलों ने सर्व प्रथम जंगलों को साफ करके उन्हे कृषियोग्य बनाया, वे उसके स्वामी कहे गये। जो उनके बाद आये उन्हें दास कहा गया। कृषि के बाद मनुष्य की पशुपालन की ओर प्रवृत्ति हुई और इस प्रकार उसने अन्य मानव-यूथो को अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होंने मिलकर अपना एक शक्तिशाली संगठन बनाया और आत्मरक्षा के लिए नये यत्रो तथा औजारो का आविष्कार कर सभ्यता को जन्म दिया।

इस प्रकार मनुष्य ने अपने आखेट युगीन वन्य जीवन से क्रमशः कृषि, पशुपालन और फिर यांत्रिक जीवन मे प्रवेश किया। फिर समाज में सद्भाव की प्रवृत्ति के कारण उसने आग, पानी और भूमि की उपयोगिता की खोज करके अपना आर्थिक विकास किया। वह यही तक सीमित नही रहा। उसने अपने लिए अनगढ़, अशोभनीय वर्तनों तथा व्यवहारोपयोगी उपकरणों की किस्मों में सुधार किया। साथ ही कृषि तथा पशुपालन के पुराने साधनो को भी उन्नत किया।

बुद्धि-प्रवण होने के कारण अपने उत्तरोत्तर जीवन-क्रम के इतिहास में मनुष्य ने जो कुछ खोजा, उपलब्ध किया और आविष्कार तथा निर्माण किया, यही उसकी सभ्यता है। मनुष्य में इस सभ्यता का उदय तब हुआ जब वह अपने आदिम वन्य जीवन से उभरकर समाज-सापेक्ष्य हुआ और सोचने-विचारने के योग्य बना। व्यक्ति की इस सामूहिक विचार-चेतना ने 'सभा' को जन्म दिया और इस सभा में बैठने की समझ रखने के कारण उसे 'सभ्य' कहा गया।

इस प्रकार धीरे-धीरे जंगलों तथा पर्वतो मे बिखरे मानव-यूथ या कबीले अपने-अपने समुदायों के रूप में विकसित हुए और मैदानी क्षेत्रों की ओर बढे। वहाँ उनका पारस्परिक सम्मिश्रण हुआ और उन्होने जीवन के लिए अधिक सुखकर कला-कौशलों का निर्माण तथा उनका आदान-प्रदान किया। उन्होने एक भाषा और अपने नैतिक आदर्शो का निर्माण कर अपने सांस्कृतिक जीवन मे पदार्पण किया। इस प्रकार अपने आर्थिक तथा सामाजिक विकास-क्रम मे मनुष्य ने सुरुचि, सद्भाव, आदर्श, अनुराग और सौन्दर्य की जिस अभिरुचि का निरन्तर परिष्कार तथा प्रसार किया उसकी वही परिष्कृत अभिरुचि संस्कृति की जननी बनी।

इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति का साथ-साथ निर्माण कर मनुष्य ने अपने अस्तित्व के इतिहास का निर्माण किया।

तुलनात्मक दृष्टि से यदि दोनो की मूल प्रकृति का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होता है कि संस्कृति का आधार मुख्यतः आचारों से और सभ्यता का आधार मुख्यतः विचारो से है। आचारो से संस्कृति का और विचारो से सभ्यता का निर्माण हुआ। इस दृष्टि से आचारो और विचारो का पारस्परिक जो सम्बन्ध है, संस्कृति और सभ्यता का सामान्यतः वही सम्बन्ध है। किसी दुराचारी व्यक्ति मे सद्विचारों का योग होना सम्भव ही नही है। इसी प्रकार किसी विचारशून्य व्यक्ति मे सदाचारो का होना प्रायः कठिन-सा है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचारों और विचारो का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। अतः संस्कृति और सभ्यता, दोनो परस्परापेक्ष्य सिद्ध होती है।

सभ्य शब्द का सामान्य अर्थ होता है 'शिष्ट'। सभ्य से सभ्यता शब्द बनता है, जिसका अर्थ हुआ शिष्टता। सभ्यता या शिष्टता एक सामाजिक गुण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सभ्यता का उदय भी समाज से ही हुआ

है। इस दृष्टि से मनुष्य का सभ्यता से घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी व्यक्ति, राष्ट्र अथवा जाति की सभ्यता का ज्ञान उसके रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान तथा भाषा-साहित्य से किया जाता है। यही आचारशास्त्र है। ये आचार ही संस्कृति के भावक, परिचायक और निर्धारक हैं। यदि दोनों के परिचायक तथा निर्धारक उपादान समान हैं, तब दोनो के पारस्परिक सम्बन्धों का निश्चय सहज ही किया जा सकता है।

संस्कृति का सामान्य अर्थ होता है संस्कार करना या परिमार्जन करना। यह संस्कार या परिमार्जन ही सभ्यता है। संस्कारहीन व्यक्ति को कोई भी सभ्य नही कह सकता है। संस्कृत व्यक्ति ही सभ्य कहलाने का अधिकारी है। इस रूप मे ही संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा, मन तथा अन्तःकरण से निश्चित होता है। संस्कृति के द्वारा उच्च मानसिक उपलब्धि होती है। मानसिक उपलब्धि का क्षेत्र भौतिक भी हो सकता है और आध्यात्मिक भी। किसी संस्कृत व्यक्ति से तात्पर्य उसके उन गुणों से होता है, जो उसके चरित्र, मन और आत्मा मे निहित होते हैं। सभ्यता भी एक गुण है, जो कि व्यक्ति तथा समाज द्वारा सृजित होता है।

संस्कृति और सभ्यता की पहचान के लिए उनका सूक्ष्म विश्लेषण आवश्यक है। हमारे यहाँ ज्ञान की दो कोटियाँ या श्रेणियां निर्धारित हैं— एक अनुभवजन्य और दूसरी बुद्धिजन्य। अनुभवजन्य ज्ञान संस्कृति का और बुद्धिजन्य ज्ञान सभ्यता का आधार है। अनुभवजन्य ज्ञान नित्य और बुद्धिजन्य ज्ञान परिवर्तनशील होने के कारण सस्कृति नित्य और सभ्यता परिवर्तनशील होती है। इस दृष्टि से संस्कृति किसी व्यक्ति द्वारा सृजित नहीं हो सकती है। उसका सम्बन्ध जन-समुदाय से है। किन्तु सभ्यता व्यक्ति द्वारा सृजित होती है।

संस्कृति और सभ्यता में वस्तुतः कोई विशेष अन्तर नही है। दोनों के उपादान तथा आधार एक ही हैं। वे उपादान है—भूमि, जल, वायु, आचार-विचार, वेश-भूषा और भाषा-साहित्य। रहन-सहन की जो शिष्टता या सम्यक् चेष्टा है, उसे ही सभ्यता कहा गया है। उसी सम्यक् चेष्टा का नाम संस्कृति है। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि दोनो सर्वथा असम्बद्ध न होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। संस्कृति का सम्बन्ध अन्तर्जगत् और सभ्यता का बाह्य जगत् से है।

संस्कृति और धर्म

भारतीय संस्कृति के उदय और अस्तित्व के मूल में धर्म सदाशय रूप में निहित है। भारतीय संस्कृति मे विश्वजनीन मानवीय आदर्शों का समावेश धर्म के सम्पर्क से ही हुआ। समय-समय पर उसके अस्तित्व के लिए जब-जब खतरे तथा संकट उपस्थित हुए तब-तब धर्म ने ही उसकी रक्षा की। पुरातन आर्य-आर्येतर युग से लेकर आज तक के लगभग पाँच हजार वर्षों के इतिहास मे सस्कृति की अक्षुण्णता और उसका निरन्तर विकास धार्मिक समन्वय के कारण ही सम्भव हो सका।

धर्म वही है, शास्त्र जिसका निर्देश करे। शास्त्रो मे धर्म को अदृष्ट एवं अलौकिक कहा गया है। संस्कृति मे शास्त्र-अविरुद्ध अर्थात् शास्त्र-सम्मत-आचार का समावेश होता है। वह आचार लौकिक भी है और अलौकिक भी। संस्कृति का अलौकिक पक्ष धर्म है और लौकिक पक्ष कर्म। सस्कृति मे जो आचार समन्वित हैं, उनमें धर्म और कर्म दोनों का योगदान है।

वस्तुतः देखा जाय तो सस्कृति और धर्म मे कोई विशेष अन्तर नही है। भारतीय दृष्टि से वेद को धर्म का मूल कहा गया है। धर्म का प्रतिपादन एवं विधान करने वाली स्मृतियाँ भी वेदमूलक हैं। इन वेदमूलक स्मृतियो तथा पुराणो द्वारा प्रतिपादित सदाचार ही धर्म है। सदाचार अर्थात् कर्त्तव्य। इन कर्त्तव्यो का समुच्चय ही सस्कृति है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग, तप और परोपकार आदि ही सार्वभौम कर्त्तव्य हैं। इस राष्ट्र मे लोकायतिक, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव और शाक्त आदि जितने भी धर्मावलम्बी हुए, उन सबने अपने-अपने पन्थों, मतो तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा प्रवर्त्तन के लिए इन सार्वभौम विश्वजनीन कर्त्तव्यो को अपना सम्बल बनाया। धर्म से उद्भावित या धर्मजीवित इन कर्त्तव्यो पर ही राजधर्म तथा राष्ट्रधर्म निर्भर रहता आया है और जीवन मे उनका आचरण ही सस्कृति है।

संस्कृति की व्यापकता धर्म की व्यापकता से सिद्ध होती है। धर्म के छोटे बडे नदी-नालों को अपने में समाहित करती हुई भारत की धर्म-गगा अपनी पावनता एव महानता में सदा ही समरस बनी रही। बाहर से जो अनेक जातियाँ यहाँ आकर बस गयी, उनका और जो बार-बार आकर यहाँ से चली गयी, किन्तु अपने अस्तित्व के उपादान यहाँ छोड़ती गयीं, उनका भी रिक्थ उसने अपने मे समेट लिया। इस प्रकार यह उदार एवं विशाल धर्म-गंगा ही भारतीय संस्कृति है।

संस्कृति और दर्शन

आचारों और विचारों का समन्वय ही संस्कृति है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति की समग्रता की खोज करने के लिए उसके विचार-साहित्य का अनुशीलन करना आवश्यक है। दर्शन इस विचार-साहित्य का आगार है। भारतीय संस्कृति की गहनता, गम्भीरता, विशालता, स्थिरता और प्राचीनता आदि विभिन्न पहलुओं का सम्यक् विश्लेषण उसके दर्शन-साहित्य में निहित है। दर्शन इस देश की मौलिक एवं अजस्त्र चिन्ताधारा के उत्स है। यहाँ की संस्कृति की नीव उन्ही पर आधारित है। भारतीय संस्कृति मे आध्यात्मिक साधना का जो प्रभाव लक्षित होता है, उसका आधार भी यही तत्त्व-चिन्तन है। षड् आस्तिक दर्शनो और लोकायतिक (चार्वाक्) तथा जैन-बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों की समन्वित विचारधारा का निस्यन्द ही भारतीय संस्कृति है। इसी कारण उसको समग्रता प्राप्त हुई है।

भारतीय विचारको एवं चिन्तको ने जिस विशाल तथा अगाध दर्शन साहित्य का निर्माण किया उसके मूल तत्त्व, उसके प्रेरणा-स्रोत वेदो में ही निहित थे। इसलिए भारतीय संस्कृति के मूलाधार आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओ का अध्ययन करने से पूर्व वेदो की दार्शनिक दृष्टि का अनुशीलन करना आवश्यक है। वैदिक साहित्य की सर्वांगीणता और उसके परवर्ती व्यवस्थित विकास के मूल मे उसकी दार्शनिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जीवन के प्रति वैदिकों की जो आस्था रही है, उसके सन्दर्भ में तत्कालीन संस्कृति की दार्शनिक पृष्ठभूमि का सहज ही महत्त्व अवगत किया जा सकता है।

वेदो का उद्देश्य वस्तुतः दार्शनिक विचारो का प्रतिपादन करना नही था। उनका उद्देश्य धर्मविहित महान् मानव आदर्शों को प्रस्तुत करना था। इस धर्ममय आदर्श को परवर्ती विचारको मे अपनी-अपनी रुचि तथा अभीप्सा के अनुसार खोजा तथा विकसित किया। कर्म, उपासना और ज्ञान, वेदो मे निहित इन मूल विचारों का विकास क्रमशः ब्राह्मण-ग्रन्थो, आरण्यको और उपनिषदों मे हुआ। इन्ही विविध विचारधाराओ का व्यापक चिन्तन आगे षड् दर्शनो और अन्य मतावलम्बी विचारको के साहित्य मे देखने को मिलता है। वेदो के ऋषियों ने जिस सर्वोपरि शक्ति का चिन्तन किया, परवर्ती विचारकों ने उसी का मन्थन करके अपने-अपने नये विचार-पन्थों का विकास किया।

सुविदित है कि सभी प्रकार की आस्तिक-नास्तिक विचारधाराओं में जीवन और जगत् का परम लक्ष्य श्रेय, मुक्ति, मोक्ष, अपवर्ग या निर्वाण बताया गया है। उसकी प्राप्ति के लिए सब ने एक ही कारण खोज निकाला—दुःख से छुटकारा पाना। जीवन-जगत् की इस दुःखमयता से मुक्त होने के लिए विभिन्न दर्शनों में अलग-अलग उपाय या मार्ग बताये गये हैं। सभी दर्शन-सम्प्रदाय जीवन-जगत् की इसी निःसारता का दिग्दर्शन करते हैं और कर्मों की कारा से छुटकारा पाने का उपाय बताते हैं।

इस दृष्टि से यदि वेदों की दार्शनिक दृष्टि का अनुशीलन किया जाय तो हमें इस सुन्दर मानव-जीवन और सुरम्य प्रकृति की अपार महिमा से मण्डित यह विश्व सहज ही उपेक्षणीय तथा दुःखमय प्रतीत नहीं होता है। जीवन-जगत् के प्रति दर्शनों की जो तितिक्षा एवं उपेक्षा दृष्टिगत होती है, मूल वैदिक भावना उससे सर्वथा भिन्न है। वहाँ जीवन का उद्देश्य है उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर होना और सर्वत्र प्रकाश को आलोकित करना: 'अज्ञान से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम जीवन को उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर करें' (उद्वय तमसस्परि स्वः पश्यन्तः उत्तरम्, यजुर्वेद 20। 2)। जीवन की उत्तरोत्तर उन्नति एवं अज्ञान या अन्धकारपूर्ण जीवन-कुहरों को प्रकाशमय करते हुए अग्रसर होते रहने की यह वैदिक भावना ही दर्शनों की विभिन्न विचारधाराओं का कारण बनी। अज्ञान या अविद्या को ज्ञान, विवेक या विद्या के द्वारा किस प्रकार दूर किया जा सकता है, अर्थात् वैदिक भावना के अनुसार जीवन की उन्नति के लिए प्रकाश को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका सम्यक् निरूपण दर्शनशास्त्र मे किया गया है। इसी प्रकार आत्मा, पुनर्जन्म और मोक्ष आदि के सम्बन्ध मे वैदिक तत्त्ववेताओं की जो स्थापनाएँ हैं, उपनिषदो तथा दर्शनो मे उनकी विस्तृत मीमासा की गयी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदो की सूक्ष्म तत्त्विक दृष्टि ही दर्शनो के उद्भव का कारण सिद्ध हुई। दर्शन ही भारतीय विचारों की थाती है।

संस्कृति के निर्माण में आचार उसके बहिरग और विचार अन्तरंग पक्ष के सूचक है। दोनो के समन्वय से ही उसमें सर्वांगीणता आती है। यह सर्वांगीणता ही जीवन है। उसके भी अन्तरंग और बहिरंग, दो पक्ष हैं। दोनो की खोज किये या दोनो का प्रत्यक्ष किये बिना जीवन की जानकारी अधूरी है। सर्वांगीण जीवन-दर्शन के लिए दोनों की जानकारी आवश्यक है।

इस दृष्टि से संस्कृति का दर्शन से सहज सम्बन्ध सिद्ध होता है।

• • •

खण्ड : 2

चार/प्रागैतिहासिक युग

प्राक् इतिहास की प्रमाण सामग्री

इस पृथ्वी पर मानववंश का पता लगाने के एकमात्र साधन हैं प्रागैतिहासिक मानव के अवशिष्ट अस्थि-कंकाल और उसके द्वारा निर्मित विभिन्न उपकरण। ये अस्थि-पंजर और उपकरण ही प्राक् इतिहास की प्रमुख प्रमाण-सामाग्री है। इसी सामग्री के आधार पर विद्वानों ने विभिन्न प्रजातियो के मूल और विभिन्न देशो की प्रागैतिहासिक (Pre-historic) तथा पुरा-ऐतिहासिक (Proto-historic) परिस्थितियों का पता लगाया। विभिन्न देशों मे बिखरे हुए मानववंशों से सम्बद्ध इस प्रमाण-सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन मे विद्वानों को इस निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायता मिली कि मूल मानववंश का प्रसार विश्व के किस भू-खण्ड से हुआ।

विभिन्न भू-भागो मे बसे वर्तमान राष्ट्रो के प्राचीन अस्तित्व के अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। भारत मे भी समय-समय पर उत्खनन कार्य हुए और वहाँ से उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनेक सन्दिग्ध तथा अपूर्ण तथ्यो के स्थिरीकरण में महत्त्वपूर्ण सहायता मिली और नयी जिज्ञासाओ के समाधान के प्रति उत्कण्ठा जगी।

आज से लगभग आधी शती पूर्व पुरातत्त्वविद् एवं नृतत्त्वज्ञ विद्वान् सर हर्बर्ट रिज्ले ने लिखा था कि 'भारत मे आदिम मनुष्य-जीवन के उतार-चढावों का दिग्दर्शन कराने वाले गुफाओं, समाधियो, चट्टानो, टीलो तथा हड्डियों के कोई भी अवशेष नही मिले हैं। भारत में न तो झीलों के तटवर्ती निवास या आधुनिक गवेषणा द्वारा यूनान के भूमिगर्भ से निकाले गये किलेनुमा नगर ही उपलब्ध हुए हैं और न हाथ से निर्मित हड्डियो तथा पाषाण आदि के हथियार ही प्राप्त हुए (दि पीपुल्स ऑफ इंडिया)। इस कथन द्वारा रिज्ले ने भारत के पुरातन अस्तित्व के प्रति सन्देह प्रकट किया।

इस सम्बन्ध में अब तक जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे यह बात तो निश्चित हो चुकी है कि भारत और शेष एशिया का पुरा-इतिहास (Proto-history) अलग-अलग नहीं था। उपलब्ध सामग्री के आधार पर निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि समस्त मानव प्रजातियों के विस्तार में मेसोपोटामिया तथा भारत और चीन तथा मंचूरिया, इन दो विशाल भू-भागों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारत में प्रागैतिहासिक और पुरा-ऐतिहासिक महत्त्व के बहुसंख्यक पत्थरों के औजार उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, आंध्र, मैसूर, गुजरात और सिन्ध से प्राप्त हुए हैं। इस दृष्टि से मैसूर के ब्रह्मगिरि-स्थान की खुदाइयों से प्राप्त सामग्री का विशेष महत्त्व है। इस सामग्री को पुरातन पाषाणयुगीन कहा गया है, जो कि सिन्धु-सस्कृति से कहीं अधिक प्राचीन है। सिन्धु तथा सोहन नदी (पजाब) के उत्तालों से जो हाथ की कुल्हाड़ियाँ और औजार मिले हैं उनसे नव पाषाण युग पर प्रकाश पड़ता है।

इन उपलब्ध उपकरणो के आधार पर विद्वानो का अभिमत है कि मानव का मूल निवास पहले तो भारत के मध्य-एशिया भाग में था और बाद मे उसका फैलाव उत्तर तथा पश्चिम भारत मे हुआ। भारत की प्रागैतिहासिक संस्कृति की आदिम परिस्थितियो का पता एकमात्र इसी आधार पर किया जा सकता है। इस सांस्कृतिक आधार की सम्पुष्टि के लिए सिन्धु सभ्यता के क्षेत्रो से प्राप्त लगभग पचास अस्थिपंजर तथा अन्य उपकरण हैं। इस सामग्री के विश्लेषण एवं अध्ययन पर विद्वानो ने मोहेनजोदडो तथा हड़प्पा के विस्तृत क्षेत्र को पुरा-आस्ट्रेलीय, भू-मध्य-सागरीय और आर्मीनी (अल्वाइन) आदि विभिन्न प्रजातियों के सांस्कृतिक तत्त्वो का सम्मिश्रणस्थल बताया है।

पूर्व-पाषाण से लेकर सिन्धु-सभ्यता के युग तक भारत मे विभिन्न मानववंशों की परिचायक जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है उसके अध्ययन-अनुशीलन और तुलनात्मक परीक्षण से ऐसे सुस्थिर एवं पुष्ट आधार प्रकाश मे आये हैं, जिनके द्वारा भारत भूमि की पुरातन गरिमा प्रख्यात हुई है और अनेक देश यहाँ की अनूठी सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित हुए हैं। इस सामग्री का विधिवत् अध्ययन पाषाण युग से आरम्भ होता है।

मानव सभ्यता का उदय

पाषाणयुगीन सभ्यता-संस्कृति का विकास

भारतीय जन-जीवन के अस्तित्व का आरम्भ सुदूर अतीत के पाषाण युग से होता है। इस युग की प्रायः समस्त उपलब्ध सामग्री पाषाण तक ही सीमित है। इसी आधार पर विद्वानों ने इस युग को पाषाण की संज्ञा दी है। इस युग की उपलब्ध सामग्री में समय की पूर्वापरता है, अतः मनुष्य के विकास-क्रम के आधार पर इस युग को 'पूर्व', 'मध्य' और 'उत्तर' तीन भागों में विभाजित किया गया है।

पूर्व-पाषाणयुगीन मनुष्य का जीवन प्रकृति पर आधारित था। कृषि तथा पशुपालन आदि से वह सर्वथा अपरिचित था। इस युग का आदिम मानव मुख्यतः फल, फूल, कन्द-मूल, पशु-पक्षी, पहाड़, घाटी, नदी-नद और जंगल आदि प्राकृतिक उपादानों तथा प्राकृतिक धन पर निर्भर रहा। उसके सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का निर्माण इन्ही उपादानों पर अवलम्बित था। प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री से ही उसने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की। यदि आदिम मनुष्य को इन प्राकृतिक साधनो से वंचित किया जाय तो उसका जीवित रहना असम्भव था। पाषाणयुगीन मानव इन्ही परिस्थितियो मे जीवन-निर्वाह करता था। अनेक कठिनाइयों से उभर कर वह किसी प्रकार जीवित था। सर्व प्रथम उसको आत्मरक्षा की चिन्ता हुई। प्रकृति के प्रकोपों और वन्य पशुओं के आक्रमणो से रक्षा पाने के लिए सर्व प्रथम उसने अपने आवास की व्यवस्था की। उसने सरिताओं के कगारो और पर्वतो की गुफाओं मे शरण ली, क्योकि ये स्थान सुरक्षित होने के अतिरिक्त खान-पान की दृष्टि से भी सुलभ थे। आवास की व्यवस्था करने के बाद उसे औजारों तथा हथियारो की आवश्यकता प्रतीत हुई। पग-पग पर भीषण वन्य पशुओं का डर होता था। छोटे आकार के पशुओं को तो वह भालों तथा लट्ठो से हत कर सकता था; किन्तु बड़े हिंसक पशुओं का सामना करने के लिए उसे कारगर हथियारों की आवश्यकता थी। संकटमय स्थितियों से निपटने के लिए उसने पहले तो पत्थरों को सवार-तराश कर उन्ही से हथियारों का काम लिया। कुछ समय पश्चात् उसने हड्डियों के हथियारों का भी निर्माण किया। ये हथियार आरम्भ मे यद्यपि बड़े असुविधा-जनक थे; किन्तु धीरे-धीरे उसने उनके प्रयोग में लकड़ी का संयोग कर उन्हें अधिक सुविधाजनक तथा कारगर बनाया। कुल्हाड़ीनुमा सुघरे हथियारो के

अतिरिक्त उसने ऐसे भी कई नये औजार बनाये, जिनसे वस्तुओं को तोड़ने छीलने, खोदने और जोडने में सहायता ली जा सकती थी। इस प्रकार की अधिकतर सामग्री तो काल के अन्तराल में विनष्ट हो गयी; किन्तु कुछ सामग्री शिवालिक की पहाड़ियों, उत्तरी-पश्चिमी पंजाब, पूँछ और जम्मू आदि स्थानों से प्राप्त हुई है। विद्वानों ने इस सामग्री को पाँच लाख वर्ष प्राचीन कहा हैं।

आत्मरक्षा और उदर-पूर्ति की आवश्यकताओं के हल हो जाने के बाद शीत-आतप-वर्षा आदि विभिन्न ऋतुजन्य विषमताओं से बचने तथा तन को ढकने के लिए साधन भी उसने ढूंढ निकाले। जैसा कि पहले कहा गया है, प्राकृतिक और पशुधन ही आदिम मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहायक हुए। पेडो की पत्तियो तथा छालो को जोडकर तथा मृतक पशुओं की खाल से शरीर को ढाँपकर उसने अपनी रक्षा की।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वभावतः अति क्रूर, बर्बर और निष्ठुर प्रवृत्ति के कारण आदिम मनुष्य मे धार्मिक आस्था का जागरण नही हो पाया था। उपलब्ध सामग्री से स्पष्ट है कि पूर्व-पाषाणयुगीन मनुष्य देवी-देवताओ की पूजा तथा आराधना मे विश्वास नही करते थे। इस वास्तविकता को भी अस्वीकार नही किया जा सकता है कि उसे प्राकृतिक तत्त्वो तथा प्रकोपो का भय था। फिर भी उसके भीतर एक ऐसी अदृष्टि शक्ति का अस्तित्व प्रसुप्त रूप मे विद्यमान था, जो कि इन सब कारणों के मूल मे निहित थी। उत्तर-पाषाणकालीन मनुष्य में विकसित धार्मिक निष्ठा के आधार पर यह अनुमान लगाना सर्वथा कल्पित नही हो सकता है कि पूर्व-पाषाणयुगीन मनुष्य के अन्तस्थ में अदृष्ट विश्वास अडिग रूप मे विद्यमान थे।

आदि मानव से सम्बन्धित अन्य क्रिया-कलापो की परिचायक जो सामग्री उपलब्ध नही होती, उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं तथा परिस्थितियो को दृष्टि में रखकर उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की सम्भावनाओं से इन्कार नही किया जा सकता है। उसके सम्बन्ध में यह अनुमान लगाना सहज प्रतीत होता है कि उसकी आत्मरक्षा की प्रवृति ने उसमे सगठन की भावना जागृत की। भयावह वन्य पशुओं का सामना करने के लिए उसे अन्य मनुष्यों की सहायता की अपेक्षा हुई होगी। उसने धीर-धीरे अपने अनुभवो से यह भी जान लिया होगा कि कौन-सी ऋतु तथा समय आखेट के लिए उपयुक्त है। आखेटो तथा आक्रमणों के समय घायल या क्षत-विक्षत हो जाने पर उपचार से लिए उसने

वन्य ओषधियों का भी उपयोग किया होगा। ऋतुओं की अनुकूलता-प्रतिकूलता और वन्य ओषधियों का ज्ञान हो जाने के साथ-साथ उसे फल-फूलों तथा विभिन्न वनस्पतियों की उपयोगिता की जानकारी भी अवश्य हुई होगी। इस प्रकार अपनी आदिम अवस्था में ही मनुष्य ने ज्योतिर्विज्ञान, ओषधि विज्ञान और वनस्पति विज्ञान की भविष्योन्नति का आधार खोज लिया था।

प्रागैतिहासिक युग की उपलब्ध विपुल एवं विभिन्न सामग्री के अध्ययन-अनुशीलन के आधार पर विद्वानों ने ऐसे प्रमाण खोज निकाले, जिनसे यह सिद्ध किया कि 'पूर्व' और 'उत्तर' पाषाण युग के बीच एक लम्बा अन्तराल है। कुछ विद्वानों ने इस मध्यान्तर को संक्रान्तिकाल भी कहा हैं। संक्रान्ति के इस अन्तराल को विद्वानों ने माइक्रोलिथिक युग (Microlithic-Age) और प्रोटो-ओलिथिक युग (Proto-olithic-Age) के अन्तर्गत रखा है।

भारत मे मध्य-पाषाणयुगीन उपकरण उत्तर मे जमालगढी (पेशावर जिला अन्तर्गत) और पश्चिम मे कराची से लेकर पूर्व मे सरायकला (बिहार) के विस्तृत भू-भाग से प्राप्त हुए हैं। यद्यपि इस युग के उपकरणो की परम्परा सुदूर भविष्य अर्थात् बौद्धयुग तक प्रवर्तित होती रही, किन्तु उसका आरम्भ पूर्व-पाषाण-काल के तत्काल बाद मे हुआ। इसलिए उसकी समय-सीमाओं के निर्धारण मे विद्वानों का वैमत्य रहा है।

भारत मे ब्रह्मगिरि (मैसूर) के रोप्पा गाँव के निकट, पजाब मे उचाली और साबरमती घाटी की खुदाइयो से प्राप्त पशुओ की हड्डियों और मानव अस्थि-पंजरो को मध्य-पाषाण-युग के अन्तर्गत रखा गया है। इसी प्रकार सिन्धु (सक्कर, रोहरी) के उत्खननो से भी मध्य-पाषाणयुगीन मानव के अस्तित्व का पता चला है।

भारत मे उपलब्ध इन विभिन्न उपकरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस युग मे मनुष्य नदी-घाटियो तथा पर्वत-कन्दराओ से निकलकर छोटी-छोटी पहाड़ियो में फैल गया था। इस अवस्था मे चलकर उसे विभिन्न पशुओ की नस्लों का ज्ञान हो गया था। अनेक खुदाइयो मे मानव अस्थि-पजरों के निकट कुत्ते के अस्थि-पजर भी प्राप्त हुए हैं। वह कृषि-कर्म से अनभिज्ञ था। अभी भी उसकी आजीविका का मुख्य साधन आखेट ही था। इस युग मे उसने पहले की अपेक्षा अपने शस्त्रास्त्रो के निर्माण तथा प्रयोग मे अवश्यमेव कुछ प्रगति कर ली थी। उत्खननो से प्राप्त मानव अस्थि-पंजरो के अध्ययन से यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि पूर्व-पाषाणयुगीन मनुष्य की

अपेक्षा मध्य-पाषाणयुगीन मनुष्य ने शवों को दफनाने की प्रथा को वरण कर लिया था। इस शव-दाह की प्रक्रिया से यह अनुमान होता है कि लोकोत्तर जीवन के प्रति उसका विश्वास होने लगा था।

भारत मे विभिन्न प्रागैतिहासिक युगीन स्थानो की खुदाइयो से जो बहुविध विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है उसके अध्ययन-परीक्षण से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उसमें एक लम्बा व्यवधान है। इसी व्यवधान के आधार पर उसकी पूर्वापरता निश्चित की गयी है। फिर भी उसको सुनिश्चित समय-सीमाओं के भीतर रखना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। समय-समय पर की गयी खुदाइयों में काश्मीर, सिन्धु प्रदेश उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, असम, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और बेलारी जिले से उपलब्ध सामग्री द्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि उत्तर-पाषाण-काल की सभ्यता भारत के ओर-छोर तक व्याप्त थी। इस युग की उल्लेखनीय उपलब्धियों में पालिश किये गये विशेष प्रकार के सुघरे हुए हथियार और औजार हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्मगिरि (मैसूर) के उत्खननो में कुछ मृणपात्र भी उपलब्ध हुए हैं। मध्य-पाषाण-काल की अपेक्षा उत्तर-पाषाण-काल के शवो को दफनाने की प्रक्रिया में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया था, जिससे कि इस युग के मनुष्यों की धर्म-कर्म की अभिरुचि का परिचय मिलता है। इस युग की समय-सीमाओ को विद्वानों ने 1000-300 ई० पूर्व में निर्धारित किया है।

पूर्ववर्ती दोनो युगों की अपेक्षा उत्तर-पाषाणयुगीन सभ्यता अनेक दृष्टियों से उन्नतावस्था में पहुँच चुकी थी। इस युग की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि लोगो में कृषि-कार्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था। इससे पूर्व मनुष्य की आजीविका के साधन कन्द, मूल, फल और पशु थे। किन्तु इस युग के मनुष्यों द्वारा कृषि-कार्य के लिए किन-किन साधनो का उपयोग होता था—इसका कोई सुनिश्चित प्रमाण अभी तक उपलब्ध नही हो सका है; फिर भी इतना निश्चित है कि अनाज काटने के लिए हंसिया का आविष्कार हो चुका था। उसकी घिसाई के लिए पाषाण-खण्डो का उपयोग किया जाता था।

कृषि के प्रति इस युग के जनानुराग ने उसे पशुपालन के प्रति भी प्रेरित किया। इससे पूर्व मनुष्य के लिए पशुओं की उपयोगिता केवल आहार-मात्र के लिए थी। मध्य-पाषाणयुगीन मनुष्य ने कुत्ते को अपने सहचर के रूप में अपना लिया था। इसलिए कि आखेट के समय वह उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुआ था। किन्तु अन्य पशुओं के उपयोग के प्रति उत्तर-पाषाणकालीन मनुष्य ने ही

सर्व प्रथम पशुओं का उपयोग किया। पशुओं से वह भारवहन का काम लेता था। कुछ पशुओं से उसे दुग्ध भी मिलता था। इस युग में मनुष्य की जिन पशुओं के प्रति अधिक निकटता हो चुकी थी, उनमें गाय, बैल, भैंस, भेड, बकरी, कुत्ता और घोड़ा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पशुओं द्वारा वह विभिन्न कार्य-सम्पादन करने लगा था।

इससे पूर्व मनुष्य के उपयोग की अधिकतर सामग्री पाषाण-निर्मित थी; किन्तु इस युग मे उसने मिट्टी के बर्तनो का निर्माण तथा उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। यह मृण्मय सामग्री दैनिक जीवन के उपयोग में आने वाले छोटे-छोटे पात्रों के रूप में और अनाज आदि रखने के लिए विशाल भाण्डो के रूप मे निर्मित होने लगी थी। इस मृण्मय सामाग्री के परीक्षण से ज्ञात होता है कि उसका निर्माण केवल हाथो द्वारा किया गया था। मृत्पात्र बनाने में चाक तथा अन्य किसी औजार का प्रयोग नही किया गया था।

सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास ने उत्तर-पाषाणयुगीन मनुष्य मे नये निर्माण कार्यों की प्रेरणा एवं जिज्ञासा उत्पन्न की। पहिले वह अपने शरीर की रक्षा के लिए वृक्ष-छालो, पत्तो तथा चर्म को उपयोग मे लाता था; किन्तु अब वह बुने हुए वस्त्रो की उपयोगिता समझने लगा था। इस भावना से उसने कताई-बुनाई की कला को जन्म दिया। उसने पेड-पौधो के रेशो (और सम्भवत: कपास की रुई) से वस्त्रो का निर्माण प्रारम्भ किया। वनस्पति तथा मृत्तिका, पाषाण के चूर्ण से बने रगों से कपडो को रंगकर उन्हें चित्ताकर्षक बनाया।

प्रगतिशील तथा समुन्नत जीवन की ओर अग्रसर होते हुए उसने अपने आवास की परिस्थितियों में भी सुधार किया। अब तक वह नदियो के कगारो, पर्वत-कन्दराओ मे ही निवास करता था। अब उसने सुविधाजनक खुले स्थानो पर घास-फूस, पेड़-पौधो और मिट्टी-पत्थर की सहायता से अपने रहने के लिए छोटी-छोटी झोपड़ियो का निर्माण किया। अपने शस्त्रास्त्रो की दिशा में भी उसने परिवर्तन किया। यद्यपि अभी उसके शस्त्रास्त्रों के साधन लकड़ी, हड्डी तथा पाषाण के पुराने ही उपकरण थे; किन्तु उनकी रूप-रेखा मे अब पर्याप्त सुधार हो चुका था। वे अधिक सुव्यवस्थित, सुडौल और उपयोगी होने के साथ-साथ सुसज्जित, सुविधाजनक और देखने मे सुन्दर थे।

उत्तर-पाषाणयुगीन मनुष्य की उन्नतिशील बुद्धिमत्ता की विशेष उल्लेखनीय उपलब्धि अग्नि का आविष्कार था। अग्नि के आविष्कार ने उत्तर-पाषाणयुगीन

मनुष्य-जीवन की चहुँमुखी उन्नति के द्वार खोल दिये। आग के प्राप्त हो जाने के बाद उसने अपनी सुरक्षा तथा सुविधा के अनेक उपाय ढूँढ़ निकाले। उसके द्वारा एक ओर तो उसने शीतकाल के कष्टों से मुक्ति पायी और दूसरी ओर उसने अग्नि के द्वारा वन्य पशुओं से अपने को बचाया। प्रारम्भ में वह कच्चे मांस से ही उदर-पूर्ति करता था; किन्तु अब मास पकाने, भोजन बनाने तथा मृत्तिका भाण्डों को तपाने के लिए उसने आग का उपयोग किया।

इस प्रकार मनुष्य ने परिस्थितियों और वातावरण को अपने अनुकूल बनाते हुए निरन्तर नये अविष्कारो तथा जीवनोपयोगी सुविधाओं का निर्माण कर सभ्यता और संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास किया। इससे पूर्व वह सहयोग तथा सगठन की भावना से अपरिचित था। अकेले ही वह परिस्थितियो तथा बाधाओं से निबटता रहा। मध्य-पाषाण-युग मे उसने सहयोग तथा संगठन की उपयोगिता को अनुभव किया और उत्तर-पाषाण-युग मे वह एक सुदृढ संगठन मे आबद्ध हो चुका था। इस जन-सहयोग ने सामाजिक जीवन की नीव डाली। इसी से जन-जीवन मे पारस्परिक कार्य-विभाजन की नयी आर्थिक व्यवस्था का जन्म हुआ, जिसके फलस्वरूप परम्परागत उद्योग-व्यवसायो का वर्गीकरण हुआ। जिनकी जिस व्यवसाय मे अधिक अभिरुचि तथा दक्षता थी, उन्हे उसका स्वामित्व प्रदान किया गया। समाज मे निरन्तर बढती हुई इस औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रगति ने नये आर्थिक संगठन का निर्माण किया। उससे पारस्परिक प्रतियोगिता की भावना जगी और उसने मनुष्य को अधिकाधिक श्रम अर्जित करने के लिए प्रेरित किया। श्रम की इस सामाजीकरण पद्धति ने 'परिवार-सस्था' को जन्म दिया। 'समाज-सस्था' के सचालक को 'नेता' और 'परिवार-सस्था' के सचालक को 'पिता' की मान्यता प्राप्त हुई।

इस प्रकार उत्तर-पाषाण-युग की व्यवस्थित जीवन-पद्धति ने समाज में अनुशासन, प्रेम, सहानुभूति तथा पारस्परिक सहयोग को बढावा देकर एक विकासशील सास्कृतिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इसके साथ ही भौतिक जीवन में स्वार्थ-स्वहित की भावना को बढाया। अन्न तथा पशुओं की उपयोगिता ने मनुष्य मे सचय एव संग्रह की प्रवृत्ति को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप 'सम्पत्ति' की लिप्सा का उदय हुआ। उससे समाज मे धनिक तथा निर्धन का विभेद उत्पन्न हुआ। इस आर्थिक असमानता ने वर्ग-सघर्ष की नीव डाली। यद्यपि यह वर्ग-सघर्ष अधिकारो की अधिकाधिक स्वायत्तता को उभारता गया, फिर भी उससे उसकी प्रगति मे किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नही हुआ।

इस प्रकार आदिम मनुष्य के पाषाण-युग तक के जीवन-क्रम पर विचार करते हुए पहली बात, जो सामने आती है, वह यह है कि जोखिम और साहस के बल पर अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए वह निरन्तर आगे बढकर नये-नये अनुभवों को समेटता गया। अपनी आदिम अवस्था में तो वह केवल प्रकृति पर भी अवलम्बित था। प्राकृत धर्मों से अभ्यस्त होकर उसने धीरे-धीरे उनकी अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का रहस्य हृदयगम किया। ऋतुओं, जलवायु, आकाश-मण्डल और वनस्पतियों के निरन्तर साहचर्य के कारण आदिम मनुष्य ने उनके प्रभावो तथा प्रतिक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया। सभ्यता के इस नवोन्मेष ने मनुष्य को खगोलविद्या, जलवायु विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान और आयुर्वेद विज्ञान की खोज के लिए प्रेरित एव उत्साहित किया; कृषि, पशुपालन तथा वन्य प्राकृत सम्पदा के उपयोग से कृषिशास्त्र, पशुविद्या और वनस्पतिशास्त्र के आधुनिक विकास-क्रम की भूमिका की आधारशिला रखी।

प्राकृतिक धर्मों पर अवलम्बित होने के कारण आदिम मनुष्य जन्मत: ही एक अदृष्ट भय का दास बना हुआ था। इस अदृष्ट भय ने उसमे अनेक प्रकार के अन्धविश्वासो को जन्म दिया। उनके निवारण के लिए उसने एक ऐसी शक्ति पर विश्वास किया, जो उसकी आधि-व्याधियो तथा प्राकृतिक प्रकोपो का उपशमन करने मे सक्षम थी। उसके शव-दाह के सस्कार ने कदाचित् उसमें मरणोपरान्त लोकोत्तर जीवन की जिज्ञासा को जगाया। शवो की सुरक्षा के लिए निर्मित समाधियो, मृत्तिका पात्रो पर रखी हुई भस्म और शवो को दफनाने के दिशा-ज्ञान से एक ओर तो यह विदित होता है कि आदिम मनुष्य ने मृत व्यक्तियो की स्मृति मे स्मारक निर्माण किये। दूसरे, इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसके अन्त:करण मे धर्म का भी स्फुरण हो गया था। मृत व्यक्ति के प्रति उसके श्रद्धाभाव का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि उसे लोकोत्तर जीवन का आभास हो चुका था।

धातुयुगीन सभ्यता-सस्कृति

आदिम मनुष्य अपनी निरन्तर प्रगति से पाषाणयुगीन सभ्यता से धातुयुगीन सभ्यता मे प्रविष्ट हुआ। अग्नि के आविष्कार ने मनुष्य को इस उन्नत धातु युग की दिशा मे अग्रसर किया। अपनी पाषाणयुगीन सभ्यता को धातुयुगीन सभ्यता में परिवर्तित करके एक ओर तो उसने अपने हथियारो तथा औजारो को अधिक कारगर तथा वैज्ञानिक बनाया और दूसरी ओर आर्थिक प्रगति की दिशा में नये रचनात्मक कार्य किये। इस धातुप्रधान युग में सर्व प्रथम ताम्र

का, फिर कांस्य का और उसके बाद लौह का उपयोग हुआ। ताम्र-युग तथा कांस्य-युग की सभ्यता का अधिक प्रभाव उत्तर भारत मे ही था। लौह-युग की सभ्यता प्रधानतया दक्षिण भारत तक ही सीमित रही।

धातुयुगीन सभ्यता ने तत्कालीन सामाजिक जीवन का अधिक सुव्यवस्थित एवं सुगठित विकास किया। लौह-युग वास्तव मे प्रागैतिहासिक भारत के पुनरुत्थान का युग है। लोहे की उपलब्धि ने मानव-सभ्यता के नये युग के द्वार खोले।

भारत में धातुयुगीन सभ्यता की जो सामग्री गगा-यमुना के दो-आब से प्राप्त हुई उसका विशेष महत्त्व है। इस सामग्री मे कुल्हाडियाँ, तलवारे, कटारें, हार्पून्स और छल्ले आदि वस्तुएँ प्रमुख हैं। इस सामग्री के अनुसन्धायक विद्वानों का अभिमत है कि सिन्धु-सभ्यता से प्राप्त सामग्री से वह सर्वथा भिन्न है। यह सामग्री लगभग ईरान, काकेशस प्रदेश और डेन्यूब घाटी से उपलब्ध सामग्री जैसी है, जिसका समय 1300 ई० पूर्व निर्धारित किया गया है। किन्तु भारत मे जो सामग्री प्राप्त हुई है उसका समय 300-100 ई० पूर्व के मध्य का है।

इतिहासकारो तथा पुरातत्ववेत्ताओ को एक नगरविहीन सभ्यता और अविकसित अर्धकृषक संस्कृति के रूप मे आदिम आर्य कबीलो से सर्व प्रथम परिचय हुआ। इस सभ्यता मे कांसे तथा तामे की वस्तुओ का प्रचुर उपयोग, अन्नोत्पादन के प्रमाण, दुधारू पशु, घोड़े, रथ, गाडियाँ, हल, ऊन, कताई-बिनाई और एक ऐसा कबीला, जिसमे पैतृक मुखिया का अस्तित्व था, सर्व प्रथम प्रकाश में आयी। वह मुखियाप्रधान कबीला प्रकृतिपूजक और बलि मे विश्वास रखता था।

पूर्वैतिहासिक भित्तिचित्र

मानव जाति के इतिहास का आरम्भ सघर्षों तथा युद्धो से हुआ है। विश्व साहित्य के प्रथम काव्यो मे, जो कि स्वय मे इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्यो को भी समेटे हुए हैं, इसी वीर-भावना का समावेश हुआ मिलता है। आदिम मनुष्य की क्रूरताओ तथा युद्ध-लिप्साओ को कम करने और उनमे सभ्यता तथा सद्भाव की उत्कण्ठा का स्फुरण करने मे कला का ही एकमात्र योगदान रहा है। कला की जिज्ञासा ने मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने और उनमे पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करने का कार्य किया। यही कारण है कि

आधुनिक इतिहासविदों एवं पुरातत्त्वज्ञों ने मानव-सभ्यता की खोज के लिए कला को महत्त्वपूर्ण साधन के रूप मे ग्रहण किया है ।

आदिम मानव-सभ्यता में कला की उत्प्रेरणा का उदय कब और कैसे हुआ, इसका इतिहास यद्यपि पर्याप्त अस्पष्ट एव बिखरे हुए रूप में उपलब्ध होता है, तथापि विद्वानों की धारणा है कि मनुष्य ने इस पृथ्वी में जिस अतीत वेला मे नयनोन्मीलन किया, तभी से कला के प्रति उसकी जिज्ञासा स्वाभाविक रूप में प्रस्फुटित हुई । उसके इस कलानुराग के विभिन्न उपादान प्रागैतिहासिक सभ्यता के अवशेषो में उपलब्ध हुए हैं । ये कला-उपादान चट्टानों, नदी-तटों और गुफाओ से प्राप्त हुए हैं ।

भारत के विभिन्न अंचलों से कला के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनका परीक्षण करने पर विद्वानो ने उनका समय 3000 ई० पूर्व से भी पहले का सिद्ध किया है । इस प्रकार की सामग्री विशेष रूप से मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश से उपलब्ध हुई है । 1863 ई० मे मद्रास के समीप प्राप्त कलापूर्ण शिलाखण्डो को भी प्रागैतिहासिक महत्त्व दिया गया है । इसके अतिरिक्त, तमिलनाडु, आंध्र, छोटा नागपुर, उड़ीसा और नर्मदा उपत्यका के पाषाणचित्रो, मृण्मूर्तियो तथा मृत्तिका पात्रो को भी प्रागैतिहासिक महत्त्व का माना गया है ।

प्रागैतिहासिक कला की सजीव परम्परा के आदिम अवशेष विशेष रूप से उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं । इन दोनो प्रदेशो के विभिन्न स्थानो से कुछ ऐसी गुफाएँ प्राप्त हुई हैं, जो चित्रांकित हैं; किन्तु जिनकी ऐतिहासिकता के प्रति विद्वानों मे मतभेद है । इस प्रकार की चित्रांकित गुफाओं के चार प्रमुख केन्द्र हैं—

मध्य प्रदेश —1. महादेव की पहाड़ियाँ और 2. रायगढ़ की पहाड़ियाँ ।
उत्तर प्रदेश —3. मीरजापुर और 4. बाँदा जिला ।

इन गुफाओ को आदिम मनुष्य ने अपने रहने के लिए निर्मित किया था । इनके भीतर खण्डित मृत्पात्र, कोयले और शस्त्रास्त्र उपलब्ध हुए हैं । गुफाओं की भित्तियो को चित्रों से सज्जित किया गया है । ये चित्रांकित भित्तियाँ यद्यपि अधिकतर जीर्ण-शीर्ण और उपहत हो चुकी हैं; फिर भी उनमें बचे चित्रों के आधार पर विद्वानो ने मानव-जीवन तथा उसके कल्पना सम्बन्धी अनेक तथ्यो को खोज निकाला है ।

1. **महादेव की पहाड़ियाँ**—ये पहाडियाँ मध्य प्रदेश के होशगाबाद जिले में हैं। उनके निकट ग्रादमगढ और पंचमढी की पहाडियों में भी चित्र अवस्थित है। इस विषय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री पचमढी से प्राप्त हुई है। यह सामग्री वहाँ के प्रसिद्ध महादेव पर्वत के चारों ओर अवस्थित डोरोकीदीप, महादेव बाजार, सोनभद्रा, चम्बूदीप, निम्बूभोज, मारोदेव, बनियाबेरी, तामिया और झालाई आदि विभिन्न स्थानो की चित्रित गुफाओ से प्राप्त हुई हैं। इन पर्वत-गुफाओं मे पशु-चित्रो की अधिकता है। पशुओ मे हाथी, घोडा, बैल, कुत्ता, बकरी, सिंह, हरिण, रीछ, तेंदुआ, चीता और सुअर आदि की छबियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कही वे अपने स्वामी के घर पर बैठे हुए हैं तो कही शिकारी उनका आखेट कर रहे है। शिकारी धनुष-बाण धारण किये हुए हैं। एक दृश्य मे कुछ धनुर्धारी तथा अश्वारोही दो दलो मे विभक्त होकर पारस्परिक युद्ध करते हुए चित्रित हैं। इस चित्र-सामग्री मे एक ऐसा भी दृश्य है, जिसमे पिछले पैरों पर खडा होकर एक बन्दर बांसुरी बजा रहा है और उसके पास ही तालियाँ बजाता हुआ एक व्यक्ति ताल के साथ नाच रहा है। इस दृश्य मे जीवन की उल्लासमयता के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर स्वस्तिकाकार रेखांकन किया गया है, जिसके निकट पूजा करते कुछ मनुष्य खडे हैं। इनके अतिरिक्त वन मे पशुओ को चराते हुए चरवाहे, वन मे विचरण करते हुए बैल, घोडे, कुत्ते और बकरी आदि पालतू पशु और छत्ते से मधु निकालते हुए लोग आदि अनेक दृश्य भित्तियो पर चित्रांकित हैं।

इन चित्रो मे विशेष रूप से मनुष्यों और पशुओ के बीच के परम्परागत सम्बन्धो को आकर्षक ढग से अकित किया गया है। पूजाभाव से एकत्र मनुष्यो के एक दृश्य से ज्ञात होता है कि धर्म के प्रति मनुष्य की प्रवृत्ति अति पुरातन है। इन चित्राकनो से तत्कालीन जन-जीवन की मूर्त एव सजीव सस्कृति के भी दर्शन होते हैं, और इस दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व है।

2. **रायगढ़**—मध्य प्रदेश स्थित रायगढ की सिंहनपुर और कबरा पर्वत की गुफाएँ भारतीय चित्रकला की प्राचीनतम उपलब्धियाँ हैं। इन गुफाओ मे भी मनुष्यो और पशुओ के चित्रो की अधिकता है। सिंहनपुर के एक चित्र मे कुछ मनुष्य किसी विशालकाय पशु को निर्ममता के साथ लाठियो से मार रहे है। उसके समीप ही एक अन्य पशु अकित है। कबरा की गुफाओ मे भी इसी प्रकार के आखेट-दृश्य अंकित हैं। किन्तु उनमे कई चित्र क्षत-विक्षत तथा धुंधले पड़ गये है।

3. **मीरजापुर**—भारतीय चित्रकला की प्राचीनतम उपलब्धियों में उत्तर प्रदेश स्थित मीरजापुर की सोनघाटी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन गुफाओं में विभिन्न विषयक चित्र प्राप्त हुए हैं। उनमें प्रमुखता आखेट-चित्रों की है। एक चित्र में जाल द्वारा पशुओं को पकड़ने का दृश्य अंकित है। दूसरे चित्र मे कुछ धनुर्धारी अश्वारोही एक हाथी को पकड़ते हुए दिखाये गये हैं। एक अन्य दृश्य में आहत शूकर का अत्यन्त सजीव चित्र है। एक चित्र-समूह मे सिंह की आकृति भी अंकित है।

मीरजापुर के इन गुफा-चित्रों का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उनका ऐतिहासिक साक्ष्य भी प्राप्त है। वहाँ की एक चित्रांकित गुफा मे लगभग दो दर्जन अभिलेख उपलब्ध हुए है। ये अभिलेख 500-800 ई० के बीच के हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ की अधिकतर गुफाओ का निर्माण इन्ही शतियो मे हुआ। लेखो के आधार पर कहा जा सकता है कि वे पूर्वैतिहासिक युग की नही हैं।

4. **बाँदा**—उत्तर प्रदेश स्थित बांदा जिले के सरहाट, करियाकुण्ड, कर्पटिया, मानिकपुर तथा मालवा आदि स्थानो की गुफाओ से भी प्राचीन महत्त्वपूर्ण चित्र प्राप्त हुए हैं। इनमे मानव और पशु दोनों ही चित्रित किये गये हैं। किन्तु प्रधानता पशु-चित्रो की है। सरहाट मे लाल मिट्टी के रंग से अंकित तीन अश्वो का दृश्य विशेष उल्लेखनीय है। मालवा मे एक ऐसी गाडी या रथ का चित्र है, जिसके पहिये नही हैं और जिसमें कोई सम्भ्रान्त व्यक्ति रथ पर आरूढ है। रथ के पृष्ठ भाग में एक छत्रधारी एव दोनो पार्श्वों मे धनुष-बाण तथा दण्ड धारण किये हुए दो अंग-रक्षक भी अंकित हैं। यह चित्र सम्भवतः उस शासक या सरक्षक का है, जिसका इन गुफाओ के निर्माण मे योगदान था। करियाकुण्ड मे एक ऐसा दृश्य है, जिसमे कुछ धनुर्धारी अश्वारोही पशुओ का पीछा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। अन्य दृश्यो मे मनुष्यो तथा पशुओ का अंकन है, किन्तु उनमे से अनेक धुंधले पड़ गये हैं।

उक्त चारो स्थानों के गुफाचित्रो के काल के सम्बन्ध मे, विद्वानो में मतभेद है। आरम्भिक खोजो के आधार पर उनका समय 600-1000 ई० के बीच निर्धारित किया गया था। उसके बाद के परीक्षणों मे उन्हें 400 ई० से पहले का सिद्ध किया गया है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि इन गुफाओ में धातु-सामग्री के अभाव तथा माइक्रोलिथ-सामग्री के प्राप्त होने के कारण उनका समय 500 ई० पूर्व के लगभग है।

• • •

पाँच/सिन्धु सभ्यता का युग

सिन्धु सभ्यता की पृष्ठभूमि

भारतीय भू-खण्ड मे प्रवेश करने वाली श्रादिम जातियाँ

विश्व के इतिहासकारो और नृतत्त्वज्ञ विद्वानो के समक्ष मूल मानववश और उसकी प्रजातियो के विकास-क्रम का इतिहास अत्यन्त ही जटिल और विवादास्पद रहा है। कुछ विद्वानो की दृष्टि मे इस पृथ्वी पर मानव के निवास को लगभग दस लाख वर्ष बीत चुके है। यह मन्तव्य भले ही अतिरंजनायुक्त प्रतीत हो, किन्तु इसमे भी सन्देह नही कि इस भू-मण्डल पर मनुष्य को आबाद हुए इतना अधिक समय हो गया है, जिसको केवल कल्पना द्वारा ही अनुमानित किया जा सकता है।

भारत की मूल जातियाँ और समय-समय पर बाहर से आने वाले अनेक कबीलो ने मिलकर अपने दीर्घकालीन इतिहास मे ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि उनकी ठीक-ठीक सख्या को निर्धारित कर सकना सम्प्रति दुष्कर हो गया है। उनके मूल उद्गम की खोज करने वाले विद्वानो की स्थापनाएँ इतनी अधिक और वैभिन्यपूर्ण हैं कि उनका समन्वय बैठाना एक समस्या बन गयी है। यह समस्या निराधार नही है, क्योकि निरन्तर जो नये तथ्य प्रकाश मे आ रहे है, उन्होंने पुरानी मान्यताओ को एक प्रकार से निरस्त कर दिया है, जिससे कि स्वभावतः विचारो की स्थिरता और एकता विखण्डित हो गयी है।

भारत के जातीय इतिहास को दृष्टि मे रखकर निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे ही बाहर से अनेक जातियो का भारत मे प्रवेश होना आरम्भ हो गया था। इससे यह भी ध्वनित होता है कि भारत मे प्रविष्ट इन विभिन्न आदिम कबीलो को कदाचित् भारत के आवास की सुख-सुविधाओ का पूर्वानुभव था। भारत मे इस प्रकार के विभिन्न आदिम कबीले वर्तमान हैं। उनमे कुछ तो ऐसे हैं, जो हिन्दू प्रभाव से सर्वथा अछूते हैं और कुछ ऐसे हैं, जो हिन्दुत्व के अन्तर्गत परिगणित होते हुए भी अछूत या बहिर्गत जातियो

के रूप में विद्यमान हैं। ये जातियाँ अरुणाचल, मेघालय, तमिलनाडु, असम, हैदराबाद, मैसूर, बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश के विभिन्न अंचलों में बिखरी हुई हैं। इन आदिम जातियो के अलगाव तथा सम्मिश्रण से भारतीय संस्कृति के विभाजन तथा सम्मिश्रण का मूल आधार बनता है।

डॉक्टर डी० एन० मजुमदार ने भारत की आदिम कबीली जनता को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है: 1. पश्चिमोत्तर प्रान्त के भागो के कबीले, 2 उत्तर-पूर्वी सीमान्त के कबीले और 3. अन्तःस्थित कबीले। प्रथम श्रेणी के कबीलों मे उन्होने अफगान और बलोचो का समावेश किया है। इनका वर्तमान अस्तित्व पाकिस्तान तथा सीमाप्रदेश मे विद्यमान है। दूसरी श्रेणी के कबीलों का मूल मंगोलीय है। वे तिब्बती-चीनी परिवार की बोलियाँ बोलते हैं, जिनमें कही-कही योन, ख्मेर और असमी का भी सम्मिश्रण है। तीसरा समूह संख्या की दृष्टि से सबसे बडा है और तीन भागो मे विभक्त है—1. भील-कोली समूह, 2. गोड-कोया समूह और 3. मुण्डा समूह। इनमें पिछला समूह आस्ट्रिक आधार पर प्रस्थापित हिन्द-आर्य भाषा, दूसरा द्रविड बोलियाँ और तीसरा आस्ट्रिक परिवार की भाषाओ के आस्ट्रो-एशियाई उप परिवार की मुण्डा बोलियाँ बोलते है (भारतीय सस्कृति के उपादान, पृ०-94)।

इतिहासकारो एव नृतत्त्वज्ञ विद्वानो ने भारत की आदिम जातियो को छह वर्गों मे विभाजित किया है—

1. निग्रेटो (Negreto)
2. प्रोटो-आस्ट्रेलायड (Proto-Australoid)
3 मगोलायड (Mongoloid)
4. भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
5. पश्चिमी-ब्रेचीसेफल (Western Brachycephals)
6. नार्दिक (Nordic)

इन छह आदिम जातियो मे अन्त की पश्चिमी ब्रेचीसेफल और नार्दिक जातियो की सभ्यता-सस्कृति की कोई भी विरासत भारत को उपलब्ध नही हुई है।

भाषा की दृष्टि से इन आदिम जाति-कबीलों को तीन विभिन्न परिवारों मे इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है—

1. **आस्ट्रो-एशियाई भाषा परिवार**—इसमे मुण्डा, हो, सन्थाल, खड़िया, कोरवा और गडबा को परिगणित किया गया है।

2. **द्रविड़ भाषा परिवार**—इसमें उरांव, मलेर, खोड, सावरा, परजा, कोया, पनियन, चेम्पू, इरूला, कादिर, मलसेर और मलरियन सम्मिलित हैं।

3. **तिब्बती चीनी भाषा परिवार**—इसके अन्तर्गत नागा, गारो, कूकी, मिकिर, दफला, अबोर और खासी की गणना की गयी है।

भारत भूमि मे, बाहर से सर्व प्रथम प्रवेश करने वाली आदिम जाति निग्रो या निग्रेटो है। यह जाति उष: प्रस्तर युग में अफ्रीका से चलकर ईरान होती हुई भारत में प्रविष्ट हुई। डॉ० डी० एन० मजुमदार (भारतीय संस्कृति के उपादान, पृ० 92) का अभिमत है कि भारतीय मूल के इन घुंघराले बालों, नाटे कद और मझले कपाल वाले निग्रो या निग्रेटो लोगो ने बहुत बाद मे भारत मे प्रवेश किया और उनके इन शारीरिक लक्षणो का अफ्रीकी स्रोत है।

भारत मे इस जाति की वर्तमान वश-परम्परा इरूला, कादिर, कसम्बा और पनियन आदि दाक्षिणात्य जातियो (ट्रावनकोर-कोचीन) के रूप मे जीवित है। असम तथा मेघालय की नागा जाति मे भी उसके अवशेष है।

निग्रो के बाद फिलस्तीन (भू-मध्य सागर) के प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति के लोग भारत मे आये। आस्ट्रिक या आग्नेय इसी जाति की प्राचीन शाखा थी। इस आदिम जाति के लोगों के वशधर सम्प्रति भारत मे कोल, भील, मुण्डा आदि निम्न एवं अविकसित जातियो के रूप मे विद्यमान है। इनका विस्तार श्रीलंका तक हुआ, जहाँ इन्हे आज 'व्याध' के नाम से कहा जाता है। ये आस्ट्रिक जाति के लोग आर्यों के सम्पर्क मे आकर आर्यभाषी हो गये थे और ऋग्वैदिक सम्यता के निर्माण मे उनका भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

पुरातन भारत मे बाहर से प्रवेश करने वाली तीसरी महत्त्वपूर्ण जाति द्रविड थी। भू-मध्य सागर की ईजियन (प्रोटो आस्ट्रेलायड) और पश्चिम एशिया माइनर की आर्मेनाइड जातियो ने परस्पर विलयित होकर द्रविड जाति को जन्म दिया। इसी विलयित रूप मे वह भारत मे प्रविष्ट हुई और इसी 'द्रविड' नाम से प्रख्यात हुई। भू-मध्य सागर की प्रोटो-आस्ट्रेलायड तथा द्रविड, दोनो आदिम जातियाँ भारत मे लम्बे समय तक एक साथ रही। प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति की ग्रामप्रधान सस्कृति को द्रविड़ो ने नागरिक सस्कृति मे परिवर्तित कर अपना सांस्कृतिक विकास किया।

भारत में इधर-उधर भटकते हुए धीरे-धीरे द्रविड़ो ने पंजाब से असम तक और समस्त उत्तर भारत मे फैलकर बाद मे वे वहाँ की विभिन्न मूल जातियो

में विलयित हो गये । जब वे भारत मे आये तो आर्यों ने उन्हें निषाद नाम से अभिहित किया । बलूचिस्तान में ब्राहुई भाषा के रूप मे उनका अस्तित्व आज भी वर्तमान है । एक समय द्रविड़ों का प्रभाव पंजाब, सिन्ध, मालवा, महाराष्ट्र और असम तक व्याप्त था । गगा-यमुना के दो-आब तथा बगाल मे भी उनके अस्तित्व की छाप वर्तमान सम्मिश्रित भाषाओ के रूप में वर्तमान है । दक्षिण की वर्तमान भाषाओ का उद्गम द्रविड भाषा से ही हुआ । आज भारत मे उनका अस्तित्व आर्यभाषी हिन्दू-मुसलमान, दोनो जातियो के रूप में बना हुआ है ।

इस द्रविड जाति के लोग अनेक शिल्पो, कलाओ और व्यवसायो मे कुशल थे । उन्होने सिन्धु-घाटी मे हड़प्पा तथा मोहेनजोदडो की प्रागैतिहासिक सभ्यता, सस्कृति के निर्माण मे अपने असाधारण कौशल और बुद्धि-वैभव का परिचय दिया ।

द्रविड ही भारत मे सर्व प्रथम नगरो के निर्माता थे । उन्होंने विशाल एवं भव्य नगरो का निर्माण कराया और सामुद्रिक मार्गों द्वारा भारतीय व्यापार को एशिया के अनेक देशो मे फैलाया । विश्व की सुसम्पन्न, उन्नत एव सुसंस्कृत आदिम जातियो मे द्रविड ही एकमात्र ऐमी जाति थी, जिसने सर्व प्रथम नदियों पर बांध बाँधे और पुलो का निर्माण किया । ये कार्य उन्होंने कृषि जीवन की उन्नति के लिए किये । यद्यपि द्रविड़ों के पूर्ववर्ती प्रोटो-आस्ट्रेलायड लोग भी कृषिजीवी थे, किन्तु द्रविडो ने ही सर्व प्रथम कृषि के वैज्ञानिक साधनो का आविष्कार किया ।

व्यापारिक और कृषि-उन्नति के साथ-साथ द्रविडो ने धातुओ के नवीन प्रयोगों द्वारा देश मे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित किया । उत्खननो से प्राप्त विभिन्न धातुओ से निर्मित अनेक प्रकार के आभूषण उनकी कार्यकुशलता के द्योतक है । इन आभूषणो के द्वारा उनके परिष्कृत कलानुराग का भी पता चलता है । वे कताई, बिनाई और रगाई की कलाओ मे भी दक्ष थे । पक्की ईंटो तथा पत्थरो द्वारा निर्मित विशाल भवनो के जो अवशेष मिले हैं, उनके द्वारा सहज ही उनके वास्तुविद्या की निपुणता प्रकट होती है । अनेक प्रकार के मृत्भाण्डो तथा छोटे-छोटे बर्तनो और खिलौनो के उपलब्ध नमूनो से विदित होता है कि द्रविड़ो के समय मृत्तिका कला अपनी चरम उन्नति पर थी ।

सामाजिक सगठन और प्रशासनिक व्यवस्था की दृष्टि से भी द्रविड पर्याप्त प्रगति पर थे । उनकी शासन-व्यवस्था ग्रामो से आरम्भ होकर नगरों तक व्याप्त

थी। उनमें अनेकराट् शासन-प्रणाली प्रचलित थी, जिसके अनुसार उत्तर और दक्षिण का प्रशासन स्वतंत्र राजधानियों द्वारा होता था। एक की राजधानी हड़प्पा और दूसरी की मोहेनजोदड़ो थी। वे ईंटों तथा पत्थरो से निर्मित सुदृढ विशाल दुर्गों मे रहते थे। वे युद्धकुशल भी थे और उनके द्वारा निर्मित तथा प्रयुक्त धनुष, बाण, तलवार, भाले, बर्छे तथा कुल्हाडी आदि अनेक प्रकार के हथियार खुदाइयो से प्राप्त हुए हैं।

द्रविडों की वश-परम्परा मातृप्रधान थी, जिस पर वैदिक प्रभाव लक्षित होता है। वैदिक सुरो (आदित्यो) और असुरो (दैत्यों) की वश-परम्परा मातृ-प्रधान थी। दिति के नाम से दैत्यों और अदिति के नाम के आदित्यो की वश-परम्परा प्रवर्तित हुई। द्रविडो ने उसी के अनुकरण पर अपनी वश-शाखा को प्रवर्तित किया। दक्षिण भारत मे आज भी इस मातृप्रधान प्रथा के वशधर विद्यमान हैं। उनकी एकमात्र आराध्या मातृदेवी इसी वश-परम्परा की प्रतीक हैं। वे पशुपति शिव के भी आराधक थे। द्रविडो की इस शक्ति-शिव-पूजा के फलस्वरूप आगे चलकर आर्यो तथा आर्येतरो के साम्कृतिक समन्वय की स्थायी भूमिका तैयार हुई। द्रविडो को लिंग-पूजा की विरासत प्रोटो-आस्ट्रेलायडो से मिली थी। वे पशुपूजक और वृक्षपूजक भी थे। उनके नागपूजक होने के भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए है। द्रविडो द्वारा स्थापित पशु-पूजा की परम्परा को आर्यों ने व्यापक रूप से अपनाया और गाय, गणेश, हनुमान, गरुड तथा नाग आदि के पूजन की जो परम्परा भारत मे आज भी बनी हुई है, उसके मूल प्रवर्तक द्रविड ही थे।

सिन्धु सभ्यता

1922 ई० मे सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो ने विश्व-सभ्यता के इतिहास को एक और नया अध्याय अर्पित किया। उसके द्वारा भारत की उच्च मेधा और उसके चरमोन्नत ज्ञान-विज्ञान की विपुल विरासत से विश्व का सर्व प्रथम परिचय हुआ। इस सभ्यता को प्रकाश मे आये अभी केवल अर्घ शताब्दी हुई। इस महान् सभ्यता के परिचायक दो विलुप्त नगरो हड़प्पा और मोहेनजोदडो का पता लग जाने के अनन्तर विश्व के इतिहासज्ञ विद्वानों को भारतीय इतिहास पर नये शिरे से विचार करने के लिए बाध्य होना पडा। गत 1920 ई० मे पुरातत्त्वज्ञ श्री माधोस्वरूप वत्स और श्री दयाराम साहनी ने हड़प्पा नगर का उत्खनन किया। यह नगर सम्प्रति पाकिस्तान के मुलतान जिले मे है। उसके दो वर्ष बाद 1922 ई०

में तीसरे पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् डॉ० राखालदास बनर्जी ने मोहेनजोदड़ो नामक दूसरे नगर की खुदाई की। इस नाम के ढूह सिन्धु (पाकिस्तान) के लरकना जिले में अवस्थित हैं। इन दोनों नगरों की दूरी लगभग 400 मील है। इन उत्साहवर्द्धक उपलब्धियो से प्रेरित होकर 1925 ई० मे श्री अर्नेस्ट मैके ने मोहेनजोदडो से 80 मील दक्षिण-पश्चिम में इसी सभ्यता के एक अन्य केन्द्र चान्हूदडो मे खुदाई की। इतने विस्तृत क्षेत्र मे फैली इस महान् सभ्यता के परिचायक उक्त तीन केन्द्रो के प्रकाश मे आ जाने के बाद विद्वानो ने उसका विस्तार शिमला की पहाडियों से लेकर काठियावाड तक सिद्ध किया। "सिन्धु-घाटी-सभ्यता पश्चिम मे उत्तरी बलूचिस्तान और सतलज नदी के किनारे-किनारे उत्तर मे हिमालय की निचली पहाडियों तक और पूर्व मे बहावलपुर मे सरस्वती नदी के किनारे-किनारे तक फैली थी" (मुकर्जी : भारत की सस्कृति और कला, पृ० 43)। इस क्षत्र के अन्तर्गत उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त, पंजाब, सिन्ध, राजपूताना और गगा घाटी का विस्तृत भू-भाग सम्मिलित था। इस भू-खण्ड के निवासियो द्वारा निर्मित सभ्यता के दो भव्य केन्द्र हडप्पा और मोहेनजोदडो सम्भवतः राजधानियाँ थी, जिनका शासन दो विभिन्न शासको के हाथ मे था।

इस सभ्यता के अनुसन्धायक अन्य पुरातत्त्वज्ञ, इतिहासविद् और नृतत्त्वज्ञ विद्वानो मे डॉ० डी० एन० मजुमदार, सर अरियल स्टीन, एच० हारग्रीब्ज, पिगट, ह्वीलर, अमलानन्द घोष और ब्रजवासीलाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता के प्रकाश मे आ जाने के बाद एक ओर तो ऋग्वैदिक सभ्यता की पूर्वापरता पर विद्वानो ने नये सिरे से विचार किया और दूसरी ओर मानव प्रजाति के इतिहास को नया आलोक मिला। हडप्पा, मोहेनजोदडो और चान्हूदडो नगरो की खुदाइयो से प्राप्त लगभग पचास अस्थिपजरो की तुलनात्मक परीक्षा करने पर विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला कि उनका सम्बन्ध भारत मे आने वाली चार विभिन्न आदिम जातियो मे है। उनके नाम ये—प्रोटो-आस्ट्रेलायड, भूमध्यसागरीय, मगोलियन और आल्पाइन। इस रूप में यद्यपि सिन्धु-सभ्यता के निर्माण मे इन चारो आदिम जातियो का योगदान रहा; किन्तु उनमे प्रधानता भूमध्यसागरीय जातियो की थी। शेष तीन जातियों की सभ्यताओ को अपने अन्तराल मे समाहित कर इस आभिजात्य जाति ने भारत भूमि पर अपनी अत्यन्त उन्नत, सम्पन्न एव सुसस्कृत विरासत को संस्थापित किया।

विद्वानों का अभिमत है कि मोहेनजोदड़ो से प्राप्त पानी के निकास के साधनों, बाँधों के निर्माण कार्यों, मिट्टी के बर्तनों, काँसे की वस्तुओं और पकायी गयी ईंटों के उपकरणों का उत्तर-पश्चिम भूमध्यसागरीय सभ्यता की उपलब्ध सामग्री से सादृश्य है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता का मूल उद्‌गम द्रविड था और उनका प्रजातीय प्रसार सम्भवत: भूमध्यसागर से हुआ था।

इस सिन्धु-सभ्यता का प्रसार अरब सागर से लेकर शिमला की पहाड़ियों तक व्याप्त था। हडप्पा और मोहेनजोदडो उसके दो प्रधान केन्द्र थे। कई दृष्टियो मे यह सभ्यता ईरानी तथा सुमेरी सभ्यताओ से उन्नतर थी। सुमेर के साथ सिन्धुवासियों के व्यापारिक सम्बन्ध होने के कारण यद्यपि सिन्धु सभ्यता पर मेसोपोटामिया की सभ्यता का प्रभाव पडा, किन्तु अपने मूल रूप मे उसकी अखण्डता सतत सुरक्षित बनी रही।

भारत मे इस इतनी अत्युन्नत सभ्यता का उदय एकाएक नही हुआ। वस्तुत: वह प्रागैतिहासिक धातुयुगीन सभ्यता का ही विकसित रूप थी। इस सभ्यता का नागरिक जीवन के अभ्युत्थान में विशेष योगदान रहा। उपलब्ध सामग्री से विदित होता है कि विशाल नगर, ईंट-पत्थरो द्वारा निर्मित भवन एव दुर्ग, चौडी पक्की सडके, नालियाँ, सुन्दर स्नानागार, सुन्दर अलकृत मृत्पात्र, पशु-अकित मुद्राएँ सिन्धुवासियो की परम्परागत उन्नति के परिचायक थे। उनकी इन समुन्नतियो के मूल मे निश्चित ही उनके सुविचारित, सुविज्ञ एव सुनिश्चित कार्यक्रम निहित थे। हडप्पा, मोहेनजोदडो, चान्हूदडो और लोहमजूदडो अन्य देशो के प्रमुख नगरो की भाँति नदियो के तट पर स्थित थे। यद्यपि नगर निर्माण की उनकी वैज्ञानिक सूझ ने उनको अनेक प्रकार से लाभान्वित किया होगा, फिर भी यह निश्चित है कि इन नदियो के कारण तटवर्ती नगरो को बार-बार व्यापक क्षति पहुँची होगी। मोहेनजोदडो नगर दो बार बना और दो ही बार पुन. स्थापित हुआ। मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा के ध्वसावशेषो की कई तहे प्राप्त हुई है, जिनका समय भिन्न-भिन्न निर्धारित किया गया है। इस दृष्टि से उनकी क्षति का प्रमुख कारण नदियो की बाढे ही हो सकती हैं।

सिन्धुवासियो मे सुव्यवस्थित जीवन के परिचायक उनके उक्त नगर थे। नगरो का फैलाव विस्तृत था। उनकी सुरक्षा के लिए चहारदीवारी या परकोटे बनाये गये थे। उन नगरो मे सुसज्जित विशाल भवन, कोण को काटते सुविधाजनक मार्ग थे। प्रत्येक मार्ग तथा गलियो मे ईंटो की बनी नालियाँ थी। नगरो के भीतरी सुरक्षा द्वार, विभिन्न व्यवसायो के लिए अलग-अलग उप-नगरो की

व्यवस्था-आदि उनके निर्माताओं के नगर-निर्माण ज्ञान के परिचायक थे। इन सुविचारित योजनाओं के मूल में निश्चित ही निपुण इञ्जीनियरों का हाथ रहा होगा। इन नगरों की सड़कों और नालियों के सम्बन्ध में उनके खोजकर्ता विद्वानों का अभिमत है कि वे आधुनिक पेरिस तथा लन्दन नगरों की तुलना में अधिक उन्नत थी।

उक्त नगरो मे छोटे-बड़े सभी प्रकार के भवन मिले। हड़प्पा की अपेक्षा मोहेनजोदडो में अधिक विशाल भवनो के खण्डहर निकले थे। वहाँ तीस कक्षों वाले सर्वसुविधासम्पन्न भवनो का पता चला है। मकान दुमंजिले तथा तिमंजिले रहे होंगे। उनमे आँगन, चबूतरा, पाकशाला, स्नानागार, शौचगृह और कूप आदि की व्यवस्था थी। हड़प्पा नगर की खुदाई में 460 गज लम्बी, 215 गज चौडी और 44-50 फीट ऊँची एक विशाल गढी के अवशेष प्राप्त हुए हैं। विद्वानो का अनुमान है कि यह कोई सार्वजनिक भवन या राज्य-सभा भवन था। मोहेनजोदडो के ध्वसावशेषो मे भी इसी प्रकार के विशाल भवन प्राप्त हुए है। सम्भवत: ये विशाल भवन सार्वजनिक थे और उनमे सामूहिक आयोजन तथा धार्मिक गोष्ठियाँ हुआ करती थी।

सिन्धुवासियो की आजीविका का मुख्य साधन कृषि थी। वहाँ की नगरप्रधान अर्थ-व्यवस्था मे व्यापार के साथ-साथ कृषि की महत्ता को विशेष स्थान प्राप्त था। सिन्धु-घाटी की आज जो प्राकृतिक स्थिति है, अपने वैभव काल मे वह इससे सर्वथा भिन्न थी। कृषि-कार्य के लिए तब सिन्धु, मिहरान, सरस्वती तथा दृषद्वती आदि नदियो का जल सुलभ था। उन्ही के द्वारा उस विस्तृत भू-भाग पर सिंचाई होती थी। आज की परिस्थिति से भिन्न, अरब सागर से मानसून आकर वहाँ जल बरसाते थे। उक्त सरिताओ पर बाँध बनाकर कृषि की सिचाई की जाती थी। इन बाँधो द्वारा एक तो नदियो की बाढ को रोका जाता था और दूसरी ओर कृषि के लिए सिंचाई की व्यवस्था हो सकती थी। अन्न की पूर्ण आत्मनिर्भरता ने भी सिन्धुवासियो को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाया। हड़प्पा मे एक विशाल अन्न भण्डार के ध्वसावशेष प्राप्त हुए हैं। सम्भवत: वे भण्डार राज्य की ओर से निर्मित थे, जहाँ से आवश्यकतानुसार जनता के लिए अन्न वितरित किया जाता था। मेसोपोटामिया मे भी इसी प्रकार के अन्नागारो के अवशेष प्राप्त हुए है। अनेक प्रमाणो द्वारा विद्वानो ने यह तथ्य प्राप्त किया है कि अन्न उस युग में व्यापारिक विनिमय का माध्यम था और इसलिए अन्नागारो को राजकोष का महत्त्व प्राप्त था।

कृषि के साथ ही सिन्धुवासी व्यापारिक दृष्टि से भी उन्नत थे। सिन्धु के नागरिकों की गहन व्यापारिक अभिरुचि के परिचायक वहाँ से प्राप्त विचित्र प्रकार की वस्तुएँ, अन्नागार और विशाल भवन हैं। वहाँ इस प्रकार के अनेक प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि सिन्धुवासियो के बाहरी देशो से व्यापारिक सम्बन्ध थे। यह व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। दजला घाटी, मुला तथा बोलन दर्रा और गाज घाटी से यातायात के स्थल मार्ग थे। समुद्र मार्ग के लिए फारस की खाड़ी का उपयोग होता था। सुमेर, एलाम, असीरिया और अक्काद आदि पश्चिमी देशो से भी सिन्धुवासियो के सम्बन्ध थे।

वैदिक युग मे देवासुर संग्राम के जनक असुरो का सम्बन्ध कुछ विद्वानो ने असीरिया-निवासियो से स्थापित किया है। सिन्धुयुगीन भारत से असीरिया-वासियो के सम्बन्धो के परिचायक अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। पूर्वी भारत मे मगध तक उनकी बस्तियो का विस्तार हो चुका था भारत से असीरिया को वस्त्र, आभूषण, अन्न और कलात्मक वस्तुओ का निर्यात होता था। सुमेरिया और एलाम मे मोहेनजोदड़ो के अनुकरण की मुहरे प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार चान्हूदडो मे बालो में खोसने की एक ऐसी पिन मिली है, जो कि सुमेरिया आदि द्वीपान्तरो की पिन के अनुकरण की है। इन पारस्परिक एकता के परिचायक उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि पश्चिमी भूमध्यसागरीय, मगोल, अल्पाइन और असीरियाई लोग विभिन्न प्रयोजनो के लिए जल तथा स्थल मार्गो द्वारा भारत मे आने-जाने लगे थे।

हडप्पा, मोहेनजोदडो और मेसोपोटामिया तथा एलाम मे प्राप्त कुछ चित्रांकित मुहरो की एकरूपता को व्यापारिक अभिप्राय का ही कारण बताया गया है। इन मुहरो का उपयोग अन्तरराष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्धो के अन्तर्गत ही किया गया होगा। विद्वानो का अभिमत है कि सिन्धु-घाटी की मुहरो का प्रयोग व्यापार मे और माल व सम्पत्ति की सुरक्षा मे हुआ करता था। ईराक के एक प्राचीन स्थल पर एक सूती कपड़े का टुकडा मिला है, जिस पर सिन्धु-घाटी की मुहर लगी हुई है। जब माल को बड-बड़े बण्डलो में बाँध दिया जाता था, तो उन पर सुरक्षा के विचार से गीली मिट्टी की पट्टी लगाकर उस पर फिर मुहर छाप दी जाती थी। मुहरो का उपयोग खत्तियो अथवा बर्तनो के मुँह बन्द करने और अमीर-गरीबो के मकानो के दरवाजो को बन्द करने मे भी किया जाता था (भारत की सस्कृति और कला, पृ० 42)।

सिन्धुवासियों की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई विश्वस्त जानकारी उपलब्ध नहीं है। हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो के गढ़ या दुर्ग नगर से कुछ दूर ऊँचे स्थानों पर स्थापित थे। विद्वानों का अभिमत है कि ये दोनों दुर्ग उत्तर दक्षिण सिन्धु प्रदेश की राजधानी के सूचक थे। यहीं से दोनों भागों का शासन होता था। इससे विद्वानों ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि सिन्धुवासियों की शासन-व्यवस्था बड़ी सुदृढ़ और जनतांत्रिक थी। अपने-अपने अचलों के शासन के लिए वे सम्भवतः सर्वथा स्वतन्त्र थे।

धर्म

सिन्धु-संस्कृति की अभ्युन्नति में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उपलब्ध अवशेषों से ज्ञात होता है कि सिन्धुवासियों का सुव्यवस्थित एवं विकसित धर्म एक विकसित दीर्घकालीन परम्परा का द्योतक था। सिन्धुवासी देवतावादी थे, किन्तु उनके इस बहु-देवतावाद के मूल में एक परमसत्ता को स्वीकार किया गया था। सिन्धु-घाटी के उत्खननों में एक ऐसी मुद्रा उपलब्ध हुई है, जिसमें एक नग्न त्रिमुख पुरुष योगासन में बैठा है। उसके सिर पर त्रिशूल जैसी कोई वस्तु है। उसके दोनों कक्षों तथा अग्र भाग में पशुओं की आकृतियाँ और शीर्ष में कुछ लिखा हुआ अंकित है। कुछ विद्वानों ने इस ध्यानस्थ आकृति को शिव या पशुपति का रूप कहा है। सम्भवतः यह ऊर्ध्वलिंग शिव की आकृति है। इसी प्रकार की एक अन्य योगासीन आकृति के दोनों कक्षों तथा सामने नाग अंकित है। इसे भी पशुपति शिव का रूप माना गया है। परम पुरुष शिव और मातृदेवी की ये आकृतियाँ सृष्टि के अधिष्ठानस्वरूप मानी गयी है और सिन्धुवासियों ने उनकी पूजा-उपासना द्वारा अपना विश्वास प्रकट किया है।

इन उदाहरणों से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सिन्धुवासियों के प्रमुख उपास्य देव पशुपति शिव थे।

सिन्धुवासियों की धार्मिक निष्ठा उन बहुसंख्यक मृण्मूर्तियों के रूप में प्रकट हुई है, जो कटि में पटका तथा मेखला और गले में हार धारण किये हुए नग्नरूप में प्राप्त हुई हैं। कुछ नारी मूर्तियाँ शिशु को स्तनपान कराती हुई मिली हैं। ये आकृतियाँ मातृदेवी की हैं। वैदिक युग में मातृदेवी माता अदिति तथा पृथ्वी आदि के रूप में प्रचलित थीं।

उपलब्ध सामग्री से यह विश्वास होता है कि सिन्धुवासियों ने अपनी धार्मिक निष्ठा को लिंगपूजा, योनिपूजा, वृक्षपूजा एवं पशुपूजा के रूप मे प्रदर्शित किया है। खुदाइयों में जो सींग, स्तम्भ तथा स्वस्तिका के रेखांकन मिले हैं, वे भी उनके धार्मिक प्रतीक प्रतीत होते हैं। उनका साकार तथा निराकार उपासना-पूजा पर विश्वास था। शीश पर सींगो से युक्त नारी मूर्तियाँ सम्भवतः मन्दिर-उपासिकाएँ हैं। नृत्य करती हुई नग्न नारी मूर्ति सम्भवतः देवदासी की आकृति है।

सिन्धुवासियो का सामाजिक जीवन व्यवस्थित एव सुसगठित था। उसमें सम्भवतः किसी प्रकार का पारस्परिक प्रतिरोध तथा वैषम्य नही था। समाज के सभी वर्ग अपने नियत कर्मानुसार अपनी-अपनी प्रगति की दिशा में अग्रसर थे। सामाजिक वर्ग-विभाजन, श्रेष्ठता-हीनता तथा धनिक-निर्धन पर आधारित न होकर कर्म पर आधारित था। कर्मानुसार ही व्यवसाय निर्धारित थे। कर्म पर आधारित और धर्म द्वारा अनुप्राणित इस समाज मे कोई कलाकार था, कोई पुजारी; तो कोई जादूगर, वैद्य, कृषक, व्यवसायी कुम्भकार, रगरेज, बढ़ई और मल्लाह आदि।

कलानुराग

अपनी आदिम अवस्था मे मनुष्य जब सर्वथा वन्य जीवन व्यतीत करता था, वह धातुओ के ज्ञान तथा व्यवहारो से सर्वथा अनभिज्ञ था। वह जीवनरक्षा के लिए पत्थरो के शस्त्रास्त्रो मे ही काम चलाता था और जो भी सुलभ होता था उसी से उदरपूर्ति करता था। उस अवस्था मे भी कला के प्रति उसका सम्मान था। ईसा से सहस्रो वर्ष पूर्व रहने वाले मनुष्य मे कला के प्रति अनुराग हो चुका था। समय और परिस्थितियो के अनुरूप मनुष्य के जीवन मे भी परिवर्तन होता गया और उसका सम्बन्ध सभ्यता से जुड़ता गया। लगभग 4000–3000 ई० पूर्व मे चीन, मध्य एशिया और भारत मे सभ्यता के जिस नये युग का उदय हुआ, इतिहासकारो तथा पुरातत्त्ववेत्ताओ ने उसे 'मृत्पात्रो की सभ्यता' के नाम से अभिहित किया है। इस युग मे मनुष्य ने मिट्टी के पकाये हुए बर्तनो पर सुन्दर अलकरण तथा पशुओ एव मानव की आकृतियाँ अंकित की। भारत मे इस प्रकार के पकाये गये अलकृत मिट्टी के बर्तन, नाल, झूकर, चान्हूदड़ो, मोहेनजोदडो, हड़प्पा और लोथल तथा कालीबंगा नामक स्थानों की खुदाइयो से उपलब्ध हुए है। कला की इस उपलब्ध थाती

के आलोक से पुरातन के अनेक अज्ञात तथ्य प्रकाश में आये हैं। इस कला-सामग्री का आज अनेक दृष्टियों से महत्त्व आँका गया है।

सिन्धुवासियों की सांस्कृतिक अभिरुचि का परिचय उनकी कलाप्रियता से प्राप्त होता है। वास्तविकता तो यह है कि उनकी कलानुरागिता ने ही उनके सर्वांगीण जीवन का निर्माण किया। कला ही उनके विज्ञान की जननी थी। इस कला-विज्ञान से समन्वित सिन्धु-संस्कृति अतीत के अनेकानेक प्रतिघातों के बावजूद अपने अस्तित्व को किसी प्रकार जीवित रखने में सफल हुई। उनकी यह विशाल सांस्कृतिक विरासत अनेक कलावशेषों के रूप मे उपलब्ध हैं। सिन्धुवासियो द्वारा निर्मित कलात्मक सूती, ऊनी वस्त्र, अलकृत और चित्ताकर्षक मनके तथा आभूषण देखते ही बनते हैं। उनके द्वारा निर्मित मूर्तियाँ, खिलौने उनके परिपक्व डौलिया-ज्ञान के परिचायक हैं।

मिट्टी और पत्थर को अनेक रूपों मे प्रयोग करने मे सिन्धुवासी निपुण थे। इस सभ्यता की प्राप्त सामग्री में मृत्पात्रो, मृण्मूर्तियो तथा मुद्राओं की संख्या सर्वाधिक है। इस कला-सामग्री के निर्माता सैन्धव कुम्भकार अपने व्यवसाय मे अत्यन्त दक्ष थे। दैनिक व्यवहारोपयोगी विभिन्न रूपो की तस्तरियाँ, प्याले तथा बर्तन आदि उस युग की मृत्तिका कला के उत्कृष्ट स्तर के द्योतक है। इस मृत्तिका की कलात्मक सामग्री पर रेखाकार, कोणाकार तथा वृत्ताकार विभिन्न अलकरण बने हुए है। ये रेखांकन सम्भवतः उनके निर्माता कलाकारो के नाम हो सकते हैं। आकृति-अकन में पशु-पक्षियों की प्रधानता है। पशुओ में हिरन, बकरी, खरगोश, कौवा, बत्तख, गिलहरी, मोर, साँप और मछली प्रमुख है। इसी प्रकार कुछ ऐसे मृत्तिका पात्र भी उपलब्ध हुए हैं, जिन पर वृक्षो, फलो और पत्तियो की आकृतियाँ चित्रित हैं।

सिन्धु-घाटी से प्राप्त कलात्मक आभूषणो को देखकर उन साधक शिल्पियो की चिरन्तन कला-साधना का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इन आभूषणो के निर्माण के लिए पत्थर, धातु, हड्डी आदि विभिन्न प्रकार की आधार भूत सामग्री का उपयोग किया जाता था। सोने, चाँदी, हाथी-दाँत और पत्थर के कण्ठहार, कड़े, भुजबन्ध और अगूठियों द्वारा वे विभिन्न अग-उपांगों को अलंकृत करते थे।

मूर्तिनिर्माण की दृष्टि से भी सिन्धु-संस्कृति की कुछ देन है। खुदाइयो में मूर्तियाँ मृत्तिका, प्रस्तर और धातु आदि विभिन्न रूपो में उपलब्ध हुई हैं। ये

उदाहरण देवी-देवताओं, नर्तकियों, देवदासियों, उपासिकाओं, पक्षियों और कुछ साधारण स्त्री-पुरुषों से सम्बन्धित हैं। हड़प्पा की पाषाण-निर्मित दो मानवाकृतियाँ विशेष रूप से प्रशंसित हुई हैं, जिनमें एक तो लाल पत्थर तथा दूसरी काले पत्थर पर अंकित है। काले पत्थर की मूर्ति किसी नर्तक की आकृति लगती है। दूसरी मूर्ति नग्न है। पत्थर का एक अन्य भग्न वक्ष मोहेनजोदडो से भी प्राप्त हुआ है। इसे ध्यानस्थ योगी की प्रतिकृति माना गया है। इसके शरीर पर त्रिपत्र का जो अलंकरण है, वैसा ही अलंकरण मेसोपोटामिया की कुछ वस्तुओं पर भी हुआ है। मोहेनजोदडो से प्राप्त पीतल की एक तन्वंगी स्त्री-मूर्ति सिन्धु-संस्कृति की बेजोड उपलब्धि है। स्त्री हाथों मे कई कडे और गले में हँसुली पहने हुए मुग्ध कर देने वाली भाव-भंगिमा मे अवस्थित है। मोहेनजोदडो की यह धातुमूर्ति सम्भवतः किसी नर्तकी की है। इसकी कलात्मक काया की विश्व के कला-रसिकों ने भूरि-भूरि प्रशसा की है। मोहेनजोदडो से कुछ ऐसी भी मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई है, जिन पर कई प्रकार से रगो का प्रयोग हुआ है।

सिन्धु-घाटी की कलात्मक सामग्री मे मुहरो का भी विशेष महत्त्व है। ये मुहरें भारतीय पुरातत्त्व की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ और साथ ही कला की भी सहेजनीय थाती हैं। उन पर सिंह, एक श्रृगी पशु आदि के साथ कुछ चित्रलिपि भी है। ये चित्रांकन इतने अधिक महत्त्व के सिद्ध हुए है कि उनके आधार पर विद्वानो ने उस युग की लिपि को 'चित्रलिपि' के नाम से अभिहित किया और इस दृष्टि से उन्हे भारतीय कला के उत्कृष्ट उदाहरणो के रूप मे स्वीकार किया। भारतीय लिपि-विकास की दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व है।

ये चित्रांकित मुहरे सेलखडी, चीनी मिट्टी, और हाथीदाँत आदि विभिन्न प्रकार की सामग्री से निर्मित हैं। इन मुहरो की बनावट तथा लिपि मेसोपोटामिया तथा एलाम मे प्राप्त कुछ उदाहरणों से मिलती-जुलती है। इस दृष्टि से इनके द्वारा पश्चिमी देशो से भारतीय सास्कृतिक सम्बन्धो पर भी प्रकाश पडता है।

जिस प्रकार वे मृत्तिका, पत्थर, काष्ठ, हड्डी, हाथीदाँत और मणि-मुक्ताओ की निर्माण-कला मे सिद्धहस्त थे, उसी प्रकार का कौशल सीसा, पीतल, ताँबा, काँसा, चाँदी और सोना आदि धातुओ द्वारा निर्मित कला-वस्तुओ में भी देखने को मिलता है। इस सामग्री को देखकर विदित होता है कि सिन्धुवासियो के पास गलाने, पीटने और साँचे ढालने के उन्नत साधन विद्यमान थे।

मोहेनजोदड़ो में ताँबे का गला हुआ एक ढेर मिला है। हड़प्पा से तो ताँबे की एक गाडी भी प्राप्त हुई है।

धातुओं और मणि-मुक्ताओं को काटने और छिद्र करने के लिए सिन्धुवासी शिल्पियों के पास उन्नत औजार थे। अपनी सुमनोहर वर्ण-योजना और शिल्प-सौन्दर्य की दृष्टि से सिन्धुवासियों की कला-कृतियाँ बाहरी देशों में भी प्रशंसित थी। घोटने, पालिश करने और तराशने की तकनीकियों में सैन्धव कलाकार अत्यन्त दक्ष थे।

इस प्रकार हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो से प्राप्त चित्रित बर्तनो, शस्त्रागारो तथा अन्य स्थानो से उपलब्ध पात्रों, पत्थरो, कांस्य-मूर्तियों, मुद्राओं और टीकरो पर की गयी चित्रकारी तत्कालीन जन-जीवन की कलाभिरुचियो का दिग्दर्शन करते है। तन्वंगी नर्तकियो की आकर्षक भाव-भंगिमाओ, नृत्य-मुद्राओं, केश-सज्जा, अंग-प्रत्यंग को आभूषणों से अलकृत करने की प्रवृत्ति से स्पष्टत: यह ध्वनित होता है कि वहाँ के नागरिको, शासको, कवियो, कलाकारों, विद्वानों, दार्शनिको और कारीगरो से लेकर जन सामान्य तक कला को जीवन का अभिन्न अग माना जाता था।

मोहेनजोदडो से लगभग 600 मील दक्षिण-पूर्व सूरत के निकट लोथल नामक स्थान की 1953 ई० में हुई खुदाई से सिन्धु-सभ्यता के विलुप्त कला-वैभव का पता चला है। यहाँ हड़प्पा जैसे मिट्टी के बर्तन, मिट्टी के खिलौने, पशुओं की मूर्तियाँ, रग-बिरगे मनके तथा ताम्रनिर्मित बहुत-सी सामग्री उपलब्ध हुई है। ताँबे का बना हुआ एक सुन्दर हंस तत्कालीन ढलाई कला और उन्नत कारीगरी का परिचायक है। चित्रित पात्रों में खपड़े पर अकित अश्व, कलश पर रेखाकित भेड़ा, बैल, मोर, चीता और कुत्ता आदि पशुओं की आकृतियाँ उल्लेखनीय है। इसी प्रकार मिट्टी के एक बर्तन पर साँप, बतख, मोर और ताड वृक्ष के सुन्दर चित्रांकन सराहनीय हैं। मुहरो पर स्वस्तिक के अतिरिक्त विभिन्न पशुओ की छवियाँ भी अकित हैं।

नृत्य और संगीत कलाएँ

सिन्धुवासियों के कलानुराग के सन्दर्भ में नृत्य और संगीत कलाओं की विशेष रूप से चर्चा करनी अपेक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि मानव में नृत्य, गीत तथा मनोरंजन की प्रवृत्ति जन्मजात थी। अपने प्रस्तर-जीवन से कृषि-जीवन में प्रवेश करने पर उसकी यह प्रवृत्ति अधिक सुधरे रूप में उभर

कर प्रकट हुई। नयी कृषि योग्य भूमि मे जंगल की देवी माता की स्थापना करके खेतो मे अनाज बोने तथा काटने के उपलक्ष्य मे उसके समक्ष नृत्य-गीतो का आयोजन आज भी आदिवासी जातियो मे व्यापकता से देखने को मिलता है। यह परम्परा नितान्त आदिम है। आदिम मानव-समाज मे खेतो की फसल पक जाने के बाद उसको काटने से पहले जंगल की देवी माता तथा पुरखो की प्रेतात्मा को बलि दी जाती थी और सारी रात विभिन्न गाजे-बाजो के साथ नृत्य-गीतों का मनोरजन होता था। यह परम्परा इसी रूप मे आगे भी जीवित रही। सिन्धु-सभ्यता के उपलब्ध अवशेषो से उसकी पर्याप्त पुष्टि होती है।

हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा मे किसी समारोह का दृश्य उरेहा गया है। उसके मध्य मे एक व्यक्ति ढोलवादक और उसके पास ही एक स्त्री बगल में ढोल दबाये खड़ी है। दूसरे समूह-दृश्य में एक पुरुष को ढोल बजाते हुए और एक स्त्री को नृत्य करते हुए दिखाया गया है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषो मे वीणा के भी चित्राकन मिले हैं, जो कि सिन्धुवासियों की सगीतप्रियता के द्योतक हैं। मोहेनजोदडो से प्राप्त पीतल मे अंकित नर्तकी की मूर्ति का उल्लेख पहिले ही हो चुका है।

इस प्रकार सिन्धुवासी समाज की नृत्य और सगीत कलाओ के प्रति गहन अभिरुचि का पता चलता है।

शृंगार : प्रसाधन

सिन्धुवासियो के सांस्कृतिक जीवन की सजीव झाँकियाँ उनकी परिष्कृत अभिरुचि में देखने को मिलती है। इस सम्बन्ध की जो सामग्री वहाँ उपलब्ध हुई है, उससे ज्ञात होता है कि वे विभिन्न ऋतुओं मे अलग-अलग वस्त्र धारण करते थे। सम्भवत: वे रग-विरगे होते थे और उनके रग ऋतुओ के अनुकूल धारण किये जाते थे। कुछ स्त्री-मूर्तियो के शिर पर पगड़ी बंधी हुई है। कही पुरुष नुकीली टोपी धारण किये हुए है। उत्खननो मे ऐसी भी सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे सिन्धुवासियो मे केश-विन्यास के प्रति गहरी अभिरुचि प्रतीत होती है। स्त्रियो मे शिरोभूषा और केश-सज्जा का विशेष अनुराग था। इस सामग्री मे कघो-शीशो के भी अवशेष मिले हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ सम्भवतः बीच से माँग काढकर चोटियाँ करती थी। चोटी को अनेक वृत्तों में लपेटकर सम्भवत: जूड़ा बाँधा जाता था। उपलब्ध मातृदेवी की मूर्तियो के शिर पर कुल्हाड़ी जैसी वस्तु की धारण-क्रिया कोई शिरोभूषण या

अलंकरण प्रतीत होता है। स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुषों में भी केश-सज्जा के प्रति अनुराग था। वे दाढ़ी-मूछों को संवार कर रखते थे और बालों को बीच में काढ़कर पीछे की ओर बांध देते थे। दाढ़ी कटी भी होती थी, जैसा कि मोहेनजोदड़ो से प्राप्त पुरुष के धड़ से स्पष्ट है।

केश-सज्जा और वस्त्रानुराग के साथ-साथ सिन्धुवासियों में प्रसाधनप्रियता तथा आभूषणों के प्रति गहन अभिरुचि का पता चलता है। हड़प्पा की खुदाई में कुछ छोटे-छोटे पात्र मिले हैं, जिनमे काले रंग का कोई पदार्थ था। विद्वानों का अनुमान है कि यह पदार्थ काजल ही था, क्योंकि खुदाइयों मे काजल लगाने की शलाकाएँ भी प्राप्त हुई हैं। घोंघे, मिट्टी तथा पत्थर के छोटे-छोटे पात्र उपलब्ध हुए हैं, उनका परीक्षण करने पर विद्वानो का यह भी कहना है कि उन पर चूर्ण (पाउडर) तथा सिन्धुर आदि प्रसाधन-सामग्री रखी जाती थी।

सिन्धुवासियों का आभूषणो के प्रति सर्वाधिक अनुराग देखने को मिलता है, जिसका पुष्ट प्रमाण मोहेनजोदड़ो की नृत्यांगना है, जो गले तथा हाथो में विभिन्न आभूषण धारण किये हुए है। समय-समय पर की गयी खुदाइयो से आभूषणों के विभिन्न प्रकार के बहुसंख्यक नमूने प्राप्त हुए हैं। उनमें कण्ठहार, कर्णफूल, हंसली, भुजबन्ध, कड़े, अँगूठियाँ, छल्ले, करधनी, पायजेब और हार आदि अलंकरणो के नमूनो की अधिकता है। वे विभिन्न धातुओ तथा पदार्थों से निर्मित हैं। उनके सूक्ष्म शिल्प एवं कारीगरी से सहज ही यह विश्वास होता है कि तत्कालीन शिल्पी या कारीगर अपनी कला मे अत्यन्त कुशल थे।

मनोविनोद

सिन्धुवासियो के मनोविनोद के भी कुछ प्रमाण उपलब्ध हुए है। वे मछली तथा आखेट मे रुचि रखते थे। खुदाइयो में संगमरमर तथा अन्य पदार्थों से निर्मित गोलियाँ भी मिली हैं। उन्हे सम्भवतः खेलने के काम में लाया जाता था। इसी प्रकार मिट्टी-प्रस्तर की छोटी-छोटी उपलब्ध शिवलिंगनुमा गोटियाँ सम्भवतः तत्कालीन शतरंज के प्यादे थे। वहाँ के निवासियो की पाँसा खेलने मे भी रुचि थी। वहाँ हाथीदाँत, पत्थर तथा मिट्टी के बने हुए अलकृत पाँसे खेल मे प्रयोग होते थे। पाँसा-क्रीड़ा की यह परम्परा उत्तरोत्तर अधिक व्यापक एवं लोकप्रिय होती रही।

शिक्षा

सिन्धुवासियो के सस्कृत एवं परिष्कृत जीवन का परिचय उनके विद्यानुराग के द्वारा प्राप्त होता है। खुदाइयों से प्राप्त बहुसंख्यक खिलौनों से विदित होता

है कि खेल-कूद के अतिरिक्त वे बाल-शिक्षा के भी साधन थे। वहाँ ऐसी भी लकड़ी की तख्तियाँ मिली हैं, जिन पर सम्भवतः कलम का प्रयोग होता था। वहाँ के सुनियोजित भवनों, नालियों एवं मार्गों, नगरों आदि के आधार पर ज्ञात होता है वास्तु तथा स्थापत्य के प्रति उनका ज्ञान उन्नत था। ओषधि, विज्ञान, ऋतुज्ञान, ज्योतिष विज्ञान, जादू-टोना, विभिन्न प्रकार की ललित कलाएँ, शिल्प और व्यवसायों को देखकर यह मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि तत्कालीन जन-जीवन शिक्षित था।

सिन्धु लिपि

लिपियों का जो स्वरूप आज विद्यमान है, अपनी आरम्भावस्था में वह इससे सर्वथा भिन्न था। इस प्रकार की जिन विभिन्न लिपियों का विद्वानों ने पता लगाया है वे रज्जुलिपि या ग्रन्थलिपि, भावप्रकाशनलिपि, चित्रलिपि, रेखालिपि, अक्षरलिपि और व्यंजनमूलक लिपि है। इन लिपियों में चित्रलिपि का व्यापक एवं बहुल प्रयोग देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिम मानव समाज में चित्रलिपि द्वारा विचाराभिव्यक्ति के कुछ नियम या संकेत निर्धारित थे। उदाहरण के लिए कुछ चित्र-संकेत ऐसे थे, जिनसे केवल मूर्त पदार्थों का ही बोध होता था; किन्तु कुछ रेखांकित संकेत ऐसे थे जिनसे केवल अमूर्त पदार्थ ही ग्रहण किये जाते थे। इस प्रकार चित्र-रचना द्वारा विचार-प्रकाशन की यह पद्धति इतनी अधिक विकसित हुई कि भिन्न-भिन्न संकेतों द्वारा विचार-विनिमय के विभिन्न संकेत निश्चित हुए। ये चित्र-संकेत वृक्ष की छालों, जीव-जन्तुओं के चर्मों, हड्डियों, सींगों और दाँतों आदि अनेक प्रकार की सामग्री पर अंकित किये गये। उदाहरण के लिए दो मिले हुए हाथों का संकेत मित्रता का बोधक माना गया। इसी प्रकार विवाहिता स्त्री के अर्थबोध के लिए झाड़ू, अन्धकार के लिए वृक्ष के नीचे सूर्य, स्नेह के लिए स्त्री तथा पुत्र, प्यास के लिए जल की ओर भागते हुए पशु आदि के चित्रांकित संकेत निर्धारित किये गये।

सिन्धु-लिपि अब तक पढ़ी नहीं जा सकी है, जिसके कारण सिन्धु-सभ्यता से सम्बन्धित अनेक तथ्य अज्ञातावस्था में हैं। उसके सम्बन्ध में अब तक केवल इतना ही ज्ञात हो पाया है कि वह चित्रप्रधान है और बायें से दायें हाथ की ओर लिखी जाती थी। उसमें कहीं तो वर्णों का प्रयोग हुआ है और कहीं-कहीं चित्रों के संकेत द्वारा भावाभिव्यक्त किया गया है। उपलब्ध सामग्री का अनुशीलन करके विद्वानों ने सिन्धु-लिपि के लगभग 400 वर्णों का पता लगाया है। किन्तु इन वर्णों की पहचान अब तक नहीं हो पायी है।

सिन्धु संस्कृति पर वैदिक संस्कृति का रिक्थ

सिन्धघाटी की यह इतनी व्यापक, सम्पन्न एवं उन्नत संस्कृति एकाएक वियावान नगरों, विध्वस्त मन्दिरों तथा विनष्ट दुर्गों में परिणत हो गयी। इतना सुखी, सुसम्य एवं शक्तिशाली बृहद् जन-समाज विच्छिन्न एवं विघटित होकर सदा के लिए ग्रस्त तथा ध्वस्त हो गया और इतिहास में उनकी सांस्कृतिक सुरभि ही एकमात्र शेष रह गयी। किन्तु उनकी इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के लिए आर्य उत्तरदायी एवं दोषी नहीं थे। उनके विनाश के अनेक ऐतिहासिक साक्ष्य सिन्धुवासियों की वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के लिए आज भी जीवित हैं।

बाहरी देशो से विभिन्न प्रजातियो एवं कबीलो के आगमन से समय-समय पर इस भारत भूमि में जो सघर्ष और संग्राम हुए उनका प्रभाव ऋग्वेद के अनेक स्थलो पर परिलक्षित होता है। ऋग्वेद के इन सन्दर्भो का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि सिन्धु और ऋग्वैदिक संस्कृतियो के निर्माता दो विभिन्न समाज एक ही समय इस भारत भूमि पर अपने अस्तित्व-विस्तार के लिए निरन्तर क्रियाशील थे। अनेक वर्षों तक दोनो में प्रतिस्पर्धा चलती रही; किन्तु अन्त मे वैदिको की ही विजय हुई। यद्यपि अनेक कारणो से समय-समय पर उनके पारस्परिक घोर सघर्ष भी होते रहे; किन्तु साथ ही उनमें सास्कृतिक आदान-प्रदान भी होता रहा। एक की उन्नत एव प्रशस्त उपलब्धियो को ग्रहण करने में दूसरा सतत सक्रिय रहा। इस आदान-प्रदान के फलस्वरूप आर्य सीमाओ के सुदूर भीतरी भागो तक सिन्धुवासियो की सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव रहा, और ठीक यही स्थिति सिन्धुवासियो के लिए वैदिक आर्यों की सास्कृतिक उपादेयता के सम्बन्ध मे भी रही।

दोनो के सांस्कृतिक उदय के इतिहास पर विचार करने पर विदित होता है कि जिस समय भू-मध्यसागरीय प्रजाति से सम्बद्ध द्रविड-जन मोहेनजोदडो की सभ्यता का निर्माण कर रहे थे, उस समय भारत के मूल निवासी आर्य नव पाषाणयुगीन सभ्यता मे थे। वेदो के अनेक स्थलो से सकेत मिलते हैं कि वैदिक आर्यों ने सिन्धुवासियो पर शासन किया और उनको अपनी संस्कृति से प्रभावित किया। आर्यों ने सिन्धुवासी अपने शत्रुओ के लिए निन्दावाचक शब्दों का प्रयोग किया और उन्हें असहिष्णु तथा निन्द्य आचारो वाला बताया।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान के होते हुए भी सिन्धुवासियो और वैदिकों का वैर-विरोध निरन्तर उग्र होता गया। अपने-अपने अस्तित्व-प्रसार और प्रभुत्व-स्थापना की पारस्परिक होड़ ने दोनों को युद्ध के लिए आमने-सामने खड़ा करने के लिए बाध्य किया।

गंगा-यमुना का द्वाबा दोनों संस्कृतियो के पक्षधरो की विभाजन-रेखा थी। सरस्वती, दृषद्वती, सरयू, राप्ती और रावी नदियो की घाटियो पर वैदिकों का आधिपत्य था। उनका प्रभाव पश्चिमोत्तर काश्मीर से लेकर राजपूताना, मध्यभारत (विन्ध्याचल पर्वत) और पूर्व मे गण्डक (सदानीरा) तक फैला हुआ था। मध्यभारत पर प्रसिद्ध वैदिक राजवशो कुरुओ और पांचालो का प्रभाव था। उधर समस्त सिन्धु-घाटी और उत्तर-पश्चिम सीमांचल सिन्धुवासियो के अधिकार मे था।

आर्यों ने जब उत्तर-पश्चिम मे अपना विस्तार किया तो उन्हे सिन्धु-घाटी के अनार्य पणि लोगो से कठिन संघर्ष करना पड़ा था। ये पणि जन सिन्धु-घाटी की वाणिज्यप्रधान समृद्ध सभ्यता के निर्माता थे। यास्क (700 ई० पूर्व) ने 'निरुक्त' (६।२७) मे जिनका उल्लेख इसी रूप मे किया है। उत्तर-पश्चिम में उपलब्ध सामग्री से भी इस तथ्य की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। यह समृद्ध सभ्यता सिन्धु-उपत्यका के अनेक नगरो मे फैली हुई थी। इन नगरों में सुनियोजित सुदृढ पणियो के प्रभुत्व का इन्द्र ने उन्मूलन किया था, जिससे कि उन्हे 'पुरन्दर' इस पदवी से विभूषित किया गया (ऋग्वेद १०।१०३।३; २०।६।७)।

परम्परागत पारस्परिक अस्तित्व-विस्तार की लिप्सा से भारत सम्राट् सुदास का दासो, दस्युओ और निषादो से भयकर सग्राम हुआ, जिसमे व्यापक रूप से रक्तपात हुआ। ऋग्वेद का वृचिवत्स, जो कि हड़प्पा (हरियूपिया) का शक्तिशाली शासक था, दशराज्ञ (दस आर्य सम्राटो) के भीषण युद्ध मे मारा गया। इस युद्ध का उल्लेख ऋग्वेद (७।३३।२; ५।८३।८) के अनेक सन्दर्भों मे हुआ है। यह युद्ध उत्तर-पश्चिम मे बसे हुए लोगो और ब्रह्मावर्त के आर्यों के बीच हुआ था। इस ऐतिहासिक युद्ध मे भाग लेने वाले सिन्धु नदी के पश्चिम मे बसे पचजनो—अलिन (वर्तमान काफिरिस्तान), पक्थ (वर्तमान पख्तून), भलान (बोलन दर्रे के निवासी), शिव (सिन्धु निवासी) और विषाणिन् का नाम मुख्य है। इनके अतिरिक्त सिन्धु के इस पार अनु, द्रुह्य, तुर्वश, यदु और पुरु नामक पंचजन भी उसमे सम्मिलित थे। यमुना

नदी के तट पर अवस्थित आर्येतर अज, शिग्रु और यक्षु लोगो ने भी अपने नेता भेद के नेतृत्व मे इस युद्ध में भाग लिया था। अन्य आर्येतर राजाओ मे शिम्यु का नाम भी उल्लेखनीय है। इसी प्रकार कवश, शम्बर और बैंकरणरथ आदि राजा भी इस युद्ध मे सम्मिलित हुए थे।

दासराज-संगठन के नेता महर्षि विश्वामित्र और प्रतिपक्षी राजा सुदास के सैनिक संगठन के नेता महर्षि वशिष्ठ तथा अनु आदि पचजनो के नेता महर्षि भृगु थे।

इस महायुद्ध मे भरतो के राजा सुदास विजयी हुए और उन्होंने सर्व प्रथम भारत भूमि पर प्रभुता-सम्पन्न साम्राज्य की नीव डाली। यद्यपि यह युद्ध शक्ति-परीक्षण एव प्रभुत्व की लिप्सा से हुआ था, तथापि उससे वैदिक भारत की सास्कृतिक गरिमा को विस्तृत होने का सुयोग प्राप्त हुआ। इस युद्ध-विजय के बाद भारत मे औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही भारतीय सस्कृति के भावी विकास की भूमिका का स्थिर आधार भी तैयार हुआ।

आर्य-सस्कृति के उन्नायक लोगों का सिन्धु-सभ्यता के उन्नायक लोगों से सर्व प्रथम आमना-सामना पंजाब मे हुआ। लगभग 300 ई० पूर्व मे आर्य लोग पजाब मे प्रविष्ट हुए। इन्द्र के नेतृत्व मे युद्ध-कुशल व अश्वारोही आर्यों ने सिन्धुवासियो पर आक्रमण कर उन पर विजय प्राप्त की। उन्होने सर्व प्रथम पजाब पर विजय प्राप्त की और तदनन्तर सुदूर गगा के मैदान पर अपना अधिकार कर अपनी वीरता तथा श्रेष्ठता का डंका बजाते हुए अमूर्तिपूजक खानाबदोस सभ्यता को मूर्तिपूजक श्रेष्ठ सस्कृति मे परिवर्तित किया।

आर्यों का यह विजय-विस्तार एक साथ दो दिशाओ से हुआ। उनकी एक शाखा उत्तरी भारत की नदियो का अनुसरण करती हुई हिमालय की पहाडियो की ओर अग्रसर हुई और दूसरी शाखा ने दक्षिण की ओर प्रयाण किया। वे जहाँ-जहाँ से आगे बढ़े, वहाँ-वहाँ उन्होने अपने प्रभुत्व को स्थापित किया। आर्यों की इस विजय-विस्तार के परिचायक उपकरण मस्की, मैसूर, मध्य भारत और सुदूर दक्षिण तक फैले क्षेत्र मे उपलब्ध हुए है। इन उपलब्ध उपकरणों मे पकायी गयी मिट्टी की ईंटे, बर्तन तथा मूर्तियाँ; पालिश किये गये पत्थर के औजार, मनके और शंख की वस्तुएँ, मुहरो की छाप से अकित चित्रयुक्त मिट्टी के बर्तन और पकायी गयी मिट्टी की पुरुषाकृतियाँ आदि

सम्मिलित हैं। यह सामग्री प्रागैतिहासिक तथा पुरा-ऐतिहासिक दोनो युगों से सम्बन्धित है। उसके अध्ययन से विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि कि आर्यों की उद्योगप्रधान सस्कृति का विकास औद्योगिक प्रयोजनों से रोम, अरब, फारस तथा मिस्र तक व्याप्त हुआ। यहाँ तक कि योरोप तक उसका प्रसार हुआ। इस रूप मे भारत के साथ इन सुदूर अरब-सागरीय तथा भूमध्यसागरीय देशों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुए। योरोप को धातु-प्रयोग का ज्ञान, कृषि-उत्पादन की विधि तथा पशुपालन का ज्ञान और धार्मिक पूजा-पद्धतियो की प्रेरणा पूर्वी देशों से ही प्राप्त हुई।

• • •

छह/सिन्धुवासियों और वैदिकों का सांस्कृतिक समन्वय

वैदिक संस्कृति की पृष्ठभूमि

आर्य और आर्येतर दोनों भारतीय संस्कृति के जनक थे। संस्कृति की जो विपुल एवं समृद्ध थाती आज भारत को उपलब्ध है, उसके निर्माण में आर्यों तथा आर्येतर जातियों का समान योगदान रहा है। वेदों से लेकर 'रामायण', 'महाभारत' और पुराणो तक भारतीय सस्कृति की उन्नायिका इन जातियों की चर्चाएं अनेक रूपो मे बिखरी हुई हैं। ऋग्वेद (६।२०।१०; २५।१।२ आदि) तथा अथर्ववेद (४।२०।४,८) मे आर्यो को शूद्रो तथा दासो का विरोधी कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि शूद्रो की गणना आर्यों मे नही की जाती थी। अथर्ववेद (१६।३२।८) के सन्दर्भ मे उल्लिखित 'शूद्रार्यौ' से शूद्रो और आर्यो की स्पष्ट भिन्नता का पता चलता है। वहाँ शूद्र और आर्य का युद्ध ब्राह्मण तथा शूद्र के बीच का युद्ध माना गया है।

परवर्ती वैदिक साहित्य मे भी आर्य तथा आर्यभिन्न जातियो का उल्लेख हुआ है। 'ऐतरेय आरण्यक' (३।२।५) और 'शाखायन आरण्यक' (८।६) मे आर्यो की वाणी (वाच्) की विशेष चर्चा की गयी है। 'शतपथ ब्राह्मण' (काण्व शाखा ४।१।६) मे 'आर्य' के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों की गणना की गयी है। यहाँ भी शूद्रो को आर्यों से पृथक् माना गया है।

आर्यों तथा आर्येतर जातियो की समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध मे वेदो से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। विभिन्न कम-क्षेत्रो के आधार पर सारा वैदिक राष्ट्र चार वर्गों मे विभाजित किया गया था। यज्ञ-याग करने वाला वर्ग पुरोहित, ब्रह्म या ब्राह्मण कहा जाता था। युद्धजीवी और अश्वो पर आरूढ होकर विभिन्न बीहड स्थानो की यात्रा कर उन पर अपनी विजय-ध्वजा फहराने वाला वर्ग राजन्य, क्षत्र या क्षत्रिय कहलाया। नदी-घाटियो की उपजाऊ भूमि मे कृषि तथा व्यापार करने वाला वर्ग विश् या वैश्य कहा गया। इसी प्रकार आखेटक, मछुए और घरों पर दासवृत्ति करने वाला वर्ग दस्यु, दास या शूद्र वर्ग में परिगणित किया गया।

समाज का यह वर्ग-विभाजन कर्मानुगत था। लोग कर्मानुरूप समाज मे अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व बना चुके थे; फिर भी जातियों के रूप मे उनका न तो मान्य विभाजन हुआ था, और न उनके विवाह-सम्बन्धो की सीमाएँ ही निश्चित हुई थी। कर्म-क्षेत्र की स्वतंत्रता के कारण वे एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जाने-आने तथा अपनी उन्नति करने के लिए स्वतंत्र थे। कभी-कभी उनमे पारस्परिक विवाह तथा संघर्ष भी हो जाया करते थे; किन्तु राष्ट्रीय हितो पर उनका कोई दुष्प्रभाव परिलक्षित नही होता था।

कर्मों द्वारा उच्चत्व प्राप्त कर दास, दस्यु, निषाद और शूद्र आदि आर्येतर जातियो एवं च्युत आर्यों को आर्यत्व की समुन्नत श्रेणी प्राप्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित होने वाले वैदिक यज्ञो तथा बृहत् सामाजिक आयोजनों मे उन्हे आर्यों की ही भाँति सम्मिलित होने का अधिकार था। वे स्वयमेव यज्ञो का आयोजन कर सकते थे। इस रूप मे वैदिक भारत आर्यों तथा आर्यभिन्न जातियो की सम्मिलित आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति के साथ-साथ एक सर्वांगीण, सार्वभौम सस्कृति का निर्माण करता हुआ अग्रसर था।

वेदो तथा वैदिक साहित्य से यह भी विदित होता है कि आर्य तथा आर्येतर, दोनो वेदो का अध्ययन करते थे। श्याम वर्ण आर्य बडे बुद्धिमान् और तीनो वेदो मे पारगत थे, जब कि गौरवर्ण या गेहुएँ रंग के आर्य केवल दो वेदों को जानते थे।

आर्य तथा आर्येतर जातियो के सम्बन्धो की चर्चाएँ 'महाभारत' (४८।४१) मे भी हुई है। महाभारतकालीन समाज मे सदाचारो का आचरण और अनाचरण ही आर्यत्व तथा आर्यभिन्नत्व (अनार्यत्वमनाचारः) की पहचान बन गयी थी। इस प्रकार आर्यत्व और आर्यभिन्नत्व कर्मगत हो गया था। 'आर्य' श्रेष्ठ कर्म का और 'आर्येतर' हीन कर्म का द्योतक माना जाने लगा था।

महाभारतकालीन समाज की ही भाँति रामायणकालीन समाज मे भी आर्य तथा आर्येतर की परम्परागत मान्यताएँ पूर्ववत् स्थिर थी। 'रामायण' मे 'आर्य' सम्बोधन आदर्श, आदर, मर्यादा, सत्य, शील और उच्चकोटि की नैतिकता के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। 'रामायण' (६।१६।६, ४।१७।३०) मे मन्दोदरी रावण को 'आर्यपुत्र' तथा 'आर्य' कहकर पुकारती है, जब कि महाराज दशरथ रानी कैकेई को 'अनार्या' कहकर भर्त्सना करते है। इस प्रकार रामायणकाल मे आर्यत्व और आर्यभिन्नत्व चारित्रिक गुणों पर आधारित हो चुका था। 'आर्य' सम्बोधन अब न

केवल धार्मिक तथा आध्यात्मिक उच्चता का, अपितु राष्ट्रीय गौरव का भी द्योतक माना जाने लगा था। 'आर्य' शब्द से सभी सम्बोधित नही किये जाते थे। जिसे आर्य होने का गौरव प्रदान किया जाता था, उसे राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा का समुचित दायित्व वहन करना पड़ता था।

इस प्रकार रामायणकालीन राष्ट्रीय मान्यता के अनुसार अपने समुन्नत कर्मों, उच्चादर्शों और सदाचारों के बल पर 'आर्यत्व' का गौरव प्राप्त करने वाले समृद्ध एव संस्कृत समाज का इस महान् राष्ट्र की रचना तथा मानवृद्धि मे सर्वाधिक योगदान प्रतीत होता था। वैदिक सभ्यता के निर्माता आर्यों के सम्बन्ध में वेदों से लेकर परवर्ती अनेक ग्रन्थो में विभिन्न प्रकार के उल्लेख हुए हैं। वे स्वभाव, गुण, कर्म और परम्परा की दृष्टि से द्रविड सभ्यता के निर्माताओं से सर्वथा भिन्न थे। दास, दस्युओं के विपरीत वैदिक सभ्यतानुयायी आर्य गौरवर्ण तथा नीली आँखो के थे। उनकी नासिका नुकीली नही थी। शक्तिशाली होने के अतिरिक्त वे उच्चकोटि के घुड़सवार और आखेटप्रिय थे। भारत भूमि पर उन्होने अपनी सभ्यता का निर्माण कर स्वयं को प्रतिष्ठित किया और उसे सप्तसिन्धु (सात नदियो की भूमि) नाम से अभिहित किया।

दस्यु : दास : व्रात्य

आर्यो के विरोधी दस्युओ, दासो और व्रात्यों की भी प्राचीन साहित्य मे बहुविध चर्चाएँ हुई है। वे किस मानववश से सम्बद्ध थे और इस राष्ट्र के निर्माण मे उनका क्या योगदान रहा, इन बातों पर विचार करने के उपरान्त ही आर्य तथा आर्येतर जातियो की भिन्नता अधिक स्पष्ट रूप से प्रकाश मे आती है। उक्त सन्दर्भों से विदित होता है कि वेदो से लेकर महाकाव्यो तक सर्वत्र ही आर्यत्व और आर्यभिन्नत्व का विभाजन जातीयता के आधार पर नहीं हुआ है। एक ही बृहत् समाज के जिन लोगो ने वैदिक परम्पराओ के अनुरूप अनुकरणीय उच्चादर्शों की स्थापना की वे आर्य और जिन लोगो ने उनका विरोध कर अपनी स्वतन्त्र परम्पराओ का प्रवर्तन किया वे दस्यु, दास तथा व्रात्य कहलाये। आर्य-विरोधी होने के कारण ही उनकी आर्येतर जातियो मे परिगणना हुई। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर आर्यों तथा दासो, दस्युओ और व्रात्यो के विरोध, संघर्ष और द्वेष-भाव का व्यापक रूप से उल्लेख हुआ है।

ऋग्वैदिक भारत मे दस्युओं का प्रभावशाली एवं पराक्रमी व्यक्तित्व प्रकाश में आ चुका था। ऋग्वेद (१।३४।७; २।१२।६ आदि) के अनेक मंत्रों में

दस्युओं का उल्लेख मानवीय तथा अमानवीय शत्रुओं के रूप में हुआ है। वे गौरवर्ण आर्यों से भिन्न श्यामवर्ण आदिवासी थे। ऋग्वेद के एक मंत्र (१०। २२।८) में आर्यों द्वारा इन्द्र की स्तुति करते हुए लिखा गया है कि वे इन कृष्ण वर्ण, मर्मरहित आर्यशत्रुओं का, जो चारो ओर फैले हुए हैं, विध्वस करे। आर्यों से उनकी कतिपय कारणो से घोर शत्रुता थी। आर्य मनीषियो ने उन्हे यज्ञ न करने वाला (अयज्वन्, अयज्जू, अक्रतुः), सस्कारहीन (अकर्मन्, अब्रह्मन्); देवभक्ति से रहित (अब्रह्मनिष्ठ); वैदिक नियम-व्यवहारों को न मानने वाला (अव्रत, अन्यव्रत) और देवो से घृणा करने वाला तथा देवताओ की पूजा न करने वाला (अदैवयु) कहा गया है। ऋग्वेद (५।२६।१०) के एक अन्य स्थल पर उन्हें चपटी नासिका वाला (अनास) और क्रूरभाषी (मृध्रवाच्) कहा गया है। अपने देव-मित्रो के कहने पर इन्द्र ने तीस हजार दस्युओ का वध किया, एक सहस्र को बन्दी बनाया तथा दध्यच और मातरिश्वन् के लिए दस्युओं से गोष्ठों को छीना। इसीलिए इन्द्र को 'दस्युहन्' नाम दिया गया।

'ऐतरेय ब्राह्मण' (३३।६) मे अन्ध्र पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिव आदि दस्यु-जातियो का उल्लेख हुआ है। इसी ब्राह्मण-ग्रन्थ (७।१८) मे इन जातियो को विश्वामित्र ऋषि की सन्ताने कहा गया है, जो कि ऋषि पिता के शाप से पतित होकर दस्युओ मे परिगणित हुए। 'मनुस्मृति' (१०।४५) मे कहा गया है कि आचार-भ्रष्ट ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो से निर्गत (आर्यावर्त की) आर्यभाषी जातियाँ और (आर्यावर्त) से बाहरी म्लेच्छ भाषा-भाषी जातियाँ 'दस्यु' नाम से कही जाती है। दस्युओं के अन्तर्गत चाण्डाल, श्वपाक और इतर निम्नतम जातियो को परिगणित किया गया है। वे शूद्रो से पृथक् और हीन थी। 'मनुस्मृति' (१०।४३-४४) के समय तक पौण्ड्र, औण्ड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश—ये सब क्षत्रिय जातियाँ वैदिक सस्कारो से च्युत होकर शूद्रत्व को प्राप्त हुई और दस्युओ मे जा मिली।

दासो को दानवी प्रकृति का आर्यशत्रु कहा गया है। वे भी काले वर्ण (कृष्णत्वच्) थे (ऋग्वेद १।१३०।८ आदि)। दस्युओं की अपेक्षा दास अधिक शक्तिशाली और सगठित थे। उनके सुदृढ लौह-दुर्ग (आयसीः पुरः) थे और वे कबीलो (विशः) मे रहते थे। आर्यों ने उन्हें पराजित कर अपना सेवक बनाया और उनकी पत्नियो को दासी रूप मे रख लिया। आर्य-शत्रु प्रमुख दासों में बल, दधीक, रुधिका, इलीविश, चुमुरि, धुनि, शुष्ण, पिप्रु, वर्चिन्

और शम्बर का नाम प्रमुख है। शम्बर ने स्वयं को 'देवक' के रूप में विश्रुत किया था। उसके लगभग सौ सुदृढ़ दुर्ग थे।

दासों में एक वर्ग ऐसा भी था, जिसने बार-बार पराजित होने पर भी आर्यों की अधीनता स्वीकार नही की थी। वे पर्वतो मे छिपे रहे और वही से आक्रमण करते रहे। उनमें कुछ तो दक्षिण-पश्चिम चले गये, जहां उन्होंने अपने स्वतत्र साम्राज्य स्थापित किये और अपनी सस्कृति तथा परम्पराओ को उजागर किया।

'मनुस्मृति' (८।१४-१७) में दासो की सात श्रेणियां बतायी गयी हैं—ध्वजादृत (युद्धबन्दी), भक्तदास (अन्नदास), गृहज (दासी माता से उत्पन्न सन्तति), क्रीत (खरीदा हुआ), दत्रिम (बाहर से दहेज आदि मे दिया गया मृतक), पैतृक (पैतृक उत्तराधिकार में प्राप्त दास) और दण्डदास (ऋणमुक्ति के लिए स्वीकृत दासवृत्ति)।

वर्तमान 'मनुस्मृति' के निर्माणकाल (ई० पूर्व तीसरी शती) तक आर्येतर श्रेणी में परिगणित विभिन्न संस्कारच्युत जातियो एव कबीलो के लोगो की स्थिति समाज मे सर्वथा बदल गयी थी। जन-सामान्य की दृष्टि मे वे गिर गये थे और उनसे लोग घृणा करने लगे थे। 'मनुस्मृति' (१०।५१-५६) मे लिखा हुआ है कि आर्येतर लोग खानाबदोश तथा घुमन्तू थे। वे गाँवों के बाहर श्मशान भूमि, चैत्य वृक्ष, जगल तथा पर्वतो मे निवास करते थे। वे टूटे-फूटे पात्रो का प्रयोग करते थे। कुत्ते और गधे उनके एकमात्र धन थे। वे मृत व्यक्तियो के वस्त्रो से अपना शरीर ढकते थे। बची हुई जूठन उन्हे भोजन के लिए दी जाती थी। शरीर पर वे लोहे के आभूषण धारण करते थे। रात्रि मे उनका ग्राम-प्रवेश निषिद्ध था। वे गाँवों मे किसी कार्यवश ही आते थे। लावारिस शवो को ढोने का काम भी उन्ही से लिया जाता था। मृगया उनकी आजीविका थी। न्यायालय में उनकी साक्षी मान्य नही थी।

दासों तथा दस्युओ के अतिरिक्त व्रात्यों को भी आर्येतर श्रेणी मे परिगणित किया गया है। किन्तु दास, दास्युओ की भाँति आर्य-शत्रु नही थे और समाज में भी बहिष्कृत नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि व्रात्य मूलतः आर्य-शाखा से ही सम्बद्ध थे और विचारों तथा कर्म-पद्धति में भिन्नता के कारण वे आर्यों से अलग हो गये थे, अथवा आर्यों ने उनको बहिष्कृत कर दिया था। इस प्रकार के जाति-बहिष्कृतों की चार श्रेणियो मे व्रात्यों को हीन कोटि में रखा गया है। इन हीन कोटि व्रात्यों के भी दो वर्ग थे आर्येतर और च्युतआर्य (गरागिर)। आर्यभिन्न व्रात्य वे थे, जो दासों तथा दस्युओ से कुछ भिन्न, किन्तु आर्यों के कम

विरोधी थे। च्युत्-व्रात्य वे थे, जो संस्कार-च्युत होकर आर्यों द्वारा बहिष्कृत कर दिये गये थे। वे ब्राह्मण-संस्कृति में अस्नात थे। जो व्रात्य बाद में ब्राह्मण-संस्कृति में दीक्षित हो गये उन्हें दीक्षितवाच् (संस्कृत भाषा-भाषी) कहा गया है।

व्रात्य एक असंस्कृत आदिम वन्य जाति थी। 'पंचविंश ब्राह्मण' (१७।६) में व्रात्यों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे सरलतापूर्वक उच्चारण की जाने वाली भाषा की अपेक्षा कठिनता (अदुरुक्त) से उच्चारण की जाने वाली भाषा का प्रयोग करते थे। वे प्राकृत भाषा का प्रयोग करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि व्रात्य लोग आजीविका के लिए कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य आदि कार्यों को नही करते थे, बल्कि बनजारों जैसा खानाबदोश जीवन व्यतीत करते थे। संस्कारहीन तथा अशिक्षित होने के साथ वे अकर्मण्य भी थे। संस्कृत या दीक्षित होने के बाद वे आर्यों की श्रेणी मे आ सकते थे; किन्तु ऐसी दशा में उन्हें अपनी पूरी सम्पत्ति पुरोहित को दान मे दे देना पड़ता था। ऋग्वेद (८।४६।३२) के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि बल्भूथ और तरुक्ष प्रभृति दास राजाओ ने एक संगीतज्ञ को सौ गायें दानस्वरूप देकर आर्यत्व की श्रेणी प्राप्त की थी।

इन आर्येतर दास, दस्युओ और व्रात्यो से लम्बे समय तक आर्यों का शारीरिक तथा वैचारिक संघर्ष होता रहा। अन्त मे विजय आर्यों की हुई। इस विजय के परिणामस्वरूप उग्र विरोधी दास-दस्यु आदि आर्यों के साथ घुल-मिल कर उन्ही के संस्कारो तथा विचारों मे एकाकार हो गये। इस प्रकार अपनी उदात्त सांस्कृतिक परम्पराओं के द्वारा इस राष्ट्र के भावी निर्माण मे उनका भी समान योगदान रहा।

आर्यों और आर्येतर जातियो का सांस्कृतिक समन्वय

आर्यों और आर्येतर जातियो की परम्पराओ तथा विचारो का समन्वित रूप ही वेद है। वेद ही भारतीय सस्कृति के मूल उत्स हैं। वेदमूलक होने के कारण भारतीय सस्कृति युग-युगों की परिस्थितियो को अपने विशाल अन्तराल में समाहित करती हुई गगा की उस प्रवहमान अजस्र धारा के समान है, जो अनेक तीर्थों तथा संगमो का निर्माण करती हुई युग-युग से इस भारत वसुन्धरा को सरस एव प्रेरणात्मक बनाये हुए है।

भारतीय सस्कृति की सदा ही यह विशेषता रही है कि उसके मार्ग में विरोधी-अविरोधी जो भी बाहरी तत्त्व आये उन सब को उसने अपने आँचल में समेट लिया। उसकी यह ग्रहणशीलता इतनी विशाल, उदार एवं सहिष्णु

है कि उसके प्रति द्वेष तथा संघर्ष के उद्देश्य से आयी विधर्मी संस्कृतियाँ भी उसी मे समा गयी। इस संस्कृति ने समय-समय पर भारत में आयी शक, हूण, दरद, यवन और आंग्ल आदि अनेक जातियो के आचार-विचारों को सफलतापूर्वक बचा लिया।

सांस्कृतिक समन्वय का यह इतिहास अनेक उथल-पुथलों और संघर्षों से अनुरंजित है।

भारतीय संस्कृति के स्वरूप और विकास-क्रम का अध्ययन करने के लिए उसकी मूलभूत परिस्थितियो को खोजना आवश्यक है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा-सम्बन्धी अनेक ऐसे तथ्य है, जिन पर विस्तारपूर्वक विचार करना अपेक्षित है। वेद जिन बातो का इतिहास बताने मे मौन हैं, उनका समाधान पाने के लिए यह स्वीकार करना होगा कि वेदों मे न मिलने वाली वे बातें उन जातियो की देन है, जो वेदो तथा वेद-पूर्वकाल से समय-समय पर बाहर से भारत मे प्रविष्ट हुईं। निश्चित ही उन रीति-रिवाजो और आचार-विचारों के निर्माणक अवैदिक अर्थात् आर्येतर आदिम जातियाँ थीं। इतिहास के सन्दर्भों से पता चलता है कि पुरातन काल से ही भारत मे अनेक धर्मों का उदय तथा अस्त होता रहा। सभी धर्मों ने थोडे-बहुत रूप मे यहाँ की संस्कृति को प्रभावित किया। इस देश के सांस्कृतिक अभ्युदय की दृष्टि से दो धर्मों का मुख्य योगदान रहा है। उनके नाम हैं अवैदिक (आर्येतर) और वैदिक (आर्य)। इन दोनो धर्मानुयायियो की विचारधाराएँ तथा मान्यताएँ अलग-अलग थी। वैदिक परम्पराओ को मानने वाले आर्य सख्या मे अधिक थे। अत: उन्होने अल्प संख्यक अवैदिको (आर्यभिन्न जातियों) को नास्तिको की श्रेणी में परिगणित किया, क्योकि वे अपनी स्वतन्त्र परम्पराओ के पोषक और वैदिक आचारों के विरोधी थे। इन यज्ञ-विरोधी अवैदिक प्रवृत्तियों का अस्तित्व प्रकाश मे आ गया था। वैदिक कर्मकाण्ड को व्यर्थ बताकर उन्होने विशुद्ध भौतिक चिन्तन पर बल दिया। इन भौतिकवादियो मे लोकायतिकों का नाम उल्लेखनीय है।

वैदिक संस्कृति को प्रभावित करने में जिन अवैदिक सस्कृतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा उनमे लोकायतिक संस्कृति का नाम अग्रणी है। बौद्धिक एव वैचारिक क्रान्ति के इस परवर्ती युग मे जिन लोकायतिक और जैन-बौद्ध धर्मों का नवोदय हुआ उनकी मूल प्रेरणा के सूत्र वेदो मे ही निहित थे। ऋषि विश्वामित्र वेदों की प्राकृतिक एवं पार्थिव प्रधान विचारधारा के प्रथम उन्नायक

थे। इस परम्परा को प्रशस्त करने वाले वेदोत्तरकालीन विचारकों में बृहस्पति, चार्वाक्, कपिल, महावीर और बुद्ध प्रमुख हैं।

वैदिकों की अध्यात्ममूलक संस्कृति के विरोध में नयी पार्थिव या भौतिकतामूलक संस्कृति के विधायक बृहस्पति और चार्वाक् ने मनुष्य को अधिकाधिक सुखी बनाने के लिए समाज को नया जीवन प्रदान किया। उनका कथन था कि जिस प्रकार भी हो, सदा सुखमय एवं आनन्दमय जीवन व्यतीत करना चाहिए। उनकी दृष्टि से सर्वतोभावेन सुख-प्राप्ति ही स्वर्ग है। आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, मोक्ष आदि सब व्यर्थ है। जो सामने है वही सत्य और विश्वसनीय है।

इस नवोदित भौतिकवादी संस्कृति का लोक मे बडा प्रचार-प्रसार हुआ, जिसके कारण उसे 'लोकायत' नाम प्राप्त हुआ। लोक अर्थात् जन-समुदाय मे आयत अर्थात् व्याप्त। आधुनिक काल के विद्वानो ने इस 'लोकायतिक' विचारधारा को वैज्ञानिक भौतिकवाद के नाम से अभिहित किया। उन्होने 'जडवाद' के नाम से उसके तात्त्विक पक्ष का भी विवेचन किया है।

इस वैचारिक स्वतन्त्रता के साथ ही उन्होंने सामाजिक जीवन को प्रभावित करने के लिए अपनी नयी मान्यताओ को स्थापित किया। इस रूप मे उनका वैदिक धर्मानुयायियो से प्रत्यक्ष टकराव हुआ, जिसने आगे चलकर मयकर सघर्ष का रूप धारण किया। इन अवैदिक परम्पराओ के नेता असुर, दैत्य, व्रात्य और दस्यु थे, जिन्होंने वैदिक परम्पराओ के प्रतिनिधि देवताओ से कई युद्ध किये। देवासुर-संग्राम उक्त दोनो धर्मो के मतानुयायियो के उग्र विरोध का ही परिणाम था। इस सग्राम मे शक्तिशाली सिन्धुवासियो ने देवो को अनेक बार पराजित किया; किन्तु अन्त मे इन्द्र के नेतृत्व मे आर्यों ने उन पर विजय प्राप्त कर ली। इस पारस्परिक सघर्ष के होते हुए भी सिन्धुवासी आर्येतर जातियो की वैभवपूर्ण सम्कृति ने वैदिक सस्कृति को अपनी स्वस्थ विरासत देकर परिपुष्ट किया। वैदिको ने उसे अपने आदर्शों से सुसस्कृत करके ग्रहण किया। रुद्र या शिव असुर जाति का एकमात्र उपास्य देव था। वैदिको ने उसको स्वीकार किया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अवैदिको की उस परम्परागत देन को वैदिकों ने ठीक उसी रूप में स्वीकार नही किया, अपितु उसको अपने अनुरूप बनाकर मान्यता प्रदान की। इस प्रकार उपासना और व्यवहार के क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो का उदय वेदो ही मे हो चुका था।

अथर्ववेद मे जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, मारण-मोहन-उच्चाटन आदि विषयों का जो समावेश है, निश्चित ही वह अवैदिकों की देन थी। अथर्ववेद की वैदिक सस्कृति से सिन्धुवासी अवैदिको ने तांत्रिक तथा ऐन्द्रजालिक विद्याओ को सीखा। वैदिक युग मे ही ऐसे समाज का उदय हो चुका था जो परम्परागत रूढियो का विरोधी था। यह वर्ग व्रात्यो का था, जो ऐन्द्रजालिक विषयो के विशेषज्ञ थे। व्रात्य आर्यों की ही एक शाखा थी, जो कि वैदिको से मतभेद होने के कारण अलग हो गये थे। इन अवैदिक आर्यों (व्रात्यो) ने वैदिक सस्कृति को नयी मान्यताएँ प्रदान की। उन्होने जाति तथा वर्ण-भेद की विषमताओं को दूर करने मे बड़ा योगदान दिया। आर्य-आर्यभिन्न और स्वामी-दास के बीच का वर्ग-भेद दूर करने के लिए उन्होने पुरानी रूढियों के प्रति तीव्र आक्रोश और असमानता के प्रति विद्रोह का अभियान चलाया। इस नये सामाजिक अभियान ने उत्तरवर्ती वैदिक समाज को समानता के स्तर पर लाने मे सहायता की। इसमे सफलता इसलिए भी मिली, क्योकि इससे पूर्व देवासुर-सग्राम के भयकर परिणाम वे देख चुके थे। देवासुर-संग्राम की व्यापक विनाशलीला ने परवर्ती परिस्थितियो को बहुत प्रभावित किया। पुराणो में विरोध तथा सघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सद्भाव एव स्थिरता का वातावरण देखने को मिलता है। यही कारण था कि वैदिको द्वारा मान्य देवताओ की सूची पुराणो में परिवर्तित रूप मे प्रस्तुत की गयी। उदाहरणार्थ मित्र, वरुण, पूषा, भग आदि वैदिक देवताओ का परवर्ती पौराणिक युग मे कोई अस्तित्व नही था। वेदो का सर्वाधिक प्रभावशाली देवता इन्द्र पुराणो में गौण हो गया। इसके अतिरिक्त गणेश, शिव, विष्णु आदि जिन अनेक देवताओं को वेदो मे गौण स्थान प्राप्त था अथवा जिनका अस्तित्व ही नही था, उनको पुराणो मे प्रमुख स्थान दिया गया। अन्तरिक्ष स्थानीय देवता रुद्र के क्रोधी एवं भयकर स्वरूप का ही वेदों मे उल्लेख हुआ है। पुराणो मे उसका रूपान्तर शिवरूप किया गया।

इस प्रकार परम्परागत धार्मिक, सास्कृतिक और वैचारिक इतिहास मे ये अवैदिक परम्पराएँ अपने अस्तित्व को उजागर करती हुई आगे बढती गयी। इस दृष्टि से परम्परागत राष्ट्रीय निर्माण और सामाजिक उत्थान वैदिकों तथा अवैदिकों का एकसमान योगदान रहा। यद्यपि इनमें समय-समय पर सघर्ष होते रहे, किन्तु उनसे रचनात्मक परम्परा को कोई हानि नही हुई। इस योगदान की चरम परिणति शिव-संस्कृति के रूप मे प्रकाश में आयी।

आर्यों और आर्येतर जातियो के सांस्कृतिक समन्वय के प्रमाण वे मूर्तियां हैं, जिनके आधार वेदमूलक रहे हैं। सिन्धुवासियों ने भी इन रूपो को ग्रहण किया।

इस प्रकार के समन्वय का प्रमाण सिन्धु-घाटी का वह वृषभ है, जो एक ओर तो सिन्धुवासियों के पशुप्रेम तथा कृषिजीवी स्थिति का परिचायक है और दूसरी ओर शिव के नन्दी का भी पर्याय है। इसी प्रकार मोहेनजोदडो की एक मुद्रा पर भी शिव का पाशुपत रूप चित्रित हुआ है। इस सभ्यता के खण्डहरो मे अनेक मातृदेवी की मूर्तियाँ भी मिली हैं। इनमे कुछ तो वैदिक अदिति तथा पृथ्वी की मानी गयी हैं। मातृदेवी की यह परम्परा आगे सैकडो वर्षों तक चलती रही।

आर्य और आर्येतर संस्कृतियो के समन्वय का प्रतीक : शिव

यद्यपि वैदिको और सिन्धुवासियो मे लम्बे समय तक घोर सघर्ष होते रहे, किन्तु दूसरी ओर उनकी परम्पराओ तथा मान्यताओ को एक-दूसरे ने पर्याप्त रूप मे अपनाया। पशुपति शिव या रुद्र की आराधना इसका उदाहरण है। पशुपति शिव सिन्धुवासियों के आराध्य देव थे। इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थो मे यह निर्देश किया गया कि वैदिक यज्ञकर्ता उसकी पूजा-प्रतिष्ठा न करे। किन्तु उपासना और कला के क्षेत्र मे शिव के व्यापक प्रभाव ने आर्य और आर्यभिन्न परम्पराओ मे समन्वय स्थापित कर समस्त भारतीय जन-मानस मे अविच्छिन्न राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया।

आर्यों और आर्येतर जातियो के सांस्कृतिक समन्वय मे वैदिक रुद्र और पौराणिक शिव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस समन्वय की परिचायक एवं वाहक शिव-संस्कृति है, जिसका व्यापक प्रचार-प्रसार उत्तर से दक्षिण भारत तक रहा है। इस रूप मे भारतीय सस्कृति के निर्माण तथा उत्तरोत्तर विकास मे सुर-असुर, आर्य-आर्येतर, दोनो की प्रतिद्वन्द्वी विचारधाराओ ने एकसमान योगदान किया। सुरो, देवताओं, असुरो, दानवों और दैत्यो ने शिव से ज्ञान प्राप्त किया।

वेदो तथा वैदिक साहित्य मे रुद्र को प्रमुख देवता के रूप मे माना गया है। एक ओर तो उसको उग्र, भीम और क्रोधी स्वभाव का प्रतिनिधि कहा गया है। दूसरी ओर उसकी दयालु, कल्याणकारी, सुखदाता और व्याधियो के विनाशक के रूप में स्तुति की गयी है। आर्येतर अवैदिको में रुद्र की पूजा का व्यापक प्रचलन था। सिन्धु-सभ्यता के खण्डहरों से अनेक लिंग भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ शिव शतियों तक एकमुख, त्रिमुख तथा चतुर्मुख शिव के रूप में अंकित किये गये।

ऋग्वैदिक रुद्र ही पुराणकालीन शिव हैं। पुराणो के अनुसार प्रजापति कश्यप से जिन एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई थी, उन्हीं रुद्र-रूपों में से एक रूप शिव का भी था। रुद्र की शिव-रूप में प्रतिष्ठा-आराधना आज तक चली आ रही है। उत्तराखण्ड में केदारनाथ, तुंगनाथ, रुद्रनाथ, महामहेश्वर और कल्केश्वर नाम से पंच केदार शिव के वैदिक रुद्र के प्रतीक आज भी विद्यमान है।

वेदो में आर्यों की जिस असुरोपासक शाखा को 'अहि' कहा गया है वह नग (पर्वत) की निवासी होने के कारण पुराणो में 'नाग' नाम से सम्बोधित की गयी है। वृत्रासुर और शम्बर जैसे विकट प्रभावशाली एवं बलवान् राजा नागवंश के ही थे। ऋग्वेद (१०।१८९) के सर्पयाज्ञी ऋषि भी नागवंशीय थे। महाराज ययाति के पिता और राजा पुरूरवा के पौत्र राजा नहुष को पराजित करने वाले नागराज नागेन्द्र इसी वंश के थे। वे पृथा (कुन्ती) के पिता सूरसेन के नाना थे। उलूपी, जिसके साथ अर्जुन ने विवाह किया था, नागराज कौरव्य की पुत्री थी। इस प्रकार उत्तरोत्तर विरोधों और सघर्षों के बावजूद आर्य तथा आर्येतर जातियो के पारस्परिक सम्बन्ध बने रहे। इन सम्बन्धो को सुरक्षित रखने में नाग जाति का विशेष योगदान रहा है।

वेदयुगीन यह नाग जाति शिव-संस्कृति की अनन्योपासिका थी। वैदिक रुद्र ने पौराणिक शिव के रूप में नागो को अपने शरीर का आभूषण बनाया। पार्वती, गंगा और नाग शिव के अभिन्न अग हैं। शिव के शरीर पर लिपटे ये नाग आर्य तथा आर्येतर जातियों की समन्वित सस्कृति के प्रतीक हैं। आर्यों के विष्णु और आर्येतर जातियों के नागराज कृष्ण भी इसी परम्परा के द्योतक हैं। शिव के अतिरिक्त आर्यों के देवता विष्णु ने भी नागों से सम्बन्ध रखा। इसका उदाहरण शेषशायी विष्णु हैं।

भारतीय संस्कृति में शिव का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उसी के माध्यम से एशिया के अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। भारतीय संस्कृति की गौरवाभिवृद्धि में रुद्र या शिव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आर्यों तथा आर्येतर जातियों के सांस्कृतिक समन्वय का प्रतीक शिव भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला का आधार बना और अतीत के सहस्रों वर्षों पूर्व से लेकर आज तक भारतीय जन-मानस पर प्रतिष्ठित है।

परम्परा से भारतीय कलाकारों ने अपनी कृतियों में शिव के विराट् स्वरूप की कल्पना कर भारतीय कला के महान् आदर्श और भारतीय संस्कृति

की उदासता को मूर्तित एवं चित्रित किया है। मानवता की मंगलमयी भावना ही शिवाकृति है। दार्शनिक दृष्टि से शिव ही विश्व की प्रगति के प्रवाह हैं। उनमें सत्-असत्, देवत्व-मानवत्व और रौद्रता-सुन्दरता दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों का एक साथ समन्वय हुआ है। उनका ताण्डव सृष्टि-लीला का प्रतीक है, जिनका पाद-चालन जय-पराजय तथा उद्‌भव-प्रलय के आरोह-अवरोह हैं। वे नटराज हैं। उनका ताण्डव भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और कला का सनातन आधार रहा है। वे जितने रौद्र हैं, उतने ही सुन्दर भी हैं। किन्तु स्वयं में वे निर्लिप्त, निर्विकार, निरपेक्ष, अपार ज्योति से ज्योतित, सच्चिदानन्द, अखण्ड और दिव्य विभूतियों से परिमण्डित है। उनके त्रिमूर्ति रूप मे भूत, वर्तमान, भविष्य; सत्त्व, रज, तम; सृष्टि, स्थिति, लय; आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक त्रित्व समन्वित है।

• • •

सात/वैदिक युग

मंत्र संहिताएँ

वेद भारतीय ज्ञान-गंगा के उत्स हैं। इस राष्ट्र की आत्मा के वास्तविक दर्शन वेदों मे ही किये जा सकते हैं। वेद इस देश के समुज्ज्वल अतीत के साक्षी हैं। 'वेद' शब्द न तो किसी पुस्तकविशेष के परिमित अर्थ का द्योतक है और न एकदेशीय है। वह किसी शास्त्र-विशेष का भी अभिव्यंजक नही है। उससे तो ऐसे अखण्ड, अनन्त, अपरिमित ज्ञान का बोध होता है, जिसको सृष्टि के आरम्भ मे ऋषियो ने हृदयगम किया था। उस समस्त ज्ञान को परिपूर्ण रूप से हृदयगम (द्रष्ट) करने के कारण ही उनको ऋषि कहा गया। वे अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न थे और वाणी स्वत: ही उनमें प्रविष्ट हो गयी थी। उन्होंने बिखरे हुए वेदमत्रो का संकलन कर उन्हे संहिताओ मे विभाजित किया।

ऋषियो द्वारा सम्पन्न वेदमत्रो का संकलन, तथा सम्पादन लौकिक विषयों के विभाजन तथा सम्पादन से सर्वथा भिन्न था। भाष्यकार महीधर ने 'यजुर्वेद भाष्य' में लिखा है कि 'ब्रह्मा से वेदो की जो परम्परा चली आ रही थी उसको मूल रूप में ग्रहण कर कृष्ण द्वैपायन 'वेदव्यास' ने उस वेद को मन्दमति मनुष्यों के लिए ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व—इन चार भागो मे विभक्त किया और उनका उपदेश क्रमश: पल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु नामक अपने चार शिष्यों को दिया।

चार मूल सहिताओं के पश्चात् उनसे और शाखाएँ निकली। अध्ययन और शिक्षण के उद्देश्य से ऋषि-आश्रमों में जो विभिन्न विद्याकुल प्रतिष्ठित हुए उन्हें 'चरण' या 'शाख' कहा गया। जिस विद्याकुल में वेद के जिस अग का अध्ययन, अध्यापन, वाचन और श्रवण हुआ, उसी के नाम से उसकी विशिष्टता लोकविश्रुत हुई। यही विशिष्टता उसकी शाख बनी और उसी के अनुरूप उसका नामकरण हुआ।

वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद और इनकी चार अलग-अलग संहिताएँ हैं—ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद सहिता और अथर्ववेद संहिता।

संहिताओ में जो निहित ज्ञान हैं, वह ऋचाओं, अर्थात् मत्रों द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ है। जैसे दर्शनशास्त्र का ज्ञान कारिकाओं, व्याकरण का ज्ञान सूत्रो तथा काव्य-महाकाव्य-स्मृतियो का ज्ञान श्लोकों द्वारा प्रसारित हुआ है उसी प्रकार वेदार्थ ज्ञान भी मत्रों के द्वारा प्रकट हुआ है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार ऋषियो की गद्यात्मक तथा पद्यात्मक उक्तियो को ही मंत्र कहा गया है। ऋषियों ने जिस परमात्मस्वरूप ज्ञान का दर्शन किया वह जिन शब्द-पुजों या वाक्य-समूहो मे निबद्ध है, उन्हीं का अभिधान मत्र है।

ऋग्वेद संहिता

ऋग्वेद से सम्बद्ध मंत्र जिस संकलन या संग्रह मे निबद्ध हैं, उसे ऋग्वेद संहिता के नाम से कहा गया है। प्राचीन ग्रन्थो मे ऋग्वेद की 27 शाखाओ का उल्लेख हुआ है। इनमें शाकला, वाष्कला, आश्वलायना, शांखायना और माण्डूकेया प्रमुख हैं। किन्तु सम्प्रति ऋग्वेद की शाकला शाखा ही उपलब्ध है। इसमे मण्डल, अनुवादक और वर्ग तीन विभाग हैं, जिन्हें क्रमश: अष्टक, अध्याय और सूक्त भी कहा जाता है। इनकी संख्या के सम्बन्ध मे विद्वानो मे गहरा मतभेद है। समग्र शाकला संहिता मे 10 मण्डल, 85 अनुवादक और 2,008 वर्ग हैं। आधुनिक विद्वानों ने ऋग्वेद संहिता के कुल मंत्रो की संख्या 10,467 से 10,589 के बीच निर्धारित की है।

यह ऋग्वेद संहिता समस्त भारतीय विद्याओ, शास्त्रो और कलाओ का भण्डार है। इसके प्रत्येक सूक्त मे किसी दिव्य शक्ति की महिमा का वर्णन किया गया है, जिसका अपना प्रतीकात्मक गहन अर्थ है। ये सूक्त अनेक छन्दो मे है और उनका सम्बन्ध विभिन्न देवताओ तथा ऋषियों से है।

यजुर्वेद संहिता

ऋग्वेद संहिता के अनन्तर यजुर्वेद संहिता का क्रम निर्धारित है। 'यजुष्' का अर्थ है पूजा एव यज्ञ। इसमे नाना प्रकार के यज्ञो तथा उनको सम्पन्न करने की विधियों का वर्णन है। किस यज्ञ मे किन-किन मत्रो का प्रयोग करना चाहिए, इसका विधान भी उसमे वर्णित है। यज्ञो का अनुष्ठान देवताओ की

प्रसन्नता के लिए किया गया है, जिससे कि वे सुवृष्टि तथा सुफल प्रदान कर प्रजा का कल्याण करें।

यजुर्वेद संहिता के कृष्ण और शुक्ल दो भाग हैं। यजुर्वेद के भाष्यकार महीधर ने लिखा है कि बुद्धि की मलिनता होने से यजुओ का रग काला हो गया था और इसी कारण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम 'कृष्ण' पडा। महाज्ञानी याज्ञवल्क्य ने सूर्य की कठोर तपस्या के पश्चात् शुक्ल यजुओ को वरदान के रूप में प्राप्त किया था। इसलिए यजुर्वेद संहिता के दूसरे भाग का नाम 'शुक्ल' पडा।

यजुर्वेद की लगभग सौ शाखाएं मानी गयी हैं, किन्तु इनमें से केवल पांच, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, माध्यन्दिन और काण्व ही सम्प्रति उपलब्ध है। आरम्भ की तीन शाखाएँ कृष्ण यजुर्वेद तथा अन्त की दो शाखाएं शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओ का दक्षिण भारत और शुक्ल यजुर्वेद की शाखाओ का शेष भारत मे अधिक प्रचलन है। प्रचार एवं मान्यता की दृष्टि से शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा अधिक महत्त्व की है। कृष्ण यजुर्वेद पर अवैदिक तथा शुक्ल यजुर्वेद पर वैदिक विचारधारा का प्रभाव है।

सामवेद संहिता

ऋग्वेद और यजुर्वेद के बाद सामवेद सहिता का क्रम आता है। 'साम' का अर्थ है सुन्दर सुखकर वाणी। सगीतविद्या में वाणी के माधुर्य तथा आह्लाद की परिणति हुई है। साम भी सगीत या गायन का ही एक रूप है। वेदो के उद्गाता ऋषि, देवताओ को प्रसन्न करने के लिए स्वर-ताल-लय-बद्ध वाणी मे सामवेद की ऋचाओ का उद्गायन किया करते थे।

सामवेद की लगभग एक सहस्र शाखाओ का उल्लेख हुआ है, जिनमे से सम्प्रति केवल तीन कौथुम, जैमिनीय और राणायणीय उपलब्ध हैं। इनमे राणायणीय शाखा विशेष रूप से सम्मानित है। कौथुम की गुजरात, जैमिनीय की कर्नाटक तथा राणायणीय की महाराष्ट्र मे अधिक लोकप्रियता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थो और उपनिषदो में सामवेद सहिता के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की चर्चाएँ हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में उल्लिखित एक कथा के अनुसार महर्षि अंगीरस ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को वेदान्त मत का उपदेश देते समय सामवेद की गायन विधियों का मर्म भी बतलाया था। पुराणो मे इस विधि

को 'छालिक्य' नाम की संज्ञा दी गयी है। सामवेद से ही गान्धर्व वेद की उत्पत्ति हुई, जिसमे सोलह सहस्र राग-रागिनियो का संकलन किया गया। भारतीय संगीत का मूल यही राग-रागिनियाँ हैं।

सामवेद संहिता की एक विशेषता यह भी है कि उसमे केवल 75 मंत्र ऐसे है, जो किसी अन्य संहिता मे नही मिलते है।

अथर्ववेद संहिता

अथर्ववेद का क्रम तीनों वेदों के बाद निर्धारित हुआ है; किन्तु नाम की इस पूर्वापरता का विशेष महत्त्व नही है। ऋग्वेद में अथर्ववेद के मन्त्र सकलित हैं, जिससे कि उनकी पूर्वापरता का आधार स्वतः ही गौण हो गया है।

अथर्वा और अंगिरा नामक दो ऋषिकुलो की संयुक्त देन होने के कारण अथर्ववेद को 'अथर्वाङ्गिरस्' भी कहा गया है (अथर्ववेद १०।७।२० आदि)। अथर्ववेद की मंत्रविधि को देखकर इस वेद के साथ इन दोनो कुलो की अन्विति का बोध हो जाता है। 'अथर्वन्' उन मत्रों के लिए कहा गया है, जो सात्त्विकता के द्योतक और मगल-क्षेम के प्रदाता हैं (अथर्ववेद ११।६।१४)। इनके विपरीत 'अगिरस्' उन मन्त्रो का बोधक है, जिनमे अभिचार (मंत्र-टोना-वशीकरण) आदि का निरूपण हुआ है (शतपथ ब्राह्मण १०।५।२।२०)। अगिरस् ओषधियो का ही पर्याय है (वैतानसूत्र ५।१०)। इन सभी अर्थों के अभिव्यंजक मत्र अथर्ववेद मे होने के कारण उसको 'अथर्वाङ्गिरस्' की सज्ञा दी गयी।

अथर्ववेद का कलेवर, शेष तीन सहिताओ की अपेक्षा कुछ भिन्न है। उसमे 20 काण्ड हैं। परम्परागत अनुश्रुति है कि महर्षि भृगु के शिष्यों तथा बीस मानसपुत्रो द्वारा द्रष्ट होने के कारण अथर्ववेद सहिता बीस काण्डो मे विभाजित हुई। पैप्पलाद, शौनकीय, दामोद, तोत्तायन, जामल, ब्रह्मपालास, कुनरवा, देवदर्शी और चरणविद्या उसकी ये नौ शाखाएं है। इनमे सम्प्रति पैप्पलाद और शौनक दो ही उपलब्ध हैं। शौनक शाखा का प्रचलन अधिक हुआ है।

विषय की दृष्टि से अथर्ववेद के मत्रो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। एक में यज्ञ-याग-सम्बन्धी तथा ब्रह्मविद्या-विषयक मंत्रों को तथा दूसरे में तंत्र-मंत्र, टोना-टोटका, मारण-उच्चारण-वशीकरण आदि विषयो से सम्बद्ध मंत्रों को रखा जा सकता है।

'त्रयी' (ऋक्-यजुष्-साम) की अपेक्षा अथर्ववेद संहिता का अधिक महत्त्व है। उसमें आध्यात्मिक तथा आधिदैविक के अतिरिक्त आधिभौतिक विषयों पर भी प्रथम बार विचार किया गया है। इस दृष्टि से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध आज के जन-जीवन से जुड़ा गया है। 'पृथिवी सूक्त' में वैदिक कवियों के लोकानुग्रह का भाव और कोमल कवि-हृदय के उद्गार व्यक्त हुए हैं। इसमे आयुर्वेद और जीव विज्ञान की महत्त्वपूर्ण सामग्री भी सन्निहित है।

अथर्ववेद की पृथक्ता का आधार

ब्राह्मण, आरण्यक आदि वेद-व्याख्यान-रूप ग्रन्थो मे त्रयी के अन्तर्गत ऋक्-यजुस्-साम की परिगणना की गयी है। इन्ही ग्रन्थो के अनेक सन्दर्भों में यजुर्वेद को भी त्रयी के ही समकक्ष माना गया है और प्राचीन वेद-भाष्यकारों तथा आधुनिक वेद-व्याख्याता विद्वानों ने त्रयी की अपेक्षा अथर्ववेद का महत्त्व किसी भी प्रकार से न्यून नही बतलाया है, फिर भी कुछ ऐसे तथ्य हैं, जो अथर्ववेद को त्रयी से स्वतन्त्र एव पृथक् रूप मे प्रतिष्ठित करते हैं।

तीनो वेद इस रूप मे ऋग्वेद के ऋणी है कि न्यूनाधिक रूप में उनमें ऋग्वेद के मन्त्रों की पुनरावृत्ति हुई है। ऋग्वेद का इसलिए भी विशेष महत्त्व है कि उसमे विभिन्न विचारधाराओ का समन्वय हुआ है। वैदिक संस्कृति के निर्माता, आर्यों और आर्येतर जातियो की परस्पर विरोधी मान्यताओं को उसमें समान स्थान प्राप्त है। यजुर्वेद और सामवेद मे यज्ञो तथा उत्सवो के धार्मिक और सामाजिक सन्दर्भों मे जन-सामान्य के सहज प्रवेश एव योग का भाव लक्षित होता है; किन्तु ऋग्वेद के समान इनमे उतनी उदारता तथा स्पष्टता नही है।

तत्कालीन समाज के दो भिन्न वर्गों ने ऋग्वेद की जिस समन्वित एवं महनीय सस्कृति को जन्म दिया, उसका स्पष्ट और व्यापक रूप अथर्ववेद में प्रकट हुआ। कर्मकाण्ड की एकांगिता के विपरीत अथर्ववेद में विभिन्न कर्मों (कृत्यो) का मार्ग प्रशस्त हुआ और उससे परम्परागत सस्कृति के क्षेत्र मे एक नये युग का सूत्रपात हुआ।

अथर्ववेद की सस्कृति में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समानता के उच्चादर्श निहित हैं। उसमे किसी वर्गविशेष के हितो को प्रधानता न देकर जन-सामान्य के लिए आचार और कर्त्तव्य का सामान्य विधान किया गया है। अथर्ववेद में वैदिक धर्म और समाज का सर्वथा नया रूप देखने को मिलता है।

अन्य वेदों में जहाँ देवों के प्रमुत्व (बहु-देवतावाद) और भाग्यवाद (नियति) का सर्वतोमुखी प्रभाव है, वहाँ दूसरी ओर अथर्ववेद में जादू-टोना, सम्मोहन, आत्मिक शक्तियों के विकास, आयुर्वेद, ज्योतिष तथा वैज्ञानिक, विषयों का गम्भीर उल्लेख हुआ है।

परम्परागत वैदिक धर्म की अलौकिकता को लोक-जीवन के उपयुक्त बना कर अथर्ववेद ने राष्ट्रीय विकास के लिए ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न की तथा सर्वांगीण निर्माण के लिए ऐसे पुष्ट आधार स्थिर किये, जो विश्व की अन्य संस्कृतियों मे बहुत समय पश्चात् उद्भूत हुए। इस दृष्टि से अथर्ववेद का अपना अलग स्थान है। यद्यपि स्मृति-ग्रन्थों मे अभिचार (जादू-टोना) और आभिचारक, भेषज तथा ज्योतिषी (ईक्षणिक) की निन्दा की गयी है और उनकी हेय वृत्ति के कारण उनके सम्पर्क से अलग रहने का विधान किया गया है; किन्तु 'महाभारत' और अन्य पुराणो मे अथर्ववेद को त्रयी के समान ही महत्त्व प्राप्त हुआ है। यज्ञ-विधियो की न्यूनता के कारण श्रौतसूत्रों मे अथर्ववेद की उपेक्षा हो गयी है; किन्तु गृह्यसूत्रों का वह मूल आधार बना रहा। गृह्यसूत्रों मे अथर्ववेद के अनेक अंश सम्मिलित किये गये हैं। कौटिल्य ने तो अथर्ववेद-वेत्ता विद्वान् को ही पुरोहित के पद पर नियुक्त करने का विधान किया है।

वैदिक साहित्य

वैदिक युग को दो भागो मे विभाजित करने का आधार उसकी विशिष्ट ज्ञान-सम्पदा और सांस्कृतिक उपलब्धि है। इस उत्तर वैदिक युग में जिस संस्कृति का जन्म तथा विस्तार हुआ, वह अनेक दृष्टियो में वैदिक संस्कृति से भिन्न थी। इस नयी संस्कृति के निर्माण के आधार ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् थे।

चारो मंत्र संहिताओ का पाठ निश्चित होने के उपरान्त वैदिक युग के कुछ ऋषि-कुलो द्वारा उनका वैज्ञानिक ढग से विश्लेषण कार्य प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि इसी विश्लेषण तथा व्याख्यान के परिणाम हैं। यह साहित्य यद्यपि वेदो की मर्यादा के अनुकूल है, फिर भी उसे मूल मंत्र संहिताओ से अलग करके मान्यता प्रदान की गयी है। वेदो के प्रामाणिक भाष्यकार सायणाचार्य ने 'तैत्तिरीय संहिता' की भाष्य-भूमिका में इस मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि मंत्र और ब्राह्मण आदि

वेद के अन्तर्गत परिगणित किये गये, फिर भी ब्राह्मण, वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ होने के कारण उनका स्थान वेदों के बाद निश्चित है।' परम्परा के अनुसार 'वेद' से केवल चार मन्त्र संहिताओं को ही ग्रहण किया गया। ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् व्याख्यान-रूप होने के कारण वैदिक साहित्य के अन्तर्गत परिगणित हुए। 'वैदिक' अभिधान वेद विषयक इसी बहुविध ज्ञान-सामग्री का द्योतक है। इसी वेद-व्याख्यान-रूप साहित्य-सामग्री मे मन्त्र संहिताओ में निहित ज्ञान तथा कर्म की विस्तृत एवं गम्भीर व्याख्या की गयी है। इस व्याख्यान-सामग्री के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा मे विचारको की एक नयी जागरूक पीढ़ी का उदय हुआ, जिसे यास्क ने 'अवर' नाम की संज्ञा दी है। इसी नयी पीढ़ी ने वैदिक संस्कृति की उदात्त परम्परा का प्रवर्तन किया।

वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थो का काल-क्रम और रचना-विधान की दृष्टि से प्रमुख स्थान है। मूल मन्त्र संहिताओ मे मुख्यतः दो ही प्रकार की सामग्री—एक कर्मकाण्ड तथा दूसरी ज्ञानकाण्ड—विषयक उपलब्ध है। कर्मकाण्ड विषयक सामग्री के व्याख्यान-ग्रन्थ ब्राह्मण तथा आरण्यक और ज्ञानकाण्ड के प्रतिपादक उपनिषद् हैं।

कर्मकाण्डप्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थो मे मुख्यतः यज्ञो का निरूपण और उनकी अनुष्ठान-विधियो का वर्णन है। 'शतपथ ब्राह्मण' (१।७।१।५) मे यज्ञ को प्रजापति और प्रजापति को ब्रह्म कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ और ब्रह्म, दोनो एक हैं। यज्ञ, अर्थात् ब्रह्म के प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण ही उन्हें 'ब्राह्मण' नाम दिया गया।

विषय की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थों के विधि, अर्थवाद, उपनिषद् और आख्यान चार विभाग हैं। प्रथम विधि-भाग मे मुख्यतः कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधि-विधानों का वर्णन है, अर्थवाद भाग मे यज्ञ-विधियो के सम्पादन की क्रिया का निरूपण है; 'अर्थवाद' उन निर्देश-वाक्यो को कहते हैं जिनमे यज्ञ विधानो का वर्णन रहता है। विधि का अनुकरण और निषेध की निन्दा करने वाले वाक्यो को 'अर्थवाद' कहा गया है। अर्थवाद के गुणवाद, अनुवाद तथा भूतार्थानुवाद तीन भेद है। ब्राह्मण-ग्रन्थो के तीसरे उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्त्व की मीमांसा की गयी है। चौथे आख्यान भाग में प्राचीन ऋषियों, राजवंशों और आचार्य-परम्पराओ की रोचक कथाएँ हैं। ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से इस चौथे आख्यान-भाग का विशेष महत्त्व है।

संस्कृत-साहित्य में गद्य-लेखन का सर्व प्रथम प्रयास ब्राह्मण-ग्रन्थों के द्वारा ही हुआ। इस दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थ न केवल भारतीय, अपितु समस्त योरोपीय तथा एशियाई साहित्य के प्राचीनतम गद्य-ग्रन्थ हैं। उनकी सर्वजनोपयोगी रोचक कथाओं द्वारा बडी सुगम शैली मे कर्मकाण्ड के महत्त्व को निरूपित किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से एकसमान महत्त्व है। इनमे 'पंचविंश ब्राह्मण' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ की विशेषता यह है कि उसमे निहित कर्म-नियमो द्वारा सामाजिक जीवन की एक नवीन पद्धति तथा अपूर्व परम्परा का सूत्रपात हुआ। उसके व्रात्य स्तोम यज्ञो द्वारा आर्येतर कबीलो को आर्य-समुदाय मे सम्मिलित करने का प्रशसनीय प्रयत्न हुआ।

वैदिक विद्याकुलो द्वारा आगे कर्तव्य, सदाचार, नैतिकता और वर्णाश्रम धर्मों की व्यवस्था के लिए जो साहित्य रचा गया उसका मूल आधार ब्राह्मण ग्रन्थ ही हैं।

विभिन्न मन्त्र संहिताओं से सम्बद्ध ब्राह्मण

प्रत्येक मन्त्र सहिता के अलग-अलग ब्राह्मण है। सम्प्रति केवल 18 ब्राह्मण ही उपलब्ध है।

ऋग्वेद सहिता से सम्बद्ध 'ऐतरेय' और 'कौषीतकी' ब्राह्मण हैं। यजुर्वेद संहिता, ब्राह्मण और अनुक्रमणिका मे कोई अन्तर नही है। कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी और काठक सहिताओ के परिशिष्ट अश भी एक प्रकार से ब्राह्मण ही हैं। आपस्तम्ब और आत्रेय शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नाम 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' तथा शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व शाखाओ के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नाम 'शतपथ' है। समस्त वैदिक पराम्परा के उपलब्ध ग्रन्थो मे 'शतपथ' ही सर्वाधिक बृहद् ग्रन्थ है। ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है।

सामवेद की तीन शाखाएँ सम्प्रति उपलब्ध है—कौथुमीय, जैमिनीय और राणायणीय। कौथुमीय शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थो के नाम हैं 'पचविंश ब्राह्मण', 'षड्विंश ब्राह्मण', 'अद्भुत ब्राह्मण', 'मन्त्र ब्राह्मण' और 'छान्दोग्य ब्राह्मण'। 'छान्दोग्य ब्राह्मण' ही 'छान्दोग्य उपनिषद्' हैं। सामवेद की दूसरी जैमिनीय शाखा के दो ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं, जिनके नाम हैं 'जैमिनीय ब्राह्मण' और

'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण'। तीसरी राणायणीय शाखा का कोई ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अथर्ववेद संहिता का केवल 'गोपथ' नामक ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध है। यह वेदान्त श्रेणी का ग्रन्थ है।

आरण्यक ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थो के बाद आरण्यक-ग्रन्थो का स्थान है। संहिताओं के अन्तिम भाग ब्राह्मण और ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक कहलाते हैं। 'आरण्यक' नाम इस बात का द्योतक है कि उनका सम्बन्ध अरण्यो अर्थात् वनो से था। 'एतरेय आरण्यक' का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने एक स्थान पर लिखा भी है 'अरण्यों, अर्थात् वनो मे अध्ययन-अध्यापन के कारण उनको इस नाम से कहा गया' (अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते)। दार्शनिक विचार एव रहस्यमय ज्ञान के लिए वस्तुतः अरण्य ही उपयुक्त स्थल थे। ब्राह्मण-ग्रन्थो का सम्बन्ध प्रधानतः गृहस्थाश्रम तथा आरण्यक-ग्रन्थो का अरण्यवासी वानप्रस्थियो से है।

सम्प्रति केवल आठ आरण्यक-ग्रन्थ ही उपलब्ध है। इनके नाम है— ऐतरेय, शाखायन, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, माध्यन्दिन, काण्व, जैमिनीय और छान्दोग्य। इन आरण्यक-ग्रन्थो मे यज्ञ-यागादि के विधानों के साथ ही ब्रह्मविद्या-विषयक गम्भीर विचार भी निहित हैं। उपनिषद् उन्ही के इन विचारो के व्याख्यान-ग्रन्थ हैं। कुछ आरण्यको मे वैदिक राष्ट्र की भौगोलिक पृष्ठभूमि और तत्कालीन राजाओ तथा ब्रह्मवेत्ता ज्ञानियो की भी चर्चा है। यह चर्चा ब्राह्मण ग्रन्थो मे उपलब्ध नही है। इस दृष्टि से 'तैत्तिरीय आरण्यक' और 'बृहदारण्यक' द्रष्टव्य है। भाषाशास्त्र और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से भी उनका विशेष महत्त्व है। उपनिषदो की भाषा-शैली से उनका घनिष्ट सम्बन्ध है।

उपनिषद्

उत्तर वैदिक युगीन साहित्य की परम्परा मे आरण्यक-ग्रन्थो के अनन्तर उपनिषदों का स्थान है। वैदिक साहित्य के अन्तिम अंग होने के कारण उपनिषदो को वेदान्त नाम दिया गया। इनमे आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। अतः परवर्ती साहित्य मे उन्हें आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या से भी अभिहित किया गया है। जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश

कर देती है, जिसके द्वारा संसार के कारणभूत अविद्या के बन्धन शिथिल या समाप्त हो जाते हैं और जिससे ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है, वही उपनिषद् (उप+नि+सद्) विद्या उपनिषदो का प्रतिपाद्य है।

वैदिक ऋषियों की ज्ञानदर्शी शाखा ने जीवन और जगत् की वास्तविकता का पता लगाने के लिए मौलिक तात्त्विक शक्तियों का अन्वेषण एव मनन चिन्तन करने के उपरान्त जो मन्तव्य स्थिर किये उन्ही का निष्कर्ष उपनिषदो में है। इस ऋषि-शाखा ने सर्ग, स्थिति और लय के सनातन त्रैविध्य के कारणो पर अनुसन्धान कर मन्तव्य प्रकट किया कि वह एक ऐसा चक्र है, जिसका न तो आदि है और न अन्त है। इस महाचक्र का सचालक एव सूत्रधार एक ऐसी स्वतः सम्पूर्ण पृथक् सत्ता है, जो अक्षुण्ण, अविकृत और अखण्ड है। तत्त्व-चिन्तको ने उसे परब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा और ईश्वर आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया है। व्यष्टि और समष्टि, दोनो रूपो मे इस परम सत्ता का आधान है। उसे प्राप्त करने का एकमात्र साधन ज्ञान है। ज्ञान क्या है और उसके द्वारा जीवन तथा जगत् की वास्तविकता को कैसे हृदयगम किया जा सकता है, इसका निरूपण उपनिषदो मे ही विद्यमान है।

भारतीय सस्कृति मे जो सार्वभौम विश्वजनीन आदर्श निहित है उनका एकमात्र स्रोत उपनिषद् ही है। विश्व के प्रबुद्ध विचारकों द्वारा आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध मे जो गहन चिन्तन और सूक्ष्म विचार हुआ उसमे उपनिषद् साहित्य बड़े महत्त्व का है। जिस राष्ट्र ने उपनिषदो का सृजन किया उसके सांस्कृतिक धरातल का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। विभिन्न बाहरी शासको के साथ भारत में प्रविष्ट अत्यन्त प्रचण्ड, प्रखर एव क्रूर सभ्यताओ को भारतीय सस्कृति ने बडी सुगमता से आत्मसात कर लिया। उपनिषदो के द्वारा भारतीय सस्कृति को जो शाश्वत आदर्श प्राप्त हुए है, उनकी वास्तविकता को समझने वाले लोगो की सख्या मे निरन्तर वृद्धि हो रही है।

भारत में वैचारिक एव आत्म-चिन्तन की दृष्टि से जो चरम विकास हुआ उसी के सृजक उपनिषद् हैं। यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थो से लेकर उपनिषदो तक का सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मूल सहिताओ का ही व्याख्यान-रूप है, फिर भी उनमें विषय-भिन्नता के अतिरिक्त, व्याख्यान-पद्धति मे भी अन्तर है। वेदो मे कर्म और ज्ञान का समन्वय है। कर्म और ज्ञान की ये दोनों विचारधाराएं धर्म पर आधारित हैं। ब्राह्मणो तथा आरण्यकों मे धर्म की स्थूलता तथा

उपनिषदों में उसकी सूक्ष्मता का निरूपण हुआ है। धर्म की भूमिका पर उपनिषदों में आत्मा के अमरत्व की खोज की गयी है। उपनिषद् ही ऐसे प्रथम ज्ञान-ग्रन्थ हैं, जिनमें धर्म को मानवता के योग, श्रेय तथा मोक्ष की उपलब्धि का एकमात्र साधन माना गया है। उपनिषदों के ऋषियो ने जीवन की शाश्वत मान्यताओं के सम्बन्ध में सर्व प्रथम गम्भीर अध्ययन तथा विचार किया।

उपनिषदों के निर्माता आध्यात्मिक और पार्थिव तत्त्वों की खोज में प्राचीन यूनान और मध्ययुगीन योरोपीय दार्शनिकों से बहुत आगे बढ़े हुए थे। उनका 'अमरता' (मोक्ष) का सिद्धान्त एक मंगलमयी सृष्टि की सुकामना थी, जिससे विश्व के प्राचीन तथा आधुनिक तत्त्ववेत्ता प्रभावित हुए।

वेदो में माया की कोई विशिष्ट एवं महती कल्पना नहीं की गयी है। इस दिशा के कुछ क्षीण संकेत तो मिलते हैं, पर वे सूक्ष्म प्रतीकात्मक रूप में ही हैं। माया के सिद्धान्त की सर्व प्रथम कल्पना उपनिषदों मे ही हुई। भारतीय वैचारिक दृष्टि से माया एक ऐसी दुर्जेय शक्ति है, जो व्यक्ति को ही नहीं, ससार को भी भ्रमित कर देती है। केवल विवेक या ज्ञान के द्वारा ही उसको पहिचाना तथा निवारित किया जा सकता है। माया और उसको वारित करने के उपाय-रूप विवेक का निरूपण भी उपनिषदो में ही प्रतिपादित है।

उपनिषदों द्वारा समष्टिमय एकता की स्थापना

उपनिषद् तर्कप्रधान ग्रन्थ है। उनमे तर्क द्वारा वस्तु की यथार्थता का विवेचन किया गया है। तर्क ही प्रमाण है और वही ज्ञान की उत्पत्ति का स्रोत भी है। उपनिषदो मे ज्ञान अर्थात् विद्या के परा और अपरा भाग बतलाये गये हैं। अपरा विद्या कर्मप्रधान विद्या है, जिसकी फलोपलब्धि कालान्तर मे होती है। परा विद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या ही ब्रह्मविद्या है, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् है। ब्रह्मविद्या के अभाव को अविद्या या अज्ञान कहते है। यही अविद्या बन्धन तथा आसक्ति का कारण है।

उपनिषदो मे विद्या-अविद्या, आत्मा-परमात्मा और ब्रह्म-माया के परस्पर विरोधी तत्त्वो को प्रस्तुत करके तर्क द्वारा अन्ततः ऐक्य स्थापित किया गया है। उपनिषदों की तर्कप्रधान संस्कृति मे इस ऐक्य या समन्वयवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ऐक्य ही वेदों तथा वेदान्त विद्या का अद्वैत है, जिसके अनुसार सभी कुछ सत्तावान् है। किन्तु उस सब का एक ही परम तत्त्व मे अधिवास है। उपनिषदों का यह ऐक्य सिद्धान्त ही वस्तुतः दार्शनिक जगत् का

साम्यवाद है। उपनिषदों तथा दर्शन के इस साम्यवाद में एक वस्तु या एक जीव का दूसरी वस्तु या दूसरे जीव से इतना अधिक सामीप्य एवं ऐक्य है कि उसको दो इकाइयाँ माना ही नहीं जा सकता है।

इस प्रकार उपनिषदों की तार्किक संस्कृति ने अनेकता मे एकता स्थापित करके जीवन की विभिन्न धाराओं को एक ही महार्णव में विलयित करने का महानतम प्रयत्न किया है। उपनिषदो ने जिस संस्कृति को जन्म दिया उसकी महानता यही है कि उसमें समस्त मानवता के लिए समान रूप से श्रेय और हित की व्यवस्था की गयी है। वे भारत की अन्तश्चेतना के सुविचारित, श्रेष्ठतम उद्‌गार हैं। उनके द्वारा भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान को निरन्तर चेतना मिलती रही है।

उपनिषदों ने दर्शनो के तत्त्व-चिन्तन को जन्म दिया। दर्शन वस्तुतः उपनिषदों की तत्त्वविद्या के व्याख्यान हैं। उपनिषदों मे सूत्र-रूप में कहे गये आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी सूक्ष्म विचारो को दर्शनों में अधिक विस्तार और गाम्भीर्य के साथ प्रतिपादित किया गया है।

विवेकाविवेक को सम्पन्न करने वाली विद्या का नाम ही दर्शन है। दर्शन अर्थात् 'जिसके द्वारा देखा जाय' (दृश्यते अनेन इति)। सभी धर्मों, मतो, पन्थो तथा सम्प्रदायो मे समन्वय स्थापित करके उनको एक रूप मे देखना ही दर्शन है। मैं क्या हूँ, यह ससार क्या है, जीवन-मृत्यु के इन बन्धनो की वास्तविकता क्या है—इन सभी जिज्ञासाओ के मूल मे निहित रहस्य को समझ लेना ही दर्शन है।

संसार की प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित प्रयोजन है। इसी निश्चित प्रयोजन की खोज करते-करते जो विशेष ज्ञान प्राप्त होता है उसी को वस्तु का यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। यह विशेष ज्ञान-प्राप्ति ही विभक्त तथा क्रमबद्ध-रूप मे सँजोई जाकर 'शास्त्र' के रूप मे प्रकट होती है। शास्त्र अनेक हैं और वस्तुओ की भिन्नता भी असीमित है। ये नानाविध शास्त्र अनेकविध वस्तुओं में निश्चित प्रयोजन की क्रमबद्ध व्याख्या प्रस्तुत कर विशेष-विशेष शास्त्रों के नाम प्रचलित हैं। इन सभी शास्त्रो का संग्रह दर्शनशास्त्र है।

दर्शनो की विचारप्रधान तात्त्विक संस्कृति अनेकता में एकता स्थापित कर समस्त मानवता को एक मंच पर बैठाने का महान् आदर्श प्रस्तुत करती है। विश्व की प्रत्येक जाति का दर्शन उसके समग्र जीवन का प्रतिबिम्ब है।

देश-काल तथा परम्परा की दृष्टि से विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के आचार-विचारों में भिन्नता होती है; किन्तु तत्त्वतः सम्पूर्ण मानवता के विचारों का मूल उद्गम तथा पर्यवसान एक ही लक्ष्य मे निहित होता है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में इसी एकता को दृष्टि में रखते हुए लिखा है—"भगवती भागीरथी के भिन्न-भिन्न प्रवाहों का परम लक्ष्य एक ही समुद्र है। वे सब वहाँ पहुँच कर एक हो जाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति के अलग-अलग शास्त्रों एवं दर्शनों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न हो; किन्तु उन सब का एक ही लक्ष्य है—आत्मप्राप्ति या आत्मदर्शन''—

> बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
> त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ।।

भगवती भागीरथी के विभिन्न प्रवाहों की भाँति भारतीय संस्कृति अनेकानेक विचारधाराओं, संस्कारो और परम्पराओ को समाहित करती हुई अन्ततः एक ही परम लक्ष्य आत्मदर्शन, स्वय को समझने मे, पर्यवसित हो जाती है। यह आत्मोपलब्धि तभी हो सकती है, जब जीवन को भली भाँति परिमार्जित किया जाय। संस्कृति का जो मूल उद्देश्य जीवन का परिमार्जन या परिष्कार करना है, उस पर वस्तुतः दर्शनो में ही विशुद्ध बौद्धिक दृष्टि से गम्भीर विचार हुआ है। दर्शनो की विचारप्रधान संस्कृति का सम्यक् स्वरूप 'गीता' मे देखने को मिलता है। 'गीता' के द्वारा भारतीय संस्कृति ने ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिधारा से अभिसिंचित होकर अपने सतत संजीव्य मानवीय उच्चादर्शों को प्राप्त किया। कदाचित् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भारतीय सस्कृति मे जो बौद्धिक उन्नति तथा वैचारिक उत्कर्ष हुआ वह दार्शनिक विचारधारा की ही देन है।

उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में परम्परा से मत-मतान्तर हैं। इस सम्बन्ध में अब तक जो सामग्री प्रकाश में आयी है उसके आधार पर उपनिषदों की ठीक संख्या निर्धारित करना कठिन है। आचार्य शंकर (8वी श० ई०), वाचस्पति मिश्र (9वी श० ई०) और आचार्य रामानुज (12वी श० ई०) के समय तक उपनिषदों की संख्या जिनको वेद शाखाओ के रूप मे माना गया है, तीस के लगभग थी। प्रसिद्ध दीपिकाकार शंकरानन्द तथा नारायण के समय (12-14वीं श० ई०) तक यह संख्या लगभग दुगुनी हो गयी थी। ऋक्-यजुष्-साम,

इन तीनों वेदों के मुख्य उपनिषदो के अतिरिक्त बावन आथर्वण उपनिषद् भी इसी समय संकलित हुए।

यह युग ऐसा था, जब अनेक धर्म तथा सम्प्रदाय अपनी प्रतिष्ठा तथा ख्याति बढ़ाने के लिए उत्सुक थे। उनमे शैव, वैष्णव और शाक्त प्रमुख थे। इन विभिन्न धार्मिक पन्थो के आचार्यों ने अपने-अपने मतो के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से अनेक उपनिषदो की रचना की। इस कारण उपनिषदो की सख्या सैकडों तक पहुँच गयी। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से प्रकाशित 'उपनिषद् वाक्य महाकोश' मे 223 उपनिषदो के नाम हैं। उसके बाद भी अनेक नये नाम इस सूची मे जुड़ते गये, जिनको मिलाकर उपनिषदों की संख्या 250 तक पहुंच गयी है।

प्राचीन तथा आधुनिक दोनो युगो तथा मतों के आचार्यों एव विद्वानो ने जिन उपनिषदों को एकमत से मान्यता प्रदान की है उनकी सख्या बारह है। उनके नाम हैं 1. ईश, 2. केन, 3. कठ, 4. प्रश्न, 5. मुण्डक, 6. माण्डूक्य, 7. तैत्तिरीय, 8. ऐतरेय, 9. छान्दोग्य, 10. बृहदारण्यक, 11. कौषीतकी और 12. श्वेताश्वतर। इन सभी उपनिषदो पर शकराचार्य का भाष्य है। शकराचार्य के अतिरिक्त रामानुज, निम्बार्क, बल्लभ और मध्व आदि जितने भी सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य हुए, उन्होने भी उक्त सभी उपनिषदो पर अपने-अपने सिद्धान्तो का मण्डन करते हुए भाष्य लिखे। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी उन पर टीकाएँ तथा व्याख्यान लिखकर उनकी मान्यता को सिद्ध किया।

उपनिषदों के रचनाकाल की मर्यादा

उपनिषदो के रचनाकाल के सम्बन्ध मे विद्वानो का मत-मतान्तर रहा है। इसमे कोई मतभेद नही है कि उपनिषदो की मूल विचारधारा अत्यन्त प्राचीन है। लगभग वैदिक युग मे ही उनका अस्तित्व प्रकाश मे आ गया था। मन्त्र संहिताओ, ब्राह्मण-ग्रन्थो और आरण्यकों से उनका घनिष्ट सम्बन्ध है। इस दृष्टि से उनके रचनाकाल का समय व्यापक रूप मे आंका गया है। कुछ उपनिषदो पर नितान्त पुरातन और कुछ पर बहुत बाद की परिस्थितियो का प्रभाव है।

उपनिषदो के विषय, विचार और भाषा आदि के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर आधुनिक वेद-वेदान्त-वेत्ता विद्वानो ने उनके ऐतिहासिक पक्ष की गवेषणा पर अपने अलग-अलग मन्तव्य प्रकट किये हैं। इस प्रकार के विभिन्न

मन्तव्यों के आधार पर सामान्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि उपनिषदों के रचनाकाल की पूर्व मर्यादा लगभग 16वी श० ई० पू० और उत्तर मर्यादा लगभग 15वीं श० ई० तक बैठती है। इस प्रकार कुछ उपनिषद् बहुत प्राचीन और कुछ बहुत आधुनिक सिद्ध होते हैं।

उपनिषदों का विश्व साहित्य में महत्त्व

बौद्धिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से समुन्नत एव प्रगतिशील आधुनिक विश्व के समस्त विद्वानो ने एकमत से स्वीकार किया है कि उपनिषदो मे मेधावी मानवों के वे अमूल्य विचार संगृहीत हैं, जो अन्य किसी देश के साहित्य में नही पाये जाते हैं। सच बात तो यह है कि उपनिषदों की इस महनीयता एवं श्रेष्ठता को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने वाले विद्वानों मे विदेशियो की संख्या ही अधिक है। लगभग डेढ सौ वर्षों से उपनिषद् विश्व के ज्ञान-पिपासुओ की विचारणा के विषय बने हुए हैं तथा उनके प्रति विद्वानो की निरन्तर जिज्ञासा बढ़ती जा रही है।

आधुनिक विश्व को उपनिषदो की ओर उन्मुख करने का प्रमुख श्रेय दाराशिकोह को है। अशोक और कनिष्क आदि भारतीय सम्राटो द्वारा आयोजित बौद्ध-सगीतियों के अनुकरण पर दाराशिकोह ने 1640 ई० में काश्मीर में समस्त भारत के शीर्षस्थ विद्वानो तथा सूफी सन्तो की एक विचार-गोष्ठी का आयोजन किया। इस गोष्ठी मे उपनिषद् विद्या के विभिन्न पक्षो पर विस्तार से विचार-विमर्श हुआ। शाहजादा ने उस विचार-विनिमय मे स्वयं भी सक्रिय भाग लिया। उसके बाद उपनिषदों के अध्ययन और मनन करने वाले विद्वानो से उसका निरन्तर सम्पर्क बना रहा। उसने लगभग सोलह वर्ष तक एकाग्र मन से अध्ययन-श्रवण-निरत रहते हुए हिजरी 1077 (1656 ई०) को फारसी मे एक ऐसे बृहद् ग्रन्थ का सम्पादन कार्य पूरा किया, जिसमें पचास उपनिषदो के अनुवाद संकलित थे। इस महाग्रन्थ का नाम था 'सिरे अकबर' (महारहस्य)।

फारसी के इस महाग्रन्थ के निर्माण के लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद फ्रेंच, जर्मन, लैटिन तथा अंग्रेजी भाषा में उसके एक साथ अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए। इन अनुवादों की शृंखला 20वी शती के आरम्भ तक निरन्तर बनी रही, जिसके फलस्वरूप विश्व के कोने-कोने तक उपनिषदों का महान् सन्देश व्याप्त हो गया।

जिन विदेशी विद्वानों ने उपनिषदों का विशेष अध्ययन किया उनमें डुपेरन, विंटरनित्स, शॉपेनहार, फ्रांक, वेबर, मैक्समूलर, पिशेल, बोटलिंग और पाल ड्यूसन का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने उपनिषदो का गम्भीर अध्ययन-अनुशीलन कर उन पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

उपनिषदो के प्रति अपने विचारों को प्रकट करते हुए डुपेरन ने लिखा है कि 'वे जीवन तथा समस्त मानवता को उन्नत करने वाले ऐसे प्रकाशपुंज है, जिनकी तुलना विश्व के किसी भी साहित्य से नही की जा सकती है।' डुपेरन के इन उद्गारों को मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया और उपनिषदों को समस्त मानवता के लिए सबसे बड़ा वरदान कहा। मानवीय मेधा की इस सर्वोच्च देन के प्रति अपने मनोभाव प्रकट करते हुए उन्होने लिखा कि 'आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीयों का जो बौद्धिक एवं वैचारिक अभ्युदय हो चुका था, उस तक पहुँचने में अन्य देशो को अभी पर्याप्त समय लगेगा।'

षड्वेदांग

वैदिक साहित्य की परम्परा के विकास-विस्तार के फलस्वरूप जो नयी ज्ञान-शाखाएँ प्रकाश मे आयी उन्हें ही षड्वेदांग के नाम से कहा गया। षड्वेदाग के प्रकाश मे आने से भारतीय साहित्य में नये युग का सूत्रपात हुआ। इस युग के रचनाकारो ने विषय, विचार और शैली की दृष्टि से नये जीवन्त एवं संवर्द्धनशील साहित्य को जन्म दिया। वैदिक साहित्य की अंगभूत इन छह शाखाओ के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष नाम हैं। 'पाणिनि शिक्षा' में उनकी प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध मे कहा गया है कि 'उस अनादि वेदपुरुष परमेश्वर के शिक्षा नासिका, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त कान, छन्द पाद और ज्योतिष आँखें हैं'—

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरण निरुक्तं छन्दसां च यः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु॥

1. **शिक्षा**—षड्वेदांग मे शिक्षा को स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे माना गया है और व्याकरण से उसकी भिन्नता निरूपित की गयी है। वेदपाठ के शुद्ध शब्दोच्चारण और स्वर-प्रक्रिया का विधान शिक्षाशास्त्र के द्वारा होता है। उच्चारण-स्खलित और स्वर भ्रष्ट वेदपाठ न केवल निष्फल होता है, अपितु जिस इष्ट-सिद्धि के उद्देश्य से वह किया जाता है उसके प्रतिकूल फल देता है। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के प्रथम उछ्वास में लिखा है कि एक बार ऋषि दुर्वासा के अशुद्धोच्चारण पर सरस्वती द्वारा उपहास किये जाने के कारण

ऋषि ने उसे तुरन्त ही शाप दे डाला। प्रायश्चित्त के लिए सरस्वती को फिर मर्त्यलोक में आना पड़ा। याज्ञवल्क्य का कहना है कि वेदों का अध्ययन-अध्यापन करते समय गुरुजन शुद्धता पर बड़ा ध्यान देते थे। इसीलिए गुरु का शिष्य के प्रति प्रथम निर्देश शुद्ध उच्चारण और विधिसंयुक्त स्वर-क्रिया के प्रयोग का हुआ करता था।

शिक्षाशास्त्र मे शुद्धोच्चारण सम्बन्धी जिन छह बातों पर विशेष विचार किया गया है, उनके नाम वर्ण, स्वर, मात्रा, वल, साम और सन्तान हैं। इन छह उच्चारण-विधियों के सन्दर्भ में ध्वनि के आरोह-अवरोह, उच्चारण की विशुद्धता और समय के ज्ञान का विशेष विचार किया गया है। शिक्षाशास्त्र पर यद्यपि अनेक ग्रन्थो की रचना हुई, किन्तु उनमें सर्वाधिक महत्त्व 'पाणिनि शिक्षा' को ही प्राप्त हुआ है।

2. **कल्प**--शिक्षा के अनन्तर कल्प दूसरा षडंग है। इस षडंग के अन्तर्गत कल्पसूत्रशास्त्र का निर्माण हुआ। 'कल्प' का अर्थ है विधि, नियम, न्याय, कर्म तथा आदेश और 'सूत्र' का अर्थ है संक्षेप। इस प्रकार कल्पसूत्र उस शास्त्र को कहा गया है, जिसमें वेदमंत्रों के विधि-विधानों, न्याय-नियमों, रीति-व्यवस्थाओ, कर्मानुष्ठानो और धर्माज्ञाओ का संक्षिप्त, सारयुक्त, प्रयोक्तव्य, अप्रतिहत और निर्दोष विवेचन है। कम-से-कम शब्दो में अधिक-से-अधिक भाव प्रकट करने के उद्देश्य से पुरातन आचार्यों ने कल्पसूत्रो के रूप में नये वेदांग साहित्य का निर्माण किया।

कल्पसूत्रो के तीन विभाग हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। श्रौतसूत्र विभाग मे वैदिक यज्ञो का सार सकलित है। हवि-दान एवं सोमयाग सम्बन्धी धार्मिक अनुष्ठानो का इनमे विवरण है। उनमें श्रुति-नियत चौदह प्रकार के यज्ञों का विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया है।

गृह्यसूत्रो में गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी धामिक कृत्यो का निरूपण किया गया है। गृहस्थ-जीवन से सम्बद्ध गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने भी क्रिया-कलाप एवं कर्मानुष्ठान हैं, उन सबका प्रतिपादन भी गृह्यसूत्रों में किया गया है। गृह्यसूत्र वस्तुतः मानवजीवन के नैतिक एवं सदाचार सम्बन्धी नियमों तथा उपनियमों के कोश हैं।

धर्मसूत्र सामाजिक तथा पारिवारिक व्यवस्था के नियामक ग्रन्थ हैं। व्यक्ति, परिवार और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों के परिपालन में किसी प्रकार का

व्यवधान उत्पन्न न हो, इसकी व्यवस्था धर्मसूत्रों में की गयी है। वे व्यक्ति, परिवार तथा समाज में नैतिकता-स्थापना तथा उसके अभ्युदय-श्रेय का भी विधान करते हैं। उनमें कर-कानून का भी निर्धारण हुआ है। धर्मसूत्र भारत के विधि-ग्रन्थ हैं। वे स्मृतियों के निर्माण-स्रोत हैं, जिनके द्वारा विगत सहस्रों वर्षों से इस बृहद् राष्ट्र का अनुशासन तथा नियमन होता आया है।

3. **व्याकरण**—व्याकरण तीसरा वेदाग है। वेदमत्रो को उनके मूल रूप में सुरक्षित रखने तथा उनके दुरूह एव गम्भीर ज्ञान को प्रकाशित करने के उद्देश्य से पृथक् व्याकरणशास्त्र की आवश्यकता हुई। वैदिक व्याकरण से सम्बद्ध ग्रन्थों को 'प्रातिशाख्य' कहा गया है। पुरातन ऋषि-वशो द्वारा वेदो की विभिन्न शाखाओ को लक्ष्य करके जो व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गये उन्ही के आधार पर वैदिक व्याकरण को 'प्रातिशाख्य' कहा गया। इन प्रातिशाख्यो मे सम्बद्ध वेद-शाखाओ को सहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ तथा जटा-पाठ आदि के रूप मे व्यवस्थित एव सुरक्षित रखा गया है।

व्याकरणशास्त्र का चरम विकास पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' मे हुआ। 'अष्टाध्यायी' भारतीय वाङ्मय के महानतम ग्रन्थो मे से एक है। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य की भाषाशास्त्रीय एकरूपता एव व्यवस्था के लिए जिन नियमो तथा उपनियमों को इस बृहद् ग्रन्थ में सकलित किया गया है, उसकी तुलना के लिए विश्व की किसी अन्य भाषा का व्याकरण उपलब्ध नही है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' समस्त विश्व-वाङ्मय मे अपनी अतुलनीयता मे एकाकी है।

4. **निरुक्त**—वेद के छह अंगो मे निरुक्तशास्त्र का चौथा स्थान है। निरुक्त और व्याकरणशास्त्र, दोनों का प्रायः एक ही विषय है-शब्द-व्युत्पत्ति और शब्द-बोध। निरुक्त का विषय विशेषरूप से ऐसे दुरूह वैदिक शब्दो की व्युत्पत्ति करना है, जो व्याकरण द्वारा निष्पन्न नही हो सकते थे। किन्तु व्याकरणशास्त्र के ज्ञान के बिना निरुक्त का ज्ञान सम्भव नही है। फिर भी निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय व्याकरण से भिन्न है। कौन शब्द किस विशेष अर्थ मे रूढ़ है, निरुक्त इसका निरूपण करता है। निरुक्त मे वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश और धातु का अतिशय योग—इन पचविध नियमो द्वारा भाषाशास्त्र को प्रशस्त किया गया है। इस समय यास्क का 'निरुक्त' ही इस विषय का एकमात्र प्रौढ ग्रन्थ है।

5. **छन्द**—वेदांग-साहित्य मे छन्द का पाँचवां क्रम है। समस्त वेदमत्र छन्दबद्ध हैं। छन्द अनेक प्रकार के हैं और उनकी उच्चारण-विधियाँ भी

भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए छन्दानुक्रम से वेदमंत्रों के शुद्ध प्रयोग के लिए स्वतन्त्र छन्दशास्त्र की आवश्यकता हुई। वेदो मे छन्द को एक ऐसे कवच के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिससे कि वेदमन्त्र आसुरी हस्तक्षेप से सुरक्षित रह सकें। छन्द की परिभाषा करते हुए लिखा गया है 'जो असुरो द्वारा जनित विघ्न-बाधाओं से यज्ञादि कर्मों एवं वैदिक अनुष्ठानों की रक्षा करता है, वही छन्द है।' वेदमन्त्रो के शुद्ध उच्चारण के लिए व्याकरणशास्त्र की भी आवश्यकता हुई। उनकी लयबद्ध व्यवस्था के लिए छन्दशास्त्र का विधान किया गया। 'ऋक्प्रातिशाख्य' और आचार्य पिंगल का 'छन्दशास्त्र' इस विषय के प्रमुख एवं प्राचीन ग्रन्थ है।

6. **ज्योतिष**--षड्वेदाग मे ज्योतिषशास्त्र का स्थान छठा एवं अन्तिम है। सृष्टि की उदयवेला मे आदिम मानव की काल-ज्ञान, दिशा-ज्ञान और स्थिति-ज्ञान आदि की जिज्ञासाएँ रही हैं। मानव आदिम अवस्था में प्राकृत तत्त्वों पर अवलम्बित था। ऋतुओ, जलवायु, आकाशमण्डल तथा वनस्पतियो के निरन्तर साहचर्य के कारण उसने उनके अनुकूल-प्रतिकूल प्रभावो को हृदयगम किया। सभ्यता के इस नवोन्मेष ने मनुष्य को नयी उत्सुकताओ एव जिज्ञासाओं की खोज के लिए प्रेरित तथा उत्साहित किया, जिसके फलस्वरूप ज्योतिषशास्त्र का जन्म हुआ। उसके बाद धीरे-धीरे उसने दिन-रात, पक्ष, मास, वर्ष तथा अयन आदि के रहस्यो का ज्ञान प्राप्त किया।

अन्य अनेकानेक शास्त्रो तथा विधाओ के साथ ज्योतिर्विद्या के उदय का एक कारण वैदिक आर्यों की यज्ञ-याग-निष्ठा भी थी। यज्ञप्रेमी वैदिको के समक्ष यज्ञ-यागो की सुफल-प्राप्ति के लिए आवश्यक था कि उनका आरम्भ तथा समापन ग्रहो की अनुकूल स्थिति मे हो। ग्रहो के अनुकूल तथा प्रतिकूल ज्ञान के लिए एकमात्र साधन ज्योतिष था। वैदिक आर्य ग्रहों की पूजा करते थे, जिससे कि वे राष्ट्र के लिए मगलप्रद बनें। न केवल धार्मिक, अपितु सामरिक, आखेट तथा यात्रा आदि कार्यों के लिए भी आकाशमण्डल की ग्रहस्थिति पर विचार करना आवश्यक हो गया था।

इस रकार मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताओं के फलस्वरूप धीरे-धीरे ज्योतिषविद्या स्वतन्त्र विज्ञान-शाखा के रूप मे प्रकाश मे आयी और आधुनिक विश्व के लिए उसने अपनी अतिशय उपयोगिता को सिद्ध किया।

परवर्ती वैदिक साहित्य

उत्तर वैदिक युग मे ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का निरन्तर निर्माण होता गया। इन नयी ज्ञान-शाखाओ में अनुक्रमणी, बृहद्देवता और कोश

साहित्य का नाम उल्लेखनीय है। इन नये विषयों में कुछ का भावी विकास तो अवरुद्ध हो गया और कुछ का सम्बन्ध लौकिक संस्कृत के अभ्युदय के साथ जुड़ गया। किन्तु मूलतः इनका उद्देश्य वैदिक वाङ्मय की अभिवृद्धि ही रहा। उनका निर्माण वेदमन्त्रों की सुरक्षा के उद्देश्य से हुआ। परम्परा द्वारा समस्त वेद और वैदिक ज्ञान की विरासत कण्ठस्थ या मौखिक रूप मे ही उत्तरवर्ती पीढ़ियों को प्राप्त होती रही। ज्ञान की इस परम्परागत विरासत के अलिखित होने के कारण मन्त्रों, देवताओं, ऋषियों और उनसे सम्बद्ध विनियोगो मे व्यतिक्रम होने की सम्भावना को दृष्टि में रख परवर्ती विचारको ने अनुक्रमणी, बृहद्देवता और कोश आदि नये विषयों का सृजन किया। इनके द्वारा परम्परा को वेद तथा वैदिक ज्ञान असन्दिग्ध रूप में प्राप्त होते रहे।

अनुक्रमणी

अनुक्रमणी वस्तुतः वेदमन्त्रों की क्रमबद्ध सूची है। उसमे विभिन्न वेदमन्त्रों से सम्बद्ध देवताओं, विभिन्न मन्त्रो के छन्दो, विभिन्न शाखाओ से सम्बद्ध अनुवाको, वर्गों, सूक्तों और विभिन्न मन्त्रो के मन्द, मध्यम तथा तार स्वरो की सुव्यवस्था के लिए विधान एवं नियम वर्णित हैं। मन्त्रपाठ के क्रम–व्यवस्थापन और मन्त्रों के विशुद्ध अर्थबोध के लिए अनुक्रमणी-विषयक ग्रन्थो का विशेष महत्त्व है।

बृहद्देवता

परवर्ती वैदिक साहित्य मे बृहद्देवता-विषयक ग्रन्थो का विशेष महत्व है। प्रत्येक मन्त्र से सम्बद्ध देवता का ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर ही मन्त्रों का सम्यक् अर्थ-बोध सम्भव है; क्योंकि भिन्न-भिन्न मन्त्रों से सम्बद्ध देवताओं का ज्ञान प्राप्त किये बिना जो वैदिक तथा लौकिक कर्म सम्पादित किये जाते हैं वे सर्वथा निष्फल होते जाते है। अतः प्रत्येक देवता की अनुग्रह-प्राप्ति के लिए उसके नाम, रूप, कार्य और बन्धुत्व का ज्ञान प्राप्त होना आवश्यक है।

समस्त वैदिक देवताओ को तीन विभागों मे विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग के देवता अग्नि के अन्तर्गत, द्वितीय के वायु तथा इन्द्र और तृतीय के देवता सूर्य के अन्तर्गत परिगणित किये गये हैं। इन त्रिस्थानीय समस्त देवताओं के सम्बन्ध मे निर्देश है कि योग, दक्षता, दम, बुद्धि, पाण्डित्य, तप तथा नियोग से उनकी उपासना करनी चाहिए। इस विषय पर 'बृहद्देवता' नामक एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध है।

कोश

कोश-विषयक ग्रन्थ भी वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग है। कोश साहित्य की जो वैज्ञानिक पद्धति तथा उपयोगिता है, मूलरूप में उसका आधार तथा उद्देश्य आज के दृष्टिकोण से भिन्न था। आरम्भ में उसको एक स्वतन्त्र विषय के रूप मे मान्यता प्राप्त नही थी। उसे भाषाशास्त्र या शब्दशास्त्र के अन्तर्गत ही माना जाता था। व्याकरण (प्रातिशाख्य), अनुक्रमणी और कोश तीनों विषय परस्पर गुम्फित तथा सम्मिलित थे। इन तीनों का एकमात्र उद्देश्य वेदपाठ की रक्षा तथा उसके क्रम को असन्दिग्ध रूप मे व्यवस्थित बनाये रखना था। यही कारण है कि जो आचार्य प्रातिशाख्य ग्रन्थों के रचयिता थे वे ही कोशकार भी थे।

यद्यपि प्राचीन वेद-सम्बद्ध कोश-ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नही है, फिर भी उत्तरवर्ती विभिन्न कोश-ग्रन्थो मे उनके उद्धरणो को देखकर स्पष्ट है कि वैदिक युग मे उनका अस्तित्व था। इस दिशा मे 'निघण्टु' नामक प्राचीन वैदिक शब्दकोश उल्लेखनीय है।

तत्कालीन सामाजिक जीवन का चित्रण

'बृहद्देवता' मे विशेष रूप से वैदिक देवताओं का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। उसमे वैदिक व्याकरण-विषयक सामग्री के अतिरिक्त तत्कालीन जन-जीवन के भी कई प्रेरणाप्रद एवं प्रभावोत्पादक सन्दर्भ सुरक्षित है।

उसमे विभिन्न देवताओ, ऋषियो और राजाओं की रुचिकर एवं शिक्षाप्रद कथाएँ हैं। उदाहरण के लिए दध्यश्व और मधु, कक्षीवत् और स्वनय, दीर्घतपस्, गृत्समद और इन्द्र, त्र्यरुण वृशजान, श्यावाश्व, कण्व और प्रगाथ, पुरूरवा और उर्वशी तथा सरण्ड आदि की कथाएँ बड़ी रुचिकर हैं। इन कथाओं मे दी गयी वंश-तालिका ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इनसे धर्म, दर्शन, समाज, नीति और भूगोल आदि अनेक विषयों पर प्रकाश पड़ता है। उनसे तत्कालीन सामाजिक जीवन के रहन-सहन और खान-पान आदि का भी पता चलता है। एक बार अनावृष्टि के समय शचीपति (इन्द्र) ने ऋषियों से पूछा—'इस महान् संकट के समय आप लोग किस कर्म से जीवित हैं?' उन्होंने उत्तर दिया 'हे राजन्! गाडी, खेत, पशु, कृषि, न बहने वाले जल (तालाब), वन, समुद्र और पर्वतों से हम जीवित हैं' (६।१३७-३८)।

इस प्रकार 'बृहद्देवता' में वैदिक युगीन सामाजिक जीवन के सजीव एवं प्रामाणिक सन्दर्भ निहित हैं, जिनके अनुशीलन से तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियो का भी उद्घाटन होता है।

देवता

श्रुतियो और पुराणो मे देवताओ का विशद रूप से वर्णन हुआ है। यह विश्व प्रकृति जड-प्रवाह नही, अपितु एक धर्मविधान है। जिस विधान के द्वारा प्राकृतिक नियम शासित होते हैं, उसी का नाम धर्मविधान (ऋत्) है। जहाँ यह धर्मविधान है, वहाँ किसी चेतन नियामक की स्वीकृति अनिवार्यतः सिद्ध है। इसी अनुशासन के अधीन होकर चलने मे नतिक और आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है। इस जड प्रवाह जगत् के व्यापारो का संचालन करने वाला कोई श्रेय-बुद्धिसम्पन्न चेतन पुरुष ही है। वह विचारशील और धर्मप्रवण है। उसी के हाथो मे इस कर्ममय जगत् की बागडोर है। वही इस जगत् का शास्ता, नियन्ता और अधिष्ठाता है। वेद में इस प्रकार की चेतन सत्ता के संकेत हैं। इसी चेतन सत्ता का नाम 'देवता' है।

वेदों के विचारशील ऋषियो ने आत्मचिन्तन द्वारा अनुभव किया कि यह समस्त जागतिक प्रपच वास्तविक नही है। इसका अन्त अत्यन्त दु.खमय है। उससे पार होने के उपाय भी उन्होंने ढूंढ निकाले। उन्होंने अनुभव किया कि दुःख को परम सुख मे परिवर्तित किया जा सकता है। इस परम सुख की प्राप्ति के लिए उन्होने देवताओं की प्रार्थना की और विशिष्ट उपासनाओ द्वारा उन्हे प्रसन्न किया। उन्होने अनुभव किया कि देवता ही एकमात्र ऐसे साधन हैं, जो प्रसन्न होने पर उपासक का उपयुक्त मार्ग-दर्शन कर सकते हैं।

देवता अक्षय, अनन्त, विराट् शक्ति एव अपरिमित वैभव के आगार हैं। उनमे मानव ने अपनी बुद्धि से नाम तथा रूप की कल्पना आरोपित की है। उन्हें अपनी ही भाँति स्त्री, पति तथा पुत्रो वाला माना गया है। वैदिक ऋषियो ने देवताओं का वर्णन करते हुए स्वय भी उनमें मानवत्व का निरूपण किया है। उनके चरित्रो, अधिष्ठानों तथा रूपों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वे विशिष्ट रूप के मनुष्य हैं, जिनमे मानवो जैसी आकांक्षाएँ और प्रेरणाएँ विद्यमान हैं। वे मानवो की ही भाँति उत्पन्न हुए, किन्तु मानवों की अपेक्षा वे अजर-अमर हैं। वे प्रकृति की गोचर घटनाओं के दैवीकृत प्रतिनिधि हैं। प्रकृति की

सभी वस्तुएँ तथा घटनाएँ सचेतन तथा दिव्य हैं। जब हम वैदिक ऋषियों की उषा सम्बन्धी ऋचाओं को पढते हैं तो उनमें हमे एक ऐसी उज्ज्वलवसना देवी का मूर्तिकरण देखने को मिलता है, जो मानवीय आवरण धारण किये हुए है। यदि इस दृष्टि से वैदिक देवताओ के स्वरूप-स्वभाव की मीमासा की जाय, तो उनमे एक महामानव की समस्त महानताओं का समावेश देखने को मिलता है। यहाँ तक कि यद्यपि वे अमर है, किन्तु मानवो की भाँति ही हमे उनमें महान्-लघु का अन्तर और बाल, युवा, वृद्ध आदि का अवस्था-भेद भी देखने को मिलता है।

श्रुतियो तथा पुराणों मे इस देवताविषयक मानवारोपण मे एकमात्र लोकानुग्रह की आकांक्षा विद्यमान है। वे स्वयं सत्य के पोषक, नैतिक आदर्शो के सरक्षक, जगत् के नियामक तथा प्राण-शक्ति के स्रोत है। वे मनुष्य के भद्र तथा कल्याण में निरत रहते हैं। वे क्षेम, यश तथा श्रेय के कारण भी है। उन्ही से प्रेरित होकर मनुष्य अनृत से सत्य की ओर और हिंसा से अहिंसा की ओर प्रवृत्त होता है।

सृष्टि के अनन्तरूप होने के कारण पुराणो मे देवताओं की सख्या तैतीस कोटि बतायी गयी है। यह देवतावाद भारतीय संस्कृति की विविधता, सर्वांगीणता, एकेश्वरवाद अनेकता मे एकता या बहुत्व मे एकत्व (महद्देवान सुरत्वमेकम्) का द्योतक है। ऋग्वेद के बहुदेवतावादी धर्म की परिणति दशम मण्डल के उन सूक्तो मे हुई है, जिनमे विश्व की मूलभूत एकता के प्रतिपादक एकेश्वरवाद का निरूपण किया गया है। वहाँ प्रजापति, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ और अदिति आदि अनेक नाम दिये गये हैं। उसे सृष्टि का विराट् पुरुष बताया गया है (पुरुष एवेद सर्वं यो भूतमथमाव्यम्)। उस एकमेव ब्रह्म तत्त्व (एकं सत्) को ही ज्ञानियो ने विभिन्न नामो (एक सद्विप्रा. बहुधा वदन्ति) से पुकारा है।

वस्तुतः देखा जाय तो वैदिकों के इस देवतावाद ने एक ऐसी उदात्त सस्कृति को जन्म दिया, जिसमें देश-काल की परिधियाँ विच्छिन्न होकर अविरत, अविच्छिन्न तथा सार्वभौमिक भावधारा के रूप मे सृजित हुई हैं। इस सार्वभौम भावधारा को ही ऋग्वेद मे सत्य, ज्ञान, अनन्त, एकमेव, अद्वितीय, शान्तिमय, शिवमय और आनन्दमय कहा गया है।

आश्रम और उनके कर्त्तव्य

आश्रमों का उद्देश्य

वर्ण और आश्रम भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ रहे हैं। इस वर्ण-आश्रम-व्यवस्था ने भारत के वृहद् एवं विभिन्न मतानुयायी समाज को अतीत के सैकड़ो वर्षों तक संगठित, नियमित और अनुशासित रखकर उत्तरोत्तर उन्नयन तथा प्रगति की ओर अग्रसर किया। वर्णाश्रम के उच्चादर्शों एव मर्यादाओं से परिमण्डित होकर मनुष्य ने आध्यात्मिक एव भौतिक उत्थान की सुदृढ़ भूमिका का निर्माण किया।

भारत के जीवनद्रष्टा मनीषियो ने आश्रमो की व्यवस्था एक विशेष प्रयोजन से की थी। इस पृथ्वी पर जिसने मनुष्य-जीवन प्राप्त किया है, वह जन्म से ही भोग-विषयो की ओर आकर्षित होते हैं। भोग मनुष्य के अभ्युदय तथा पतन दोनों के कारण हैं। यद्यपि दर्शनशास्त्र एवं आचारशास्त्र मे इन भोग विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय-निग्रह तथा वैराग्य-मार्ग का निर्देश किया गया है; किन्तु जन-सामान्य से लिए सांसारिक भोग-विलासो को त्यागकर वैराग्य ग्रहण करना सरल नही है। इसलिए भारतीय धर्माचार्यों तथा विधिवेत्ताओ ने शिक्षा, अभ्यास तथा अन्य नियम निर्धारित कर मनुष्य को सांसारिक विषय-भोगों पर विजय प्राप्त करने तथा उच्चतर दिशा में ले जाने के लिए आश्रम धर्म की व्यवस्था की।

आश्रम-व्यवस्था का एक ध्येय मनुष्य की नैतिक उन्नति से भी है। चातुर्वर्ण्य और उसके समष्टिरूप समाज तथा राष्ट्र की सुव्यवस्था एव अनुशासनबद्धता के लिए यह आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र उन्नत हो। क्योंकि व्यक्ति ही समाज तथा राष्ट्र का निर्माता है इसलिए व्यक्ति की उन्नति पर ही समाज तथा राष्ट्र की उन्नति निर्भर है। मनुष्य की भौतिक या आर्थिक उन्नति तभी सम्भव है, जब वह आचार तथा विचार की दृष्टि से उन्नत हो। इस आचारिक तथा वैचारिक उन्नति के लिए ही आश्रमधर्म की व्यवस्था की गयी थी।

मनुष्य अपनी वैयक्तिक उन्नति के साथ-साथ राष्ट्र तथा समाज की उन्नति की दिशा में अग्रसर होता रहे, इस हेतु समस्त मानव-जीवन को चार काल-खण्डों में विभाजित किया गया है। ये चार खण्ड या विभाग प्राकृतिक तात्त्विक धर्मों पर आधारित हैं। मनुष्य के भीतर जो प्राकृत शक्ति विद्यमान

है अवस्थानुसार उसमें परिवर्तन तथा विकास होता रहता है। तदनुसार मनुष्य-जीवन के चार विभाग किये गये हैं। शक्तियो की संख्या एवं सीमा अनन्त है किन्तु उन सबका अन्तर्धान कर्म और ज्ञान दो महाशक्तियों में हो जाता है। मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक समस्त कामनाओं तथा अभिलाषाओं की पूर्ति इन्ही दो शक्तियो के विकास पर निर्भर है। कर्माचरण मनुष्य के पूर्वार्द्ध (ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ) जीवन के और ज्ञानोपलब्धि, उत्तरार्द्ध (वानप्रस्थ तथा संन्यास) जीवन के आधार हैं। मनुष्य मे प्रकृत रूप से विद्यमान कर्म और ज्ञान के सम्यक् विकास के लिए ऋषियो ने समस्त मानव-जीवन को चार विभागों, जिनके नाम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में विभक्त किया है। इसमें आदि के दो प्रवृत्तिपरक और अन्त के दो निवृत्तिपरक आश्रम हैं। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ अवस्था मे मनुष्य का मुख्य सम्बन्ध लोभ मोह, ममता और ईर्ष्या आदि लोकेषणाओ से बना रहता है; परन्तु वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर उसकी लोभादि इच्छाएँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं।

पुरातन-आश्रम धर्म के व्यवस्थापको ने मनुष्य की आयु-सीमा को सामान्यतः सौ वर्ष निर्धारित किया है (शतायुर्वै मनुष्यः)। श्रुतियो की 'जीवेम शरदः शतम्' और 'शत वर्षाणि जीव्यासम्' उक्तियाँ मनुष्य की शतायु की द्योतक हैं। इसी आधार पर प्रत्येक आश्रम के लिए पच्चीस वर्ष की अवधि निश्चित की गयी है। सौ वर्ष की समस्त जीवनावधि को पचास वर्ष कर्मार्जन (कर्मानुष्ठान) और पचास वर्ष ज्ञानार्जन (यज्ञानुष्ठान) के लिए नियत किया है। पूर्व की अर्धावस्था में कर्म-सम्पादन की प्रधानता है, किन्तु उसमे ज्ञानार्जन का तारतम्य स्वतः स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार उत्तर की अर्धावस्था मे ज्ञानार्जन की प्रधानता होते हुए भी उसमे कर्मार्जन का सम्बन्ध बना रहता है।

पूर्व और उत्तर होने के कारण कर्म और ज्ञान मे अन्तर है। कर्मशक्ति अनित्य और ज्ञानशक्ति नित्य है। ज्ञानशक्ति मे कर्मशक्ति स्वतः समन्वित रहती है। ऐहिक उन्नति के लिए असत् कर्मशक्ति और पारमार्थिक उन्नति के लिए सत् ज्ञानशक्ति साधन है।

ब्रह्मचर्याश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम मनुष्य-जीवन की प्रथमावस्था है। 'ब्रह्म' विद्या, तेज और ईश्वर का द्योतक है। अतः विद्याध्ययन, तेजस्विता और ईश्वरोपासना के

लिए जीवन के प्रथम चरण में जिस व्रत को धारण किया जाता है, उसी को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्म का एक नाम 'शुक्र' भी है। शुक्र अर्थात् वीर्य (शुक्रं ब्रह्म सनातनम्)। 'ब्रह्म' के धर्म हैं—अति बृहत्, अनन्त और बृहणशील। तदनुरूप वीर्य भी वर्द्धनशील, अनन्त और बृहणशील है। अतएव ब्रह्मज्ञान और शक्ति की प्राप्ति, संचय और वृद्धि के लिए जिस चर्या को धारण किया जाता है, उसी का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। श्रीकृष्ण ने 'गीता' (६।१४) में कहा है 'इस ब्रह्मचर्य व्रत मे अवस्थित भयरहित तथा भलीभांति शान्त अन्त करण वाला, सावधान हो मन को वश मे करके मन्निष्ठ पुरुष मुझ में ही समाहित होता है'—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर.॥

विधि-ग्रन्थो की व्यवस्था के अनुसार पुरुषो के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि पच्चीस और स्त्रियो के लिए सोलह वर्ष निश्चित है। बालक और बालिकाओ को अलग-अलग रहकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहिए।

गृहस्थाश्रम

आश्रमधर्म की दूसरी अवस्था का नाम 'गृहस्थ' है, जिसे मनु ने समुद्र की संज्ञा दी है। जैसे सब नदियाँ समुद्र मे जाकर शरण लेती है, उसी प्रकार सभी आश्रमो मे रहने वाले लोग गृहस्थ के यहाँ आश्रय पाते हैं। इसलिए इहलोक और परलोक के सुखप्राप्त करने के इच्छुक लोगो को चाहिए कि वे ससार-सागर गृहस्थ आश्रम का भलीभाँति पालन करें। गृहस्थ आश्रम का महत्त्व आज भी मानव जीवन मे बना है। इस दृष्टि से उसकी उदात्तता के नियमो का परिपालन करना आज के गृहस्थ का सहज कर्त्तव्य हो जाता है।

वानप्रस्थाश्रम

एक सद्गृहस्थ समस्त सासारिक सुखोपभोगों से परितृप्त तथा उत्तरदायित्वो को अपने विवाहित पुत्र को सौंपकर जब ईश्वराराधना के लिए सपत्नीक अरण्य मे एकान्त वास करता है तो उक्त अवस्था को 'वानप्रस्थ' कहते हैं। इस स्थिति मे मनुष्य सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओ एव इच्छाओ से विरत होकर जीवन के शेष भाग को धर्मार्जन एव ईश्वराराधन मे लगाकर दिव्यानुभूति प्राप्त करता है। इस दिव्यानुभूति के कारण वह आत्मानन्द

एवं निःश्रेयस् की उन्नतावस्था को अग्रसर होता है, जिसकी पूर्णता सन्यास में है।

वानप्रस्थ और संन्यास, दोनों अवस्थाएं प्रव्रज्या की हैं। प्रव्रज्या की इन दोनो अवस्थाओं को वरण करने से पूर्व कुछ अनिवार्य नियम हैं।

सन्यासाश्रम

सन्यास आश्रम जीवन की चौथी या अन्तिम अवस्था है। 'मनुस्मृति' मे निर्देश है कि आयु का तीसरा भाग वन मे व्यतीत करने के उपरान्त जब चौथा भाग आरम्भ हो, तब स्त्री से अलग हो जाना चाहिए।

'गीता' (१८।२) मे 'विद्वान् या बुद्धिमान् लोगों के काम्यकर्मों के त्याग को ही सन्यास कहा है'—

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।

स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रिय वस्तुओ की प्राप्ति एव रोग, व्याधि, कष्ट, सकट आदि विपदाओ की निवृत्ति के लिए सम्पन्न किये जाने वाले कर्म जैसे यज्ञ, दान, तप और उपासना को 'काम्यकर्म' कहा गया है। सन्यासी के लिए इनका परित्याग करना अत्यावश्यक कहा गया है। ऐसी दशा मे मनुष्य एकाकी जीवन व्यतीत कर परमानन्द या निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हो जाता है। शास्त्रो के निर्देशानुसार कर्मफलों के प्रति इच्छा न रखते हुए जो महात्मा नियमित रूप से धार्मिक क्रियाओ को सम्पन्न करने में जीवन को समर्पित कर देता है उसी को संन्यासी या योगी कहा गया है।

संन्यास के भी दो रूप हैं—कर्म-सन्यास और ज्ञान-सन्यास। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ का शास्त्रोक्त विधिपूर्वक नियमित रूप से पालन करने के उपरान्त धर्मशास्त्रानुसार जो सन्यास ग्रहण किया जाता है उसे 'कर्म-सन्यास' कहा गया है। कर्म-सन्यास मे क्रमशः एक के बाद दूसरे आश्रम मे प्रवेश होता है। किन्तु ब्रह्मचर्य के बाद सीधा सन्यास धारण करना 'ज्ञान-सन्यास' कहा जाता है। श्रुति के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ, किसी भी अवस्था मे संन्यास लिया जा सकता है। जिस समय वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी समय संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। ऐसी अवस्था को तीव्र वैराग्य कहा गया है, जिसमें ब्रह्मलोक के अतिरिक्त किसी भी अन्य लोक की इच्छा नही रहती। निश्चयात्मक स्थिर बुद्धि से विषयों का जो त्याग किया जाता है, उसी

को तीव्र वैराग्य कहते हैं। आचार्य शंकर ने ऐसी ही तीव्र वैराग्यावस्था में ब्रह्मचर्य दशा को पार कर सीधे संन्यास धारण कर लिया था।

आश्रमों के कर्त्तव्य

चारों आश्रमो में जीवन के निश्चित कर्त्तव्य हैं। ब्रह्मचर्यावस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करना चाहिए। आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी को निष्ठापूर्वक नित्य तथा नैमित्तिक कार्यों को सम्पादित कर स्वाध्याय में निरत रहना चाहिए। इस अवस्था में मद्य, मांस, गन्ध तथा धन आदि वर्जित हैं। मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करते हुए गुरु आश्रम में जीवन व्यतीत करना चाहिए।

गृहस्थाश्रम के परिपालन और संचालन के लिए पूर्वाचार्यों ने विशेष नियम निर्धारित किये हैं। गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के लिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह गुरु से आज्ञा लेकर अपनी वंश-परम्परा के अनुसार अच्छे लक्षणों से युक्त रूपवती कन्या से विवाह कर सुखी एवं सफल गृहस्थ का निर्माण करे।

मनु ने पच्चीस से पचास वर्ष पर्यन्त गृहस्थ जीवन की अवधि के लिए कुछ अनिवार्य कर्त्तव्यो का विधान किया है। उनका कहना है कि द्विज को चाहिए कि वह दृढ प्रतिज्ञ होकर इन्द्रियो को वश मे कर फिर वन मे निवास कर सकता है। वह इस प्रकार गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थ जीवन मे प्रवेश करने मे सफल होता है। शरीर की त्वचा पर जब सिकुडन पड़ जाय और बाल फूलने लगें तब मनुष्य को गृहस्थ जीवन से अवकाश ले लेना चाहिए (मनुस्मृति ६।२)।

यह भी विधान है कि जब तक कोई व्यक्ति अपने पौत्र को नही देख लेता तब तक गृहस्थ से वह अवकाश ग्रहण करने का अधिकारी नही है। इसका आशय यह है कि गृहस्थ-जीवन से अवकाश ग्रहण करने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को अपने पुत्र को इस योग्य बना लेना चाहिए कि वह परिवार और समाज के उत्तरदायित्वो का भार वहन कर सके। कौटिल्य ने स्पष्ट निर्देश किया है कि धर्मानुसार गृहस्थाश्रम का पालन करने वाले व्यक्तियो को ही प्रव्रज्या ग्रहण करने का अधिकार है। जो लोग अपने परिवार-जनो का भरण-पोषण और निर्वाह की समुचित व्यवस्था न कर समाज को त्यागकर साधु हो जाते हैं, उन्हे पकड़कर दण्डित किया जाना चाहिए। इसी सन्दर्भ

में आगे कहा गया है कि जो लोग स्त्रियों को प्रव्रज्या दिलाते हैं, उन्हें भी कठोरतम दण्ड दिया जाना चाहिए (पुत्रदारमप्रति विधाय प्रव्रज्यत: पूर्वस्साहसदण्ड:, स्त्रियं च प्रव्राजयत:)।

गृहस्थाश्रम समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाला पवित्र जीवन है। प्राणियो को कष्ट न पहुँचाना, अतिथि का स्वागत-सत्कार करना, सत्य बोलना और शक्ति-अनुसार दान देना गृहस्थ का अनिवार्य धर्म है। गृहस्थ-जीवन में अतिथि-सत्कार को विशेष महत्त्व दिया गया है। अथर्ववेद (९।६) में अतिथि-सत्कार की महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' (१।११।२) में भी निर्देश किया गया है कि 'अतिथि देव' का समुचित सत्कार करना चाहिए। देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण के शोधन के लिए भी गृहस्थाश्रम ही एकमात्र आश्रय है।

गृहस्थाश्रम की भाँति वानप्रस्थाश्रम के भी कर्त्तव्य निश्चित हैं। वानप्रस्थी के लिए यह निर्देश है कि वह अरण्य मे रहकर सादा जीवन व्यतीत करे तथा कन्द-मूल-फलों अथवा भिक्षाटन से उदरपूर्ति करे। वह पंच महायज्ञों का नियमित रूप से अनुष्ठान करे। कुश, घास-फूस की शय्या पर शयन करे। वह शरीर पर मृगचर्म धारण कर दाढ़ी-मूछ वपन न करे। स्नान कर प्रात, मध्याह्न और साय, तीनो समय सन्ध्या-वन्दन करे। अच्छे-अच्छे ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन करे तथा ईश्वर चिन्तन मे रत रहे। उपनिषदों में लिखा है कि जो विद्वान् शान्त मन से कर्मों को नियमपूर्वक सम्पादित कर कष्टों को सहन करता हुआ शुद्ध अन्त:करण से अरण्यवास करता है वह परमेश्वर को प्राप्त करके परमानन्द का अधिकारी होता है।

वानप्रस्थ-जीवन का नियमत: निर्वाह करने के उपरान्त आवश्यकतानुसार मुमुक्षु पुरुष संन्यास ले। सन्यासी को चाहिए कि वह क्रोध का त्यागकर सुख से उदासीन हो जाय। वह इन्द्रियो को वश में कर शान्त चित्त होकर लोक से अनुराग करे। वह शिक्षा एव ज्ञान के लोक मे विचरण कर निर्भय तथा शोकरहित जीवन व्यतीत करे। बाल, दाढी, मूछ, नाखून सबको साफ करके पात्र, दण्ड तथा भगवा वस्त्र धारण करे। सभी प्राणियो को सुख देते हुए स्वयं भी आनन्दपूर्वक रहकर वह मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहे।

आश्रम-धर्म के कर्त्तव्य-पालन में शास्त्रकारों ने वानप्रस्थ तथा संन्यास की अवस्थाओं पर विशेष रूप से विचार किया है। इन दोनों अवस्थाओ में धर्म तथा मोक्ष का संचय करने पर बल दिया गया है। अलौकिक एवं अदृष्टार्थ

फलों के देनेवाले यज्ञ-यागादि मे प्रवृत्ति और लौकिक एवं इष्ट फलो को देने वाले मद्य-मांस भक्षणादि में अप्रवृत्ति, इस शास्त्र-मर्यादा का परिपालन ही धर्माचरण है। धर्म की इस मर्यादा का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र, श्रुति तथा स्मृति हैं। इसलिए शास्त्रानुकूल धर्म की जानकारी प्राप्त करने के लिए वेदों तथा स्मृतियो का अनुशीलन करना चाहिए।

इस प्रकार शास्त्रानुकूल आश्रम-धर्म का परिपालन करता हुआ मनुष्य लोक तथा परलोक का हित कर सकता है।

वर्ण व्यवस्था

भारत में वर्ण-व्यवस्था का जो स्वरूप आज के सामाजिक जीवन मे विद्यमान है, वह प्रारम्भावस्था मे इससे कही भिन्न था। ऋग्वैदिक भारत का समाज निश्चित कर्मों के अनुसार विभिन्न वर्गों या वर्णों मे विभाजित था। श्रुतियो मे चातुर्वर्ण्य का जो वर्ग-विभाजन है, उसका आधार उनके द्वारा स्वीकार किये गये कर्म एव व्यवसाय थे। इसका उल्लेख 'गीता' तथा उपनिषदो मे भी हुआ है। 'गीता' (१८।४१) मे स्वभाव से उत्पन्न गुणो के अनुसार सामाजिक जीवन मे कर्मो के विभाजन का आधार स्वीकार किया गया। 'छान्दोग्य-उपनिषद्' (५।१०।७) मे जाति या वर्ण-विभाजन उच्चता-हीनता की दृष्टि से न होकर व्यक्ति-क्षमता के अनुसार माना गया है। वैदिक समाज की सभी जातियो तथा वर्णो का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र की उन्नति मे योग देना था। यह समष्टि-रूप राष्ट्र ही समस्त देशवासियों की सेवा का एकमात्र आधार था।

वैदिक युग का जन-जीवन क्षत्र (योधा), ब्रह्मन् (पुरोहित) और विश् (श्रमिक) तीन वर्गों मे विभक्त था। क्षत्र वर्ग समाज का नेता, शासक, राजा एव प्रमुख हुआ करता था; ब्राह्मण अपनी बौद्धिक विलक्षणता के कारण राजा का सचिव, पुरोहित, न्यायाधीश तथा धार्मिक गुरु या प्रशासकीय पदो पर अधिष्ठित होता था; और विश् वर्ग कृषक, व्यापारी के रूप मे कृषि, व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धों के द्वारा धन तथा सम्पत्ति का उपार्जन करता था।

त्रिवर्ग-विभाजित यह वैदिक समाज राष्ट्र की उन्नति मे अभिरत था। उनकी पारस्परिक स्थिति के सम्बन्ध मे कहा गया है कि ये सभी वर्ग तथा वर्ण उसी एकमेव विश्वात्मा के प्रतिरूप थे। उनकी पारस्परिक स्थिति के सम्बन्ध में ज्ञात

होता है कि आदि के दो वर्ण, ब्राह्मण और क्षत्रिय, अनेक बातो में एक-दूसरे के निकट थे। ऋग्वेदयुगीन भारत में इन दोनो वर्णों में योग्यता तथा प्रतिमा की प्रतिस्पर्धा थी। इन दोनों वर्णों के सम्बन्ध इसी रूप मे देखने को मिलते हैं।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि क्षत्रिय थे। ऋग्वेद मे विश्वामित्र को ऋषि कहा गया है; परन्तु 'ऐतरेय ब्राह्मण' में उसे क्षत्रिय कहा गया है। वेदो के प्रतिमा सम्पन्न ऋषियो के विचारो को उपनिषदों में चिन्तनप्रधान ऋषियो के विचार कहा गया है। उपनिषदों में ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों की भिन्नता को नितान्त गौण माना गया है। इन आत्मवेत्ता ऋषियो ने ज्ञान को ही श्रेष्ठता एव उच्चता का एकमात्र आधार स्वीकार किया है। उपनिषदो की कथाओ से ज्ञात होता है कि विदेह जनक, कैकेय अश्वपति, काशिराज अजातशत्रु और प्रवाहण जैवाल ने ऋषियों को उपदेश दिये। विदेह जनक एक क्षत्रिय राजा (संरक्षक, शासक) होने के साथ-साथ विद्या-व्यसनी तथा परम ज्ञानी थे। उनसे याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मवेत्ता विद्वान् ने उपदेश ग्रहण किया था। इसी प्रकार पांचाल जनपद के राजा प्रवाहण जैवाल का नाम उल्लेखनीय है। उनके शिष्यों मे शिलक, दाल्म्य, श्वेतकेतु और उसके पिता उद्दालक सभी ब्रह्मर्षि-परम्परा के आत्मदर्शी तत्त्वज्ञ थे। उद्दालक आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु जैसे विद्वान् ब्रह्मवेत्ताओं ने राजा चित्रगार्ग्यायनि से उपदेश ग्रहण किया था। कैकेय के राजा अश्वपति तथा राजा प्रतर्दन (जानश्रुति) के प्रकाशमान व्यक्तित्व का वैदिक सस्कृति में विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। वे उपदेश ग्रहण करने के लिए ब्रह्मवेत्ता सनत्कुमार के पास गये थे। इनके अतिरिक्त राजा बृहद्रथ और काशिराज अजातशत्रु का नाम उल्लेखनीय है। राजा अजातशत्रु से बालादि गार्ग्य जैसे शब्दब्रह्म के विलक्षण विद्वान् ने ब्रह्मोपदेश प्राप्त किया था। अजातशत्रु समस्त भारत मे अपने युग के ज्ञानागार थे। उनके पास अनेक ऋषि ज्ञानोपदेश के लिए आया-जाया करते थे। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता चित्रगार्ग्यायनि भी क्षत्रिय दार्शनिक थे।

उक्त विभिन्न क्षत्रिय शासक अपने युग के सुशासन के सूत्रधार होने के साथ-साथ ज्ञानियो में भी अग्रणी थे। भारतीय संस्कृति को मानव संस्कृति का जो स्थान मिला है वह इस संस्कृति की स्थायी उदात्तता है। यह उदात्तता उसको वैदिक आदर्शों से प्राप्त हुई थी। वैदिक युग का सामाजिक जीवन पारस्परिक समता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मे विश्वास रखता था। इसलिए वैदिक संहिताओ मे कही भी व्यक्ति-व्यक्ति का विरोध नही दिखायी देता है। उस युग में वर्णाश्रम

धर्म के विभेद नहीं थे। इस समतावादी युग मे ज्ञान को ही श्रेष्ठता या वरिष्ठता का एकमात्र आधार माना जाता था।

योग्यता और प्रतिभा की इस सर्व मान्यता के साथ-साथ ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों में इतनी घनिष्टता थी कि कभी-कभी उनके पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध भी हो जाया करते थे। उदाहरण के लिए क्षत्रिय राजा शर्याति की पुत्री का विवाह ब्राह्मणवंशीय ऋषि च्यवन से हुआ था। इन दोनो वर्णों में कर्मों की भी समानता थी। एक ही पिता के दो पुत्र ब्रह्मत्व और क्षत्रियत्व प्राप्त कर सकते थे; जैसा कि देवापि और शन्तनु की कथा से स्पष्ट है। ये दोनो व्यक्ति राजा ऋष्टिषेण के पुत्र थे। ज्येष्ठ होने के कारण नियमतः देवापि को पिता के उत्तराधिकार में राजा होना चाहिए था; किन्तु उसने राजत्व स्वीकार नही किया, अपितु वह ब्रह्मज्ञानी बना। शन्तनु राजा बना किन्तु पापाचरण के कारण उसका राज्य ध्वस्त हो गया। उसके निवारण के लिए ब्रह्मज्ञानी देवापि ने यज्ञ किया। यज्ञ में देवापि, शन्तनु का पुरोहित बना। इस कथा से यह बात स्पष्ट होती है कि उस युग में एक ही पिता के दो पुत्रो मे से एक क्षत्रिय (राजा) और दूसरा पुरोहित (ब्राह्मण) हो सकता था।

इस प्रकार वैदिक समाज मे वर्ण-ग्रहण की अपनी एक मर्यादा तथा सीमा थी। वैदिक भारत का यह वर्ग-विभाजन जब तक श्रम-विभाजन की दृष्टि से कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहा, तब तक वह निरन्तर राष्ट्र की उन्नति में सहायक बना रहा; किन्तु जब वह अधिकारलिप्सु एवं शोषक बनकर समाज की उपेक्षा करने लगा तो उसका विघटन एव पतन हो गया। इसमे ब्राह्मण-ग्रन्थो, विशेषतः कर्मकाण्डमूलक सूत्र-ग्रन्थों का विशेष योग रहा। वैदिक भारत की उदात्त विश्वजनीन परम्पराओ की उपेक्षा करके ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा सूत्र-ग्रन्थो ने वर्ग-स्वार्थ की स्थापना की। चारो वर्णो तथा आश्रमों के लिए नियम बनाने वाले विधिवेत्ता पुरोहितो ने वर्णाश्रम-व्यवस्था को इतना सुदृढ एव कठोर बना दिया कि मानव-समाज की तो बात अलग रही, देवताओ मे भी वर्ण-विभाजन हो गया। अग्नि एव बृहस्पति को ब्राह्मण; इन्द्र, वरुण तथा यम को क्षत्रिय, वसु, रुद्र, विश्वेदेव तथा मरुत् को विश्; और पूषा की गणना शूद्रवर्ण मे की गयी।

'ऐतरेय ब्राह्मण' (७।२९) मे तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध का जो उल्लेख है उसमे वैश्य वर्ण के लिए 'दूसरे को कर देने वाला' (अन्यस्य बलिकृत) और 'दूसरों द्वारा उसका उपभोग करते रहने' (अन्यस्याद्यः) कहा गया है। भूमि पर उसका स्वामित्व नही होता था। राजा जब चाहे वैश्य से भूमि छीन

सकता था और स्वेच्छया उसे किसी को दे भी सकता था। क्षत्रिय या राजा भूमि का स्वामी और वैश्य कृषक होता था।

चौथे शूद्र वर्ण के सम्बन्ध मे उक्त ब्राह्मण-ग्रन्थ के इसी सन्दर्भ मे 'दूसरो का सेवक' (अन्यस्य प्रेष्यः) कहा गया है। उसे मनमाने ढंग से उखाड़कर फेंका जा सकता था (कामोत्याप्यः)। यहाँ तक कि अपने प्राणो पर भी उसका कोई अधिकार नही था (यथाकामवध्यः)।

उक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों के अतिरिक्त शेष दो वर्णों के सम्बन्ध मे यह बात देखने को नही मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे अवर स्थान ही प्राप्त रहा। समस्त वैदिक युग मे कोई भी ऐसा उदाहरण देखने को नही मिलता है कि कोई वैश्य राजा, क्षत्रिय या ब्राह्मण के पद तक पहुँचा हो। किन्तु व्यक्ति के मानसिक, वैचारिक, व्यावहारिक तथा व्यावसायिक उन्नति में यह वर्णधर्म बाधक नही था। अपनी आत्मोन्नति का सबको एक समान अधिकार प्राप्त था।

वर्णों के लिए नियत कर्त्तव्य

मनु ने वर्ण-विभाजन का उद्देश्य लोक-विस्तार बताया है (लोकानां तु विवृद्धयर्थम्—मनु० १।३१)। इस लोकवृद्धि के उद्देश्य से विभाजित चारों वर्णों मे ब्राह्मण को मुख इसलिए कहा गया है कि वह समाज मे विद्या और ज्ञान की व्यवस्था करे, जो कि मुख-निहित वाणी का धर्म है। वैदिक युग मे ब्राह्मण और विद्या का अभेद सम्बन्ध था। ब्रह्मविद्या मे ब्राह्मणो की विशेष रुचि थी। धर्म, वेद और वेदाग उनके अनिवार्य अध्ययन के विषय थे। 'मनुस्मृति' (४।१४७) और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' (१।१९८) में ब्राह्मणों के लिए वेदाध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। 'तैत्तिरीय संहिता' (२।१।१०।१) मे लिखा गया है कि जो ब्राह्मण वेदाध्ययन नही करता है वह दुर्ब्राह्मण (ब्रह्मधर्मच्युत्) है। वेदाध्ययन के साथ ही वेदाध्यापन भी ब्राह्मण का कर्त्तव्य था। पिता और गुरु, दोनो ज्ञानप्राप्ति के माध्यम थे। ब्राह्मण गुरु की अनुपस्थिति या अभाव मे क्षत्रिय या वैश्य को गुरु बनाया जा सकता था; किन्तु ऐसी स्थिति मे ब्राह्मण शिष्य से कोई शारीरिक सेवा नही ली जा सकती थी।

वेदों और वैदिक साहित्य मे सर्वत्र ब्राह्मण को पृथिवी मे रहने वाला देवता कहा गया है। यज्ञ उसका एकमात्र अस्त्र है (ऐ० ब्रा० ७।१९)। 'शतपथ ब्राह्मण' (११।५।७।१) मे ब्राह्मणो के विशेषाधिकारों में अर्चा, दान, अज्येयता और अवध्यता का उल्लेख है। आनुवंशिक पवित्रता (ब्राह्मण्य), जातिगत कर्त्तव्यों

के प्रति आस्था (प्रतिरूपचर्या) और लोक में शिक्षा का प्रसार (लोकपक्ति) उसके कर्त्तव्य है। ऋग्वेद (१०।३४।१३), 'तैत्तिरीय संहिता' (२।५।५) और 'वाजसनेय संहिता' (१२।६७) के अनुसार ब्राह्मण को कृषिकार्य करने की भी छूट थी; किन्तु बाद मे ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा धर्मसूत्रो ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

ब्राह्मणो का जीवन सादगी और निर्धनता का था। उनको अपने निर्वाह् मात्र के लिए ही अन्न-धन संचय करने की अनुमति थी। वेदाध्ययन और पुरोहिती उनकी आजीविका के साधन थे। सुपात्र से दान और प्रतिग्रह ग्रहण करना उनका अधिकार था। इन कर्तव्यो के अतिरिक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना, मन तथा इन्द्रियो को वश मे रखना, पवित्र जीवन बिताना, सन्तोष रखना, दूसरे को क्षमा करना, सरल बने रहना, ज्ञानी तथा दयावान् होना, ईश्वर मे विश्वास करना और सदा सत्य बोलना ब्राह्मणो के अनिवार्य कर्त्तव्य थे।

क्षत्रिय को भुजा कहा गया है। भुजाएँ शक्ति की प्रतीक है। 'शतपथ ब्राह्मण' (१३।१।५।६) मे युद्ध उसका बल कहा गया है। इसलिए 'ऐतरेय ब्राह्मण' (८।६) मे क्षत्रिय का 'बलि' शब्द से उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद मे 'क्षत्र' शब्द कही देवताओं और कही मनुष्यो की शक्ति, प्रभुत्व और शासन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दो स्थलो पर स्पष्ट रूप मे 'क्षत्र' शब्द का उल्लेख शासक के अर्थ मे हुआ है (४।२२।२; १६।३०।४)। एक अन्य मन्त्र मे कहा गया है 'हे इन्द्र, तुम इस दैवी प्रजा पर शासन करो। तुम्हारा राज्य अजर और दीर्घायु हो' (३।६८।२)। यहाँ 'क्षत्र' शब्द का प्रयोग शासन के अर्थ मे हुआ है। एक अन्य स्थान (५।१८।४) पर कहा गया है कि 'प्रजा द्वारा अपमानित राजा राष्ट्र की शक्ति (क्षत्र) और तेज को समाप्त कर देता है।' क्षात्रधर्म को तब बडे गौरव की दृष्टि से देखा जाता था (ऐतरेय ब्राह्मण ८।६)। जो व्यक्ति क्षत्रिय होने का व्यर्थ दावा करता था, उसकी स्पष्ट निन्दा की जाती थी ऋग्वेद (७।१०४।१३)।

क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा मे सुव्यवस्था बनाये रखे। उसे यह भी देखना होता था कि बलवान् निर्बल को ग्रास न कर जाय। अतः प्रजा की रक्षा-व्यवस्था करना क्षत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य बताया गया है। इसके अतिरिक्त दान देना, यज्ञ करना, वेद पढना, विलासिता से दूर रहना, शूर-वीर होना, धैर्य रखना, तेजस्वी होना, उदारता बरतना, मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना, क्षमावान् होना, विद्वान्-साधु-ब्राह्मण का आदर-सत्कार करना और प्रजा में न्याय-शासन-व्यवस्था करना क्षत्रियों के प्रमुख कर्त्तव्य थे।

वैश्य को उरु (जंघा) का प्रतीक कहा गया है। जिस प्रकार जंघाएँ सारे शरीर को थामे रहती हैं और उनके हिलने-डुलने से शरीर में रक्त का सचार होता है, उसी प्रकार वैश्य-वर्ग भी समाज का संचालक एव जीवन-रक्षक था। उसके प्रमुख कर्त्तव्य थे गाय आदि पशुओं की रक्षा व खेती करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, वाणिज्य-व्यवसाय से देश की उन्नति करना, देवता-गुरु-ईश्वर पर श्रद्धा रखना, धर्म, अर्थ, काम नामक त्रिवर्ग का समुचित सदुपयोग करना, वेदों पर विश्वास करना, उद्योगशील बने रहना और समस्त कार्यों मे चातुर्य दिखाना। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (१।५।६।१) मे वैश्य को साक्षात् राष्ट्र कहा गया है, क्योकि उसी के द्वारा अर्जित अर्थ से सभी वर्णों का निर्वाह होता है (ऐतरेय आरण्यक ८।२।६)।

इसी प्रकार शूद्र को पैर की सज्ञा दी गयी है। पैर सारे शरीर का भार वहन कर उसे आराम पहुँचाते हैं। इसी प्रकार शूद्र वर्ण भी समाज के प्रति उत्तरदायी रहकर अपने कर्त्तव्यो का निर्वाह करता था। शूद्र द्विजातियो की सेवाकर उनसे भोजन प्राप्त करते थे। वृद्धावस्था मे उनका पालन-पोषण उनके स्वामी ही करते थे। यदि इस सेवा-कार्य से उनके परिवार का निर्वाह न हो सके, तो 'मनुस्मृति' (१०।९९।१००) के अनुसार वे बढ़ईगिरी, चित्रकारी, पच्चीकारी और रंगसाजी आदि व्यवसायो को अपना सकते थे। 'महाभारत' (शा० १९५।४) मे शूद्र वर्ण की जीविका के लिए वाणिज्य, पशु पालन, शिल्प और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' (१।१२० मिताक्षरा) के अनुसार कृषि, पशुपालन, भारवहन, क्रय-विक्रय, चित्रकारी, नृत्य, सगीत, वेणु, वीणा, ढोलक और मृदग आदि कार्यों को अपनाने की अनुज्ञा दी गयी है।

शूद्र वर्ण की दो श्रेणियाँ थी—'अनिवसित' (बढई, लोहार आदि) और 'निरवसित' (चाण्डाल आदि)। अपने नियत कर्त्तव्यो से च्युत् शूद्र को चाण्डाल श्रेणी मे गिना जाता था और उसके सब सामाजिक अधिकारों को छीन लिया जाता था।

विनम्र भाव से रहना, स्नानादि से अपने को शुद्ध एव पवित्र रखना, मन मे किसी प्रकार की मलिनता का प्रवेश न होने देना, स्वामी की सेवा में रत रहना, चोरी न करना, सत्य बोलना और गाय-ब्राह्मण की पूजा करना ये सभी शूद्र के कर्त्तव्य थे। यद्यपि मुख्यतया शूद्र का कर्त्तव्य सेवा करना था, किन्तु जहाँ तक सामाजिक स्थिति का सम्बन्ध है, उसकी अन्य त्रिवर्णों के समान ही उपयोगिता थी (शतपथ १३।१।६।१२)। इसी ग्रन्थ के एक अन्य

सन्दर्भ (१३।६।२।१०) में लिखा है कि शूद्र श्रम का मूर्तिमान् रूप है और उसी पर सारा राष्ट्र टिका है।

इस प्रकार वैदिक भारत की सामाजिक व्यवस्था मे चारों वर्णों के अलग-अलग कर्त्तव्य निश्चित थे। उन पर आरूढ़ रहकर चारो वर्ण राष्ट्र के उत्तरोत्तर उत्थान मे सलग्न थे। उनमें किसी प्रकार का वैर-वैमनस्य या विरोध नही था, अपितु वे एक-दूसरे के प्रपूरक एवं सहायक थे। समाज के चारो वर्ण सुखी, सम्पन्न तथा स्वावलम्बी थे। राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि करना ही सबका लक्ष्य तथा ध्येय था।

आचार

चारित्रिक श्रेष्ठता

चारित्रिक श्रेष्ठता भारतीय सस्कृति का मूल है। इस चारित्रिक श्रेष्ठता के उपादान हैं नैतिकता, शील, सदाचार और मर्यादा। चारित्रिक श्रेष्ठता समस्त विद्याओं, शास्त्रो और धर्मों का आधार है। वह एक राष्ट्रीय धर्म है, जिसके परिपालन के बिना राष्ट्र का उत्थान सम्भव नही है। वैदिक ऋषि-महर्षियो से लेकर परवर्ती सन्त-महात्माओ ने राष्ट्र के चारित्रिक बल को बनाये रखने के लिए समय-समय पर अनेक उपाय बतलाये तथा कार्य किये।

चारित्रिक श्रेष्ठता से आत्मबल प्राप्त होता है। उसके लिए नैतिकता तथा सदाचार का परिपालन आवश्यक है। वेदो से लेकर परवर्ती साहित्य तक नैतिकता तथा सदाचार के सवर्द्धन के लिए नाना प्रकार की चर्चाएँ देखने को मिलती हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०।५।६) मे ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी, गुरुपत्नी-गमन और पापाचार का निषेध बतलाया गया है। ऋग्वेद (७।८।६।६) के एक अन्य मन्त्र मे वरुणदेव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है 'हे वरुणदेव, यह (पापाचरण) मेरा सकल्प नही था, मदिरा, क्रोध और व्यसनो का सेवन विचारहीनता है। हमे पितरो के पाप से मुक्त करो।' आज्ञा का परिपालन सदाचार का श्रेष्ठ गुण माना गया है। इसी उद्देश्य से ऋग्वेद (१।६८।५) के एक मन्त्र मे कहा गया है 'जिस प्रकार पुत्र पिता की आज्ञा का परिपालन करता है उसी प्रकार यजमान अग्नि का आदेश मानता है।' अन्य मन्त्रों (४।२५।५) मे आचारनिष्ठ यशस्वी पुत्र की कामना करते हुए कहा गया है कि 'हे अग्नि, मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो जो सत्य का पालक, शत्रुओं का विजेता और अपने वशजों का यश बढाने वाला हो।' इसी प्रकार यजुर्वेद

(११५) में कहा गया है कि 'मैं असत्य (अनाचार) से पृथक् रहकर सत्य (सदाचार) की ओर प्रवृत्त हूँ' (अहमनृतात्सत्यमुपैमि)। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र (६।४५।१) में पाप को दूर जाने के लिए कहा गया है।

वेदों का 'ऋत' सिद्धान्त तत्कालीन सत्यनिष्ठ, नैतिकता-परायण और अनुशासनबद्ध समाज का उज्जवल उदाहरण है। ऋत से ही यह सारा संसार उत्पन्न होता है और उसी के द्वारा नियत्रित है (ऋ० २।२५।७८)। चारित्रिक उत्थान को मुक्ति का साधन भी माना गया है। सत्य, जो कि चरित्र का श्रेष्ठतम गुण है, उसके परिपालन या आचरण से स्वर्गप्राप्ति हो सकती है, 'ताण्डच ब्राह्मण' (१८।२।१६) मे इसका उल्लेख (ऋतेन स्वर्गलोकं गमयति) हुआ है। सूर्य और चन्द्र को सत्य का आदर्श मानकर ऋग्वैदिक भारतीय कल्याणकारी सत्यपथ पर चलने की कामना करते हैं (ऋ० ५।५१।१५)।

दर्शन और विज्ञान, दोनों मे मन को समस्त कार्य-व्यापारो का अधिष्ठान माना गया है। देवो से लेकर साधारण मनुष्यो तक उसका अस्तित्व तथा प्रभुत्व देखने को मिलता है। मन मे शुद्ध संकल्प और पवित्र भावनाओ के उदय के लिए प्रार्थना करते हुए कहा गया है 'निपुण सारथी जैसे राम द्वारा घोडो को चलने के लिए बार-बार प्रेरित तथा नियत्रित करता है, वैसे ही मनुष्य को कार्यों में प्रवृत्त तथा नियंत्रित करनेवाला, जरारहित तथा अत्यन्त गतिशील मेरा मन शुद्ध तथा पवित्र सकल्पवाला हो' (तन्मे मनः शिवसकल्पमस्तु)। इसी प्रकार ऋग्वेद (१०।२०।१) के अन्य मन्त्र मे कहा गया है 'भगवन्, हमे ऐसी प्रेरणा दे, जिससे हमारा मन कल्याण मार्ग का अनुगमन करे' (भद्र नोऽपि वातय मनः)।

मन को इसलिए इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि उसके नियन्त्रण से ही जीवन मे सयम तथा मर्यादा आदि सद्गुणो का उदय होता है। संयम और मर्यादा, जिन्हे भारतीय आचार का मूल माना गया है, वैदिक ऋषियो की दृष्टि मे थे। वैदिक युगीन समाज मे मर्यादा को चरित्र का विशेष गुण माना जाता था। ऋग्वेद (१०।५।६) मे जिन सात प्रकार की अमर्यादाओ, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, जुआ, मद्यपान, असत्यभाषण और पापियो का साथ करने वालो को पापमूलक कहा गया है। इनके प्रतियोगी अहिंसा, अस्तेय, आदि सात मर्यादाओं के द्वारा उनका परिहार बताया गया है।

तथागत बुद्ध और परवर्ती बौद्धो ने वेदों की उक्त सप्त मर्यादाओ को ही 'पंचशील' या 'दशशील' के रूप मे अपनाया है। बुद्धदेव का कथन था कि दुःशील और असंयमी होकर राष्ट्र का अन्न खाने से तो अच्छा यही है कि

लोहे का गोला खा लिया जाया (धम्मपद, निरयवग्ग २२।३) । संहिताओ के बाद उत्तर वैदिक युग और विधि-ग्रन्थों मे सदाचार की स्थापना के लिए वेदों की उक्त सप्त मर्यादाओ को आधार माना गया है। वे भारतीय धर्म के मूल तत्त्व और भारतीय सस्कृति के भी आधार-स्तम्भ हैं। बौद्धों के अतिरिक्त जैन मतानुयायियो का आचारशास्त्र भी उक्त सप्त मर्यादाओ से अत्यधिक रूप से प्रभावित है।

वैदिक विचार-दृष्टि से नैतिकता तथा सयम के अर्जन के लिए दुर्गुणो को दूर करने का बार-बार निर्देश किया गया है। जीवन की प्रगति में बाधक मद, लोभ, काम, मत्सर, मोह और क्रोध जो छह शत्रु (जैनधर्म मे जिन्हें षट्कषाय कहा गया है) हैं, उनके सम्बन्ध मे ऋग्वेद (७।१०४।२२) के एक सन्दर्भ मे लिखा है कि 'गरुड़ के समान मद, गीध के समान लोभ, गौरय्या के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उलूक के समान मोह और भेडिया के समान क्रोध को अपने से दूर भगा देना चाहिए। इन षड् रिपुओ पर विजय पाना ही सयम है।

इसी प्रकार वैदिक तथा परम्परागत अन्य धर्म भी नैतिकता, शील, सदाचार और मर्यादा आदि सद्गुणो के अर्जन के लिए सतत प्रयत्नशील रहे हैं। व्यक्ति और समाज, दोनो के हित तथा उन्नयन के लिए इन सद्गुणो को अपनाने पर बल दिया गया है। ये सद्गुण ही सदाचार के उपादान है।

संस्कार

सस्कृति पर विचार करते समय सस्कारो का महत्त्व स्वत. स्पष्ट हो जाता है, क्योकि सस्कृति की भूमि सस्कारो पर आधारित है। सस्कार ही सस्कृति के जन्म और उत्कर्ष के कारण एव साधन हैं। इस दृष्टि से सस्कृति की आधार-भूमि और व्यक्ति तथा समाज के उन्नायक संस्कारो की सम्यक् जानकारी अत्यावश्यक है।

'सस्कार' पद का अर्थ सस्कृत, उपयुक्त या सम्यक् बनाना है। किसी विकृत वस्तु को विशेष क्रियाओ द्वारा उत्तम बना देना ही उसका संस्कार है। मनुष्य-जीवन को विशिष्ट धार्मिक क्रियाओ द्वारा परिष्कृत एव उत्तम बनाकर उसे चरम उत्कर्ष को पहुँचाया जा सकता है। जीवन को अभ्युदय की ओर अग्रसर करनेवाली ये धार्मिक प्रक्रियाएँ ही 'संस्कार' है।

इस दृष्टि से यदि 'सस्कार' पद के प्रयोग तथा व्यवहार की प्राचीनता पर विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि अतीत के युग-विधायक भारतीय

मनस्वियों ने ऐसे नियमों एवं विधियों की व्यवस्था की, जिनको अपनाकर मानवता का परिष्कार एवं सस्कार सम्भव था। यद्यपि वेदों (ऋग्वेद ५।७६।२; ६।२८।४; ८।३६।६), ब्राह्मण-ग्रन्थों (शतपथ १।१।४।१०, ३।२।१।२२) और उपनिषदों (छान्दोग्य ४।१६।१-२) आदि मे 'सस्कृत' शब्द का प्रयोग हुआ है; किन्तु वह अभिप्रेत संस्कारजनित अर्थ का द्योतक नहीं है। मीमासाकार जैमिनि ने सर्व प्रथम 'संस्कार' का प्रयोग 'उपनयन' के अर्थ में किया है (मीमांसा सूत्र ३।१।३) । इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शबरस्वामी ने लिखा है कि 'सस्कार वह है, जिसके होने से कोई व्यक्ति या पदार्थ किसी कार्य के योग्य बनता है' (सस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जातो पदार्थो भवति योग्य: कस्यचिदर्थस्य) । सस्कार से पापो या दोषो के परिमार्जन की योग्यता और नवीन गुणो को उत्पन्न करने की क्षमता प्राप्त होती है। गर्भाशय मे प्रविष्ट होने पर जीव मे जो प्राकृतिक तथा आगन्तुक दोष समाविष्ट होते है उनके परिमोचन की क्षमता और उपनयन तथा वेदाध्ययन आदि क्रियाओ के द्वारा नवीन गुणो के उत्पन्न करने की योग्यता सस्कारो से ही अर्जित की जाती है।

इस विश्व मे जितनी भी वस्तुएँ है, सब प्राकृत हैं और अपने-अपने गुण-धर्मों के अनुसार विद्यमान है। मनुष्य विवेकशील है और वह वस्तुओ का उपभोग भली भांति जानता है। हवा, पानी आदि कुछ प्राकृत वस्तुएँ ऐसी है, जिनको मनुष्य उनके प्रकृत रूप मे ही ग्रहण करता है। किन्तु अन्न, वस्त्र आदि अनेक ऐसे पदार्थ हैं, जिनको मनुष्य अपनी अभिरुचि के अनुसार उपयुक्त बनाकर उपयोग मे लाता है। इस विश्व की जितनी भी वस्तुएँ है उनकी यही स्थिति है। इस दृष्टि से मनुष्य में सस्कारों की जन्मतः अभिरुचि होनी स्वाभाविक है।

समस्त जीवमयी सृष्टि त्रिस्कन्धात्मक है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा अधिदैविक। आत्मा और शरीर के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाली सूत्रात्मा सत्त्व है। आत्मा, शरीर और सूत्रात्मा (सत्त्व) क्रमशः ब्रह्म, भूत और देवता के आधार है। आत्मा ज्ञानप्रधान, शरीर क्रियाप्रधान और सत्त्व अर्थप्रधान है। समष्टिसयुक्त होने के कारण भूत, देव और ब्रह्म, तीनो सस्कार सापेक्ष्य हैं। भौतिक-सस्कार से शरीर शुद्धि, देव-सस्कार से देवशुद्धि और ब्राह्म-सस्कार से आत्मशुद्धि होती है। भूत-संस्कार अप्रधान होने के कारण, उसका शेष दोनों संस्कारों में अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए श्रुतियों और

स्मृतियों में दो ही प्रकार के संस्कार—ब्राह्म और दैव—माने गये हैं। ब्राह्म-संस्कारों को 'स्मार्त' और दैव-संस्कारों को 'श्रौत' नाम दिया गया है। दोनों प्रकार के संस्कारों से सस्कृत द्विजाति, सृष्टिमयी त्रिविध (आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक) मलिनताओं से विमुक्त होकर शुद्ध सत्त्वभाव (पूर्ण पुरुषत्व) प्राप्त करती है।

इस प्रकार संस्कृति के उपादान संस्कारो का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति से है। उनसे आत्मा और शरीर दोनों की परिशुद्धि ही नही होती हैं, उनसे अन्तःकरण मे सद्विचार एव शुद्ध संकल्पों का भी उदय होता है। वे अतीत, वर्तमान और अनागत, तीनो जीवनो के उपकारक हैं।

षोडश स्मार्त संस्कार

स्मार्त (ब्राह्म) और श्रौत (दैव) संस्कारों के पुनः तीन-तीन भेद हैं—गर्भाधान, अनुव्रत और धर्मशुद्धि। गर्भाधान, अनुव्रत तथा धर्मशुद्धि सस्कारो के पाँच अवान्तर भेदो को मिलाकर कुल इक्कीस भेद हो जाते हैं। उनमे गर्भाधान और अनुव्रत संस्कारो को मिलाकर 'षोडश सस्कार' कहा जाता है।

षोडश सस्कारो मे आठ गर्भाधान सस्कारो के नाम है—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त या सीमोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन और चौलकर्म या चूडाकर्म। इनमे आरम्भ के तीन 'अन्तर्गर्भ' और अन्त के पाँच 'वहिर्गर्भ' संस्कार कहे जाते है। इसी प्रकार अनुव्रत सस्कारो के आठ भेदो का नाम कर्णवेध, उपनयन, व्रतादेश, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अग्नि परिग्रह है। पाँच धर्मशुद्धि संस्कारो के नाम हैं शरीरशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, अध.शुद्धि, एनःशुद्धि और भावशुद्धि। धर्मशुद्धि नामक ये पाँच सस्कार स्मृति सस्कारो के पूरक एवं भावक होने के कारण श्रौत संस्कारो के अधिक निकट हैं। इसलिए संस्कारो की षोडश सख्या ही अधिक विश्रुत एव मान्य है।

1. **गर्भाधान**—गृहस्थ-जीवन मे प्रवेश करने के लिए पाणिग्रहण एक अनिवार्य विधान है। पाणिग्रहण का उद्देश्य काम-सुख या इन्द्रिय-भोग के लिए न होकर सुसन्तति-प्रजनन के लिए है। गृहस्थ जीवन के लिए सन्तान एक प्रकाशपुज है, जिसके लिए 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (६।४) मे यह कामना की गयी है कि 'किस उपाय से उपयुक्त पुत्र को उत्पन्न किया जाय।' स्मृतियों के अनुसार पितृऋण और पुनाम नरक से मुक्ति पाने के लिए पुत्र का प्रजनन

आवश्यक है। गर्भाधान संस्कार का अन्य भी प्रयोजन है। पुरुष-स्त्री के रज-वीर्य के मिथुन भाव से गर्भाधान होता है। पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज मे अनादि रूप में जीव पूर्व से ही विद्यमान रहता है। किन्तु अनेकानेक प्राकृतिक एवं आगन्तुक दोषों के कारण उसकी शुद्धावस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है। इन विकारों के परिमार्जन के लिए गर्भाधान संस्कार का विधान है। प्रत्येक गर्भस्थ जीव, माता-पिता के रज-वीर्य-जनित प्राकृतिक एवं आगन्तुक दोषो से प्रभावित होने के अतिरिक्त जन्म-जन्मान्तर मे अर्जित अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार जन्म लेता है। गर्भाधान संस्कार द्वारा उनका भी परिमार्जन हो जाता है।

गर्भाधान संस्कार के सम्बन्ध में अथर्ववेद (५।२५) मे प्रजापति से यह प्रार्थना की गयी है कि 'दशम भाव में प्रसव काल तक गर्भ में कोई व्यापत्ति न हो।' उसकी रक्षा तथा उसके सम्बर्द्धन के लिए देवताओ से प्रार्थना की गयी है। शास्त्रीय विधान के अनुसार सामान्यत: विवाह होने के कम-से-कम तीन दिन बाद और अधिक-से-अधिक सात वर्ष तक पूरी तरह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के उपरान्त गर्भाधान किया जाना चाहिए।

2. **पुंसवन**—षोडश सस्कारो मे 'पुसवन' का दूसरा स्थान है। यह सस्कार गर्भाधान के तीन मास बाद किया जाता है। संस्कार द्वारा गर्भस्थ जीव मे पुमाव या पुरुषभाव का आधान किया जाता है। शरीरशास्त्र का नियम है कि गर्भस्थ जीव मे दो-तीन मास तक स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य के भ्रूणो (कीटाणुओ) मे प्रतिस्पर्धा होती रहती है। उनमें जो प्रबल होता है, गर्भस्थ जीव मे उसी भाव का उदय होता है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि 'यदि जीव मे पुरुष-भ्रूण की प्रबलता हो, तो पुरुष-भाव और स्त्री-भ्रूण की प्रबलता हो, तो स्त्री-भाव का आधान होता है'—

पुमान् पुंसोऽधिकेशुक्रे स्त्रीभावे त्वधिके स्त्रियः।

इसलिए पुरुष-भ्रूण के पोषण और बल के लिए मत्रोच्चारण के साथ वट, शुग, कुश तथा दूर्वा आदि का रस गर्भिणी के नासा-रन्ध्रो द्वारा प्रवेश कराया जाता है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदशास्त्र मे निर्दिष्ट ओषधियो का भी सेवन कराया जाता है।

3. **सीमोन्नयन**—पुसवन के अनन्तर 'सीमोन्नयन' का विधान है। इस संस्कार का एक नाम 'सीमन्त' भी है। स्त्रियों के केशपाश को दो समान भागो मे विभाजित करने वाली सिन्दूर-रेखा (मांग) को ही 'सीमन्त' कहा जाता है।

गर्भाधान के चौथे, छठे या आठवें मास यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार का उद्देश्य गर्भपात रोकना है। शरीरशास्त्र की दृष्टि से ये तीनो मास ही गर्भ-भ्रंश के लिए अधिक आशंकित होते हैं। इस सीमन्त या सीमोन्नयन संस्कार के द्वारा गर्भिणी स्त्री की माँग मे स्नुही के काँटे का स्पर्श कराया जाता है। साथ ही मन्त्रोच्चारण द्वारा सोम आदि देवताओ की स्तुति भी की जाती है।

उक्त तीनो सस्कार प्रसव से पूर्व किये जाते हैं।

4. **जातकर्म**—यह सस्कार प्रसव के बाद सम्पन्न होता है। इसका उद्देश्य बालक की बुद्धि एव आयु की वृद्धि करना होता है। नालच्छेद से पूर्व शिशु को सुवर्णपात्र में दधि, घृत और मधु मिलाकर चटाया जाता है। उसी समय मन्त्रोच्चारण के साथ बालक की जीभ मे सुवर्ण की शलाका से 'वेद' लिखा जाता है। इस प्रक्रिया के साथ यह कामना की जाती है कि गुण-कर्मों में शिशु अपने पिता तथा पितामह से अधिक विकसित एव प्रतिभा-सम्पन्न हो। प्रसूता के प्रसवजन्य कष्ट को कम करने के लिए उसे वीर-प्रसविनी, इला और मैत्रावरुणी आदि गौरवान्वित सम्बोधनो से अभिहित किया जाता है।

5. **नामकरण**—जातकर्म के बाद 'नामकरण' सस्कार का क्रम है। नामकरण जन्म से दसवें या बारहवे (शास्त्र के मत से ग्यारहवे) दिन किया जाता है। सामान्यतः किसी भी वस्तु का नाम उसके व्यक्तित्व का परिचायक होता है। किसी व्यक्ति के नाम-श्रवणमात्र से ही उसके गुण, कर्म और स्वरूप का स्मरण हो आता है। इसीलिए नामकरण सस्कार का विशेष महत्त्व माना गया है। यह सस्कार प्रसव के ग्यारहवे दिन किया जाता है। बालक और बालिका के नामाक्षर कैसे होने चाहिएँ, इस सम्बन्ध मे स्मृतियो मे विशेष निर्देश हैं। इनमे कहा गया है कि नामाक्षर ऐसे हो, जिनके द्वारा सात्त्विक एव पवित्र भावों का द्योतन हो। इसके साथ ही चारो वर्णों के शिशुओ के नाम ऐसे हो, जो सुनने मे अच्छे हो और जो उनके कर्त्तव्यो को अभिव्यजित करे। ब्राह्मण का नामकरण मंगलसूचक, क्षत्रिय का वलसूचक, वैश्य का धनसयुक्त और शूद्र का निर्देश वाचक शब्द से किया जाना चाहिए। कन्या का नाम तीन अक्षरो से अधिक नही होना चाहिए। वह मनोहर, गौरवान्वित तथा मगलसूचक हो।

6. **निष्क्रमण**—नवजात शिशु को प्रथम बार घर से बाहर निकालने के समय जो सस्कार किया जाता है, उसे 'निष्क्रमण' कहते हैं। यह सस्कार जन्म

से चौथे मास में सम्पन्न होता है । रक्षक प्राणदेवताओं से सम्बद्ध मन्त्रो का उच्चारण करने के साथ शिशु को सूर्य-दर्शन कराने के लिए घर से बाहर निकाला जाता है । शिशु नीरोग रहे और प्राकृतिक तथा भौतिक बाधाओं से सुरक्षित रहे, इस उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है ।

7. **अन्नप्राशन**—जब तक शिशु गर्भ में रहता है, तब तक माता द्वारा गृहीत अन्नादि से रस प्राप्त करता हुआ बढ़ता रहता है । उत्पन्न हो जाने पर माता के दूध से उसका पोषण होता है । किन्तु ज्यो-ज्यो वह बड़ा होता जाता है, उसकी भूख बढ़ती है और वैसे ही माता के स्तनों का दूध भी घटता जाता है । शिशु की शरीर-रक्षा के लिए अन्नप्राशन संस्कार के द्वारा उसे अन्न (मधु और खीर) दिया जाता है । अन्न से उसके मन तथा शरीरादि का संवर्द्धन होता है । यह संस्कार जन्म से छठे मास मे किया जाता है । किन्तु विशेष परिस्थितियों में वह आठवे अथवा बारहवें मास मे भी किया जा सकता है । कन्या के लिए पाँचवें या सातवे मास का विधान है ।

8. **चूड़ाकर्म**—चूडाकर्म का दूसरा नाम 'मुण्डन' सस्कार भी है । यह सस्कार जन्म से पहले, तीसरे या पाँचवे वर्ष किया जाता है । जिस प्रकार लोहे का मल-भाग जग के रूप मे प्रकट होता है, उसी प्रकार शरीर का अनात्म मल-भाग केश-लोम द्वारा निस्सारित होता है । केश और लोम, क्रमशः ओषधियो और वनस्पतियो के मल माने जाते हैं । फल देने के बाद जो पौधे नष्ट हो जाते हैं उन्हें ओषधि और फल-पाक के बाद भी बने रहने वाले वृक्षादि वनस्पति कहे जाते हे । ओषधि सोमप्रधान और वनस्पति अग्निप्रधान हैं । इस दृष्टि से लोम सोम के मल और केश अग्नि के मल हैं । सोमप्रधान होने के कारण लोम का वपन निषिद्ध है । केवल अग्निप्रधान केशो का वपन ही धर्मसम्मत है ।

विधि-ग्रन्थो के निर्देशानुसार शरीर से बाहर जो केश हैं, वे अपवित्र होने के कारण त्याज्य हैं । इसलिए उनका वपन आवश्यक है । केश जब तक शरीर मे रहते है, कर्मों एव सस्कारो के द्वारा तब तक उनमें पवित्रता बनी रहती है । किन्तु शरीर से पृथक् हो जाने पर वे सर्वथा अपवित्र समझे जाते हैं ।

अपवित्र बालों को बार-बार वपन करने का विधान है । इसलिए सर्व प्रथम उनका वपन करते समय जिस विधि का आश्रय लिया जाता है, उसे ही 'चूडाकर्म' संस्कार कहा जाता है । इस संस्कार में मन्त्रोच्चारण द्वारा सोम

तथा अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि शिशु के लिए वे कष्टकारक तथा अहितकर न हों।

चूड़ाकर्म में शिखा-वपन का निषेध है। उसका एक प्रबल कारण है। जिस स्थान पर शिखा होती है वह 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है। केशों के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से होकर सूर्य के प्राण शरीर मे प्रवेश करते है और उसी रास्ते से शरीरस्थ प्राण सूर्य की ओर जाते हैं। इसलिए सन्ध्या-वन्दन, ध्यान, उपासना और समाधि के समय शिखा बाँधने का नियम है, जिससे अन्तःकरण का प्रकाश या तेज सूर्य की आकर्षण शक्ति से बाहर निकल सके। शिखा बँध जाने के बाद ब्रह्मरन्ध्र बन्द हो जाता है।

9. **कर्णवेध**—चूडाकर्म के अनन्तर 'कर्णवेध' का विधान है। इस सस्कार को कुछ स्मृतिकार नही मानते हैं। चूडाकर्म की ही भाँति तीसरे या पाँचवे वर्ष इस सस्कार के सम्पादन का नियम है। ज्ञान और अज्ञान, दोनों श्रवणेन्द्रिय द्वारा आत्मा मे प्रवेश करते हैं। इसलिए उसका बहुत बडा महत्त्व है।

इस सस्कार के समय 'भद्र कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः' सदृश मन्त्रो द्वारा मंगलमयी वाणी को सुनने तथा परनिन्दा, पाप, बुराई आदि न करने-सुनने की कामना की गयी है। श्रवण कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय का आधार होने के कारण उसकी परिशुद्धि एव ग्रहणशीलता के लिए कर्णवेध सस्कार को आवश्यक बताया गया है। वैसे भी शरीरशास्त्र की दृष्टि से कर्णवेध सस्कार का अपना विशिष्ट महत्त्व है। अवस्थानुसार बालक-बालिका के शरीर मे जिस विकार-भाव का उदय होता हैं, उसके निराकरण के लिए यह सस्कार उपयोगी है।

10. **उपनयन**—इसको 'यज्ञोपवीत' या 'व्रतबन्ध' सस्कार भी कहते हैं। यह संस्कार ब्रह्मचर्यावस्था की प्रथम सीढ़ी है, जिसके द्वारा बालक की बुद्धि का परिष्कार होता है, जिससे कि वह विद्या-व्यसनी बन सके। उपनयन का अर्थ है 'समीप ले जाना'। इस संस्कार मे बालक को गुरु के समीप ले जाया जाता है। उपनीत होकर वह गुरु-आश्रम मे रहकर वेदाध्ययन करता है। सस्कार के समय बुद्धि के अधिष्ठाता सूर्यदेव की आराधना और यज्ञ के सम्पादन का विधान है। यज्ञ मे पलाश की समिधाओं की आहुति दी जाती है और पलाश का ही दण्ड भी धारण किया जाता है। शास्त्र के अनुसार पलाश बुद्धिवर्द्धक है। इसीलिए उसके प्रयोग की महत्ता है।

उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी बालक जीवन के दूसरे चरण मे प्रवेश करता है, क्योंकि सावित्री माता और आचार्य पिता का स्थान ग्रहण करता है।

इसी संस्कार के अनन्तर उपनीत बालक द्विजाति की श्रेणी में परिगणित होता है। शास्त्र-विधान की दृष्टि से ब्राह्मणबालक का यज्ञोपवीतप्रति आठ वर्ष की आयु में होना चाहिए। बालक की विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा के कारण पाँचवें वर्ष में भी उसका उपनयन हो सकता है, यद्यपि इस संस्कार की अन्तिम अवधि सोलह वर्ष तक मानी गयी है। इसी प्रकार क्षत्रिय का ग्यारहवाँ और वैश्य का बारहवाँ वर्ष निर्धारित हैं। क्षत्रिय और वैश्य द्विजातियों के उपनयन की अन्तिम सीमा बाईस तथा चौबीस वर्ष तक है। इन अवस्थाओं का अतिक्रमण करने के बाद बालक द्विजाति स्तर से च्युत हो जाता है और तब वह किसी धर्मविहित कर्म के सम्पादन तथा विवाहादि का अधिकारी नहीं माना जाता है।

उपनयन संस्कार से संस्कृत बालक मे तेज, बल तथा शक्ति की वृद्धि होती है। ये तीनो तत्त्व ईश्वर के अंग हैं। इस त्रिवृत्त को एक करके ईश्वर स्वयं उसमें अधिष्ठित होता है। यही कारण है कि यज्ञोपवीत मे प्रथम तीन सूत्रों को त्रिवृत करके फिर उनमे भी तीन और सूत्र बना लिये जाते हैं। त्रिवृत्त परमेश्वर के ध्यानसूचक यज्ञोपवीत मे तीन या पाँच ग्रन्थियाँ लगा दी जाती है। उसे 'ब्रह्मग्रन्थि' कहा जाता है। ध्यान, उपासना, मन्त्रजाप और तर्पण आदि कर्मों के सम्पादन के समय इस 'ब्रह्मग्रन्थि' को आधार माना जाता है।

11. **व्रतादेश**—उपनयन के अनन्तर आचार्य जिस व्रत के अनुष्ठान तथा परिपालन के लिए आदेश देता है, उसे 'व्रतादेश' संस्कार कहा जाता है। गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त करने के उपरान्त बालक बारह वर्ष के बाद जब वेदो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने से पूर्व आचार्य उसे सत्य, अहिंसा, और ब्रह्मचर्य आदि व्रतो के परिपालन के लिए आदेश देता है। उसके बाद ही वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी माना जाता है। गुरु के आश्रम में बारह वर्षो की अवधि मे अर्जित आदेशो एवं शिक्षाओ को व्यावहारिक (गृहस्थ) जीवन मे चरितार्थ करना ही 'व्रतादेश' है।

12. **वेदस्वाध्याय**—इस संस्कार के अनन्तर ही ब्राह्मण को श्रौत संस्कारों के सम्पादन का अधिकार प्राप्त होता है। 'वेदस्वाध्याय' सस्कार के बिना वह यज्ञादि कर्मों का अधिकारी नहीं माना जाता है। मनु ने लिखा है कि वेदो का विधिवत् अध्ययन करने के उपरान्त ब्रह्मचर्य की रक्षा करता हुआ युवक ग्रहस्थाश्रम मे प्रवेश पाने के योग्य होता है। कुछ धर्माचार्य इस संस्कार की गणना सोलह संस्कारो में करते हैं और कुछ के अभिमत से वह 'व्रतादेश' संस्कार के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है।

13. **केशान्त**—'केशान्त' संस्कार वस्तुतः चूडाकर्म संस्कार के ही अन्तर्गत है। इसमें विशेष बात यह है कि केशों के साथ-साथ श्मश्रु का भी वपन किया जाता है। पहली बार श्मश्रु-वपन के उद्देश्य से ही इस संस्कार का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया। ब्राह्मण के लिए सोलहवाँ, क्षत्रिय के लिए बाईसवाँ और वैश्य के लिए चौबीसवाँ वर्ष केशान्त-संस्कार के लिए धर्मसम्मत है। यह संस्कार कुछ आचार्यों के ही मत से मान्य है।

14. **समावर्तन**—सांगोपांग वेदाध्ययन के बाद जिस संस्कार को सम्पादित किया जाता है, उसे ही 'समावर्तन' कहा जाता। यह सस्कार ब्रह्मचर्यावस्था की समाप्ति का सूचक है। इस सस्कार से सस्कृत युवक स्नातक होकर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश पाने का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मचर्यावस्था की अवधि में जो मेखला, मृगचर्म तथा दण्ड आदि धारण किये जाते हैं, उनका परित्याग कर तथा बालो को कटवाकर स्नातक युवक गृहस्थाश्रम के द्योतक वस्त्र, उष्णीश, उपानह् तथा छत्र आदि धारण करता है।

समावर्तन संस्कार से व्युत्पन्न युवक 'स्नातक' की उपाधि से विभूषित किया जाता है। इस अवसर पर आचार्य उसे माता, पिता, गुरु तथा अतिथि आदि की सेवा-परिचर्या, मानवता तथा उपयोगी उदात्त कर्त्तव्यो के परिपालन करने का सदुपदेश देता है। इस संस्कार द्वारा युवक अपनी प्रथमावस्था को पूरा कर जीवन की उत्तरावस्था के नये क्षेत्र में प्रवेश करता है।

15. **विवाह**—गृहस्थाश्रम मे प्रवेश पाने के लिए विवाह या पाणिग्रहण संस्कार का विधान है। इस सस्कार के अनन्तर ही वह लोकप्रतिष्ठा, सन्तानोत्पत्ति और धर्माजर्न का अधिकारी बनता है। विवाह के बिना सामाजिक दृष्टि से उसका कोई स्थान नही है। विवाह के लिए सामान्यतः सोलह वर्ष की आयु निर्धारित की गयी है।

इस विवाह-सस्कार को भौतिक दृष्टि से कम और पारमार्थिक दृष्टि से अधिक महत्त्व दिया गया है। जिन दो शरीरों का विवाह सम्बन्ध होता है वे आत्मतः एक हो जाते हैं। इस संस्कार द्वारा दोनो परिणीत स्त्री-पुरुष मे देह के साथ ही प्राण तथा मन का भी सम्बन्ध योजित होता है। जल तथा अग्नि के योग से जो महाशक्ति उत्पन्न होती है, वैवाहिक सम्बन्ध मे आबद्ध स्त्री-पुरुष मे उसी शक्ति का सचार होता है।

विवाह-सस्कार के समय पति-पत्नी गृहस्थ-जीवन के अनुष्ठान के लिए जिन व्रतो के परिपालन की प्रतिज्ञा करते हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि

लोक से परलोक तक उनका सम्बन्ध अटूट रूप से योजित हो जाता है। श्रुतियो और स्मृतियों में विवाह-संस्कार का विधान विस्तारपूर्वक वर्णित है। ब्रह्मचर्यावस्था में लम्बी अवधि तक गुरु के पास रहकर विद्या तथा आचारादि का जो अर्जन किया जाता है, उसको जीवन में चरितार्थ करने के लिए जिस पवित्र गृहस्थाश्रम का विधान है, उसका आरम्भ विवाह-संस्कार के बाद ही होता है।

16. **अग्निपरिग्रह**—विवाह-सस्कार के अनन्तर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के उपरान्त अग्निपरिग्रह-संस्कार का विधान है। जीवन मे अनेक दृष्टियो से अग्नि का महत्त्व है। उसकी पूजा-प्रतिष्ठा और अनुकूलता के लिए इस सस्कार की आवश्यकता बतायी गयी है। श्रुतियो तथा स्मृतियो के निर्देशानुसार गृहस्थजीवन के सुख, ऐश्वर्य और आत्मा-देहादि धर्मों की पवित्रता तथा अभ्युदय के लिए घर मे गृह्याग्नि की प्रतिष्ठा की जाती है। उसके द्वारा पंच महायज्ञ का अनुष्ठान होता है। श्रुतियो तथा स्मृतियो में इसकी कर्त्तव्यता के सम्बन्ध मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आठ अनुव्रत संस्कारो द्वारा अर्जित कर्मों का अधिकार प्राप्त करने के लिए भी अग्निपरिग्रह-संस्कार को आवश्यक बताया गया है।

कुछ आचार्यों के मत से यह सस्कार सोलह संस्कारो के अन्तर्गत नही है।

17. **धर्मशुद्धि संस्कार**—ये सस्कार एक प्रकार से जन-सामान्य के अनिवार्य कर्त्तव्य हैं। उनका शरीर के साथ निरन्तर सम्बन्ध है। वे देह के धर्म भी हैं। शरीरशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, अघःशुद्धि, एनःशुद्धि और भावशुद्धि ये पाँच धर्मशुद्धि-सस्कार हैं।

मल-मूत्रादि-त्याग, दन्तवन, स्नान आदि कर्मों को निर्धारित रूप से करते रहने से शरीर की शुद्धि होती है। वस्त्र, भोजन और जल आदि द्रव्यों को उपयोग में लाने से पूर्व उनको शुद्ध करना चाहिए। जन्म-मरण-सम्बन्धी अशुचितावस्था में सन्ध्या, तर्पण, होम आदि कार्यों के करने का निषेध है। स्मृतियों मे निर्दिष्ट विधियो द्वारा शरीर की शुचिता के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे ही 'अघःशुद्धि' कहलाते है। पाप, कुकृत्य और प्रायश्चित्त आदि के परिहार के लिए पंच महायज्ञ आदि जो कर्म किये जाते हैं, उन्हे ही 'एनःशुद्धि' कहा जाता है। इसी प्रकार धृति, क्षमा, दया, शौच, इन्द्रियनिग्रह,

अहिंसा, सत्य आदि भावजनित आत्मगुणों की सतत शुचिता बनाये रखना ही 'भावशुद्धि' है।

मनु का विधान है कि उपनयन को छोड़कर स्त्रियों के सभी संस्कार यथासमय करने चाहिएँ। विवाह ही उनका उपनयन संस्कार है। पति-सेवा ही उनका गुरुकुलवास है। इसी प्रकार घर का काम-काज ही उनके लिए यज्ञ तथा हवनादि कर्म हैं।

गृहस्थ जीवन के अनिवार्य कर्त्तव्य

वैदिक युग के धर्म-कर्ममय जीवन में पंच महायज्ञों के सम्पादन की व्यवस्था थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और स्मृतियों मे उनको प्रति दिन करते रहने का विधान है। गृहस्थ-जीवन के अनिवार्य कर्त्तव्यों में उनकी गणना की गयी है। ब्रह्मयज्ञ (वेद का अध्ययन एवं अध्यापन), पितृयज्ञ, देवयज्ञ (अग्नि में आहुति देना), भूतयज्ञ (जीवों को अन्नदान देना) और मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सत्कार)—ये ही पंच महायज्ञ हैं। संक्षिप्त परिभाषा के अनुसार स्वाध्याय, चाहे वह एक ही ऋचा या एक सूक्त का ही क्यो न हो, वही ब्रह्मयज्ञ है। पितरों को श्राद्ध (स्वधा) चाहे वह जल ही का क्यो न हो, वह भी पितृयज्ञ के अन्तर्गत आता है। अग्नि में आहुति चाहे वह समिधामात्र ही क्यो न हो, वह भी देवयज्ञ है। जब जीवों की बलि (भोजन या आहार) दी जाती है, तो वह भूतयज्ञ है। इसी प्रकार जब ब्राह्मणो (या अतिथियो) को भोजन दिया जाता है, तो वह मनुष्ययज्ञ है।

जीवन में नैतिकता, सदाचार और सद्व्यवस्था के लिए इन यज्ञो का विधान किया गया है। श्रौतयज्ञो की अपेक्षा उनकी सम्पादन-विधि भी सरल एवं सुगम है। श्रौतयज्ञों में पुरोहित का मुख्य और गृहस्थ का गौण स्थान होता है; किन्तु पंच महायज्ञो मे गृहस्थ को किसी पुरोहित की आवश्यकता नही होती है। स्वर्ग, सम्पत्ति, पुत्र आदि की कामना ही श्रौतयज्ञो का उद्देश्य है। किन्तु पच महायज्ञों का उद्देश्य ऋषियो, पितरों और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीव-जन्तुओं के प्रति अपने कर्त्तव्यों का परिपालन करना है। इस दृष्टि से मानव-जीवन के लिए पच महायज्ञो का बहुत बड़ा महत्त्व है।

वस्तुत: देखा जाय तो पंच महायज्ञो के मूल मे सहज कर्त्तव्य-भावना निहित है। श्रौतयज्ञो का सम्पादन सबके लिए सम्भव नही है। किन्तु पंच महायज्ञों को हर कोई कर सकता है। कोई भी स्वर्ग की कामना करने वाला

व्यक्ति स्वर्ग-सुख अग्नि में समिधा डालकर देवों के प्रति सम्मान की भावना प्रकट कर सकता है। दो-एक श्लोकों का पाठकर भी ऋषियो की प्रसन्नता के लिए कृतज्ञता ज्ञापित की जा सकती है। एक अंजलि जलदान करके पितरों के प्रति भक्ति-भाव व्यक्त कर उन्हे सन्तुष्ट किया जा सकता है। संस्कारों के अन्तर्गत समाविष्ट करके पच महायज्ञो को जीवनसहज कर्त्तव्यो मे परिणत किया गया है।

उक्त पाँच यज्ञो का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. **ब्रह्मयज्ञ**—ब्रह्मयज्ञ के सम्बन्ध में ब्राह्मण-ग्रन्थों, गृह्यसूत्रो, धर्मसूत्रों और स्मृतियो मे विस्तार से लिखा गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' (११।५।६।३-८) में लिखा है कि प्रति दिन का वेदाध्ययन (स्वाध्याय) ही ब्रह्मयज्ञ है। जो प्रति दिन स्वाध्याय करता है, उसे लोक में तिगुना फल मिलता है। इस यज्ञ मे देवो को दूध, घी और सोम आदि पदार्थ अर्पित किये जाते हैं। उसके फलस्वरूप देवता प्रसन्न होकर ब्रह्मयज्ञ करने वाले की सुरक्षा के अतिरिक्त उसे सम्पत्ति, आयु, बीज, सम्पूर्ण सत्त्व तथा अन्य प्रकार के मंगलमय पदार्थ प्रदान करते हैं। ब्रह्मचर्यपालन कर पिता और गुरुजनों की सेवा, उनकी आज्ञा का परिपालन तथा गुरुजनो से निष्ठापूर्वक वेद का ज्ञान प्राप्त करना भी ब्रह्मयज्ञ का अग है।

'तैत्तिरीय आरण्यक' (२।११) में सम्पादन-विधि का निर्देश करते हुए लिखा गया है कि 'ब्रह्मयज्ञ' करने वालों को उत्तर या पूर्व दिशा में इतनी दूर चला जाना चाहिए, जहाँ से गाँव के घरों की छाजन न दिखायी दें। इसी आरण्यक (२।१२) मे आगे यह भी कहा गया है कि 'यदि वह बाहर न भी जा सके, तो उसे दिन या रात्रि मे गाँव में ही ब्रह्मयज्ञ करना चाहिए। यदि वह बैठ न सके तो खड़े या लेटे भी ब्रह्मयज्ञ कर सकता है। उसका मुख्य उद्देश्य विधि-विधानतः वेदपाठ है। उसमें स्थान, समय तथा परिस्थिति का महत्त्व गौण है।'

2. **देवयज्ञ**—अग्नि में 'स्वाहा' शब्द के साथ हवि या समिधा डालना ही देवयज्ञ है। मनु ने इसीलिए होम को देवयज्ञ कहा है (मनुस्मृति ३।३७)। जिन देवताओ के निमित होम किया जाता है, उनके नाम हैं: सूर्य, अग्नि, प्रजापति, सोम, वनस्पति, इन्द्र, द्यौ, पृथ्वी, धन्वन्तरि, विश्वेदेव और ब्रह्मा। मनु (मनुस्मृति २।१७६) और याज्ञवल्क्य (याज्ञवल्क्यस्मृति १।१००) का

कहना है कि पहले देवपूजा और उसके बाद देवयजन करना चाहिए। स्मृतियों का विधान है कि प्रत्येक गृहस्थ के घर में साय-प्रातः अग्निकुण्ड जलता रहना चाहिए। उसमें केसर, कस्तूरी, घी, तिल, चावल, चन्दन तथा पान आदि सामग्री से हवन करना चाहिए। देवयज्ञ का उद्देश्य देवताओ को प्रसन्न करना और उनकी प्रसन्नता से मगलमय अभीष्टो की प्राप्ति करना है।

3. **पितृयज्ञ**—मनु (मनुस्मृति ३।७०, २८३) ने पितृयज्ञ का सम्पादन तीन प्रकार अर्थात् तर्पण, बलिहरण और प्रति दिन श्राद्ध द्वारा बताया है। प्रति दिन के श्राद्ध मे पिण्डदान नही होता है और न पार्वण श्राद्ध की विधियों एव नियमो का पालन ही होता है।

पितृयज्ञ एक महान् कर्त्तव्य है। उसका निर्वाह करके जीवन मे अग्रसर होना ही इस यज्ञ का उद्देश्य है। माता, पिता और गुरुजनो की आज्ञाओ का पालन करना और उनके दिवंगत हो जाने पर उनके द्वारा निर्दिष्ट आचरण का निर्वाह करते हुए उनकी कीर्ति को उत्तरोत्तर प्रशस्त करना ही 'पितृयज्ञ' है। 'महाभारत' के अनुशासन पर्व मे पितृयज्ञ से श्राद्ध को ग्रहण किया गया है। वहाँ कहा गया है कि प्रत्येक पितर मास मे तर्पण द्वारा पितरो को तृप्त करना चाहिए।

4. **भूतयज्ञ**—भूतयज्ञ या बलिहरण के सम्बन्ध मे प्राचीन ग्रन्थो मे अनेक तरह के विधि-विधान निर्दिष्ट है। 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' (१२।३।११) में लिखा है कि 'देवयज्ञ से सम्बद्ध देवताओ, जलो, जडी-बूटियो, वृक्षो, देवताओ, घर-घर के देवताओ, इन्द्र तथा उसके अनुचरो, यम तथा उसके अनुचरों, विश्वेदेवो, दिन मे चलने वाले सभी प्राणियो और उत्तर दिशा में अवस्थित राक्षसों को भूतयज्ञ मे बलि दी जाती है। शेषांश 'स्वधा' शब्द के साथ दक्षिण दिशा मे पितरो को अर्पित कर देना चाहिए।' बलिहरण करते समय यज्ञोपवीत दाहिने कन्धे पर रखना चाहिए। इसे 'अपसव्य' कहा जाता है। यदि बलिहरण रात मे किया जाय, तो उस स्थिति मे रात्रिचर प्राणियो को निमित्त मानना चाहिए। मनु ने (४।८७) भी यही विधान किया है। किन्तु उसका यह भी कहना है कि गृहस्थ को बहुत सावधानी से कुत्तों, चाण्डालो, जातिच्युतो, कुष्ट रोगियो, कौओं तथा कीड़ो को भी बलि देनी चाहिए।

पितृयज्ञ एक महान् व्रत है। मनुष्य, गाय, बैल, कुत्ता आदि जितने भी प्राणी (भूत) हैं उन्हे भोजन, अन्न, जल, घास आदि से सन्तुष्ट करना ही 'भूतयज्ञ' है।

5. **मनुष्ययज्ञ**—अतिथि-सत्कार ही मनुष्ययज्ञ, नृयज्ञ या अतिथियज्ञ है। वेदों और वैदिक ग्रन्थों मे अतिथि-सत्कार की व्यवस्था पर बडा बल दिया गया है। ऋग्वेद (१।७३।१; ५।१।८) में अग्निदेव को घर का अतिथि मानकर कहा गया है कि 'तुम उसके रक्षक एवं मित्र बनो, जो तुम्हे विधिवत निष्ठापूर्वक आतिथ्य देता है।' इसी प्रकार 'तैत्तिरीय संहिता' (५।२।२।४) मे निर्देश है कि 'जब घर मे अतिथि का पदार्पण होता है, तो उसे आतिथ्य दिया जाना चाहिए।' 'तैतिरीयोपनिषद्' (१।११।२) मे समावर्तन संस्कार के समय गुरु शिष्य से 'अतिथि सत्कार करो' (अतिथिदेवो भव) का उपदेश देता है। मनु (३।१०२) ने लिखा है कि 'अतिथि उसे कहा जाता है, जो पूरे दिन नही रुकता, या अतिथि वह ब्राह्मण है, जो एक रात्रि के लिए रुकता है':

एक रात्रं हि निवसन् ब्राह्मणो ह्यतिथि स्मृतः।
अनित्यास्य स्थितिर्यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥

'बौधायन धर्मसूत्र' (२।९।१-२) आदि ग्रन्थो में लिखा है कि बलिहरण के बाद गृहस्थ को अपने घर के आगे अतिथि-सत्कार के लिए उतनी देर तक बाट जोहनी चाहिए, जितने समय मे एक गाय दुही जाती है। 'महाभारत' (शान्ति पर्व, १४६।५) में लिखा गया है कि 'जिस प्रकार पेड अपने काटने वाले को भी छाया देता है, उसी प्रकार यदि शत्रु भी घर पर आ जाय, तो उसका अतिथि-सत्कार करना चाहिए।' 'शाखायान गृह्यसूत्र' (२।१७।१) का कहना है कि 'खेत में गिरा हुआ अन्न इकट्ठा करके जीविका चलाने वाले एवं अग्निहोत्र करने वाले गृहस्थ के घर मे यदि ब्राह्मण अतिथि-सत्कार पाये बिना रह जाय, तो वह उस गृहस्थ के सारे पुण्यो को हर लेता है।'

इस प्रकार 'मनुष्ययज्ञ' कर्त्तव्य की उदात्त भावना और सर्वभूत दया का प्रेरणा-स्रोत है। घर पर आये अतिथि का उदारतापूर्वक आदर-सम्मान करना और उसकी यथाशक्ति सहायता करना गृहस्थ आश्रम का मुख्य कर्त्तव्य है।

विवाह संस्था

भारत मे पारिवारिक सम्बन्धो पर आदि काल से ही विशेष ध्यान दिया गया है। आज के सामाजिक जीवन मे परिवार की उपादेयता सर्वमान्य है। इस देश के सांस्कृतिक विकास मे उसका सर्वोपरि महत्त्व रहा है। वैदिक ऋषियों ने भारतीय परिवार-संस्था की सुख-शान्ति के लिए प्रत्येक पारिवारिक

के सुसम्बन्धों की मंगलमय कामना करते हुए अथर्ववेद के तीन मन्त्रों (३।३०। १-३) में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

'हे गृहस्थो, तुम्हारे पारिवारिक जीवन में सदा पारस्परिक ऐक्य, सौहार्द और सद्भावना बनी रहे। तुम एक-दूसरे से ऐसा प्रेम करो, जैसे गो अपने सद्यः प्रसूत बछड़े से करती है। पुत्र को चाहिए कि वह अपने माता-पिता का आज्ञानुवर्ती और उनके प्रति एकनिष्ठ बना रहे। पत्नी अपने पति के प्रति मधुर और स्नेहयुक्त वाणी का व्यवहार करे। भाई-भाई के साथ, बहिन-बहिन के साथ तथा भाई-बहिन के साथ परस्पर द्वेष न करें। एक मन होकर वे समान आदर्शों का अनुसरण करते हुए पारस्परिक प्रेम को बढ़ाने वाली वाणी का व्यवहार करें।' पारिवारिक जीवन का आधार विवाह-सस्था है। विवाह ही पारिवारिक विकास का आधार है। परम्परा से विवाहों के अनेक रूप देखने को मिलते हैं, यथा मातृसत्तात्मक, पितृसत्तात्मक बहुपत्निक ,बहुपत्नीक, स्वैच्छिक और परैच्छिक आदि। वैवाहिक परम्पराओ मे पितृसत्तात्मक या मातृसत्तात्मक उल्लेखनीय है। अन्य विवाह-प्रथाओं का समावेश इन्ही दोनो में हो जाता है। पितृसत्तात्मक विवाह प्रथा का प्रचलन भारत के अतिरिक्त अन्य देशो मे भी देखने को मिलता है। इस प्रथा के अनुसार समस्त परिवार का मुखिया पिता होता है। 'पिता' सम्बोधन माता के पति तथा पति के छोटे भाई के लिए होता था। बड़े भाई के दिवंगत हो जाने पर छोटा भाई उसकी पत्नी से विवाह कर सकता था। इस व्यवस्था से पारिवारिक सम्बन्धो की एकता में कोई अन्तर नहीं आता था। मातृसत्तात्मक विवाहों का अस्तित्व भी बहुत प्राचीन है। देवो और असुरो के वंश उनकी माता दिति और अदिति के नाम से प्रवर्तित हुए।

विवाह-सम्बन्धों के परम्परा से अनेक विकल्प होने के बावजूद परिवार की एकता तथा पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए प्रत्येक पारिवारिक जन का अनिवार्य दायित्व स्वीकार किया गया है। भारत की यह पारिवारिक जीवन-पद्धति विदेशियो के लिए भले ही पहेली रही हो; किन्तु उसके आधार नैतिकतापूर्ण एवं आदर्शमय रहे हैं।

हिन्दू धर्म मे विवाह का सम्बन्ध व्यक्ति के सदाचार, नैतिकता और समाज की अभ्युन्नति से स्थापित किया गया है। स्मृतियो मे विवाह के लिए असमान गोत्र की व्यवस्था की गयी है, जिसके फलस्वरूप पति और पत्नी के विभिन्न रक्तों (गोत्रो) का सम्मिश्रण होकर अच्छी सन्तति उत्पन्न हो सके। इस व्यवस्था ने समाज के विभिन्न बिखरे हुए परिवारो को संगठित करने में

बड़ी सहायता प्रदान की है। विवाह के लिए सम-स्वभाव के दम्पति का विधान किया गया है। सम-स्वभाव का अर्थ ऐसे परिवार से है, जो व्यवसाय, आर्थिक स्थिति, धर्म और आचार-विचारों में समानता रखते हैं। समानता एव एकता की इस भावना से आरम्भ मे दो विच्छिन्न व्यक्ति-समूहो को कुछ विशिष्ट जाति-समूहो में संगठित किया। उन्ही सगठित जाति-समूहो द्वारा बाद में बृहत् राष्ट्र की नीव पडी। इस प्रकार विवाह-संस्था पारिवारिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय निर्माण की आधारभूमि कल्पित हुई।

पारिवारिक, समाजिक और राष्ट्रीय हित से स्त्री-पुरुषो के प्रेम-सम्बन्धो की जितनी कोटियाँ हो सकती है, उनके आधार पर हमारे विधिवेत्ताओं ने आठ प्रकार के विवाह निर्धारित किये हैं। न केवल आत्मोन्नति, सामाजिक सुव्यवस्था और धार्मिक दृष्टि से, अपितु आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से भी विवाह-संस्कार का विशिष्ट महत्त्व है। 'मनुस्मृति' (३।२१) में आठ प्रकार के विवाहो का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्यः, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच इन आठ विवाहो मे ब्राह्मण के लिए आदि के छह; क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों के लिए आर्ष, प्राजापात्य, गान्धर्व और आसुर ये चार विवाह धर्म-विहित हैं। आठवाँ निकृष्ट 'राक्षस' विवाह किसी भी वर्ण के लिए उचित नही है। 'मनुस्मृति' मे इन विवाहो का विस्तार से वर्णन हुआ है।

1. **ब्राह्म विवाह**—ब्राह्म विवाह उसको कहते हैं, जिसमे किसी विद्वान् और शील-सम्पन्न युवक को अपने घर पर आमंत्रित करके पिता अपनी पुत्री को सुन्दर वस्त्र पहना एव उसकी पूजा-प्रतिष्ठा कर, दान देता है।

इस प्रकार का धर्मविहित विवाह गृहस्थ-जीवन की सुख-शान्ति, समाज तथा राष्ट्र का योग-क्षेम करने वाला होता है। पारमार्थिक दृष्टि से भी वह इष्टकर है। इसीलिए उसको 'ब्राह्म विवाह' कहा गया है। शंकर-पार्वती तथा वसिष्ठ-अरुन्धती का विवाह ऐसे विवाह के उदाहरण हैं।

2. **दैव विवाह**—विवाह-यज्ञ में श्रोता का स्थान ग्रहण करने वाले पुरोहित को पिता जब अपनी कन्या को वस्त्राभूषणो से अलंकृत करके दान देता है, तो ऐसे विवाह को 'दैव विवाह' कहते हैं।

वैदिक परम्परा में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। इसलिए ऋत्विक् का स्थान ग्रहण करने वाले प्रतिष्ठित युवक को कन्यादान करना पिता के लिए सौभाग्य का विषय था। इस प्रकार के दैव विवाह का उदाहरण च्यवन-ऋषिका (सुकन्या) और इन्द्र-इन्द्राणी का देखने को मिलता है।

3. **आर्ष विवाह**—धार्मिक मर्यादा की सुरक्षा के लिए वधु के माता-पिता जब वर से एक या दो जोड़े गाय या बैल प्राप्त करके विधि-विधानतः कन्यादान करते हैं, तो उसे 'आर्ष विवाह' कहा जाता है।

वर से गोमिथुन लेने का मूलाधार विशेष महत्त्व का है। यह विधान इसलिए किया गया है कि जीवन में दाम्पत्य प्रणय का अटूट सम्बन्ध बना रहे। उससे वर की गृहस्थ-जीवन मे प्रवेश करने की क्षमता का भी पता चलता है। अगस्त्य-लोपामुद्रा का पाणिग्रहण 'आर्ष विवाह' का अनुपम उदाहरण है।

4. **प्राजापत्य विवाह**—'तुम दोनो धर्म में प्रवृत्त होकर सुसन्तति का प्रजनन करो', वर-वधु को ऐसे आदेश प्राप्त हो जाने पर, पितर तथा देव-पूजन के साथ जो कन्यादान होता है, उसे 'प्राजापत्य विवाह' कहते हैं।

प्राजापत्य विवाह का मुख्य प्रयोजन सुसन्तति का प्रजनन, अर्थात् प्रजावृद्धि था। नव दम्पति को विवाह-सूत्र मे आबद्ध होने से पूर्व विवाहाग्नि के समक्ष इस प्रतिज्ञा को स्वीकार करना पड़ता था।

5. **आसुर विवाह**—विवाह का इच्छुक व्यक्ति जब अपनी शक्ति से कन्या तथा उसके माता-पिता को अधिकाधिक धन देकर कन्या को प्राप्त करता है, तब इस प्रकार के पाणिग्रहण को 'आसुर विवाह' कहते हैं।

इस प्रकार का विवाह वणिक् प्रवृत्ति का द्योतक है। धन के लालच के कारण माता-पिता और स्वयं कन्या ऐसे विवाह के लिए तत्पर होते थे। 'महाभारत' मे उल्लिखित पाण्डु-माद्री का विवाह ऐसा ही उदाहरण है।

6. **गान्धर्व विवाह**—जब युवक-युवती पारस्परिक स्वीकृति से आत्मीय जनो की आज्ञा प्राप्त किये बिना, प्रणय-सूत्र मे बंध जाते हैं, तो ऐसे विवाह को 'गान्धर्व विवाह' कहते हैं। इस प्रकार के प्रेम-विवाह में प्रेमियों की पारस्परिक प्रेमभावना एवं उनका सहवास-सुख निहित होता है।

जिस प्रकार गन्धर्वलोकवासी पारस्परिक सौन्दर्य एवं प्रणय से आकर्षित होकर धार्मिक क्रिया को सम्पन्न करने से पूर्व ही शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे, उसी प्रकार गान्धर्व विवाह में स्त्री-पुरुष भी आप्तजनो से छिपकर

विवाह-सूत्र में बँध जाया करते थे। दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रसिद्ध प्रणय-सम्बन्ध गान्धर्व विवाह का उदाहरण है।

7. **राक्षस विवाह**—जब किसी कन्या के माता-पिता या सम्बन्धियो को हत तथा उसके घर को नष्ट कर, कन्या का बलपूर्वक अपहरण किया जाय, तो ऐसे विवाह को 'राक्षस विवाह' कहते हैं।

इस प्रकार का कन्या-अपहरण बहुधा वीर पुरुष ही करते थे। यद्यपि इस प्रकार के विवाह बलात्कार एव अत्याचार की श्रेणी में आते हैं, फिर भी उनका प्रचलन था। कृष्ण-रुक्मिणी और अर्जुन-सुभद्रा का विवाह इसी प्रकार हुआ था।

8. **पैशाच विवाह**—सोते, मदिरारत या उन्मत्तावस्था में यदि किसी कन्या का एकान्त में शीलभंग करके उसको विवाह के लिए विवश किया जाय, तो इस प्रकार के कर्म को 'पैशाच विवाह' कहते हैं। यह निकृष्ट श्रेणी का विवाह है।

इस प्रकार के निकृष्ट विवाहो को अवैध कहा गया है, फिर भी समाज में उनका प्रचलन था। उषा-प्रद्युम्न का विवाह ऐसे ही ढंग से हुआ था।

विधिवेत्ताओं तथा धर्माचार्यों के अनुसार प्रथम चार प्रकार के विवाह धर्मसम्मत और उचित माने गये हैं। उनसे उत्पन्न सन्तति चरित्रवान् एव शील सम्पन्न होती है और उससे राष्ट्र का हित होता है। किन्तु अन्त के चार विवाह मानसिक दुर्बलताओ के परिचायक हैं। अन्तिम सातवाँ और आठवाँ विवाह तो नितान्त पाशविक है।

आठ प्रकार के इन विवाह-भेदो मे राक्षस तथा पैशाच विवाहो को यद्यपि पाशविक बताया गया है, तथापि वे न्याय-सम्मत हैं। राक्षस विवाह निरन्तर युद्धों का परिणाम है और उसका वही रूप आज भी आदिवासी नागा कबीलो में विद्यमान है। आज भी एक कबीला दूसरे कबीले पर आक्रमण करके उनकी स्त्रियो को भगा ले जाते हैं। पैशाच विवाह द्वारा बलात्कार करके अपहृत स्त्री को सामाजिकता प्रदान की गयी है।

हिन्दू समाज मे आज ब्राह्म और दैव विवाह ही प्रचलित है। किन्तु पिछडी तथा आदिवासी जातियो मे विवाह के उक्त सभी प्रकार थोड़े-बहुत रूप मे वर्तमान हैं। इन सबके अपने-अपने विशेष नियम तथा रीतियाँ है। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि उनमे तलाक का प्रचलन नही है, क्योकि

परम्परा से वे यह मानते आये है कि तलाक देने वाले स्त्री-पुरुष सामाजिक प्रतिष्ठा से च्युत हो जाते हैं।

सामाजिक स्थिति

सामाजिक दृष्टि से ऋग्वैदिक भारत अत्यन्त सुगठित, सम्पन्न, नियतकर्मों मे अविरत और वर्गगत सीमाओ मे नियत्रित था। उसे आत्म-विकास की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी। तत्कालीन सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था का प्रतीक परिवार था, जो कि संयुक्त होता था। परिवार का बडा-बूढा या पति उसका स्वामी या मुखिया और पत्नी स्वामिनी होती थी। परिवार के सभी सदस्य परिवारवृद्ध की आज्ञा पालन करते थे। सदाचार की श्रेष्ठता सर्वोपरि थी और इस कारण विधवा-विवाह, बहुपतिक तथा बहुपत्नीक प्रथा का प्रचलन नही था। नव वधु जब पितृगृह से परिणीता होकर पतिगृह में प्रविष्ट होती थी तो उसे परिवार के ऊपर अधिकार रखने वाली साम्राज्ञी समझा जाता था।

वैदिक युग की सयुक्त परिवार-व्यवस्था पितृसत्तात्मक थी। पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का उत्तराधिकार होता था। किन्तु पुत्राभाव मे पुत्री को भी उत्तराधिकारिणी माना जाता था। ऋग्वेद के एक सन्दर्भ (७।४।७-८) से गोद लेने की प्रथा का भी आभास होता है। गाय, अश्व आदि पशु, हिरण्य, दास-दासी और भूमि, सम्पत्ति के अन्तर्गत परिगणित होते थे। भूमि का बँटवारा खेतों के रूप मे किया जाता था।

धर्मसूत्रो मे सामाजिक आधारो के सम्बन्ध मे कुछ मतभेद देखने को मिलता है। सारे वैदिक भारत के एक जैसे आचार-नियम नही थे। उदाहरण के लिए 'बौधायन धर्मसूत्र' (१।१७) में दक्षिण भारत का विशेष आचार मातुलकन्या या फुफेरी बहिन से विवाह करना निहित था, जो कि आज भी प्रचलित है। इसी प्रकार उत्तर भारत में शस्त्रास्त्र-वाणिज्य, ऊन का व्यापार और समुद्र यात्रा का प्रचलन था, जिन्हे दक्षिण भारत मे गर्ह्य समझा जाता था।

ऋग्वैदिक भारत के आर्थिक स्रोत : कृषि, पशुपालन तथा विभिन्न उद्योग थे। यही कारण है कि वेदमन्त्रो में महिमामयी भूमि का मुक्तकण्ठ से स्तवन किया गया है। वैदिक युग में कृषि को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता था कि उसी से अर्यत्व तथा आर्यभिन्नत्व (व्रात्य) की पहचान होती थी। कृषि न

करने वाले लोगों को व्रात्यों की निम्न श्रेणी में गिना जाता था। आज के कृषक जीवन में हल लगाने से लेकर अन्न को घर में लाने तक की समस्त कार्य-पद्धति वैदिक युग में भी लगभग तदनुरूप ही अपनायी गयी थी। 'शतपथ ब्राह्मण' (१।६।१।३) में कृषि की जुताई (कृषन्तः), बुआई (वपन्तः), लवाई (लुनन्तः) और मडाई (मृणन्तः) आदि का उल्लेख होने से तत्कालीन कृषि-व्यवस्था का पता चलता है।

कृषि कार्य बहुत उन्नति पर था और कृषि-सम्बन्धी साधनो का पर्याप्त विकास हो चुका था। कृषि द्वारा अनेक प्रकार के धन्धो का उत्पादन होता था। आज की भाँति लोगो को मृगया का शौक था। आर्थिक उन्नति के साधनो में काष्ठ तथा धातु की विभिन्न वस्तुओं का निर्माण, वस्त्र उद्योग और चर्म उद्योग की प्रधानता थी। 'वाजसनेय संहिता' (३०।७) मे पेशेवरो की जो सूची दी गयी है, उससे पता चलता है कि विभिन्न उद्योग-धन्धों के विकास के कारण समाज मे वर्ण-व्यवस्था को गौणता और पेशो को प्रमुखता प्राप्त थी। व्यापार के लिए वस्तु-विनिमय और धन द्वारा क्रय होता था। राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनो स्तरो पर व्यापार होता था। लोगों के समुद्री मार्गों द्वारा विदेशो के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध थे।

गाँव सुशासित ढंग पर विकास करते थे। गाँव की व्यवस्था के लिए मुखिया होता था। गाँवो की आजीविका का प्रमुख आधार कृषि तथा पशुपालन था। कृषि के बँटवारे का ढग ठीक आजकल की ही तरह था।

स्त्री-पुरुष नाना प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। लोग अच्छे वस्त्रों को तथा आभूषणो से अपने शरीर को अलंकृत करते थे। घुडदौड़ और अक्षक्रीडा मनोविनोद के साधनो मे परिगणित थे। इसी प्रकार समाज की संगीत, नृत्य और वाद्य मे भी अच्छी अभिरुचि थी। विभिन्न भाँति के वाद्यो का प्रयोग भी किया जाता था।

न्याय और शासन

मानव समाज मे सभ्यता का उदय न्याय और शासन की स्थापना के बाद हुआ। भारत मे न्याय और शासन की व्यवस्था के लिए धर्मशास्त्र नाम से एक स्वतन्त्र शास्त्र का निर्माण हुआ, जिसमे मानव-समाज के कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया है। उसके अन्तर्गत वर्ण, आश्रम और उनके कर्त्तव्य, दायित्व, विशेषाधिकार, राजधर्म, व्यवहार (कानून-विधि) आपद्धर्म, प्रायश्चित्त, शान्ति

और कर्मविपाक आदि सामाजिक नीति-नियमों की सुव्यवस्था के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार किया गया है। इस दृष्टि से धर्मसूत्र और स्मृतियाँ धर्मशास्त्र के अन्तर्गत परिगणित हुए।

धर्म का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। धर्म किसी एक व्यक्ति तथा वर्ग की वस्तु नहीं है। समस्त मानव-समाज में धार्मिक व्यवस्था स्थापित करना ही उसका लक्ष्य है। व्यक्ति और समाज को अनुशासित करके उसे उत्तरोत्तर उन्नति की ओर ले जाना भी उसका एक उद्देश्य है। सामान्यतः धर्म के श्रौत और स्मार्त दो विभाग हैं। श्रौतधर्म के अन्तर्गत उन कृत्यों एवं संस्कारों का वर्णन है, जिनका सम्बन्ध वेदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों से है। स्मार्तधर्म के अन्तर्गत वे विषय सम्मिलित है, जिनका सम्बन्ध विशेष रूप से धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों से है।

सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से, परम्परा से सामान्यत' यह नियम चला आ रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना संस्कार-परिष्कार किये बिना दूसरे का हित साधन नहीं कर सकता है। इसलिए धर्मशास्त्र मे सर्व प्रथम व्यक्ति की आत्मोन्नति का मार्ग बतलाया गया है। आत्मोन्नति के उच्च लक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए सत्य का अनुष्ठान आवश्यक है। जीवन के लिए पहला निर्देश है सत्य बोलना (स वै सत्यमेव वदेत्—शतपथ १।१।१।५)। सत्यानुचरण से अप्रच्छन्न तथा आत्म-गुणों का विकास होता है। अहिंसा, दया, शान्ति, असूया, शौच, अनायास मंगल, अकार्पण्य और अस्पृहा—ये आठ आत्म-गुण मनुष्य मे नैतिकता और सदाचार का आधान करते हैं। नैतिकता मनुष्य को यह निर्देश करती है कि यदि कोई व्यक्ति आत्मसुख का अभिलाषी है, तो उसे दूसरे के आत्मसुख का भी ध्यान रखना चाहिए—

> यथैवात्मा परस्तद्वद् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता।
> सुखदुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे॥
>
> —दक्षस्मृति ३।२२

इस प्रकार जिस के अपने सुख-दुःख दूसरे के सुख-दुःख पर अवलम्बित है, उससे निश्चित ही यह आशा की जा सकती है कि वह सामाजिक सद्भाव के प्रति निष्ठावान् होगा। एक-दूसरे के प्रति सद्भावना रखता होगा। यही भारतीय संस्कृति की अपूर्वता है। इसका यह सिद्धान्त कि जो अपने लिए प्रतिकूल है, वह दूसरों के सम्बन्ध मे भी चरितार्थ नहीं करना चाहिए (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां

न समाचरेत्), आदर्श और नैतिकता का उज्ज्वल उदाहरण है। इस उदात्त नैतिकता के निर्माण और व्यावहारिक जीवन में उसको चरितार्थ करने के लिए जिन ग्रन्थों में उपाय तथा विधान बताये गये हैं वे धर्मशास्त्र या स्मृतियों के नाम से कहे गये हैं।

'स्मृति' शब्द से बहुधा श्लोकबद्ध स्मृतियों को ग्रहण किया जाता है। किन्तु जहाँ-जहाँ श्रुति के साथ स्मृति का उल्लेख हुआ है वहाँ-वहाँ उसका अधिक व्यापक अर्थ में उल्लेख हुआ है। श्रुति से जिस प्रकार वेद, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों का बोध होता है, उसी प्रकार स्मृति के अन्तर्गत षड्वेदांग, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र आदि अनेक विषयों को ग्रहण किया गया है। श्रुति और स्मृति का इसी रूप मे व्यापक अर्थबोध होता है। बाद की परम्परा में स्मृति को धर्मशास्त्र का पर्यायवाची मान लिया गया और इसी रूप मे वह सम्प्रति प्रचलित है। 'स्मृति' नामकरण इसलिए किया गया कि परम्परा द्वारा सूत्रकाल के पूर्व तक की सामाजिक व्यवस्था में जो विधि-विधान, आचार-विचार और नीति-नियम मौखिक (स्मृति) रूप में सुरक्षित रहते आ रहे थे, उन्ही को जब ग्रन्थ रूप में निबद्ध किया गया तो उन्हें 'स्मृति' नाम दिया गया।

स्मृतियो के आधार कल्पसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र हैं। धर्मसूत्र स्मृतियो के अधिक निकट हैं। उन्ही के आधार पर श्लोकात्मक स्मृतियो की रचना हुई है। स्मृतियो मे 'विष्णुस्मृति' ही एकमात्र ऐसी कृति है, जो श्लोकबद्ध न होकर सूत्र शैली में है। पुराणों की भाँति स्मृतियों की संख्या भी अठारह है। उनका नामकरण उनके निर्माताओ के नाम से ही प्रचलित हुआ है। मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, उशनस्, अंगिरा, यम, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, दक्ष, गौतम, वशिष्ठ, नारद, भृगु और अगिरा आदि स्मृतियो के निर्माणकर्ता हैं। उनमें चार स्मृतियाँ 'मनुस्मृति', 'विष्णुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति' और 'नारदस्मृति' विश्रुत एवं लोकप्रिय हैं।

इन स्मृतियो के ही समान 'महाभारत' को भी धर्मसंहिता के रूप मे मान्यता दी गयी है। शान्ति पर्व और अनुशासन पर्व में धर्म तथा अर्थ की गम्भीर परिभाषा की गयी है। इस कारण धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से इन दोनो पर्वों का विशेष महत्त्व है। इस आधार पर 'महाभारत' को 'व्यासस्मृति' के रूप में मान्यता प्राप्त है। उसमें परम्परागत धर्म तथा व्यवहार (कानून) को वही मान्यता दी गयी है, जो स्मृतियों को प्राप्त है।

यद्यपि स्मृतियों का आधार विशेष रूप से धर्मसूत्र रहे हैं, फिर भी 'मनुस्मृति' में अनेक नयी बातों का समावेश हुआ है। स्मृतियों में 'मनुस्मृति' का इस दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है कि उसमें अतीत के युग-युगों की परिवर्तित परिस्थितियों, व्यवस्थाओं तथा लोकाचारों को सामयिक एवं व्यवहारोपयोगी बनाकर प्रस्तुत किया गया है। 'मनुस्मृति' में लोकदृष्टि का समादर होने के कारण उसको सर्वाधिक लोक-सम्मान और शास्त्र-मान्यता प्राप्त है।

स्मृतियाँ मुख्यतः विधि-ग्रन्थ हैं। उनमे धर्म के व्यवहार (कानून) पक्ष को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। उनमें धर्म के उस पक्ष को गौण माना गया है, जिसका सम्बन्ध पारलौकिकता तथा आध्यात्मिकता से है। ऐहिक समाजविद्या त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का निरूपण अर्थशास्त्र में किया गया है।

सांस्कृतिक अभ्युदय की दृष्टि से धर्मशास्त्र की निरूपक स्मृतियों का विशेष महत्त्व है। सदाचार, न्याय और सद्व्यवहार (नीति-नियम) संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं और स्मृतियों में इन्ही पर विचार हुआ है। उनके प्रभाव से ऐसे समाज की रचना की गयी है, जो उदात्त, उदार और मानव-कल्याणकारी आचारों का पालनकर्ता है। मूल मानवाधिकारों की सुरक्षा-व्यवस्था करके स्मृतियों ने भारतीय संस्कृति के गौरव को बढाया है। उन्होने श्रुतियो की परम्परा का प्रवर्तन करके इस राष्ट्र के सास्कृतिक अभ्युदय को अक्षुण्ण बनाये रखा।

जनतन्त्र की जननी—वैदिक परिषदें

आधुनिक जनतन्त्र की जननी वैदिक परिषदो को प्राचीन भारत मे न्याय तथा प्रशासन की दृष्टि से सर्वोच्च सम्मान प्राप्त था। वे सर्वमंगलकारी धर्म पर आधारित थी। समाज और राजा, परिषदो द्वारा ही शासित होते थे। वैदिक युग मे ऐसी परिषदो के अस्तित्त्व के द्योतक अनेक प्रमाण उपलब्ध है, जो न्याय, शासन तथा सामाजिक कार्यकलापों के निर्णय के लिए राष्ट्र के सर्वोच्च व्यक्तियों, जिनमे बृद्ध तथा युवा सम्मिलित थे, सार्वजनिक क्षेत्र मे कार्य करने वाले लोगों और विभिन्न शिल्पो एवं व्यवसायों से सम्बद्ध कर्मकरों तथा शिल्पियो का प्रतिनिधित्व करती थी। ये परिषदे राष्ट्रीय कार्यों मे राजा की सहायता तथा प्रजा के प्रति उत्तरदायी हुआ करती थीं। राजा या शासक भी उनके प्रति उत्तरदायी होता था। वे वस्तुतः राजा और प्रजा के बीच मध्यस्थता का कार्य करती थी। वे ही राजा का चयन करती थी और

उन्हीं की उपस्थिति में राज्याभिषेक के समय राजा राष्ट्र के प्रति सत्यनिष्ठा की शपथ लेता था। इन परिषदों को समिति, सभा या नरिष्टा कहा जाता था।

समिति और उसका कार्यक्षेत्र

वैदिक युगीन परिषदों में 'समिति' का विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। वैदिक राष्ट्र में प्रजा ही सर्वोच्च शक्ति थी। वही राष्ट्र-व्यवस्था के लिए राजा का चयन तथा उसको पदच्युत करने के लिए अधिकृत थी। यदि राजा विश: (प्रजा) के सामने की गयी प्रतिज्ञा के प्रतिकूल कार्य करता था तो उसे तुरन्त पदच्युत कर दिया जाता था। विश: की एक समिति होती थी, जो राजा के माध्यम से राष्ट्र के सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करती थी। समिति का कोई सदस्य उसका अध्यक्ष या सभापति (ईशान) चुना जाता था। प्रत्येक बैठक मे राजा की उपस्थिति आवश्यक थी। वह स्वयं इस समिति का एक सदस्य था। शासक और समिति के सदस्यों की सहमति से कोई भी कार्य हाथ मे लिया जा सकता था। सामाजिक व्यवहार, सार्वजनिक कार्य तथा विषयो पर समिति में वाद-विवाद की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

राजनीतिक दृष्टि से इस लोक-सस्था का बड़ा महत्त्व था, क्योकि उसी के द्वारा समस्त राष्ट्र का सचालन तथा नीतियाँ निर्धारित होती थी। समिति का प्रत्येक सदस्य अपनी ओजस्वी वक्तृता एवं अकाट्य तर्कशक्ति के बल पर अपने अभिमत को प्रस्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। न्याय तथा प्रशासनिक कार्यों के साथ-साथ शिक्षा, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी विषयो पर विचार करना भी उसके अधिकारों के अन्तर्गत था।

वैदिक युग की इस सर्वोच्च लोक-परिषद् का परवर्ती भारत में अनेक रूपो मे विकास-विस्तार हुआ। वह धर्म तथा न्यायिक विषयों की परामर्शदातृ समिति थी। बौद्ध तथा नीति-ग्रन्थों और महाकाव्यों में उक्त जन-परिषद् को शासन के प्रभावशाली अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।

सभा और उसका कार्यक्षेत्र

वैदिक युग मे 'समिति' के अतिरिक्त 'सभा' नाम से एक पृथक् परिषद् के अस्तित्त्व का पता चलता है। अथर्ववेद (७।१२।१-४) मे सभा तथा समिति का अलग-अलग नाम निर्देश हुआ है और दोनों को प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है। (सभा च समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाते)।

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि 'हे इन्द्र, इन सभी संसदों में मुझे भी भागी बनाओ' (अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भागिनं कुरु) (अथ० ७।१३।३) । इस मन्त्र मे प्रयुक्त 'संसद्' शब्द को सायणाचार्य ने सभा के अर्थ में ग्रहण किया है । आधुनिक विद्वानों ने उसके भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संसद् वैदिक युग की एक ऐसी परिषद् थी, जिसमें जनसभा, राजा की ओर से नियुक्त समिति के सदस्य, सम्मिलित हुआ करते थे । डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल (हिन्दू राजतन्त्र, 1, पृ० 29) का अभिमत है कि 'सभा' सम्भवतः चुने हुए लोगों की संस्था होती थी और 'समिति' के अधीन होकर कार्य करती थी । उसका सम्बन्ध मुख्यतः न्यायालय से था और इस विषय पर वह राजा को सलाह देती थी ।

समिति से सभा का स्वरूप एवं कार्यक्षेत्र कुछ भिन्न था । सभा राष्ट्र के चुने हुए लोगो की एक संस्था थी, समिति विशः की संस्था थी, जिसमे विभिन्न पेशेवरों तथा वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था । ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र की रक्षा-व्यवस्था का कार्य समिति तथा न्याय और नीति-निर्धारण का कार्य सभा के द्वारा सम्पन्न होता था । इस प्रकार सभा धर्मपालिका या न्यायपालिका के रूप मे विद्यमान थी ।

नरिष्टा और उसका कार्यक्षेत्र

समिति और सभा के अतिरिक्त 'नरिष्टा' नाम की एक सर्वोच्च परिषद् भी थी । इस राष्ट्रीय परिषद् के सम्बन्ध में अथर्ववेद (७।१३।२) के एक सन्दर्भ मे कहा गया है कि 'हे सभे, मैं तेरा नाम जानता हूँ । तेरा नाम 'नरिष्टा' (अजेया) है । तेरे जितने सभासद हैं, वे मेरी हाँ मे हाँ मिलावे ।' सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ देते हुए लिखा है कि 'नरिष्टा' परिषद् मे अनेक व्यक्तियों द्वारा लिये गये निर्णयो की पुष्टि होती थी । उसका उल्लघन कोई नही कर सकता था । उसके सभासदो या पारिषदो द्वारा एकमत से निर्णीत विषय की अनुल्लघनीयता के कारण ही उसको 'नरिष्टा' (अजेया) कहा गया है । उसका निर्णय इसलिए सर्वमान्य हुआ करता था, क्योंकि वह जन-समुदाय द्वारा एकस्वर मे स्वीकृत होता था ।

'नरिष्टा' परिषद् के आयोजन के लिए सम्भवतः पृथक् सभा भवन हुआ करता था, जिसको कभी-कभी नृत्य, गीतादि (नरिष्टा, नृत्तानि) मनोविनोदों के लिए भी उपयोग में लाया जाता था (अथर्ववेद ११।८।२४) ।

इन उल्लेखों से ऐसा विदित होता है कि अथर्ववैदिक भारत मे नरिष्टा की लोकप्रियता अधिक प्रकाश में आ गयी थी।

वैदिक परिषदों का परवर्ती स्वरूप

वैदिक युग की समिति, सभा तथा नरिष्टा आदि परिषदों ने भावी भारत की जनतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के निर्माण और विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इन समितियों के न्याय प्रशासन और राष्ट्रीय सुरक्षा-व्यवस्था-सम्बन्धी निर्णय तथा पद्धतियों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि शासक या राजा और शासित या प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध बड़े सौहार्दपूर्ण थे। राष्ट्र के जो सर्वोच्च विद्वान् और सुयोग्य व्यक्ति थे, उनकी विद्या, बुद्धि, योग्यता तथा निपुणता का पूर्ण सहयोग इन समितियों को प्राप्त था।

वैदिक युग की समाज-व्यवस्था से यह भी ज्ञात होता है कि यद्यपि राजा उसके प्रति उत्तरदायी था, तथापि उसके नियमन, संचालन तथा सहयोग हेतु सभी क्षेत्रों के श्रेष्ठ लोगो तथा सुयोग्य विद्वानों की अलग-अलग बैठकें भी हुआ करती थी। इन परिषदो का प्रभाव परवर्ती समाज तथा साहित्य पर भी परिलक्षित हुआ। वेदोत्तरकाल मे प्रौढ़ों की 'राज्यसभा', जनता की 'सार्वजनिक सभा', व्यापारियो एवं व्यावसायिकों का 'मण्डल' (पुग), राज्यों का 'संघ' और कुटुम्बों की 'ग्रामसभाएँ' ऐसी ही परिषदें थी। इन परिषदों मे जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सम्मलित होते थे और वे राजा को न्याय, प्रशासन तथा व्यवस्था के सम्बन्ध में परामर्श दिया करते थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में इस प्रकार की परिषदों का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदोत्तरकालीन भारत मे सूत्रकाल के बाद वैदिक युग की सामाजिक संस्थाओ ने विभिन्न परिषदों के रूप में अपना विकास कर लिया था। उनका सम्बन्ध धर्म, न्याय, शासन, साहित्य दर्शन, कला और व्यापार-व्यवसाय से सम्बद्ध हो गया था। वे राष्ट्रीय समस्याओ के निर्णय के लिए राजा द्वारा आयोजित होती थी। स्वतन्त्र रूप से भी उनका संगठन तथा अधिवेशन आयोजित होता था।

●●●

आठ/पुराणों और महाकाव्यों का युग

पुराणों और महाकाव्यों की संस्कृति

पुराणों द्वारा वैदिक संस्कृति का सामाजीकरण

पुराण भारतीय संस्कृति के आगार हैं। वे ग्रन्थरूप में निबद्ध भले ही बहुत बाद में हुए हो, किन्तु, जहाँ तक उनकी विषय-सामग्री एवं विचारधारा का सम्बन्ध है, इस दृष्टि से वे वेदों के समवर्ती हैं। उनके आख्यान-उपाख्यानो में वेद-पूर्व आर्यों तथा आर्यभिन्न जातियो की समन्वित संस्कृति के दर्शन होते हैं। वेदों में भी अवैदिक संस्कृति के तत्त्व निहित हैं; किन्तु पुराणों मे वे व्यापक रूप से प्रकाश मे आये। ब्राह्मण-ग्रन्थों में द्वादशवर्षीय सत्रो और अश्वमेध यज्ञों के अवसर पर सभी वर्णों तथा सभी क्षेत्रो के आमन्त्रित कथावाचको तथा उद्‌गाताओ मे अवैदिक याज्ञिकों की उपस्थिति भी समान रूप से हुआ करती थी। वैदिकों की ही भाँति अवैदिक भी अपने देवताओ, राजाओ और प्रजाओं के इतिवृत्तो एवं गाथाओं का उद्‌गायन किया करते थे। इस प्रकार की अवैदिक परम्पराओ का बहुत कुछ समावेश वेदो मे ही हो चुका था; किन्तु उन सम्पूर्ण अवैदिक परम्पराओं को वैदिक परम्पराओ के साथ बिना किसी सघर्ष तथा प्रतिरोध के समन्वित एवं प्रस्तुत किया पुराणो के मुनि-महात्माओं एवं सूतो ने। उन्होने युग-युगो की परम्परागत सांस्कृतिक थाती को सर्वांगीण, सार्वदैशिक और सर्वजनोपयोगी स्थिरता एव सुदृढ़ता प्रदान की। सक्षेप एव सार रूप में कही गयी वेदों, ब्राह्मणो तथा आरण्यको की कथाओं, गाथाओ तथा उपाख्यानों को कलात्मक सज्जा देकर अधिक विस्तार एवं जनसुलभ रोचक ढग से प्रस्तुत करने का कार्य किया पुराणो के सूतों, मागधों और चारणो ने। उसमे जितना योगदान ब्राह्मण पुरोहितो तथा त्रैवर्णिको का रहा, उतना ही योगदान सूतों, मागधो तथा चारणो (वन्दियो) जैसी शूद्र जातियो का भी रहा। पुराण तत्कालीन समाज के लोक तथा शास्त्र परम्पराओ के सवाहक, सभी क्षेत्रो के लोगों की सामूहिक देन हैं।

पुराणो का इसलिए विशेष महत्त्व है कि उन्हें जन-सामान्य के लिए लिखा गया था। वेदो के गम्भीर मर्म को, ब्राह्मण-ग्रन्थो की जटिल यज्ञ-विधियों को

और उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन को आख्यान-उपाख्यानो द्वारा सर्व सामान्य के लिए सरल भाषा में सुगम या बोधगम्य करना ही पुराणकारों का विशेष लक्ष्य था। जैसे मध्ययुगीन रचनाकारों द्वारा 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश', की कथाओं द्वारा राजनीति, अर्थशास्त्र और लोक-व्यवहार के प्रौढ ज्ञान को विमल मति बालकों के लिए प्रस्तुत किया गया है उसी प्रकार वेद-वेदान्त में सार एवं सक्षेप रूप मे कही गयी बातों को पुराणो की कथाओं मे सरलतापूर्वक विस्तार से कहा गया है। जो अल्पश्रुत है, अर्थात् जिसका अध्ययन व्यापक नही है, या जिसने वेदो का सम्यक् अनुशीलन नहीं किया है उससे वेद डरता है कि कही वह हम पर प्रहार न कर दे, अर्थात् अर्थ का अनर्थ न कर दे। इसलिए ऐसे अल्पश्रुत के लिए इतिहास-पुराणो द्वारा वेदार्थ समझने की व्यवस्था की गयी है। 'भागवत' के अनुसार वे अल्पश्रुत थे स्त्रियाँ, शूद्र और आचारच्युत द्विजातियाँ, जिन्हें वेद-श्रवण का अधिकार नही था। उनके श्रेय तथा हित के लिए वेदो का ज्ञान पुराणों के रूप में कहा गया है।

भारत की धर्मप्राण जनता की आस्थाओं एवं निष्ठाओं के अनुरूप पुराणों मे मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विशद वर्णन हुआ है। मूर्तिपूजा और अवतारवाद की परम्परा अति प्राचीन है। वैदिक जन-जीवन और सैन्धव सभ्यता मे उनके विभिन्न सन्दर्भ बिखरे हुए हैं। वेदों का हिरण्मय पुरुष ही वस्तुतः पुराणों का विष्णु है। वही वेदों का पुरुष या पुरुषोत्तम है, जो कि पुराणो के अवतारी श्रीकृष्ण का प्रतिरूप है। इस दृष्टि से वैदिक संस्कृति ही पौराणिक नारायणीय भागवतधर्म की भी जननी है। मत्स्य द्वारा मनु की नौका को उत्तरी हिमालय तक ले जाने का 'शतपथ ब्राह्मण' (१।८।१) का कथन वस्तुतः पुराणो के मत्स्यावतार की ही कल्पना है। अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों मे भी वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार और कूर्मावतार की विभिन्न चर्चाएं हुई हैं। वेदो के सृष्टि-प्रलय के सन्दर्भ में नयी जीवन-पद्धति की प्रतीकात्मक रचना पुराणो के अवतारवाद का मूल है।

अवतारवाद की भाँति पुराणों के देवतावाद का आधार भी वैदिक संस्कृति ही रही है। वेदों के तैंतीस प्रमुख देवताओं के आधार पर पुराणों में तैंतीस कोटि देवताओं की कल्पना की गयी है। पुराणों का यह बहुदेवतावाद वस्तुतः परम्परागत वैदिकों तथा अवैदिको की बहुविध आस्थाओ का परिणाम है। वैदिक देवताओं के माता-पिता, पत्नी और पुत्र के सम्बन्धों को लेकर पुराणों के देव-परिवारो का विकास हुआ। इसी प्रकार वेदों की सकाम आराधना ने ही पुराणों की भक्ति-भावना को जन्म दिया।

पुराण भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं। परम्परा द्वारा सृष्ट एवं संचित इतिहास, भूगोल, समस्त विद्याओं, शास्त्रों और कला-शिल्पों की विरासत को पुराणों में उपदेश-कथन की रोचक शैली मे कहा गया है। इस राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युदय में समाज के सामान्य तथा विशेष वर्गों का जो सामूहिक योगदान रहा है उनके इतिवृत्तों को पुराणकारों ने अत्यन्त सजीव एव सरस रूप में प्रस्तुत किया है। उनमे दस मस्तकों, सहस्र भुजाओ और सहस्र नेत्रों के विचित्र मनुष्यो का वर्णन हुआ है। इन मनुष्यों के अतिरिक्त राक्षस, नाग, रीछ और वानर आदि विभिन्न अर्धमानुष जातियों का भी उनमें समावेश हुआ है। उनमें ऐसी कामरूप जातियो का भी उल्लेख हुआ है, जो इच्छानुसार रूप धारण करने की क्षमता रखती थी। वस्तुत: भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के निर्माण में परम्परा से जिन विभिन्न जातियो का योगदान रहा, उन सब के चरित्रों का वर्णन पुराणो मे हुआ है।

वेदो के कर्म और ज्ञान की विरासत को क्रमशः ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदो ने विकसित किया। किन्तु आगे चलकर ब्राह्मण-ग्रन्थ केवल पुरोहितों और उपनिषद्-ग्रन्थ केवल सन्तों तथा चिन्तनशील विचारको तक ही सीमित हो गये। जन-सामान्य का उनसे कोई सम्बन्ध नही रहा। इसी समय जैन-बौद्धों का उदय हुआ और उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड की रूढिवादिता और पुरोहितो की वर्ग-भावना पर प्रहार करके स्वय को जनता में प्रतिष्ठित किया। अपनी प्रतिष्ठा तथा लोकप्रियता के लिए उन्होने परम्परागत साहित्यिक भाषा के स्थान पर पालि तथा प्राकृत आदि लोकभाषाओं को अपने साहित्य तथा प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया।

समाज में जैन-बौद्धो की स्थिरता एव व्यापकता को दृष्टि मे रखकर परम्पराओं के अनुयायियो ने अपनी कट्टरताओ और रूढ़िवादिता को उदार तथा जन-सुलभ बनाने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होने सर्व प्रथम जैन-बौद्धो के नास्तिकवाद को अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया और उनकी धारणा, ध्यान, समाधि, गृहत्याग और संसार की दु:खमयता का भी प्रतिवाद किया। उन्होंने ऐसे सुगम धर्म को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसमे परम्पराओं के आदर्श निहित थे और जो सर्व सामान्य के लिए ग्राह्य तथा उपयोगी था।

पुराणो के इस युगधर्म ने बृहद् भारतीय समाज के अन्तर्गत विभिन्न जातियों एवं कबीलो के आचारों तथा संस्कारों को स्वायतकर नयी जीवन-

पद्धति को पुनः स्थापित किया। पौराणिक धर्म के प्रवर्तक मुनि-महात्माओं ने युग की आकांक्षाओं के अनुरूप वर्ण-संकीर्णता और जातीय भेद-भाव को मिटाकर नयी आचार संहिता को प्रचलित किया, जिसमें सवर्ण-असवर्ण तथा अनुलोम-प्रतिलोम विवाह-विधि की वैधता को सस्थापित किया गया। भारतीय संस्कृति के इतिहास मे पौराणिक धर्म की यह नयी देन थी। ब्राह्मण समर्थित परम्पराओं के प्रवर्तन में धर्मसूत्रो तथा स्मृतियो ने वर्णाश्रम धर्मों मे असमानता तथा विशेषाधिकारो का वर्ग-विभाजन करके जिस भेद-बुद्धि की सृष्टि की थी, पुराणों ने उसको पराभूत कर मानवमात्र में समानता की स्थापना की।

इस रूप मे पुराण वस्तुतः मानवधर्म के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। पुराणों की नयी धर्मसंहिता ने परम्परागत भेद-बुद्धि के कारण शूद्रों, स्त्रियों, पतितों तथा दासो के वर्ग-विभेद को मिटाकर एक ऐसे उदात्त धर्म की स्थापना की, जिसमे किसी प्रकार का भेद-भाव नही था और जिस पर चलकर सर्व सामान्य अपना स्वतन्त्र विकास कर सकता था। पुराणो की संस्कृति इस रूप मे श्रेष्ठ एव वरणीय है कि उसमे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर बल दिया गया है और जातीय श्रेष्ठता एव कुल की उच्चता की अपेक्षा योग्यता, बुद्धि तथा कार्यक्षमता के आधार पर प्रगति करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है।

समानता और सद्भाव से सम्पोषित एव प्रेरित पुराणो की इस सार्वभौम सस्कृति ने भावी भारत की राष्ट्रीयता का निर्माण और सर्वधर्म-समन्वय के महान् आदर्श को स्थापित किया।

महाकाव्यों की संस्कृति

वेदों से पूर्व और वैदिक युग में, विशेष रूप से ऋग्वैदिक काल मे, आर्यों तथा आर्येतरो के पारस्परिक मेल-जोल से जिस समन्वित संस्कृति का उदय हुआ उसे वैदिक संस्कृति के नाम से कहा जाता है। उसके बाद जैसे-जैसे परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रही और नयी सामाजिक चेतना का स्फुरण हुआ, वैसे-वैसे परम्परागत संस्कृति के क्षेत्र मे भी विकास के नये आयाम जुडे। भारतीय सस्कृति का नया रूप पौराणिक संस्कृति के नाम से प्रकाश मे आया। यह पौराणिक संस्कृति वस्तुतः वैदिक संस्कृति का ही रूपान्तर थी। उसके बाद वैदिक परम्परा के पुराणकालीन ऋषि-मुनियों द्वारा पौराणिक संस्कृति के पल्लवन में जो यशस्वी प्रयत्न हुए, महाकाव्यों की समृद्ध संस्कृति उसी का

परिणाम है। नीति, वंशावली, आख्यान, गाथाएँ और नाराशंसी आदि से सम्बद्ध जिस इतिहास-पुराण का उल्लेख वेदो तथा परवर्ती वैदिक साहित्य मे निहित है, 'रामायण' और 'महाभारत' में उसका साहित्यिक उत्तराधिकार सुरक्षित है।

इतिहास के परम्परागत सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि अतीत के लगभग पाँच हजार वर्षों पूर्व सिन्धुवासियो से आर्यों का जो प्रथम समागम हुआ उसमे पारस्परिक अधिकारों तथा प्रभुत्व की होड़ से दोनो पक्षो मे अनेक बार तुमुल संघर्ष हुए। इन संघर्षों मे सिन्धुवासी आर्येतर जातियो के प्रतिनिधि थे असुर तथा दैत्य-दानव और आर्यों के प्रतिनिधि थे सुर या देवता। असुरों पर सुरो की विजय से आर्येतर जातियो पर आर्यों के प्रभुत्त्व की स्थापना हुई। पहले तो उन्होने सप्त-सिन्धु पर अधिकार किया और उसके बाद भारत के पूर्व-उत्तर मे फैले।

ऊपर जिस देवासुर-संग्राम की चर्चा की गयी है वह निरन्तर कई सौ वर्षों तक चलता रहा। इसलिए स्वभावतः उसमे अनेक देवताओ, ऋषियो असुरो, राजाओ, सामन्तो, सेनापतियो और योद्धाओ ने वीरगति को प्राप्त किया। अपने प्राणो की आहुति देकर उन्होने राष्ट्ररक्षा का जो महान् कार्य किया था उसके फलस्वरूप तत्कालीन जनकवियो ने उनकी वीरगाथाओ एव उदात्त ख्यातों की मौखिक रचना कर डाली और उन्हे समाज मे गा-गाकर एक ओर तो उन्होने जनता मे राष्ट्रीय गौरव की स्मृति को उज्जीवित किया और दूसरी ओर उसी के द्वारा अपनी आजीविका की भी रक्षा की।

इस प्रकार के आदर्श एव अनुकरणीय प्रेरणाप्रद वीर-वृत्तो को गा-गाकर सुनाने की परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही थी। जन-कवियो द्वारा मौखिक रूप मे सुरक्षित इन ख्यातो का तत्कालीन ऋषिवंशों ने अपने अनुभवों तथा प्रत्यक्षद्रष्ट घटनाओं के आधार पर अपनी कवि-बुद्धि से काव्य की सुन्दरताओ से संजोकर आख्यायिकाओं के रूप मे उपनिबद्ध किया। इन कवित्व-प्रतिभा-सम्पन्न ऋषियो के दो प्रमुख वंश थे। एक तो आर्य शाखा से सम्बद्ध था और दूसरा आर्येतर शाखा से। ऋषियों के इन दोनों वशों का सिन्धु सस्कृति तथा वैदिक संस्कृति के उत्थान-पतन में सक्रिय योगदान रहा। उन्होने अपने-अपने पक्षो की सेनाओं के लिए व्यूह-रचना करने के साथ-साथ स्वयं भी युद्धों में भाग लिया। इस प्रकार के ऋषियो में वशिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम और अगस्त्य आदि का नाम लिया जा सकता है। इन ऋषियों ने और उनके उत्तरवर्ती वंशजों ने अपने-अपने युगो की घटनाओं एवं परिस्थितियो के स्वानुभूत सत्य को जन-कवियों की मौखिक ख्यातों के साथ निबद्ध करके इस

राष्ट्रीय एवं जातीय इतिहास को सुरक्षित रखा। परम्परा द्वारा अभिरक्षित भारत के लगभग ढाई हजार वर्षों का राष्ट्रीय इतिहास 'रामायण' और 'महाभारत' के रूप में आज हमारे समक्ष है।

ये दोनों ग्रन्थ हमारे राष्ट्रीय महाकाव्य हैं। वे इस देश के सुदूर अतीत से अब तक के जन-जीवन के विश्वकोश हैं। उनमें इस राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित है। इन दोनो के चरित-नायकों और घटना-क्रमो में युगो का अन्तर होते हुए भी सास्कृतिक एकता है। उनकी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक मान्यताओं मे भी लगभग एकता है।

ये दोनों राष्ट्रीय महाकाव्य परम्परा से चले आते भारत के सास्कृतिक इतिहास पर भी प्रकाश डालते हैं। भारतीय जन-जीवन में परम्परा से जीवनादर्शों की मान्यता के लिए जो मत-मतान्तर चले आ रहे थे, अपने-अपने अस्तित्व की स्थापना के लिए जो अन्तर्द्वंद्व उत्पन्न हो गये थे, उनके कारण आचार-विचार और रहन-सहन के क्षेत्रो में निरन्तर विषमताएँ बढ़ती जा रही थी। इन विषमताओं के फलस्वरूप समस्त भारतीय जन-जीवन दो वर्गों मे विभाजित हो गया था। 'रामायण' में इन्ही दो विरोधी वर्गों की विचारधाराओं का संघर्ष है। 'रामायण' मे राम-रावण के बीच का संघर्ष वस्तुतः परम्परा से चली आती दो भिन्न-भिन्न सस्कृतियों का सघर्ष है। 'रामायण' का युद्ध आर्य-आर्येतर सस्कृति के बीच का युद्ध है, जब कि 'महाभारत' का युद्ध भाई-भाई के बीच का युद्ध है।

'महाभारत' मे भी पारस्परिक अस्तित्व की स्थापना की होड है। उसमे यद्यपि दो विरोधी सस्कृतियो का संघर्ष नहीं है, फिर भी उस सघर्ष के मूल मे इतना व्यापक अन्तर्विरोध है, जितना कि भारतीय इतिहास मे इससे पूर्व नही दिखायी देता है। परम्परागत उच्च आदर्शों की अवहेलना करके समाज मे जो स्वार्थपरता, अधिकारलिप्सा और एकाधिकार का बोल-बाला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था उसी का विस्फोट 'महाभारत' की लड़ाई थी। इस महायुद्ध ने शासन की निरंकुशता, सामाजिक अव्यवस्था और शक्ति के दुरुपयोग का अन्त कर एक अपूर्व अभिजात संस्कृति को जन्म दिया। यह युद्ध भाई-भाई के बीच आरम्भ होकर समस्त राष्ट्र का युद्ध बन गया था।

इस रूप में इन दोनों ग्रन्थों का समान ऐतिहासिक महत्त्व है कि युद्ध और रक्तपात के बाद देश एक निर्णायक स्थिति मे पहुँचा। ये दोनो ग्रन्थ भारतीय जन-जीवन के लिए इतने अधिक इसलिए उपयोगी सिद्ध हुए कि

उनमें वैदिक और लौकिक संस्कृतियों का सगम हुआ है। इन दोनों महान् ग्रन्थों का भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान मे जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, वैसा ही महत्त्व भारतीय संस्कृति के सुदूर विदेशो में प्रसारित करने के कारण भी विश्रुत हुआ। इन दोनों ग्रन्थों की मानव सहज कथाओं को पढ़कर मध्य एशिया के अनेक देशों ने स्वयं को उनमें घुला-मिला दिया। उनकी आदर्शमयी कथाओं को राजाज्ञाओं के रूप में उत्कीर्णित एवं चित्रितकर उनके प्रति अपना श्रद्धाभाव व्यक्त किया।

भारत की भाँति इंडोनेशिया आदि देशो मे कौरव-पाण्डवो मे चरित्रो पर आधारित कथाओ को जनता के मनोरंजन के लिए रगमच पर प्रस्तुत करने की परम्परा सुदूर अतीत से आज तक निरन्तर बनी हुई है। उनकी लोक लीलाओ का व्यापक पैमाने पर आयोजन होता है। 'महाभारत' के श्रीकृष्ण तथा अर्जुन और 'रामायण' के राम, सीता, हनुमान् के महान् चरित्रो से सम्बद्ध कथाओ को वहाँ वही मान्यता है, जो भारत मे है।

द्वीपान्तरो के साहित्य पर इन दोनो ग्रन्थो की कथाओ ने जो प्रभाव डाला, वह भारतीय साहित्य से कुछ कम नही है। इस रूप मे इन दोनो ग्रन्थो को द्वीपान्तरों में सास्कृतिक प्रसार का भी प्रमुख आधार माना गया है।

रामायण

'रामायण' महामुनि वाल्मीकि की एक महान् कृति है। उसमे भारत के सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और आदर्शरूप राजनीतिक जीवन का वास्तविक चित्रण किया गया है। उसके द्वारा भारतीय आत्मा का अभिव्यंजन हुआ है। उसमें इस विशाल राष्ट्र की, यहाँ के प्रत्येक घर की बातें अत्यन्त विस्तृत रूप मे कही गयी हैं। पिता-पुत्र, भाई-भाई और पति-पत्नी के जो नैतिक सम्बन्ध है, धार्मिक मान्यताएँ हैं, पारस्परिक एकात्मकता और निष्ठा है, उन सब को 'रामायण' में इतने सहज और स्वाभाविक ढंग से कहा गया है कि इस देश के जन-जीवन का वह अभिन्न अग बन गयी है।

'रामायण' को राष्ट्रीय महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। वह इसीलिए कि उसमे वैदिक भारत से लेकर रामराज्य तक के जन-जीवन का चित्रण हुआ है और आज का भारतीय हिन्दू समाज उसको उसी रूप मे अपनाता है। भारतीय इतिहास के सुदूर अतीत भी उसके द्वारा अलौकित होता है। उसमें आर्य-आर्येतर-युग की परिस्थितियों और घटनाओ का भी दर्शन होता है।

'रामायण' से ज्ञात होता है कि पहले आर्यों ने सप्तसिन्धु की भूमि पर अधिकार किया और उसके बाद वे मध्यदेश, दक्षिण और पूर्व के सुदूर भू-खण्डों में फैले और वहाँ अपनी बस्तियाँ बसाकर उन्होंने अपने प्रभुत्व को स्थापित किया।

'रामायण' से तत्कालीन भारत की भौगोलिक स्थितियो पर प्रकाश पड़ता है। उसमे सर्व प्रथम दक्षिणापथ का उल्लेख हुआ है। उसमें दण्डक वन को उत्तर और दक्षिण का विभाजक बताया गया है। यह दण्डक वन ही आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों का भी विभाजक था। लंका से सीता का उद्धार करने के लिए राम-लक्ष्मण कई वर्षों तक दण्डकारण्य मे रहकर राक्षसों से युद्ध करते रहे। गोदावरी के तट पर भी उन्हें आर्येतर शक्तियों का सामना करना पड़ा। इन दक्षिणापथ के अनेक स्थानों को राक्षसी प्रभाव से मुक्त करके राम-लक्ष्मण ने वहाँ यज्ञकर्ता ऋषियो और ब्राह्मणो की नयी बस्तियाँ बसा कर आर्य-प्रभाव की स्थापना की। राम के अभियान के पूर्व ही दक्षिण मे ऋषियो और ब्राह्मणो द्वारा आर्य संस्कृति का प्रसार होने लगा था। अपने उच्च सस्कारों और यज्ञ-याग तथा उपासना आदि वैदिक कर्मों के शान्तिमय प्रयत्नो द्वारा दक्षिणापथ मे आर्य परम्पराओ का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। राम के विजय अभियान ने उसको तीव्र गति से बढ़ाया। उसके बाद वे किष्किन्धा (विलारी जिला) की ओर बढ़े और उन्होने वहाँ भी आर्येतर प्रवृत्ति राक्षसो का उन्मूलनकर पम्पा सरोवर तथा ऋष्यमूक पर्वत पर भी अपनी विजय-ध्वजा फहराई। इसी ऋष्यमूक पर्वत पर राम-लक्ष्मण की हनुमान तथा सुग्रीव से भेट हुई थी।

राक्षस और वानर, दोनों यद्यपि दक्षिण भारत की मूल आर्येतर जाति से सम्बद्ध थे; फिर भी उनके स्वभाव-सस्कारो मे अन्तर आ गया था। राक्षसो की अपेक्षा वानर जाति अधिक धर्मप्रवण और सरल स्वभाव की थी। दक्षिण पर राक्षसों के एकाधिकार के कारण सम्भवतः वानर जाति उपेक्षित हो जाने से आन्तरिक क्षुब्धता की स्थिति में थी। इसलिए राम के उच्चादर्शों और धर्म-न्याय की नीतियों से प्रभावित होकर समस्त वानर जाति उनके पक्ष मे हो गयी थी। इसी समय इस जंगली आर्येतर जाति का आर्यीकरण हुआ। इन युद्ध-कुशल वानरो ने प्रतिद्वन्द्वी राक्षसो का सफाया करने मे राम की बहुत सहायता की। किष्किन्धा के आगे वानर-वाहिनी के सहयोग से राम ने लंका की ओर प्रस्थान किया और वहाँ पर भी अपनी विजय-पताका को लहराकर

आर्य संस्कृति की स्थापना की। 'रामायण' में आर्येतर जातियों पर आर्यों के बढ़ते हुए प्रभाव की स्पष्ट छाप विद्यमान है। उसके द्वारा यह भी विदित होता है कि आर्य संस्कृति दक्षिण की ओर लंका तक प्रसारित हो चुकी थी। फिर भी रामायणकालीन संस्कृति की विशिष्टता उसके आदर्शमय सन्देश मे है, जो पिता, पुत्र, माता, भाई, पत्नी, पति, मित्र और सेवक के पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा अभिव्यंजित हुई है।

इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यदेश, किष्किन्धा, दण्डकारण्य, विदर्भ और महाराष्ट्र के विस्तृत भू-भाग में रामायणकालीन आर्यों का प्रसार हुआ। इस प्रचार-प्रसार मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान तत्कालीन ऋषि मुनियों का रहा। उनके उच्च जीवनादर्शों ने इस विस्तृत भू-भाग की बहुसख्यक जनता को सहज में ही प्रभावित कर लिया।

रामायणकालीन सस्कृति का मूलाधार था धर्म। धर्म को तब जीवन के उत्कर्ष का पर्याय माना जाता था। तप, दान, पुण्य, सदाचार, सत्य, सयम, शील और मर्यादा आदि धर्माचरण के अगो को समस्त राष्ट्र अनिवार्यत जीवन मे चरितार्थ करता था। श्रीराम का आदर्श चरित धर्म का मूर्तिमान् स्वरूप था। उसमें देवत्व और मानवत्व का एक साथ समन्वय था।

धर्म द्वारा अनुशासित, नियंत्रित और उत्तरोत्तर उन्नत रामायणकालीन वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति की मर्यादाओं को सुरक्षित रखे हुई थी। उसके द्वारा चारो वर्णों और आश्रमों का सुव्यवस्थित विकास हो रहा था। ब्राह्मण वर्ण के प्रमुख कार्य थे अध्ययन, अध्यापन, व्रत, नियम, अनुष्ठान, तप और परोपकार। किन्तु समय आने पर ब्राह्मण शस्त्र धारण करके क्षत्रिय की भाँति युद्ध भूमि में भी अवतरित हो सकता था। तत्कालीन समाज की आजीविका के साधन थे कृषि और गोपालन। त्रिजट जैसे ब्राह्मणो द्वारा भी इन भौतिक साधनों का उपयोग होता था। प्रजा की रक्षा और उसका पोषण पालन करना क्षत्रिय वर्ग का कर्त्तव्य था; यद्यपि उसके लिए ब्राह्मणो के समान ब्रह्मवर्चस का अर्जन करने की स्वतन्त्रता थी। इसी प्रकार वाणिज्य, व्यवसाय और पशुपालन द्वारा समाज का भरण-पोषण करना और राष्ट्र की आर्थिक उन्नति करना वैश्य वर्ग का कार्य था। चौथे वर्ण शूद्र का कार्य था सेवा द्वारा जीविकोपार्जन करना। अपने इस छोटे स्तर से उन्नत होकर उच्च स्तर को प्राप्त करने की स्वतन्त्रता उसको भी प्राप्त थी।

ये चारों रामायणकालीन वर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठावान् रहकर परस्पर प्रेम एवं सद्भाव का जीवन व्यतीत करते थे। इस उन्नत एवं आदर्श वर्ण-व्यवस्था का प्रमुख आधार था परिवार। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत दायित्वों एवं पारस्परिक सम्बन्धों के निर्वाह में पूर्णतः उत्तरदायी होता था। सामाजिक उन्नति और चारित्रिक उच्चता को बनाये रखने के लिए युवावस्था में विवाह एक अनिवार्य कर्त्तव्य था। शिक्षा की दृष्टि से भी तत्कालीन समाज समुन्नत था। पुरुषों के ही समान स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता थी। स्त्रियों को धर्म तथा साहित्य के साथ-साथ ललित कलाओं की भी विशेष शिक्षा दी जाती थी; क्योंकि कलाएँ तब गृहकार्यों की अभिन्न अंग मानी जाती थी। तत्कालीन शिक्षा-केन्द्र ऋषियो-मुनियो के आश्रम हुआ करते थे, जिन्हे कि गुरुकुल कहा जाता था। इन गुरुकुलो मे अन्तेवासी छात्र-छात्राओ का विभिन्न शास्त्रो तथा विद्याओ की सांग शिक्षा के साथ-साथ सदाचार और नैतिकता का भी निर्माण किया जाता था। शिक्षा के अतिरिक्त विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक क्रिया-कलापो मे पुरुषो के ही समान स्त्रियाँ भी भाग लेती थी।

रामायणकालीन सांस्कृतिक सुरुचि का परिचय उस युग के मनोविनोदी कलाप्रिय समाज द्वारा आयोजित गोष्ठी-समवायो द्वारा प्राप्त होता है। सगीत, नृत्य, आखेट, जल विहार और द्यूत आदि उस युग के मनोरजन के साधन थे। शिल्प और कला के प्रति समाज की विशेष अभिरुचि थी। कलाओ मे निपुणता प्राप्त करना तब आत्म गौरव की बात समझी जाती थी। श्रीराम स्वयं हाथी-घोडे की सवारी, मृगया, संगीत, वाद्य, चित्रकारी और विभिन्न शिल्पो मे निष्णात थे। वह कलाप्रिय समाज वस्त्राभूषण तथा प्रसाधन के प्रति भी परिस्कृत अभिरुचि रखता था।

जीविकोपार्जन के साधनों के रूप मे यद्यपि वाणिज्य, व्यवसाय तथा विभिन्न शिल्पो का विकास हो चुका था; फिर भी कृषि का स्थान सर्वोपरि था। रामराज्य की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि तब दुर्भिक्ष कभी पड़ा ही नही। इसलिए समाज आत्म-निर्भर, सुखी और सम्पन्न था। कृषि के साथ ही पशुपालन का भी महत्त्व था। पशु तत्कालीन कृषिप्रधान जन-जीवन के अभिन्न अंग थे। राष्ट्र की आर्थिक आय के साधन विभिन्न प्रकार के खनिज, उद्योग-व्यवसाय और राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार था। राम-सीता का विवाह इस तथ्य का प्रतीक है कि कृषि आखेट से श्रेष्ठ है। कृषि का

प्रतीक भूमिजा सीता है और आखेट का प्रतीक शिव का विशाल धनुष, जिसे राम ने तोड़ डाला था और जिसके द्वारा रामराज्य में हिंसा के बल पर विजय प्राप्त करने की घोषणा की गयी थी।

महाभारत

महाकाव्यकालीन संस्कृति का अधिक व्यापक एव विकसित रूप 'महाभारत' में देखने को मिलता है। 'रामायण' की अपेक्षा 'महाभारत' की स्थिति कुछ भिन्न है। 'रामायण' के रचयिता का लक्ष्य राम के आदर्शमय चरित्र का निरूपण करना था और उसी के अन्तर्गत समस्त राष्ट्रीय चेतना को प्रतिबिम्बित करना था। किन्तु 'महाभारत' के रचयिता के समक्ष विभिन्न चरित्र थे और प्रत्येक चरित्र का अपना अलग-अलग महत्त्व था। इस रूप मे 'महाभारत' तत्कालीन भारत का राष्ट्रीय विश्वकोश है, जैसा कि उसके रचयिता ने भी घोषित किया है—"जो 'महाभारत' मे नही है, वह भारत भर में कहीं भी नहीं है।"

'महाभारत' मे भरतवश और उसके महायुद्धो का इतिहास है। उसमे कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने भारतीय संस्कृति की कथा को उपनिबद्ध किया है। इस संस्कृति का क्षेत्र उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण मे कन्याकुमारी तक विस्तृत था। उसके चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिर थे।

भरतवशीय साम्राज्य की स्थापना से पूर्व यद्यपि अगस्त्य, परशुराम, वशिष्ठ और विश्वामित्र आदि ऋषियों के द्वारा आर्यों का प्रभाव सुदूर दक्षिण, मध्य प्रदेश और पूर्वोत्तर मे फैल चुका था; फिर भी उसका प्रमुख प्रभाव केन्द्र पश्चिम मे सप्तसिन्धव क्षेत्र था। महाभारत-काल मे आर्यों का प्रसारण गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी आदि महानदियो से परिवृत भू-खण्ड मे हो चुका था। महाभारत का महायुद्ध सतलज तथा यमुना नदियो के बीच के भू-भाग मे हुआ। इस क्षेत्र में आर्यों का प्रभुत्व था और इसी को 'कुरुक्षेत्र' नाम से कहा गया है।

कुरुक्षेत्र के इस महायुद्ध ने समस्त भारत की स्थिति को जर्जर कर दिया था। व्यापक रूप मे हुए रक्तपात और नरसहार ने देश के चारों ओर दुःख, शोक और निरुत्साह का वातावरण व्याप्त कर दिया था। जो चिन्तक, विचारक एवं शासक जीवित रह गये थे, उन्होने इस युद्ध को भारत की भवितव्यता मानकर दुःख मे द्रवीभूत भारतीय जनता को उद्बोधित करने और

धैर्य धारण कराने में ही देश का हित समझा। इस नव-जागरण के अग्रदूत ऋषि-मुनि थे, जिनमें शौनक, आश्वलायन, कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास और पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु नामक उनके चार शिष्यों का नाम प्रमुख है।

कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने उत्तराखण्ड में बदरिकाश्रम पर बैठकर 'महाभारत' की रचनाकर राष्ट्रीय इतिहास को सुरक्षित किया। उनके द्वारा उपनिबद्ध प्रत्येक घटना स्वानुभूत तथा स्वयंदृष्ट थी। उस महायुद्ध में उन्होंने स्वयं भाग लिया था। कुरुक्षेत्र मे हुए महायुद्ध को उन्होंने धर्मयुद्ध का रूप दिया और उसको सम्पुष्ट किया 'गीता' से। 'महाभारत' तथा 'गीता' के द्वारा उन्होंने पाँचरात्र भागवतधर्म का प्रवर्तन कर जनता को भक्ति की भावधारा में अवगाहित किया।

महाभारतकालीन संस्कृति इसी धर्म पर आधारित है। प्रत्येक सामाजिक के लिए धर्माचरण आवश्यक बताया गया है। श्रुति, स्मृति जिन आचारों का विधान करती हैं, उनका परिपालन ही धर्माचरण है। युगधर्म, देशधर्म, जाति-धर्म और कुलधर्म उसी के अवान्तर रूप हैं। इसी धर्म पर आधारित न्याय तथा अनुशासन से आबद्ध सदाचार तथा सत्याचरण का स्वरूप ही 'महाभारत' का राजधर्म है। वही तत्कालीन समाज का स्रोत है और उसी के द्वारा तत्कालीन सामाजिक जीवन का अभिव्यंजन हुआ है।

महाभारतकालीन समाज मे संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। उसी को तत्कालीन समाज की उन्नति का एकमात्र कारण माना गया है। माता-पिता की सेवा तथा आचार्यों एव गुरुजनों का आदर पारिवारिक कर्त्तव्य-संहिता का प्रमुख अंग था। परिवार में पारस्परिक प्रीति और आदर का व्यवहार प्रत्येक परिवार-जन के लिए आवश्यक था। पारिवारिक जीवन की सुव्यवस्था के लिए युवाकाल मे विवाह करने का नियम था।

महाभारतकालीन समाज चातुर्वर्ण्य और चतुराश्रमों में व्यवस्थित था। चारों वर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों के अनुसार राष्ट्रीय उत्थान में सचेष्ट थे। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था वहाँ जन्मजात थी; फिर भी क्षत्रिय वर्ण अपने उन्नत कर्मों द्वारा ब्राह्मणत्व की श्रेणी प्राप्त कर सकता था और इसी प्रकार ब्राह्मण या अन्य वर्ण अपने उच्च कर्त्तव्यों से च्युत भी हो सकता था। इस दृष्टि से महाभारतकालीन कर्मप्रधान संस्कृति का विशेष महत्त्व प्रतीत होता है, क्योंकि उसके द्वारा जन्ममूलक व्यवस्था को परिवर्तित किया जा सकता था।

इसी प्रकार जीवन की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास–चार आश्रम निर्धारित थे। ये आश्रम वस्तुतः आत्मोन्नति के साधन थे। आश्रमों में गृहस्थाश्रम का सर्वाधिक महत्त्व माना गया था। उसी पर पारिवारिक तथा सामाजिक अभ्युदय निर्भर था।

महाभारतकालीन संस्कृति का उदात्त स्वरूप उसकी शिक्षा-दीक्षा मे देखने को मिलता है। उस समय प्रायः गुरु आश्रम या गुरुकुल मे ही शिक्षा प्राप्त करने का नियम था। गृह-शिक्षक द्वारा भी शिक्षा प्राप्त करने का प्रचलन था। ब्राह्मणबटुक के लिए पाँच से आठ वर्ष, क्षत्रियबटुक के लिए दस से ग्यारह वर्ष, और वैश्यबटुक के लिए ग्यारह से बारह वर्ष शिक्षारम्भ करने का विधान था। आयु के साथ ही कुल और योग्यता भी गुरुकुल-प्रवेश का आधार मानी जाती थी। शिक्षा-दान मे किसी प्रकार का भेद-भाव नही था। सभी वर्णों के बालक एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। त्रिवर्ण के अतिरिक्त शूद्रवर्ण को भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था, क्योकि महाराज युधिष्ठिर के राजसूय में मान्य शूद्रों (मान्यान् शूद्रान्–महा० ३३।४१ आदि) को भी निमन्त्रित किया गया था।

गुरुकुल के अन्तेवासी को अनेक विद्याओ तथा शास्त्रो की शिक्षा दी जाती थी। उनमे वेद, न्याय-वैशेषिक (आन्वीक्षिकी), कृषि-वाणिज्य-व्यवसाय (वार्ता) और दण्डनीति अध्ययन के प्रमुख विषय थे। उनके अतिरिक्त युक्तिशास्त्र (दर्शन), शब्दशास्त्र (व्याकरण-निरुक्त), गान्धर्वशास्त्र (नृत्य-संगीत-वाद्य), इतिहास, पुराण और कलाएँ भी शिक्षण के विषय थे। बालको की भाँति कन्याओ को भी विधिवत् शिक्षा-दान का नियम था, क्योकि महाभारतकालीन अनेक विदुषी नारियाँ उसका प्रमाण हैं (महाभारत २।२।२५)।

महाभारतकालीन सस्कृति का उल्लासमय स्वरूप तत्कालीन विभिन्न मनोविनोदों, कला-कौशलो और अनेक प्रकार के शिल्पो मे देखने को मिलता है। तत्कालीन समाज मे घुड़दौड़, आखेट, द्यूत, नृत्य-सगीत, काव्य, कला-गोष्ठियों और विभिन्न प्रतियोगिताओं का पर्याप्त प्रचलन था। सामूहिक उत्सवों मे स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। इस मनोविनोदप्रिय समाज मे कलाएं भी चरम उन्नति पर थी। स्थापत्य, चित्र, मूर्ति, नृत्य और संगीत सभी के प्रति समाज का समान रुझान था। चित्रकला, सगीत और नृत्य महिलाओ की शिक्षा के अनिवार्य अंग थे। कलाओ के साथ ही विभिन्न शिल्प पर्याप्त विकास पर थे। गृहशिल्प, वस्त्रोत्पादन, काष्ठशिल्प, दन्तशिल्प,

अस्थिशिल्प, चर्मशिल्प और सिविका-रथ-नौका-निर्माण तत्कालीन शिल्पोन्नति के परिचायक थे। वास्तुशिल्प की दृष्टि से महाभारतकालीन विशाल प्रासाद, सभामण्डप और यज्ञमण्डप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शिल्पियों को यथेष्ट वृत्ति देना और उनका पोषण करना राजधर्म का अंग माना जाता था (सभा० ५।७१)। उस समय राज्यकर देने वाले धनाढ्य शिल्पियो का होना पाया जाता है। शिल्पशास्त्र को सम्भवतः तब राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त था।

महाभारतकालीन संस्कृति का सुन्दर परिचय तत्कालीन समाज द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्राभूषणो और प्रसाधनों से मिलता है। स्त्री-पुरुषों की विभिन्न सूती, ऊनी पोशाकें, उनके द्वारा विभिन्न अंगो मे धारण किये जाने वाले आभूषण उनकी सौन्दर्यप्रियता के द्योतक थे। इसके अतिरिक्त केश-विन्यास और अंगराग के नानाविध उपयोग समाज की अभिरुचि के द्योतक थे।

आजीविका और आर्थिक विकास की दृष्टि से महाभारतकालीन समाज पूर्ण तथा आत्मनिर्भर और सर्वसम्पन्न था। सामान्यतः तत्कालीन समाज कृषिजीवी था। यद्यपि विभिन्न वर्गों तथा जातियो के लोगों के लिए विभिन्न शिल्पो, उद्योगो तथा व्यवसायो का प्राविधान था, तथापि जन-सामान्य की आजीविका के मुख्य आधार कृषि और पशुपालन थे। कृषि-कार्य और कृषि-साधनो का पर्याप्त विकास हो चुका था।

व्यापार-व्यवसाय भी आजीविका के प्रमुख साधनो मे से थे और देश की आर्थिक आय के मुख्य स्रोत थे। उस समय मणि, मुक्ता, मूंगा, सोना आदि रत्नो तथा धातुओ की प्रचुरता थी। मानसरोवर के रत्नों का अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व था। इन धातुओ द्वारा विदेशी व्यापार के विनिमय में उपयोग होता था।

इस प्रकार महाभारतकालीन समाज सम्पन्न, समुन्नत और प्रगतिशील था। आर्थिक, बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से उसने अपना पर्याप्त विकास कर लिया था। उसकी ये सर्वांगीण समुन्नतियाँ ही उसके सस्कृतिक अभ्युत्थान की द्योतक हैं।

महाकाव्ययुगीन कला

वैदिक भारत के कलानुराग का दिग्दर्शन 'रामायण' और 'महाभारत' में हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ वस्तुतः वैदिक परम्परा और तत्कालीन जन-जीवन के

दर्पण हैं। इससे पूर्व काव्य को कला का ही एक अंग माना जाता था। इन दोनों ग्रन्थों के द्वारा काव्य की स्वतन्त्र विधा की स्थापना हुई। इन दोनों महाग्रन्थो के मूल कथासूत्रों का निर्माण यद्यपि वैदिक और लौकिक युग के सन्धिकाल में हो चुका था; किन्तु 600-500 ई० पूर्व तक उनमें निरन्तर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होते रहे। अपने-आप में एक प्रकार से वे विश्वकोश हैं, जिनमें इतिहास, पुराण, काव्य और महाकाव्य आदि अनेक विषयों का एक साथ समावेश हुआ है।

समस्त भारतीय साहित्य पर, और विशेष रूप से संस्कृत-साहित्य पर उनके प्रभाव की छाप अंकित है। संस्कृत के परवर्ती कवि-मनीषियो ने उनके कथासूत्रो से प्रेरणा तथा उपादान ग्रहणकर नयी-नयी कृतियो द्वारा साहित्य के भण्डार को भरा। इस रूप मे उनको सस्कृत-साहित्य का उपजीव्य कहा गया है और इसीलिए पाश्चात्य विद्वानो ने उनको 'एपिक विदिन एपिक' कहा है। अपनी महानताओं के कारण आज वे विश्व की सर्वोच्च कृतियो मे परिगणित होते हैं। यहाँ उनका विश्लेषण साहित्यिक दृष्टि से नही, अपितु उनके द्वारा प्रासंगिक रूप में तत्कालीन भारत की कला और संस्कृति की जो विरासत सुरक्षित रही, इस दृष्टि से अभिप्रेत है।

इस दृष्टि से यदि इन दोनो ग्रन्थो का अध्ययन-अनुशीलन किया जाय, तो ज्ञात होता है कि तत्कालीन (600-500 ई० पूर्व) भारत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक दृष्टि से ही नही, कलानुरागिता की दृष्टि से भी उन्नति की पराकाष्ठा पर था। कला के प्रमुख तीनो अगो चित्र, वास्तु और स्थापत्य का अनेक उपांगो में पूर्ण विकास हो चुका था। रामायणकालीन समाज कला के प्रति अत्यन्त अनुरक्त प्रतीत होता है। 'रामायण' के बालकाण्ड के छठे सर्ग में महामुनि वाल्मीकि ने अयोध्यावासियो के वर्णन-सन्दर्भ में उनकी कलानुरागिता तथा सौन्दर्यप्रियता का भी अच्छा दिग्दर्शन किया है। वहाँ के निवासियो के सौन्दर्य-प्रसाधनो, केशसज्जा, अंगराग चित्र-विचित्र वस्तुओं का व्यवहार, स्त्रियों के कपोलों पर पत्रावली-रचना, राजप्रासादों, गृहो, रथों की सज्जा, पशुओं को अलंकृत करने की प्रवृत्ति, नगरों तथा उद्यानों की सुन्दरता के प्रति अभिरुचि और उत्सवो, त्योहारों का आयोजन आदि का हृदयग्राही वर्णन करते हुए महामुनि ने रामायणकालीन समाज की सुरुचि का सुन्दर चित्रण किया है।

परम्परानुगत मान्यताओं के अनुसार 'रामायण' में कलाओं को 'शिल्प' के अन्तर्गत परिगणित किया गया है और इस सन्दर्भ में गीत, नृत्य, वाद्य तथा चित्रकर्म आदि ललित कलाओं का उल्लेख दिया गया है। वहाँ 'शिल्पकार' की उदात्त प्रशस्ति गायी गयी है। तत्कालीन समाज के कलानुराग के प्रभाव से राम भी प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। इसका सहज अनुमान उस प्रसंग को देखकर होता है, जिसमें महामुनि ने राम को संगीत, वाद्य तथा चित्रकारी आदि मनोरंजक शिल्पों के ज्ञाता (वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञाता) के रूप में वर्णित किया है।

भारत में मूर्ति-निर्माण की परम्परा के समुन्नत मूर्त प्रमाण सिन्धु सभ्यता के अवशेषों द्वारा प्रकाश में आ चुके हैं। परवर्ती युगों पर उसका प्रभाव व्यापक रूप से परिलक्षित होता रहा। रामायणकालीन भारत में शिल्प-विधान का सुन्दर उदाहरण सीता की वह सुवर्ण प्रतिभा थी, जिसको राम ने अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर निपुण शिल्पियों द्वारा निर्मित कराया था (रामायण ७।९९।७) ।सीता की इस सजीव प्रतिमा के निर्माता का नाम मय था। रामायणकालीन भारत में स्थापत्य कला भी अपनी परमोच्च स्थिति पर थी। दानवों के स्थपति और भारतीय शिल्प कला के जनक विश्वकर्मा उसी युग में हुए थे। इसलिए अन्य कलाओं के अतिरिक्त भवन-निर्माण का कार्य भी उस युग मे चरमोत्कर्ष पर था। उस युग के भवनों की विधा के परिचायक प्रासाद, विमान, हर्म्य और सौध आदि के विभिन्न भेदो का पता भी 'रामायण' से चलता है। उस युग में सप्तभौम, अष्टभौम और सहस्रस्तम्भ आदि विशिष्ट एव विशाल राजभवनों के विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार रथो की साज-सज्जा के लिए उपयोग मे लायी जाने वाली सुवर्ण-प्रतिमाओ का निर्माण तत्कालीन शिल्पियो के अद्भुत कौशल का द्योतन करती है (१।१५।३२)। रत्नो की आभा से दीप्त, हेममणियो से विभूषित, वैदूर्यमणि, चाँदी तथा मूँगे से पक्षियो से अलंकृत, भाँति-भाँति के रत्नसर्पों से सुसज्जित और मणिमय, सीधे-चिकने हीरो, मोती, मूँगो और चाँदी-सोने आदि के अलंकरणों से परिमण्डित लंकापति रावण का पुष्पक विमान वस्तुतः उस युग के शिल्पकारो के अद्भुत कौशल एवं गहनतम साधना का अपूर्व उदाहरण था (५।७।११-२२; ५।९।२३; ६।१२।१४; ६।१२१।२५ आदि)। रावण का यह पुष्पक विमान न केवल प्राचीन भारत की वैज्ञानिक प्रगति का सूचक था, अपितु जैसा कि उसका वर्णन हुआ है, वह भारतीय कला का भी अनन्य नमूना था।

देववाणी संस्कृत को वैदिक परम्पराओं से लोक-जीवन में अवतरित करने का सर्व प्रथम श्रेय महामुनि वाल्मीकि की छन्दोमयी वाणी को ही दिया गया है। जब वे 'रामायण' की रचना कर रहे थे, तभी उसको लोकगोचर करने का कार्य उन्होंने लव-कुश को सौंपा। ये दोनों भाई स्वरज्ञान से सम्पन्न (स्वर-सम्पन्नौ) थे। उन्हें शास्त्रीय संगीत की विधिवत् शिक्षा महामुनि से ही प्राप्त हुई थी। उन्होंने वीणावादन के साथ महिमामयी राम-कथा को लोक-प्रचारित किया। 'रामायण' में संगीत के अतिरिक्त नृत्य-नृत्त (२०।२०।१०), लास्य (२।६६।४) और रंग या रंगमंच (६।२४।४२-४३) आदि विभिन्न ललित कलाओं के प्रचलन का भी प्रमाण मिलता है।

'रामायण' मे भित्तियो, कक्षों, रथो और राजभवनो पर चित्रांकित करने के सम्बन्ध मे प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। रावण के पुष्पक विमान का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'रामायण' के उत्तरकाण्ड मे बताया गया है कि उस विमान मे दृष्टि और मन को मोहित कर देनेवाले और आश्चर्य मे डाल देनेवाले नाना भाँति के दृश्य अंकित थे। उसके कक्षो (अगल-बगल) मे उसकी शोभा का उत्कर्ष बढ़ानेवाले अनेक बेलबूटेदार चित्र अंकित थे (५।७।६)। इन प्रमाणो से निश्चित ही भारतीय चित्रकला के समृद्ध इतिहास का पता चलता है।

'रामायण' के सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्ड इस दृष्टि से विशेषतः अध्ययनीय हैं। लंकाधिपति रावण अद्भुत वीर और विद्वान् होने के साथ-साथ कला का भी अत्यन्त अनुरागी था। उसके कलाप्रेम के अनेक उदाहरण उक्त दोनों काण्डो के विभिन्न सन्दर्भों में देखने को मिलते हैं। लकापुरी मे सीता की खोज करते समय हनुमान् को वहाँ एक चित्रशाला और चित्रो से सुसज्जित अनेक क्रीडागृह देखने को मिले थे। 'रामायण' में उल्लिखित 'चित्रशालागृहाणी' से प्रतीत होता है कि उस समय चित्रो का इतना शौक था कि स्वतन्त्र चित्रशालाओं की स्थापना होने लगी थी। रावण की चित्रशाला तत्कालीन भारत की प्रमुख चित्रशालाओं मे से एक थी। ये चित्रशालाएँ व्यक्तिगत, सामाजिक और राजकीय रूपो में अनेक प्रकार से विद्यमान थी। चित्र-सज्जित रानी कैकेई के राजप्रसाद के वर्णन (२।१०।१३) से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चित्रकला के प्रति उसकी बडी अभिरुचि थी। बाली और रावण की मृत्यु के उपरान्त उनके शव ले जाने के लिए जो पालकियाँ बनायी गयी थी उनमे की गयी चित्र-सज्जा का अद्भुत वर्णन 'रामायण'

(४।२५।२२-२५; ७।१५।३८; ६।१११।१०६) में देखने को मिलता है। चित्रकला के प्रति समाज का इतना अधिक अनुराग था कि हाथियों के मस्तिष्कों और रमणियों के कपोलों पर आकर्षक चित्र-रचना की जाती थी (३।१५।१-४।३०।५५)। अन्य भी अनेक उदाहरण हैं। सीता को भ्रम में डालने के लिए रावण ने अपने विघज्जित्र नामक चित्रकार को, जो उसका युद्धसचिव भी था, राम के शिर और राम के धनुष की छद्म आकृति बनाने का आदेश दिया था। चित्रलिखित कृत्रिम शिर और धनुष-बाण सीता के सामने यह प्रमाणित तथा विश्वास दिलाने के लिए रखा गया था कि युद्ध में राम की मृत्यु हो गयी। यद्यपि सीता इस छद्म से बच गयीं; फिर भी राम के निधन की इस आकस्मिक घटना पर उन्होने बडा विलाप किया। यह विघज्जित्र के कौशल का ही परिणाम था।

'रामायण' की तुलना मे 'महाभारत' मे शिल्प तथा कला विषय पर बहुत कम चर्चा हुई है। उसका कारण राष्ट्रव्यापी अशान्ति और अस्थिरता थी। महाभारतकालीन भारत की स्थिति ऐसी नही थी, जिसमें कला, मनोविनोद और उल्लास-उत्सव जैसी वृत्तियों के संवर्द्धन को प्रोत्साहन मिलता। चित्रकला के सम्बन्ध मे तो प्राय: सारा 'महाभारत' मौन है। उस युग मे शिल्प तथा कला के क्षेत्र मे जो भी कार्य हुआ उसका श्रेय ग्रीको को दिया जा सकता है। ग्रीक जब पहले-पहल भारत में आये तो उन्होने भवन-निर्माण की ओर अपनी सक्रियता दर्शित की। तब उच्च भवनों के निर्माण के लिए लकडी तथा मिट्टी से काम लिया जाता था। दुर्योधन ने पाण्डवो के लिए जिस लाक्षागृह को बनाने का आदेश दिया था वह मिट्टी तथा लकड़ी का ही था। इस उदाहरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत काल में बड़े लोगों के रहने के लिए लकड़ी-मिट्टी के घर होते थे।

स्थापत्य की दृष्टि से पाण्डवो का सभा-भवन उल्लेखनीय है। उसका निर्माण मयासुर ने किया था। इस सभा-भवन के अद्भुत वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि सौति की वह कल्पना मात्र थी। किन्तु उसमें वास्तविकता थी। सम्प्रति इसके प्रमाण भी उपलब्ध हो गये हैं। मय, असुर जाति का महान् शिल्पी था। इसीलिए महाभारतकाल के स्थापत्य के सम्बन्ध में सहज ही यह धारणा बनती है कि इस प्रकार की अनन्य इमारतों को बनाने में असुर अथवा फारसी या पश्चिमवासी यवन ही सक्षम थे। कुछ दिन पूर्व पाटलिपुत्र (पटना) की खुदाई से प्राचीन भवनों को खोज निकालने का जो प्रयत्न किया

गया था उसके परिणामस्वरूप वहाँ से चन्द्रगुप्त की अनेक स्तम्भों वाली सभा के अवशेषों का पता चला है। विद्वानों का अनुमान है कि दरायस नामक एक फारसीवासी बादशाह ने पर्सिपुलिस में जो स्तम्भगृह बनवाया था उसी नमूने और लम्बाई-चौड़ाई का सभागृह चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र मे अपने लिए बनवाया था। फारस के बादशाह द्वारा निर्मित उक्त सभागृह आज भी अपनी अच्छी स्थिति में वर्तमान है। आधुनिक विद्वानों का यह भी अभिमत है कि दिल्ली के दीवाने-आम के निर्माण में भी फारस के प्राचीन सभागृह का प्रभाव है।

महाभारत (सभा० अध्या० ३।४७) में महाराज युधिष्ठिर के अद्‌भुत सभा-भवन का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि—उसमे अनेक स्तम्भ थे। उसमे स्थान-स्थान पर सुवर्णवृक्ष निर्मित किये गये थे। उनके चारो ओर एक बडा परकोटा था। सभा-भवन के द्वार पर हीरा, मोती आदि रत्नो से जटित तोरण लगाये गये थे। सभागृह की दीवारो पर भाँति-भाँति के चित्र अंकित थे और उनमें अनेक पुतले चित्रित किये गये थे। सभा के भीतर एक ऐसा चमत्कार दिखाया गया था कि उसके बीच मे एक सरोवर बनाकर उसमे सुवर्ण के कमल लगाये गये थे। कमललता के पत्ते इन्द्रनीलमणि के बनाये गये थे। विकसित कमलो की शोभा पद्‌मरागमणि की भाँति थी। सरोवर मे नाना भाँति के रत्नो की सीढ़ियाँ थी। उस जलाशय मे जमीन का भास होता था। बगल मे मणिमय शिलापद होने के कारण पुष्पकरिणी के किनारे खडे होकर प्रत्येक देखने वाले को ऐसा प्रतीत होता था कि आगे भी ऐसी ही मणिमय भूमि है; किन्तु आगे बढते ही दर्शक पानी मे गिर जाता था।

'दीवार मे जहाँ दरवाजा बना दिखायी देता था, वहाँ पर वस्तुतः दरवाजा नही था और जहाँ नही दिखायी देता था, वही पर दरवाजा बना था। ऐसे ही एक स्थान पर दुर्योधन को भ्रम हो गया था और वह धोखे में आने से न बच सका।'

'एक जगह स्फटिक भूमि बनाकर उसमे ऐसा कलात्मक चमत्कार दिखाया गया था कि वहाँ पानी होने का आभास होता था। एक अन्य स्थान पर स्फटिक के हौज मे पानी भरा हुआ था; किन्तु उसमें स्फटिक का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण ऐसा प्रतीत होता था कि वहाँ पानी नही है। एक अन्य स्थान में दीवार मे ऐसा चित्र खींचा गया था, जिससे ऐसा आभास होता था कि

दरवाजा खुला हुआ है। किन्तु उसमें प्रवेश करते ही शिर दीवार से टकरा जाता था।'

इस सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि महाराज युधिष्ठिर के उस सभागृह की निर्माण-सामग्री असुरों के सभागृह से लायी गयी थी। हिमालय के आगे विन्दु सरोवर के निकट वृषपर्वा नामक किसी असुर की सभा गिर गयी थी। उसमें अनेक प्रकार के स्तम्भ, नानाविध रत्न, रगने के लिए भाँति-भाँति के रंग और अनेक प्रकार के वैज्ञानिक विधि से तैयार किये गये भित्तियोजक चूर्ण (चूना) थे। इस वृषपर्व-सभा के निर्माण में बची हुई सामग्री को मयासुर अपने साथ ले आया था। उसका उपयोग युधिष्ठिर के सभागृह मे किया गया। इस मन्तव्य से यह सत्यता सम्पुष्ट होती है कि युधिष्ठिर के सभागृह के निर्माण में फारस के स्थपतियों एवं शिल्पियों का योगदान था। महाभारतकालीन कला के जो बिखरे हुए प्रमाण उपलब्ध होते हैं, उसके निर्माता फारसवासी असुर ही थे।

'विष्णुधर्मोत्तर' पुराण के 'चित्रसूत्र' और किसी अज्ञातनाम ग्रन्थकार के 'शिल्परत्न' की भाँति 'महाभारत' (शान्ति० मोक्ष०, अध्याय १८४।३३-३४) मे भी रूप-भेदो के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है। वहाँ रूप के १६ प्रकार बताये गये हैं, जिनके नाम हैं :—ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण, नानाकोण (जैसे त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण आदि), गोलाकृति, अण्डाकृति, श्वेत, कृष्ण, नीलारुण (बैंगनी) तथा नाना वर्णों से मिश्रित रूप रक्त, पीतादि एक-एक स्वतन्त्र वर्ण-रूप, कठिन, चिक्कन, श्लथ (सूक्ष्म, कृश, स्निग्ध, स्वल्प), पिच्छल (फिसलाहट पैदा करने वाले), मृदु (यथा शिरीष पुष्प), दारुण (जैसे लोहे का स्वरूप), छोटे, बड़े, मोटे, पतले, कटे, छंटे, गोल, काले, सफेद, एकरगे, पचरगे आदि हैं। ये रूप-भेद वस्तुतः कला के ही साधन थे, किन्तु उनके उपयोग-प्रयोग के सम्बन्ध में वहाँ कुछ नही कहा गया है।

'महाभारत' (३।२६३।१३) में एक स्थान पर सत्यवान् के सम्बन्ध मे चर्चा की गयी है कि बचपन मे उसको घोडो का बडा शौक था। अपने इसी शौक के कारण, अपने माता-पिता के साथ बनवास के दिनों में वह मिट्टी के घोड़े बनाया करता था और भीत पर भी घोड़ों के चित्र अंकित करता था। इसीलिए उसको चित्राश्व नाम दिया गया। 'महाभारत' (सभापर्व, अध्याय ३ तथा ४७) में युधिष्ठिर की सभा के सन्दर्भ मे भी कुछ ऐसे उल्लेख हुए हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि उसकी सज्जा में चित्रकला का भी कुछ योग थ ।

महाकाव्ययुगीन संगीत

महाकाव्यों के युग में संगीतविद्या का पर्याप्त विकास हो चुका था। 'रामायण' और 'महाभारत' से ज्ञात होता है कि संगीतविद्या समस्त लोकरुचि का विषय बन गयी थी। तत्कालीन समाज मे संगीत एक लोकप्रिय कला के रूप में सम्मानित हो चुका था। इन दोनों ग्रन्थो की राम-रावण तथा कौरव-पाण्डवो की पुरातन कथा को मौखिक रूप से सुरक्षित रखने और उसको समाज मे प्रचारित करने का एकमात्र कार्य तत्कालीन कुशीलवो (नट, नर्तक, गायको) ने किया था।

महान् ज्ञानी लकेश्वर रावण स्वयमेव सगीत का प्रकाण्ड विद्वान् था। सस्वर वेदपाठ की पद्धति का प्रचलन सर्व प्रथम उसी ने किया था। उसकी पत्नी मन्दोदरी संगीतविद्या की विदुषी थी। रावण की राजसभा मे अनेक गायनाचार्य और नाट्यनिपुण नर्तकियाँ थी। उसकी सगीतशाला मेरी, मृदग, शंख, मुरज (पखावज) और पणव आदि अनेक वाद्ययंत्रो से सुसज्जित थी। रावण के नाम से उपलब्ध 'रावणीयम्' सगीत विषयक ग्रन्थ सम्भवतः मूल ग्रन्थ का सस्करण या रूपान्तर है।

महामुनि वाल्मीकि सगीत विद्या में पारगत थे। 'रामायण' की कथा को उन्होने सर्व प्रथम लव-कुश द्वारा (तंत्री) वीणा वादन के साथ गायन कराया था। उन्ही के द्वारा रामायणी कथा सर्व प्रथम लोकगोचर हुई (रामायण, बाल १४।८)। 'रामायण' मे अन्य ललितकलाओ के साथ संगीत विषयक बहुविध चर्चाएँ हुई हैं। सुन्दरकाण्ड मे विपची वीणा और किष्किन्धाकाण्ड मे किन्नरी वीणा का उल्लेख हुआ है।

महाभारतयुगीन समाज की सगीतप्रियता के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। श्रीकृष्ण चतुःषष्टि कलाओ के अधिष्ठाता थे। उनके द्वारा ब्रजभूमि मे रची गयी रास-लीलाओ से भारतीय सगीत-नृत्य की समृद्ध परम्परा का उदय हुआ। 'श्रीमद्भागवत' की 'रास पचाध्यायी' और 'गोपीगीत' श्रीकृष्ण तथा गोपियों के नृत्य-सगीत कलाओ की निपुणता के परिचायक और भारतीय सगीत तथा नाट्यकला के इतिहास के आधारस्तम्भ हैं। गोपियाँ श्रीकृष्ण की कला-सृष्टि हैं। वे दिव्यांगनाएँ भारतीय कला की अधिष्ठातृ बनकर सम्पूजित होती आयी हैं। इस राष्ट्र की अन्तश्चेतना मे भक्ति की भावधारा बनकर वे परम प्रणय और आनन्दातिरेक की अजस्र प्रेरणा के रूप मे समाहित हैं।

'महाभारत' के प्रमुख पात्र अर्जुन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक वर्ष के अज्ञातवास के समय विराट् राजा के दरबार में रहकर छद्म नाम से उसने राजपुत्री उत्तरा को संगीत की शिक्षा दी थी। वह वीणावादन में सिद्धहस्त था। वेणुवादन में श्रीकृष्ण और वीणावादन मे अर्जुन को एकमात्र अधिकारी माना गया है। महाभारतकालीन सगीत में शंख भी प्रमुख वादन के रूप में प्रचलित था।

'महाभारत' (शां० २१२।३३) मे चार उपवेदों मे गन्धर्व वेद का भी उल्लेख हुआ है। उसमें लिखा गया है कि महामुनि नारद गन्धर्वविद्या के प्रथम पारंगत विद्वान् हुए। उन्हें इस विद्या का ज्ञान ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था।

• • •

नौ/बौद्धधर्म और जैनधर्म का उदय

बौद्धधर्म

भारतीय सभ्यता, संस्कृति और इतिहास के नव-निर्माण तथा सामाजिक अभ्युत्थान की दिशा में जिन सुधारवादी धार्मिक पन्थो का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, बौद्धधर्म का उनमें प्रमुख स्थान है। बौद्धधर्म के जन्मदाता बुद्ध मानव इतिहास के पुनर्जागरण के अग्रदूत थे। उनका जन्म कपिलवस्तु और देवदह नगर के बीच लुम्बिनी नामक एक सुन्दर वन मे शाल वृक्ष के नीचे 505 वि० पूर्व (563 ई० पूर्व) में हुआ था। शाक्य प्रजातन्त्र के क्षत्रिय राजा शुद्धोदन उनके पिता थे और उनकी माता का नाम मायादेवी था। बुद्ध के जन्मस्थान की पुण्यस्मृति मे सम्राट् अशोक ने लुम्बिनी मे पाषाण-स्तम्भ का निर्माण कराया था। भविष्य-फल-वक्ता दवज्ञो ने जन्म के समय ही यह घोषणा कर दी थी कि 'ऐसे शुभ लक्षणो वाला यह बालक या तो चक्रवर्ती राजा होगा अथवा मानवता के महान् उपकारी सन्त के रूप मे प्रसिद्ध होगा।'

बालक से वे युवक हुए और महाराज ने कोलिय प्रजातन्त्र की कन्या यशोधरा (कापिलायनी) से उनका विवाह कर दिया। यथासमय उनको पुत्र हुआ, जिसका नाम रखा गया राहुल। किन्तु विषाद और वैराग्य की घनीभूत बेचैनी ने एक रात को उन्हे गृहत्याग के लिए विवश कर दिया। परम शान्ति की खोज के लिए सर्व प्रथम उन्होने वैशाली के आलार कालाम और राजगृह के उद्रक रामपुत्र नामक दो ब्राह्मण तपस्वियो का आश्रय लिया। किन्तु वहाँ भी उनकी मनोकामना पूरी नही हुई। जीवन को विसर्जितकर देने की इच्छा से वे बोधगया के एक पीपल वृक्ष (बोधि वृक्ष) के नीचे प्रतिज्ञाबद्ध होकर बैठ गये। निरन्तर ध्यानमग्न रहकर सातवीं रात के प्रथम याम मे उन्हें 'सम्बोधि' प्राप्त हुई। उन्हें ससार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने जाना कि अज्ञान, वेदना, तृष्णा, उपादान, जन्म, जरा, मरण, शोक और दुःख का रहस्य क्या है। अब वे पूर्ण बुद्ध हो गये थे। इस समय उनकी अवस्था 36 वर्ष (527 ई० पूर्व) की थी।

बुद्धत्व प्राप्त होने पर बोधगया से वे सारनाथ (ऋषिपत्तन) आये और वहाँ उन्होंने पंचवर्गीय भिक्षुओं के समक्ष अपना प्रथम उपदेश दिया। भगवान् बुद्ध ने कहा—हे भिक्षुओं, इन दो अन्तों (अतियो) का भिक्षुओं (प्रव्रजितो) को सेवन नहीं करना चाहिए, एक तो कामवासनाओं में काम-सुख-लिप्त होना और दूसरा अनर्थों से युक्त पीड़ा से आत्मा को सन्तप्त करना। भिक्षुओ, इन दोनों का परित्यागकर मैंने मध्यम मार्ग को खोज निकाला है। इस मध्यम मार्ग का नाम है निर्वाण।'

'निर्वाण' के कल्याणकारी परिणामों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—'भिक्षुओं, जितने भी दिव्य और मानुष बन्धन हैं, मैं उन सब से परे हूँ। तुम भी दिव्य और मानुस बन्धनो से मुक्त हो सकते हो। हे भिक्षुओं, बहुजन हितार्थ, बहुजन सुखार्थ, लोक पर दया करने हेतु, देवताओं और मनुष्यो के प्रयोजनों के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण, और अन्त में कल्याण—ऐसे धर्म का उपदेश करो।'

उसके बाद बुद्ध उरुवेला, उत्तर कुरु (मेरु पर्वत की उत्तर दिशा) और अनवतप्त सरोवर (मानसरोवर) तक उपदेश करने के लिए गये। निरन्तर 44 वर्षों धर्म का प्रचार करते हुए अन्त में 427-26 वि० पूर्व (484-83 ई० पूर्व) में यह कहते हुए उन्होंने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया—'आश्चर्य भन्ते, अद्भुत भन्ते, मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु सघ की भी।'

बुद्ध के शिष्यों की सख्या गणनातीत है; किन्तु उनमे तीन का नाम मुख्य है—सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और आनन्द। उनके अनुयायियो मे सामान्य जनता, व्यापारी, धनिक और राजा आदि सभी वर्गों के लोग सम्मलित थे। मगध के प्रसिद्ध शासक बिम्बिसार तथा अजातशत्रु, कौसल के शासक प्रसेनजित् तथा धनपति अनाथपिण्डिक और प्रसिद्ध वैद्य जीवक बुद्ध के महान् अनुयायियो में से थे।

बुद्ध ने यद्यपि भिक्षुमय जीवन बिताया; किन्तु उनके उपदेशो से स्पष्ट होता है कि उन्होंने गृहस्थ जीवन की मान्यता एवं आवश्यकता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक गृहस्थ को संघ की सहायता करते रहने का निर्देश किया है। उनके अनुयायियों में स्त्री-पुरुष, दोनों का समान योगदान था। पहले तो उन्होने स्त्रियों को संघ में सम्मिलित करने की अनुज्ञा नहीं दी; किन्तु माता महाप्रजापती

के कहने पर वे सहमत हो गये। इस प्रकार की महिला अनुयायियो में विशाखा, सुप्पिया और अम्बपाली का नाम उल्लेखनीय है।

बुद्ध ने जो बोधित्व प्राप्त किया था, उसमे उनका अडिग आत्मबल, अथक शारीरिक यातना और निरन्तर संघर्ष विद्यमान था। यही कारण था कि अपने अनुभवों को वे समाज के समक्ष इतने अधिक प्रभावशाली ढंग पर प्रस्तुत करने मे सफल हो सके। करुणा, दया और विनम्रता के प्रतीक बनकर उन्होने एक स्थान पर स्वयं ही कहा है—'जीवो के प्रति मेरे मन मे करुणा है।'

बुद्ध ने जिस उदात्त मानव-कल्याणकारी विचारधारा को जन्म दिया, उससे भारतीय सस्कृति के इतिहास मे एक सर्वथा नये युग का सूत्रपात हुआ। यद्यपि बौद्धधर्म परम्परागत ब्राह्मणधर्म के विरोध मे उदित हुआ, किन्तु था वह हिन्दूधर्म का ही एक अग। इस रूप मे उसने वैदिक सस्कृति के महनीय आदर्शों को ही उजागर किया। आर्य और आर्येतर जातियो के समन्वित प्रयास से जिस उदात्त सस्कृति का निर्माण हुआ था उसकी दृष्टि मे किसी वर्ग या सम्प्रदाय का कोई भेद-भाव नही था। इन्ही वैदिक आदर्शों पर समन्वयप्रधान बौद्ध-संस्कृति की नीव पडी। बौद्ध-सस्कृति ने जो नये उपादान दिये वे वेदमूलक थे। धर्मसूत्रों तथा स्मृतियो मे सत्य, अहिंसा, अस्तेय, सदाचार और सर्वभूतानुकम्पा आदि के जो चारित्रिक नीतिधर्म है, बौद्ध-संस्कृति ने उनको उसी रूप मे वरण किया। लोकाचार-सम्बन्धी जिन मान्यताओ को स्मृतियो ने स्थापित किया, 'धम्मपद' मे उनको अक्षरशः वैसे ही देखा जा सकता है।

उपनिषदो ने जीवन और जगत् के प्रति नैराश्य तथा वैराग्य की तर्कसगत युक्तियाँ प्रस्तुत की; किन्तु उन्हे सहज और व्यवहारोपयोगी बनाने का कार्य किया बुद्ध ने। बुद्ध ने स्वय ही कहा है कि उन्होने एक पुरातन पन्थ का अन्वेषण किया, जिस पर कि अतीत मे अनेक बुद्ध चल चुके हैं और "इस पन्थ का अनुसरण करके मैं जीवन को समझने लगा हूँ। जीवन के प्रारम्भ और अन्त, दोनो को।" इस प्रकार बुद्ध ने जीवन की आदि-अन्त की पुरातन परम्परा को ही नये प्रभावशाली रूप मे प्रस्तुत किया। इसलिए उनके सिद्धान्तो से पुरातन ज्ञानियों के विचारों का साम्य है। उपनिषदों से उनकी अत्यन्त निकटता है। बौद्ध निर्वाण और ब्रह्म-निर्वाण मे कोई विशेष अन्तर नही है। 'गीता' में जिसको 'स्थितप्रज्ञ' और दर्शनों मे 'जीवन्मुक्त' कहा गया है वही

बौद्धधर्म का 'निर्वाण' है। 'निर्वाण' वस्तुतः जीवन की वह स्थिति है, जहाँ राग-द्वेष, मोह, मत्सर, स्व और पर का प्रवेश नहीं है।

धर्म की एकांगिकता एवं वर्ग-संकीर्णता को उपनिषदों ने स्वीकार नहीं किया। बौद्धधर्म ने भी उसी का अनुसरण किया। व्यक्तिगत अनुभूतियों की सत्यता पर जो विचार उपनिषदों के हैं, वे ही बौद्धों के भी हैं। उपनिषद् मे जिस ब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया गया है, वही बुद्ध के चार आर्य सत्यो का मूल है। दोनों ही इस अन्तिम सत्य की खोज के लिए बौद्धिक प्रयास की व्यर्थता के पक्षपाती हैं। दोनो की दृष्टि में जीवन और जगत् परिवर्तनशील होने के कारण नाशवान् हैं। दोनो ही यह मानते हैं कि मोक्ष या निर्वाण तक पहुँचने के लिए वैराग्य, ध्यान और समाधि उत्तम साधन है।

बौद्ध-सस्कृति के स्तम्भ हैं बुद्ध के चार आर्यसत्य। परम्परा द्वारा एवं सुविचारित इन चार आर्यसत्यो को बुद्ध ने नैतिकता और आत्मोन्नति के साधनो के रूप मे वरण किया।

(1) दुःख को आर्यसत्य कहकर उन्होने उसको जन्म, जरा, व्याधि और अभाव का कारण बताया; (2) दुःख-समुदय को आर्यसत्य कहकर उन्होने उसको तृष्णा उत्पन्न करने का कारण बताया; (3) दुःख-निरोध को आर्यसत्य कहकर उन्होने उसके अनेकविध कारणो को खोज निकाला; और (4) दुःख-मुक्त होने के लिए उन्होने सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि—इस अष्टागिक मार्ग का निर्देश किया। वस्तुतः देखा जाय तो वेदो की सत्यगर्भित ऋतमयी सस्कृति ही बुद्ध के चतुर्विध आर्यसत्यो का आधार बनी।

बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्त्तन किया वह आचारप्रधान था। इसी आचार को ब्राह्मण स्मृतियों मे धर्म का मूल बताया गया है (आचार· परमो धर्मः)। उन्होने मानव-जीवन की समस्त वेदनाओं एवं दुःखो का कारण आचारहीनता बताया और शान्ति-सुख की उपलब्धि के लिए कर्मों के सुधार पर बल दिया। उन्होंने ज्ञान और भक्ति की अपेक्षा कर्ममार्ग की श्रेष्ठता को स्वीकार किया। इसकी प्रेरणा उन्हें 'गीता' से मिली। 'गीता' की 'सर्वभूतहितेरतः' की भावना ही बुद्ध की 'प्राणिमात्र की दया' है। बुद्ध की पुण्य-सम्बन्धी मान्यताएँ भी 'गीता' से प्रभावित हैं। उन्होंने दान को श्रेष्ठतर यज्ञ कहा है। उनकी दृष्टि

-से धर्म तथा संघ की शरणागत हो जाना और संयमित होकर शिक्षापदों का पालन करना ही श्रेष्ठ यश है।

बुद्ध के अपरिमित करुणामय विशाल हृदय में मानवता की सेवा करना ही एकमात्र लक्ष्य रहा है। वे बहुजन-हिताय एवं प्राणिमात्र की कल्याण-कामना के लिए चेष्टारत रहे। उनके ये पावन और महान् आदर्श बौद्ध सस्कृति के मूलाधार बनकर विश्व-मानवता की अन्तश्चेतना के प्रेरणास्रोत बने। मौर्य, कुषाण और गुप्त शासको ने उनका प्रचार-प्रसार किया, जिसके फलस्वरूप इस वृहद् राष्ट्र मे अटूट भावनात्मक एकता स्थापित हुई। .साहित्य, दर्शन, कला और सदाचार से समन्वित भारत का यह सांस्कृतिक अभियान एशिया के विभिन्न देशों में प्रसारित हुआ और वहाँ के जन-जीवन को भी उसने अतिशय रूप से प्रभावित किया। इन देशो मे खोतान, तुर्किस्तान, चीन, कोरिया, तिब्बत, नेपाल, श्रीलंका, बर्मा, मलयप्रायद्वीप, स्याम (थाईलैण्ड), कम्बुज (कम्बोडिया), चम्पा (वियतनाम) और इंडोनेशिया आदि द्वीपान्तरो का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार बौद्ध-सस्कृति, बुद्ध के सकल्पो, आशाओ और आकाक्षाओ के अनुरूप समस्त मानवता की शान्ति तथा आत्मोन्नति की स्थापना करने में सफल सिद्ध हुई, और इस रूप में उसने अतीत के लगभग ढाई हजार वर्षों से मानव-मानव के अन्तर्द्वन्द्वो, विरोधों एवं सघर्षों की खाई को पाटने और उनमे समन्वय, सौहर्द तथा विश्वजनीन भ्रातृभाव की स्थापना करने मे -सफलता प्राप्त की।

बौद्धधर्म के पन्थ

बौद्धधर्म के क्षेत्र मे जो विभिन्न मत-मतान्तर एवं वाद-विवाद प्रचलित हुए वे तथागत की संभावना एव दृष्टि से सर्वथा अकल्पित थे। यद्यपि वे खुले रूप मे बुद्ध-निर्वाण के बाद ही प्रकाश मे आये, तथापि उनकी भूमिका का निर्माण बुद्ध के जीवनकाल मे ही हो चुका था। बुद्ध का चचेरा भाई देवदत्त बुद्ध के सिद्धान्तो का प्रवल प्रतिद्वन्द्वी था। उसके अतिरिक्त उपनन्द, चन्न, मेत्तिय भुम्मजक और षड्वर्गीय भिक्षु बुद्ध के जीवनकाल में ही विनय के नियमो की कटु आलोचना करने लग गये थे। सुभद्र जैसे उद्दण्ड मति के बौद्ध को जीवन की स्वच्छन्दता में नियमों की हथकड़ी पसन्द नही थी। इसलिए बुद्ध -की मृत्यु का समाचार सुनकर उन्होने चैन की साँस ली।

बुद्ध-विरोधी इस गुट ने, बुद्ध परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद ही, उनके विचारों के विरुद्ध आवाज लगायी। वैशाली के वज्जियों ने इस दिशा में विशेष उत्सुकता प्रकट की। महाकश्यप के राजगृह में 500 विद्वानों का जो अधिवेशन आयोजित किया गया था उसमें सम्मिलित होने वाले पुराणपन्थी या गवांपति बौद्धों ने संगीति में निर्णीत नियमों को स्वीकार करने से इसलिए इन्कार कर दिया कि उनमे बुद्ध के नाम से जो साहित्य संकलित किया गया है वह वास्तविक एव प्रमाणित नही है। इस संघ (संगीति) के प्रधान महादेव नामक विद्वान् द्वारा निर्धारित सिद्धान्तो को अविकल रूप से स्वीकार करने में मतभेद हो गया। इसलिए वैशाली में दूसरी संगीति को आयोजित करने की माँग की गयी। कुछ भिक्षुओ ने स्वीकृत, अति कठोर, नियमों के विरुद्ध भी आवाज उठायी। इस प्रकार बौद्ध भिक्षुओं की दो शाखाएँ हो गयीं, एक तो कट्टर पुराणपन्थी और दूसरी उदार मतावलम्बी। पुराणपन्थी भिक्षुओ के गुट को थेरवादिन् (स्थविरवादी) और उदार मतावलम्बी भिक्षुओं के समूह को (महासांघिक) कहा गया।

वैशाली में आयोजित उक्त सगीति मे जो निर्णय किये गये वे पुराणपन्थी भिक्षुओ के अनुरूप थे। अतः महासाघिको ने दस-हजार भिक्षुओ की तीसरी संगीति का आयोजन करके उसमें अपने नये सिद्धान्तो को स्वीकार किये जाने की घोषणा की।

आगे चलकर इन दोनों दलो का विरोध बढता ही गया। फलतः बुद्ध-निर्वाण की दूसरी-तीसरी शताब्दी बाद ही थेरवाद की ग्यारह और महासांघिको की सात उपशाखाएँ प्रकाश मे आयीं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से बौद्ध दर्शन मे बड़ा अन्तर है। इस अन्तर के परिचायक हैं हीनयान और महायान।

बौद्धधर्म का वैदिकधर्म पर प्रभाव

यद्यपि वैदिकधर्म पर ब्राह्मणधर्म की सकीर्णताओ के विरोध मे बौद्धधर्म का जन्म हुआ था, फिर भी मूलतः वह वैदिकधर्म या हिन्दूधर्म का ही अंश था। बौद्धधर्म में जो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, सब प्राणियो पर दया करना आदि नीतिधर्म हैं, वे वैदिक धर्मग्रन्थों से ही लिये गये हैं। बौद्धों के 'धम्मपद' में हमें 'मनुस्मृति' के ही आचारों का स्वरूप देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय को अपने देश और एशिया के अनेक

देशों में इतने विस्तार से अपनाये जाने का एकमात्र कारण यह था कि उसमें वासुदेव भक्ति का अनुकरण किया जाने लगा था।

एक समय ऐसा आया, जब वैदिकधर्म, ब्राह्मणधर्म के रूप में एक सम्प्रदाय या गुट का धर्म बन गया था। ऐसी ही स्थिति में उसके विरोधी जैन-बौद्ध धर्मों का उदय हुआ। इन दोनों धर्मों के कारण वैदिकधर्म की अनेक बुराइयाँ दूर हुईं। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वैदिकधर्म पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ता।

उपनिषदों के वैराग्य और निराशा की भावना को जैनधर्म ने अपनाया। किन्तु उसको व्यवहार मे उतारने तथा लोक में फैलाने का कार्य किया बौद्धधर्म ने। जीवन मे अनेक प्रकार के कष्टों तथा दुःखों से छुटकारा पाने के लिए बुद्ध ने बड़े सरल ढंग से समाज में वैराग्य को एकमात्र उपाय बताया। उन्होने बताया कि मनुष्य के जीवन का वास्तविक सुख जीवित रहने में नही है। वह तो तब प्राप्त होता है, जब मरने के बाद फिर जन्म लेने की स्थिति न आने पावे। जगत् के रूप में जो अन्धकार हमे दिखायी दे रहा है उसको दूर करने के बाद ही सच्चा सुख मिलता है।

बुद्ध के इस नये विचार को वैदिकधर्म मे ज्यो-का-त्यो अपनाया गया।

इसके प्रभाव से वैदिकधर्म के मानने वाले समाज में आचार-विचार, खान-पान और सबसे अधिक छुआ-छूत तथा जात-पाँत की कुप्रथाओ मे कुछ ढिलाई आयी। अहिंसा, जीवदया और दु:खियो के लिए करुणा—ये बाते समाज मे बड़े जोरों से फैली। समाज मे धर्म के नाम पर जो छोटे-छोटे वर्ग बन गये थे वे भी श्रावको के समानता के उपदेशो से टूट गये।

बौद्धकला और उसके मानव मंगलकारी सन्देशो का प्रसार

बौद्धकला

भारत में ईसा से लगभग छह सौ वर्ष पूर्व की धार्मिक स्थिति सर्वथा अस्थिर बनी हुई थी। राजनीतिक एव शासनिक दृष्टि से यह शिशुनाग-वंश का समय था। साहित्यिक दृष्टि से यह सूत्र-ग्रन्थो एवं दर्शन की विभिन्न शाखाओं की भूमिका का निर्माण तथा धार्मिक दृष्टि से जैन-बौद्धो के उदय का समय था। इस युग में ब्राह्मण-परम्परा के पोषक सूत्र-ग्रन्थो ने वर्णाश्रम-व्यवस्था को इतना कठोर और जन सामान्य की दृष्टि से इतना विषम बना दिया था कि अन्ततः वह स्वयं अपनी क्षति का कारण

बन गया। ब्राह्मणधर्म के कठोर कर्मकाण्ड एवं पुरोहितप्रधान विधानों के विरोध में जैनधर्म तथा बौद्धधर्म उदित हुए। इन धर्मों का प्रतिनिधित्व महावीर तथा बुद्ध ने किया।

तथागत बुद्ध ने बौद्धधर्म का प्रवर्तन किया। किन्तु बुद्ध की दृष्टि में उनके द्वारा निर्दिष्ट मध्य मार्ग को अग्रसर करने वाली कला नाम की कोई ऐसी प्रेरणादायिनी शक्ति नहीं थी, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने विचार किया है। बौद्धधर्म के साथ कला को जीवनदायिनी शक्ति के रूप में संयोजित करने का कार्य बुद्धानुयायियों ने किया।

बुद्ध के जीवन काल में ही उनके अनुयायियों द्वारा अनेक प्रश्न उनके समक्ष प्रस्तुत किये जा चुके थे। उनमें अधिकतर प्रश्न तो धर्म से सम्बन्धित थे, कुछ दार्शनिक विचारो से सम्बद्ध थे और कुछ का सम्बन्ध उनके भावी प्रतीक चिह्नो से था। उन प्रश्नो मे बुद्ध ने धर्म की लोकोपकारिता पर ही अपने विचार प्रकट किये और शेष प्रश्नो को उपेक्षित कर दिया। उन्होने स्वयं को न तो महामानव के रूप मे और न देवता के रूप मे स्वीकार किया। अपने प्रतीक चिह्नो के लिए उन्होने केवल बोधिवृक्ष और शरीर धातु को ही मान्यता दी। 'ब्रह्मजालसुत्त' से ज्ञात होता है कि बुद्ध भगवान् ने अपने जीवन काल मे ही निर्देश दिया था कि मनुष्य रूप मे उनकी पूजा न की जाय। इसलिए बुद्ध के पार्थिव प्रतीक बोधिवृक्ष, छत्र, चक्र आदि ही बौद्धकला की आरम्भिक थाती है। किन्तु उत्तरोत्तर ज्यो-ज्यो बौद्धधर्म की लोकप्रियता बढ़ती गयी, उन्हे परम भक्तिभाव से देवत्व के रूप मे पूजित एव प्रतिष्ठित किया जाने लगा। फिर धीरे-धीरे उनके जन्मान्तरो की कल्पनाएँ की गयीं और अनेक प्रकार से उनकी प्रतीकात्मकता को मूर्तित तथा चित्रित किया जाने लगा। तदनन्तर जातक कथाओ मे उनके विभिन्न कार्य-कलाओ तथा रूपो का व्याख्यान हुआ और जन-भावना मे उनका जो रूप अधिक रुचा उसी को मूर्तियो तथा चित्रो में रूपायित किया गया। बुद्ध-जीवन के विविध पक्षो को उद्घाटित करने वाली जातको की ये मनोरंजक कथाएँ एक ओर तो धर्म-प्रचारक भिक्षुओ द्वारा मौखिक प्रवचन के रूप मे भारत तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में प्रचारित-प्रसारित हुई और दूसरी ओर मूर्तिकारो तथा चित्रकारो ने उन्हे अपनी छेनी तथा तूलिका से मूर्तित तथा चित्रितकर कला की गंगा को बहाया।

बौद्धकला की भव्य एवं उन्नत विरासत स्तूपो, चैत्यो और बिहार गुफाओ के रूप मे भारत के ओर-छोर तक व्याप्त हुई। बौद्धकला के संगम इन बौद्ध

मन्दिरों के निर्माण में सम्राट् अशोक का विशेष योगदान रहा। परवर्ती शासकों ने भी बौद्धधर्म से प्रेरणा प्राप्त की और इस प्रकार के कला-तीर्थों के नव निर्माण तथा पुनरुद्धार में अपनी रुचि प्रदर्शित की।

बौद्धकला के संगम

भारत के विभिन्न अंचलों में तथागत बुद्ध की पवित्र स्मृति में स्थापित स्तूप, चैत्य, बिहार तथा मठ आदि बौद्धकला के संगम हैं। वे भारतीय स्थापत्य के भी आरम्भिक, उन्नत एवं स्थायी आधार है। भारतीय वास्तुकला का विकास प्रमुखतः दो रूपो मे हुआ। एक का सम्बन्ध तो लौकिक जीवन तथा दूसरे का धार्मिक जीवन से रहा है। लौकिक वास्तुकला के परिचायक अंग हैं नगर, ग्राम, भवन आदि और धार्मिक वास्तुकला के द्योतक हैं स्तूप, चैत्य, सघाराम, उपाश्रय, बिहार और मठ-मन्दिर। वास्तुशास्त्र के लक्षण-ग्रन्थों मे भोज का 'समरांगणसूत्राधार' और सोमेश्वर का 'मानसोल्लास' दो ऐसे प्रौढ एव सर्वांगीण विशाल ग्रन्थ हैं, जिन मे वास्तुविद्या के उक्त दोनो पक्षो का विस्तार से विवेचन किया गया है।

स्तूप

धर्मपरक वास्तुकला के प्रमुख अंग स्तूप बौद्धकला के भी आधार हैं। विद्वानो ने 'स्तूप' का दो प्रकार से निर्वचन किया है—'स्तूप' एकत्र करने, जोडने या टीला खडे करने का द्योतक है। 'स्तुप' का अर्थ प्रशसा करना है। बौद्ध युग मे जिन स्मारको का स्तूप नाम दिया गया उनके निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन है। आदिम मानव-सभ्यता के अध्येता विद्वानो को ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे विदित होता है कि आदिम मानव-समाज में मृत व्यक्तियो के अवशेषो को समाधिस्थ रखने के लिए पत्थरो का एक छोटा टीला खडा कर दिया जाता था। विश्व के कई देशो के आदिम जीवन मे यह प्रथा व्याप्त थी।

बुद्ध-पूर्व भारत मे मृत व्यक्तियो की स्मृति मे इस प्रकार के स्मारको का व्यापक रूप से प्रचलन था। बुद्ध ने स्वय ही कहा है कि सोभित नामक किसी राजा ने क्रकुच्छन्द बुद्ध के केशो की स्मृति मे एक स्तूप खड़ा करवाया था (अवदानशतक, पृ० 37)। इसी प्रकार बन्धुमति नामक एक अन्य राजा ने विपश्यी नामक बुद्ध के अवशेषों की सुरक्षा के लिए स्तूप का निर्माण कराया था (अवदानशतक 1, पृ० 97। 'अवदानशतक' (1, पृ० 38) के एक अन्य सन्दर्भ मे दक्षिण के काप्पिन नामक एक शासक ने अपने पूर्वजन्म मे प्रत्येक बुद्ध के अवशेषो की स्मृति में स्तूप बनवाया था।

बुद्ध के बाद बुद्धानुयायी जनता को बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट मानव-कल्याण की चिन्ता, सार्वभौम करुणा और प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना ने द्रवित एवं आत्म समर्पित कर दिया था। ठीक यही स्थिति महावीर स्वामी के बाद जैन धर्मानुयायी समाज में भी देखने को मिलती है। जन सामान्य ने बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों और महावीर स्वामी तथा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों को अपने आराध्य-सम्पूज्य के रूप मे स्वीकार किया और उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म-पन्थों को परम श्रद्धाभाव से वरण किया।

बुद्ध और उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म के प्रति गहन भक्ति भाव एवं आराधना-उपासना का व्यापक प्रचार-प्रसार महायानी बौद्धों द्वारा विशेष रूप से हुआ। भक्तिप्रवण भारतीय जनता के अन्तःकरण पर बुद्ध इस रूप में अंकित हो गये कि जहाँ उन्होने जन्म धारण किया उसे पवित्र तीर्थ के रूप में पूजा जाने लगा और जहाँ-जहाँ उन्होने प्रवचन किया वहाँ की पवित्र मिट्टी को प्रसाद के रूप में लोगों ने मस्तक पर लगाया। इस अगाध श्रद्धा-भक्ति के फलस्वरूप जनता ने उन स्थानो पर बुद्ध की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए मिट्टी तथा पत्थरो के टीले खड़े कर दिये। इन्हीं स्मारको को स्तूप एव चैत्य कहा गया। ये स्तूप तथा चैत्य जन कोलाहल से दूर एकान्त जगलो या पहाडियो के शिखरो पर विद्यमान थे।

बुद्ध की कल्पना के विपरीत उनके लक्ष्यो, उद्देश्यो और सिद्धान्तों के प्रतिकूल बुद्ध को देवत्व के स्थान पर प्रतिष्ठितकर उनकी उपासना-पूजा करने वाली जनता एवं उनकी स्मृति में चैत्यो, स्तूपो, उपाश्रयों को स्थापित करने वाला श्रद्धालु समाज वस्तुतः जैसे बुद्ध से पहले था, वैसे ही बुद्ध के समय और उनके बाद भी बना रहा। यह समाज मूलतः धर्मप्राण और अध्यात्म विश्वासी था। उसकी दृष्टि में विष्णु और बुद्ध में कोई अन्तर नही था। इस श्रद्धालु जनता ने बुद्ध को दशावतारों में प्रतिष्ठितकर उनको अपना उपास्य बनाया। उस भक्तिप्रवण सरल हृदय जनता ने बौद्ध स्तूपो को बुद्ध-मन्दिरों के रूप में ग्रहणकर उन्हें अपनी श्रद्धा, पूजा एवं आराधना का पवित्र स्थल स्वीकार किया।

इस प्रकार बुद्ध-स्मारकों के रूप मे अशोक जैसे धर्मात्मा शासक ने जिन स्तूपो का निर्माण कराया, भारतीय जनता ने उनको देवस्थान के रूप मे वरण किया और श्रद्धाविभोर होकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की।

बौद्ध युग मे परम श्रद्धेय बुद्ध और बोधिसत्त्वों के अवशेषों की सुरक्षा एवं चिरस्मृति के लिए व्यापक रूप से स्तूपों का निर्माण हुआ। बौद्धों के अनुकरण पर जैन धर्मानुयायियों ने भी अपने तीर्थंकरों की स्मृति मे स्तूपों का निर्माण किया। प्रसिद्ध लेखक श्री शिवराममूर्ति ने (अमरावती पृ० 18-19) मथुरा में निर्मित जैन स्तूपों के अस्तित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

बुद्ध और उनके अनुयायी अर्हत् सन्तों की स्मृति मे बनाये गये चैत्यों एवं स्तूपों की निर्माण-शैलियाँ विभिन्न हैं। इन स्मारकों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—शारीरिक, उद्देशिक और पारिभौतिक। दैहिक अवशेषो को सुरक्षित रखने के लिए जिन स्मारको को बनाया गया उन्हें 'शारीरिक', मृत व्यक्ति की स्मृति को सुरक्षित रखने या पूजा-प्रार्थना के लिए बने भवनो को 'उद्देशिक' और बुद्ध का निजी वस्तुओं, जैसे भिक्षापात्र तथा संघाटी आदि के संरक्षण के लिए बने स्मारको को 'पारिभौतिक' नाम दिया गया।

भारत के प्राचीनतम स्तूप भरहुत, साँची, बोधगया नागार्जुनीकोण्डा, तथा अमरावती नामक स्थानों पर स्थापित थे। स्तूपो की बाड़ या वेष्टनी में लगी पट्टिकाओं से ज्ञात होता है कि स्तूपों की परम्परा इन स्थलो पर बने स्तूपो से भी पहले की है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ मे अलंकरणविहीन सादे स्तूपो का निर्माण होता था। उनमे 'अण्ड', 'हर्मिका' तथा 'छत्रावली' नही थी। भरहुत और साँची के स्तूपो के अवशेषो से इस मन्तव्य की पुष्टि होती है। इनके बाद बने नागार्जुनीकोण्डा स्थिति लघु स्तूपों और कान्हेरी के शैल चैत्य में अण्ड, छत्रावली और हर्मिका का आरम्भिक रूप देखा जा सकता है। भरहुत और अमरावती के स्तूपो मे अलकरण-सज्जा के लिए दो तोरणो की योजना सर्व प्रथम प्रकाश में आयी। उनके चारो ओर लगी वेष्टनी की पट्टिकाओं पर विभिन्न प्रकार के पुष्प-पत्तियाँ, आभूषण, पशु-पक्षी तथा अन्य अलकरण तत्कालीन समाज की कलात्मक रुचि के द्योतक हैं। अलंकरण, सज्जा और कलात्मक अभिलेखन के लिए साँची के तोरण पर जातक दृश्य, नाग, यक्ष-यक्षी, किन्नर और गन्धर्वों की छवियाँ उरेही गयी हैं। परवर्ती स्तूपों मे इन अलंकरण-विधियो का निरन्तर विकास होता गया, और इस प्रकार बौद्ध स्तूप न केवल धार्मिक निष्ठा के परिचायक मात्र रह गये, अपितु उन्हें स्थापत्य कला के इतिहास की भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जाने लगा।

चैत्य गृह (बुद्धायतन) और बिहार गुफाएँ

चैत्यों की निर्माण-परम्परा, सम्भवतः स्तूपों से भी पुरानी है। ऐसा प्रतीत होता है चैत्यों की परम्परा एवं प्रेरणा से ही स्तूपों का निर्माण हुआ है। चिता से 'चैत्य' अभिधान हुआ। चिता के अवशिष्ट अंश (अस्थि-अवशेष) को भूमिगर्भ में रखकर वहाँ जो स्मारक तैयार किया जाता था उसे 'चैत्य' कहा गया। चैत्य वस्तुतः उन स्मारकों को कहा गया, जिनमें किसी महापुरुष की अस्थियाँ, राख, दाँत या केश गाडकर रख दिया जाता था। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि अवशेषों के बिना रखे ही चैत्यगृह निर्मितकर दिया जाता था। यह तो एक प्रकार से स्मृति या यादगार का प्रतीत होता था और जिसको जो नाम दिया जाता था वही उसका स्मारक मान लिया जाता था।

ये चैत्यगृह बहुधा बीहड जंगलों तथा पहाडियों पर निर्मित हुए मिलते हैं। ये स्थान संसार के कोलाहल से दूर थे। गहन मनन, तपस्या तथा चिन्तन के लिए उनसे उपयुक्त कोई अन्य स्थल नहीं हो सकता था।

बौद्ध युग मे स्तूपो के निर्माण के साथ ही चैत्यगृहो के निर्माण मे भी वृद्धि हुई। बौद्ध युग मे उनके निर्माण की अधिकता के कारण ही 'रामायण' मे उन्हे 'बुद्धायतन' कहा गया। इस युग में चैत्यगृहों के साथ ही बिहारों का भी अधिकता से निर्माण हुआ। किन्तु चैत्यगृहो और बिहारों की निर्माण-पद्धति मे कुछ अन्तर है। चैत्य एक प्रकार का ह्रस्व आयताकार भवन होता है। पीछे की ओर वह वर्तुलाकार होता है। उसके अन्त.प्रकोष्ठ में दोनों ओर पंक्तिबद्ध स्तम्भ होते हैं। स्तम्भो के बाहर की ओर प्रदक्षिणापथ बना होता है।

इसके विपरीत बिहार गुफाओं में मुख्यतया केवल दो ही प्रकोष्ठ होते थे। बाहरी प्रकोष्ठ आयताकार और अन्तःप्रकोष्ठ कुछ वर्तुलाकार होता था। दोनों के मध्य एक दीवार खड़ी की जाती थी। बाहरी प्रकोष्ठ की छत गज-पृष्ठाकार और अन्तःप्रकोष्ठ की अण्डाकार थी।

बुद्ध के बाद उनके शिष्यो ने तथागत के कल्याणकारी सन्देशो को जनता में प्रचारित-प्रसारित करने का अभियान प्रारम्भ किया। इन भिक्षुओं के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था अविरत रूप से निरन्तर भ्रमण करके जनता में बुद्ध के मानव कल्याणकारी आदर्शों एव शिक्षाओ का प्रचार-प्रसार करना। किन्तु वर्षा ऋतु में, भ्रमण पर गमनागमन की असुविधा के कारण लगभग

तीन महीने तक उन्हें एक ही स्थान पर रहकर प्रवचन करना होता था। इस कारण धर्मसंघ के धनवान् गृहस्थ उपासकों एवं शासकों ने भिक्षुओं के प्रवचन एवं निवास के लिए बस्तियों से दूर या बाहर एकान्त स्थलों में उपाश्रयों या संघारामों का निर्माण किया। इन्हीं उपाश्रयों, संघारामों अथवा बुद्धायतनों का रूप बाद में मठों और बिहार गुफाओं ने ले लिया। इस प्रकार के मठ तथा बिहार भारत के ओर-छोर तक निर्मित हुए और आरम्भ में वे पूजा-आराधना के पवित्र स्थल बने रहे और बाद में बौद्धकला के भी भव्य केन्द्र कल्पित हुए।

धर्म की पवित्रता और कला की भव्यता से परिमण्डित इस प्रकार के चैत्यगृहों तथा बिहार गुफाओं में भज, उदयगिरि, कोण्डानी, बेडसा, पीतलखोरा, जोगीमारा, अजन्ता, नासिक, जुन्नर, कार्ले, कान्हेरी, बाघ, बादामी, सितनवासल, एलोरा और एलीफैण्टा का नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं।

कला-केन्द्रों के रूप में और धार्मिक अभिप्राय से भारत के विभिन्न स्थानों में समय-समय पर इस प्रकार की गुफाओं का निरन्तर निर्माण होता रहा। सम्राट् अशोक से लेकर शुंग-सातवाहनों, गुप्तों, वाकाटकों, पल्लवों, चोलों, चालुक्यों और परवर्ती राज्यों तथा साम्राज्यों के संरक्षण में निरन्तर गुफाओं का निर्माण होता गया। अनेक गुफाएँ ऐसी भी हैं, जिनका निर्माण तथा पुनरुद्धार समय-समय पर विभिन्न संरक्षकों द्वारा होता गया। इस प्रकार एक ही गुफा के निर्माण में अनेक शासकों के योगदान होने के कारण ये गुफाएँ ऐतिहासिक सिद्ध हुई हैं। यह भी स्मरणीय है कि उनके निर्माण में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों धर्मावलम्बियों का समान योगदान रहा है। इस रूप में इन गुफाओं में भारत के सांस्कृतिक समन्वय का इतिहास भी निहित है।

इन गुफाओं के मूर्ति-निर्माण में उनके निर्माता कलाकारों-शिल्पियों ने पार्थिव तथा अपार्थिव दोनों प्रकार की धारणाओं का अंकन किया है। उनमें महापुरुषों और देवी-देवताओं आदि की अनेक आकृतियाँ हैं। उनमें एक सागोपांग जीवन दर्शन और युग-युगों की आकांक्षाओं तथा धारणाओं की सजीवता दर्शित है। उनमें अतीत का वैदिक, औपनिषदिक, पौराणिक, बौद्ध और जैन आदि अनेक युगों तथा धर्मों के आदर्शों का महनीय संगम हुआ है। वे भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के अविरत प्रवाह की कड़ियाँ और मानवीय आदर्शों की अक्षय निधियाँ हैं। वे एक ओर तो दक्षिण भारत की द्रविड़ परम्पराओं की अभिव्यक्तियों और दूसरी ओर उत्तर भारत के जीवनादर्शों की सूचक हैं।

बौद्धकला की विरासत चैत्यों, स्तूपों, उपाश्रयो और कन्दराओं के अतिरिक्त मन्दिरों, प्रस्तर मूर्तियों, कांस्यमयी एवं मृण्मयी मूर्तियों के निर्माण मे विकसित हुई। सारनाथ का सिंहशीर्ष और रामपुरवा का पाषाण वृषभ मौर्ययुगीन भारतीय मूर्तिकला का श्रेष्ठ एवं अनुपम उदाहरण है। परखम का यक्ष इस युग की स्थानीय परम्परा के आधार पर है। भारत के उत्तर-पश्चिम मे बौद्धकला के साथ यूनान और रोम की कला का सम्मिश्रण होकर एक सर्वथा नयी 'गान्धार शैली' का उदय हुआ, जिसका प्रमुख संरक्षक एवं प्रेरक कुषाण सम्राट् कनिष्क था। इस गान्धार शैली के रूप मे समन्वित बौद्धकला का भारत के मूर्ति-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, जिसकी परम्परा प्रथम शती ई० से सातवी शती ई० तक बनी रही।

बौद्धकला मे बुद्ध-मूर्तियो के निर्माण का सर्वथा नव्य-भव्य रूप गुप्त युग मे अधिक व्यापकता से प्रकाश मे आया, जिसका सर्वाधिक विख्यात केन्द्र मथुरा रहा है। बिहार और सारनाथ मे भी सुन्दर गुप्तयुगीन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। मथुरा सग्रहालय की बुद्ध-मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

9वी से 14वी शती ई० के बीच पाषाण, मृत्तिका और कांस्य, तीनों विधाओं की बौद्ध मूर्तियाँ अधिकता से निर्मित हुई। नालन्दा और कुर्किहार इस अवधि के धातुकला के विख्यात केन्द्र रहे। नालन्दा केन्द्र के मूर्तिशिल्प का प्रभाव जावा, सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत, बरमा और सिंहल तक व्याप्त हुआ। कांस्यमूर्तियाँ दक्षिण मे, विशेष रूप से तजौर मे भी उपलब्ध हुई हैं। स्थापत्य और मूर्तिकला के प्रमुख बौद्ध कला-केन्द्रो का विवरण इस प्रकार है।

भाजा

इतिहास की दृष्टि से भज या भाजा की गुफा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। विद्वानो ने उसका निर्माण काल 200 ई० पूर्व निर्धारित किया है। उसकी लम्बाई 59 फुट, चौड़ाई 26 फुट 8 इंच और ऊँचाई 20 फुट है। उसका भीतरी स्तूप सीधा है। प्रकोष्ठ में भी 27 अठपहलू सादे स्तम्भ हैं, जिनकी ऊँचाई 11 फुट 4 इंच है। भीतरी स्तूप के आधार-व्यास की लम्बाई 11 फुट है। उसका अण्ड 10 फुट ऊँचा है।

इस गुफा के निर्माण में काष्ठ का प्रयोग हुआ है और इस प्रकार वह भारत की काष्ठकला का अद्भुत उदाहरण है। काष्ठ का प्रयोग इसकी निर्माण-शैली की विशेषता का द्योतक है। इस गुफा की आकृति गया

की लोमश ऋषि गुफा के समान है। उसकी छत गज-पृष्ठाकार है। छत की धरणें काष्ठ-निर्मित हैं।

भज के एक बौद्ध बिहार में हाथी पर आरूढ़ सम्राट् की एक मूर्ति है, जिसमें उसका मन्त्री भी साथ है। इस मूर्ति को विद्वानों ने "वैदिक आर्य संस्कृति में धर्मानुसार शासन करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् का भारतीय राजनीतिक आदर्श प्रस्तुत करनेवाली कृति" कहा है। भज की इस मूर्ति में अधर्म पर धर्म की विजय, रूप और माया के संसार के मिथ्यात्त्व तथा धर्म और अनासक्ति के शाश्वत सायुज्य (स्वर्ग) के सुख की मूल तात्त्विक धारणाओं का अंकन हुआ है।

कोण्डानी

कोण्डानी की गुफा थाना जिले में अवस्थित है। इसका निर्माण भज की गुफा के आधार पर हुआ है। किन्तु यह अधिकतर नष्ट हो चुकी है। उसकी लम्बाई 66 फुट, चौडाई 26 फुट ऊँचाई लगभग साढे 28 फुट है। भीतर के स्तूप का आधार व्यास 9 फुट है। उसके द्वारो की बनावट मे काष्ठ का अधिक उपयोग किया गया है, भज की गुफा से जिसकी समानता बैठती है। दोनों की गज-पृष्ठाकार छतो और गवाक्षों मे भी समानता है। उसकी बाँई ओर एक भग्न मूर्ति है।

इस गुफा को बर्गेस आदि विद्वानों ने बहुत प्राचीन बताया है। उसमे ब्राह्मी लिपि का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिससे पता चलता है इस गुफा का निर्माण कृष्ण (कन्ह) के शिष्य बलक ने किया था (बर्गेस—केव टेम्पुल्स ऑफ वेस्टर्न इण्डिया)।

बेडसा

बेडसा गुफा की लम्बाई 45 फुट और ऊँचाई 21 फुट के लगभग है। इस गुफा तक पहुँचने के लिए चट्टानो को काटकर रास्ता बनाया गया है। गुफा के सामने दो स्तम्भ हैं, जिनकी जगती के स्थान पर पूर्ण कुम्भ बनाया गया है। स्तम्भो के शीर्ष भाग मौर्य स्तम्भ की आकृति के हैं, जिनके चारों कोनो पर हाथी, घोड़ा, वृषभ तथा शार्दूल उत्कीर्णित हैं। इन दोनो स्तूपों के पीछे दोनो पार्श्वों मे दो अलिन्द हैं। उसकी बेदिका तथा गवाक्षों पर परम्परा के विपरीत अलंकरणों की भव्यता शिथिल दिखायी देती है। विद्वानों का अभिमत है कि भज और बेडसा के बाद अलंकरणों की परम्परा क्षीण होती

गयी। भज और कोण्डानी की गुफाओं की भाँति बेडसा की गुफा में भी काष्ट का अधिक प्रयोग किया गया है।

फर्गुसन ने लिखा है कि बेडसा के स्तम्भ बुद्ध तथा बोधिसत्वों आदि के चित्रों से अलंकृत थे। बाद में किसी स्थानीय शासक द्वारा उनकी सफाई के अभियान में ये चित्र नष्ट हो गये।

कार्ले

महाराष्ट्र के पूना जिले मे कार्ले की भव्य गुफाएँ निर्मित हुई हैं। कार्ले या कार्ला नामक गाँव के कारण इन गुफाओं का नामकरण हुआ। उसकी लम्बाई 124 फुट 3 इंच, चौड़ाई 46 फुट 6 इच और ऊँचाई 40 फुट है। उसके भीतरी प्रकोष्ठ की चौडाई 25 फुट 7 इच है। उसका बाहरी अलिन्द 52 फुट 15 इच है। उसके दोनो ओर 37 स्तम्भ निर्मित हैं।

हीनयानी बौद्धों द्वारा निर्मित चैत्य गुफाओ में कार्ले की गुफा का विशिष्ट स्थान माना जाता है। इसकी निर्माण शैली भी अपने ढंग की है। उसकी प्रदक्षिणा के स्तम्भ झुके न होकर लम्बायमान हैं और द्वार की जाली काष्ठ की न होकर प्रस्तर की बनी है। चैत्यो की प्राचीन विशुद्ध शैली के इसमे दर्शन होते हैं।

वास्तुकला और मूर्तिकला के क्षेत्र मे कार्ले की गुफाओं का अपना विशेष महत्त्व है। उनके स्तम्भ अपनी कलात्मकता के लिए दर्शनीय हैं। उनके शीर्ष भाग युगल गज-मस्तको से अलकृत हैं और प्रत्येक गज-मस्तक पर मिथुन प्रतीक कोरे गये हैं। उसकी दीवार पर उरेहे गये हाथी विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

सम्प्रति प्राप्त होने वाली गुफाओ मे ऐतिहासिक दृष्टि से कार्ले की गुफा का विशेष महत्त्व है। इस गुफा मे कुछ अभिलेख मिले हैं। एक अभिलेख क्षहरात नरेश नहपान के दामाद उषवदात का उपलब्ध हुआ है। नासिक, जुन्नर और नहपान की गुफाओ से प्राप्त उषवदात के अभिलेखो मे उसका समय 40 तथा 42 वर्ष दिया गया है। यह शक संवत् ही हो सकता है, जिसके अनुसार उनका समय 120 ई० के लगभग ठहरता है। किन्तु बर्गेस आदि विद्वानो ने उसकी लिपि का अध्ययनकर उसका समय इससे अधिक प्राचीन बताया है। इसी गुफा से प्राप्त एक अन्य अभिलेख मे भूतपाल तथा अग्निमित्र का नामोल्लेख हुआ है। पुराणो की वंशावली के अनुसार अग्निमित्र शुगवंश

का द्वितीय नरेश था, जिसका स्थितिकाल 148-140 ई० पूर्व था। भूतपाल को शुंगवंश का अन्तिम शासक बताया गया है, जिसका स्थितिकाल 70 ई० पूर्व था। इस आधार पर कार्ले की गुफा ई० पूर्व सिद्ध होती है।

कार्ले की उक्त गुफा मे 15 स्तम्भ हैं, जो परम्परा के अनुसार अठपहलू हैं और जिनके शीर्ष पर घुटने नमित किये दो हाथियों की पीठ पर मिथुन बैठे हुए हैं। स्तूप के पीछे सात सादे स्तम्भ हैं। छत अर्धवृत्ताकार है। बाहर एक सोलह पहलू सिंहयुक्त स्तम्भ है, जो बेडसा स्तम्भ की शैली का है। इस गुफा में बनायी गयी मूर्तियाँ विभिन्न कालों की हैं।

पीतलखोड़ा

खानदेश जिले के चालीसगाँव स्टेशन से 12 मील दक्षिण की ओर पीतलखोड़ा की चैत्य गुफाएँ हैं, जो प्रायः अब भग्नावशेष के रूप में वर्तमान हैं। प्रमुख गुफा की लम्बाई 50 फुट, चौडाई 35 फुट और ऊंचाई 30 फुट के लगभग रही होगी। उसका भीतरी प्रकोष्ठ 20 फुट आठ इंच चौडा है। छत गजपृष्ठाकार है। भज और कार्ले की भाँति उसका अठारहलू स्तम्भ है। इस गुफा का सामने का भाग पूर्णतया नष्ट हो चुका है।

पीतलखोडा की गुफाओ के स्तम्भों पर अंकित विभिन्न दृश्य चित्रकला की प्राचीनता के द्योतक हैं। अजन्ता के चित्रों मे उनकी समानता होने के कारण उनमे परस्पर शैलीगत तथा ऐतिहासिक एकता दृष्टिगत होती है।

गुफा स० 4 महाविहार था। इसके द्वारो पर मूर्तियाँ उत्कीर्णित थी किन्तु अब वे नष्ट हो गयी हैं। चैत्य गुफा मे विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ आज भी वर्तमान हैं।

नासिक

गोदावरी के उपरले काँठे पर अवस्थित नासिक का ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्त्व माना जाता है। नासिक नगर से 5 मील दक्षिण-पश्चिम में पहाडी पर कुछ बौद्ध गुफाएँ बनी हुई हैं। वहाँ के लोग इस स्थान को पाण्डलेण कहते हैं। उपलब्ध अभिलेखो मे उसे मिरश्मि पर्वत कहा गया है।

नासिक मे कुल मिलाकर 17 गुफाएँ है। इन गुफाओ में सातव ाहन राजाओ से सम्बद्ध अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनमे कृष्ण, महाहकु, गौतमीपुत्र सातकर्णि तथा उसकी महारानी महादेवी, वाशिष्ठीपुत्र पुलोमावि

और यज्ञश्री सातकर्णि का नाम उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से इन गुफाओं की पूर्व सीमा ई० पूर्व रखी गयी है।

सं० 3 और 8 गुफाएँ कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सं० 3 की गुफा 46 फुट लम्बी तथा 41 फुट चौड़ी एक बिहार है। सं० 8 की गुफा कला के अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। उसमें क्षहरातों के छह अभिलेख उत्कीर्णित हैं।[1]

जुन्नर

पूना नगर से 48 मील दूर एक पहाड़ी पर जुन्नर की गुफाएँ अवस्थित है। यहाँ कुल मिलाकर 57 गुफाएँ हैं। कुछ विद्वानो ने जुन्नर को ही प्राचीन काल मे प्रसिद्ध व्यापारिक नगर तगर बताया है। ये गुफाएँ दक्षिण-पश्चिम में शिवनेरी पहाडी, पश्चिम मे तुलजलेण, उत्तर मे सुलेमान पहाडियाँ, गणेशलेण और मानमोडी पहाड़ी आदि विभिन्न स्थानों पर अवस्थित है। जुन्नर की गुफाओं में शेवनेरी पर्वत की चैत्य गुफा, तुलजलेण की चैत्य गुफा और सुलेमान पर्वत की चैत्य गुफा का विशेष महत्त्व है।

कन्हेरी

गुफा-मन्दिरो के इतिहास में कन्हेरी का हीनयानी चैत्य मन्दिर अपनी प्राचीनता की दृष्टि की उल्लेखनीय है। यह स्थान बम्बई से लगभग 25 मील दूर सालसेट द्वीप में अवस्थित है। एलोरा की भाँति यह चैत्य भी ठोस चट्टान को काटकर बनाया गया है। इसका निर्माण आन्ध्र सातवाहनों (यज्ञश्री सातकर्णि) के समय 2 री श० ई० में हुआ। इसकी शिल्प-विधा कार्ले के शिल्प की परम्परा मे है।

कन्हेरी के गुफा मन्दिर की दीवारो पर उरेही गयी बुद्ध तथा बोधिसत्वो की मूर्तियाँ अपनी भव्यता के कारण दर्शनीय हैं। उसके स्तंभ भी मूर्तियो से अलकृत हैं। यह महाचैत्य गुफा 86 फुट लम्बो, 40 फ़ुट चौडी और 50 फुट ऊँची है। इस पर 34 स्तम्भ बने हुए हैं। उसके द्वारों, खिड़कियो और मेहराबो में वास्तुकला की प्राचीन परम्परा पुनरुज्जीवित दिखायी देती है।

---

1. **जनरल ऑफ एशियाटिक सो०, भाग** 3, **पृ०** 275-288।
फर्गुसन—हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर पृ० 94, 115 **आदि।**

चित्रकला

मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला के क्षेत्र में बौद्ध कलाकरों का दूसरा ही दृष्टिकोण रहा है। गुप्तकाल से पूर्व बौद्धकला की परम्परा स्थापत्य तथा मूर्तिनिर्माण के रूप में सुरक्षित एवं अग्रसर होती रही और तदनन्तर वह स्थान चित्रकला ने ले लिया। बौद्धकला में मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला का भारत और सुदूर एशिया के विभिन्न देशो में अधिक प्रचार-प्रसार हुआ।

बौद्धधर्म का कला से कब सम्बन्ध स्थापित हुआ और वे परिस्थितियाँ एव उनके प्रभाव के कलात्मक स्वरूप क्या थे, इसका पता नही चलता है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि आरम्भ में बौद्धधर्म के अनुयायियो का दृष्टिकोण कला के प्रति अनुकूल नही था। सम्भवतः प्राचीन बौद्ध बिहारों मे साधारणतया पुष्पालकार को छोड़कर दूसरे विषयो पर चित्रकारी नही दिखायी देती। कला के प्रति बौद्धों के इस दृष्टिकोण के बावजूद जातको, 'ललितविस्तर' और 'महावश' आदि ग्रन्थो मे चित्रकला का उल्लेख हुआ है। इन ग्रन्थो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय तक कलाओ का इतना विकास हो चुका था कि कर्मकरो एव शिल्पियो के अतिरिक्त चित्रकारो की भी एक अलग श्रेणी निर्धारित हो चुकी थी।

बौद्धधर्म के महान् सरक्षक सम्राट् अशोक के समय चित्रकला की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक आधार प्राप्त नही है। किन्तु इतना निश्चित है कि उसने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए कला के माध्यम का भी प्रयोग किया था। अजन्ता की शुगयुगीन गुफाओ की चित्रकला से यह बात स्पष्ट है कि वह अपनी पूर्ववर्ती विकसित शैली पर आधारित थी।

गुप्तयुग मे मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला अधिक विकसित स्थिति में थी और उसका आधार भी अजन्ता ही है। गुप्तो के समय अजन्ता के माध्यम से चित्रकला का सम्बन्ध बौद्धकला से जुड़ा रहा। बाघ के चित्रो में अवश्य ही बौद्धकला अपने पूर्ण प्रभाव को प्राप्त हुई। बौद्ध चित्रकला का समृद्ध रूप 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता', 'पंचरक्षा' और 'महामायूरी गण्डव्यूह' आदि ताडपत्रीय ग्रन्थ-चित्रों मे प्रकाश में आया, जिनका निर्माण बंगाल के पाल राजाओ के समय 9वी श० ई० में हुआ। इन ताडपत्रीय दृष्टान्त-चित्रो में बुद्ध तथा बौद्ध देवी-देवताओ की अधिकता है। इस प्रकार के चित्रो का निर्माण 13वी श० ई० तक बगाल, नालन्दा विक्रमशिला, बिहार और नेपाल आदि अनेक केन्द्रों मे होता रहा।

अजन्ता

बौद्ध चित्रकला की समृद्ध एवं प्रभावशाली परम्परा भित्ति-चित्रों के रूप मे प्रकाश में आयी, जिसका प्रमुख केन्द्र अजन्ता था। अजन्ता की इन गुफाओ में न केवल चित्रकला, अपितु मूर्तिकला का भी अपूर्व संयोग देखने को मिलता है। अजन्ता की कला-कृतियो की लोकप्रियता का एकमात्र कारण है भक्ति, उपासना और प्रेम की त्रिवेणी का मनोरम संयोग। इन भव्य एवं विशालकाय कला-कृतियों मे अभय, भूमिस्पर्श एवं धर्मचक्र-प्रवर्तन की विभिन्न मुद्राओ द्वारा तथागत के जीवन दर्शन को, विशेष रूप से शान्ति और अहिंसा के उपदेशों को, बडी कुशलता से अभिव्यंजित किया गया है। उनमे विश्व-मानवता के समष्टिमय ऐक्य के दर्शन होते हैं। उनमे राजा-रंक को समान भूमि पर अवस्थित किया गया है, जिसकी प्रेरणा के आधार तथागत के मानवतावादी आदर्श थे।

अजन्ता में कुल मिलाकर 29 गुफाएँ हैं, जिनके दो भाग किये जा सकते है—चैत्य गुफाएँ और बिहार गुफाएँ। 9, 10, 19, और 26 वी चैत्य गुफाएँ है और शेष बिहार गुफाएँ। चैत्य गुफाएँ प्रार्थना, आराधना की दृष्टि से और बिहार गुफाएं रहने तथा अध्ययन करने की दृष्टि से बनायी गयी प्रतीत होती है। 1, 2, 9, 10, 16 और 17 वी गुफाओं के ही चित्र सुरक्षित रह पाये हैं, बाकी नष्ट हो गये।

अजन्ता की इन गुफाओ मे अनेक युगो की संस्कृति और इतिहास का समन्वय हुआ है। सातवाहन, कुषाण, वाकाटक और गुप्त आदि अनेक राजवशों के समय (ई० पू० 300 से 700 ई० तक) उनका निर्माण, जीर्णोद्वार और पुनः सस्कार होता गया। वहाँ के चित्रो मे जो विविधता है उसका कारण यही है कि उनके निर्माण मे विभिन्न युगो तथा कलाकारों का हाथ रहा। अजन्ता की चित्रकला में बीस प्रकार की शैलियो का सम्मिश्रण बताया गया है। किन्तु चित्रो मे प्रधानता गुप्त शैली की ही है। इतिहासकारो एवं कलाविद् विद्वानों का अभिमत है कि 9वी तथा 10वी गुफाओ के निर्माण मे शुगो तथा सातवाहनो का योगदान रहा 1, 2, 16 और 17 वीं गुफा का निर्माण वाकाटक नरेश हरिषेण (475-500 ई०) के सचिव वाराहदेव के समय हुआ। इसी प्रकार 1, 16 और 17 वी गुफाओ के पुनरुद्धार मे भी गुप्त सम्राटो का योगदान रहा। इन गुफाओं मे आज जो उच्च स्तरीय कला-थाती विद्यमान है, वह गुप्तयुगीन ही है।

विषय की दृष्टि से अजन्ता के चित्रों को तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—आलंकारिक, रूपभेदिक और वर्णनात्मक। पहले वर्ग के चित्रो मे

पशु-पक्षी, पुष्प-लताएँ, अलौकिक पशु, राक्षस, किन्नर, नाग, गरुड़, यक्ष, गन्धर्व और अप्सराएँ आदि हैं। दूसरे वर्ग के रूपभेदिक चित्रों में लोकपाल, बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा राजा-रानियों को लिया जा सकता है। तीसरे वर्ग मे जातक ग्रन्थो में वर्णित तथागत के जीवन की प्रमुख घटनाओं का चित्रण है।

प्रथम वर्ग के आलंकारिक चित्रो, यथा पशु, पक्षी, फूल, वृक्ष, लताएँ, बादल, नदियाँ, पर्वत और जंगल आदि के दृश्यो को अलंकरण-सज्जा के लिए प्रयुक्त किया गया है। पशुओ मे बैल, बन्दर, लंगूर और हाथी की प्रधानता है। पक्षियो मे मोर, तोता, हंस, कोकिल तथा हारिल प्रमुख हैं। फलों मे आम, अंजीर, अंगूर, शरीफा, नारियल और केला की प्रमुखता है। फूलो मे कमल की प्रधानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अजन्ता के कलाकारो को कमल और हाथी विशेष प्रिय थे।

कला की दृष्टि से दूसरे वर्ग के रूपप्रधान चित्र उत्कृष्ट हैं। गुफा स० 1 के बोधिसत्व पद्मपाणि के चित्र को विश्व की सर्वोत्कृष्ट कला-कृतियो मे गिना जाता है। एशिया महाद्वीप की बौद्धकला पर अवलोकितेश्वर के इस चित्र का व्यापक प्रभाव रहा है। उसमें शान्ति सौम्यता, दया, करुणा और मानव क्षेम की महान् कल्पना की गयी है।

अजन्ता के वर्णनात्मक चित्रो मे गुफा स 10 का हस्ति-समूह कला-रसिको का विशेष आकर्षण का विषय रहा है। इसी के एक ओर विशाल जन-समूह का दृश्य है। विभिन्न जातक कथाओ के आधार पर चित्रित बुद्ध की जीवन-घटनाएँ भिक्षुको के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी।

अजन्ता के चित्रो मे भावप्रवणता, रेखा सौष्ठव, वर्ण-सयोजन, हस्तमुद्राओ का प्रदर्शन, जीवन के विभिन्न पक्षों का अभिव्यजन और नारी के आदर्श रूप की अभिव्यंजना बडे सुन्दर ढग से की गयी है। अपनी इन विशेषताओ के कारण भारतीय चित्रकला के इतिहास मे अजन्ता का स्थान सर्वोपरि है। सर्वश्रेष्ठ चित्राकन के कारण विश्व के कलाप्रेमियों ने अजन्ता की कला की बडी प्रशसा की। इसमे उन्हें सार्वभौम मानवता के दर्शन भी प्राप्त हुए हैं।

बाघ

बौद्ध कलाकेन्द्रो की शृखला में अजन्ता के बाद बाघ का स्थान है। बाघ की कला उन स्थपतियों के तूलिका-चातुर्य, अदम्य साहस एवं धैर्य का विषय है, जिन्होने कठोर चट्टानो पर कला की अजस्र धारा को बहाया।

ये गुफाएँ मध्य प्रदेश में नर्मदा की सहायक नदी बाघ के तट पर तथा विन्ध्यपर्वत शृंखला में अवस्थित हैं और उनका सम्बन्ध महायान बौद्ध सम्प्रदाय से है। गुफाओं के निकट ही बाघ नाम का एक कस्बा भी है। कुल गुफाओं की संख्या नौ है। पहली गुफा 'गृहगुफा' के नाम से कही जाती है, जो कि सम्प्रति भग्नावस्था मे है। दूसरी गुफा 'पाण्डवों की गुफा' कहलाती है। यह गुफा सबसे बडी है और सौभाग्यवश सुरक्षित भी है। तीसरी गुफा को 'हाथीखाना' के नाम से कहा जाता है। इसकी दीवारों पर भव्य भित्तिचित्र बने हैं, जिनमें कई नष्ट भी हो गये हैं। चौथी गुफा 'रंगमहल' में चित्रो के अवशेष मात्र है। पाँचवी गुफा भी सम्भवतः भिक्षुओं के ध्यान, मनन के लिए बनायी गयी थी। शेष चार गुफाएँ ध्वस्त हो चुकी हैं।

सौभाग्यवश इन गुफाओं के इतिहास का आधार उपलब्ध है। 1929 ई० में उनकी सफाई करते समय पाण्डवो की गुफा में माहिष्मती के राजा सुबन्धु (416-486 ई०) का एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ था। इस ताम्रपत्र से पता चलता है कि महाराज सुबन्धु ने उनका निर्माण 'आर्य भिक्षुसंघ' के निवास के लिए किया था और उनके रखाव के लिए 'दासिलकपल्ली' नामक एक गाँव भी दान मे दे दिया था।

बाघ के गुफाचित्रों के अध्येता विद्वानो का अभिमत है कि वे अजन्ता की भाँति न तो कई युगो की देन हैं और न अनेक कलाकारों के योगदान के परिणाम स्वरूप है। ये गुफाएँ एक निश्चित अवधि में एक ही शैली के कलाकारो द्वारा निर्मित हुयीं। इन गुफाओ की चित्रावली प्रकृति, मानव और पशु-पक्षी आदि विभिन्न विषयों से सम्बद्ध है। उनमें रूपायित पेड़, पौधे, फल, फूल, पत्र, लताएँ आदि की छवियाँ प्रकृति के निसर्ग सुन्दर रूप को प्रकट करती हैं। उनमें रगो और रेखाओ की सजीवता दर्शनीय है।

बाघ के गुफाचित्रो मे पक्षियों का बड़ा सुन्दर चित्रांकन हुआ है। पक्षियों में शुक, सारिका, कुक्कुट, कलहस, कोकिल, मयूर, सारस और चकोर उल्लेखनीय हैं। यह पक्षी-चित्रण प्रतीकात्मक है और उल्लास, विषाद तथा रहस्य आदि विभिन्न मनस्थितियो को अभिव्यजित करता है। लताबन्ध, गुल्म, कमल, कमलनाल और पुष्पस्तवको के बीच-बीच में दर्शाये गये पक्षियो का संयोजन अत्यन्त भव्य एवं स्वाभाविक है। बाघ की चित्रकला मे पक्षियो का चित्रण निश्चित ही उनके निर्माता कलाकारो की अभिरुचि का परिचायक है।

बाघ की चित्रावली में हाथी और बैल का विशेष चित्रण हुआ है। हाथी मांगल्य और बैल धरती की समृद्धि का सूचक है। अजन्ता के चित्रों में भी बैल का कम, किन्तु हाथी का चित्रण अधिक हुआ है। 'कमल वनों मे हाथी', अजन्ता और बाघ के कलाकारों को अधिक प्रिय रहे हैं। बौद्धकला (मूर्तिकला और चित्रकला दोनों) में पुष्पों में कमल और पशुओं में हाथी का विशिष्ट स्थान रहा है। बौद्धकला का यह हस्ति-अंकन वास्तव मे बोधिसत्त्व के जन्मान्तर का प्रतीक है। मानवता के प्रति बुद्ध के लोक-मंगल का प्रतीक कमल है। कमल प्रकाश तथा रमणीयता का भी प्रतिरूप है।

मानव-छबियों के अंकन मे भी बाघ के कलाकार अत्यन्त निपुण थे। चौथी गुफा मे अंकित दो स्त्रियो का दृश्य बड़ा करुणाजनक तथा दुःख का प्रतीक है। दृश्य में एक स्त्री झरोखे के पास शोकाकुल दशा में खडी हो कपड़े से मुंह ढापे रो रही है। उसके पास खड़ी एक अन्य स्त्री उसको धैर्य बंधा रही है। झरोखे के बाहर पेड़ पर एक कपोतयुग्म बैठा हुआ है, जिसको देखकर चित्रित दृश्य की सारी कहानी आंखों के आगे आ जाती है।

अजन्ता की मानवाकृतियो मे बुद्ध, बोधिसत्त्व, राजपुरुष, राज-महिलाएँ, गायक, गणिका, नर्तकी और घुड़सवार आदि व्यक्तियो की अधिकता है। ये घुड़सवार सैनिक वेश मे हैं और उनकी दुकाट दाढी तथा ऐंठी हुई मूछो से स्पष्ट होता है कि वे राजपूत हैं।

अन्य केन्द्र

अजन्ता और बाघ के अतिरिक्त बौद्ध चित्रकला के अन्य केन्द्रो मे बादामी, सितनवासल, एलोरा आदि का नाम प्रमुख है, जिनके सम्बन्ध मे यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है।

बौद्धकला का प्रसार

भारत धर्मप्रवण और अध्यात्मवादी देश रहा है। उसके आदर्श शाश्वत, सार्वभौम और उदात्त रहे हैं। भारतीय साहित्य, दर्शन और विज्ञान के द्वारा जितने भी मानव-मंगलकारी कार्य हुए हैं उनका भौतिकता से कम, पारभौतिकता से अधिक सम्बन्ध रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि सुदूर अतीत से अब तक भारत की अन्तश्चेतना में कोई विकार नहीं आ पाया और उसका मनोबल कभी क्षीण नही हुआ। भारत की इस सतत एकरूपता एवं स्थिरता के कारण विश्व

में उसका एक विशिष्ट स्थान बना, और जहाँ एक ओर उसने समय-समय पर विभिन्न देशों से उनके उच्चादर्शों को ग्रहण किया, वहीं दूसरी ओर उन्हें अपनी प्रज्ञा, संस्कृति तथा कला की उदात्त विरासत भी प्रदान की।

इस दृष्टि से बौद्धकला का विशेष महत्त्व है। यद्यपि बौद्धधर्म का उदय और उसका प्रचार बहुत पहले हो चुका था, किन्तु बौद्ध चित्रकला का उदय लगभग पहली शती ई० में हुआ। इस दृष्टि से बौद्ध चित्रकला का योगदान उल्लेखनीय है कि उसके द्वारा बौद्धधर्म का मानव-मंगलकारी सन्देश द्वीपान्तरों में विस्तारित हुआ। बौद्धधर्म के प्रचारक जीवन्मुक्त, परोपकारी एवं विद्वान् भिक्षु जब अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ भारत के बाहर गये तो अन्य साधनों के अतिरिक्त रोल चित्रपट भी साथ लेते गये। इन पटचित्रो पर तथागत का जीवन-दर्शन और उनकी शिक्षाएँ दर्शित रहती थी। इन पटचित्रों ने जन साधारण को प्रभावित करने मे बडा काम किया। उनके द्वारा चीन, लका, जावा, स्याम, कम्बोडिया, बरमा, नेपाल, खुत्तन, तिब्बत, अफगानिस्तान, जापान और कोरिया आदि देशो में बौद्धकला तथा बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ।

समन्वयवादी बौद्ध संस्कृति की यह विशिष्टता है कि जिस प्रकार अपनी विजय-यात्राओ मे उसने विजित देशो की सस्कृति के अनेक उपयोगी तत्त्व अपनाये, उसी प्रकार उन देशो की सस्कृति को भी अपने उदात्त विचार और अपनी कला के उच्चादर्श प्रदान किये। उन देशों ने बौद्धकला के सार्वभौम आदर्शों को अपनाकर उसकी लोकप्रियता बढायी। पगान के अनेक बौद्ध मन्दिरो मे चित्रित जातक कथाएँ और इसी प्रकार बरमा के मन्दिरों में तंत्रयान-सम्बन्धी आरी मत के अनेक चित्र इसके प्रमाण हैं। बरमा के उक्त आरी मत के चित्रो मे दर्शित तीक्ष्ण रेखाएँ और कुटिल भगिमाएँ बंगाल की पाल शैली से प्रभावित हैं। श्रीलंका के अनेक भित्तिचित्रों पर अजन्ता शैली का प्रभाव स्पष्ट है। यही प्रभाव सिगिरीय की नारी मूर्तियों पर भी परिलक्षित हुआ। दन्दा उइलीक मे प्राप्त ७वीं तथा ८वी श० ई० के भित्तिचित्र तथा चित्रपट भारतीय, चीनी और ईरानी शैलियो के अनुकरण पर हैं। एक भित्तिचित्र में अंकित स्त्री के कान, कण्ठ, कमर और हाथो में भारतीय आभूषण हैं। उसकी कटि में लटकती क्षुद्र घण्टिकाओं की चार लड़ें भारतीय हैं। उसकी मुद्राओं में भी भारतीय प्रभाव है। भित्तिचित्र की पृष्ठिका मे बुद्ध तथा बौद्ध स्थविर अंकित हैं। उनकी मुखाकृतियों पर चीनी प्रभाव है।

मीरान मे दो भग्न मन्दिरों के भित्तिचित्रों पर भारतीय प्रभाव है। इन भित्तिचित्रों में 'वेस्सन्तरजातक' की कथा अंकित है। भित्तिचित्रों के नीचे लिखे लेख से विदित होता है कि उनका समय चौथी श० ई० है। इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि चित्रकार को पारिश्रमिक स्वरूप तीन सहस्र मामक दिये गये थे। उस रोमक चित्रकार का नाम तित था।

कुच या कूचा मे भी अनेक गुफाएँ ऐसी प्राप्त हुई हैं, जिनमें ब्रह्मा, इन्द्र, पार्वती और नन्दीयुक्त चित्र मिले हैं। उन पर भारतीय शैली-सज्जा का प्रभाव है। एक चित्र में बादलों से जल-बिन्दु ग्रहण करते हुए चातक का मनोरम दृश्य है। कहीं-कहीं बादलो मे सर्पाकृत कडकती बिजली की रेखाएँ उभरी दीख पडती हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ ऐसे भित्तिचित्र, लकडी के चित्रफलक और सूती तथा रेशमी कपडों के चित्रपट मिले है, जिनकी रचना-प्रक्रिया पर भारतीय, चीनी तथा ईरानी शैलियो का सम्मिश्रित प्रभाव है।

प्राचीन प्रोम मे यद्यपि सम्प्रति बौद्ध मठो की विरासत का कोई अवशेष नही है, किन्तु कुछ दिन पूर्व वहाँ की एक खुदाई मे बुद्ध की कुछ सुन्दर मूर्तियाँ और सोने-चाँदी की ऐसी पिटारियाँ मिली थी, जिन पर सस्कृत में लेख खुदे थे। इनमें गुप्तकालीन कला के समान अलकरण हैं।

बरमा मे बौद्धधर्म का प्रसार ईसा के आरम्भ मे ही हो चुका था। प्रथम शती ई० मे कलिंग (तेलगना) की मोन जाति के लोग मौलमीन के उत्तर थाटन मे जाकर बस गये थे। वे बौद्ध थे और उन्ही के द्वारा वहाँ बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। पाँचवी शती के बाद तिब्बत की प्यू जाति के लोग भी मध्य बरमा मे जाकर बस गये थे। इन लोगो ने वहाँ लगभग 100 बौद्ध मठो का निर्माण किया, जिस पर सोने और चाँदी का काम बहुमूल्यता की दृष्टि से ही नहीं, कलात्मकता की दृष्टि से भो दर्शनीय है। उस समय वहाँ विक्रमवंश का कोई भारतीय राजा राज्य करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी से पाँचवी शती ई० के बीच बरमा मे बौद्ध और ब्राह्मण, दोनो धर्मों का प्रवेश हो चुका था। बरमा की एक खुदाई मे प्रस्तर शिला पर अंकित पूजकों के कई दृश्य प्राप्त हुए हैं। ये साँची और भरहुत के रिलीफो की परम्परा मे हैं।

बौद्धधर्म तया बौद्धकला की ज्योति ने एशिया के अनेक देशो को प्रकाशित किया। उनमे विएतनाम भी एक है। वहाँ की जनता बौद्धधर्मानुयायी है। वहाँ महायान धर्म का अधिक प्रचलन रहा। आरम्भ मे विएतनाम के विभिन्न बिहारो मे केवल बीस भारतीय भिक्षु रहा करते थे। उन्होने वहाँ लगभग दो सौ

शिष्यों को प्रशिक्षण देकर उनके द्वारा बौद्धधर्म का विकास तथा विस्तार करवाया। उन्होंने अनेक पालि-ग्रन्थों का विएतनामी भाषा में अनुवाद कर बौद्ध-साहित्य की अभिवृद्धि की। जेतवन बिहार के प्रमुख नागा थेर (बू-चोन) का बौद्ध संस्कृति के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बुद्ध की जन्मभूमि भारत से अपने सम्बन्धों को सुदृढ बनाये रखने के लिए विएतनाम की सरकार ने कुछ वर्ष पूर्व भारत सरकार को अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की एक मूल्यवान् एवं कलापूर्ण मूर्ति भेंटस्वरूप प्रदान की थी।

विएतनाम की ही भाँति मलाया तथा जावा में बौद्धकला की विपुल थाती आज भी सुरक्षित है। मलाया के बौद्ध मन्दिरो मे स्थापित नालन्दा शैली की बोधिसत्त्वो की मूर्तियाँ और ब्राह्मण मन्दिरो में स्थापित पल्लव शैली की विष्णु मूर्तियाँ दोनों देशो के सम्बन्धों की सहेजनीय धरोहर हैं। 8वी शती ई० मे शैलेन्द्रवंशीय शासको के संरक्षण में निर्मित कला-कृतियाँ जावा की उत्कृष्ट कला की परिचायक हैं। शैलेन्द्र सम्राटों द्वारा 775-825 ई० के बीच निर्मित जावा के मध्य मे स्थित बोरोबुदूर का भव्य एवं विशाल स्तूप अपनी प्राकृतिक सुषमा और कलात्मक सौन्दर्य के लिए एशिया की बौद्धकला का अनुपम स्मारक हैं। उसमे बुद्ध जीवन से सम्बद्ध 120 मूर्तियाँ उरेही गयी हैं। उसकी चारो वीथियों मे 1300 मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। स्तूप के शिलापट्टो को एक साथ जोड़ा जाय तो उनकी लम्बाई तीन मील के लगभग होगी। उसका परिक्रमा-पथ विश्व के स्तूपो मे सबसे लम्बा है।

बोरोबुदूर वस्तुतः भारत के बाद विश्व मे बौद्धकला का दूसरा प्रमुख केन्द्र है। 'ललितविस्तर' और जातको में वर्णित कथाओ के आधार पर वहाँ के सैकड़ो शिलापट्टो पर बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी दृश्य अंकित किये गये है। इस स्तूप को आनन्द कुमारस्वामी ने 'तीसरी महान् सचित्र बौद्ध बाइबिल' कहा है। श्री राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है कि 'स्तूप और प्रसाद के रूप मे मन्दिरों के निर्माण की कला का अन्तिम सुन्दरतम प्रयोग बोरोबुदूर में ही आयोजित हुआ है।'

बोरोबुदूर के शिल्प, स्थापत्य तथा कलाकृतियो में गुप्तयुगीन सौन्दर्य, सौष्ठवता और भावाभिनिवेश अधिक स्थिरता एव प्रभावशाली ढंग से उभरा है। इन मूर्तियों का आधार जातक कथाएँ हैं; किन्तु उनमें निहित कलात्मक सौष्ठव सर्वथा मौलिक है। जावा के शैलेन्द्र सम्राटों की कलाप्रियता का यह भव्य स्मारक वस्तुतः अपनी परम्परा मे सर्वथा अद्वितीय एवं अनुपम है।

तिब्बत का भारत के साथ अतीत के सैकड़ों वर्षों से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। अनेक बातों में तिब्बत और भारत की मौलिक एकता रही है। धर्म, कला, साहित्य और संस्कृति आदि के आदान-प्रदान की दृष्टि से दोनो देशों के सम्बन्ध अटूट रूप से बने हुए हैं।.तिब्बतीय कला और संस्कृति के अभ्युत्थान तथा नव निर्माण में भारतीय कला तथा संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

तिब्बत की चित्रकला के अध्येता विद्वानो ने उसे तीन वर्गों में विभाजित किया है। पहले वर्ग में वे चित्र आते हैं, जिनकी मुख्य भूमिका तो भारतीय बुद्ध मूर्तियो से प्रभावित है और जिनकी सहायक रेखाओं के लिए चीनी कला का अनुकरण किया गया है। दूसरे वर्ग के चित्र वे हैं, जिनकी मुख्य भूमिका तो चीन के ढंग की है, किन्तु रेखाओ का आलेखन भारतीय पद्धति पर है। अर्थात् पहले वर्ग के सर्वथा विपरीत। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत उन चित्रों को रखा गया है, जो या तो प्रथम दोनों वर्गों के सम्मिश्रण से बनाये गये हैं, अथवा जिनका उन दोनो से कोई सम्बन्ध नही है। ये तीसरे वर्ग के चित्र ही वस्तुतः शुद्ध तिब्बतीय चित्र कहे जा सकते हैं। तिब्बतीय चित्रकला में कुछ चित्र ऐसे भी बने हैं, जिन पर नेपाली चित्र शैली का प्रभाव है। इस प्रकार के चित्र भी बड़े मूल्यवान् हैं। तिब्बत में प्रायः 15वी शती ई० से पहले के चित्र नही मिलते हैं। तिब्बतीय चित्रों में हरे रग का बहुत उपयोग किया गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से भारत और तिब्बत की चित्र-शैलियो मे, कई दिशाओ में साम्य है। तिब्बतीय चित्रों और वहाँ के गुफाचित्रों मे अंकित लम्बी दाढ़ी वाली कलम सर्वथा भारतीय है। तिब्बत मे धार्मिक चित्रों की दृष्टि से सर्वोच्च कला-कृतियाँ ताँक-का के मन्दिरो के पटचित्र हैं। ये चित्र सूती तथा रेशमी दोनो प्रकार के वस्त्रो पर अंकित हैं।

तिब्बत की चित्रकला में लौकिक तथा पारलौकिक विश्वासो एव भावनाओ का समन्वय देखने को मिलता है। पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प और ऋतु आदि विषयों के चित्रो से लेकर तथागत से सम्बन्धित धार्मिक चित्रो तक एक सम्मोहन व्याप्त है। उनकी रेखाएँ दर्शक को मन्त्रमुग्ध कर देती हैं। तिब्बत में नालन्दा के एक स्नातक ने चित्रकला के क्षेत्र में ऐसे नये प्रयोग किये, जिनमें तान्त्रिकता के साथ-साथ मानवीय प्रतिमानों का सुन्दर समन्वय हुआ है। इस प्रकार के प्रत्येक चित्र की आधार भूमि मानवीय होती हुई भी उसको इस

रूप में दर्शित किया गया है कि वह वायवी होकर किसी अज्ञात लोक का रहस्य प्रकट करती है। इन आकृतियों का मानव-जीवन से अपरिहार्य सम्बन्ध होते हुए भी वे किसी देवदूत की जैसी लगती हैं।

तिब्बती अनुवाद के रूप में 'चित्रलक्षण' नामक एक शास्त्रीय ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ का निर्माण गान्धारराज नग्नजित् ने किया था। इस राजा का नाम संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों में आदि चित्राचार्य के रूप में उल्लिखित है। तिब्बत के धार्मिक चित्रों पर इस ग्रन्थ के प्रविधानो का प्रभाव है।

तिब्बत से भारतीय चित्रकला के प्रभाव का प्रवेश नेपाल में हुआ। क्योंकि तिब्बत का चीन के साथ भी सांस्कृतिक एवं धार्मिक सम्बन्ध था, इसलिए तिब्बत के माध्यम से कला की जो विरासत नेपाल को गयी उसमें चीनी प्रभाव भी है। नेपाल ने स्वय अपने चित्रकारों को तिब्बत और चीन भेजा। उन्होने भारतीय-चीनी-तिब्बती शैलियो के मिश्रण से अपूर्व कृतियों का निर्माण किया। यह आदान-प्रदान लगभग 14 वी शती ई० तक बना रहा।

एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा चीन मे बौद्ध ज्ञान के साथ-साथ बौद्धकला का प्रभाव अधिक कारगर सिद्ध हुआ। चीन मे कला का अभ्युदय सुदूर अतीत मे हो चुका था। लगभग छठी शती ई० मे, कूँची के अभाव मे भी चीनी चित्रकला मे रंगो का सौष्ठव, वृक्षो की कमनीयता अभिव्यक्त होने लगी थी। कूँची के प्रयोग के बाद तो वहाँ ऐसे चित्र बने, जिन्होंने चीनी चित्रकला को विश्व की कला में उच्चतर स्थान पर पहुँचा दिया।

ताँग युग (618-907 ई०) में निर्मित तुषित (पेकिंग स्थित) नामक विहार में पाँच सौ अर्हतो की मूर्तियो में समन्तभद्र, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और क्षितिगर्भ आदि की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन मूर्तियों के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उनका निर्माण कुबलेखान के समय नेपाल से आये तत्कालीन प्रसिद्ध कलाकार अरकिनो ने किया था। उससे पूर्व चीन सम्राट् याँगती (605-617 ई०) के दरबार में खुत्तन का एक चित्रकार रहता था, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि वह और उसका पुत्र, दोनों भारतीय शैली के बौद्धचित्र बनाने मे निपुण थे।

यह ताँग-युग चीनी बौद्धकला का स्वर्णयुग रहा है। उसके निर्माण में भारतीय कलाकारो, स्थपतियों एवं शिल्पियों का भी समान रूप से योगदान

रहा। इस युग में गन्धार की यूनानी बौद्धकला ने चीनी-मूर्तिकला को प्रभावित किया और उनके आधार पर तुङ्-हुआंग, बुन्-काङ् तथा लुन्-मेन की गुफाओं का निर्माण हुआ। ये पर्वत गुफाएँ अजन्ता तथा बाघ की गुफाओं के आदर्शों पर निर्मित हुई थी और उनके निर्माण मे चीनी शिल्पियों तथा कलाकारों ने निष्ठा और निपुणता का परिचय दिया।

चीनी इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि बुन्-काङ् की प्रसिद्ध पर्वत गुफाओ के निर्माण मे किसी भारतीय बौद्ध भिक्षु की प्रेरणा निहित थी। बुन्-काङ् की गुफाओ की मूर्तियां साठ से सत्तर फुट तक ऊँची थी, जिन्हें कि बमियान के बाद विश्व की सबसे बडी बुद्ध मूर्तियाँ माना जाता है। तुङ्-हुआंग की 'सहस्र बुद्ध गुफाओं' मे बुद्ध की विशालतम 90 फुट ऊँची मूर्ति को विश्व की सर्व श्रेष्ठ मूर्ति होने का श्रेय है। ऐसी ही मूर्ति अफगानिस्तान के बमियान नामक स्थान पर भी बनी थी।

चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश के बाद कला के क्षेत्र मे एक नये युग का सूत्रपात हुआ। भारतीय मूर्तिकारो, चित्रकारो एव वास्तुकारो ने चीन में अनेक मठो, मन्दिरो चित्रो तथा मूर्तियो के निर्माण मे सहायता देकर अपने सम्बन्धो को दृढ़ किया। इस योगदान में भारतीय चित्रकार शाक्यबुद्धि, बुद्धकीर्ति और कुमारबोधि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चीनी चित्रकला मे आलेखन, सुघड़ता, सुरुचि, सूक्ष्मता और रगो की सजीवगी मे भारतीय प्रभाव है। अपने इस नये रूप मे चीनी चित्रकला प्रशान्त महासागर से कास्पियन सागर तक प्रचारित-प्रसारित हुई। भारतीय कला की कड़ियाँ बमियान, खुत्तन, तुर्किस्तान और तुर्फान तक जुड़ी हुई थी। इन स्थानों पर प्राप्त बहुत-सी सामग्री पर अजन्ता शैली का प्रभाव है। चीनी काफिले रेशम तथा अन्य सामग्री पश्चिमी देशो की मंडियों मे ले जाते थे। इस आवागमन मे उनका परिचय अजन्ता शैली के चित्रो से हुआ और लौटते समय वे कई चित्रो को भी चीन लेते गये। चीन के उत्तर-पश्चिम के कान्सू प्रान्त मे पहाड़ को काटकार 469 गुफाएँ निर्मित की गयी। इन गुफाओ की दीवारो तथा छतों पर अजन्ता, बाघ तथा एलोरा शैली के आधार पर अनेक चित्र बने।

इस प्रकार चीन में व्यापक रूप से उत्तरोत्तर बौद्धकला का एकाधिकार होता गया और चीनी चित्रकला की लोकप्रियता बढती गयी। चीनी चित्रकला पर बौद्धकला के सुप्रभावो का उल्लेख करते हुए डॉक्टर चाउ सिआंग कुआंग ने 'चीनी बौद्धधर्म का इतिहास' (भूमिका, पृ० 11, 12) में लिखा है,

"बौद्धधर्म के चीन में आने के बाद हमारी चित्रकला को नूतन प्रोत्साहन मिला। चित्रकारो को बौद्धधर्म ने नये भाव दिये। हमारे मन्दिरों के भित्तिचित्रों तथा बौद्धचित्रो पर अजन्ता के भित्तिचित्रो का प्रभाव हो सकता है। हमारे इतिहास के प्रारम्भिक युग के सबसे प्रसिद्ध चित्रकारों के नाम कुम्रो-तान-वाई और कुम्रो-हा-तो है। वे बुद्धचित्रो की निर्माण की दिशा में प्रख्यात थे। चीन मे बहुत-से चित्रकार मठों के शान्त और एकान्त वातावरण मे रहते थे और वहाँ के मन्दिरो की भित्तियो को बुद्ध अथवा अन्य सन्तो के जीवन की घटनाम्रो तथा पश्चिमी स्वर्ग के चित्रो से अलकृत किया करते थे। बौद्ध चित्रकारो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध व-ताम्रो-तुजे है, जो ईसा की छठी शती के पूर्वार्द्ध मे हुए। वह बौद्ध था और उसने मठो मे बहुत कार्य किया।"

चीन के ओर-छोर तक बिखरे हुए वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला के इन भव्य एव अमर सगमो में भारतीय-चीनी कला-समन्वय का प्रेरणादायी इतिहास सुरक्षित है, और वे उन पवित्र एवं महान् धार्मिक अभियानो के भी स्मारक हैं, जिनके मधुर सम्बन्धों के कारण निरन्तर पन्द्रह सौ वर्षों तक दोनों देशो का जन-जीवन एक सूत्र में आबद्ध होकर अपनी आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक उन्नति की ओर अग्रसर होता रहा। दनदन और अहिलिक आदि स्थानों से जो चित्र प्राप्त हुए उनमे भारतीय चित्रकला के और भी अधिक प्राचीन प्रभाव का पता लगा। इस प्रकार के चित्र बमियान की गुफाओं से प्राप्त किये गये, जिनका समय चौथी से छठी श० ई० है। इन भित्तिचित्रो मे भारतीय, ईरानी और चीनी प्रभावो का अद्भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। बमियान के उत्तर मे स्थित फोरिदुस्तान मे जिन बौद्ध मठो का पता स्टीन ने लगाया उनमे उपलब्ध अभिलेखो से यह ज्ञात होता है कि उनका निर्माण गुप्त सम्राटों तथा पाल राजाओ के आदेशो पर हुआ।

आरियल स्टीन ने इन स्थानो की खोज मे जो प्रयत्न किये थे वे चिरस्मरणीय है। उन्होने बड़े श्रम, लगन और कौशल से मध्य एशिया में प्राप्त सचित्र भित्तियो को दो इंच दीवाल के पलस्तरो सहित उतरवाकर उन्हें दिल्ली के सेन्ट्रल एशिया ऐंटीक्विटीज म्यूजियम के तीन कक्षों मे स्थापित किया। इतना बडा भित्तिचित्र-सग्रह विश्व के अन्य किसी संग्रहालय में नही है। ये भित्तिचित्र चौथी से दसवी श० ई० के बीच के हैं और उन पर अजन्ता का प्रभाव है।

उक्त प्रमाण-सामग्री से स्पष्ट है कि बौद्धकला ने एशिया के विस्तृत भू-भाग को विगत की अनेक शतियों तक व्यापक रूप से प्रभावित किया। उससे न केवल कला के पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ, अपितु विस्तृत एशिया भू-खण्ड के साथ भारत मे धार्मिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धो की भी स्थायी परम्परा स्थापित हुई। उसने व्यापक मानव समाज मे शान्ति, सद्भाव तथा लोक-मंगल की भी चिर स्थापना की।

भारत तथा अन्य द्वीपान्तरों मे विद्यमान बौद्धकला के मठ, मन्दिर, संघाराम, बिहार, उपाश्रय और कन्दराएँ भारत की चिरन्तन एवं गम्भीर कलानुराग के साक्षी तथा अपने निर्माता कलाकारों, शिल्पियो एवं स्थपतियो के अमर स्मारक हैं। उन्होंने विगत के सकड़ों वर्षों तक विभिन्न मतानुयायी समाज को एकता के सूत्र मे बाँधे रखा और उनके विश्वासो को बल एवं शक्ति प्रदान करते हुए समान रूप से जन-मगल तथा शान्ति और सद्भाव का मार्ग प्रशस्त किया।

सम्भवतः यही कारण है कि जहाँ विगत हजारो वर्षो के विस्तृत अन्तराल में विभिन्न शासको तथा साम्राज्यो का उथल-पुथल हुआ और उनका सारा वैभव तथा अस्तित्व उन्ही के साथ समाप्त हो गया, वहाँ विश्व के सर्वाधिक सुन्दर कहे जाने वाले एशिया भर के मठ, मन्दिर, कला-सस्थान भारत के अस्तित्व को आज भी सुरक्षित एव जीवित बनाये हुए हैं।

बौद्धकला में लोकानुराग

बौद्धकला का समस्त एशिया के देशो की कोटि-कोटि जनता पर इतने व्यापक और दीर्घकालीन प्रभाव के कारण सम्भवतः उसमे निहित लोकानुराग के चिरन्तन तत्त्व थे। बौद्धकला को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त होना विश्व इतिहास की एक अपूर्व घटना है। इसका कारण सम्भवतः धर्म की लोक-मंगल भावना है। तथागत बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया था उसके आधार थे लोकमानस के सनातन विश्वास, उसकी परम्परागत मान्यताएँ और सर्वस्वीकृत निष्ठाएँ। उनका समष्ठिगत लक्ष्य था जन-मंगम। बौद्धधर्म के इन जन-मगलकारी सन्देशो की वाहिका बनी बौद्धकला। बौद्धकलाकारो ने बुद्ध के सार्वभौम आदर्शों को, जो कि सुदूर अंचलों मे फैली ग्राम्य जनता की अनुभूतियो में अनुस्यूत थे, अपनी कला-कृतियो में इस प्रकार संजोया एव पिरोया कि उसका प्रभाव न केवल भारत में, अपितु व्यापक मानव-समाज में प्रचारित प्रसारित हुआ।

कला के लोक-विश्वासों की यह अन्तर्धारा अत्यन्त पुरातन एवं परम्परागत है। उनका मूल मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा के अवशेषों में भी अन्तर्निहित है। इन अतीतकालीन कलात्मक अवशेषों में पशु-पक्षी, वृक्ष, वनस्पति और स्त्री-पुरुषों के अंकनों में उसका भव्य रूप अभिव्यक्त हुआ है। मौर्ययुग के पूर्व की यक्षों की मूर्तियों में वह परम्परागत कला अपने पूर्ण वैभव को प्राप्त हुई। जन-जीवन की अभिलाषाओं के अनुरूप इन परम्परागत कला-कृतियो मे लोकशैली का रुझान समाहित है। परम्परागत लोककला की यह थातो उन कला-कृतियो से सर्वथा पृथक् है, जिनका निर्माण राज्याश्रयो के अन्तर्गत हुआ।

बौद्धकला में एक ओर जहाँ धर्म की पवित्र भावना से ओत-प्रोत होकर देवी-देवताओं का व्यापक रूप से अंकन एवं चित्रण हुआ है, जिनमें अधिकता बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों तथा तत्सम्बन्धी कथाओं की है, वहाँ दूसरी ओर जीवन की अन्य दिशाओ में भी विविधताओं के दर्शन होते हैं। जीवन की ये विविधताएँ कलाकार की अपनी अनुभूतियाँ हैं, जो कि उसे दैनिक जीवन से प्राप्त हुई हैं। इसके प्रमाण बौद्ध मन्दिरो, मठों तथा गुफाओ में अंकित विविध दृश्य है, जिनमे मानव के प्रेम, मनोरंजन और विषाद-वियोग के सम्मिश्रित राग-भावों का सजीव दर्शन होता है। विभिन्न स्त्री-पुरुषों, राजाओं, योद्धाओ, खेतों, खलिहानों मे काम करते हुए श्रमिको, किसानों और आखेट मे अनुरक्त शिकारियो के विविध दृश्य वस्तुतः व्यापक जन-जोवन मे फैले हुए परम्परा से चले आते ऐसे क्रिया-कलाप हैं, जिनका सम्बन्ध मानव-जीवन से सदा जुड़ा रहा। बोद्धकला मे इन मानव सहज विविधताओं का सजीव और स्वाभाविक अंकन हुआ है।

आरम्भ में कलाकारो ने बुद्ध तथा उनके आदर्शों से सम्बद्ध विषयो को मूर्तित करने में ही अपनी कला का लक्ष्य समझा। बुद्ध अनेक वर्षों तक नगरो तथा ग्रामों मे जन साधारण के बीच रहे। तीसरी शती ई० के बाद कलाकारो का ध्यान जन-जीवन की विविधताओ की ओर केन्द्रित हुआ, और उन्होने प्रेम, क्रोड़ा-कौतुक तथा सामूहिक मनोरंजन के दृश्यों को कला मे स्थान दिया। उनके रचना-विधान मे पूर्वापेक्षया पर्याप्त परिष्कार और सौन्दर्यदृष्टि समन्वित है।

बौद्धकला में यह परम्परा इसी रूप में आगे भी प्रवर्तित होती गयी। भारतीय लोक-विश्वासों में श्रुति-स्मृति-पुराणों से परम्परागत यक्ष यक्षी, गन्धर्व, देवी-देवता, वृक्षपूजा आदि देव-लोक-मिश्रित कथाओं का भरहुत तथा सांची

आदि के तोरणों में बड़ी सजीवता के साथ अंकन हुआ है। इनकी छवियाँ इतनी आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध हुईं कि वह कला की संजवनी शक्ति बनकर समस्त लोक-मानस पर छा गयी और साँची स्तूप की तरुणी यक्षी तथा भरहुत स्तूप की सुभद्रा, सुदर्शना, मिश्रकेशी एवं अलम्बुषा आदि अप्सराओं के विमुग्धकारी सौन्दर्य ने बौद्धधर्म के तप, त्याग तथा संयम के विरोधाभास को इसलिए आत्मसात कर लिया, क्योंकि उसमें परम्परागत लोक-आस्थाओ के सुपरिचित एवं स्वीकृत आदर्श निहित थे।'

बौद्धकला मे लोक-जीवन की अनुभूतियो का रूपायन नदियो, झीलो, झरनों, पशु-पक्षियो, वृक्ष-लताओं और पुष्प-फूलो के विभिन्न रूपों मे हुआ है। उनमे मानव-जीवन के प्रेम, सौन्दर्य और करुणा की कोमलताएँ अन्तर्निहित हैं और इसीलिए उनमें इतनी अधिक संवेदनशीलता तथा प्रभावकारिता ध्वनित हुई है।

इस प्रकार लोक-सम्पूजित एवं लोकानुभूतियो पर आधृत बौद्धकला ने बौद्ध धर्म के मानव मगलकारी महान् अभियान को भारत और भारत के बाहर प्रचारित एव प्रतिष्ठित करके मानवता को भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पदाओ से समृद्ध किया।

जैनधर्म

भारत के सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों मे जैनधर्म का प्रमुख योगदान रहा रहा है। श्रमण-सस्कृति के प्रवर्त्तक जैनधर्म का अस्तित्व सम्भवत: प्रागैतिहासिक है। वैदिक युग में उसने व्रात्यो और श्रमण ज्ञानियो का प्रतिनिधित्व किया। जैनधर्म के प्रवर्त्तक चौबीस तीर्थंकरो में ऋषभदेव प्रथम तथा महावीर स्वामी अन्तिम थे। उनके तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ बडे प्रतिभाशाली तथा ऐतिहासिक महापुरुष हुए। वे क्षत्रिय राजपुरुष थे और उनका जन्म महावीर स्वामी से लगभग ढाई सौ वर्ष पहले (800 ई० पूर्व) बनारस मे हुआ था। तीस वर्ष की युवावस्था मे ही उन्होने गृहत्याग कर दिया। सत्तर वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के उपरान्त उन्होने मोक्ष प्राप्त किया। उन्होने चार शिक्षाओ वाले धर्म को जन्म दिया था। उसमें अहिंसा, दया, सत्य और अस्तेय के आचरण पर बडा बल दिया गया है।

जैनधर्म को प्रशस्त मानवीय आदर्शों से परिमण्डित करके लोकप्रिय बनाने तथा प्रचलित करने मे महावीर स्वामी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

उनका जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी 539 वि० पूर्व को वैशाली के नातवशीय क्षत्रिय कुल में हुआ था। उनकी माता का नाम त्रिशलादेवी और पिता का नाम सिद्धार्थ था, जो महाज्ञानी और सन्त स्वभाव के महापुरुष थे। विवाह होने के बाद महावीर स्वामी के घर में एक पुत्री ने जन्म लिया, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया; किन्तु पुत्री के जन्म के कुछ दिन पश्चात् उन्हें गृहस्थ एवं सांसारिक जीवन से वैराग्य हो गया था। बीस वर्ष की अल्पायु में ही वे संन्यासी हो गये। बारह वर्ष की कठोर तपस्या और सर्वथा एकान्तवास के अनन्तर ऋजुपालिका या ऋजुकूला नदी के तट पर 'शालमू' वृक्ष के नीचे उन्हें 'सम्बोधि' प्राप्त हुई। तदनन्तर लोकानुग्रह के लिए उन्होंने उज्जयिनी, वैशाली, राजगृह तथा श्रावस्ती आदि तत्कालीन प्रसिद्ध नगरों में अपने उपदेशों से बहुसंख्यक जनता को अपना अनुयायी बनाया। अपने उपदेशों में उन्होंने करुणा, दया, अहिंसा और आत्मोन्नति की स्वतंत्रता पर बल दिया। काशी, कोशल, सौवीर तथा अवन्ति आदि जनपदों और लिच्छवी तथा मल्ल आदि गणतन्त्रों की जनता ने उनको हृदय से वरण किया। महावीर स्वामी के उपदेश इतने लोकहितकारी सिद्ध हुए कि मगध के नरेश बिम्बिसार तथा अजातशत्रु जैसे प्रभावशाली सम्राट् और राजगृह के अधिपति राजा श्रेणिक ने जैनधर्म के सदाचारों तथा नैतिक आदर्शों को अपनी नीति का अभिन्न अंग बनाया।

जीवों के लाभ तथा उपकार के लिए महावीर स्वामी दिन-रात में चार बार उपदेश किया करते थे। निरन्तर तीस वर्षों तक उन्होंने देश के विभिन्न अंचलों का पैदल भ्रमणकर जैनधर्म का प्रचार किया। अन्त में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को 72 वर्ष की अवस्था में, 467 वि० पूर्व को बिहार स्थित पावापुरी के बन में महावीर स्वामी ने मोक्ष प्राप्त किया।

श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक जैनधर्म में सदाचार को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। शरीर एवं आत्मा की पवित्रता एवं उन्नति के लिए राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, पाप और लोभ आदि दुर्व्यसनों का परित्याग करने के लिए जो आचरण किया जाता है उसी को 'सदाचार,' 'संयम' या 'सम्यक् चारित्र' कहा गया है। पापकर्मों का परित्याग और पुण्यकर्मों का अर्जन ही सदाचार है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध और अपरिग्रह—ये पुण्यकर्म हैं।

सदाचार का आधार दया है। दया के चार रूप है—1. प्रतिहिंसा की भावना न करके सहिष्णुता प्रदर्शित करना, 2. दूसरे की उन्नति पर प्रसन्नता प्रगट करना, 3. दुःखियों के प्रति सहानुभूति तथा उनका दुःख दूर करने के

लिए प्रयत्नशील होना, और 4. पापकर्म करने वालों के प्रति सहानुभूति एवं क्षमा का भाव रखना। इस चतुर्विध दया को जीवन में चरितार्थ करना ही सदाचार है।

सदाचार का दूसरा आधार अहिंसा व्रत है, जिसे जीवन का सर्वोत्तम आदर्श माना गया है। यद्यपि और धर्मों में भी अहिंसा के परिपालन पर बल दिया गया है, तथापि जैनधर्म में अहिंसा का विचार विशेष ढंग का है। एक हाथी से लेकर चींटी तक समस्त प्राणियों और राई से पर्वत तक समस्त अचेतन जड़ वस्तुओं को जैनधर्म मे जीव माना गया है। जब कि संसार मे प्रत्येक जड-चेतन वस्तु प्राणवान् है, तब जाने या अनजाने मे हिंसा होनी स्वाभाविक है। इन विभिन्न प्रकार की हिंसाओं से बचने के लिए वहाँ उपाय भी बताये गये हैं।

जैन संस्कृति का वैचारिक पक्ष अत्यन्त उदार, व्यापक और मानवतावादी है। उसमे देश, काल, द्रव्य और भाव के अनुसार प्रत्येक वस्तु का स्वरूप निर्णय किया गया है। जैन-दृष्टि से जीव-अजीव-संयुक्त जो अनन्त प्राणि-जगत् है, उसमें असंख्य जीवात्माएँ विद्यमान हैं। ये जीवात्माएँ अपने कर्मभोगों के अनुसार विभिन्न स्थितियों (जन्मों) को प्राप्त हुई हैं। किन्तु ज्ञानात्मक विकास के द्वारा वे अपने परमात्म-पद को प्राप्त करने की पूर्ण योग्यता रखती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में पूर्णता प्राप्तकर सुख, धर्म तथा ज्ञान का अधिकारी बन सकता है और इस पतनोन्मुख संसार से विमुक्त होकर सद्गति को प्राप्त कर सकता है। इसी मार्ग पर चलकर वह अपनी आत्मा की व्यापकता का दर्शन कर सकता है। जैनधर्म की मानवतावादी विचारधारा का सम्यक् विवेचन-'स्याद्वाद' सिद्धान्त मे हुआ है, जिसके अनुसार मानव के समस्त विरोधो तथा असमानताओं का पर्यवसान होकर एकता और समानता का व्यापक दृष्टिकोण बनता है। जगत् की अभिन्नता एवं अखण्डता का निरूपण करने वाला यह 'स्याद्वाद' सिद्धान्त वास्तव में मानव-मस्तिष्क की चरमोन्नति का सूचक है।

जैन संस्कृति में सदैव लोक-भावना की प्रधानता रही है। लोकानुग्रह और लोक-मंगल ही उसका एकमात्र अभिप्रेत रहा है। एकान्त मे बैठकर तत्त्व-चिन्तन करना या केवल वैयक्तिक आत्मबोध द्वारा उन्नत होना जैनधर्म का उद्देश्य नही रहा है। महावीर स्वामी और उनके अनुयायी भिक्षुओ ने देश के विभिन्न भागों मे भ्रमण तथा प्रत्येक वर्ग के लोगो से सम्पर्ककर उनकी भाषा और समझ के अनुसार उन्हें आत्मोन्नति का मार्ग बतलाया। उन्होंने मागधी भाषा को

अपने उपदेशों के लिए अपनाया। साहित्य-रचना के किए उन्होंने प्रचलित संस्कृत भाषा का उपयोगकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

लोक-जीवन के प्रति निष्ठावान् होने के कारण जैन संस्कृति का राष्ट्रीय चरित्र भी अत्यन्त उन्नत है। आदिकाल से ही जैन धर्मानुयायियो ने राष्ट्र की भावनात्मक एकता को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। धर्म, कला और साहित्य—तीनो माध्यमो से उन्होंने जन-जीवन में राष्ट्रीयता को उत्प्रेरित किया। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले उनके देवस्थान उनकी धार्मिक निष्ठा के परिचायक तो हैं ही, साथ ही उनकी स्थापना मे राष्ट्रीय संकल्प भी अनुस्यूत है। बीहड़ जंगलों और दुर्गम पर्वत प्रदेशों में मन्दिरों, मूर्तियों और गुफाओ का निर्माणकर उन्होने मातृभूमि की अखण्डता को बनाये रखने का सराहनीय प्रयत्न किया।

इस प्रकार जैनधर्म ने अतीत के सैकड़ों वर्षों से भारत के बौद्धिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नवजागरण मे अपना अविस्मरणीय योगदान किया।

जैनधर्म के प्रमुख दो सम्प्रदाय

श्वेताम्बर और दिगम्बर

भगवान् तथागत के निर्वाण के बाद जैसे बौद्धधर्म के क्षेत्र मे अनेक मत-मतान्तर और सम्प्रदायजन्य मतभेदों का प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होना प्रारम्भ हो गया था, वैसे ही महावीर स्वामी के बाद जैनधर्म के क्षेत्र में भी सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण प्रमुख दो दल बन गये थे। जैनधर्म के इस दलगत विभेद का बडा रोचक इतिहास है।

महावीर स्वामी के नौ प्रकार के शिष्य थे, 'स्थविरावली' मे जिन्हें 'गण' कहा गया है। उनके मुखिया को 'गणधर' कहा गया है। इस प्रकार के ग्यारह 'गणधर' थे, जिनके नाम थे : इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। इनके अतिरिक्त गोशाल और जमालि भी महावीर स्वामी के प्रमुख शिष्यो मे से थे। महावीर स्वामी की यह शिष्य-परम्परा 317 ई० पूर्व तक अटूट रूप में बनी रही।

महावीर स्वामी की शिष्य-परम्परा में जिन शिष्यों ने 'संघ' का कार्य सुचारु रूप से संचालित किया और अपने अच्छे कार्यों के कारण लोकप्रियता

को अर्जित किया उनमें आर्य भद्रबाहु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 317 ई० पूर्व मे संघ के संचालन का कार्य उन्होने अपने हाथों मे लिया। सघ की स्थिति को दृढ़ करने के उपरान्त सात वर्ष बाद 310 ई० पूर्व मे आचार्य भद्रबाहु ने सघ के संचालन का कार्य अपने योग्य शिष्य स्थूलभद्र के ऊपर निर्भर कर स्वयं दक्षिण की ओर भ्रमण के लिए चले गये। आचार्य भद्रबाहु के यात्रा-प्रवास के अनन्तर स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र मे जैन साधुओ की एक बृहत् सभा का आयोजन किया। उसमें जैनो के अग-ग्रन्थों का नये सिरे से संग्रह करने के लिए योजनाएँ पारित की गयी।

कुछ दिन बाद भद्रबाहु जब अपनी दक्षिण यात्रा से वापिस आये तो उनके समक्ष पाटलिपुत्र की उक्त विज्ञसभा द्वारा पारित प्रस्तावों को स्वीकृति के लिए रखा गया। आचार्य भद्रबाहु ने उन पर स्वीकृति देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति मे एक नयी बात और हुई। स्थूलभद्र की आज्ञा से जैन साधुओं ने वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया था। भद्रबाहु को यह बात भी उचित प्रतीत न हुई। फलतः यह विवाद उग्र रूप धारण करने लगा। अन्ततः आचार्य द्रबाहु अपने विश्वासी कुछ शिष्यो को साथ लेकर अन्यत्र चले गये और वे अपने पुराने आचरण पर ही दृढ रहे।

इस प्रकार जैन साधुओ के बीच दो दल हो गये : एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर। जैनियो के इन दो सम्प्रदायो का आरम्भ 300 ई० पूर्व मे हो चुका था। इन दोनो सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्य भद्रबाहु का परलोकवास 297 ई० पूर्व मे और स्थूलभद्र का 252 ई० पूर्व मे हुआ।

किन्तु उक्त दोनो प्रवर्तक आचार्यों का परलोकवास होने के अनन्तर भी जैन मुनि-समाज मे 300 ई० पूर्व में रहन-सहन और सैद्धान्तिक मतभेद के कारण जो दो दल बन गये थे, आगे चलकर उनमे समझौता होने की अपेक्षा उग्र मतभेद बढता ही गया।

बौद्धधर्म की भाँति जैनधर्म का उदय भी यद्यपि एक ही महान् उद्देश्य को लेकर हुआ था; किन्तु कुछ समय बाद ही वह इतनी शाखाओ मे विभाजित हो गया, जिनके कारण अपने मूल उद्देश्यों को अधिक लोकप्रिय बनाने की अपेक्षा उनका विकास ही अवरुद्ध हो गया। ऊपर से देखने पर यही कहा जा सकता है कि अनेक शाखा-सम्प्रदायों मे विभाजित होकर जैन और बौद्ध दोनो धर्मों ने अपनी-अपनी उन्नति की; कुछ अंशों में, विशेषतः

साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में, इससे अच्छी परम्परा स्थापित हुई; किन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने से यह स्पष्ट एवं सत्य है कि इन शाखा-सम्प्रदायों के कारण दोनों धर्मों की गति क्षीण होती गयी।

धर्मसंघ

जैनधर्म की जिन शाखा-उपशाखाओं का निर्देश ऊपर किया जा चुका है उन सब की नामावली प्रस्तुत करना और उन सब के उद्‌भव के कारणो पर प्रकाश डालना यहाँ सम्भव नही है; किन्तु साहित्य के क्षेत्र मे, विचारो के क्षेत्र मे और आचरण के क्षेत्र मे अब तक जो स्थिति रही है उनके परिचायक मूलसंघ, काष्ठासघ, तेरापथ, यापनीयसंघ, गौडसंघ, मयूरसंघ, नन्दिसंघ, निर्ग्रन्थसंघ, कूर्चकसंघ, वीरसेणाचार्यसघ, पुन्नाटसंघ, किन्नूरसंघ, वलात्कारसंघ, सेनान्वय, तापगच्छ, सरस्वतीगच्छ, वागड़गच्छ और लाटबागडगच्छ आदि जैनधर्म की ऐसी शाखाएँ हैं, जिनके कारण जैनधर्म बहुमुखी धर्म के रूप में किसी समय भारत की इस भूमि पर अपनी उच्च प्रगति पर रहा; किन्तु जिनमे से अधिकांश विचारधाराएं अपनी अस्थिरता के कारण थोडे ही समय मे अपने अस्तित्व को गवाँ बैठी।

सक्षेप मे जैनधर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर, इन दो प्रमुख विचारधाराओ और उनके अन्तर्गत की अनेक विचारधाराओ का यही इतिहास है।

जैनधर्म और बौद्धधर्म की एकता

परम्परा से प्रवर्तित वैदिक धर्म की महानताओं को जब पुरोहित कहे जानेवाले वर्ग ने सीमित, सकीर्ण एव स्वार्थसाधन का माध्यम बना लिया था तब उसके विरुद्ध जिन प्रगतिशील लोगो ने आवाज लगायी वे ही जैन और बौद्ध कहे गये। इस दृष्टि से जैन-बौद्धों के धार्मिक दृष्टिकोण प्रायः एक ही रहे हैं; किन्तु दर्शन के क्षेत्र में भी उनके सिद्धान्त कुछ समझौता एवं समानता का उद्देश्य लेकर विकसित हुए। उन्ही का प्रतिपादन करना यहाँ अभीष्ट है।

कर्मफलवाद और पुरोहितवाद के प्रतिपादक ब्राह्मण-ग्रन्थों का जो विरोध उपनिषदों में प्रकट हुआ था, उसका प्रभाव ई० पूर्व छठी शताब्दी में एक आलोचनात्मक भावना के रूप में प्रकट हुआ। भारत में यह बौद्धिक संघर्ष

का युग था। वेदों और उपनिषदों की विचारधारा एक रूप में नहीं रही। उनके भीतर से एक व्यक्ति या सम्प्रदाय की नही, अपितु एक बृहद् जन-मानस की चिन्ताधाराएँ समन्वित थी। ये चिन्ताधाराएँ कभी-कभी विरोधी भी रहीं। इन धाराओं में तत्कालीन विचारकों को जो अधिक रुचिकर प्रतीत हुई, उसने उन्हीं को लेकर अपने सिद्धान्तों का स्वतन्त्र विकास किया। इसी कारण जैन, बौद्ध तथा अन्य दर्शन-सम्प्रदायों का जन्म हुआ। लेकिन एक ही स्रोत से उत्पन्न होने के कारण, इन सभी धर्मों की, ब्राह्मणधर्म के साथ समानता बनी रही और इन सभी धर्मों पर इस देश की रुचियों का भी प्रभाव पड़ता रहा।

यद्यपि उपनिषद् एक प्रकार से वेदविहित सिद्धान्तो के समर्थक रहे हैं; किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों की भोगवादी विचारधारा के कट्टर विरोधी, या दूसरे शब्दों में वेदोक्त धर्म के आलोचनाप्रधान ग्रन्थ होने के कारण वे जैन-बौद्ध दर्शनो के अधिक निकट हैं; किन्तु वे वेदनिन्दक या वेद-अविश्वासी न होकर उनके प्रबल पक्षपाती हैं। वस्तुतः देखा जाय तो जैन-बौद्धों ने जिस आलोचना-पद्धति को अपनाया और नास्तिकवाद की श्रेणी मे अपने को प्रतिष्ठित किया उसके मूल हेतु आचार्य चार्वाक और आचार्य बृहस्पति के विचार थे।

किन्तु जैनधर्म और बौद्धधर्म के अधिष्ठाता महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव ने जिस नास्तिकवाद को अपनाया वह बृहस्पति तथा चार्वाक के सिद्धान्तो से प्रसूत एवं उनका अविकल रूप न होकर उनका सस्कृत, परिष्कृत रूप था। बृहस्पति तथा चार्वाक के अहिंसावादी दृष्टिकोण को तो इन दोनो महापुरुषो ने ग्रहण किया; किन्तु उनमे जो भोगवादी पक्ष की प्रधानता थी उसको उन्होंने छोड दिया; बल्कि यह कहा जाय कि अन्त तक जैनो और बौद्धों की विचारधाराएँ बृहस्पति एव चार्वाक के भोगवाद के सर्वथा विरुद्ध रही, तो अनुचित न होगा।

'गीता' ऐसा पहला ग्रन्थ है, जिसमें ज्ञानेच्छु आस्तिको के विचारो का समर्थन और भौतिकवादी नास्तिकों के विचारो की विरोधी भावनाओ पर मौलिक तथा गम्भीर ढंग से विचार किया गया है। किन्तु इसके अतिरिक्त 'गीता' में एक नयी बात भी कही गयी है, कर्मकाण्ड एवं पुरोहितवाद के विरुद्ध। वैदिक यज्ञो की उपयोगिता के सम्बन्ध मे यद्यपि गीताकार ने अपना स्पष्ट मन्तव्य नहीं प्रकट किया है; फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञों की मान्यता का उसमें समर्थन नही किया गया है। 'गीता' के इस अस्पष्ट मन्तव्य की व्याख्या

जैनों और बौद्धों ने की। जैन और बौद्ध दर्शनों की इस सम्बन्ध मे कुछ मौलिक मान्यताएँ भी हैं। जैन दर्शन मे जहाँ आस्तिक दर्शनों के व्यावहारिक पक्ष का ही खण्डन किया गया है, बौद्ध दर्शन में वहाँ आस्तिकों के व्यावहारिक और तात्त्विक, दोनों मान्यताओं का सयुक्ति-युक्त खण्डन किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनों दर्शनों को नास्तिक श्रेणी में रखा गया है, यद्यपि दोनों दर्शनों ने कहीं भी अपने को नास्तिक नहीं कहा है। नास्तिकवाद के प्रवर्तक बृहस्पति और चार्वाक प्रभृति आचार्यों ने अपने सैद्धान्तिक विचारो की पुष्टि के लिए जिन युक्तियो को प्रस्तुत किया है, ठीक उन्ही का, उसी रूप में समर्थन जैन-बौद्ध दर्शनों ने नहीं किया है। जैन और बौद्ध दर्शनों के अनुसार नास्तिक वह है, जो परलोक का विरोधी, धर्माधर्म और कर्त्तव्याकर्त्तव्य से विमुख है। परलोक, धर्माचरण और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ आस्तिक दर्शनों मे दृष्ट हैं, जैन और बौद्ध दर्शनो में उन्ही का प्रतिपादन हुआ है।

जैन और बौद्ध दर्शनों का नास्तिक श्रेणी में परिगणित होने का एकमात्र कारण उनका वेदनिन्दक होना है, क्योंकि 'मनुस्मृति' मे स्पष्ट कहा गया है कि 'नास्तिको वेदनिन्दकः'। आस्तिक दर्शन वेदवाक्यो को अन्तिम प्रमाण मानते हैं और जैन-बौद्ध वेदों की सत्ता को बृहस्पति तथा चार्वाक के मतानुसार कल्पित मानते हैं। इसीलिए उनको नास्तिक कहा गया है। इसके साथ ही वे आस्तिकवादी विचारों के उतने ही विरोधी हैं, जितने जडवाद के। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध दर्शन-सम्प्रदाय आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं के बीच के दर्शन हैं। जैन दर्शन मे तो ब्राह्मण दर्शन की बहुत-सी बातो को उसी रूप में स्वीकार किया गया है।

जैन और बौद्ध, दोनो दर्शन एक स्थिर चैतन्य की सत्ता पर विश्वास करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर बल देते हैं और दोनों ही वेद की प्रामाणिकता पर अविश्वास करते हैं। व्यवहार और नीति की दृष्टि से जैन दर्शन मे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है। जैन योग से उपनिषदों के योग और बौद्धो के योग की पर्याप्त समानता है। जैन दर्शन में शून्यागारों में ध्यान करने का विधान; हिंसा, असत्य और चोरी आदि से विरति; सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य पर निष्ठा; कर्मों का विभाजन और कर्मपथ पर चलकर मोक्ष की परमावस्था को प्राप्त करना आदि

बातें बौद्ध दर्शन से समानता रखती है। बौद्धो के मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा सम्बन्धी विचारों को जैन दर्शन मे भी स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार आचारों और विचारो, दोनो दृष्टियों से जैनधर्म तथा बौद्धधर्म में पर्याप्त समानता है।

जैनकला

जैनधर्म और बौद्धधर्म का मानव जाति के उत्थान में तो उल्लेखनीय योगदान रहा ही है; किन्तु कला के इतिहास में भी उनकी देन कुछ कम नही है। यद्यपि बौद्धकला की अपेक्षा जैनकला का क्षेत्र सीमित रहा है, फिर भी तत्कालीन सांस्कृतिक क्षेत्र में उसने बडी लोकप्रियता प्राप्त की।

जैनधर्म के आगम-ग्रन्थो की कला-विषयक सूची मे 'रूपगत' का भी एक नाम है, जिसके अन्तर्गत मूर्तिकला और चित्रकला दोनों का समावेश हुआ है। कला में इन दोनो रूपो के सृजन तथा उन्नयन मे जैन कलाकारो तथा शिल्पियो का अपूर्व एव अद्भुत कौशल सर्वत्र देखने को मिलता है। जैनागमो मे जैन मन्दिरों की स्थापना के साथ-साथ जैन मूर्तियों के निर्माण का भी उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के प्राचीनतम उदाहरणो में जैन तीर्थंकरो की मूर्तियां विशेष स्थान रखती हैं। कलिंगराज खारवेल के हाथीगुम्फा-शिलालेख (200 ई० पूर्व) से विदित होता है कि लगभग 400-500 ई० पूर्व मे भी मूर्तियों की स्थापना होने लगी थी। अपनी धार्मिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए जैनों ने बौद्धो की ही भाँति देश के विभिन्न अंचलो मे कई गुफाओ पर मूर्तियाँ अंकित की और मन्दिरों का निर्माणकर उनमें भव्य एवं कलात्मक मूर्तियों की स्थापना की। अभय और वरद की मुद्रा में अनेक जैन प्रतिमाएँ सुन्दरता मे अनुपम हैं। जैन मूर्तियो की पीठिकाओ पर अंकित नर्तकियो की छवियाँ जैनकला के नृत्य-संगीत की लोकप्रियता को भी प्रकट करती हैं। सतना से प्राप्त अम्बिका देवी की मूर्ति ,जो सम्प्रति प्रयाग संग्रहालय में है, भारतीय तक्षण काल की सर्वोत्तम कृति है।

जैन कलाकारों ने प्रतिमाशास्त्र के विधि-विधानों पर विशाल मन्दिरो तथा भव्य प्रतिमाओं का निर्माणकर कला की परम्परा को समृद्ध किया। प्रस्तर तथा धातु से निर्मित ये जिन मूर्तियाँ न केवल जैनधर्म की भक्ति-भावना को, अपितु उनके निर्माता कलाकारों की गम्भीर कलासाधना को भी द्योतित करती हैं। कुषाणयुग और गुप्तयुग के लगभग पाँच सौ वर्षों के अन्तराल में

जैन मूर्तिकला का स्वर्णयुग रहा है। उसके बाद कन्नौज के हर्षवंश (600 ई०) से लेकर दक्षिण के पल्लवों, चोलों और चालुक्यों के समय (1200 ई०) तक निरन्तर उनका निर्माण होता रहा। पल्लवराज महेन्द्रवर्मन् के समय (7वीं शती) निर्मित सितनवासल गुफा की पांच जिन मूर्तियाँ जैनकला की महत्त्वपूर्ण देन है।

मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला के क्षेत्र मे जैनों का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतीय चित्रकला के इतिहास में जैन चित्रकला न केवल अपनी समृद्ध थाती के लिए, अपितु प्राचीनता के लिए भी प्रसिद्ध है। भारतीय चित्रकला की समस्त शैलियो में 15वी शती ई० से पहले के जितने भी चित्र प्राप्त हैं, उनमें मुख्यता तथा प्राचीनता जैनचित्रो की हैं। प्राचीन महत्त्व के ये जैनचित्र दिगम्बर जैनियों से सम्बद्ध हैं, जिन्होंने अपने सम्प्रदाय-सम्बन्धी ग्रन्थों को चित्रित करवाने में बडी रूचि ली। इन आरम्भिक जैनचित्रों को विद्वानों ने पश्चिमी, गुजरात तथा अपभ्रशशैली नाम दिया है।

ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से 10वी शती ई० से लेकर 15वी शती ई० तक की चित्रकला-परम्परा को जीवित बनाये रखने में जैन कलाकारों का सर्वाधिक योगदान रहा है। जैन चित्रकला के मुख्यतः तीन माध्यम हैं ताडपत्र, कपडा तथा कागज। ताडपत्र पर निर्मित चित्रों में 'कल्पसूत्र', 'कालकाचार्य कथा' और 'सिद्धहेम-व्याकरण' की सचित्र प्रतियो का नाम उल्लेखनीय है। इन ताड़पत्रीय ग्रन्थों में पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, ऋषभनाथ और अन्य तीर्थंकरो के चित्र बने हैं, जिनकी सूक्ष्म रेखाएँ देखते ही बनती हैं।

ताड़पत्रों के अतिरिक्त कागज की पोथियो पर भी जैन कलाकारो ने चित्र बनाये। इस प्रकार की अधिकतर पोथियाँ जैनधर्म से ही सम्बद्ध हैं; किन्तु 'मार्कण्डेय पुराण' तथा 'दुर्गा सप्तशती' आदि ग्रन्थों के चित्रण में भी जैन कलाकारो का योगदान रहा। उन्होंने 'रति रहस्य' और 'कामसूत्र' आदि ग्रन्थों के आधार पर भी कागज के फुटकर चित्र निर्मित किये। कागज की जो पोथियाँ चित्रित की गयी हैं उन्हें ताडपत्रीय आकार में काटकर उन पर लेखन तथा चित्रण का कार्य किया गया है। इन पोथियों पर मूल्यवान् स्वर्ण तथा रजत रंगों का उपयोग किया गया है।

ताड़पत्र और कागज पर बने चित्रो में एक विशेष अन्तर देखने को मिलता है। ताड़पत्रों पर जो चित्र बनाये गये, स्थानाभाव के कारण उनमें रेखाओं की बारीकी और कलाकार का हस्त-कौशल देखने को मिलता है; किन्तु कागज पर बने

चित्रों में, पर्याप्त स्थान होने के कारण, सूक्ष्मता एवं प्रतिमा का द्योतन कुछ शिथिल पड़ गया है। इसलिए कागज की सुलभता एवं सुविधा के कारण चत्र रचना मे तो अधिकता हुई; किन्तु उनमें कौशल की कमी होने लगी।

ताड़पत्र और कागज के अतिरिक्त वस्त्र तथा पटों पर भी जैन-कलाकारो ने चित्रण किया। इन कलाकारों को वस्त्रचित्रों की प्रेरणा सम्भवतः बौद्धकला से प्राप्त हुई थी। जैन शैली का एक महत्त्वपूर्ण वस्त्रचित्र वाशिंगटन की फ्रीयर आर्ट गेलरी में सुरक्षित है, जो कि 'वसन्तविलास' (1508 वि० में रचित) पर आधारित है और जिसे विश्व चित्रकला के इतिहास में दुर्लभ कलाकृति माना जाता है। 'हम्जानामा' के कपड़े पर निर्मित चित्रों के सम्बन्ध में श्री पर्सी ब्राउन का कथन है कि प्रारम्भ मे सुन्दर कागज के प्रभाव में चित्रों को निर्मित करने के लिए कपड़े का आश्रय लिया गया। यह स्थिति 10वी तथा 11वी शती तक बनी रही। तदनन्तर 12वी से 14वीं शती के बाद कागज की सुलमता के कारण वस्त्रचित्रों का प्रचलन कम हो गया। इस प्रकार कपड़े पर निर्मित होनेवाले चित्रो या ग्रन्थों की परम्परा बहुत प्राचीन है। बृहद् चित्रो के लिए कपड़े का उपयोग कागज-निर्माण के बाद भी होता गया। इस प्रकार के वस्त्रचित्रो का निर्माण लगभग 18वी शती तक निरन्तर होता गया। वस्त्रों को बनाते समय भी उन पर रंग-विरंगें डोरो से चित्रण किया जाता था। 18वी शती मे निर्मित इस प्रकार के वस्त्रचित्र उपलब्ध हैं, जिनमें अनुपम भारतीय कौशल दर्शित है। इस प्रकार का एक बहुमूल्य वस्त्रचित्र ब्रिटिश म्यूजियम मे भी सुरक्षित है।

जैन चित्रकला का रचना विधान

शैली एवं संरचना की दृष्टि से जैन चित्रकला का अपना पृथक् महत्त्व है। उसका चक्षु-चित्रण उसकी विशिष्टता का द्योतक है, जो कि प्रत्येक दर्शक को सहज ही मे आकर्षित कर लेता है। जैन चित्रकला का यह चक्षु-चित्रण वस्तुतः जैन मूर्तिशिल्प का रिक्थ है, जिसे कि विशेष रूप से जैन प्रतिमाओं मे देखा जा सकता है। उसका प्रभाव राजपूत तथा मुगल शैलियों पर भी परिलक्षित हुआ। रगो और रेखाओ के संयोजन मे जैन कलाकारों की सजगता प्रशसनीय है। ताडपत्रो पर अकित चित्रों में प्रधानतः पीले रग का उपयोग किया गया है, यद्यपि कही-कही स्वर्ण रग को भी सयोजित किया गया है। कागज के चित्रो की पृष्ठभूमि पीले तथा लाल रंग की है और वस्त्रचित्रों पर उनके छोटे-छोटे चिन्ह अंकित कर दिये गये हैं।

जैन चित्रकला में धोतियों की सज्जा अत्यन्त आकर्षक है। प्रारम्भिक चित्रों में जैन साधुओं के वस्त्रों को मोती जैसे श्वेत या स्वर्णिम रंग में दिखलाया गया है। कई चित्रों में ईरानी प्रभाव के कारण मुगलकला की झलक भी देखने को मिलती है। पुरुषो के वस्त्रो में धोती, दुपट्टा और कटिपट प्रमुख हैं। इसी प्रकार स्त्रियों के चित्रो मे चोली, चूनर, रंगीन धोती और कटिपट का प्रयोग किया गया है। आभूषणों में मालाओं तथा मुकुटों की प्रधानता है। स्त्रियाँ माथे पर टिकुली, कानो में कुण्डल और बाहो मे बाजूबन्द पहिने हैं। प्रायः सभी जैनचित्र लम्बी रत्नमालाओं से अलकृत हैं।

जैनचित्रो की आकृति एक चश्म, डेढ़ चश्म या दो चश्म है। एक चश्म या डेढ़ चश्म वाले चित्रो में ठोढ़ी सेब की तरह बाहर की ओर उभरी हुई है और उसके नीचे की रेखा में गौरव, गर्व तथा स्वाभिमान को प्रकट करने के उद्देश्य से भोल दे दिया गया है। दो चश्म आकार के खड़े हुए जैन मुनियों की ठोढी पर त्रिशूल की भाँति तीन रेखाएँ अंकित हैं। भावों तथा नयनों का फैलाव समान है। एक चश्म तथा डेढ़ चश्म चेहरों में नासिका शुक-चंचु की भाँति नुकीली है और अनुपात से अधिक लम्बी है। नेत्र उठे तथा बाहर की ओर उभरे हुए हैं। उनकी लम्बाई कर्ण प्रदेश को स्पर्श करती है। नेत्रो तथा नासिका के अंकन मे जैन चित्रकारो की विशेष कुशलता देखने को मिलती है।

जैन चित्रकला तथा हिन्दू चित्रकला का विशेष रूप से राजपूत चित्रकला के साथ सम्बन्ध था। गुजरात की श्वेताम्बर कलम से जैन चित्रकला की उत्पत्ति हुई थी। राजपूताना तथा मध्यभारत में सर्वांगीण विकास प्राप्त करने के पश्चात् कालान्तर मे वह राजपूत कलम में समा गयी। जैन कलाकार राजपूत कलम की ओर लगभग 15वी शती से ही आकर्षित होने लग गये और बाद में मुगल चित्रकला मे ईरानी शिल्प के बढ़ते हुए प्रभाव से वह भी अछूती न रह सकी। फलतः राजपूत चित्रकला की बढ़ती हुई समृद्धि में जैन चित्रकला की परिणति हो गयी। इस रूप में जैन चित्रकला, राजपूत चित्रकला के साथ निरन्तर सम्पर्क स्थापित करती गयी। किन्तु कुछ बातों में दोनो की भिन्नता बनी रही। हिन्दू राजपूत कला जब स्थूल मांसलता की ओर अग्रसर हुई और उसमें राग-रागिनी, नख-शिख तथा बारहमासा आदि विषयक चित्रों का अम्बार लगने लगा तब भी जैनकला अपनी परम्परागत धार्मिकता में अडिग बनी रही। अन्त में जैन चित्रकला ने अपना उत्तराधिकार राजपूत कलम को सौंपकर इतिहास में अपनी गौरवशाली परम्परा को सुरक्षित कर दिया।

जैनकला में लोकानुराग

जैनकला इस दृष्टि से अपनी पृथक् विशेषता रखती है कि उसमें इस राष्ट्र के लोक-जीवन का सजीव एवं यथार्थ अभिव्यंजन हुआ है। ऐसा कदाचित् इसीलिए सम्भव हुआ कि वह राज्याश्रयों के विलासमय वातावरण से अछूती रहकर आरम्भ से अन्त तक अपनी धार्मिक सीमाओं मे आबद्ध रहकर सात्त्विकता, पवित्रता को संजोये रही। उसकी आकृतियो, रेखाओ और रगों की रचना प्रक्रिया मे लोककला के तत्त्व निहित हैं। जैनकला के लोकाधार 'कल्पसूत्र' तथा 'आचारांगसूत्र' मे वर्णित तीर्थंकरों की जीवनियाँ रही हैं। ये कथाएँ अपनी मनोरंजकता के साथ-साथ लोक-आस्थाओं को भी ध्वनित करती हैं।

तीर्थंकरों के दोनों पार्श्वों में यक्ष-यक्षिणियो के युगल चित्र वस्तुतः जैन तीर्थकरो और कलाकारो के लोक-जीवन के प्रति अनुराग के प्रतीक हैं। जैन साहित्य के निर्माताओ ने जिस प्रकार लोक-भाषाओ को अपनाकर लोक-जीवन के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त किया उसी प्रकार जैन कलाकारो ने अपनी कला-कृतियों में लोक-विश्वासों को अभिव्यजितकर लोक-सामान्य के प्रति अपनी गहन अभिरुचि को प्रकट किया है।

● ● ●

दस/महाजनपद युग

राष्ट्र का संगठन

राष्ट्र, जनपद और देश

प्राचीन ऐतिहासिक तथा साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि सभी युगो के विचारको, शासको और धर्माचार्यों ने राष्ट्र को सर्वोपरि महत्त्व दिया। वैदिक युग मे राष्ट्र की सुरक्षा-व्यवस्था और उसके संचालन-नियन्त्रण के लिए सभा, समिति, तथा नरिष्टा आदि विभिन्न प्रकार की परिषदो का गठन किया गया। इन परिषदों मे विधिवेत्ता विद्वान्, धार्मिक नेता और समाज के विभिन्न वर्गों के सुयोग्य लोगो का प्रतिनिधित्व होता था। राष्ट्र की सुरक्षा-व्यवस्था का समस्त दायित्व राजा का होता था। अथर्ववेद की एक ऋचा (११।३।५) मे कहा गया है कि ब्रह्मचर्य तथा तप द्वारा ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है (ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति)। राजा के अतिरिक्त जनता का भी राष्ट्र से घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ करता था, क्योकि 'ऐतरेय ब्राह्मण' (८।२६) मे जनता को ही राष्ट्र की विधायिका शक्ति कहा गया है (राष्ट्राणि वै विशः)।

वैदिक भारत मे राष्ट्र को सर्वोपरि शक्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है, जिसको मनुष्य ही नही, देवता भी नमन करते हुए पाये जाते है। अथर्ववेद (१६।४१।१) में राष्ट्र के महत्त्व का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि 'समस्त जनता के कल्याण की इच्छा रखने वाले आत्मज्ञानी ऋषियो ने आरम्भ मे दीक्षा लेकर तप किया। उसके फलस्वरूप राष्ट्र, बल और ओज का निर्माण हुआ (ततो राष्ट्र बलमोजश्च जातम्)। इसीलिए समस्त देव वर्ग को चाहिए कि वह राष्ट्र की अभिवन्दना करें।'

वैदिक ऋषियों द्वारा अनेक ऋचाओ में राष्ट्र तथा राष्ट्रधर्म को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए उसके कल्याण-मंगल के लिए शुभकामनाएँ प्रकट की गयी हैं। ऋग्वेद (१०।७३।५) के एक मत्र में कहा गया है कि 'वरुणदेव, बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि चारों देवता राजा को स्थिरता एवं दृढ़ता प्रदान करे।' इसी प्रकार यजुर्वेद (२२।२२) में कहा गया है कि हमारे राष्ट्र में धनुर्धर, लक्ष्यभेदी और

महारथी क्षत्रिय वीर उत्पन्न हों (आ राष्ट्रे राजन्यः इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्) (यजुर्वेद ६।२३) की एक अन्य ऋचा में यह निर्देश किया गया है कि राष्ट्र का नेतृत्व करनेवाले लोग (राष्ट्र-रक्षा के लिए सदा जागरित रहें। मातृभूमि के प्रति पुत्रवत् आचरण करते हुए (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः—ऋग्वेद १२।१।१२) वैदिक कवि का निर्देश है कि 'उसकी सेवा में वह सदा तत्पर रहे' उपसर्प मातरं भूमिम्—ऋग्वेद १०।१६।१)। इस दृष्टि से ऋग्वेद के 'पृथ्वीसूक्त विशेष रूप से द्रष्टिव्य है।

वैदिक राष्ट्र की सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियो का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उसके संगठन और नियमन की व्यवस्था आज की अपेक्षा कुछ भिन्न थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ मे उसके पाँच अंग निश्चित किये गये थे, जिनके नाम थे, कुल (परिवार), ग्राम, विश् (कबीला), जन (जनपद) और राष्ट्र। ऋग्वेद तथा अन्य सहिताओ और परवर्ती वैदिक साहित्य मे राष्ट्र के इन पाँच अगो या विभागो का विस्तार से वर्णन किया गया है। राष्ट्र की प्रथम इकाई परिवार होता था और उसके बाद ग्राम, उससे बडा विश् (वर्ग), उससे भी बडा जनपद और फिर राष्ट्र—इस रूप मे वैदिक भारत की सामाजिक व्यवस्था विभाजित थी। ऋग्वेद (१।११४।१) के एक मंत्र में कामना की गयी है कि इस ग्राम के सब निवासी नीरोग एव हृष्ट-पुष्ट हो (पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातरम्)। राष्ट्र-व्यवस्था के लिए धार्मिक तथा न्यायिक आदि जिन विभिन्न परिषदों का गठन किया गया था, उनका आधार राष्ट्र के उक्त पाँचो अंग थे।

वेदों तथा वैदिक साहित्य, पुराणो और 'महाभारत' आदि मे राष्ट्र एवं जनपद की उन्नति, शासन-व्यवस्था, सीमा-विस्तार और स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में अनेक तरह के विवरण देखने को मिलते हैं। ये विवरण ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। स्मृतियो मे भिन्न-भिन्न जनपदो तथा देशों के निवासियो के लिए पृथक्-पृथक् आचारो की व्यवस्था की गयी है। वहाँ उनकी प्रकृति तथा स्थिति के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला गया है। पुराणो तथा 'महाभारत' में उनके सम्बन्ध मे कुछ अधिक विस्तार से कहा गया है। इन सभी विवरणो का समन्वयात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय समाज भिन्न-भिन्न देशों, प्रदेशो तथा जनपदों मे विभाजित था और उनका प्रशासन एक सर्वानुमोदित संहिता के द्वारा सम्पन्न होता था। शासन की दृष्टि से समस्त राष्ट्र प्राच्य, उदीच्य, दाक्षिणात्य, पौर्वात्य आदि

दिशा-भेद के आधार पर विभक्त था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (८।१४) में 'ऐन्द्र महाभिषेक' के प्रसंग में विभिन्न जनपदों के राज्याभिषेक की परम्पराओं का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि प्राच्यों में साम्राज्य के लिए, दाक्षिणात्यों में भोज्य के लिए, पाश्चात्यो मे स्वराज्य के लिए, उदीच्यों मे वैराज्य के लिए और ध्रुवमध्य दिशा मे राज्य के लिए राज्याभिषेक की व्यवस्था थी। इस प्रकार दिशाओं के आधार पर जनपदो की व्यवस्था की गयी थी। एक-एक दिशा के अन्तर्गत अनेक जनपद सम्मिलित थे; किन्तु उनकी शासन-व्यवस्था केन्द्रित थी।

वैदिक युग में ऐसे अनेक जनपदो का अस्तित्व प्रकाश में आ चुका था, जिनको राजनीतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था और जिन्होने भारत के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक अभ्युदय में उल्लेखनीय योगदान किया। इस प्रकार के जनपदो का विवरण निम्नलिखित है।

अग—अंग जनपद का प्रथम उल्लेख अथर्ववेद (५।२२।१४) में गान्धारों तथा मागधों के साथ हुआ है। दोनो जनपद उत्तर वैदिक युग में प्रकाश में आये। अथर्ववेद के उक्त सन्दर्भ में उन्हे दूरस्थ प्रदेश कहा गया है। उन्हे दूरस्थ प्रदेश कहने का यह आशय हो सकता है कि सम्भवतः वे उन जनपदों से पृथक् थे, जो आर्य सस्कृति के अन्तर्गत थे। 'गोपथ ब्राह्मण' (२।६) में भी मगधों के के साथ अगों (अंगमागधाः) का उल्लेख हुआ। इस प्रकार अंगो का सम्बन्ध गान्धारों और मागधों से था।

'रामायण', 'महाभारत' तथा पुराणो मे भी अग जनपद तथा वहां के राजाओ का उल्लेख हुआ है। 'वायुपुराण' (अ० ८५।८६।६६) के अनुसार अनुवंशीय राजा बलि के पाँच पुत्रो—अंग, बंग, कलिंग, सुम्ह ने पूर्व और पूर्व-दक्षिण मे पाँच जनपद राज्यो की स्थापना की थी।

वर्तमान भागलपुर से मुगेर तक के विस्तृत भू-भाग पर अंगों का शासन था। कुछ विद्वानो ने भागलपुर से दो मील पश्चिम की ओर चाम्बापुरी को अग जनपद की राजधानी बताया है। किन्तु अद्यतन खोजो के आधार पर भागलपुर से २४ मील दूर पत्थरघाटा पहाड़ी के निकट आधुनिक चम्पापुर ही प्राचीन चम्बापुरी थी।

अन्ध्र—'ऐतरेय ब्राह्मण' (७।१८) के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि एक बार जब ऋषि विश्वामित्र ने अपने पचास पुत्रों को यह आदेश दिया कि वे शुनःशेप को अपना भाई स्वीकार करें, तब उनके इन्कार करने पर

विश्वामित्र ने उन्हें शाप दे दिया कि वे अन्ध्र, पुण्ड्र आदि आर्येतर जातियों में परिगणित हों। इस प्रकार अन्ध्रों का अस्तित्व अति प्राचीन है। उत्तर में गोदावारी से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी से घिरा हुआ भू-भाग अन्ध्र जनपद के अन्तर्गत था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर (पैठन) थी। वर्तमान आन्ध्र प्रदेश यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से कुछ भिन्नता रखता है; किन्तु उसका सम्बन्ध प्राचीन अन्ध्र जनपद से ही बना हुआ है।

कम्बोज—कौटिल्य ने शस्त्र, कृषि और व्यापार द्वारा जीवकोपार्जन करने वाले गणतन्त्रो मे कम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय तथा श्रेणी आदि जनपदो का उल्लेख किया है। प्राचीन ग्रन्थो और शिलालेखो में भी उत्तरापथ के कम्बोज जनपद का उल्लेख हुआ है। अशोक के शिलालेखो मे काम्बोजो का उल्लेख गान्धारो के बाद हुआ है। पाणिनि (अष्टाध्यायी ४।१।१७५) में काम्बोजो का उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है उनमे एकराजशासन प्रणाली प्रचलित थी। यास्क (निरुक्त २।१।३।४) ने लिखा है कि काम्बोजों की मातृभाषा संस्कृत थी; किन्तु उसमे पड़ोसी ईरानियो की भाषा के रूप भी मिल गये थे। कालिदास ने इस जनपद के अखरोट वृक्षो का वर्णन किया है।

हिमालय तथा सिन्धु नदी के बीच हिन्दुकुश पर्वत तक इस जनपद का अस्तित्व व्याप्त था। कम्बोजो का मूल स्थान पूर्वी अफगानिस्तान (काबुल नदी, वर्तमान कम्बोह का तट) था। आधुनिक खोजों के अनुसार वर्तमान राजौरी या रामपुर उसकी राजधानी थी। आधुनिक पामीर ही प्राचीन कम्बोज था।

काशी काश्य या काशि—काशी जनपद का उल्लेख वेदो से लेकर परवर्ती ग्रन्थो तक व्याप्त है। उसकी गणना उत्तर वैदिक युग के प्रमुख जनपदो मे है। विभिन्न ग्रन्थो मे कोसलो और विदेहो के साथ काश्य लोगो का उल्लेख हुआ है। ये तीनो जनपद पूर्व में सास्कृतिक जागरण के सर्वोच्च केन्द्र थे। 'शतपथ ब्राह्मण' (१।४।१।१०,१७) से ज्ञात होता है कि विदेह के राजा विदेह माथव सरस्वती से चलकर कोसल की पूर्वी सीमा पर अवस्थित सदानीरा (गण्डक नदी) को पारकर विदेह जनपद मे पहुँचे थे। इस प्रयाण मे उनके साथ पुरोहित गोतम राहूगण भी सम्मिलित थे। इसी ब्राह्मण-ग्रन्थ (१३।५।४।२१) की एक गाथा मे कहा गया है कि जिस प्रकार भरत ने सत्वत् लोगों के साथ व्यवहार किया था, उसी प्रकार का व्यवहार सभाजित् के पुत्र शतानीक ने काश्य लोगों के पुनीत अश्व को भगाकर किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि काशी, कोसल तथा विदेह जनपद स्वतन्त्र प्रभुतासम्पन्न थे; फिर भी उनकी पारस्परिक घनिष्ठता थी। उदाहरण के लिए अट्णार के पुत्र पट को कोसल तथा विदेह, दोनों का राजा कहा गया है (शांखायन श्रौतसूत्र १६।६।११)। इसी सूत्र-ग्रन्थ (१६।२६।६) में ब्राह्मण जातूकर्ण्य को काशी, कोसल तथा विदेह तीनो जनपदो का पुरोहित कहा गया है। काशी के शासक अजातशत्रु और विदेह के शासक जनक भारतीय इतिहास के प्रमुख शासको तथा विचारको मे थे। 'कौषीतकी उपनिषद्' (६।१) मे आर्य क्षेत्रान्तर्गत जनपदों में उशीनर, वश्, मत्स्य, कुरु, पंचाल, काशी और विदेह की गणना की गयी है।

'शतपथब्राह्मण' (१४।३।१।२२) में धृतराष्ट्र विचित्रवीर्य को काश्य कहा गया है। इसी प्रकार 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (२।१।१) और 'कौषीतकी उपनिषद्' (४।१) मे कहा गया है कि अहकारी बालाकं गार्ग्य काशी के राजा अजातशत्रु के पास ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए गया था। ऋग्वेद (१०।१७६।२) मे ऋषि प्रतर्दन को काशिराज के नाम से कहा गया है। 'हिरण्यकेशि 'गृह्यसूत्र' (२।८।१६।६) मे काशीश्वर का विष्णु तथा रुद्रस्कन्द के साथ उल्लेख हुआ है। 'गोपथ ब्राह्मण' (पूर्वभाग २।६) और 'अष्टाध्यायी' (४।१।५४) के वार्तिक (४) पर भाष्य करते हुए महाभाष्यकार ने 'काशी-कोसला:' और 'काशी-कोसलीया:' का उल्लेख किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक भारत से लेकर भाष्यकार पतजलि (२०० ई० पूर्व) के समय तक काशी जनपद की अक्षुण्णता बनी रही।

कीटक—उत्तर-पश्चिम जनपदो की जातियों में कीटको का उल्लेख हुआ है। कीटक सम्भवतः आर्येतर जनपद था, क्योंकि ऋग्वेद (३।५३।१४) के एक मन्त्र में उल्लेख हुआ है कि 'हे इन्द्र, आर्येतरो के निवास योग्य देश मे कीटक लोगों के बीच तुम्हारे लिए गायें क्या करेंगी? न तो वे सोम के साथ मिलाने योग्य दूध देती हैं और न वे दूध द्वारा पात्रों को पूर्ण करती हैं।' इसी प्रकार 'निरुक्त' (६।२२) में भी कीटक जनपद की दुर्दशाग्रस्त गायो का उल्लेख हुआ हैं। प्राचीन कोश-ग्रन्थो में कीटक को मगध का पर्याय माना गया है। सम्भवत: वह मगध का ही एक अंग था। किन्तु मगध के सन्दर्भ में उसका कही भी उल्लेख नही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आर्येतर जनपद अपनी लघुता के कारण कुछ दिनों तक उत्तर-पश्चिम में बना रहा और बाद मे उसका अस्तित्व क्षीण हो गया।

कुरु—कुरुओं का इतिहास ऋग्वैदिक युग का है। ऋग्वैदिक समाज में जिन विभिन्न विशों (वर्गों) का उल्लेख हुआ है, उनमे कुरुओं का नाम भी आता है। वे स्वयं को 'आर्य' कहा करते थ। ऋग्वेद (१०।३३।४) में त्रसदस्यु के पुत्र राजा कुरुश्रवण का नाम आया है, जो 'श्रेष्ठ दानी' था। परवर्ती ग्रन्थों में कुरुओ के साथ पांचालों का भी नाम आया है। ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थो में कुरु-पांचालों के उच्च आचार-विचारों और उनकी उदात्त सांस्कृतिक थाती की बहुविध एवं भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। 'शतपथ ब्राह्मण' (३।१।३।१५) में उन्हें वैदिक सस्कृति का उत्तराधिकारी, आदर्श शिष्टाचार से ज्योतित, यज्ञ-यागो मे परिनिष्ठित और संस्कृत भाषा मे सुविज्ञ कहा गया है। उद्दालक आरुणि की बोली की इसीलिए प्रशंसा की गयी है। उक्त ब्राह्मण-ग्रन्थ (१।७।२।८; ५।५।२।३) से यह भी विदित होता है कि उन्होने राजसूय यज्ञ किया था।

कुरु-पांचालो के सुसस्कृत जनपद, उत्तम शासको और उनके द्वारा संचालित जनकल्याणकारी शासन का उल्लेख भी ब्राह्मणों और उपनिषदो मे बार-बार हुआ है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' (५।३) और 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (६।२।१७) मे पांचाल राजा प्रवाहण जैवलि की कथाएं उच्च भारतीय आदर्शों और उन्नत नैतिक आचारो का प्रतिनिधित्व करती हैं। राजा परीक्षित् और महाराज जनमेजय उसी महान् जनपद के शासक थे, जिसकी राजधानी का विभिन्न ग्रन्थों मे आसन्दीवत् (शतपथ १३।५।२।१५), मष्णार (ऐतरेय ८।२३।३) और कारोती (शतपथ ६।५।४।२) आदि विभिन्न नामो से उल्लेख हुआ है। इन दोनों शासको के शासनकाल मे कुरु-पांचाल जनपदो का स्वर्णयुग रहा है। अथर्ववेद, 'बृहदारण्यक' और 'छान्दोग्य उपनिषद्' आदि ग्रन्थों मे कुरु-पांचालो के संयुक्त जनपद की समृद्धि, सुख और चरमोन्नति की उत्तम चर्चाएँ की गयी हैं। इतिहासप्रसिद्ध काम्पिल्य, कौशाम्बी और परिचक्रा आदि विभिन्न नगरो तक कुरु-पांचालो की उत्तरकालीन राजधानियाँ स्थापित हुईं, जिससे उनके विस्तार का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

कुरुओ के एक वर्ग को उत्तर कुरु कहा गया है। 'ऐतरेय-ब्राह्मण' (८।१४) से ज्ञात होता है कि उत्तरी हिमालय मे बस जाने के कारण उनका ऐसा नामकरण हुआ। उनके देश को 'देवक्षेत्र' कहा गया है (८।२३)। 'गोपथ ब्राह्मण' (१।३।६) में उत्तर कुरुओ की विद्या, बुद्धि, पवित्रता और शासनसत्ता की बड़ी प्रशस्ति की गयी है। 'रामायण', 'महाभारत' और पुराणों में उत्तर कुरु-

जनपद की दिव्य गरिमा का विशद वर्णन किया गया है। उनके अपने अजेय एवं सुव्यवस्थित उपनिवेश थे।

कैकय—प्राचीन भारतीय इतिहास में अनेक कारणों से कैकय जनपद का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। वेदों से लेकर उपनिषदो और पुराणों में उसकी ख्याति की बहुविध चर्चाएँ हुई हैं। महाराज दशरथ की पत्नी महारानी कैकेयी इसी जनपद की थी। उपनिषदो के ब्रह्मवादी कैकेय अश्वपति भी वही के निवासी थे। सिन्धु देश की सीमा से लगी व्यास और सतलज नदियों के मध्यवर्ती भू-भाग मे कैकय जनपद था। पुराणवेत्ता विद्वान् पार्जिटर ने कैकय जनपद को मद्र जनपद के निकट बताया है, जिससे कि बर्न (वर्तमान बन्नू) भी सम्मिलित था। बन्नू के निकट कक्की या कैकई नाम का एक गाँव आज भी वर्तमान है।

कोसल—कोसलो का उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' (१।४।१।१७; १३।५।४।४) 'जैमिनीय ब्राह्मण' (२।३२६) और 'प्रश्नोपनिषद्' (६।१) आदि अनेक ग्रन्थो में हुआ है। उनका उल्लेख विदेहो के साथ हुआ है, क्योंकि तब तक आर्यों का इन क्षेत्रो में फैल जाने का कोई प्रमाण नही मिलता है।

वर्तमान अवध प्राचीन काल मे दो भागो मे विभक्त था—उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल। वर्तमान अवध का उत्तरी भाग उत्तर कोसल और दक्षिणी भाग दक्षिण कोसल के नाम से कहा जाता था। उत्तर कोसल की राजधानी अयोध्या और दक्षिण कोसल की राजधानी कुशावती थी। श्रावस्ती (शराबती) और लखनऊ (लक्ष्मणपुरी) इसी मे सम्मिलित थे। गोमती, सरयू और तमसा नदियाँ इसी भू-भाग मे बहती हैं। राम ने श्रावस्ती का राज्य लव को और कुशावती का राज्य कुश को दिया था।

गन्धार या गन्धारि—भारतीय राजनीति और कला के इतिहास मे गन्धार का नाम अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण रूप मे उल्लिखित है। वैदिक युग का यह गन्धार प्रदेश सिन्धु के दोनो ओर फैला हुआ था। पूर्व में उसकी राजधानी तक्षशिला और पश्चिम में पुष्कलावती (चारसद्दा) थी। वर्तमान जलालाबाद से तक्षशिला तक का भू-भाग प्राचीन गन्धार था। उद्दालक आरुणि उससे परिचित थे। आरुणि पिता-पुत्र दोनो ने तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी।

ऋग्वेद (१।१२६।७) के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि गन्धार देश रोमपूर्ण भेड़ों के लिए प्रसिद्ध था। अथर्ववेद (५।२२।१४) के एक मन्त्र में ज्वर

से प्रार्थना की गयी है कि वह गन्धारि जातियों से चला जाय। ये गन्धारि लोग कुम्भा नदी के दक्षिणी तट से सिन्धु नदी के पूर्वी तट तक फैले हुए थे। इसी प्रकार 'छान्दोग्य उपनिषद्' (६।१४।१) में भी गन्धार प्रदेश को आर्य निवास से बहुत दूर बताया गया है। इन आलेखों तथा पुराण-ग्रन्थो के साक्ष्यो से विदित होता है कि पुरातन काल से गन्धार का सम्बन्ध आर्य संस्कृति से बना हुआ था।

चेदि—चेदि जनपद का भी वैदिककालीन अस्तित्व था। ऋग्वेद (८।५।३७, ३९) के दो मन्त्रो में उसका उल्लेख हुआ है। पहले मन्त्र मे चेदिराज कशु के महान् दान की प्रशसा की गयी है और दूसरे मन्त्र का आशय है कि जिस मार्ग से चेदि लोग जाते हैं, उससे दूसरा नही जा सकता। यह उल्लेख या तो चेदियों के असाधारण शौर्य-पराक्रम का द्योतक है अथवा उनके दुर्गम वासस्थान को सूचित करता है। महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' का नायक महाराज शिशुपाल भी चेदि नरेश था। किन्तु कहा नही जा सकता है कि वह वैदिक युग का चेदि जनपद था या उस नाम का कोई दूसरा ही था।

पांचाल—कुरुओ के सन्दर्भ मे पांचालो का उल्लेख पहले हो चुका है। 'शतपथ ब्राह्मण' (१।७.२८) में उनकी यज्ञ-याग-निष्ठा तथा श्रेष्ठ आचार पद्धति की प्रशसा की गयी है। 'शतपथ' (३।२।३।१५) मे कहा गया है कि कुरु-पांचालो की बोलियो मे समानता थी; किन्तु वस्तुतः वे दोनो भिन्न-भिन्न जातियां थी और उनमे पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध होने के बावजूद दोनो के अलग-अलग जनपद थे। पांचाल जनपद, कुरु जनपद के पूर्व में था।

पुण्ड्र—'ऐतरेय ब्राह्मण' (७।१८) मे आन्ध्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब आदि जातियो के साथ पुण्ड्रो का भी उल्लेख हुआ है। 'मनुस्मृति' मे कहा गया है कि आचारच्युत होने के कारण ये जातियां आर्य श्रेणी से गिर गयी थी। ये सभी जनपद दक्षिणापथ के थे।

भरत—वेदों और वैदिक साहित्य मे भरतो के यशस्वी एव प्रसिद्ध वश का व्यापक रूप से वर्णन हुआ है। ऋग्वेद (७।१८।५) मे भरतवंशीय राजा सुदास का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद (३।३३।११, १२) के अन्य दो मन्त्रों मे भरतों द्वारा व्यास तथा सतलज नदियां पार करने की चर्चा है। उसी प्रकार ऋग्वेद (३।२३।४) में सरस्वती तथा दृषद्वती से भरतो का सम्बन्ध बताया गया है। 'जैमिनीय ब्राह्मण' (२।२३७) मे भरतवंशीय लोगो को सिन्धु

तटवासी कहा गया है। इस शक्तिसम्पन्न एवं प्रभावशाली भरतवंश के कारण ही सम्भवतः इस देश का 'भारत' नामकरण हुआ।

मगध—मगधों का उल्लेख अंगों के साथ पहले किया जा चुका है। भरतों की ही भाँति मागधो का भी वैदिक साहित्य में विस्तार से उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद (भाष्य ३०।३२), 'वाजसनेय संहिता' (३०।५।२२) और 'तैत्तिरीय संहिता' (३।४।१।१) मे मागधों का उल्लेख वेश्या, जुआरी तथा गाने-बजाने वाले लोगो के साथ हुआ है। इसके अतिरिक्त मगध जनपद की गणना निकृष्ट प्रदेशों में की गयी है। अथर्ववेद (५।२२।७, १४) के दो सन्दर्भों मे कहा गया है कि विषम ज्वर (तक्मा) उत्तर मे गन्धार, वाह्लिक तथा मूजवन्त प्रदेश में और पूर्व मे अंग तथा मगध में चला जाए। 'वाजसनेय संहिता' के उक्त सन्दर्भ मे मगध को अतिकृष्टों अर्थात् चारण-कार्य करनेवालों के साथ कर देने के लिए कहा गया है। अथर्ववेद (१५।२।१) मे मगध जनपद को निकृष्ट (कीटक) देश कहा गया है और मगधवासियो की गणना व्रात्यों मे की गयी है।

अगो के साथ मागधो का उल्लेख होने के कारण उनका दाक्षिणात्य होना सिद्ध होता है। वर्तमान मगध और वैदिक मगध में सम्भवतः कोई एकता नही है।

मगध और अग जनपदो के प्रति वैदिकों का निकृष्ट भाव यह सूचित करता है कि वे ब्राह्मणधर्म के संस्कारों तथा परम्पराओ से च्युत थे अथवा ब्राह्मण धर्मानुयायी वैदिको से उनका विरोध-संघर्ष बना रहा। यही कारण है कि इन दोनो जनपदो के लोग बाद में वैदिक धर्म के विरोध में बौद्ध धर्मानुयायी बन गये। तब उन्होने वर्णाश्रमधर्म की सर्वथा उपेक्षा कर दी, बल्कि उसके कटु आलोचक बन गये।

मत्स्य—मत्स्य जनपद की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। 'शतपथ ब्राह्मण' (१३।५।४।९), 'गोपथ ब्राह्मण' (१।२।९) और 'कौषीतकी उपनिषद्' (४।१) आदि ग्रन्थों में मत्स्यों का उल्लेख हुआ है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (२।१) मे मत्स्यों की ज्ञान-गरिमा और बौद्धिक उत्कर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

मद्र या मद्रक—मद्रो या मद्रको का इतिहास बहुत प्राचीन है यजुर्वेद (१५।११।१३) तथा 'ऐतरेय ब्राह्मण' (८।१४) में जिस प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली का उल्लेख हुआ है, उसके संचालकों में उत्तर मद्रो और उत्तर कुरुओं

की भी गणना की गयी है। पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' (४।२।१०८,७।३।१३) में मद्रों का उल्लेख दिशा-विचार की दृष्टि से हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि उनके शासन के दो विभाग थे। एक गुप्तकालीन शिलालेख से ज्ञात होता है कि पाणिनि के समय (500 ई० पूर्व मे) मद्र लोगो ने प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली प्रचलित की थी और उनकी यह स्थिति 400 ई० पूर्व तक अक्षुण्ण बनी रही।

मद्रो के दो कुल थे—एक उत्तर मे और दूसरा दक्षिण मे। दोनो की शासन-प्रणाली भिन्न-भिन्न थी। इस सम्बन्ध मे यह भी ज्ञात होता है कि उत्तर कुरुओ के प्रकाश मे आने तक उत्तर मद्रो का अस्तित्व पौराणिक कोटि मे परिगणित होने लगा था (मिलिन्दपञ्ह, खण्ड 1, पृ० 2, 3)। 'महाभारत' (कर्ण पर्व ११।४) के उल्लेखानुसार उत्तर मद्रों की राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। उन्होंने शाकल के आस-पास के प्रदेश को अपने नाम (मद्र देश) से प्रचलित किया था। बौद्ध-ग्रन्थ 'मिलिन्दपञ्ह' के उक्त सन्दर्भ के अनुसार 200 ई० पूर्व मे उक्त शाकल नगर मिनेंडर के अधिकार मे चला गया था। बाद मे मद्र लोग उत्तर को छोडकर दक्षिण मे गये, जहाँ उस समय गुप्तो का सुखी एवं सम्पन्न शासन स्थापित था। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के साथ इन भगोडे मद्रों की अनेक बार मुठभेड़े हुई थी।

मद्र शक्ति-सम्पन्न लोग थे। वे विद्या-बुद्धि में भी चढ़े-बढ़े थे। उनकी परिष्कृत अभिरुचि एवं सांस्कृतिक गरिमा के उदाहरण उनके सिक्के हैं। उनका कोई भी ऐसा सिक्का नही मिला है, जिस पर लेख न खुदा हो।

महावृष—महावृषो का उल्लेख अथर्ववेद (५।२२।४,५,८), 'जैमिनीय ब्राह्मण' (१।२।३४), 'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' (३।४०।२), 'छान्दोग्य उपनिषद्' (४।२।५) आदि अनेक ग्रन्थो मे हुआ है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' मे कहा गया है कि राजा जानश्रुति पौत्रायण ने समुवा रैक्व को महावृष देश में 'रैक्वपर्ण' नामक ग्राम दान मे दिया था।

महावृष सम्भवतः उत्तर प्रदेश (गढवाल) की एक जाति थी, जो तराई भावर की मूल निवासी थी; क्योंकि अथर्ववेद के उक्त सन्दर्भ में महावृषो का मूजवन्तो (मुजवान् पर्वत, उत्तरी हिमालय) के साथ उल्लेख हुआ है और साथ ही वहाँ ज्वर की अधिकता बतायी गयी है। आज भी वहाँ की प्राकृतिक स्थिति इसी रूप मे विद्यमान है।

वंश-उशीनर—वंश-उशीनर जनपद का अस्तित्व वैदिक युग के प्राचीनतम जनपदों मे है। इन दोनो पुरातन जनपदो का उल्लेख अनेक ग्रन्थो मे हुआ है।

ऋग्वेद (१०।५६।१०) में 'उशीनरानी' के सन्दर्भ में उशीनर का उल्लेख हुआ है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (८।१४) के एक सन्दर्भ में कुरु-पांचालों का वंशसों तथा उशीनरों के साथ रहने का उल्लेख हुआ है। 'कौषीतकी उपनिषद्' (४।१) भी इसकी पुष्टि करता है। 'गोपथ ब्राह्मण' (२।६) में वंशसों और उशीनरों को उत्तरी क्षेत्र का मूल निवास बताया गया है। त्सिमर आदि विद्वानो ने उशीनरों का राज्य उत्तर पश्चिम में बताया है। उसके आगे उदीच्य देश था।

विदर्भ—विदर्भ जनपद का अस्तित्व उत्तर वैदिकयुगीन है। 'जैमिनीय ब्राह्मण' (२।४।४२) में विदर्भ का उल्लेख हुआ है। वर्तमान विदर्भ (बरार) और प्राचीन विदर्भ एक ही थे या अलग-अलग, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

विदेह—विदेहों का अस्तित्व प्राचीन और बहु-व्याप्त है। विदेह जनपद का उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' (१।४।१।१०), 'ताण्ड्य ब्राह्मण' (२५।१०।१७), 'कौषीतकी उपनिषद्' (१।४।५) और 'बृहदारण्यकोपनिषद्' आदि अनेक ग्रन्थो मे हुआ है। 'शतपथ' के उक्त सन्दर्भ में विदेहो का 'विदेघ' नाम से उल्लेख हुआ है, जो कि सम्भवतः देशवासी है। उक्त सभी सन्दर्भों में विदेहों का कोसलो के साथ उल्लेख हुआ है। इससे दोनों जनपदो का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि पश्चिम भारत (सम्भवतः बिहार का तिरहुत क्षेत्र) मे कोसलो और विदेहो के जनपद आस-पास थे।

भारतीय इतिहास में इस आर्य जनपद का अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। उपनिषत्कालीन ब्रह्मवादी महाराज जनक के कारण विदेह की प्रसिद्धि हुई। जनक की इतिहास-विश्रुत ब्रह्मवादियो की सभा विदेह मे ही आयोजित हुई थी। 'शतपथ ब्राह्मण' (१।४।१।१४) में जिस 'सदानीरा' (गण्डक) नदी का उल्लेख हुआ है, उसकी पश्चिम सीमा कोसल जनपद और पूर्व सीमा विदेह जनपद से लगी हुई थी।

जनपदों का परवर्ती विकासः राष्ट्र का उदय

वैदिक युग की अनेक जातियों के आधार पर तत्कालीन छोटे-मोटे विभिन्न जनपदो का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वैदिक युगीन आर्येतर जातियों मे अन्ध्र, पुलिन्द, मूतिब, शबर, पुण्ड्र और नैषध का नाम मुख्य है। इनके छोटे-छोटे जनपद दक्षिणापथ में थे। अनिल् और अज भी इसी प्रकार की जातियाँ थी। अनिलों का उल्लेख ऋग्वेद (१७।१८।७) के पक्थो, भलनसों,

शिवों और विषाणिनो में हुआ है। उन्हें त्रित्सु का मित्र बताया गया है। इन लोगो का राज्य कफीरिस्तान के उत्तर-पूर्व मे था। उक्त सभी जातियाँ राजा सुदास द्वारा परुष्णी (गन्धार) में पराजित हुई थी। वैदिक युग में अजों का उत्तर-पूर्व में कही एक छोटा-सा जनपद था, जो कि सुदास के अधीन था। राजा त्रित्सु ने इन अजों को पराजित किया था (ऋग्वेद-७।१८।१९)। निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि उक्त जातियाँ मूलतः आर्य थी या आर्येतर। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलत. वे आर्येतर थी और पराजित होने के बाद उन्होंने आर्यों की अधीनता स्वीकार कर आर्यत्व वरण कर लिया था।

जातियो और जनपदो का यह विकास-क्रम निरन्तर परिवर्तित और परिवर्द्धित होता गया। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाभारत युद्ध के अनन्तर वृहद्रथो के शासनकाल (700 ई० पूर्व) तक जितने भी जनपद थे उनका आधार जातीय था और उनका शासक भी उसी जाति का हुआ करता था। ऊपर के जनपदों की स्थापना नितान्त जातीय थी। अंग, अन्ध्र, कुरु, पाचाल, भरत और ऐक्ष्वाकु आदि के जनपदो को इस दृष्टि से उद्धृत किया जा सकता है। किन्तु बाद मे जनपद-स्थापना का यह आधार भी स्थिर न रह सका। उसके बाद (अर्थात् 600 ई० पूर्व से) राज्यों की प्रतिष्ठा जातीयता के आधार पर न होकर भू-सीमाओ के आधार पर निर्धारित होने लगी थी। उदाहरणस्वरूप ऐक्ष्वाकु जनपद ने काशी-कोसल का रूप धारण कर लिया था और अग आदि जनपद मगध के अन्तर्गत समा गये थे। इस प्रकार जातीयता का आधार गौण पडने लग गया था और राज्य के सगठन तथा विकास की स्थितियाँ निरन्तर प्रशस्त होती जा रही थीं। आगे चलकर (अर्थात् 300 ई० पूर्व तक) जन, विश् या जाति का महत्त्व क्षीण होकर एक विशाल साम्राज्य के रूप मे उभरने लगा था। 'जनपद' शब्द पहले जन या जाति का बोधक था; किन्तु बाद मे वह अनेक जातियो के समूह रूप 'राष्ट्र' का पर्याय बन गया (हिन्दू राज्यतन्त्र 2, पृ० 115-117)।

\ डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का अभिमत है कि 600 ई० पूर्व से 600 ई० तक के समय मे राज्य के दो विभाग हुआ करते थे। एक राजधानी और दूसरा देश। राजधानी को 'पुर' या नगर कहते थे और कभी-कभी 'दुर्ग' भी। देश को 'जनपद' भी कहते थे, जिसका पर्याय 'राष्ट्र' होता था। जनपद से 'जानपद' शब्द बना है, जिसका अर्थ किया गया है 'जनपद के निवासी।' इसी प्रकार बाद में प्रस्त, प्रदेश या भू-भाग के अर्थ में भी उसे प्रयुक्त किया

गया है। किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में उसका अर्थ एक सामूहिक संस्था के रूप में भी हुआ है। 'रामायण' (२।१४।५४) में कहा गया है कि 'पौर, जानपद और नैगम अंजलिबद्ध होकर राम के यौवराज्याभिषेक की प्रतीक्षा कर रहे हैं':—

उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम् ।
पौरजानपदाश्चापि नैगमाश्च कृतोऽञ्जलिः ॥

इस प्रकार 'जानपद' शब्द एक सामूहिक संस्था के रूप में प्रचलित रहा। किन्तु 'जनपद' शब्द का प्रयोग परवर्ती साहित्य मे 'राष्ट्र' के पर्याय के रूप में हुआ, जैसा कि दण्डी के 'दशकुमारचरित' (अध्याय 3) से भी प्रमाणित होता है। यही कारण है कि 'जानपद महत्तर' को 'राष्ट्र मुख्य' कहा गया।

राष्ट्र का संगठन

वैदिक युग से लेकर रामायण-महाभारत के उदय तक के विपुल वाङ्मय में यद्यपि राष्ट्रीय इतिहास के सबल सूत्र अन्तर्निहित हैं, तथापि उसको किसी शासकविशेष के प्रश्रय मे निर्मित नही माना जा सकता है। उसका वास्तविक कारण यह है कि जिस सुदीर्घ कालावधि मे उसका निर्माण हुआ उसमें शासक तथा शासित का कोई भेद नही था। कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन से राष्ट्रीय इतिहास का तिथिबद्ध क्रम प्रारम्भ होता है। उसके पुत्र गौतमबुद्ध ने यद्यपि शासक के स्थान पर फकीरी का जीवन वरण किया, फिर भी जहाँ तक इतिहास का सम्बन्ध है, उसमे एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। बुद्ध के समय (500 ई० पूर्व) मे पहले ही 'षोडष महाजनपदों' का अस्तित्व प्रकाश में आ चुका था 'अगुत्तर निकाय' (१।२१३; ४।२५२) में उनका नाम इस प्रकार उल्लिखित है—1—अग, 2—मगध, 3—काशी, 4—कोसल, 5—वज्जि, 6—मल्ल, 7—चेदि, 8—वत्स, 9—कुरु, 10—पंचाल, 11—मत्स्य, 12—शूरसेन, 13—अश्मक, 14—अवन्ति, 15—गन्धार और 16—कम्बोज।

बौद्धो के अतिरिक्त जैन साहित्य मे भी प्राचीन भारतीय जनपदो का उल्लेख हुआ है, जिनके आधार पर भारत के बृहत्तर स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। जैनो के 'भगवतीसूत्र' तथा 'उत्तराध्ययनसूत्र' में जनपदों की संख्या चौबीस बतायी गयी है। इस सूची से ज्ञात होता है कि उक्त बौद्ध-ग्रन्थ की सूची के अनेक जनपद तब तक अस्तित्वहीन हो गये थे और साथ ही अनेक नये जनपदो का उदय हो चुका था। जैन-ग्रन्थों की जनपद-गणना इस प्रकार है—1—अंग, 2—बंग, 3—मगध, 4—मलय, 5—मालव, 6—अच्छ 7—वच्छ (वत्स), 8—कोच्छ, 9—पाढ़ (पुण्ड्र),

10—लाढ़ (राढ़), 11—बज्जि, 12—मोलि (मल्ल), 13—कासी, 14—कोसल, 15—अवाह, 16—सम्मुत्तर, 17—दशार्ण, 18—कलिंग, 19—पंचाल, 20—विदेह, 21—गन्धार, 22—सौवीर, 23—द्रविड और 24—गौड़।

इन बौद्ध-जैन-ग्रन्थों में उल्लिखित जनपदों की इतिहास प्रसिद्ध राजधानियों के नाम थे—दन्तपुर, मिथिला, चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कोशाम्बी और काशी।

बौद्ध-ग्रन्थो की अपेक्षा जैन-ग्रन्थो की उक्त सूची पर्याप्त परवर्ती प्रतीत होती है। बुद्धयुगीन भारतीय इतिहास से विदित होता है कि तत्कालीन भारत मे धार्मिक एवं वैचारिक नवोत्थान के साथ-साथ राष्ट्रीय सगठन के आधार भी स्थिर एवं सुदृढ़ हो चुके थे। इस युग मे राजशासित जनपदों के अतिरिक्त अनेक गणतन्त्रो की भी स्थापना हो चुकी थी। ये गणतन्त्र सघीय शासन द्वारा सचालित होते थे। इन सघ-शासित बौद्धयुगीन ग्यारह गणतन्त्रो का पालि तथा जैन-ग्रन्थो में इस प्रकार उल्लेख हुआ :—

कपिलवत्थु	के	साकिय
अल्लकप्प	के	बुलि
केसपुत्त	के	कालाम
ससुमारगिरि	के	भग्ग
रामगाम	के	कोलिय
पावा	के	मल्ल
कुसिनारा	के	मल्ल
पिप्पलिवन	के	मोरिय
मिथिला	के	विदेह
वैशाली	के	लिच्छवी
वैशाली	के	नाय (ज्ञातृक)

कपिलवस्तु के शाक्य-कुल मे बुद्ध का जन्म हुआ था। यह शाक्य-कुल सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक उन्नत था। बुद्धयुगीन कला-केन्द्रों मे भी उसकी प्रमुखता थी। वहाँ अनेक कलाओ तथा विद्याओ का एक विशाल शिल्प विद्यालय था, जहाँ कि बुद्ध ने बाल्यकाल मे अनेक शिल्पो की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की थी। 'ललितविस्तर' के अनुसार बुद्ध ने अनेक प्रकार के कला-कौशलों की प्रतिस्पर्धा मे विजय प्राप्त करके यशोधरा को वरण करने में जनता के समक्ष अपनी असहज योग्यता को सिद्ध किया था।

बौद्धयुग के पाँच बड़े जनपद

1. **कोसल**--कोसल जनपद का अस्तित्व बुद्ध से पहले का है। बौद्ध तथा अन्य ग्रन्थों में कोसल और काशी जनपदों का एक साथ उल्लेख हुआ है। उसका कारण यह था कि इन दो जनपदों के शासकों में लम्बे समय तक कभी प्रतिस्पर्धा और कभी घनिष्ठ मित्रता के सम्बन्ध बनते-बिगड़ते रहे। जब कोसल पर राजा दीघिति का शासन था, काशी के राजा ब्रह्मदत्त ने उसको पराजित करके कोसल पर अपना अधिकार कर लिया था। उसके बाद कोसल के राजा कंस ने काशी पर आक्रमण करके उस पर विजय प्राप्त कर ली थी।

बौद्धयुगीन भारत मे कोसल की बडी ख्याति थी। बुद्ध के समय वहाँ राजा प्रसेनजित् का राज्य था। प्रसेनजित् बडा दानी और यशस्वी राजा हुआ। वह बुद्ध का अनुयायी था। राजा प्रसेनजित् तथा बुद्ध के सम्बन्धों का साक्षी मरहुत का एक शिलापट्ट है। इस शिलापट्ट पर राजा प्रसेनजित् को चार घोडो पर आरूढ राजप्रासाद से बाहर निकलते हुए दिखाया गया है। उसके साथ हाथी-घोड़ो पर सवार तथा पैदल सेना का जलूस है। शिलापट्ट के ऊपरी भाग मे एक दुतल्ला घर है। उसके भूमितल पर स्तम्भयुक्त खुला मण्डप बना हुआ है, जिसके मध्य मे दो उपासक बैठे हुए हैं और उनके मध्य धर्मचक्र अवस्थित है। ये दो उपासक बुद्ध और प्रसेनजित् हैं। इस दृश्य में राजा के धर्मचक्र ग्रहण करने का भाव अंकित है। जिस ऊपरी दुतल्ले पर यह दृश्य अंकित है, वह उस स्थल का प्रतीक है, जहाँ पर राजा प्रसेनजित् की बुद्ध से अन्तिम बार भेंट हुई थी।

कोसल जनपद के विस्तार के लिए राजा प्रसेनजित् ने अन्य राजाओ पर आक्रमण किया और पाँच छोटे-छोटे राज्यो को हस्तगत कर लिया था। मगध के राजा अजातशत्रु से भी उनका युद्ध हुआ था।

2. **अवन्ति**—बुद्ध के पूर्व से ही अवन्ति का गौरव बना हुआ था। बुद्ध के समकालीन अवन्ति के राजा पज्जोत ने कौशाम्बी के राजा उदयन और सूरसेनों के राजा अवन्तिपुत्त से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। आरम्भ में वह स्वभाव का क्रूर (चण्ड) शासक था; किन्तु उसके गुरु महाकच्चायन के प्रभाव से उसका सम्पर्क बुद्ध से हुआ था। उसने बुद्ध को सादर आमन्त्रित किया और बुद्ध के सात उपदेशो को सुनकर वह स्वयं बौद्धानुयायी हो गया था। उसके बाद तो सारी अवन्ति नगरी बौद्ध बन गयी थी।

3. **वंस या वत्स**—वंस या वत्स जनपद का अस्तित्व बुद्ध के समय स्थापित हुआ। कौशाम्बी उसकी राजधानी थी। बुद्ध के समय वंस जनपद का शासक

उदेन (उदयन) था। भास के 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक, हर्ष कृत 'प्रियदर्शिका' नाटिका और बौद्ध-ग्रन्थ 'धम्मपद' (कट्ठकथा) में राजा उदयन और उनकी पत्नी रत्नावली तथा प्रेयसी वासवदत्ता की कथाएँ विस्तार से कही गयी हैं। राजा उदयन ने अवन्ति, अनंग और कलिंग जनपदों तक अपने प्रभुत्व का विस्तार किया था।

4. **मगध**—मगध जनपद का अस्तित्व बुद्ध से पूर्व स्थापित हो चुका था; किन्तु बुद्ध के समय से ही उसके गौरव की वृद्धि हुई। इस गौरव को प्रदान करने वाले यशस्वी शासक का नाम था—बिम्बिसार (543-491 ई० पूर्व) और उनका पुत्र अजातशत्रु (491-459 ई० पूर्व)। ये दोनों पिता-पुत्र बुद्ध के समकालीन थे। कोसल के राजा प्रसेनजित् की बहन के साथ बिम्बिसार का विवाह हुआ था। राजा बिम्बिसार धर्म का उदार और समन्वयवादी था। इसीलिए बौद्ध तथा जैन साहित्य तथा समाज में समान रूप से उसको मान्यता प्राप्त थी। अजातशत्रु ने भी पिता की परम्परा की रक्षा की ओर उसी प्रकार की लोकप्रियता को अर्जित किया।

5. **वैशाली**—आधुनिक बसाढ़ (जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) ही प्राचीन वैशाली थी। बसाढ़ में स्थित 'राजा विशाल का गढ़' वैशाली का प्राचीन गढ़ बताया जाता है। बौद्धों का प्रमुख केन्द्र और लिच्छवियों की राजधानी होने के कारण वैशाली प्राचीन काल में अपने समय की प्रमुख नगरी के रूप में विश्रुत हो चुकी थी। बुद्ध के समय वह अपने उत्कर्ष पर थी। बुद्ध वहाँ स्वयं तीन बार गये थे। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्धों ने उनकी धातुओं को प्राप्तकर एक स्तूप का निर्माण कराया था। बुद्ध परिनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का अधिवेशन आयोजित हुआ था।

फाहियान और ह्वेन-त्सांग ने वैशाली के मान-वैभव को अपनी आँखों से देखा था। ह्वेन-त्सांग ने वैशाली नगरी का विस्तार 10 या 12 वर्गमील बताया है। राजा विशालगढ़ के दो मील उत्तर-पश्चिम कोल्हुआ नामक स्थान में रेतीले पत्थर से निर्मित एक स्तम्भ है, जिसे अशोक द्वारा निर्मित बताया गया है। उसके निकटस्थ 'रामकुण्ड' को कनिंघम ने 'मर्कट ह्रद' माना है, जिसे भगवान् के उपयोग के लिए बन्दरों ने खोदा था। वैशाली अपने वैभवकाल में विशाल अट्टालिकाओं और प्राकारों के लिए प्रसिद्ध थी।

● ● ●

ग्यारह/मगध की शासन परम्परा और मौर्ययुग

मगध साम्राज्य और उसकी परम्परा

बुद्ध के जीवन-काल में वर्तमान सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न जनपदों में चार महा जनपदो का नाम उल्लेखनीय है—कोशाम्बी (वत्स या वंश), अवन्ति, कोसल और मगध। बुद्ध-पूर्व भारत में जो अनेक छोटे-बड़े जनपद स्थापित हो चुके थे उनमें समय-समय पर अपने प्रभुत्व-विस्तार के लिए निरन्तर संघर्ष और रक्तपात हुआ करते थे। इस प्रकार कुछ तो क्षीण होते गये और कुछ की शक्ति निरन्तर बढ़ती गयी। अन्त में अनेक क्षीण-शक्ति जनपदो को स्वायत्त कर भारत मे इतिहास-प्रसिद्ध महान् मगध साम्राज्य का उदय हुआ।

मगध या मागध भारतीय इतिहास का सर्व प्रथम प्रभुतासम्पन्न महाजनपद था। उसका अस्तित्व बहुत प्राचीन है। वेदो से लेकर पुराणो तक मगध और वहाँ के शासको का बहुविध उल्लेख हुआ मिलता है। पुराणो से ज्ञात होता है कि महाभारत-युद्ध से पूर्व मगध मे बार्हद्रथो का शासन स्थापित हो चुका था और चेदि नरेश उपरिचार का पुत्र बृहद्रथ सर्व प्रथम मगध नरेश की उपाधि से विभूषित हो चुका था। वह प्रतापी मगध साम्राज्य का प्रतिष्ठाता था। उसके बाद उसका पुत्र जरासन्ध और तदन्तर पौत्र सहदेव उत्तराधिकारी हुआ। ये दोनो शासक महाभारतकालीन थे।

मगधपति बृहद्रथ की तेईसवी पीढ़ी के बाद मगध पर अवन्ति नरेश चन्द्रप्रद्योत का अधिकार हुआ। तदन्तर गिरिव्रज का शिशुनागवंश मगध का स्वामी बना, जिसके उत्तराधिकारियो की ऐतिहासिक परम्परा इस प्रकार है—शिशुनाग-काकवर्ण-क्षेत्रधर्मन्-क्षत्राजीत और बिम्बिसार। इनमे बिम्बिसार ही सर्वाधिक प्रतापी शासक हुआ। बिम्बिसार 544-43 ई० पूर्व में राजगद्दी पर बैठा और लगभग 52 वर्ष शासन करने के उपरान्त 491 ई० पूर्व मे उसका पुत्र अजातशत्रु मगध का स्वामी बना। उसने लगभग 459 ई० पूर्व तक शासन किया। ये दोनो पिता-पुत्र महावीर स्वामी और गौतमबुद्ध के समकालीन थे।

मगध साम्राज्य को शक्ति-सम्पन्न बनाने और उसका विस्तार करने में उक्त दोनों पिता-पुत्र का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। बिम्बिसार ने अंग और काशी जनपदों पर विजय प्राप्तकर उन्हे अपने साम्राज्य में मिला लिया था। अजातशत्रु की महत्त्वाकांक्षा इस सीमा तक पहुँची कि अपने पिता की हत्या कर वह स्वय साम्राज्य का स्वामी बन बैठा। उसने उत्तर भारत के समस्त छोटे-बडे जनपदों को हस्तगतकर विशाल मगध साम्राज्य की नीव डाली। राजगृह और पाटलिपुत्र को उसने अपनी राजधानियाँ बनायी। एक शक्ति-सम्पन्न विशाल साम्राज्य का स्वामी बनने के उपरान्त उसके क्रूर एवं निष्ठुर स्वभाव मे भी परिवर्तन हुआ। भरहुत (200 ई० पूर्व) की एक मूर्ति से, जिसमे 'बुद्ध के चरणो मे अजातशत्रु' अकित है, ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने अपनी क्रूरताओ और निष्ठुरताओ का परित्यागकर बौद्ध-जैन धर्मों के सत्य, त्याग, अहिंसा और जन-मगलकारी सिद्धान्तो को अपना लिया था। अपने सम-सामयिक महावीर स्वामी और तथागत बुद्ध के उपदेशो को अपनाकर जीवन के उत्तरार्द्ध मे वह एक सन्त स्वभाव का शासक बन गया था। बौद्धधर्म और सघ के अन्दर जो अनेक विरोध और विषमताएँ समाविष्ट हो गयी थी और जिनके कारण उसकी एकता विच्छिन्न होने की स्थिति मे पहुँच गयी थी, उसके सगठन और सवर्द्धन के लिए अजातशत्रु ने राजगृह मे प्रथम बौद्ध सगीति का आयोजन किया था।

मगधपति अजातशत्रु एक धर्मनिरपेक्ष, आत्मचिन्तक और कलाप्रेमी शासक था। उसने अपनी राजधानी राजगृह के चारो ओर भव्य स्तूपो का निर्माण और अपने जनपद के अठारह महाबिहारो का जीर्णोद्धार कराया था। उसने विशाल गुफामण्डप भी बनवाये। उसने राजगृह के पचपर्वतो मे वैभार पर्वत की 'सत्तपण्णि' नामक गुफा का निर्माण करके उसके आगे एक विशाल मण्डप बनवाया था। इसी मण्डप के नीचे अजातशत्रु ने इतिहास प्रसिद्ध प्रथम बौद्ध सगीति का आयोजन किया था।

अजातशत्रु की प्रथम संगीति

बुद्धपरिनिर्वाण के तत्काल बाद ही, सम्भवतः चौथे मास बाद, श्रावण महीने मे प्रथम सगीति का अधिवेशन आयोजित हुआ था। 'चुल्लवग्ग' के ग्यारहवें खधक के अनुसार और 'दीपवश' तथा 'महावंश' के वचनानुसार यह संगीति राजगृह (कुशीनगर) मे आयोजित हुई थी। अजातशत्रु इसके आयोजक और महाकस्सप इसके सभापति थे। उपालि और आनन्द ने उसमें

प्रमुख भाग लिया था। चीनी-तिब्बतीय परम्पराओं के अनुसार इस संगीति में एक हजार भिक्षु उपस्थित थे; किन्तु भारतीय परम्परा उनकी संख्या चार सौ निन्यानबे बताती है, जैसा कि बौद्ध अनुश्रुतियों में उसको 'पंचशतिका' नाम दिया गया है। इस संगीति का वर्णन 'विनयपिटक', 'दीपवंश', 'महावंश', 'सामन्तपासादिका' की 'निदान कथा' (विनयपिटक का रूपान्तर), 'महाबोधिवंश', महावस्तु' और तिब्बती 'डुल्व' आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

इस संगीति में चार बातों का निर्णय किया गया था—(1) उपालि के नेतृत्व में विनय की निश्चिति; (2) आनन्द के नेतृत्व में धम्म के पाठ का निश्चय; (3) आनन्द पर आक्षेप एवं उनका उत्तर और (4) चन्न को ब्रह्मदण्ड की सजा तथा उसका परिताप। इस संगीति का प्रमुख उद्देश्य वस्तुतः बुद्धवचनों का संगायन एवं संग्रह करना था।

अजातशत्रु के बाद मगध जनपद

अजातशत्रु के बाद मगध जनपद की शासन-परम्परा के सम्बन्ध में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—तीनों धर्मों के साहित्य में एक बहुविध उल्लेख देखने को मिलते हैं। भारत के बाहर सिंहली, बर्मी और नेपाली परम्पराओं एवं अनुश्रुतियों में उसकी चर्चाएँ हुई हैं। इन सभी उल्लेखों एवं चर्चाओं में पारस्परिक इतनी भिन्नता है कि उनसे किसी एक निश्चय पर पहुँचना प्रायः दुष्कर है। बौद्ध-स्रोतों के आधार पर गाइगर ने 'महावंश' की भूमिका (पृ० 40-46) में शासकों का जो क्रम निर्धारित किया है, आधुनिक इतिहासकारों ने उसी को प्रामाणिक माना है। उन्होंने बौद्ध-स्रोतों के साथ पुराणों के संदर्भों का भी सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

गाइगर ने महावंश के आधार पर उदायिभद्द को अजातशत्रु का उत्तराधिकारी सिद्ध किया है। उसने 16 वर्ष, अर्थात् 459-443 ई० पूर्व तक राज्य किया। बौद्ध अनुश्रुति उदायि को अपने पिता का घातक बताती है, किन्तु उसके विपरीत जैन अनुश्रुति उसे पितृभक्त होने का विवरण प्रस्तुत करती है। अपने पिता का निधन होते समय वह चम्पा का राजा था। उसके बाद उसने पाटलिपुत्र में अपनी राजधानी स्थानान्तरित की। अपने पिता की भाँति वह भी जैन और बौद्ध—दोनों धर्मों के प्रति समान निष्ठा रखता था। मगध और अवन्ति जनपदों की पारस्परिक शत्रुता एवं अनबन के कारण अवन्ति के शासक पालक ने किसी नवकर्मा नामक व्यक्ति द्वारा छल से उदायि का वध

करवा दिया था। पुराणो में अजातशत्रु के उत्तराधिकारी का नाम दर्शक बताया गया है और उसके शासन-काल की अवधि 24 वर्ष (567 ई० पूर्व) दी गयी है।

उदायि के बाद मगध पर अनुरुद्ध ने शासन किया, किन्तु उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उसके शासन-काल की कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। अनुरुद्ध के बाद मुड मगध का शासक बना। उसने 8 वर्ष अर्थात् 435 ई० पूर्व तक शासन किया। उसकी स्त्री का नाम मद्धा था, जिसकी मृत्यु पर उसने बडा शोक प्रकट किया था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। मुड के अनन्तर नागदसक पाटलिपुत्र का स्वामी बना। उसने 24 वर्ष अर्थात् 411 ई० पूर्व तक राज्य किया।

नागदसक के बाद पाटलिपुत्र के शासन की बागडोर शक्तिशाली शासक सुसुनाग के हाथो मे गयी। बौद्ध अनुश्रुतियो के आधार पर उसने 18 वर्ष, अर्थात् 393 ई० पूर्व तक शासन किया। सिंहली अनुश्रुतियो से पता चलता है कि सुसुनाग अमात्य पद पर अधिष्ठित था। जनता ने अजातशत्रु के वशज शासको की पितृहन्ता प्रवृत्ति से ऊबकर अमात्य सुसुनाग को राजसिंहासन पर बैठाया था।

पुराणो मे उसे शिशुनाग के नाम से कहा गया है। उसने पाटलिपुत्र का शासन हस्तगत करने के उपरान्त अवन्ति के प्रद्योत शासक नन्दिवर्धन् को पराजित करके वहाँ भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसने यद्यपि पाटलिपुत्र को राजधानी बनाये रखा, किन्तु मगध की राजधानी राजगृह से भी सम्बन्ध स्थापित किया। वाराणसी मे उसने अपने पुत्र को प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार शिशुनाग ने स्वयं को एक शक्तिशाली एवं विशाल जनपद का शासक बनाने मे सफलता प्राप्त की।

कालाशोक और उसके दस पुत्र

शिशुनाग के बाद मगध का शासनाधिकार कालाशोक के हाथो मे गया, उसे काकवर्ण या काकवर्णिन् नामो से भी कहा जाता है। उसने 28 वर्षों 393-365 ई० पूर्व तक राज्य किया। उसके बाद उसके दस पुत्रो ने 22 वर्ष अर्थात् 343 ई० पूर्व तक राज्य किया। कालाशोक के दस पुत्रो के नाम 'महावश' मे इस प्रकार उल्लखित हैं—1. भद्रसेन, 2 पोरण्डवर्ण, 3. मंगुर, 4. सर्वञ्जह, 5. जालिक, 6. उभक, 7. सञ्जय, 8. कोरव्य, 9. नन्दिवर्धन् और 10. पञ्चमक

(विस्तार के लिए देखें—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, भाग 1. पृष्ठ 469; पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एंश्येंट इंडिया, 4 सं०, पृ० 178-186; अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 4 सं०, पृ० 360; हिन्दू सभ्यता, पृ० 262-63)।

पुराणो तथा अन्य परवर्ती स्रोतों और यूनानी विद्वान् कर्तिअस के अनुसार कालाशोक काकवर्णी के एक मुंहलगे राजनापित का रानी के साथ जारत्व सम्बन्ध स्थापित हो गया था और किसी तरह उसने राजा का भी विश्वास प्राप्त कर लिया था। उपयुक्त अवसर पाकर एक दिन उसने राजा तथा उसके दस पुत्रों को कपट से मरवा डाला और स्वयं साम्राज्य का स्वामी बन बैठा। इस घातक नापितपुत्र का नाम 'महावंश' मे उग्रसेन बताया गया है, जिसको कर्तिअस ने अग्रम्मेस का पिता कहा है। कुछ विद्वानो ने इस नापितपुत्र की सगति नन्द से बैठायी है; किन्तु यह मत सन्दिग्ध प्रतीत होता है।

कालाशोक की द्वितीय संगीति

द्वितीय सगीति का आयोजन बुद्धपरिनिर्वाण के बाद 100 वर्ष के बाद हुआ। इसमे 700 भिक्षु उपस्थित थे, जिससे कि उसको 'सप्तशतिका' भी कहा जाता है। इस संगीति का उद्देश्य कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों को हल करने के अतिरिक्त प्रथम सगीति का पुनः सस्करण करना भी था। यह वैशाली मे आयोजित हुई थी और पूरे आठ मास तक चली।

इस परिषद् मे काकण्डकपुत्र यश और वज्जी के भिक्षुओ के पारस्परिक आक्षेपो पर विचार हुआ। अपने पक्ष का पर्याप्त स्पष्टीकरण करने पर भी वज्जियो ने यश को सघ से निष्कासित कर दिया। भदन्त यश ने वज्जियों की दस वत्थूनि (दस बातें) मानने से इन्कार कर दिया था।

यश ने अपने निराकरणो का समाधान एव समर्थन पाने के लिए कौशाम्बी, अवन्ती और अट्ठोपाग के भिक्षुओं से निवेदन किया और अन्त में वह अर्हत् रेवती के पास सौरेय्य पहुँचा। इन सभी भिक्षुओ ने एकमत होकर भदन्त यश के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया। इधर से इस बात को सुनकर, वज्जी भिक्षु भी रेवत के पास पहुँचे। विवाद बढता ही गया। अन्त में सात सौ भिक्षुओं की एक परिषद् अयोजित की गयी और उसमे पूरब तथा पश्चिम के चार-चार भिक्षुओं की एक समिति बनायी गयी। भिक्षु अजित को समिति का प्रधान और आचार्य सब्बकामी को सभापति नियुक्त किया गया। सभा में वज्जी के

भिक्षुओं का आचरण अधर्मयुक्त घोषित किया गया। यह वृत्तान्त 'चुल्लवग्ग' में दिया गया है।

'महावग्ग' और 'दीपवंश' के अनुसार यह परिषद् अजातशत्रु के वशंज कालाशोक के समय मे हुई थी, जिसमे दस हजार भिक्षु उपस्थित थे। उन दस हजार भिक्षुओं मे सात सौ चुने हुए भिक्षुओं ने 'विनय' और 'धम्म' का एक संशोधित संस्करण तैयार किया, जिससे पिटक, निकाय, अंग और धर्मस्कन्ध निर्मित हुए। 'धम्म' के सगायन और सकलन के फलस्वरूप बुद्ध वचनो के तीन पिटको, पाँच निकायो, नव अगों और 4800 धर्मस्कन्धो का वर्गीकरण हुआ।

नन्द वंश

भारत के उत्तर-पश्चिम-पूर्व के बहुसख्यक गणराज्यों मे मगध साम्राज्य ही एक ऐसा शक्तिशाली एवं प्रभुत्वसम्पन्न महाजनपद था, जिसका इतिहास उत्तरोत्तर गौरवशाली रूप धारण करता गया। अजातशत्रु के लगभग सौ वर्ष बाद मगध पर नये नन्दवश का उदय हुआ, जिसकी सीमा 359-331 ई० पूर्व मे निर्धारित की गयी है। नन्द राजा शूद्र था, सम्भवतः एक नाई का पुत्र। उसने शक्तिशाली सेना का संगठनकर एकच्छत्र एवं विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

इतिहासकार विद्वानो का अभिमत है कि कालाशोक का घातक ही नन्दवश का सस्थापक बना। कर्तिअस ने उसे अग्रम्मेस का पिता कहा है। 'महाबोधिवंश' मे नन्दवंश के सस्थापक का नाम उग्रसेन कहा गया है। इस दृष्टि से उग्रसेन, अग्रम्येस का पिता सिद्ध होता है। यूनानी इतिहासकार विद्वान् कर्तिअस ने लिखा है कि नन्दवश का संस्थापक नापित था। उसके अभिमत के आधार सम्भवतः जैन-ग्रन्थ और ब्राह्मण-पुराण थे। वहाँ उसे गणिकापुत्र नापित या शूद्रापुत्र कहा गया है।

पुराणो मे नन्दवंश के शासक नवनन्दो का उल्लेख हुआ है और उनके शासन-काल की अवधि को 100 वर्ष पर्यन्त बताया गया है। इस गणना से प्रथम नन्द का समय 431 ई० पूर्व में बैठता है, जिसका कि इस परम्परा के उत्तरवर्ती शासकों से ऐतिहासिक तारतम्य नही बैठता है। इसलिए पुराणों की गणना युक्तिसंगत नही है। पुराणो में नवनन्दों का अलग-अलग नामोल्लेख नही हुआ है। पिता और उसके आठ पुत्रों में से केवल सुमात्य (या सुमाल्य) का नाम आया है। वहाँ पिता को 'महापद्मपति' (महापद्म का स्वामी) और

'महापद्मनन्द' भी कहा गया है। पुराणों के इस सन्दर्भ में महापद्मनन्द को द्वितीय परशुराम या भार्गव का पर्याय माना गया है। उसके सम्बन्ध में भविष्यवाणी की गयी है कि वह पृथ्वी से क्षत्रियों का अन्त करनेवाला 'एकराट्' (सर्वक्षत्रान्तक) होगा और समस्त पृथ्वी पर उसका एकाधिकार होगा।

नन्दवंश के समसामयिक क्षत्रिय वंशो का पुराणों में इस प्रकार उल्लेख हुआ है—ऐक्ष्वाकु, पंचाल, काशी, हैहय, कलिंग, अश्मक, कुरु, मिथिला, सूरसेन और बीतिहोत्र। इनमें से अनेक जनपद अत्यन्त प्राचीन हैं और उनका इतिहास बडा गौरवशाली रहा है।

बौद्ध-ग्रन्थ 'महाबोधिवंश' मे नवनन्दों के नामो का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—1. उग्रसेन, 2. पण्डुक, 3. पण्डुगति, 4. भूतपाल 5. राष्ट्रपाल 6. गोविषाणक, 7. दशसिद्धक, 8. कैवर्त और 9. धननन्द।

जैनो और बौद्धों के साहित्य में उल्लिखित नन्द राजाओं की चर्चाओं को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि नन्द-वंश की प्रतिष्ठा में इन दोनो समाज-सुधारक धर्मों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। जैन-ग्रन्थों मे नवनन्दों के सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उनके शासन की बड़ी प्रशंसा की गयी है। यह बात इसी से प्रमाणित होती है कि प्रायः सभी नन्द शासको के मन्त्री जैन विद्वान् एव वीतराग व्यक्ति थे और उन्होने अपने आश्रयदाता शासको की श्रीवृद्धि के लिए अपनी योग्यता का भरसक उपयोग किया। परवर्ती अभिलेखो, साहित्य और कला मे भी नन्द-जैनों के सुसम्बन्धो की बहुविध चर्चाएँ हुई हैं। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' मे महामात्य चाणक्य ने एक जैन को ही अपना गुप्तचर नियुक्त किया था, जिससे कि गुप्तचरी की सार्थकता सिद्ध हो। इस नाटक के कथानक मे जैन-अनुश्रुतियो के प्रभाव का कारण भी यही प्रतीत होता है कि नन्द शासको का जैनों से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

नन्द शासको के सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध है, उसका परिशीलन करने पर एक बात यह ज्ञात होती है कि वे अपरिमित सैन्य-शक्ति-सम्पन्न थे। जैन कलिगराज खारवेल की हाथीगुम्फा वाली प्रशस्ति से विदित होता है कि कलिंग तक नन्द राजा का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। प्रशस्ति मे स्पष्ट लिखा है कि नन्द राजा प्रथम दिन भगवान् की उस मूर्ति को, जो परम्परा से कलिग राजाओं द्वारा कलिंग में स्थापित एवं संरक्षित थी, अपने विजय-अभियान की स्मृति में कलिंग से मगध उठा लाया था।

नन्द शासकों के सम्बन्ध में यह भी विदित होता है कि स्वभाव से वे अनुदार थे। अपने शासन द्वारा उन्होंने अपनी निम्न वंश-परम्परा को अभिव्यक्त किया। इस कारण तत्कालीन समाज की उनके प्रति निष्ठा कम होती गयी और इस रूप मे नन्द राजा को अन्त तक नापितपुत्र से अधिक सम्मान प्राप्त न हो सका। जनता उससे घृणा करती रही और उसको हेय समझती रही। उसके अन्तिम शासक धननन्द ने तो अपने नाम की सार्थकता का भरपूर उपयोगकर समाज मे स्वयं को हास्यास्पद बना लिया था।

बौद्ध विद्वान् टर्नर ने 'महावश' की भूमिका (पृ० 39) मे नन्दवश के अन्तिम शासक धननन्द के धन बटोरने के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सम्भवतः उसकी इस प्रवृत्ति के कारण ही समाज मे वह धननन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

विशाल साम्राज्य का स्वामित्व प्राप्त करने पर भी नन्द शासको को लोकप्रियता प्राप्त न हो सकी। उसका प्रमुख कारण उनकी धार्मिक सकीर्णता और जातिवाद की क्षुद्र धारणा थी। मगध पर उनका शासन स्थापित होते ही उत्तर भारत में वैदिक धर्म का प्रभाव क्षीण पडता गया, जिसके फलस्वरूप ब्राह्मणो ने अध्ययन-अध्यापन का कार्य छोडकर आजीविका के लिए विभिन्न व्यवसायो को अपना लिया। इसी प्रकार क्षत्रियो ने अपने युद्धोचित वीरतापूर्ण कार्यों का परित्यागकर समाज-सुधारको के रूप मे नेतृत्व का नया जीवन आरम्भ किया। वैश्य वर्ग के हाथ अवश्य मजबूत हुए। वे अपार सम्पत्ति के स्वामी बने और उन्होने काशी, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत और पाटलिपुत्र आदि प्रसिद्ध नगरो मे बडे-बड़े उद्योग-व्यवसायो तथा व्यापारिक केन्द्रो की स्थापना की। शूद्रो ने भी अनुकूल परिस्थिति पाकर अपने प्रभाव को बढाया।

सामाजिक जीवन पर इस अव्यवस्था की अच्छी प्रतिक्रिया नही हुई। नन्द शासको ने परम्परागत सामाजिक एव धार्मिक मान्यताओ की सर्वथा अवहेलनाकर पारस्परिक वैमनस्य की स्थिति उत्पन्न कर दी, जिसके कारण राष्ट्रीय सगठन और सामाजिक एकता का पक्ष निरन्तर क्षीण एवं निर्बल होता गया। धननन्द जैसे धनलिप्सु शासक के समय तो प्रजा इतनी स्वेच्छाचारी हो गयी कि उसने अपने शासक तक की उपेक्षा कर दी। इसका परिणाम राष्ट्र के लिए शुभंकर सिद्ध न हुआ।

सिकन्दर का आक्रमण

नन्द-शासकों की जन-शोषक प्रवृत्ति और शासन की कमजोरियों के कारण सिकन्दर जैसे विदेशी आक्रामक का भारत के अन्दर प्रविष्ट होना सम्भव हुआ। उससे पूर्व भी भारत के कुछ प्रदेशों पर ईरानियों का अधिकार बना हुआ था। जिस समय मगध पर बिम्बिसार का शासन था, उसके आस-पास ही उत्तर-पश्चिम भारत में ईरानियों के आक्रमण होने आरम्भ हो गये थे। ईरान के सम्राट् दारा ने पहले गन्धार और उसके बाद सिन्धु पर भी अपना अधिकार कर लिया था। तब से लेकर लगभग दो सौ वर्षों तक उत्तर-पश्चिम भारत पर ईरानियो का आधिपत्य बना रहा। जब ईरान मे दारा तृतीय का शासन था, लगभग 326 ई० पूर्व मे मकदूनिया के सिकन्दर ने भारत पर आक्रनणकर ईरानियो द्वारा शासित उत्तर-पश्चिम भू-भाग को अपने अधिकार मे कर लिया।

सिकन्दर बडा शक्तिशाली शासक था और अनेक विजित देशो की युद्धकुशल सेनाएँ उसके पास थी। गन्धार पर विजय प्राप्त करने के बाद उसने सिन्धु को पार किया और तत्कालीन भारतीय संस्कृति के केन्द्र तक्षशिला मे प्रवेश किया। वहाँ के निवासी भारतीय विद्वानो एवं साधु-सन्तो के प्रति उसने सम्मान प्रकट किया और उन्हे अपने खेमे मे आने के लिए आमन्त्रित किया। किन्तु एक आक्रामक से मिलना उन्होने इन्कार कर दिया। केवल कलानोस (कल्याण) नामक एक भिक्षु ही उससे मिलने गया। तक्षशिला मे सिकन्दर ने अपनी विजय के उपलक्ष्य मे एक दरबार आयोजित किया और आस-पास के भारतीय राजाओ से भेट स्वीकार की तथा उन्हे अपनी ओर से ईरानी उपहार दिये।

इसी समय सिकन्दर को इतिहास-प्रसिद्ध प्रतापी पौरव राजा का युद्धाह्वान प्राप्त हुआ। सिकन्दर ने उसे स्वीकार कर झेलम नदी पार की और पुरु जनपद पर आक्रमण कर दिया। उसका सामना पौरव राजा के पुत्र ने किया और वह वीरगति को प्राप्त हुआ। अन्त में पौरव ने अपनी विशाल सेना के साथ रणनीति बनाकर सिकन्दर का सामना किया और अपने शौर्य तथा रणकौशल से सिकन्दर को विस्मित कर दिया। किन्तु अनेक कारणो से अन्त मे अपने एक मित्र के कहने से उसने आत्म-समर्पण कर दिया। सिकन्दर ने पौरव के साथ सम्मान का व्यवहार किया और उसका राज्य उसे लौटा दिया।

अपनी विजय-यात्रा के साथ जब वह व्यास नदी तक पहुँचा तो वहाँ उसकी सेनाओं ने विद्रोह कर दिया, जिसके फलस्वरूप उसको नन्द-साम्राज्य के साथ शक्ति-परिक्षण का मौका नहीं मिला। अनेक भारतीय जनपदों पर अपनी

अधीनता की छाप छोड़कर वह लगभग 325 ई० पूर्व में भारत से वापस चला गया और दो वर्ष बाद 323 ई० पूर्व में बेबिलोन में उसका निधन हो गया। इस प्रकार उसकी सारी महत्त्वाकांक्षाएँ और बल-वैभव उसी के साथ समाप्त हो गये।

मौर्य साम्राज्य

भारतीय इतिहास के वीर सेनानायक बिम्बिसार और उसके पुत्र अजातशत्रु ने लगभग 6ठी शती ई०पूर्व में जिस महान् मगध साम्राज्य को प्रतिष्ठित किया था, लगभग 4थी शती ई० पूर्व के अन्तिम चतुर्थांश मे वह अपने पूर्ण वैभव एवं गौरव को प्राप्त हुआ और उसकी यह स्थिति लगभग 2री शती ई० पूर्व तक अक्षुण्ण रूप में बनी रही। उसका सम्पूर्ण श्रेय प्रतापी एवं यशस्वी मौर्य शासकों को है।

मगध के मौर्य साम्राज्य का उदय भारतीय इतिहास की महानतम उपलब्धियों में से है। मौर्यों ने एक ओर तो उत्तर-पश्चिम भारत, गन्धार, सिन्ध और पंजाब से ईरानियों का प्रभुत्व समाप्त किया और दूसरी ओर शक, यवन, किरात, कम्बोज, पारसीक और वाह्लीक आदि विभिन्न जातियों की युद्ध कुशल विशाल सेना के साथ पूर्वी भारत मे स्थापित अपराजेय नन्द साम्राज्य के अस्तित्व को सदा के लिए समाप्त कर दिया। इस प्रकार मौर्यों ने पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय प्राप्त किया। सुदूर पूर्व ईरान की सीमाओं को भी उन्होंने अपने साम्राज्य का अंग बनाया।

मौर्य साम्राज्य के शासनकाल के सम्बन्ध मे इतिहासकार विद्वानों मे मतभेद हैं। विभिन्न पुराण-ग्रन्थों मे उल्लिखित मौर्य-वंश की तालिका मे जो अनेकरूपता देखने को मिलती है, उसका ऐतिहासिक परीक्षणकर विद्वानो ने मौर्य शासकों का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया है—चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल, दशरथ (बन्धुपालित), सम्प्रति (इन्द्रपालित), शालिशूक, सोमधर्मा (देवधर्मा), शतधनुष (शतधन्वा) और बृहद्रथ या बृहदश्व।

इतिहासकार विद्वानो में मौर्य शासकों की उक्त वंश-परम्परा के सम्बन्ध मे मतैक्य होते हुए भी उनके ऐतिहासिक वृत्त और विशेष रूप से उनके कालक्रम के निर्धारण मे मत-वैभिन्न्य देखने को मिलता है। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने वायु, विष्णु और मत्स्य आदि पुराणों में उल्लिखित ऐतिहासिक

वृत्तों की तुलनात्मक समीक्षा करने के उपरान्त एक तालिका बनायी थी, जिसको कि श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने भी (भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 3. पृ० 617) प्रामाणिक माना है। वह इस प्रकार है :

1. चन्द्रगुप्त 326-302 ई०पूर्व
2. बिन्दुसार 302-277 "
3. अशोक 277-236 "
4. कुणाल 236-228 "
    - 5. दशरथ (बन्धुपालित) 228-220
    - 6. सम्प्रति (इन्द्रपालित) 220-211
7. शालिशूक 210-210
8. सोमधर्मा (देवधर्मा) 210-203
    - 9. शतधनुष या शतधन्वा 203-195
    - 10. बृहद्रथ या बृहदश्व 195-182

आधुनिक इतिहासकार विद्वानों ने प्राय: एकमत से या अल्प मतभेद से मौर्य शासको की वंश-परम्परा और उनके शासन के कालक्रम को अधिक विस्तार से इस प्रकार निर्धारित किया है :

चन्द्रगुप्त मौर्य (लगभग 321-297 ई०पूर्व)
बिन्दुसार (297-272 ई०पूर्व)

- सुषीम अथवा सुमन
- अशोक (272-232 ई०पूर्व)
    अशोक की पत्नियाँ :
    विदिशा देवी,
    पद्मावती
    असन्दिमित्रा, कारुवाकी और
    तिष्यरक्षिता
    - कुणाल अथवा सुयशस् (232-224 ई० पूर्व)
    - जालौक
    - तीवर
- तिस्भ
- अन्य पुत्र

कुणाल अथवा सुयशस्

दशरथ (बन्धुपालित)
(224-216 ई०पूर्व)

सम्प्रति (इन्द्रपालित)
(216-207 ई०पूर्व)

शालिशूक (बृहस्पति ?)

कुछ पुराण इसका 13 वर्ष का शासनकाल बताते हैं। परन्तु अन्य पुराणों में इसका उल्लेख तक नहीं है। कदाचित् इसका शासन स्वल्पकालीन था, सम्भवतः एक या दो साल (207-206 ई०पूर्व)

देववर्मन् या सोमशर्मन् (लगभग 206-199 ई०पूर्व)
शतधनुस् या शतधन्वन् (लगभग 199-191 ई०पूर्व)
बृहद्रथ (लगभग 191-184 ई०पूर्व)

चन्द्रगुप्त

नन्द-वंश के अतुल वैभव को पराभूत कर देने वाले नीतिज्ञ राजा चन्द्रगुप्त मौर्य के कुल-मूल के सम्बन्ध में अनेकानेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। एक किम्वदन्ती यह है कि वह नन्द राजा द्वारा मुरा नामक एक शूद्रा रखैल से उत्पन्न हुआ था, जिससे कि उसको मौर्य कहा गया, किन्तु 'मुरा' शब्द का अपत्यवाचक 'मौर्य' न होकर 'मौरेय' होता है। इसलिए यह अनुश्रुति विश्वस्त नहीं है। पालि-ग्रन्थों की एक अनुश्रुति में कहा गया है कि चन्द्रगुप्त शाक्यों की एक शाखा 'मौरियों' से उत्पन्न हुआ था (गाइगर · महावंश, पृ०27)। इसके अतिरिक्त मध्ययुगीन अभिलेखों में उसे क्षत्रिय वंशज कहा गया है। इन आधारों पर यह सिद्ध होता है कि नन्द-कुल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था और वह क्षत्रिय था। 321-297 ई० पूर्व 24 वर्षों तक उसने मौर्य साम्राज्य के स्वामित्व का उपभोग किया।

चन्द्रगुप्त की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने वाले दो सुदृढ प्रमाण कौटिल्य और मेगस्थनीज हैं। इन दोनों विद्वानों की कृतियों में तत्कालीन व्यवस्था का स्वानुभूत चित्रण है। प्रसिद्ध बौद्ध पर्यटक मेगस्थनीज ने 'इंण्डिका' नाम से एक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की थी, जो कि सम्प्रति मूल रूप में उपलब्ध नहीं है; किन्तु उसके लम्बे-लम्बे अविकल लेख ग्रीक एवं रोमन लेखकों

की पुस्तकों में आज भी सुरक्षित हैं। दूसरे उद्भट अर्थविद्याविद् विद्वान् कौटिल्य (विष्णुगुप्त, चाणक्य) चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के गौरव थे। उनका 'अर्थशास्त्र' चन्द्रगुप्त के शासन का विश्वकोश है। समस्त भारतीय साहित्य और विशेष रूप से मौर्य साम्राज्य की वह महानतम उपलब्धि है।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के बाद मगध की राजगद्दी पर उसका पुत्र बिन्दुसार आसीन हुआ। उसके सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात होता है कि उसने लगभग 297-272 ई० पूर्व के बीच पच्चीस वर्षों तक अनेक प्रकार के उथल-पुथलो के बीच शासन की बागडोर सुरक्षित रखी।

अशोक

बिन्दुसार के अनन्तर उसका यशस्वी पुत्र अशोक मगध का स्वामी बना। उसका आरम्भिक व्यक्तित्व एक अत्यन्त तेजस्वी, प्रतापी एवं साहसी शासक के रूप में प्रकाश मे आया। जनता को उसकी क्रूरता, युद्ध-लोलुपता और रक्तलिप्सु स्वभाव का परिचय कलिंग की रक्त-रंजित युद्ध-विभीषिका के रूप में प्राप्त हुआ। इस युद्ध मे डेढ़ लाख व्यक्तियों को बन्दी बनाया गया, एक लाख व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये और इससे कई गुना व्यक्ति उस भयकर युद्ध से उत्पन्न व्याधियों तथा उत्पीडनों से स्वयमेव काल-कवलित हो गये।

इस कलिंग-युद्ध के व्यापक जन-सहार ने अशोक को पश्चाताप के सागर मे डुबो दिया। इस पश्चात्ताप के परिष्कार के लिए उसने बौद्धधर्म को अपनाया। बौद्धधर्म की सादगी और सच्चाई से प्रभावित होकर वह सम्राट् से 'प्रियदर्शी' हो गया। उसने कलिंग-विजय को अपनी महान् पराजय स्वीकार किया और व्यापक नर-संहार के प्रति अपने पश्चात्ताप को व्यक्त करते हुए अपने तेरहवें शिलालेख मे शासन के नये आदर्शों को इस प्रकार व्यक्त किया— 'जिन लोगो तक आदरणीय महाराज के दूत नही पहुँच सकते, उन्होने भी धर्म के सम्बन्ध में महाराज की आज्ञाओ को सुना होगा, और वे धर्म का पालन अवश्य करने लगे होगे।"

इस धार्मिक सहिष्णुता ने उसके व्यक्तित्व को असामान्य रूप से ऊँचा उठा दिया। उसके सम्बन्ध मे विद्वानों का कहना है कि विश्व के राजनीतिक इतिहास में अशोक प्रथम शान्तिवादी शासक के रूप मे विश्रुत हुआ। "सार्वभौम धर्म के सर्व प्रथम निरूपण का श्रेय" उसी को दिया गया है (अशोक, पृष्ठ

60-76) । इस प्रथम शान्तिवादी शासक ने बौद्धधर्म को अपनी राजनीति का अभिन्न अंग बना दिया था । बौद्धधर्म को उसने मानवधर्म के रूप में स्वीकार किया और उसकी उदारता, नैतिकता तथा सहिष्णुता को अपने आदर्शों के प्रतीक के रूप मे प्रचारित किया । उन्ही के आधार पर उसने अपने शासन के कर्त्तव्यों तथा अधिकार-सीमाओं को निश्चित किया । राजाज्ञा के रूप में उत्कीर्णित अपने शिलालेखों मे उसने अपने इन्ही नये आदर्शों की घोषणा की । उसके परिणामस्वरूप बौद्धधर्म न केवल मगध की सीमाओ तक सीमित रहा, अपितु समस्त भारत का जीवनादर्श बन गया । भारत के बाहर भी उसके उदार एवं महान् शासन का सन्देश प्रचारित हुआ ।

अशोक की इस उदार धर्मनीति के अनेक सुपरिणाम सामने आये । मौर्य-पूर्व भारत मे छोटे-बड़े राज्यो एव जनपदो के जो पारस्परिक वैमनस्य परम्परा से चले आ रहे थे, वे मिट गये और धर्म के अनुशासन ने सबको एक साथ बैठने के लिए विवश किया । इसके साथ ही सामाजिक जीवन मे जो आर्थिक अलगाव, ऊँच-नीच और स्वामि-दास के वर्ण-भेद थे, वे भी अपने-आप समाप्त हो गये । भारत मे आये जो विदेशी अपने भविष्य की अस्थिरता से चिन्तित थे, उनके सन्देह भी स्वतः ही शान्त हो गये और अशोक के सुख-सम्पन्न एवं कल्याणकारी शासन मे उन्होंने स्वय को भारतीयता में समाहित कर दिया ।

अशोक के अभिलेख

सम्राट् अशोक के अभिलेख प्राचीन भारत की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक एवं साहित्यिक धरोहर हैं । राष्ट्रीय दृष्टि से भी उसका विशिष्ट महत्त्व है । मौर्य साम्राज्य और विशेष रूप में समाट् अशोक की यशोगाथा के प्रतीक ये अभिलेख पर्वतों, प्रस्तर-स्तम्भों और प्रस्तर-फलको पर उत्कीर्णित एवं खनित तीन रूपों मे उपलब्ध हुए है । वे उत्तर मे हिमालय तक, दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व में उड़ीसा से लेकर पश्चिम मे काठियावाड़ तक विस्तृत भू-भाग मे फैले हुए हैं । इन अभिलेखों का तीन दृष्टियो से विशेष महत्त्व माना गया है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वा० 1, पृ० 618) ·

1. इन अभिलेखो की सहज, स्वाभाविक, उदात्त और गम्भीर वाणी द्वारा अशोक की जीवनी पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है ।

2. ये अभिलेख अशोक तथा अशोककालीन इतिहास-निर्माण के लिए स्वतः प्रमाण हैं, और इसलिए इतिहासकारों ने उनको सदैव प्रामाणिकता से उद्धृत किया है ।

3. इन अभिलेखों से पालि भाषा के स्वरूप और उसके विकास-क्रम पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है ।

कालक्रम की दृष्टि से विन्सेंट स्मिथ ने अशोक के अभिलेखों को आठ भागों में वर्गीकृत किया है (आक्सफोर्ड हिस्ट्री आॅफ इंडिया, पृ० 103-104) । उसका विवरण इस प्रकार है :

1. **लघु अभिलेख**—ये संख्या मे सात हैं, जो सहसराम (बिहार), रूपनाथ (जबलपुर के समीप), वैराट (जयपुर), ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर (तीनों मैसूर मे) और मास्की (हैदराबाद) में उपलब्ध हुए हैं ।

2. **भाब्रू अभिलेख**—इसकी संख्या एक है, जो जयपुर मे विराट के समीप मिला है ।

3. **चौदह अभिलेख**—ये अभिलेख पहाड़ों की चट्टानों पर उत्कीर्णित हैं, जो शाहबाजगढी, मनसेहर (पेशावर), कालसी (देहरादून), गिरनार (काठियावाड), धौली (कटक) और जौगढ (मद्रास) में मिले हैं ।

4. **दो कलिंग अभिलेख**—ये अभिलेख कलिंग में पत्थर की चट्टानों पर खुदे हुए हैं ।

5. **तीन गुफा लेख**—ये तीनो अभिलेख गया के समीप बाराबर नामक पहाडी में उपलब्ध हुए हैं ।

6. **दो तराई स्तम्भ लेख**—ये दोनो अभिलेख नेपाल की तराई में क्रमशः रुक्मनदेई और निग्लिवा नामक गाँवो के समीप प्राप्त हुए हैं ।

7. **सात स्तम्भ लेख**—स्तम्भो पर उत्कीर्णित ये अभिलेख मेरठ, टोपरा (अम्बाला), प्रयाग, लौरिया, अरराज, लौरिया नन्दनगढ़ और रामपुरवा (तीनो चम्पारन, बिहार) में मिले हैं ।

8. **चार गौण स्तम्भ लेख**—इनमें से दो अभिलेख साँची और सारनाथ के तोरणो पर खुदे हुए हैं और दो प्रयाग स्तम्भ पर पीछे से जोड दिये गये हैं ।

अशोक की तीसरी बौद्ध संगीति

बुद्ध-परिनिर्वाण के 236 वर्ष बाद और अपने अभिषेक के सत्रहवें वर्ष सम्राट् अशोक ने पाटलिपुत्र मे बौद्धधर्म की विच्छिन्न परम्परा और बौद्धधर्म के विभक्त पन्थो की विचारधारा में समन्वय स्थापनार्थ देश भर के ख्यातनामा विद्वानो और बौद्ध दार्शनिको को आमन्त्रितकर एक बृहद् अधिवेशन का

आयोजन किया था, इतिहास मे जिसे 'तृतीय बौद्ध संगीति' के नाम से कहा गया है। इस संगीति का विस्तृत वर्णन 'दीपवंश', 'महावंश' और 'सामन्तपासादिका' में मिलता है। अशोक के गुरु तिस्स मोगलिपुत्त इस अधिवेशन के सभापति थे और निरन्तर नौ मास तक वह चलता रहा। थेर तिस्स ने एक हजार पारंगत भिक्षुओ को बौद्धधर्म के भावी निश्चय के लिए एकाधिकार दिया। इसी संगीति मे बौद्ध त्रिपिटको का अन्तिम रूप से संकलन हुआ और 'अभिधर्मपिटक' की कथावस्तु पूर्ण हुई, जिसके कारण बौद्ध-ज्ञान के भावी विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

इससे पूर्व दो संगीतियो की तुलना मे इस संगीति की विशेषता यह थी कि इस समय अशोक ने यवन, कम्बोज, गन्धार, राष्ट्रिक, पित्तनिक, भोज, आन्ध्र, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पाण्ड्य और सिंहल आदि देश-विदेश के अनेक भू-भागो मे बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अपने धर्मोपदेशक भिक्षुओ को भेजा। जिन-जिन धर्मोपदेशक विद्वान् भिक्षुओ को जिस-जिस प्रदेश मे भेजा गया, उनकी नामावली भी उक्त तीनो बौद्ध-ग्रन्थों मे दी गयी है।

जैन साहित्य

मौर्य युग मे बौद्ध-साहित्य के निर्माण के साथ-साथ जैन-साहित्य की भी अभिवृद्धि हुई। महावीर स्वामी ने जैन-धर्म सम्बन्धी जिन धार्मिक प्रवचनो एव उपादेय शिक्षाओ को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया था, यद्यपि सर्व प्रथम उनका अगो-उपागो मे सम्पादन एव वर्गीकरण उन्ही के शिष्य आचार्य सुधर्म कर चुके थे, और आचार्य जम्बूस्वामी, आचार्य प्रभव तथा आचार्य स्वयम्भव द्वारा उनका प्रवर्त्तन हो चुका था, तथापि जैन वाङ्मय का बहुमुखी विकास आगे चलकर मौर्य युग मे ही हुआ। 'दशवैकालिकसूत्र' के निर्माता आचार्य स्वयम्भव और उनकी परम्परा के आचार्य यशोभद्र तथा आचार्य सम्भूतिविजय तीनो मौर्य युग के प्रारम्भ मे हुए।

जैनधर्म के पुनरुद्धारक एव जैन-साहित्य के समर्थक आचार्य भद्रबाहु का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। वे चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे और उन्होने 'निर्युक्ति' नामक एक पाण्डित्यपूर्ण भाष्य-ग्रन्थ की रचना करके जैनधर्म के महत्त्व को प्रस्थापित किया था। इसी समय आचार्य स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र मे तत्कालीन जैनाचार्यो की एक 'सगत' या संगीति का अधिवेशन आयोजित किया। इस 'सगत' मे जैनधर्म-ग्रन्थो का नये सिरे से सकलन और सम्पादन

हुआ। मगध में विलुप्त 14 पूर्व संयुक्त के 12वें अंग का कुछ अंग नेपाल से प्राप्तकर मौर्य युग मे ही उसके प्रामाणिक पाठ का निर्धारण हुआ। आचार्य भद्रबाहु जब कर्नाटक से मगध वापस आये और उनके समक्ष आचार्य स्थूलभद्र ने उक्त संकलन प्रस्तुत किया तो उन्होने उसकी प्रामाणिकता मानने से इन्कार कर दिया। फलतः इस मत-वैभिन्य के कारण मौर्य युग में ही जैनो के दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का जन्म हुआ।

ब्राह्मण साहित्य

आचार्य कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' मौर्ययुगीन साहित्य-निर्माण का आधार है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत साख्य, योग और लोकायत (चार्वाक दर्शन) को परिगणित किया जाने लगा था। 'अर्थशास्त्र' (३।१, पृ० 150) से यह भी ज्ञात होता है कि न्याय और मीमासा को स्वतन्त्र दर्शनो के रूप मे मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' (३।४।८।१३) मे भी न्यायविदो और मीमासकों का उल्लेख होने से उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य के समय तक ब्राह्मण दर्शनो की विभिन्न शाखाएँ प्रकाश मे आ चुकी थी।

मौर्ययुग मे दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त व्याकरणशास्त्र का भी निर्माण हुआ। सस्कृत व्याकरण के प्रवर्तक एव उन्नायक व्याडि, कात्यायन और पतंजलि तीनो मौर्ययुगीन थे। 'महाभारत' का भी इस युग मे पुनः सस्करण हुआ।

मौर्य साम्राज्य की सुदृढ़ता के आधार

मौर्य साम्राज्य की सुदृढता और लोकप्रतिष्ठा के आधार थे एकता और समानता। वैदिक भारत की सुख-समृद्धि, शान्ति और सम्पन्नता के कारण भी ये चिरन्तन आधार ही रहे हैं। मानव-सभ्यता के उत्तरोत्तर अभ्युत्थान से जहाँ एक ओर निर्माण तथा उन्नति के नये मार्ग खले, वही दूसरी ओर आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण समाज मे वर्गभेद की भी अभिवृद्धि हुई। जातीय श्रेष्ठता तथा निजत्व की अहमन्यता ने भी समाज मे वर्गभेद को बढाने में योगदान किया। इस अहमन्यता के जन्मदाता ब्राह्मण-ग्रन्थो और सूत्र-ग्रन्थो का विरोध यद्यपि परम्परा से चला आ रहा था, किन्तु उसका उन्मूलन करने का प्रबल अभियान चलाया महावीर तथा बुद्ध जैसे समाज-सुधारक सन्तो ने। इन दोनों धर्म-नेताओं के समाज-सुधार-सम्बन्धी उच्चादर्शों को व्यावहारिक

रूप में कार्यान्वयन करने का एकमात्र श्रेय मौर्यों को है। मौर्य-पूर्व समाज के आर्य-आर्येतर, धनिक-निर्धन, स्वामी-दास, भूमिपति-भूमिहीन और शोषक-शोषित की जो विषमता बनी हुई थी उसे दूर करके और जन्म के आधार पर नहीं, अपितु कर्म के आधार पर समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति की स्वतन्त्रता के जो उच्च मानवीय वैदिक आधार थे उनको पूर्णरूपेण समाज में प्रचलित किया मौर्यों ने।

मौर्यों ने अपने साम्राज्य में एकता और समानता की सुदृढ़ता के लिए जातीय श्रेष्ठता के उन्मूलन के साथ दास-वृत्ति को सर्वथा समाप्त कर दिया। उन्होने ऐसी व्यवस्था की कि किसी भी व्यक्ति का विक्रय करना तथा किसी भी व्यक्ति के मौलिक मानवीय अधिकारों के विरुद्ध उसे दासवृत्ति के लिए बाध्य करना धर्म-विरुद्ध है, अत: अवैध है। इस नियम का उल्लघन करनेवाले व्यक्ति के लिए मृत्युदण्ड तक का विधान किया गया। गुलामी या दासता के उन्मूलन की इस लोकहितकारी व्यवस्था के साथ-साथ यह भी नियम बना दिया गया कि किसी शूद्रा तथा दासी-पत्नी या रखेल से उत्पन्न पुत्रो को पिता की सम्पत्ति का जायज उत्तराधिकारी माना जाय।

इस प्रकार मौर्य साम्राज्य मे जन-स्वातन्त्र्य एव समानता के ऐसे महानतम आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई, जिनके कारण जातीय श्रेष्ठता, धार्मिक अहमन्यता और आर्थिक असमानता की विषमताएं समाप्त होकर प्रत्येक नागरिक को कर्म तथा आत्मोन्नति की स्वतन्त्रता और मौलिक मानवीय अधिकारो की प्राप्ति हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक नागरिक अपने व्यक्तिगत दायित्व के प्रति निष्ठावान् होकर राष्ट्रीय गौरव-गरिमा की अभिवृद्धि के लिए अग्रसर हुआ। मौर्यों की इस सुव्यवस्था का यह भी फल हुआ कि जितनी भी बाहरी जातियां विभिन्न प्रयोजनो से भारत मे आकर रहने लगी थी, किन्तु जिन्हे अपनी सुरक्षा तथा आत्मोन्नति के प्रति आशका थी, उन्हे भी राष्ट्रीयता का स्थायी अधिकार प्राप्त हो जाने के कारण अपने भविष्य के प्रति आशा बँधी।

धर्मनिरपेक्षता

मौर्य साम्राज्य की स्थिरता एवं प्रतिष्ठा का प्रबल आधार उनकी धर्मनिरपेक्षता थी। भारतीय इतिहास में सर्व प्रथम धर्मनिरपेक्ष शासन की स्थापना का श्रेय मौर्यों को ही है।

मौर्य-पूर्व ब्राह्मण, जैन, बौद्ध और आजीवक आदि विभिन्न धार्मिक पन्थों मे जो चिरकालीन पारस्परिक मतभेद एवं वैमनस्य चला आ रहा था, मौर्य शासको, और विशेष रूप से अशोक की उदार धर्मनीति ने उसमे समता, सौहार्द एवं सामंजस्य का बीजारोपण किया। अशोक की इस जन-कल्याणकारी नीति का परिचायक उसका बारहवाँ शिलालेख है। इस शिलालेख द्वारा अशोक ने अपने साम्राज्य मे यह राजाज्ञा प्रचारित की कि कोई भी व्यक्ति न तो अपने को तथा न अपने धर्म को श्रेष्ठ कहे और न दूसरे तथा दूसरे के धर्म को हीन माने। बल्कि दूसरे के धर्म की कतिपय विशेषताओं को दृष्टि मे रखकर उसका सम्मान ही करना चाहिए। ऐसा करने से उस व्यक्ति का धर्म तो बढता ही है, साथ ही दूसरे के धर्म को भी लाभ होता है। किन्तु इसके विपरीत आचरण करने वाले व्यक्ति के धर्म को तो क्षति पहुँचती ही है और दूसरे के धर्म की भी हानि होती है।

अशोक की इस राजाज्ञा से समाज में धार्मिक सहिष्णुता को बल मिला। उसके व्यापक सुपरिणाम प्रकट हुए। भारतीयों द्वारा विजित जाति के लोगों और उन लोगों पर इस उदार धर्म-नीति का अच्छा प्रभाव पडा, जो उद्योग-व्यवसाय-व्यापार आदि के विभिन्न प्रयोजनों से भारत में आये थे। इस नयी व्यवस्था के कारण न केवल विदेशियों ने उदात्त भारतीय संस्कृति को सहर्ष वरण किया, अपितु भारतीयों ने भी उनके रहन-सहन, आचार-विचार और परम्पराओ के प्रति सम्मान का भाव प्रकटकर अपनी सहिष्णुता का परिचय दिया। इस प्रकार धर्म-निरपेक्ष मौर्य साम्राज्य में व्यापक मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा होकर भारतीय सस्कृति के संवर्द्धन तथा विकास-विस्तार के लिए सुदृढ भूमिका की नीव पडी।

कर्म निरपेक्षता

मौर्ययुग की इस नवीन सामाजिक व्यवस्था ने कर्म के क्षेत्र को भी प्रभावित किया। अब तक वर्णों के अनुसार कर्मों का विभाग होता था; किन्तु अब कोई भी व्यक्ति चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य किसी भी वर्ण का हो, अपनी इच्छा के किसी भी कर्मक्षेत्र को अपनाने के लिए स्वतन्त्र था। मौर्ययुग की यह अविस्मरणीय विशेषता विशेष रूप में उल्लेखनीय है कि मौर्यों के शासन में कर्म के आधार पर किसी की भी ऊँची-नीची श्रेणी निर्धारित नही थी। ब्राह्मण एक ओर अध्ययन-अध्यापन ओर दूसरी ओर उद्योग-व्यवसाय करने

लगे थे । इस प्रकार मौर्ययुगीन सामाजिक सुस्थिरता के लिए धर्मनिरपेक्षता और कर्मनिरपेक्षता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा ।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र : मौर्ययुग का विश्वकोश

आचार्य कौटिल्य, प्रतापी मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु एवं महामात्य थे । भारतीय साहित्य मे उनका व्यक्तित्व पुराणों से लेकर काव्य, नाटक और कोश आदि ग्रन्थो में सर्वत्र गौरव के साथ उल्लिखित है । कौटिल्य द्वारा नन्द-वंश के विनाश और उसकी जगह मौर्य साम्राज्य की प्रतिष्ठा करने से सम्बन्धित 'विष्णु पुराण' मे एक सन्दर्भ आया है, जो इस प्रकार है—"महाभद्र तथा उसके नौ पुत्र 100 वर्ष तक राज्य करेंगे । अन्त में कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण उस वंश-परम्परा के अन्तिम उत्तराधिकारी का नाश करेगा । नन्द-वश के उन्मूलन के बाद मौर्य-वंश पृथ्वी का उपभोग करेगा । मौर्य-वश के प्रथम प्रतापी शासक चन्द्रगुप्त को कौटिल्य राज्याभिषिक्त करेगा । उसका पुत्र बिन्दुसार और बिन्दुसार का पुत्र अशोक होगा ।"

पुराण की यह भविष्यवाणी ऐतिहासिक स्रोतो से प्रमाणित हो चुकी है । ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि 642-372 ई० पूर्व (585-315 वि० पूर्व) मे मगध पर शिशुनाग-वश का अधिकार बना रहा और तदनन्तर नन्द-वंश ने उसका उत्तराधिकार प्राप्त किया, जिसके प्रथम पराक्रमी शासक का नाम था महापद्मनन्द । उसने 88 वर्षों तक राज्य का उपभोग किया । तदनन्तर 22 वर्षों तक उसके उत्तराधिकारियो का शासन बना रहा । उसके बाद प्रतापी मौर्य-वश मगध पर प्रतिष्ठित हुआ । चन्द्रगुप्त मौर्य उसका प्रथम यशस्वी सम्राट् था, जिसको पचनद की ओर से नन्दवंश के विरोध मे उभाड कर स्वाभिमानी एव राष्ट्रप्रेमी ब्राह्मण कौटिल्य या चाणक्य मगध की ओर लाया । मगध की राज्यलक्ष्मी को मौर्यों के अधीन करने का श्रेय कौटिल्य को ही है । उसके विलक्षण पाण्डित्य का परिचायक 'अर्थशास्त्र' आज भी भारतीय अर्थविद्या का एकमात्र ग्रन्थ माना जाता है ।

यद्यपि कौटिल्य से पूर्व भी अनेक अर्थशास्त्री थे तथा अर्थशास्त्र पर, विशाल ग्रन्थो की रचना हो चुकी थी, फिर भी कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' का अपना अलग महत्त्व है । विष्णुगुप्त उनका वास्तविक नाम था और चणकपुत्र होने के कारण उन्हें चाणक्य तथा कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण कौटिल्य भी कहा जाता है । कौटिल्य के सम्बन्ध में आधुनिक इतिहासकार विद्वान् एकमत

हैं कि वह चन्द्रगुप्त मौर्य (321-297 ई० पूर्व) का महामात्य था (जे० बी० ओ० आर० एस०, पृष्ठ80); चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, 2, पृष्ठ 673-700)।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के हस्तलेख को खोज निकालने और उस पर प्रामाणिक प्रकाश डालने का श्रेय आचार्य शाम शास्त्री को है। 'अर्थशास्त्र' तथा 'कौटिल्य' दोनों नामों को जाली कहने वाले डॉ० जौली, विंटरनित्स आदि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्तियों का भी उन्होंने निराकरण किया।

'अर्थशास्त्र' का महत्त्व न केवल मगधपति सम्राट् चन्द्रगुप्त के इतिहास तक ही सीमित है, अपितु संस्कृत-साहित्य और समस्त भारतीय वाङ्मय को उसने अत्यधिक रूप से प्रभावित किया। वाल्मीकि 'रामायण', पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' ने भारतीय साहित्य को उज्जीवित किया। उनके प्रभाव से बृहद् वाङ्मय तथा जन-जीवन का नव-निर्माण हुआ। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में प्राचीन भारत की संस्कृति का भी दिग्दर्शन हुआ है। शासन तन्त्र की दृष्टि से कौटिल्य ने तत्कालीन संघराज्यों और उनके द्वारा शासित भारतीय जन-जीवन का विस्तार से चित्रण किया है (अधिकरण 11)। उसमें उन संघराज्यों के सुदृढ़ संगठन और साम्राज्य-रक्षा के लिए उनकी रीति-नीतियों का अच्छा परिचय मिलता है।

संघराज्य

कौटिल्य ने दो प्रकार के संघराज्यों का उल्लेख किया है : एक तो राजा की उपाधि धारण करनेवाले राजशासित राज्य और दूसरे बिना राजा की उपाधि धारण करने वाले संघराज्य। संघराज्यों के अन्तर्गत कौटिल्य ने लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु और पांचाल को परिगणित किया है। दूसरी श्रेणी के, बिना राजा की उपाधि धारण करनेवाले संघराज्यों का उल्लेख कौटिल्य ने इस प्रकार किया है : काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणी आदि। इन्हें कौटिल्य ने शस्त्र, व्यापार और कृषि द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाला बताया है।

राष्ट्र संगठन

प्राचीन भारत में राष्ट्र-संगठन का समस्त दायित्व मन्त्रि-परिषद् पर हुआ करता था। उसकी उत्पत्ति वैदिक युग की राष्ट्रीय सभा से हुई; किन्तु बाद में हिन्दू राज्यों के अभ्युदय के कारण उसकी उपयोगिता बढ़ती गयी। राष्ट्र के

धर्म, अर्थ, शासन और न्याय का संचालन उसी के द्वारा होता था। सर्वांगीण साम्राज्य की सुरक्षा-व्यवस्था का दायित्व भी उसी पर निर्भर होता था।

कौटिल्य यद्यपि एकराज्य शासन-प्रणाली का समर्थक रहा है, जिसमें राजा ही सब कुछ होता है, किन्तु मन्त्रि-परिषद् की अनिवार्यता को उसने भी स्वीकार किया है। उसका कहना है कि राजा को अपने प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य मन्त्रि-परिषद् के परामर्श से करने चाहिएँ और सन्दिग्ध तथा विवादास्पद विषयों में जो बहुमत द्वारा समर्थित हो, उन्हीं को कार्यान्वित करना चाहिए। मन्त्रि-परिषद् को कौटिल्य ने राजा का चक्षु कहा है।

कौटिल्य के अनुसार मन्त्री और अमात्य दो अलग-अलग पद थे। कौटिल्य ने लिखा है कि "इस प्रकार राजा को चाहिए कि यथोचित गुण, देश, काल और कार्य की व्यवस्था को देखकर वह सर्वगुण-सम्पन्न व्यक्तियों को अमात्य बना सकता है; किन्तु सहसा ही उन्हे मन्त्रि-पद पर नियुक्त न करे।" इससे स्पष्ट है कि मन्त्री और अमात्य, दो भिन्न-भिन्न पद थे और उनमे मन्त्रि-पद बडा था।

शासन

कौटिल्य ने जिन संघराज्यो (गणराज्यों) का उल्लेख किया है, वे आधुनिक प्रजातन्त्र के स्वरूप थे, जिनका अध्यक्ष (राजा) जनता द्वारा निर्वाचित होता था। शासन-व्यवस्था के सन्दर्भ मे कौटिल्य ने नगर की व्यवस्थापिका सभा (नगरपालिका) का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसके छ. विभाग बताये गये है। प्रत्येक विभाग का सचालन पाँच सदस्यो (जन-प्रतिनिधियो) द्वारा होता था। एक विभाग का कार्य कलाकारो (कारीगरो) की निगरानी करना था, दसरे विभाग के हाथ मे विदेशियो की देख-रेख तथा उनके आवास आदि की व्यवस्था थी, तीसरा विभाग जनगणना, स्वास्थ्य तथा आय-व्यय से सम्बन्धित था, चौथा विभाग मुद्रा तथा विनिमय, तौल, चुगी तथा पासपोर्ट आदि का कार्य देखता था, पाँचवाँ विभाग नगर-निर्मित वस्तुओं की निगरानी के लिए नियुक्त था और छठा विभाग केवल कर वसूली था।

राजदूत और गुप्तचर

वैदेशिक सम्बन्धो की स्थापना के लिए राजदूत का आज जो महत्त्व माना जाता है, कौटिल्य के समय में भी उसको वही मान्यता प्राप्त थी। उसे राजा का मुख माना गया है। परराष्ट्र-सम्बन्धी नीति-नियमो के कार्यान्वयन में उसे

राजा का प्रतिनिधि कहा गया है। कौटिल्य ने राजदूतो की तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं :

1. निसृष्टार्थ (सन्देश-वाहक), 2. परिमितार्थ (निर्धारित सीमाओ के अन्तर्गत कार्य करने वाला) और 3. शासनहर (राजनयिक सम्बन्धो को स्थापित करने वाला)।

कौटिल्य की अर्थनीति में गुप्तचरों का स्थान बहुत ऊँचा एवं उपयोगी माना गया है। शासक को प्रजा के कष्टो, क्लेशों और पीड़ाओ की सूचना देना, प्रजा की सुख-शान्ति में बाधा उत्पन्न करने वालों और राजकीय नियमो के पालन करने-कराने में रोक लगाने वालों का दमन करना गुप्तचरो का प्रमुख कार्य था। राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर शासन के हिताहितों का पता लगाना भी उनका कार्य था। कौटिल्य ने गुप्तचरो की नौ श्रेणियाँ निर्धारित की हैं।

समाज व्यवस्था

एक बृहत्तर राष्ट्र के निर्माण और संचालन के लिए जितनी बातों की भी आवश्यकता होती है कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में उन सब पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। समस्त भारतीय इतिहास मे मौर्य साम्राज्य का ही एकमात्र नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि 'अर्थशास्त्र' के रूप में उसका सर्वांगीण स्वरूप आज भी सुरक्षित है। 'अर्थशास्त्र' का इस दृष्टि से भी महत्त्व है कि उसमें बृहद् भारत की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्था का विशद निरूपण हुआ है।

सामाजिक संगठन, राष्ट्रीय उत्थान और शासन की सुदृढता को दृष्टि मे रखकर कौटिल्य ने समग्र राष्ट्र को दो भागो में विभक्त किया है—पुर और जनपद। पुर के अन्तर्गत नगर, दुर्ग एवं राजधानी और जनपद के अन्तर्गत शेष सारे राष्ट्र का निर्धारण किया गया है।

कौटिल्य ने पारिवारिक तथा सामाजिक सुव्यवस्था के लिए वैदिक परम्परा से मान्य वर्णाश्रम धर्मों की उपयोगिता एवं आवश्यकता को स्वीकार किया है; किन्तु युग की परिवर्तित परिस्थियों के अनुरूप उनमें कुछ संशोधन भी किया है। पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों के पूर्ण निर्वाह के लिए प्रत्येक नागरिक का अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है। मौर्य-पूर्व भारत के जैनों, बौद्धो तथा आजीवक धर्मग्रन्थों ने जीवन की क्षणभंगुरता और व्यक्तिगत

आत्मोन्नति के सिद्धान्त की स्थापनाकर समाज को गृहत्याग, संन्यास और भौतिक दायित्वों के प्रति उदासीन बना दिया था। लोग घर, परिवार, समाज को छोड़कर भिक्षुमय जीवन अपनाने के लिए तेजी से अग्रसर हो रहे थे। इस प्रवृत्ति से समाज का दो तरह से अहित हुआ। एक तो प्रेम, स्नेह तथा आत्मीयता के सम्बन्ध शिथिल पड़ गये और दूसरे मे समाज की जनसख्या-वृद्धि मे अवरोध उत्पन्न हो गया। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए कौटिल्य ने वर्णाश्रम धर्म की नयी सहिता बनायी। कौटिल्य ने समस्त जन-समुदाय को चार भागों मे विभक्त किया है--क्षत्र (योधा), ब्रह्मन् (पुरोहित), विश् और कर्मकर (कारीगर)। क्षत्र वर्ग समाज का नेता, शासक या राजा के पद पर प्रतिष्ठित हुआ करता था। ब्रह्मन् अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण आमात्य, न्यायाधीश तथा धार्मिक नेता के महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन होता था। विश् वर्ग कृषि तथा व्यापार का कार्य देखता था। अन्तिम कर्मकरो या कारीगरो का चौथा वर्ग विभिन्न प्रकार के शिल्पों, कलाओ और शारीरिक श्रम द्वारा जीविकोपार्जन करता था।

परम्परागत वैदिक मान्यताओ के अनुरूप समाज के उक्त चारो वर्गों के अधिकारो तथा कर्त्तव्यो की मीमासा तथा उनका निर्धारण करते हुए कौटिल्य ने समस्त उद्योग-व्यवसायो का राष्ट्रीयकरण करके वृत्ति, वेतन या श्रम पाने वाले चौथे वर्ग के समस्त कर्मकरो के लिए राज्य की ओर से विशेष व्यवस्था का प्राविधान किया। उसने कृषि कार्य मे लगे श्रमिको, विभिन्न प्रकार के उद्योग-व्यवसायो द्वारा आजीविका कमाने वाले मजदूरो और सेवा कार्य मे निरत भृतको के लिए नियम बनाये। दासो तथा भृतको के भरण-पोषण और श्रमिको की सुरक्षा और विपत्तिग्रस्त होने की अवस्था मे उनकी आजीविका के स्थिरीकरण के लिए विशेष व्यवस्था की गयी। मालिको, मजदूरो, व्यवसायिकों और श्रमिको के पारस्परिक विवादो को तय करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर नियम बनाये गये। कार्यालयो मे कार्य करने वाले लोगो के लिए विभिन्न पदो और तदनुरूप वेतन-क्रमो का भी सर्व प्रथम निर्धारण किया गया। विभिन्न उद्योग-व्यवसायो को वित्तीय क्षमता के अनुसार मूल्यवान् वस्तुओ के आयात-निर्यात पर राजकीय कर और उनकी वसूली का भी प्रबन्ध किया गया। सामाजिक क्षेत्र मे उद्योग-व्यवसायो को स्थापित करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी। इस बात की निगरानी के लिए कठोर नियम बना दिये गये कि श्रमिको का किसी प्रकार शोषण न हो। व्यक्तिगत व्यवसायो पर भी राजकीय अंकुश की व्यवस्था की गयी।

समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति के जीवन-निर्वाह के लिए राजा (शासक) को उत्तरदायी माना गया। शारीरिक दृष्टि से श्रम करने में असमर्थ विकलांग, अपाहिज और असहाय विधवाओं के भरण-पोषण की व्यवस्था राजा पर निर्भर की गयी। समाज की सुव्यवस्था के लिए नियुक्त राज्याधिकारियों के कार्यों की देख-रेख के लिए भी गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया।

सामाजिक नियमन के लिए परम्परागत आश्रम-व्यवस्था को वरीयता दी गयी और उसको सुदढ़ बनाने के लिए नियम बना दिये गये। कौटिल्य ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-इन चारों आश्रमो को जीवन के प्राकृतिक नियमों के रूप मे स्वीकार किया है। इन चारो अवस्थाओं की स्वाभाविक एव नियत व्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति के लिए कौटिल्य ने कठोर दण्ड का प्राविधान किया है। समाज मे उसके दुरुपयोग से निष्क्रियता न फैल जाय, इस पर भी दृष्टि रखी गयी। कुछ प्रतिबन्धों के बावजूद कौटिल्य ने विधवा-विवाह को स्वीकृति प्रदान की है। ऐसी स्त्रियों के लिए भी उन्होने पुनर्विवाह का विधान किया है, जिनके पति राजद्रोही, नपुसक अथवा जिनका कई वर्षों से कुछ पता न चला हो। पत्नी उस स्थिति में विवाह-विच्छेद कर सकती है, यदि उसका पति मानसिक दृष्टि से विकृत एव अस्वस्थ हो। किन्तु ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहो के सम्बन्ध-विच्छेद पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

गृहस्थ-जीवन से अवकाश ग्रहण करने के सम्बन्ध में भी कौटिल्य ने विशेष नियम बनाया। उन्होने स्पष्ट निर्देश किया है कि जब तक कोई व्यक्ति अपने पुत्र के पुत्र (पोते) को नही देख लेता, वह गृहस्थ-जीवन से अवकाश ग्रहण करने का अधिकारी नही है। "यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी और सन्तति के भरण-पोषण का प्रबन्ध किये बिना तपस्वी जीवन (वानप्रस्थ, संन्यास) ग्रहण कर लेता है तो वह दण्डनीय है। जो व्यक्ति किसी स्त्री को संन्यास धारण करने में सहायक या प्रेरक होगा, उसे भी दण्डित किया जायगा।"

कौटिल्य ने सामाजिक मर्यादा तथा सुव्यवस्था के लिए वर्णाश्रम धर्म के परिपालन की अनिवार्यता को दृढ़तापूर्वक प्रस्थापित किया है। कौटिल्य का अभिमत है कि वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति को सामूहिक हित की ओर प्रेरित करती है, जब कि आश्रम-व्यवस्था से व्यक्तिगत उन्नयन का मार्ग प्रशस्त होता है। कौटिल्य की इस नयी परिवार-समाज-संहिताओ ने वर्णाश्रम धर्म की परम्परागत वैदिक मर्यादा की रक्षा करके, बीच में उसके विघटन के लिए

जिस स्वेच्छाचारिता का उदय हुआ था उस पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार मौर्य-पूर्व भारत के पारिवारिक, सामाजिक जीवन में जो निष्क्रियता, दायित्वहीनता और स्वेच्छाचारिता का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था, उसको नियन्त्रितकर कौटिल्य ने आदर्श समाज-व्यवस्था की स्थापना की।

व्यापारिक तथा आर्थिक स्थिति

मौर्ययुगीन भारत व्यापारिक तथा आर्थिक दृष्टि से भी सबल एव उन्नत था। इस रूप में उसने इतनी अधिक प्रगति कर ली थी कि न केवल देश के आन्तरिक मागो में, अपितु एशिया के सुदूर देशो में उसके घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। यूनानी देशो में उसकी व्यापारिक प्रतिष्ठा बहुत बढ़-चढ गयी थी।

व्यापारिक आदान-प्रदान के लिए जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनो सुलभ थे। समुद्री यात्राओं मे लगभग 4-6 मास लग जाता था। भारत के आन्तरिक मार्गों के व्यापार के लिए नौकाओ का उपयोग किया जाता था। बाहरी व्यापार के लिए जलपोतों का प्रबन्ध था। सिन्धु और नर्मदा नदियों पर विशाल बन्दरगाह बनाये गये थे। भूमि-मार्ग द्वारा भी लम्बे व्यापारिक काफिले विदेशों को जाते थे। व्यापारियो की सुरक्षा के लिए शासन की ओर से समुचित प्रबन्ध था।

व्यापार की वस्तुओ में सोना, चाँदी, हीरा, मोती, रेशम, मलमल, कढे हुए कीमखाब के वस्त्र, कालीन, बर्तन, ओषधियाँ और हाथीदाँत आदि का नाम प्रमुख है। पश्चिमी देशो से स्वर्ण और लंका से मोतियों का आयात होना था। देश की नदियों से भी स्वर्ण निकाला जाता था। इसी प्रकार देश मे मोतियों की भी खानें थी। इनके अतिरिक्त बनारस, पुण्ड्र, सुवर्णकुण्ड, बंगाल, मदुरा, अपरान्त, कलिंग, वत्स, माहिष्मती, मगध और वाह्लीक आदि विभिन्न अचलो मे उच्चकोटि के औद्योगिक केन्द्र थे। इन केन्द्रों मे उत्पादित वस्तुओं का देश और विदेश, दोनो मे निर्यात किया जाता था।

मौर्यकालीन भारत की प्रमुख मण्डियो मे पाटलिपुत्र, वैशाली, चम्पा, बनारस, कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, मथुरा और तक्षशिला का नाम उल्लेखनीय है। इन मण्डियों और तत्कालीन भारत के अन्यान्य औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्रों का विस्तारपूर्वक उल्लेख यूनानी इतिहासकार हेरोतोदस और मेगस्थनीज ने अपने भ्रमण-वृत्तान्तों मे किया है। इन वृत्तान्तों से ज्ञात होता है कि मौर्यों के शासनकाल मे सारा देश अन्न-धन तथा उद्योग-व्यवसायो की

दृष्टि से पूर्णतया आत्मनिर्भर था। इसके अतिरिक्त 'अर्थशास्त्र' और जातक ग्रन्थों में भी तत्कालीन भारत की आर्थिक सुख-समृद्धि का व्यापक रूप में उल्लेख हुआ है।

मौर्य युग के इस उन्नत व्यापारिक आदान-प्रदान के कारण न केवल देश की आर्थिक स्थिति की सुदृढता का पता चलता है, अपितु यह भी जानने को मिलता है कि गमनागमन की स्वतन्त्रता ने भारत तथा एशिया के देशों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक विनियम को भी प्रोत्साहित किया।

मौर्ययुगीन भारत में कला का पुनरुत्थान

भारतीय जन-जीवन मे एकता स्थापित करने और परम्परा को अटूट रूप मे सुरक्षित बनाये रखने के लिए जो प्रशस्त मानवीय प्रयत्न हुए हैं, उनमें कला का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अतीत के अनेक युगो मे विभिन्न जातियों का उदय और अस्त हुआ, कुछ का इतिहास तो काल की गहराइयों मे सर्वथा विलुप्त हो गया। किन्तु उनकी सभ्यताओ और सस्कृतियों के अवशेष किसी प्रकार जीवित रह गये।

मौर्य युग का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उसमे कला की पुरातन परम्परा का पुनरुत्थान हुआ। इस दृष्टि से यदि सिन्धु-सभ्यता की सांस्कृतिक उपलब्धियो और उनकी उत्तरकालीन विरासत की तुलनात्मक समीक्षा की जाय, तो प्रतीत होता है कि मौर्य युग और शुग-सातवाहनों की कला-थाती के मूल आधार, उसकी प्रेरणा के स्रोत पुरातन रहे हैं। पुरातन सिन्धु और वैदिक परम्परा से प्रेरित उत्तरकालीन कला-कृतियो में कला-मानो की तारतम्यता के परिचायक प्रमाणो का प्रायः अभाव है; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे परम्परागत प्राकृतिक धर्मों पर आधारित थे। लीरिया-नन्दनगढ में एक ऐसी सुवर्ण-पट्टिका उपलब्ध हुई है, जिस पर पृथ्वी की आकृति अंकित है और जिसे विद्वानों ने 800-700 ई० पूर्व की सिद्ध किया है। इस उपलब्ध मूर्ति को सिन्धु-सभ्यता और परवर्ती आर्य-परम्परानुगत रामायण-महाभारत युगीन कला के बीच की कड़ी माना गया है। कला के इन प्रभावों की छाप मौर्य युग से कुषाण युग (400-100 ई० पूर्व) के बीच निर्मित सारनाथ, रामपुरवा, पटखम, पटना, भरहुत, सांची और बोधगया की भव्य एव सम्पन्न कला-थाती पर परिलक्षित होती है।

इन बौद्ध कला-केन्द्रो के निर्माता स्थपति एवं शिल्पी निश्चित ही सिन्धुवासियों की विपुल कला-विरासत से प्रभावित थे। मोहेनजोदडो की मुहर पर अंकित बैल की छबि, सारनाथ तथा रामपुरवा के अशोक स्तम्भों पर अंकित वृषभ की आकृति मे रूपात्मक एकता आभासित होती है। इसी प्रकार मोहेनजोदडो की मुहर पर अंकित हाथी और अशोक निर्मित धौली चट्टान पर अंकित हाथी में तथा मोहेनजोदड़ो की मुहर पर अंकित सिंह और अशोक द्वारा निर्मित सारनाथ के स्तूप पर उत्कीर्णित सिंह मे भावात्मक साम्य दृष्टिगोचर होता है। हड़प्पा मे जो प्रस्तरांकित प्रतिमाओ के अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनकी पूर्णता के दर्शन पटखम तथा पटना आदि की मौर्ययुगीन यक्ष-मूर्तियो के रूप मे होती है। इसी प्रकार मोहेनजोदड़ो को कांस्यमयी नर्तकी मौर्ययुगीन बोधगया की वेदिका पर अंकित यक्षणियो का आभास दिलाती हैं। उसकी आकृति मे ही नही, अगो की आकर्षक भावाभिव्यक्ति मे भी समानता के बहुत कुछ सूत्र निहित हैं।

इसी प्रकार सिन्धु सभ्यता से प्राप्त विभिन्न पशु, पक्षी, वृक्ष और मानव आदि की आकृतियो की रचना-विधि तथा उनमें दर्शित भाव इतने सहज, स्वाभाविक और जीवन्त प्रतीत होते हैं कि वे स्वय तो अपनी भव्य एव उन्नत परम्परा को ध्वनित करते ही हैं, इसके साथ ही सुदूर भावी परम्परा के प्रेरणास्रोत भी प्रतीत होते हैं। पशु-पक्षी-प्रेमी ये दोनो युग लगभग ढाई-तीन हजार वर्षों की लम्बी दूरी के बावजूद अपनी इन उपलब्धियो के कारण कितने निकट प्रतीत होते हैं।

साधनो एवं आधारों की भिन्नता होने के बावजूद दोनो युगो के कलाशिल्पियो की साधना मे पर्याप्त तारतम्य देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धुजनो की प्रस्तरप्रधान कला का स्थान मौर्ययुगीन काष्ठकला ने ले लिया था। कला-निर्माण के लिए काष्ठ को साधना रूप मे अपनाये जाने की परम्परा मौर्य युग से पहले ही स्थापित हो चुकी थी। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और बौद्ध-ग्रन्थ 'ज्ञातधर्मकथा' आदि प्राचीन ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि उस समय लकड़ी पर खुदाई की कला उन्नति पर थी। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और 'आपस्तम्ब-सूत्र' आदि ग्रन्थो के विवरणो से यह भी विदित होता है कि काष्ठ पर अनेक देवी-देवताओ की बहुसख्यक मूर्तियाँ निर्मित करने की परम्परा का पर्याप्त विस्तार हो चुका था; यहाँ तक कि उन्हे आजीविका का साधन बनाया जा चुका था। इस प्रकार के देवी-देवताओ में वरुण, कुबेर

इन्द्र, रुद्र, शिव और नाग तथा अप्सराएँ प्रमुख थे। मौर्ययुग में इस प्रकार की देव-मूर्तियों को तोरणों, स्तूपों, वेदिकाओं और चौखटों पर उत्कीर्णित किया जाने लगा था।

मौर्ययुगीन कला-कृतियों में काष्ठ-मूर्तियों के अतिरिक्त पकायी गयी मिट्टी की मृण्मूर्तियों का भी प्रचलन हो गया था। सारनाथ, भीटा तथा मथुरा में इस प्रकार की *मौर्ययुगीन मृण्मूर्तियाँ* उपलब्ध हुई हैं। इस सम्बन्ध में कदाचित् यह सम्भावना असम्भव नहीं जान पड़ती है कि मौर्ययुगीन मृण्मूर्तियों का आधार एवं प्रेरणास्रोत भी सिन्धुयुगीन मृत्तिका कला ही थी।

मौर्य युग से पूर्व यद्यपि कला के सृजन के स्रोत सर्वथा अवरुद्ध नहीं हुए थे, तब भी ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध-परम्परा में कला को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। अशोकयुगीन कला के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि तब चित्रकला की अपेक्षा स्थापत्य एवं शिल्प का अधिक विकास हुआ। अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भ एवं चैत्य तत्कालीन स्थापत्य तथा शिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त मूर्तियों के अलंकरण (प्रसाधन) के लिए हाथीदाँत, स्वर्ण, सीप, मिट्टी, काँच और पत्थर के आभूषणों को निर्मित किया जाने लगा था। उज्जयिनी और विदिशा की खुदाइयों से प्राप्त बिना साँचे की हस्तकौशल की द्योतक मूर्तियाँ, मिट्टी के खिलौने, गाड़ियों के पहिये, मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों के आकृतियुक्त मृतभाण्ड और हीरों तथा मिट्टी से अलकृत बर्तन इसके उदाहरण हैं। तत्कालीन कला के परिचायक इन अवशेषों को देखकर ज्ञात होता है कि उस युग मे कला का सम्बन्ध देवलोक की अदृष्ट कल्पनाओं की अपेक्षा मानवलोक की यथार्थताओं से स्थापित हो चुका था। यही कारण है कि तत्कालीन कला-कृतियों में देवताओं का एकान्तिक अंकन होने की अपेक्षा सामान्य जन-जीवन के क्रिया-कलापों का अभिव्यजन अधिकता से हुआ है।

इन कला-कृतियों के अनुशीलन से यह भी विदित होता है कि तत्कालीन जन-जीवन की निष्ठाओं के अनुरूप कला में धार्मिक आस्था को भी उजागर किया गया। कलाकारों ने जन-जीवन के सुपरिचित पशु-पक्षियों के अतिरिक्त धर्म के प्रचलित दृष्टान्तों को भी कला का विषय बनाया। अशोक के शासनकाल की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि कला पर राजसी प्रतिबन्ध समाप्त हुआ और वह सामान्य जनता के मनोरंजन का विषय बनी। इसका प्रभाव आगे की अनेक शतियों तक बना रहा।

अशोक के कलानुराग के परिचायक भरहुत, साँची, बोधगया और सारनाथ के कला-केन्द्र हैं। इन धार्मिक तीर्थों का निर्माण यद्यपि तथागत के पवित्र स्मारकों के रूप में हुआ था, तथापि अपनी भव्यता और सुन्दरता के कारण वे सहज ही में कला-केन्द्रों की कोटि में गिने जाने लगे। वे भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला के इतिहास के आधार स्तम्भ हैं। उनमें अंकित पशु-पक्षी, मानव और देव आकृतियों में कलात्मक तथा भावात्मक, दोनों प्रकार का साम्य है, जिनके द्वारा बुद्ध के जन्मान्तरों की कथा कही गयी है। ये कथाएँ जातकों पर आधारित हैं। सिंह, हाथी, घोड़ा, हिरन आदि पशुओं; यक्ष, किन्नर, अप्सराएँ आदि गन्धर्वों; और इन्द्र, शिव, स्कन्द, नाग तथा देवी आदि देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत भरहुत, साँची तथा बोधगया का कला-वैभव एक ओर तो देवलोक की दिव्यता और दूसरी ओर मानवलोक की भव्यता को अभिव्यजित करते हुए भारत के विगत ढाई-तीन हजार वर्षों के सास्कृतिक इतिहास को जीवित बनाये हुए है।

स्थापत्य और मूर्तिकला के इन दो अगों का मौर्य युग में पर्याप्त विकास हो चुका था। इन दो कला-भेदों के अतिरिक्त जहाँ तक चित्रकला का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग मे भवनों तथा भित्तियों के अतिरिक्त वस्त्रों पर भी चित्र बनाये जाने लगे थे। पटचित्रों के निर्माण के क्षेत्र मे बौद्धकला ने विशेष ख्याति अर्जित की। उसका सूत्रपात्र अशोक के ही समय मे हो चुका था।

बौद्ध पिटकों, जातकों और गाथा-विषयक ग्रन्थों के विभिन्न सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज मे चित्रकला को मनोरजन का श्रेष्ठ माध्यम माना जाने लगा था। इसी उद्देश्य से अनेक शासकों ने अपने यहाँ बहुमूल्य विशाल चित्रशालाओं एवं चित्रागारों (चित्र-सग्रहालयों) की स्थापना की थी। कोशलराज प्रसेनजित् का एक ऐसा ही चित्रागार था, जिसको देखने के लिए दर्शकों की भीड लगी रहती थी। जातक-ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि ओसधि और महोसव नामक राजकुमारों की चित्रविद्या मे इतनी अधिक अभिरुचि थी कि वे निरन्तर उसके अध्ययन-अनुशीलन मे लगे रहते थे। 'थेरगाथा' मे लिखा है कि राजा बिम्बिसार (543-491 ई० पूर्व) ने रागुन के शासक तिस्स को एक ऐसा 'चित्रफलक' (अलबम) भेट किया था, जिसमे बुद्ध की सम्पूर्ण जीवनी आलिखित थी। 'महावंश' के उल्लेखानुसार ज्येष्ठ तिष्य नामक शासक ने अपने राज्य मे चित्रविद्या की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया था।

रामपुरवा का वृषभ

अशोककालीन मूर्तिशिल्प का भव्य उदाहरण रामपुरवा से प्राप्त 'वृषभशीर्ष' (ककुत्स्थ) है। यह भी 'सिंहशीर्ष' की भाँति पालिश किये गये बलुआ पत्थर पर निर्मित है। किन्तु जब कि 'सिंहशीर्ष' भारतीय शिल्पियों की सर्वथा निजी देन है, यह वृषभशीर्ष ईरानी शिल्प तथा आकार के अनुकरण पर निर्मित भारतीयों की देन है। इस कलाकृति में ईरानी-भारतीय सामंजस्य के परिचायक गुलाब तथा ताड आदि के अलंकरण हैं। इस वृषभ-फलक पर भले ही ईरानी रूप-शिल्प का प्रभाव हो; किन्तु यह निश्चित है कि ईरान के राजमहलों पर अंकित वृषभ आकृतियों की अपेक्षा इसमें अपूर्वता के साथ-साथ सजीवता भी है। उसके अंग-उपांगों में जीवन, शक्ति और सरसता है। इसके द्वारा सम्राट् का प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव के साथ-साथ साम्राज्य की सम्पन्नता तथा उत्फुल्लता का भाव भी ध्वनित होता है। भारतीय मूर्तिशिल्प की उच्चता का ध्वनन तो उसके द्वारा होता ही है।

पटखम का यक्ष

भारतीय मूर्तिकला की आद्य कला-कृतियों में अशोकयुगीन सारनाथ के 'सिंहशीर्ष' और रामपुरवा के 'वृषभशीर्ष' के अनन्तर पटखम (मथुरा के निकट) के 'यक्ष' का नाम उल्लेखनीय है। यह यक्ष गुलाबी बलुआ पत्थर पर निर्मित है और प्राचीनतम पाषाण प्रतिमाओं में गिना जाता है। इसका निर्माण लगभग 250 ई० पूर्व में हुआ था। यह मानवाकार प्रतिमा सीधे खड़े रूप में निर्मित है और उसकी दोनों भुजाएं भग्न हो चुकी हैं। इसे विद्वानों ने आरम्भिक कला की परम्परा से प्रभावित बताया है।

यद्यपि यह मूर्ति गतिहीन और आकर्षणरहित है, फिर भी प्रतिमा विज्ञान के अनुसार उसके शारीरिक अंग-प्रत्यंगों का अनुपात दर्शनीय है तथा उसका भावात्मक समावेश विशुद्ध भारतीय है। उसके कमरबन्ध और वस्त्र-विन्यास को विशेष रूप से तराशा गया है।

भारत का राष्ट्रीय प्रतीक : सारनाथ का सिंहशीर्ष

भारतीय मूर्तिशिल्प का प्रथम जीवन्त उदाहरण सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित सारनाथ का 'सिंहशीर्ष' है। यह सिंहशीर्ष पालिश किये गये बलुआ पत्थर पर निर्मित है और अब तक की मूर्तिशिल्प का अकेला नमूना है। उस

पर पश्चिमी एशिया के उस रचना-विधान का प्रभाव लक्षित होता है, जो लगभग 3000 ई० पूर्व की परम्परा के अन्य उपलब्ध कला-अवशेषों में प्राप्त होता है। यद्यपि अशोक ने अपने यहाँ ईरान के मूर्तिकारों को आमन्त्रित किया था; किन्तु इस सिंहशीर्ष पर ईरानी कला का कुछ भी प्रभाव नहीं है। उसका रचना-विधान नितान्त मौलिक और निजी है। यद्यपि ईरानी मूर्तिकारों ने भी सिंह आयलों के केश-गुच्छो को तराशने में निपुणता प्रदर्शित की है, किन्तु सारनाथ का सिंहशीर्ष अपनी अपूर्वता का अकेला उदाहरण है और उसकी रूप-रचना का एकमात्र श्रेय भारतीय मूर्तिकारों को ही है। इसका समाधान, सिंहशीर्ष के नीचे उत्कीर्णित धर्मचक्र और उसके अगल-बगल में उत्कीर्णित दौड़ते हुए वृषभ तथा घोड़े को देखकर हो जाता है। शीर्षफलक के पृष्ठ भाग मे उत्कीर्णित सिंह और हाथी की कृतियो की रचना-विधा से भी उनकी विशुद्ध भारतीयता प्रमाणित होती है। कलाकार का पशुओं के प्रति यह सहज स्नेह बौद्धधर्म की प्राणी-सामान्य की धारणा थी।

सारनाथ के अशोक स्तम्भ का सिंहशीर्ष भगवान् तथागत के प्रथम प्रवचन का स्मारक और अशोक की धर्मनिरपेक्ष, सहिष्णु तथा मानव-मगलकारी आदर्श का प्रतीक है। अपनी अविराम सौन्दर्य-सौम्यता के कारण वह मौ युग की उच्चतम कला-कल्पना का भी साक्षी है। इस सिंहशीर्ष मे पीठ सटाये बैठे हुए चार सिंह निर्मित हैं, जो सम्राट् की चारो दिशाओं मे धर्म-विजय की उद्घोषणा कर रहे हैं, जिनमे सर्वधर्म-समन्वय और मानवतावादी दृष्टिकोण निहित है। जिनके द्वारा धम्म, चक्क, पवत्तन, सुत्त की मानव-मगलमयी, कालजयी अमरवाणी विश्व के चारो दिशाओ मे फैला देने का मानवकृत चिरपुरातन और चिरनवीन प्रयत्न है। उसमे वैदिक भारत के वे उच्चादर्श निहित हैं, बहुसंख्यक जाति-कबीलो के सम्मिलित प्रयत्न से जिनका निर्माण हुआ।

अशोक स्तम्भ के इस चतुर्मुख सिंहशीर्ष को आधुनिक भारत का राष्ट्रीय प्रतीक स्वीकारकर पुरातन भारतीय सस्कृति के गौरव की ही रक्षा नही हुई है, अपितु उससे भारत की उदात्त मानव-मगलकारी नीति की भी नवीन स्थापना हुई है।

मौर्यकला का प्रभाव

कला की इस परम्परागत मान्यता एवं लोकप्रियता को मौर्यों ने अधिक प्रोत्साहित एवं विकसित किया। उन्होंने तक्षशिला के विद्या-केन्द्र को अधिक

सुगठित और प्रोत्साहित किया तथा वहाँ कला को स्वतन्त्र विषय का स्थान दिलाकर उसके अध्ययन-अध्यापन की समुचित व्यवस्था की। ऐसा प्रतीत होता है कि कला उस युग के कलाकारों की आजीविका का साधन बन गयी थी। कलाकार अपने रचना-प्रयोगों का कौशल दिखाने के लिए स्वतन्त्र थे। उन्हें सभी प्रकार की सुविधाएँ सुलभ थी।

मौर्य भारत की कला-उन्नति का अन्दाजा परवर्ती युगों की कलाभिरुचियों से भी लगाया जा सकता है। सप्ततन्त्री वीणा और संगीत के अन्य उपकरणों की प्रतिकृतियों से सुसज्जित उदयगिरि की गुफाओं के अर्धचित्र (भास्कर्य) में मौर्ययुगीन चित्रकला की झलक स्पष्ट होती है। शुंगो, सातवाहनों और कुषाणों (300 ई० पूर्व से 100 ई०) के कला-व्यसन को प्रोत्साहित करने और तत्कालीन कलाकारों द्वारा मौर्ययुगीन कलाकारो के रचना-विधान को ग्रहण करने मे मौर्ययुगीन भारत का योगदान स्पष्ट दिखायी देता है। इन परवर्ती युगों मे निर्मित बाघ और अजन्ता के भित्तिचित्रो के रेखाकन, सुलेखन और वर्ण-सयोजन निश्चित ही किसी ऐसी समृद्ध परम्परा के सूचक एवं द्योतक हैं, जिनका एकमात्र आधार मौर्ययुग ही हो सकता है।

• • •

बारह/शुंग युग

शुंग शासक

प्राचीन भारत में मौर्यों ने जिस विशाल एवं एकाधिकार-सम्पन्न साम्राज्य की स्थापना करके भारतीय संस्कृति को मानव संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित कर विश्व को उसकी महानता से परिचित कराया, एक समय ऐसा आया कि अपने दुर्बल शासकों के कारण उसका अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो गया। लगभग तीसरी शती ई० पूर्व के अन्त मे और दूसरी शती ई० पूर्व के आरम्भ में मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण पडने लग गयी थी। यवनों के आक्रमणो ने उसको निःशक्त बना दिया था। खैबर और बोलन दर्रों से भारत मे प्रवेश करके यूनानियो ने उत्तर-पश्चिम मे गन्धार क्षेत्र सहित पश्चिम मे पंजाब तथा सिन्ध पर अधिकार कर लिया था। यूनानियों के आक्रमण निरन्तर दक्षिण तथा पूर्व की ओर बढते रहे। मगध तक उनके आक्रमणो का प्रसार हुआ।

भारत में यूनानियो के बढते हुए प्रभाव को रोकने के दृष्टिकोण से सेनापति पुष्यमित्र शुग ने अन्तिम मौर्य शासक को पराजितकर मगध पर अधिकार कर लिया। उत्तर भारत मे यवनों की बढती हुई शक्ति और उनके सांस्कृतिक प्रभुत्व के प्रतिरोध मे पुष्यमित्र ने ब्राह्मणधर्म का प्रचार-प्रसार करके भारतीय जनता के आत्मबल को जगाया। देश मे विधर्मियो के बढते हुए प्रभाव से जो निराशा तथा भय का वातावरण व्याप्त था उसको पुष्यमित्र ने समाप्त कर दिया (राय चौधुरी—पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐश्येंट इंडिया, पृ० 250)।

इस प्रकार मगध के मौर्यवंश का उत्तराधिकार शुगवश को प्राप्त हुआ और पुष्यमित्र उसका प्रथम प्रतापी शासक नियुक्त हुआ। मौर्य साम्राज्य का अन्तिम शासक ब्रहद्रथ (या बृहदश्व) अत्यन्य दुर्बल शासक था। उसके शासनकाल मे यूनानियो ने दूसरी बार भारत पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की। बाणभट्ट ने उसकी दुर्बलता का उल्लेख करते हुए 'हर्षचरित' (पृ० 199) मे लिखा है-कि "वह प्रतिज्ञा दुर्बल था"; अर्थात् उसमे प्रतिज्ञा पालन करने की क्षमता नही थी। उसकी दुर्बलता के कारण सेना का निरीक्षण करते समय

स्वयं उसके सेनापति पुष्यमित्र ने उपयुक्त अवसर जानकर उसको मार डाला था। बृहद्रथ का शासनकाल 188-185 ई० पूर्व के लगभग माना गया है।

पुराणों में शुग युग का शासनकाल 112 वर्ष दिया गया है। पुराणो की गणना के आधार पर इतिहासकारों ने पुष्यमित्र का समय विभिन्न तिथियो में निर्धारित किया है; किन्तु अधिकतर विद्वान् इस मन्तव्य से एकमत हैं कि 36 वर्षों तक शासन करने के उपरान्त शुग शासक पुष्यमित्र 151 ई० पूर्व मे दिवंगत हुआ। इस धारणा के अनुसार पुष्यमित्र का 187 ई० पूर्व में मगध की राजगद्दी पर आसीन होना सिद्ध होता है। श्रावस्ती राजधानी को साकेत (अयोध्या) स्थानान्तरित करने का श्रेय सेनापति पुष्यमित्र को ही है। साकेत प्राचीन काल से एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता था। प्रसेनजित् के समय से ही साकेत नगरी प्रमुख नौ व्यापार केन्द्र के रूप मे विश्रुत थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय साकेत की ख्याति चरम सीमा पर थी। पुष्यमित्र ने उसको राजधानी बनाकर उसकी ख्याति को और दृढ किया।

शुगो के मूलवश के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की धारणाएँ हैं। किन्तु सभी विद्वान् एकमत है कि वे ब्राह्मणवश या कुल के थे। शुगवंश का प्रथम प्रतापी शासक, जो कि बृहद्रथ का प्रधान सेनानायक भी रह चुका था, ब्राह्मणवश का ही था। तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने पुष्यमित्र को ब्राह्मण, किसी राजा का पुरोहित, यहाँ तक कि 'ब्राह्मण राजा' कहा है।

पुष्यमित्र के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र मगध की गद्दी पर बैठा। जब पुष्यमित्र सेनापति पद पर प्रतिष्ठित था, उसी समय अग्निमित्र को विदिशा का गोप्ता (अधिकारी) नियुक्त कर दिया गया था। विदिशा के शासन का सारा भार अग्निमित्र पर ही छोड दिया गया था। यह वही अग्निमित्र है, जिसको महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक मे नायक के रूप मे प्रस्तुत किया है। इस नाटक के कथानक से ज्ञात होता है कि उसका विवाह विदर्भ की राजकुमारी मालविका से हुआ था। यह उसकी तीसरी पत्नी थी। उसकी प्रथम दो पत्नियो का नाम धारिणी और इरावती था। मालविका अग्निमित्र की तीसरी पत्नी थी।

अग्निमित्र ने विदिशा को अपनी राजधानी बनाया था। अग्निमित्र के नाम की अनेक मुद्राएँ उत्तरी पांचाल (रुहेलखण्ड) और उत्तर कोसल क्षेत्र मे प्राप्त हुई हैं। उत्तरी पांचाल की मुद्राओं को रैप्शन (क्वाइस ऑफ ऐश्येण्ट इण्डिया) और कनिंघम (ऐश्येण्ट इण्डियन क्वाइस) ने किसी शुगकालीन सामन्त

को बताया है। किन्तु उत्तर कोसल से प्राप्त बहुसख्यक मुद्राओं के आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि वे स्पष्टतया अग्निमित्र की हैं।

अग्निमित्र एक उच्चकोटि का साहित्यिक तथा कलानुरागी शासक था। उसने ललितकलाओं के प्रचार-प्रसार मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इसकी झलक 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में मिलती है।

पुराणों मे अग्निमित्र का शासनकाल आठ वर्ष का बताया गया है। इस कथन से उसके शासनकाल की अन्तिम सीमा 143-42 ई० पूर्व के लगभग ठहरती है।

पुराणो तथा 'मालविकाग्निमित्र' के अनुसार अग्निमित्र के पुत्र का नाम वसुमित्र था। यवनों के साथ घटित युद्ध मे वह प्रधान सेनानायक के पद पर था। वसुमित्र के बाद शुगवंश में लगभग सात और शासक हुए; किन्तु उनके विषय मे कुछ ज्ञात नही है। देवभूति इस वंश का दसवा और अतिम शासक था। 'विष्णुपुराण' (४।२४, ३६) तथा 'हर्षचरित' (उच्छ्वास ६) मे उल्लेख है कि व्यसनी एव कामुक शुग राजा देवभूति को वसुदेव नामक मत्री ने दासीपुत्र के द्वारा मरवाकर स्वयं उसकी गद्दी पर अधिकार कर लिया था।

इस प्रकार 187 ई० पूर्व से 75 ई० पूर्व, लगभग 112 वर्षों तक शुगवश के दस शासकों का मगध पर शासन बना रहा।

पौराणिक भागवतधर्म की प्रतिष्ठा

शुंगो के शासनकाल को भारतीय सस्कृति का पुनर्जागरण-युग की सज्ञा दी गयी है। मौर्य-युग मे उत्तर भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति अस्थिर और अनिश्चित दशा मे थी। शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य के अस्त काल मे उसके क्षीणोन्मुख बल-वैभव को देखकर राष्ट्र में गुप्त रूप से नयी-नयी शक्तियाँ उभर रही थीं। समस्त राष्ट्र एक अप्रत्याशित भय और क्रान्ति से आतंकित था। अतीत के यूनानी आक्रमण और उत्तर-पश्चिम से पुनः बढते हुए यूनानी सामरिको के कारण भारतीय राजवंश भयान्वित थे कि कहीं मगध पर यवनो का आधिपत्य फिर न हो जाय। किन्तु बहुत-कुछ खो-गँवाकर भी मगध अपने को विदेशी छत्रछाया से बचा ले गया।

मौर्यवश के बाद भारत में अनेक क्षेत्रीय या आंचलिक छोटे-बड़े राज्यवश थे, जिनकी योग्यता और शासन-नीति जन-साधारण को भली भांति ज्ञात थी। ऐसे राजवशों मे आन्ध्र सातवाहनो का नाम उल्लेखनीय है। अपने बल-पराक्रम

और कुशल नीति से सातवाहनों ने दक्षिण भारत में अपना निष्कण्टक शासन स्थापित कर लिया। पूर्वी भारत में शुंगों का एकाधिपत्य बना रहा। उत्तर भारत में कुषाणवंश की शक्ति निरन्तर बढ़ती गयी और कनिष्क के शासक होते ही उत्तर भारत में कुषाण साम्राज्य की शक्ति अतुलित हो गयी थी।

मौर्य उत्तरकालीन भारत की शासन-व्यवस्था प्रायः चार भागों मे विभक्त थी। दक्षिण के स्वामी सातवाहन थे, पूर्वी भारत पर शुंगवश का शासन था, उत्तर-पश्चिम में यूनानियो का प्रमुत्व था और समस्त उत्तर भारत तथा पश्चिम-पूर्व के कुछ भाग कुषाणों के अधिकार मे थे। विभिन्न धर्मों, दृष्टिकोणो और विश्वासो के ऐसे युग मे भारतीय संस्कृति ने राष्ट्र-रक्षा और राष्ट्र-संगठन तथा राष्ट्रीय उत्थान के लिए जो कार्य किया उसे इतिहास मे पुनर्जागरण की सज्ञा दी गयी है। इस नव जागरण मे शुगवंश का निःसन्देह बडा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

शुगो का शासन हर दृष्टि से भारतीय गौरव का अभिवर्द्धक रहा है। इसका एकमात्र कारण उनकी धार्मिक सहिष्णुता थी। शुगो ने लोक-हितकारी पौराणिक धर्म का पुनरभ्युदय करके उसके प्रभाव से जैन-बौद्ध-धर्मानुरक्त जनता को आकर्षित किया। उनके समवर्ती राजवश सातवाहनो ने भी ऐसा ही मार्ग अपनाया। पूर्व-शुग कालीन भारत मे जैन, बौद्ध और आजीवक धर्म प्रचलित थे। अतीत की लगभग साढ़े तीन शतियो तक भारत पर इन धर्मों का प्रभाव बना रहा। जैन तथा बौद्ध धर्म का तो लोकजीवन पर आश्चर्यजनक प्रभाव था। मौर्यकाल के अन्तिम चरण मे बौद्ध और आजीवक धर्मों मे, आन्तरिक दुर्बलताओ के कारण क्षीणता आने लगी थी। इन धर्मों मे सन्यास और गृहत्याग सम्बन्धी कई ऐसी बाते थी, जो अलोकप्रिय, दुष्कर तथा शुष्क थी और इसलिए समाज उनके प्रति उदासीन हो गया था। उनके दूरभावी प्रभाव प्रकाश में आ चुके थे और इस कारण पारिवारिक जीवन की एकता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना मे भी शिथिलता आ गयी थी। एक ऐसे सामाजिक जीवन का उदय हो रहा था, जो वास्तविकता को भुलाकर केवल आदर्शों एवं परम्पराओं का आवरण मात्र लिए हुए था। इन्ही परिस्थितियों के बीच पौराणिक भागवतधर्म का उदय हुआ। उसके फलस्वरूप समस्त देश भक्ति की भावधारा मे विभोर हो उठा। यह भक्ति-धारा जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान काल मे पूर्ण रूप से विलुप्त नही हुई थी; किन्तु वह शिथिल तो अवश्य ही हो गयी थी। श्रद्धा, भक्ति और प्रेम मे पगी भारतीय जनता तप,

वैराग्य, गृहत्याग और सन्यास के जीवन का परित्याग करके पुनः भक्ति में विलयित हो गयी। यद्यपि मौर्यकाल में बौद्धधर्म का एकाधिपत्य रहा है; किन्तु उस युग के और अद्यावधि समस्त भारत के राष्ट्रीय संविधान के निर्माता कौटिल्य ने बौद्धधर्म का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। उसने 'अर्थशास्त्र' में वैदिक परम्परा की वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था को ही वरीय एवं श्रेष्ठ स्थान दिया है। शुंगों ने कौटिल्य की व्यवस्था के अनुसार राष्ट्र का सगठन किया और उसमें भागवतधर्म की गंगा बहाकर वे जन-जीवन को रस-विभोर करने में सफल हुए। पुराणों से उदित भागवत, माहेश्वर और पाशुपतधर्म की इस त्रिवेणी ने भारतीय जन मानस को अभिभूत कर दिया।

साहित्य निर्माण

संस्कृत का पुनरुत्थान

शुंग-युग में सस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा हुई। शुंगों ने संस्कृत को राजभाषा के पद पर सम्मानित किया। उनके राज्य काल में प्रशासकीय कार्यों से सम्बद्ध लेखों को अंगीकृत करने का सारा ढंग मन्त्री से लेकर अमात्य, प्रधान, प्रतिनिधि, युवराज, पुरोहित और शासक तक, संस्कृत में प्रचलित था (शुक्रनीतिसार २।३६२-६९)। ये समस्त प्रणालियाँ आद्योपान्त सस्कृत में ही थी।

शुंगकाल में सस्कृत को शासन और समाज में प्रतिष्ठित करने का एकमात्र श्रेय महाभाष्यकार पतंजलि को है। पतंजलि से पूर्व में भी पाणिनि और कात्यायन जैसे भाषाशास्त्री विद्यमान थे। उनके द्वारा व्याकरणशास्त्र का नियमन होकर सस्कृत की अनेक विधाओं पर ग्रन्थ-निर्माण का कार्य हो चुका था; किन्तु तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण सस्कृत का प्रचार-प्रसार एक वर्गविशेष तक ही सीमित रहा। शुंग-पूर्व भारत में सस्कृत की अपेक्षा लोकभाषाओं का महत्त्व अधिक था। सम्राट् अशोक ने अपने धर्मनिरपेक्ष शासन के लिए लोकभाषा पालि को प्रधानता देकर उसे ही राजभाषा का स्थान दिया और उसी में समस्त राजाज्ञाओं को प्रसारित किया। अपने समस्त अभिलेखों को भी उसने पालि में ही उत्कीर्णित कराया। राज्याश्रय प्राप्त हो जाने के कारण साहित्य-रचना के लिए भी पालि को ही अपनाया गया।

मौर्यों की नीति का अनुसरण करते हुए सातवाहनों ने भी लोकभाषा को वरीयता दी। उन्होंने प्राकृत को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठितकर उसे

साहित्य-रचना के लिए माध्यम बनाया। तत्कालीन शिक्षा-केन्द्रों में प्राकृत को अध्ययन-अध्यापन के लिए अनिवार्य घोषित किया गया। इस प्रकार शुंग-पूर्व भारत में मौर्यों के शासनकाल में पालि तथा सातवाहनो के शासनकाल में महाराष्ट्री प्राकृत भाषा का राज-काज तथा साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में एकाधिपत्य बना रहा। इस कारण संस्कृत का अस्तित्व केवल थोड़े से ब्राह्मण परिवारों तक ही सीमित रह गया था। समाज और साहित्य पर लोकभाषा का यह एकाधिपत्य लगभग ढाई-तीन सौ वर्षों तक बना रहा।

संस्कृत भाषा की इस क्षीणोन्मुखता और उसके प्रति समाज की बढ़ती उपेक्षा को दृष्टि मे रखकर पतजलि ने अपने प्रौढ ग्रन्थ 'महाभाष्य' की रचना कर संस्कृत भाषा के सम्पोषक पाणिनि व्याकरण की परम्परा को उजागर किया। वैयाकरण पतंजलि साकेत के निवासी थे। पुष्यमित्र शुग ने सर्व प्रथम साकेत (अयोध्या) को राजधानी बनाया। उनके राज्यकाल मे अनुकूल परिस्थितियो के कारण पुरोहितो का एक वर्ग बाहर से आकर साकेत मे बस गया था। पतजलि उसी वश से सम्बद्ध था। ऐसे महान् विद्वान् को गुणग्राही पुष्यमित्र ने अपना गुरु एव राज्यपुरोहित बनाकर सम्मानित किया। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का यशस्वी व्यक्तित्व एव सुशासन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के रूप मे अजर-अमर है, उसी प्रकार पुष्यमित्र महान् के गौरव एव नव युग-विधायक कार्यों का उज्ज्वल प्रतीक पतंजलि का 'महाभाष्य' है। पतंजलि ने सस्कृत भाषा के महत्त्व को पुनः प्रस्थापित करके उसे लोक-सम्मान दिलाया, जिसके फलस्वरूप संस्कृत को आगे बराबर सामाजिक मान्यता प्राप्त होती गयी। साहित्य-रचना के लिए भी संस्कृत का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग होने लगा। जन-साधारण लोक-बोलियों का प्रयोग करता था; किन्तु साहित्यिक रचनाओं मे सस्कृत को ही वरीयता दी गयी। तत्कालीन भाषा स्थिति का सम्यक् परिचय बौद्ध कवि अश्वघोष के नाटको से भी मिलता है। उनके नाटको में विभिन्न वर्गों के पात्रो ने संस्कृत-प्राकृत का समान रूप से प्रयोग किया है। बौद्धधर्म का अनुयायी होते हुए भी अश्वघोष ने साहित्य-रचना के लिए संस्कृत को ही अपनाया। इसी प्रकार शुगयुगीन सस्कृत भाषा की लोकप्रियता का सूचक शूद्रक का 'मृच्छकटिक' प्रकरण है, जिसमें शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की आदि लोकप्रचलित प्राकृत बोलियों के प्रयोग के साथ-साथ संस्कृत को वरीयता दी गयी है।

परम्परागत लोकबोलियों के स्थान पर संस्कृत भाषा को साहित्य-निर्माण का माध्यम बनाने में शुंग शासकों की संस्कृतप्रियता विशेष प्रभावकारी सिद्ध

हुई। उन्होने संस्कृत को राजभाषा के पद पर सम्मानित करके उसके अध्ययन-अध्यापन की समुचित व्यवस्था की। इस प्रकार ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शती से संस्कृत ने पूर्वागत समस्त लोकभाषाओं को पराभूतकर साहित्य-रचना के लिए स्वयं को प्रतिष्ठित एवं लोकविश्रुत किया।

संस्कृत की यह लोकप्रियता उत्तरोत्तर प्रशस्त होती रही। जब कभी धार्मिक तथा वैयक्तिक प्रतियोगिता का समय आया तो बौद्धो तथा जैनो ने भी अपनी सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा, अपने धर्म, दर्शन तथा काव्य, नाटक आदि समस्त साहित्य विषयो के लिए पालि-प्राकृत का मोह छोडकर संस्कृत को ही वरण कर लिया। इस प्रकार संस्कृत भाषा के नवोत्थान और सस्कृत-साहित्य की अभिवृद्धि मे शुग शासको का योगदान इतिहास की अविस्मरणीय घटना है।

संस्कृतप्रिय शुगों के शासनकाल मे सस्कृत-साहित्य की अनेक नयी विधाएँ प्रकाश मे आयी। इस युग मे अनेक ग्रन्थो के नये संस्करण निकले, जिनमे 'महाभारत' तथा 'रामायण' सदृश महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का नाम उल्लेखनीय है। विद्वानो का अभिमत है कि इन ग्रन्थो के वर्तमान संस्मरणो का पुनर्निर्धारण शुग-युग मे ही हुआ। इसी प्रकार कतिपय पुराणो का प्रतिसस्करण हुआ। धर्मसूत्रों के व्याख्यान तथा स्मृति-ग्रन्थो के निर्माण का श्रेय भी शुग-युग को ही है। 'मनुस्मृति' तथा 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का निर्माण (150-200 ई० पूर्व) शुग युग मे ही हुआ (कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया, खण्ड 1, पृ० 279)।

इस प्रकार संस्कृत भाषा और साहित्य के पुनरुत्थान की दृष्टि से भारतीय इतिहास मे शुग शासन का योगदान सर्वथा अपूर्व सिद्ध होता है।

शुग युग के सांस्कृतिक नव जागरण का प्रतीक 'मृच्छकटिक'

शूद्रक के कथित नाम से लिखित 'मृच्छकटिक' नामक नाटक शुग-युग के सांस्कृतिक नव जागरण का एक ज्वलन्त प्रतीक है। सस्कृत-साहित्य मे उसे सर्वश्रेष्ठ सामाजिक प्रकरण कहा गया है। उसमें जन साधारण के जीवन का आधार लेकर तत्कालीन सामाजिक जीवन का सशक्त, तथ्यपूर्ण चित्रण बड़ी मार्मिकता से किया गया है।

इस नाटक का नायक चारुदत्त उज्जयिनी के एक उच्च वशीय ब्राह्मण-परिवार में जन्मा था। उसके विपुल धन-वैभव ने उसको जातीय श्रेष्ठता को द्विगुणित कर दिया था। किन्तु जीवन की विडम्बना से वह इतना दरिद्र हो गया था कि परिवार का भरण-पोषण करना भी उसके लिए एक समस्या बन गयी। किन्तु

इस दीन दशा में भी वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता रहा। उसके व्यक्तित्व और गुणों पर मुग्ध होकर उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका वसन्तसेना का उस पर प्रेम हो गया। गणिका के पास विपुल धन, वैभव तथा आराम था। बड़े-बड़े धन कुबेर और राजपुरुष उस पर मुग्ध थे। किन्तु उस गणिका ने एक दरिद्र भूखे ब्राह्मण को अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था।

इन दो समाज एवं वर्ग-विरोधी विषमताओं पर आघात करने के उद्देश्य से ही उसके निर्माता ने दो सर्वथा विपरीत, किन्तु यथार्थ चरित्रों को अपनी कृति का विषय बनाया। एक प्रबुद्ध युवा विचारक ने अपने अनुरूप ही एक ऐसे युवक को अपनी समर्थ लेखनी का विषय बनाया, जो उदार, निर्भीक तथा उसी की तरह प्रगतिशील था।

'मृच्छकटिक' में इन मानवतावादी आदर्शों का सुन्दर चित्रण होने के कारण ही इस नाटक को अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ। उसमे सामाजिक जीवन का सजीव अभिव्यंजन हुआ है। उसके पात्र समाज के सभी वर्गों और क्षेत्रों से सम्बन्द्ध हैं। उनमे ब्राह्मण, रक, धूर्त, वेश्या, कुट्टिनी, लम्पट, चोर, जुआरी, पुलिस और न्यायाधीश आदि ऐसे पात्र हैं, जो कि तत्कालीन समाज के विभिन्न क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस प्रकरण में प्रगतिशील सामाजिक जीवन का इतना अच्छा चित्रण हुआ है कि वह सहज मे शुगयुगीन भारत का दर्पण बन गया। प्रकरण के कथानक से पहली बात यह जानने को मिलती है कि ब्राह्मण-गणिका का विवाह-सम्बन्ध हो सकता था। गणिका का भी समाज में एक सम्मानित स्थान था। वह वेश्या से कही उच्च स्तर पर थी। गणिका की आजीविका के साधन नृत्य, गीत, सगीत आदि ललित कलाएँ थी। उन्हें कुलवधू का सम्मान भी मिल सकता था।

गणिकाओ को विशेष ख्याति बौद्धयुगीन भारत में ही प्राप्त हुई। साहित्य पर भी उनके कार्य-कलापो का व्यापक प्रभाव पड़ा। लक्षण-ग्रन्थों में उनका पृथक् वर्ग निर्धारित किया गया। उनके आकर्षक व्यक्तित्व को काव्य-नाटको मे संयोजित करने की एक परम्परा-सी बन गयी थी।

ये गणिकाएँ वस्तुत: दिव्यांगना अप्सराओ का ही प्रतिरूप थी। उनका सम्पूर्ण जीवन कलामय था और वे संगीत-नृत्य-गायन आदि कलाओं में दक्ष होती थी। उन्होंने अतीत के अनेक युगो में भारत की सांस्कृतिक थाती की सुरक्षा की। 'मृच्छकटिक' की नायिका वसन्तसेना एक कुशल तथा सम्मानित गणिका थी।

इस प्रकरण में अभिव्यंजित तत्कालीन सामाजिक जीवन से स्पष्ट है कि ब्राह्मणधर्म देश का मुख्य धर्म था। शैवों तथा शाक्तों की अच्छी स्थिति थी। चारुदत्त और वसन्तसेना ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृति के आदर्श थे। जैनधर्म की स्थिति का कोई उल्लेख 'मृच्छकटिक' में नहीं हुआ है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध लोगों को समाज हीन दृष्टि से देखता था। रास्ते में यदि कोई बौद्ध भिक्षु मिल गया तो उसे अपशकुन मानकर यात्रा का दूसरा मार्ग पकड़ा जाता था। निःसन्देह उस समय बौद्धधर्म पतन की ओर था।

तत्कालीन सामाजिक जीवन की परिस्थितियो का चित्रण करते हुए इस प्रकरण के चतुर्थ अंक में मैत्रेय और चेटी के कथोपकथन से विदित होता है कि जहाजों के द्वारा समुद्री मार्ग द्वारा विदेशों से व्यापार सम्पन्न होता था।

इस प्रकार 'मृच्छकटिक' शुंगयुगीन भारत के सामाजिक जीवन का दर्पण और सांस्कृतिक नवजागरण का उद्घोषक है।

शुंगो का कलानुराग

शुगों के कलानुराग के प्रमाण अनेक रूपो मे जीवित हैं। कनिष्क की ही भाँति शुग शासक भी नगर-निर्माण मे विशेष अभिरुचि रखते थे। उनके शासन काल मे भारत कई स्थानो पर स्तूप बने। उसमे साँची और भरहुत का नाम उल्लेखनीय है। भरहुत के विशाल बौद्ध स्तूप की अलकृत वेदिका शुगो की कीर्तिकथा का परिचायक है। साँची स्तूप की चित्र-विचित्र द्वार-पट्टिकाओ का निर्माण भी शुगयुग मे ही हुआ।

शुगयुगीन कला की अन्य उल्लेखनीय उपलब्धियाँ अर्ध चित्र हैं, जिनका विकसित रूप उदयगिरि की गुफाओ मे देखने को मिलता है। अजन्ता मे भी शुंगों की थाती सुरक्षित है। अजन्ता की 9वी तथा 10वी गुफाओ का अलकरण भी शुगो के समय हुआ। सातवाहन सम्राट् वासिष्ठी-पुत्र पुलोमावि प्रथम के समय (100 ई० पूर्व) में उनका पुनरुद्धार हुआ; यद्यपि शुगकालीन इन गुफाचित्रो का अनेक बार पुनरुद्धार हुआ; किन्तु शुगों का मूल रिक्थ आज भी उनमे वर्तमान है।

शुंगों का सांस्कृतिक समन्वय

शुगो का राजधर्म उदार और सहिष्णु था। उन्होने तत्कालीन प्रचलित धर्मों का विरोध, बहिष्कार और परित्याग न करके उनको प्रोत्साहित एव पल्लवित ही किया। उनके शासनकाल मे शैव, भागवत, जैन और बौद्ध

धर्मों में सामंजस्य स्थापित हुआ और विभिन्न सम्प्रदायों के विकास को पूर स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

शुंगों ने संस्कृत भाषा और ब्राह्मण साहित्य के पुनर्निर्माण के लिए ही अभूतपूर्व कार्य नहीं किया, अपितु जैन-बौद्ध धर्मों के प्राकृत एव पालि साहित्य की प्रगति, प्रचार-प्रसार के लिए भी सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं। साहित्य के साथ-साथ इन दोनों धर्मों के परम्परागत कला-केन्द्रों और कला-कृतियों के निर्माण का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। इस दृष्टि से कलिंगराज खारवेल (200 ई० पूर्व) का नाम उल्लेखनीय है। वे मुख्यतः जैन-धर्मानुयायी थे और उनके आदेश द्वारा निर्मित खण्डगिरी की गुफाएँ विशेष महत्त्व की हैं। शुंगो ने मथुरा में भी एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसमें कई भव्य जैन मूर्तियाँ थीं। मथुरा की मूर्तिकला मे शुंगकालीन मूर्तियों का विशेष स्थान है।

शुगो की इस समन्वित धर्मनीति ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीय सुदृढता प्रदान कर उत्तरोत्तर अपनी लोकप्रियता को बढाया, वही दूसरी ओर जैन तथा बौद्ध धर्मों के तत्कालीन विचारको ने भागवतधर्म की लोकमगलकारी मानवीय महानताओं को वरणकर उन्हें अपने साहित्य में उतारा। शुगो के इस धार्मिक समन्वय का प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि भारत मे रहनेवाली कुछ बाहरी जातियो ने भी भागवतधर्म को वरण कर लिया। भारतीय साधु, श्रमणो तथा भिक्षुओ ने भारत के सांस्कृतिक आदर्शों को सुदूर द्वीपान्तरो तक फैलाया, जिसके फलस्वरूप विदेशों के साथ भारत के सम्बन्ध स्थापित हुए। इस सन्दर्भ मे यवन महाराज अन्तलिकित (अन्तियलसिदास) के राजदूत होलियोडोरस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह लगभग 200 ई० पूर्व मे काशीपुत्र भागभद्र के दरबार में आया था। उसने समस्त भारत का भ्रमण किया तथा भागवतधर्म को वरण किया और अपनी श्रद्धासूचक वेसनगर (भिलसा) मे एक स्तम्भ स्थापित किया।

शुगो के शासनकाल मे विभिन्न माध्यमों में भारत का विदेशो से सांस्कृतिक, धार्मिक तथा व्यापारिक सम्बन्धो का विकास हुआ। मौर्यों के शासनकाल से ही भारत का विदेशों से सांस्कृतिक आदान-प्रदान होने लग गया था। व्यापार और राजनीतिक प्रयोजनो के लिए ईरान और यूनान के प्रतिनिधि भारत आने लगे थे। भारतीयों का प्रवेश भी एशिया, विशेष रूप से पश्चिमी एशिया के विभिन्न देशो मे होने लग गया था। इस कारण गमनागमन की परिस्थितियाँ

अधिक सुगम, सुविधाजनक और अनुकूल हो गयी थीं। शुगों के समय में तक्षशिला, बारबरा, पामाइटा, पेट्रा और सिकन्दरिया व्यापार के प्रसिद्ध अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र थे। लगमग 200 ई० पूर्व में यूफ्रेटीज नदी के तट पर अवस्थित तारन नामक नगर में भारतीयों की बस्तियाँ निर्मित हो चुकी थी और वहाँ भारतीयता का इतना अधिक प्रभाव व्याप्त हो चुका था कि अनेक देवी-देवताओं के मन्दिरों की स्थापना हो चुकी थी। इसी प्रकार सिकन्दरिया मे भी कई भारतीय व्यापारी स्थायी रूप से बस चुके थे।

यूनानी देशो से भारत के आर्थिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धो की घनिष्टता निरन्तर बढती गयी। उत्तर-पश्चिम भारत पर कुषाणों का पूर्णाधिपत्य हो जाने के बाद प्रथम शती ई० पूर्व मे यूनानी नाविक और यात्री भारत में प्रवेश करने लग गये थे। जल-मार्ग से भारत की सर्व प्रथम यात्रा करनेवाले यूनानी नाविक हिप्पालस का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार सीरिया, रोम और मिस्र से भारत के सम्बन्ध घनिष्टतर होते जा रहे थे। सांस्कृतिक आदान-प्रदान की इस परम्परा का श्रेय वास्तव मे बौद्धधर्म को दिया जाना चाहिए। ईसा पूर्व प्रथम शती से 200 ई० तक और उसके बाद भी मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान आदि देशों में बौद्धधर्म का प्रभाव व्याप्त हो चुका था, जिसके फलस्वरूप वहाँ अनेक बौद्ध मठो की स्थापना हुई। बौद्धधर्म के महान् सिद्धान्तो से प्रभावित होकर वहाँ के अनेक लोगों ने भिक्षुमय जीवन वरणकर धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रो मे इस धर्म की परम्पराओ का प्रसार किया। इसी का परिणाम था कि मध्य एशिया मे बौद्ध-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार बढता गया और बौद्ध-आदर्शों पर वहाँ भी भारतीय नामकरणो की प्रथा प्रचलित हुई। बौद्धधर्म के लोक-मगलकारी आदर्शों के प्रचार-प्रसार के लिए भारतीय, ईरानी, मिस्री और ईराकी भिक्षुओं तथा व्यापारियो ने विभिन्न प्रयोजनों से पूर्व तथा पश्चिम की निरन्तर यात्राएँ करके धर्म, साहित्य, भाषा, लिपि और कला आदि के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक आदान-प्रदान द्वारा ऐसे सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया, जिसकी परम्परा आगे की अनेक शतियो तक अक्षुण्ण रूप में बनी रही और जिसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति के इतिहास मे उसकी अमर स्मृति आज भी बनी हुई है।

उत्तर-पश्चिम क्षेत्र (जो अब पाकिस्तान की सीमा के अन्तर्गत है) मे कुषाण शासको के कारण और रोमन तथा यूनानियों के निरन्तर गमनागमन के फलस्वरूप कुषाणकालीन भारत मे गन्धार भारतीय-यूनानी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना। तक्षशिला का विद्यापीठ भारतीय विद्याओं और

सांस्कृतिक समन्वय का राष्ट्र-विश्रुत केन्द्र के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था। भारत और यूनान की संस्कृति का प्रभाव-प्रसार मथुरा तक फैला।

इस प्रकार शुंगयुगीन भारत का सांस्कृतिक नवोत्थान की दृष्टि से इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान है।

कालिदास की कृतियों में भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन

किसी कवि, लेखक या रचनाकार की श्रेष्ठता एवं विशेषता इसी बात में झाँकी जाती है कि उसका व्यक्तित्व या निजत्व उसकी कृति में इस प्रकार एकाकार हो जाय कि लोग उसके कृतित्व के आधार पर ही उसको प्राप्त कर लें। वाल्मीकि और व्यास ऐसे ही महान् कृतिकार थे। उत्कृष्ट कृतित्व की विशेषता इसमे है कि उसका प्रभाव सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होता है और उससे विश्व के सभी कृतिकारों को समान रूप से प्रेरणा तथा चेतना प्राप्त होती है। कालिदास इसी प्रकार के कृतिकार थे। देश-विदेश मे समान रूप से उनका प्रभाव और आदर-सम्मान है। उनकी कविता और विशेष रूप से नाट्यकला के सम्बन्ध में जर्मन महाकवि गेटे के भावों को अभिव्यक्त करते हुए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है–'स्वर्ग और मर्त्य का जो मिलन है, उसे कालिदास ने सहज ही सम्पादित कर दिया है। उन्होंने फूल को इस सहज भाव से फल में परिणत कर दिया है, मर्त्य की सीमाओ को इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीच का अन्तर किसी को मालूम ही नही होने पाता।'

कालिदास के सम्बन्ध में कुछ दिन पूर्व जो अनिश्चितता की स्थिति बनी हुई थी, निरन्तर नयी खोजों के परिणामस्वरूप उसका बहुत कुछ समाधान हो गया है। उन्हे अतीत भारत के गौरव का प्रतीक मानकर आज राष्ट्रीय सम्मान दिया जाने लगा है। उनकी स्मृति मे प्रति वर्ष देश के विभिन्न अचलो के सभी भाषा-भाषियो द्वारा जयन्तियाँ मनायी जाती हैं; उत्सव और मेले आयोजित होते हैं।

कालिदास के स्थितिकाल-सम्बन्धी जो भ्रान्तियाँ थी उनका भी बहुत कुछ निराकरण हो चुका है और अधिकतर विद्वान् इतिहासकार अब इस मन्तव्य को स्वीकार करने लगे हैं कि मालव गणतन्त्र के मुखिया, 'शकारि' का वीरुद धारण करनेवाले एवं विक्रम सम्बत् के प्रवर्तक महाराज विक्रमादित्य के आश्रय में उन्होने कुछ समय व्यतीत किया था। इन 'शकारि' विक्रमादित्य का शासनकाल ई० पूर्व प्रथम शती था। अतः कालिदास भी निर्विवाद रूप से इसी समय हुए।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास का सम्बन्ध दक्षिण के शुंग-सातवाहनों से भी रहा। जिस समय मालव पर विक्रमादित्य का शासन था, दक्षिण के स्वामी शुंग थे। उनका 'मालविकाग्निमित्र' नाटक इस तथ्य का पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण है।

कालिदास द्वारा विरचित जिन कृतियो को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं उनकी संख्या सात है। उनमें 'मेघदूत' तथा 'ऋतुसंहार' खण्डकाव्य; 'कुमारसम्भव' तथा 'रघुवंश' महाकाव्य और 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक कृतियाँ हैं।

कालिदास की इन कृतियों मे साहित्य की जिन नवीन रूप-विधाओ का सृजन हुआ उनकी सुरभि से भारत का साहित्याकाश सुरभित है। उनके द्वारा अतीतकालीन भारत के युग-युगो की संस्कृति नैसर्गिक रूप मे अवतरित हुई। जिस प्रकार शेक्सपियर ने अपने नाटको मे तत्कालीन भौतिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों को समायोजित किया है, उसी प्रकार कालिदास ने अपनी कृतियों मे तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक चेतनाओ को अत्यन्त विशद रूप मे बड़ी सजीवता के साथ सन्दर्शित किया है।

कालिदास इस रूप मे भारत के सर्वोच्च महाकवि हैं, क्योकि उन्होने अपनी कृतियों मे इस राष्ट्र की चिरन्तन सांस्कृतिक परम्पराओ को अत्यन्त सजीवता एवं मार्मिकता से गुम्फित किया है। 'रघुवंश' के आरम्भ (१।५।९) मे ही उन्होने लिखा है कि 'रघुवंशीयों मे जो असामान्य गुण विद्यमान थे उन्ही की प्रेरणा से मुझे इस महाकाव्य के प्रणयन की इच्छा हुई।' भारतीय संस्कृति के उत्स रघुवंशीयों के चरित्रो का वर्णन करते हुए उन्होने लिखा है–'वे रघुवंशी शास्त्रानुमोदित नियमो के अनुसार यज्ञ करते थे। याचको को उनका मनोवांछित फल देते थे। अपराधियो को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देते थे। समयोचित कार्य करते थे। दान के ही उद्देश्य से धन का सचय करते थे। सत्य की रक्षा के लिए कम बोलते थे। वे लूटमार, उत्पीडन के लिए नही, अपितु अपने यश-विस्तार के लिए ही दूसरे देश पर विजय प्राप्त करते थे। वे भोग-विलास के लिए नही, अपितु सन्तति-जनन के लिए विवाह करते थे। वे बाल्यावस्था मे अध्ययन करते थे, युवावस्था में सासारिक भोगो का आनन्द लेते थे, वृद्धावस्था मे मुनिजनों के समान अरण्यो मे तप करते थे और अन्त में योग द्वारा परमेश्वर का ध्यान-चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करते थे।' 'रघुवंश' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रघुकुल के सभी राजाओ ने इस

परम्परा का पूरी तरह से पालन किया। यही भारतीय संस्कृति का मूल है और इसी का दिग्दर्शन कालिदास की कृतियों में हुआ है।

किसी कवि या रचनाकार की, और विशेष रूप से ऐसे निष्णात साहित्य-सृष्टा की कृतियों के अध्ययन से यह अवगत करना या ग्रहण करना अथवा निश्चित करना नितान्त कठिन कार्य है कि उसने जिन परिस्थितियों, जिस वातावरण या देश-काल की जिन दशाओ का वर्णन किया है, उसमे कितना अंश उसका स्वानुभूत है और कितना कल्पित या आनुमानित। इस दृष्टि से किसी रचनाकार की कृतियों से वास्तविकता को छांटकर निकालना प्रायः दुष्कर होता है। यद्यपि विभिन्न साधनो एवं स्रोतो द्वारा उज्जीवित पूर्ववर्ती परम्पराओ को अपनी कल्पना-सृष्टि द्वारा स्वानुरूप बनाने में सभी कृतिकारों का प्रयत्न रहा है, तथापि प्रत्येक श्रेष्ठतम कृतित्व तभी चिरस्थायी एवं लोक सम्पूजित होता है, जबकि उसमे उसके रचनाकार की अनुभूतियाँ भी अनुस्यूत हो।

इस दृष्टि से यदि कालिदास की कृतियों तथा कालिदासयुगीन भारत की सम-सामयिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितयों का अध्ययन किया जाय तो बहुत से तथ्यों तथा वास्तविकताओ की खोज निकालना असम्भव नही है। कालिदास की कृतियो से तत्कालीन जन-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से परिचय प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही उनके व्यक्तिगत जीवन के सूत्रो का भी पता लगाया जा सकता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कालिदासयुगीन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिचायक अनेक तथ्य उनकी रचनाओं में निहित हैं। ई० पूर्व० दूसरी शती के लगभग मौर्यों की महान् परम्परा प्रायः क्षीण पड़ गयी थी। उसका उत्तराधिकार दक्षिण के आंध्र सातवाहनो ने उजागर किया हुआ था। किन्तु प्रतापी मौर्यों की क्षीणता के कारण मगध, पाटलिपुत्र और मथुरा आदि तत्कालीन ऐतिहासिक राजधानियो पर ग्रीकों का प्रभाव स्थापित होता जा रहा था। इस प्रकार के ग्रीक शासको में देमित्रियस् (दिमित) और मेनाडर (मिलिन्द) का नाम प्रमुख हैं। धीरे-धीरे उनका प्रभाव पंजाब-सिन्ध और मध्य-पश्चिम तथा उत्तर भारत मे भी व्याप्त हुआ। तत्कालीन विद्याकेन्द्र तक्षशिला, मगध तथा नालन्दा पर भी उनका

अधिकार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप आयुर्वेद तथा ज्योतिष आदि के विद्वानों पर ग्रीकों की परम्पराओं का प्रभाव प्रकाश मे आने लगा। ज्ञान-विज्ञान के अतिरिक्त स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला के इन तीनो क्षेत्रों में भी ग्रीकों की शिल्प-संरचना के नये रूप प्रकाश में आये।

सामाजिक जीवन

कालिदासकालीन भारत के सामाजिक जीवन का चित्रण करने वाली सामग्री उनके ग्रन्थों में भरपूर रूप में विद्यमान है। भारतीय समाज-व्यवस्था का नियमन वर्णाश्रम धर्मों द्वारा होता आया है। कालिदास के ग्रन्थो मे वर्ण और आश्रम दोनो की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि 'रघुवंश' मे कालिदास ने सभी रघुवंशी राजाओं में आश्रम धर्म की अनिवार्यता को स्वीकार किया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदासयुगीन समाज में उसमे कुछ शिथिलता आ गयी थी। ब्रह्मचर्याश्रम मे अध्ययन तथा नियम की जो वैदिक परम्परा थी, उसमें विद्याध्ययन की श्रेष्ठता तो पूर्ववत् बनी हुई थी, किन्तु नियम एवं व्रत की कट्टरता में कुछ शिथिलता आ गयी थी। इसी प्रकार यद्यपि राजा दिलीप जैसे गृहस्थ के आदर्श को चरितार्थ करनेवाले गृहस्थ लोग कम थे, फिर भी गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का आश्रय तब भी माना जाता था। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की परम्परा भी उतनी नियमानुबद्ध नही थी।

वर्णधर्म की परम्परा मे स्थायित्व था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो वर्णों की व्यवस्था को सारा समाज स्वीकार करता था। प्रत्येक वर्ण में धर्मशास्त्रानुसार सस्कारो का सम्पादन होता था। 'रघुवश' के सभी राजा जातकर्म, नामकरण, उपनयन आदि सोलह सस्कारो में दीक्षित थे। असवर्ण विवाहो को बुरा नही माना जाता था। प्राजापत्य और गान्धर्व विवाहो की अधिकता थी। गान्धर्व विवाह का उदाहरण 'अभिज्ञान शाकुन्तल' है।

कालिदास की सभी कृतियो मे, विशेष रूप से 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में गृहस्थ जीवन का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन हुआ है। उसमे कन्या की विदाई के जिस मार्मिक पक्ष का वर्णन किया गया है उसके कारण यह नाटक विश्व की सर्वोच्च कृतियो में सहज ही स्थान पा गया है। भारतीय गृहस्थ के लिए कन्या का जन्म बडा ही क्लेशकारी रहा है। पिता के वात्सल्य, माता की ममता, भाई-बहनों का प्रेम और सखी-सहेलियों का साथ छोड़कर सदा के लिए जब उसे पराये घर में जाना होता है, तब उसकी वह स्थिति अत्यन्त ही करुणाजनक

हुआ करती है। इस प्रसंग का चित्रण कालिदास ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। गृहस्थाश्रम में रहने वाले लोगों के लिए कन्या का वियोग असह्य तो होता ही है, किन्तु एक संसारत्यागी एवं सयमधनी तपस्वी का हृदय भी उससे द्रवित हुए बिना नही रहता। 'आज शकुन्तला पतिगृह को जा रही है। इस विचार से ही मेरा हृदय दुःख से भर गया है। कण्ठ गद्‌गद् हो रहा है। चिन्ता से दृष्टि जड़ हो गयी है। वनवासी होकर भी यदि मैं कन्या की विदाई से इतना व्याकुल हो सकता हूँ, तो उन गृहस्थो की क्या दशा होती होगी?'

कालिदास ने वैदिक परम्परा के अनुसार स्त्रियो के कुलधर्म का बड़ी सतर्कता से अत्यन्त सयत रूप मे वर्णन किया है। उन्होने सामाजिक जीवन मे स्त्रियों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। वे सुशिक्षित हुआ करती थी और उन्हें धर्मानुराग के लिए इतिहास-पुराण तथा कलानुराग के लिए ललित कलाओं (संगीत, नृत्य, गायन, चित्रकला) की शिक्षा दी जाती थी। उनके बिना गृहस्थ का कोई भी धार्मिक कृत्य सम्पन्न नही होता था। पति-वरण के लिए वे स्वतन्त्र थी, यथा पार्वती ने शिव का वरण स्वयं किया। शकुन्तला ने दुष्यन्त का और इन्दुमती ने अज का। स्वयम्वरों का आयोजन पतिवरण की स्वतन्त्रता का द्योतन करता है।

समाज मे स्त्रियो का सम्मानजनक स्थान था। वे घर की सर्वस्व हुआ करती थी। सार्वजनिक क्रीड़ा, उत्सवो मे भाग लेने के लिए उन्हें पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। शील और मर्यादा आदि सद्‌गुणों का पालन करना उनके स्वभाव की विशेषता थी।

परिवार

ऐसा प्रतीत होता है कि आज की ही भाँति तब भी पारिवारिक सम्बन्धों के निर्वाह के प्रति सजगता बरती जाती थी। संयुक्त परिवारो का प्रचलन अधिक था। परिवार के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्वाह का दायित्व प्रत्येक पारिवारिक पर होता था। परिवार-संस्था का इस दृष्टि से भी महत्त्व था कि वही सामाजिक रचना का आधार थी। अतिथि-सेवा गृहस्थ जीवन का सर्वोत्तम कर्त्तव्य था। पारिवारिक जीवन में शिष्टाचार का विशेष महत्त्व माना जाता था।

कालिदास के ग्रन्थो से तत्कालीन भारत की शिष्ट एवं समुन्नत संस्कृति का दिग्दर्शन हुआ है। सामाजिक जीवन के जो विभिन्न पारस्परिक सम्बन्ध हैं,

उनके निर्वाह की विधियों का आदर्शमय निरूपण कालिदास की कृतियों में हुआ है। गुरु से शिष्य का आचारण किस प्रकार होना चाहिए, माता-पिता के प्रति पुत्र का व्यवहार कैसा होना चाहिए, ऋषियों एवं त्यागी पुरुषों के समक्ष राजा को किस विनयभाव से व्यवहार करना चाहिए; इसी प्रकार छोटो का बड़ों के प्रति और बडो का छोटों के प्रति कैसा आचरण होना चाहिए—इन शिष्टाचार-सम्बन्धी बातों पर कालिदास की कृतियों में बडी सूक्ष्मता से विचार किया गया है।

शिक्षा दीक्षा

तत्कालीन भारत में समाज-निर्माण और चारित्रिक उत्थान की दृष्टि से शिक्षा-दीक्षा का सुप्रबन्ध था। धर्मशास्त्र के अनुसार तीनो वर्णों के लोगो के लिए शिक्षा काल की वय तथा अवधि नियत थी। पुरुषो के ही समान स्त्रियो को भी शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता थी। स्त्रियाँ बहुधा कला-कौशलों मे दक्ष हुआ करती थी। कौत्स तथा वरतन्तु के पारस्परिक सम्बन्ध तत्कालीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का अनुकरणीय उदाहरण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समाज मे दो भाषाएँ प्रचलित थी—संस्कृत और प्राकृत। उच्चकुलीन समाज में सस्कृत का प्रचलन था और स्त्रियाँ तथा दास-दासी-सेवक आदि प्राकृत का व्यवहार करते थे। वेद और उसके षडगो का विधिवत् अध्ययन-अध्यापन होता था।

धार्मिक स्थिति

तत्कालीन धार्मिक स्थिति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि समाज मे ब्राह्मणधर्म की प्रधानता थी। यज्ञ-हवन आदि कर्मों के निष्पादन का आधार स्मृतियाँ थी। लगभग दूसरी शती ई० पूर्व मे मौर्य साम्राज्य के बौद्ध-धर्मावलम्बी अन्तिम शासक बृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुग ने ब्राह्मणधर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया था, जिसकी परम्परा शुगभृत्य आँध्रों के समय, अर्थात् ई० पूर्व प्रथम शती तक अक्षुण्ण रूप मे बनी रही। यद्यपि ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म और जैनधर्म भी प्रचलित थे, तथापि अपनी अनीश्वरवादी प्रवृत्ति के कारण बौद्धधर्म का प्रभाव शिथिल पड गया था, जब कि जैनधर्म अपनी तप, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि सदाचारों एवं सुधारवादी प्रवृत्तियो के फलस्वरूप सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए था।

ब्राह्मणधर्म के इस पुनर्जागरण के कारण जहाँ एक ओर आर्यों तथा आर्येतरों में पारस्परिक समन्वय की भावना का उदय हुआ, वही दूसरी ओर ब्रह्मा,

विष्णु और महेश तीनों ब्राह्मण देवताओं का महत्त्व बढ़ने लगा। कालिदास स्वयं शैव थे; किन्तु विष्णु के प्रति भी उनकी वैसे ही गहन निष्ठा थी। उन्होंने सभी धर्मों, मतों और देवताओं का एक ही अन्तिम लक्ष्य बताते हुए 'रघुवंश' (१०।२६) में लिखा है कि 'जैसे गंगाजी की सभी धाराएँ अन्ततः समुद्र मे जा मिलती हैं, उसी प्रकार परमानन्द को प्राप्त करने के जितने भी मार्ग या साधन विभिन्न शास्त्रों मे नाना रूपो मे निरूपित हुए हैं, उन सब का एक ही अन्तिम लक्ष्य में समन्वय हो जाता है।'

आर्थिक जीवन

कालिदास की कृतियो में यद्यपि तत्कालीन भारत की आर्थिक स्थिति पर विशेष रूप से प्रकाश नही डाला गया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग मे आर्थिक विषमता नहीं थी। सारा समाज अपने-अपने उद्यम एव नियत कर्मों के अनुसार उपार्जन करता हुआ अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता था।

देश में परम्परानुगत कृषि कार्य की प्रधानता थी। कृषि से जौ, धान, तिल, दाल, मसाले आदि पदार्थ यथेष्ट मात्रा में उत्पन्न होते थे। दूध, घी, शक्कर, गुड तथा मधु आदि की कमी नही थी। पशु धन उस युग की सुदृढ अर्थ व्यवस्था का आधार था।

देश के आर्थिक जीवन के स्रोत छोटे-बडे उद्योग-धन्धे पर्याप्त उन्नति पर थे। सूती, रेशमी तथा महीन मलमल के वस्त्रो के निर्माण में देश सर्वतोभावेन सम्पन्न था। भेड़-बकरियो के पालन और उनके ऊन से वस्त्रोद्योग की स्थिति उन्नत थी। धातु-उद्योग भी स्थापित थे। कताई-बिनाई-कढ़ाई-सिलाई आदि की गृह-कलाएँ प्रगति पर थी। काष्ठ कार्य बहुत आगे बढा हुआ था। लोहार, सुनार तथा बढई आदि शिल्पियो की स्थिति उन्नत थी।

जल और स्थल मार्गों से द्वीपान्तरों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध सुदृढ थे। हाथीदांत, सुवर्ण, रजत आदि, विभिन्न प्रकार के मणि-माणिक्यों का व्यापार होता था। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे ऐसे सार्थवाह (कारवों) का उल्लेख हुआ है, जो समुद्र मार्ग से यात्रा करता था। उस युग मे उज्जयिनी की देश के प्रमुख व्यापार-केन्द्रो में परिगणना थी। कालिदास ने चीनांशुक का उल्लेख किया है, उससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार के मूल्यवान् रेशमी वस्त्रों का चीन से आयात होता था। किन्तु भारत भी इस दृष्टि से उन्नत था।

देश में महीन मलमल का निर्माण होता था, जिसकी द्वीपान्तरों में बड़ी खपत थी। रोम, चीन, बाली, जावा, सुमात्रा और श्रीलंका से विशेष व्यापारिक सम्बन्ध थे।

सौन्दयानुराग

कालिदास सौन्दर्य एव प्रणय के कवि थे। जड-चेतन, प्रकृति-मानव, समस्त चराचर में सर्वत्र ही उनकी दृष्टि सौन्दर्य एवं प्रणय पर ही केन्द्रित रही है। उनकी यह सौन्दर्यानुभूति सर्वथा निजी है। उसमें व्यापकता है। प्रकृति में व्याप्त अथाह सौन्दर्य को मानवीय सौन्दर्य मे अवतरितकर उन्होने उसके विभिन्न पक्षो का अत्यन्त मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। कालिदास ने सौन्दर्य की परिणति प्रेम में दिखायी है। उनकी दृष्टि से यह प्रेम चाहे प्रकृतिजन्य हो या मानवजन्य, अकारण ही नही हो जाता, अपितु उसके मूल में पूर्वजन्म के सुकृत विद्यमान रहते हैं और बिना प्रेरणा तथा योजना के मन उधर आकृष्ट नही होता। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे उन्होने प्रेम की इस स्थिति का सुन्दर चित्रण किया है।

'कुमारसम्भव' के तृतीय सर्ग मे पार्वती का चित्रण करते हुए कालिदास ने सौन्दर्य की सुष्ठु, मनोहर एव सयत अवस्थाओ का वर्णन किया है। पार्वती के रमणीय आनन पर हास्य रेखा का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है : "यदि जूही की कलियाँ चुनकर अरुण वर्ण कोमल किसलयो पर सजाकर रख दी जायें, या लाल-लाल मूंगो पर मोतियो के दाने तरतीब से बैठा दिये जायें, तब कही जाकर पार्वती के अरुण अधरो पर खेलने वाली मुस्कुराहट की उपमा दी जा सकती है।"

कालिदास ने प्रेम की अनेक कोटियो का व्यापक चित्रण अपने ग्रन्थो मे किया है। अपनी प्रिया से सुदूर विदेश मे जीवन-यापन करने वाले यक्ष का प्रणय निवेदन जितना कवित्वमय है, उतना ही यथार्थ भी। कालिदास की यह सौन्दर्य भावना उनके उदात्त कविकर्म को अभिव्यक्त करती है। उनके कवित्व मे सर्वत्र ही उनकी सौन्दर्य भावना के दर्शन होते हैं। वियोग, सयोग, करुण, शान्त आदि वर्णनों मे, प्रकृति, मानव, कला, संस्कृति आदि सभी सन्दर्भों में कालिदास की रुचिर सौन्दर्य भावना सर्वत्र दर्शित है।

मनोरंजन

तत्कालीन समाज में मनोरंजन के अनेक साधन विद्यमान थे। मुख्य रूप से नृत्य, संगीत, चित्रकारी, आखेट, जलक्रीड़ा, अक्षक्रीड़ा और सुरापान गोष्ठियो

का समाज में व्यापकता से प्रचलन था। विभिन्न त्योहारों तथा उत्सवों पर भिन्न-भिन्न क्रीडा-कौतुकों का आयोजन होता था। प्रमदवनों में पुष्प-उत्सव मनाया जाता था। उस समय 'दोलाधिरोण' तथा 'अपानक गोष्ठियों' का विशेष आयोजन होता था। यद्यपि मांस-विक्रय तथा मदिराजीवी होना निषिद्ध था, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि आखेट करना और मदिरापान आम लोगों मे प्रचलित था। 'रघुवंश' में इन्दुमती अज को मदिरापान कराती है। 'मालविकाग्निमित्र' की इरावती मद्यपायी है। 'कुमारसम्भव' में शंकर स्वयं मदिरापान करते हैं और उसमें पार्वती जी को भी सम्मिलित करते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे नागरिक और सैनिक दुकान पर बैठकर मदिरापान करते हैं।

वस्त्राभूषण और प्रसाधन

कालिदास की कृतियों मे सामाजिक जीवन की सौन्दर्यप्रियता का विशद चित्रण हुआ है। तत्कालीन समाज द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्राभूषणो और नाना प्रकार के सौन्दर्य-प्रसाधनो का कलिदास के प्रायः सभी ग्रन्थों में वर्णन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्त्र-उद्योग तब अपनी उन्नतावस्था मे था। कताई-बिनाई और जडाई-कढ़ाई कला मे भी पर्याप्त अभिज्ञता थी। विभिन्न उत्सवो मे तदनुरूप नाना प्रकार के वस्त्रों को धारण किये जाने का प्रचलन था। इसी प्रकार ऋतुओं के अनुकूल भिन्न-भिन्न वस्त्र धारण किये जाते थे। पुरुषो के वस्त्रो मे पगड़ी (वेष्टन), दुपट्टा (दुकूल) और धोती प्रमुख थे। सम्पन्न लोग रत्नजटित उत्तरीय धारण करते थे। स्त्रियों के वस्त्रो मे धोती, और चोली (कचुक या कूर्पासन) की प्रमुखता थी। नीवीबन्ध (करधनी) धारण करने का भी सामान्य प्रचलन था। ब्रह्मचारियों द्वारा वल्कल, वानप्रस्थियो द्वारा गेरुवा और संन्यासियों द्वारा मृगचर्म धारण किये जाते थे।

वस्त्रों की ही भाँति समाज में विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करने की अभिरुचि थी। स्त्रियो के शिर के आभूषणों में चूड़ामणि तथा मुक्ताजाल प्रमुख थे। वेणीबन्ध को रत्न-पुष्पों से अलंकृत करने में स्त्रियों की विशेष अभिरुचि थी। इसी प्रकार कानों में कुण्डल या कर्णपूर, गले में स्वर्ण-सिक्कों की मालाएँ, कलाइयों में चूड़ियाँ, बाहुओं में भुजबन्ध और अँगुलियों में अँगूठियाँ धारण किये जाने का प्रचलन था। करधनी और नूपुरों को धारण करने की अभिरुचि प्रायः सर्व सामान्य में थी। राजाओं के शिर पर रत्नजटित किरीट और गले में मुक्ताहार हुआ करते थे।

सौन्दर्यानुरागी तत्कालीन समाज में केश-विन्यास के विभिन्न ढंग प्रचलित थे। स्त्रियाँ कलात्मक वेणियाँ गूँथती और उन पर मुक्तापुष्प पोहती थी। शिर मे माँग भरने (सीमन्त) की प्रथा का व्यापक प्रचलन था। स्त्रियो की ही भाँति पुरुष भी बाल बढाते और दाढ़ी-श्मश्रु रखते थे। बालको के 'काकपक्ष' का व्यापक प्रचलन था।

शरीर की शोभा तथा सुन्दरता की अभिवृद्धि के लिए विभिन्न प्रकार के प्रसाधनों का उपयोग किया जाता था। फूलों की मालाएँ धारण करने मे पुरुषों की विशेष अभिरुचि थी। इसी प्रकार पुष्पालकरणों द्वारा वेणियो को सज्जित करने मे स्त्रियो का विशेष अनुराग था। मुख को तथा अधरो को रगने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रसाधनो का उपयोग होता था। अंगराग तथा उबटन के लिए कालापक, कालागुरु तथा चन्दन का प्रयोग होता था। आँखो पर अजन-रचना और कपोलों पर विन्दु-रचना का भी प्रचलन था।[1]

कलानुराग

कालिदास की कृतियो मे तत्कालीन भारत के कलानुराग की विपुल सामग्री सुरक्षित है। उस युग मे स्थापत्य, चित्र, मूर्ति, नृत्य, सगीत और वाद्य आदि विभिन्न कलाएँ सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी थी। कलाओं का अध्ययन-अध्यापन तत्कालीन शिक्षा के अनिवार्य विषय थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास स्वयमेव इन कलाओं मे दक्ष थे।

कालिदास ने विभिन्न घरों, महलो, द्वारों और भित्तियो पर अकित भित्तिचित्रो का उल्लेख किया है। 'रघुवश' के सोलहवें सर्ग मे विध्वस्त अयोध्या नगरी का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है कि 'वहाँ के प्रासादो की भित्तियो पर नाना भाँति के पद्मवन चित्रित थे, जिनके बीच मे बडे-बड़े हाथियो को दर्शाया गया था। उन हाथियो के साथ उनकी हथिनियाँ कमल की नाल देती हुई अकित की गयी थी। ये चित्र इतने सजीव थे कि उनमे चित्रित हाथियो को (आज की विध्वस्तावस्था मे भी) वास्तविक हाथी समझकर वहाँ के सिंहो ने अपने नाखूनो से उनका गण्डस्थल विदीर्ण कर दिया था। वहाँ के विशाल महलो मे जो लकड़ी के स्तम्भ गड़े हुए थे उन पर मनोहर मूर्तियाँ उत्कीर्णित थी और उनमें रग भरा हुआ था। ये दारु-मूर्तियाँ रगों के उड़ जाने से फीकी पड़ गयी थीं। अब तो साँपो की छोड़ी हुई केचुले ही उनके वक्षस्थल के आवरण योग्य दुकूल का कार्य कर रही थी।'

इस विध्वस्त-नगरी का कुश ने पुनरुद्धार किया और उसको पूर्ववत् कला-उपकरणों द्वारा सुसज्जित किया था। कालिदास ने इसी सन्दर्भ मे लिखा है कि 'जिस प्रकार इन्द्र की आज्ञा से बादल जल बरसाकर गर्मी से उत्तप्त पृथ्वी को हरी-भरी कर देते हैं उसी प्रकार सम्राट् कुश के द्वारा नियुक्त शिल्पियों ने प्रचुर उपकरणों द्वारा उस दुर्दशाग्रस्त नगरी की काया पलट कर दी थी'—

तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात् ।
पुर नवीचक्रुरपां विसर्गात् मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥

इसी प्रकार तत्कालीन समाज में शिल्पियो के पृथक् संघो का निर्माण हो चुका था, जो कि अपनी कला मे इतने दक्ष थे कि अयोध्या नगरी को उन्होंने यथावत् बना दिया था।

उस युग मे स्त्री-पुरुष दोनो चित्रांकन करते थे। चित्रो के द्वारा अपने प्रेमियो को प्रेम सन्देश प्रेषित किये जाते थे। वियोग की व्यथा को कम करने के लिए भी नायक नायिका एक-दूसरे के चित्र बनाकर मन बहलाया करते थे। उदाहरण के लिए विरहिणी यक्षिणी द्वारा अंकित उसके प्रवासी पति यक्ष का चित्र उल्लेखनीय है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे दुष्यन्त ने अपने विरह-व्यथित मन की शान्ति के लिए शकुन्तला का चित्र तैयार किया था। यही नही, चित्रों के द्वारा विवाह निश्चित होते थे। विभिन्न देवी-देवताओ के चित्र बनाकर उनकी पूजा-अर्चना की जाती थी। चित्र मगलसूचक समझे जाते थे।

'मालविकाग्निमित्र' मे मालविका का मनमोहक चित्र देखकर विदिशा का राजा अग्निमित्र विमुग्ध हो गया था। उसकी अपनी विशाल चित्रशाला और सगीतशाला थी। एक सगीत प्रतियोगता मे गणदास की शिष्या मालविका की विजय हुई थी। राजा दुष्यन्त ने शकुतन्ला का जो चित्र बनाया था, उसके सम्बन्ध मे कालिदास ने लिखा है कि 'चित्रगत होते हुए भी वह छबि इतनी सजीव जान पड़ती थी कि मानो अभी, इसी क्षण, बोल पड़ेगी।'

चित्रकला की ही भाँति नृत्य-सगीत का भी तत्कालीन समाज मे व्यापक प्रचलन था। लोक-जीवन से लेकर नागरिक जीवन तक उसका प्रचार-प्रसार था। ईख के खेतो मे कार्यरत ईख की छाया मे विश्राम करती हुई कृषक युवतियो को कालिदास ने रघु की दिग्विजय के गीत गाते हुए दर्शाया है। तत्कालीन लोक-जीवन मे परम्परागत वीरगाथाओं तथा प्रणयकथाओ के गीत

प्रचलित थे। 'मालविकाग्निमित्र' में शास्त्रीय संगीत की विस्तार से चर्चा हुई है। इसी प्रकार 'मेघदूत' की यक्षपत्नी वीणावादन के साथ वियोग के गीतों को गाती हुई अपने मन का भार हल्का करती हुई दिखायी गयी हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओं के यहाँ नृत्य-संगीत की शिक्षा के लिए संगीतशालाओ तथा नाट्यगृहों की विशेष रूप से व्यवस्था थी। वहाँ सुविज्ञ आचार्यों की नियुक्ति होती थी और वे समय-समय पर दर्शकों को अपने कौशल को दिखाकर चकित करते थे। गणिकाएँ और देवदासियाँ भी नृत्य-संगीत में दक्ष हुआ करती थी।

चित्रकला और नृत्य-संगीत के अतिरिक्त मूर्तिकला का भी तत्कालीन समाज मे प्रचलन था, जिसके संकेत कालिदास के ग्रन्थों मे मिलते हैं। 'कुमारसम्भव' मे शिव-पार्वती के विवाह-प्रसंग में चँवरधारिणी गंगा तथा यमुना की मूर्तियो का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे शिशु भरत को खेलने के लिए मृत्तिका का रगीन मयूर दिया गया था।

कालिदास के ग्रन्थो मे उल्लिखित कला-विषयक सामग्री की समीक्षा वस्तुत: एक स्वतन्त्र विचारणा का विषय है। सौन्दर्यानुरागी एव रसवादी कवि कालिदास की कला के प्रति अभिरुचि होनी स्वाभाविक ही थी। उनकी इस कलाभिरुचि मे तत्कालीन जन-जीवन की निष्ठाएँ समन्वित होकर उनके ग्रन्थों में अत्यन्त प्रभावशाली रूप मे अभिव्यक्त हुई हैं।

इस प्रकार कालिदास की कृतियाँ भारतीय सस्कृति और कला की सहेजनीय निधि के रूप मे राष्ट्रीय जीवन की प्रेरणा-स्रोत बनी हुई हैं।

• • •

तेरह/सातवाहन युग

सातवाहन साम्राज्य

भारतीय संस्कृति, साहित्य और इतिहास के नव निर्माण में दक्षिण के आन्ध्र सातवाहन शासकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जहाँ तक सातवाहनों के इतिहास का सम्बन्ध है, विद्वानों के लिए आज भी वह विवाद का विषय बना हुआ है। यह विवाद सर्व प्रथम 'सातवाहन' शब्द को लेकर उठ खड़ा हुआ। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में 'सातवाहन' शब्द में 'स' और 'श' दोनों का प्रयोग हुआ है। किन्तु वस्तुतः इस विवाद का कोई औचित्य नही दिखायी देता है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के लिपिकर्ताओं एवं प्रतिलिपिकर्ताओ की असावधानी से वर्णों तथा शब्दों के प्रयोग की अशुद्धियाँ रह जाना कोई आश्चर्य की बात नही है। इस प्रकार की अनेक त्रुटियाँ मुद्रित प्रतियो में भी देखने को मिलती है। सातवाहन साम्राज्य के अनुसन्धाता जोगलेकर आदि विद्वानों का अभिमत है कि 'सातवाहन' का विशुद्ध 'सप्तवाहन' है (अ० भा० ओ० रि० इं०, भाग 27, पृ० 155 आदि)। इस आधार पर सातवाहनों का सम्बन्ध सूर्यवंश से स्थापित किया गया है। उनकी 'सातकर्णि' उपाधि से भी यही सिद्ध होता है।

पुराणों मे सातवाहनों को 'आन्ध्रभृत्य' कहा गया है, जिसके दो विभिन्न अर्थ माने गये हैं : 'आन्ध्र का भृत्य' और 'आन्ध्र जिसका भृत्य है।' इस सम्बन्ध में गोपालचारी का अभिमत (अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि आन्ध्र कण्ट्री, पृ० 29) है कि 'आन्ध्र सातवाहन, मौर्यों के शासनकाल में उसी प्रकार उच्च पदों पर रहे होंगे, जिस प्रकार काण्व शुंगों के भृत्य थे।' इस दृष्टि से अधिक उपयुक्त यह जान पड़ता है कि मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए भी सातवाहनों ने सम्भवतः अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखी।

सातवाहनों का सम्बन्ध किस वर्ण से था, इस पर भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। 'नासिक प्रशस्ति' में गौतमीपुत्र सातकर्णि को 'एक ब्राह्मण' और 'क्षत्रियों के गर्व को चूर्ण करने वाला' (खतिय-दप-मान-मदनस) कहा गया है। इस आधार पर राय चौधुरी तथा अन्य विद्वानों ने सातवाहनों को नाग जाति से

सम्बद्ध ब्राह्मण सिद्ध किया है (राय चौधुरी–पॉ० हि० ऐ० इं०, पृ० 414)। किन्तु डॉ० भण्डारकर का कहना है कि सातवाहन जिस वर्ण से भी सम्बद्ध रहे हों, ब्राह्मणधर्म के प्रति उनकी गहन निष्ठा थी (एपि० इण्डि०, भाग 22, पृ० 32 आदि)।

सातवाहन भारत के किस अंचल के मूल निवासी थे, इस सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। पुराणों, जैनग्रन्थों, प्राप्त अभिलेखों तथा मुद्राओं के आधार पर सातवाहनों को धान्यकटक, गोदावरी तथा कृष्णा के निचले काठे से नासिक तक, तेलंगना प्रदेश, वेणगंगा की तटवर्ती भूमि, साँची (मध्य प्रदेश), बेलारी, आन्ध्र नदी की घाटी, विन्ध्य मेखला, नानाघाट (महाराष्ट्र), बरार और प्रतिष्ठानपुर आदि विभिन्न अंचलों का निवासी बताया गया है।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के अभिमत द्रष्टव्य हैं। डॉ० सुकथणकर ने पुराणों में उल्लिखित 'आन्ध्रभृत्य' शब्द के आधार पर सातवाहनों को आन्ध्रवासी होना स्वीकार नहीं किया है। उनका तर्क है कि जिस प्रकार 'काण्वों' के लिए 'शुंगभृत्य' कहा गया है, उसी प्रकार 'आन्ध्रभृत्य' का भी प्रयोग हुआ है। उनका यह भी कहना है कि सातवाहनों के अभी तक जितने अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनमें कहीं भी 'आन्ध्र' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रीक इतिहासकारों के भारत सम्बन्धी विवरणों में आन्ध्र या 'आन्ध्र प्रदेश' का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। डॉ० सुकथणकर ने बेलारी को सातवाहनों का मूल निवास बताया है। उन्होंने आन्ध्रों तथा परवर्ती शासकों के अभिलेखों के साक्ष्य पर इस मत की पुष्टि की है (इंडि० एंटी०, 1913 ई०; एपिग्रा० इंडि०, भाग 8, पृ० 32)।

एक अन्य विद्वान् जोगलेकर ने पुराणों के 'आन्ध्र' शब्द का सम्बन्ध वर्तमान आन्ध्र प्रदेश में बहने वाली आन्ध्र नदी से जोड़कर इस नदी की घाटी को सातवाहनों का मूल निवास सिद्ध किया है। उन्होंने जातियों के आधार पर रूढ़ दशार्ण, शतद्रु और सारस्वत आदि जनपदों को इस सन्दर्भ में उद्धृत किया है। उनका कहना है कि आन्ध्र घाटी के निकट पूजा जिले के खेड़ तालुका में आज भी आन्ध्र लोगों की बस्तियाँ विद्यमान हैं। अधिक युक्तिसंगत यह जान पड़ता है कि आन्ध्र, महाभोज, महारठी, पेत्तनिक, पुलिन्द, शबर तथा पुण्ड्र आदि अनेक जातियों के संगठन से सातवाहनों ने एक नये राष्ट्र का निर्माण किया। यह नया राष्ट्र वर्तमान महाराष्ट्र ही है, जिसे 'मत्स्य पुराण' (११४।४७) में 'नवराष्ट्र' कहा गया है। महाराष्ट्र के सम्बन्ध में एक पुष्ट आधार यह भी है कि प्रसिद्ध सातवाहन राजा हाल ने अपनी 'गाथा सप्तशती' का निर्माण

महाराष्ट्री प्राकृत में ही किया था (एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरि० रि० इन्स्टि०, भाग 29, पृ० 203-204)।

तीसरा महत्त्वपूर्ण मत गोपालचारी का है। उनके अभिमत के आधार प्राप्त अभिलेख और मुद्राएँ हैं। उनका कहना है कि सातवाहनों का सम्बन्ध वर्तमान आन्ध्र प्रदेश से न होकर पश्चिमी भारत से था। वे आन्ध्र घाटी, प्रतिष्ठानपुर (विदर्भ या बरार) के मूल निवासी थे (अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि आन्ध्र कण्ट्री, पृ० 7)।

सातवाहनों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह तो कहा ही जा सकता है कि उनका अस्तित्व दक्षिण मे ही बना रहा। वे आन्ध्रवंशीय थे और कदम्बों से पूर्व कुन्तल (कर्नाटक) प्रदेश पर राज्य करते थे। उनके उपलब्ध अभिलेखों और सिक्को के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने अपनी शक्ति का स्थिरीकरण पहले दक्षिण मे किया और धीरे-धीरे आन्ध्र को भी अपने अधीन कर लिया। किन्तु शक और आभीर आक्रमणों के कारण जब उनकी सत्ता पश्चिमी अंचलो मे क्षीण पड़ गयी, तब वे गोदावरी एवं कृष्णा की भूमि तक ही सीमित रह गये।

सातवाहन शासक

सातवाहन शासकों का वंश-क्रम और शासनकाल निर्धारित करने सम्बन्धी पुराणो, अभिलेखों और मुद्राओ के साक्ष्य परस्पर इतने भिन्न हैं कि उनमे एकरूपता स्थापित करना सम्भव नही है। यही कारण है कि इस सम्बन्ध मे आधुनिक इतिहासकार विद्वानो ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनमे भी पारस्परिक भिन्नता देखने को मिलती है।

सातवाहन-वंश के संस्थापक के सम्बन्ध में प्रायः विद्वान् एकमत हैं। उसका नाम सिमुक था। पुराणो में उसको शिशुक (मत्स्य २७२।२), सिसुक या सिसमको (वायु० ३।९९।३४९) आदि अनेक नामों से कहा गया है। सिसुक सातवाहन ने पुराणो के अनुसार तेईस वर्षों तक शासन किया। उसके बाद उसका छोटा भाई कृष्ण शासक नियुक्त हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सिसुक का पुत्र सातकर्णि प्रथम अल्पवय था। इसलिए उत्तराधिकार कृष्ण को मिला। वह अपने अग्रज की भाँति वीर और विजयाकांक्षी था और उसने नासिक तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। उसने नानाघाट की गुफाओं का निर्माण भी कराया था। पुराणों के अनुसार कृष्ण ने अठारह वर्ष तक राज्य किया और उसका भतीजा, सातकर्णि प्रथम उसका उत्तराधिकारी बना।

सातकर्णि प्रथम 'सिरि' की उपाधि धारण करनेवाला प्रथम सातवाहन शासक था। उसकी पत्नी का नाम देवी नागनिका या नायनिका था। उसके नानाघाट से उपलब्ध अभिलेख (जरनल ऑफ बम्बई ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग 13, पृ० 311) में सातकर्णि प्रथम को शूर-वीर दक्षिणापथपति और अप्रतिहतचक्र आदि वीरतासूचक विशेषणों से अभिहित किया गया है। अपनी धर्मपरायणा पत्नी के साथ उसने अनेक यज्ञ अपने साम्राज्य के विस्तार के उपलक्ष्य में किये थे और इसी कारण उसको 'सिरि' की सामान्य उपाधि से विभूषित किया गया था।

सातकर्णि प्रथम के बाद सातवाहन-वंश के अन्य चार शासकों के वंशक्रम तथा स्थितिकाल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। विद्वानों के मतानुसार हकुश्री या महाहकुश्री और सातकर्णि द्वितीय उसके उत्तराधिकारी थे। किन्तु यह क्रम-स्थापन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। पुराणों, शिलालेखों और मुद्राओं के उल्लेखों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पार्जिटर और डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने सातकर्णि प्रथम के बाद पूर्वोत्संग, स्कन्धस्तम्भि, लम्बोदर और मेघस्वाति नामक चार सातवाहन शासकों का क्रम निर्धारित किया है।

पुराणों की वंश-तालिका में गौतमीपुत्र सातकर्णि को आठवां शासक बताया गया है। उसे सातकर्णि द्वितीय भी कहा जाता है। सातवाहन शासकों के मातृपरक नामों के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार की धारणाएँ व्यक्त की हैं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्थान, जाति और परम्परागत वैदिक नामों के आधार पर उन्होंने मातृपरक नामों को अपनाया था। सातवाहन राजवंश की कीर्ति-पताका को दिग्दिगन्तर में फहराने वाले यशस्वी शासकों में गौतमीपुत्र सातकर्णि का नाम प्रमुख है। उसके उपलब्ध अभिलेखों (नासिक सं० 4, एपि० इंडि०, भाग 8, पृष्ठ 71-72) से ज्ञात होता है कि अपने शासन के 16 वें, 17 वें वर्ष में उसने क्षहरातवंश का उन्मूलन करने के पश्चात् दक्षिण-पश्चिम में यवन, शक तथा पह्लवों को भी पराजित किया (नासिक सं० 2)। तदनन्तर उसने भृगुकच्छ पर आक्रमण करके नहपान को भी पराजित किया। इस प्रकार उसने दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम और सुदूर उत्तर तक अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किया।

वह वीर और साहसी होने के साथ-साथ उदार, दानी और सहिष्णु था। इस रूप में उसका स्थान कुछ इने-गिने भारतीय शासकों में निर्धारित किया

गया है। सातवाहन वंश के शासकों में उसने सर्वाधिक वर्षों तक शासन किया। उसके शासन की अवधि लगभग 56 वर्षों की बतायी गयी है।

गौतमीपुत्र सातकर्णि के बाद विद्वानों ने अपीलक को नौवाँ शासक माना है; किन्तु यह मन्तव्य उपयुक्त नहीं ठहरता है। गौतमीपुत्र सातकर्णि के बाद उसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलोमावि प्रथम सातवाहनवंश का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। उपलब्ध सामग्री के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी जीवितावस्था मे ही गौतमीपुत्र ने अपने पुत्र पुलोमावि को उत्तराधिकारी बना दिया था। उसके शासन की कोई उल्लेखनीय घटना नही मिलती है। अन्तिम दिनो में उसने पिता द्वारा विजित विशाल साम्राज्य का कुछ अंश खो दिया था। पुलोमावि ने लगभग 36 वर्ष शासन किया।

पुलोमावि प्रथम के बाद कृष्ण द्वितीय या गौरकृष्ण का क्रम निर्धारित किया गया है। उसके शासन की कोई उल्लेखनीय घटना नही है। उसने लगभग 25 वर्षों तक शासन किया। कृष्ण द्वितीय के अनन्तर सातवाहन वंश के 11 वे शासक हाल का क्रम आता है। सातवाहन हाल का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। उसके व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने तथा प्रकाशित करने वाली अमर कृति 'गाथा सप्तशती' आज भी वर्तमान है। यह कृति सात अध्यायों तथा सात सौ आर्या छन्दों में विरचित है, जो कि महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गयी है। हाल का शासनकाल पाँच वर्षों का बताया गया है। सातवाहन हाल स्वय विद्वान् और कवियो, विद्वानो का आश्रयदाता था। 'बृहत्कथा' का रचयिता गुणाढ्य उसकी सभा का रत्न था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने शासन की अपेक्षा साहित्य के प्रति स्वयं को समर्पित कर दिया था। यही कारण है कि उसके शासनकाल की विशेष उपलब्धि साहित्य निर्माण रहा है।

हाल के बाद सातवाहनवंश के लगभग सात शासकों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नही होता है। पुराणों की विवादास्पद वंश-तालिका का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त विद्वानो ने इन सात शासको के नाम इस प्रकार निर्धारित किये हैं—पत्तलक-पुरिकसेन-स्वाति-(साति)-स्कन्दस्वाति-महेन्द्र सातकर्णि-कुन्तल सातकर्णि और सुन्दर सातकर्णि। इन सबका शासनकाल लगभग 63 वर्षों तक रहा।

वासिष्ठीपुत्र पुलोमावि या पुलोमावि द्वितीय सातवाहन साम्राज्य का 19वाँ शासक हुआ। विभिन्न स्थानो से प्राप्त शिलालेखों और मुद्राओं में सिरि

सातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र सिव सिरि सात, हिरु हातकणि और चतरपण सिरि सातकर्णि आदि अभिधान इसी द्वितीय पुलोमावि के लिए प्रयुक्त हुए हैं (गोपालचारी—मौर्याज ऐण्ड सातवाहनाज, पृ० 322)। रैप्सन ने उसे रुद्रदामन् का दामाद बताया है। उसने केवल 4 वर्ष शासन किया। पुलोमावि द्वितीय के बाद पुराणों की तालिका में शिवस्वामी का नाम उल्लिखित है। उसके समय क्षत्रपो ने अपनी शक्ति का संचय करके सातवाहन साम्राज्य पर आक्रमण किया और अनूप तथा अपरान्त जैसे समृद्ध प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया। क्षत्रपों की शक्ति निरन्तर बढ़ती गयी। शिवस्वामी के पुत्र पुलोमावि तृतीय क्षत्रपों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में असमर्थ रहा। उसके 28 वर्ष शासन करने के उपरान्त वासिष्ठीपुत्र चटखट सातकर्णि सातवाहन साम्राज्य का 22 वाँ शासक नियुक्त हुआ। उसके शासनकाल की कोई उल्लेखनीय घटना नही है। उसने लगभग 13 वर्ष शासन किया।

यज्ञश्री सातकर्णि 23 वाँ शासक नियुक्त हुआ। उसने सातवाहन साम्राज्य की क्षीणोन्मुख शक्ति को एक बार पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। 20 वे शासक शिवस्वामी के समय क्षत्रपो द्वारा विजित अपरान्त प्रदेश को उसने पुन: प्राप्त किया। विभिन्न स्थानो से प्राप्त उसके अभिलेखों तथा सिक्कों से ज्ञात है कि उसने पश्चिमी घाट तथा पूर्वी घाट पर अपना अधिकार कर लिया था। उसने लगभग 29 वर्षों तक शासन किया।

उसके बाद सातकर्णि तृतीय उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। उसके पूर्ववर्ती यज्ञश्री सातकर्णि ने साम्राज्य की सीमाओ को बढाने के लिए जो यत्न किया था, सातकर्णि तृतीय ने भी उसको बढ़ाने मे अपनी सारी शक्ति को लगा दिया। क्षत्रपो के बढते हुए प्रभाव को क्षीण करने मे उसने अपनी सैनिक शक्ति पर विशेष बल दिया। लगभग 29 वर्षों तक शासन करने के उपरान्त वासिष्ठी-पुत्र शिवश्री 25 वाँ शासक नियुक्त हुआ। उसने लगभग 7 वर्षों तक शासन किया। उसके उत्तराधिकारी शिवस्कन्द के कुछ दिनो तक शासन करने के उपरान्त सातवाहन साम्राज्य की बागडोर 27 वे शासक विजय के हाथो मे गयी। उसके राज्यकाल में साम्राज्य का पतन होने लगा। विजय की निर्बल नीति एव अयोग्य शासन के फलस्वरूप सातवाहन साम्राज्य के विरुद्ध अनेक शक्तियाँ खड़ी हुईं। इस प्रकार की शक्तियो मे पूर्व-दकिन से आभीर, पूर्व की ओर से इक्ष्वाकु और दक्षिण-पूर्व से पल्लव शक्तिशाली बनते जा रहे थे।

इन विपरीत परिस्थितियो मे लगभग 6 वर्ष शासन करने के उपरान्त वासिष्ठीपुत्र सिरि चण्डसाति उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। पुराणो में उसे

चन्द्रश्री सातकर्णि नाम से कहा गया है। उसके शासनकाल में साम्राज्य का पश्चिमी भाग महाराष्ट्र आभीरों के हाथ में जा चुका था। उसने लगभग 3 वर्षों तक शासन किया। उसके बाद 29 वें शासक पुलोमावि चतुर्थ सम्राट् बना। बेलारी से प्राप्त उसके एकमात्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह यशस्वी सातवाहन साम्राज्य का अन्तिम शासक था। उसने लगभग 7 वर्षों तक शासन किया।

पुराणों में सातवाहन साम्राज्य के शासकों और शासनकाल को विभिन्नता से निरूपित किया गया है। 'विष्णु पुराण' में उसकी अवधि 300 वर्ष, 'वायु पुराण' में 411 वर्ष और 'मत्स्य पुराण' में 460 वर्ष दी गयी है। इस भिन्नता का कारण पुराणो की असमान गणना-पद्धति है। किसी पुराण में काण्वो और शुगों के शासनकाल को भी सातवाहनो के साथ मिला दिया गया है और किसी मे सातवाहन शासकों के शासनकाल में न्यूनाधिकता कर दी गयी है। किन्तु सामान्यतः सातवाहन साम्राज्य का अस्तित्व लगभग साढ़े चार सौ वर्षों तक बना रहा, यद्यपि उसके प्रथम शासक सिमुक से लेकर अन्तिम शासक पुलोमावि चतुर्थ तक लगभग 428 वर्षों का योग बैठता है।

सातवाहन साम्राज्य के लगभग साढे चार सौ वर्षों की सुदीर्घ अवधि को शासक-क्रम से इतिहासबद्ध करनेवाले विद्वानो में पार्जिटर और काशीप्रसाद जायसवाल का नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। इन विद्वानों के अध्ययन के आधार पुराण और सातवाहनों के अभिलेख तथा सिक्के रहे हैं। इनके गणना-क्रम मे कुछ अन्तर तो है; किन्तु दोनों विद्वानो ने सिमुक को प्रथम और पुलोमावि चतुर्थ को अन्तिम शासक स्वीकार किया है। डॉ० जायसवाल ने सातवाहन शासको के क्रम तथा शासनकाल को इस प्रकार निर्धारित किया है :

संख्या	राजाओं का क्रम	राज्यावधि	शासनकाल
1.	सिमुक सातवाहन	23वर्ष	213 से 190 / 205 185 ई० पूर्व
2.	कृष्ण	10 या 18 वर्ष	190 से 172 / 182 ई० पूर्व
3.	सातकर्णि (1)	10 वर्ष	172 से 162 ई० पूर्व
4.	पूर्वोत्संग	18 वर्ष	162 से 144 ,,
5.	स्कन्धस्तम्भि	18 वर्ष	144 से 126 ,,
6.	लम्बोदर	18 वर्ष	126 से 118 ,,

संख्या	राजाओं का क्रम	राज्यावधि	शासनकाल
7.	मेघस्वाति	18 वर्ष	118 से 100 ई० पू०
8.	(गौत०) सातकर्णि (2)	56 वर्ष	100 से 44 ,,
9.	(वासि०) पुलोमावि (1)	36 वर्ष	44 से 8 ,,
10.	कृष्ण (2, गौरकृष्ण)	25 वर्ष	8 ई० पूर्व से 17 ई०
11.	हाल	5 वर्ष	17 से 21 ,,
12.	पत्तलक	5 वर्ष	21 से 26 ,,
13.	पुरिकसेन	21 वर्ष	26 से 47 ,,
14.	स्वाति (साति)	18 वर्ष	47 से 65 ,,
15.	स्कन्दस्वाति	7 वर्ष	65 से 72 ,,
16.	महेन्द्र सातकर्णि	3 वर्ष	72 से 75 ,,
17.	कुन्तल सातकर्णि	8 वर्ष	75 से 83 ,,
18.	सुन्दर सातकर्णि	1 वर्ष	83 से 84 ,,
19.	(वासि०) पुलोमावि (2)	4 वर्ष	84 से 88 ,,
20.	(माठ०) शिवस्वामी	28 वर्ष	88 से 116 ,,
21.	(गौत०) पुलोमावि (3)	28 वर्ष	116 से 144 ,,
22.	(वासि०) चतखट सातकर्णि	13 वर्ष	144 से 157 ,,
23.	(गौत०) यज्ञश्री सातकर्णि	29 वर्ष	157 से 186 ,,
24.	सातकर्णि (3)	29 वर्ष	186 से 215 ,,
25.	(वासि०) शिवश्री	7 वर्ष	215 से 222 ,,
26.	शिवस्कन्द	—	222 ,,
27.	विजय	6 वर्ष	222 से 228 ,,
28.	(वासि०) चतुश्री सातकर्णि	3 वर्ष	228 से 231 ,,
29.	पुलोमावि (4)	7 वर्ष	231 से 238 ,,

शासन व्यवस्था

सातवाहन शासको की शासन-व्यवस्था बडी आदर्श एवं सुव्यवस्थित रही है। उसकी तुलना मौर्य तथा गुप्त काल से की जा सकती है। इतिहास में उत्तराधिकार की स्वार्थपूर्ण अधिकार-लिप्सा के कारण नाना प्रकार के षड्यन्त्र तथा रक्तपात होते रहे हैं। किन्तु सातवाहनो की वंश-परम्परा इस कलंक से सर्वथा मुक्त है। पिता की जीवितावस्था मे पुत्र को अथवा पुत्र के नावालिग होने

की स्थिति में भतीजे को शासक नियुक्त करने के आदर्शमय उदाहरण इसी वंश के इतिहास में देखने को मिलते हैं। सातवाहन-वंश के अनेक शासकों द्वारा मातृपरक नामों की संज्ञा धारण किये जाने के बावजूद वे मातृसत्तात्मक उत्तराधिकार के पक्ष में नहीं रहे।

सातवाहन अधिपति भी राष्ट्रपति, क्षत्रप, महाक्षत्रप, स्वामी और महाराज की उपाधियों से विभूषित होते हुए भी राजा (रञो) शब्द का ही प्रयोग करते रहे। राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन मे उनकी रानियों (देवी-महादेवी) का भी सराहनीय योगदान रहा है।

वैदिक और महाभारतकालीन आदर्श शासन की परम्परा में सातवाहनों ने भी राष्ट्रीय कार्यों के संचालन के लिए सुव्यवस्थित मन्त्रिपरिषद् की स्थापना की। उसके मार्ग-दर्शन से देश का संचालन होता था। मन्त्रिपरिषद् द्वारा निर्धारित नीतियो एवं अनुज्ञाओं के परिपालन और सैनिक शक्ति की सुदृढ़ता के लिए अमात्य, महामात्य, सेनापति, महासेनापति एवं सामन्त आदि विभिन्न उच्चाधिकारियों की व्यवस्था थी। प्रशासन-सम्बन्धी विभिन्न विभागों के संचालन के लिए अलग-अलग उच्चाधिकारी नियुक्त थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहनो की जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था गाँवों से आरम्भ होकर नगरो की ओर उन्मुख थी। उनके अभिलेखों मे 'ग्रामिक' और 'दशग्रामिक' उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्रशासनिक कार्यों के लिए समाज का विभाजन ग्राम्य-स्तर पर किया गया था। 'ग्रामिक' सुरक्षा, शान्ति की व्यवस्था तथा राजा के अंशदान की वसूली करता था और 'दशग्रामिक' गाँवों का अधिकारी होता था। इन दोनो राज्याधिकारियो की नियुक्ति भी सम्भवतः चुनाव के द्वारा होती थी। उनकी तुलना वर्तमान ग्राम प्रधान और ब्लाक प्रमुख से की जा सकती है।

सातवाहनो के समय अमरावती, धान्यकटक तथा नासिक आदि अनेक नगर विद्यमान थे। नगरों की शासन-व्यवस्था का क्या रूप था, इस सम्बन्ध में अभिलेखों तथा मुद्राओ से कुछ पता नहीं चला है। राज्य की राजधानी, जिसे प्राचीन ग्रन्थों से 'पुर' कहा गया है, उसके निर्माण तथा उसकी रक्षा-व्यवस्था कैसी थी, इस सम्बन्ध मे कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है।

सामाजिक स्थिति

सातवाहनयुगीन समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण थे। स्मृतियों के अनुसार उनके अधिकार और कर्त्तव्य सुनिश्चित थे। परम्परा के

अनुरूप वर्ण-विभाजन का आधार कर्मगत था। इसलिए उनमें श्रेष्ठता-हीनता का कोई भेदभाव नही था। चारों वर्ण अपने कर्म में निरत रहते हुए राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी थे। वर्ण-व्यवस्था के साथ ही आश्रम-व्यवस्था भी परम्परानुगत थी। आश्रमधर्म के चारो अंग, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास निर्धारित नियमों के अनुसार उन्नति की ओर अग्रसर थे।

धार्मिक स्थिति

भारत के धार्मिक इतिहास में सातवाहन शासको का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके समय अनेक पुराणो की मूल रचना और अनेक का पुनः संस्करण किया गया। सातवाहनो के उदय से पूर्व जैन तथा बौद्ध धर्मों के कारण वैदिक धर्म शिथिल पड़ गया था। अशोक ने बौद्धधर्म को अत्यन्त सहज, उदार और जीवनोपयोगी बना दिया था। न केवल भारत, अपितु विश्व के वृहद् भू-भाग का जन-समाज भी उसका अनुयायी हो गया था। श्रावक-श्राविकाओ का प्रभाव बढने लगा और सघो, विहारो, उपाश्रयो तथा मठो की निरन्तर स्थापना होती जा रही थी। वहाँ ऐसे लोग भी प्रश्रय पा रहे थे, जो समाज की दृष्टि से गिर गये थे। दूसरी ओर सामाजिक निरकुशता ने पारिवारिक सगठन की मर्यादाओ को भुला दिया था।

ठीक इसी समय वैदिक धर्म का पौराणिक धर्म के रूप में पुनः सस्करण हुआ। इन पुनः सस्कर्ता विचारको ने राष्ट्र मे भक्ति की माधुरी बिखेरकर जनता को उसमे समाहित कर दिया। भक्ति की ये विभिन्न भाव-धाराएँ अनेक क्षेत्रो से पृथक्-पृथक् धार्मिक पन्थो के रूप मे एक साथ जनता के समक्ष उदित हुईं। इस नये धर्म को भागवत, शैव, पाशुपत और शाक्त आदि विभिन्न नामो से अभिहित किया गया। इस परिवर्त्तन का श्रेय सातवाहन शासको को ही है। मौर्यकालीन भारत मे जो स्थान बौद्धधर्म को था, सातवाहनों के शासन मे वही स्थान पौराणिक धर्म ने प्राप्त किया। किन्तु साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक धर्म के प्रति अशोक जिस प्रकार सहिष्णु तथा सर्व-धर्म-समन्वय का प्रेरक रहा, उसी प्रकार सातवाहनो के शासन मे भी जैन तथा बौद्ध धर्मों को हर प्रकार की स्वतन्त्रता थी।

सातवाहनो के शासन मे जैन तथा बौद्धधर्म अनेक पन्थों मे विकसित हुए। फलस्वरूप जिस साहित्य की रचना की गयी उस पर भी पौराणिक धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सातवाहनों के शासन मे निर्मित जैन-बौद्धों के अनेक कला-केन्द्र आज भी धार्मिक तीर्थों के रूप मे माने जाते हैं।

सातवाहनों की इस पुराण-धर्मानुरागिता के आधार पर ही उन्हें 'ब्राह्मण' कहा गया है। यद्यपि उन्होंने स्वयं को किसी जाति एवं वर्ग के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया; किन्तु अधिकतर इतिहासकारों का अभिमत है कि वे ब्राह्मण थे (पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट इंडिया, पृ० 280-82; कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, भाग 1; एपिग्राफिया इंडिका, 8, पृ० 61-62)। वे ब्राह्मण भले ही रहे हों; किन्तु उनकी शासन-व्यवस्था नितान्त धर्मनिरपेक्ष थी।

आर्थिक स्थिति

सातवाहन शासन सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री में तत्कालीन आर्थिक जीवन से सम्बन्धित कोई भी व्यवस्थित एवं स्पष्ट विवरण देखने को नहीं मिलते हैं। उनके राज्य की सुख-सम्पन्नता से अनुमान होता है कि उन्होंने अपने आर्थिक साधनों को मौर्यों के आदर्शों पर सचालित एवं विकसित किया था।

गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वितीय के नासिक अभिलेख (वर्ष 24) में 'निवतण-शत' परिमाण भूमि दान देने का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि (अष्टाध्यायी ४।१।२१) ने जिस भूमि-माप के लिए 'काण्ड' और मनु (मनुस्मृति ७।११९) ने 'कुल' कहा है, सातवाहन युग में उसे 'निवतण' कहा गया है। इस प्रकार सातवाहन युग में भूमि की माप 'निवतण' से होता था। इसी शासक के दूसरे नासिक अभिलेख (वर्ष 18) में खेतों के वितरण की व्यवस्था का उल्लेख हुआ है। इस उल्लेख से ऐसा विदित होता है कि भूमि का माप करके उसे वितरित किया जाता था।

अन्नोत्पादन और भूमि की सिचाई के लिए इस युग में भी कूप, तडाग आदि साधन प्राप्त थे। राजा और प्रजा दोनों के द्वारा ये बनाये जाते थे। पुलोमावि चतुर्थ के म्यकदोनि अभिलेख (वर्ष 8) में एक ऐसे गृहपति का उल्लेख हुआ है, जिसने तड़ाग का निर्माण कराया था।

व्यापार और उद्योग

वैदिक, उत्तर वैदिक और मौर्य युग से ही भारत की व्यापारिक व्यवस्था के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते है। एक ओर जहाँ भारतीय व्यापारी अपने माल को विदेशों को निर्यात करते थे, वहीं द्वीपान्तरों के व्यापारियों द्वारा भारत में माल आयात हुआ करता था। वह व्यापार प्रायः जलमार्गों से होता था।

सातवाहनो के शासनकाल में व्यापारिक दृष्टि से कृष्णा, गोदावरी, वंशधारा और पिनाकिनी आदि नदियो का महत्त्व था। अन्य नदियों से सम्बद्ध होने के कारण जलमार्ग के लिए ये नदियाँ व्यापार के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुईं। टॉलिमी (गेरिनी—रिसर्चेज ऑन टॉलेमीज ज्योग्राफी, पृ० 743) और पेरिप्लस (स्कॉफ—पेरिप्लस ऑफ दि इरिथ्रियन सी, पृ० 46) के अनुसार कृष्णा और गोदावरी तटो से पूर्व की ओर व्यापार के लिए जलपोतों के गमनागमन की अच्छी व्यवस्था थी। इन नदियो का महत्त्व बाद तक भी इसी रूप में बना रहा।

सातवाहन युग के उद्योग-धन्धों की स्थिति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। पेरिप्लस ने लिखा है कि प्रतिष्ठान और तगर आदि नगरो से विदेशो को मलमल का निर्यात होता था। यह व्यापार रोम तक होता था। भारतीय परम्पराओ को उद्धृत करते हुए इतिहासकार फेरी ने लिखा है कि कृष्णा और गोदावरी के तटो से जलपोतो द्वारा भारतीय पेगू देश मे गये और वही बस गये (हिस्ट्री ऑफ वर्मा, पृ० 24)। सातवाहनयुगीन बौद्ध विद्वान् बुद्धघोष बौद्धधर्म के प्रचार के लिए वर्मा गये थे (एपि० इण्डि०, भाग 5, पृ० 101)।

ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन युग मे मलय द्वीप (मलाया) से भी भारत का व्यापार होता था। परम्परा के अनुसार मलय प्रायद्वीप के पूर्वी तट पर अशोक के किसी वशज ने लिगोर नामक नगर को बसाया था। तभी से उस देश से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध हो गया। गेरिनी ने लिखा है कि सातवाहन युग मे दन्तपुर के एक राजकुमार का जलपोत मलय तट पर ध्वस्त हो गया था (गेरिनी—रिसर्चेज ऑन टॉलेमीज ज्योग्राफी, पृ० 107-109)। मौर्य युग की परम्परा के अनुसार स्याम, यव द्वीप, सुमात्रा और बाली आदि सुदूर पूर्व के द्वीपों मे सातवाहनो के समय व्यापारिक गमनागमन होता था।

साहित्य निर्माण

साहित्य-निर्माण की दृष्टि से सातवाहनो का शासनकाल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस युग में संस्कृत के अतिरिक्त लोक-भाषाओं के साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ। सातवाहन युग की विशेषता यह है कि अध्ययन-अध्यापन की भाषा संस्कृत न होकर प्राकृत थी। प्राकृत भाषा ही उस समय की राजभाषा थी। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' (अध्याय 10) में लिखा है कि अवन्ति देश, पारियात्र, दशपुर और कुन्तल देश (गोदावरी-कृष्णा का मध्यवर्ती भू-भाग) के

राजा सातवाहन ने अपने अन्त:पुर में प्राकृत को व्यवहार की भाषा के रूप में प्रचलित किया था। प्राकृत के मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, दाक्षिणात्या और पैशाची आदि भेदों में आचार्य दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत को सर्वश्रेष्ठ बताया है। सातवाहनों के समय महाराष्ट्री प्राकृत का ही प्रचलन था। इस युग में विरचित हाल की 'गाथा सप्तशती', गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और सर्वशर्मन् का 'कातन्त्र व्याकरण' आदि प्राकृत भाषा की ही कृतियाँ हैं। सातवाहनों के शासनकाल में रचित दो कथाकृतियों, 'सातकर्णि कथा' और 'नमोवन्ती कथा' का उल्लेख डॉ० एन० एन० व्यास (ओरिजन ऐंड डेवलपमेंट ऑफ संस्कृत प्रोज, इन्ट्रोडक्शन टू संस्कृत गद्यमंजरी) ने किया है। इस युग में निर्मित संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के कृतिकारों एवं प्रमुख कृतियों का विवरण इस प्रकार है।

गाथा सप्तशती

बाणभट्ट (हर्षचरित, भूमिका श्लोक 13) ने महाराष्ट्री प्राकृत में उल्लिखित सात सौ आर्या छन्दों की कृति 'गाथा सप्तशती' को सातवाहन काल की रचना बताया है। हाल स्वयं सुकवि और कुमारिल, पोट्टिस तथा पालित आदि विद्वानों एवं कवियों का आश्रयदाता था। वह प्राकृत भाषा का संरक्षक और संस्कृत का प्रोत्साहक था। उसकी 'गाथा सप्तशती' एक प्रकार से ललित पदों का कोश है। संस्कृत-साहित्य की वह सर्व प्रथम सुभाषित काव्य कृति है। उसमे सौन्दर्य और प्रणय की विभिन्न कोटियों का मार्मिक एवं हृदयग्राही वर्णन किया गया है। गोदावरी, विन्ध्य और नर्मदा आदि नदी-पर्वतों के प्राकृतिक सौन्दर्य के सजीव एवं सम्वेदनात्मक चित्रणों मे हाल ने विशेष ख्याति अर्जित की है। उसने तत्कालीन जन-जीवन के मनोरंजन एवं उल्लास के परिचायक त्योहारों और उत्सवों का भी मार्मिक वर्णन किया है। हाल की कृति से सातवाहन युग की कलाप्रियता का पता चलता है। उसमें नाटक, नृत्य, गीत और चित्रकला आदि विषयों और तत्कालीन सांस्कृतिक अभिरुचियों का सजीव एवं व्यापक वर्णन हुआ है। इस एकमात्र महत्त्वपूर्ण कृति के कारण हाल को एक शासक की अपेक्षा एक सुकवि के रूप मे अधिक ख्याति प्राप्त है।

बृहत्कथा

संस्कृत-साहित्य के आधारस्तम्भ उपजीव्य ग्रन्थों में 'बृहत्कथा' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'कथा सरित्सागर' में गुणाढ्य की जो कथा दी

गयी है उसके अनुसार गुणाढ्य का जन्म कौशाम्बी में हुआ था और वह सातवाहन हाल का विद्वान् था। उसने विन्ध्याचल के अरण्य में काणभूति पिशाच से सुनी हुई पुष्पदन्त की कथा को निरन्तर सात वर्षों तक सुनकर तथा अपने रक्त से सात लाख श्लोकों में निबद्धकर 'बृहत्कथा' के नाम से निर्मित किया।

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि वह भूतभाषा (पैशाची) मे लिखी गयी थी और उसके छह लाख श्लोकों को गुणाढ्य ने स्वयं ही जला दिया था। केवल एक लाख श्लोक बच पाये थे। उसके सम्प्रति तीन अनुवाद या रूपान्तर मिलते हैं—बुद्धस्वामी कृत 'बृहत्कथाश्लोक सग्रह', क्षेमेन्द्र कृत 'बृहत्कथा मंजरी' और सोमदेव कृत 'कथा सरित्सागर'। इन तीनो रूपान्तरों के आधार पर मूल 'बृहत्कथा' के सम्बन्ध मे जो अनुमान लगाया जा सकता है, तदनुसार प्रतीत होता है उसकी कथाओं का उद्देश्य प्रधानतया मनोरंजन ही था। उनमे तत्कालीन भारत के राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की सजीव झांकियाँ, अभिव्यंजित हुई हैं। ये कथाएँ वस्तुतः तत्कालीन समाज का दर्पण हैं। इन कथाओं से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत की शासन-व्यवस्था मानव धर्मशास्त्र और कौटलीय 'अर्थशास्त्र' पर आधारित थी। समाज चार वर्णों में विभाजित था। अनुलोम विवाह होते थे। नर्तकी-पुत्र को क्षत्रिय से हीन समझा जाता था। समाज मे वेश्याओं का भी स्थान था। वे संगीत तथा नृत्य मे प्रवीण होती थीं। स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। प्रेम तथा गान्धर्व दोनों ही प्रकार के विवाह सम्पन्न होते थे। उस युग मे परदे की प्रथा नहीं थी। स्त्रियाँ सगीत, नृत्य तथा चित्रकला में प्रवीण होती थी। उस समय भी ऐसी नारियाँ थी जो पातिव्रत्य धर्म का उत्तम पालनकर समाज के लिए आदर्श, शक्ति, गरिमा, गौरव और प्रेरणा की स्रोत थी। इस प्रकार की नारियों में देवस्मिता, शक्तिमती, चन्द्रश्री, कल्याणवती और मानपरा का नाम उल्लेखनीय है।

समाज मे जादू, टोना, तन्त्र-मन्त्र, शकुन आदि का प्रचलन था। तान्त्रिको और वाममार्गियों का प्रभाव व्याप्त था। इन कथाओ पर ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनो धर्मों के समन्वित सांस्कृतिक दाय का प्रभाव है।

नाट्यशास्त्र

[1]नाट्यशास्त्र के निर्माता आचार्य भरत निःसन्देह व्यास तथा वाल्मीकि के समान श्रुतर्षियो की परम्परा के व्यक्ति थे। किन्तु सम्प्रति उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र'

का संस्करण बहुत बाद का है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री (जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1913, पृ० 307), डॉ० मनमोहन घोष (नाट्यशास्त्र, भूमिका तथा जरनल ऑफ डिपार्टमेन्ट ऑफ लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, भाग 25, पार्ट 4, पृ० 1-50) और कीथ (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत ड्रामा, पृ० 13) प्रभृति आधुनिक विद्वानों ने उसका रचनाकाल 100 ई० पूर्व से 200 ई० के बीच निर्धारित किया है। इस दृष्टि से वह सातवाहन तथा शुंगयुग की रचना सिद्ध होती है।

नागार्जुन

बौद्धन्याय में शून्यवादी दर्शन के जनक आचार्य नागार्जुन प्राचीन भारत के सर्वोच्च विचारकों में से थे। उनका प्रभाव एशिया और विशेष रूप से चीनी तथा तिब्बती साहित्य पर भी परिलक्षित है। इस अद्भुत विचारक का सम्बन्ध सातवाहन युग से बताया जाता है। सातवाहन हाल के आश्रित कवि पालित के प्रेमाख्यान 'लीलावती' में नागार्जुन का नाम कुमारिल तथा पोट्टिस के साथ उल्लखित है। पालित, कुमारिल और पोट्टिस तीनों हाल के दरबारी थे। अतः नागार्जुन का हाल की राज-सभा से सम्बद्ध होना सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त तिब्बती भाषा मे उपलब्ध नागार्जुन का 'सुहृल्लेख' विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो कि उसने पत्र के रूप मे सातवाहन राजा को लिखा था। सातवाहन युग मे बौद्ध दार्शनिक आर्यदेव भी थे। नागार्जुन और आर्यदेव, दोनो का सम्बन्ध कुषाण सम्राट् कनिष्क से भी था। अतः दोनों के सम्बन्ध मे आगे यथास्थान विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

कामसूत्र

आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' की ही भाँति आचार्य वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानो के मत-मतान्तर हैं। 'कामसूत्र' में कही भी ऐसा अन्तरंग प्रमाण नही है, जिसके आधार पर उसके स्थितिकाल का निश्चय किया जा सके। उसमें जिस कला-विलास-पूर्ण, सम्पन्न, सुखी और हास-उल्लास-युक्त सामाजिक जीवन का चित्रण हुआ है उसके आधार पर विद्वानो ने उसे गुप्तकाल का माना है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त भारतीय साहित्य मे काम पुरुषार्थ-विषयक इस सर्व प्रथम एव एकमात्र सर्वांगीण ग्रन्थ की रचना गुप्तकाल से पूर्व हुई थी। ऐसा अनुमान है कि मूल ग्रन्थ सूत्रबद्ध रहा होगा और सातवाहन, शुग तथा गुप्त आदि परवर्ती युगों में उसके

रूपान्तर हुए हैं। वात्स्यायन ने स्वयं लिखा है कि उसने पूर्व सूत्र-ग्रन्थों से प्रेरणा ली थी।

अन्य साहित्य

सातवाहन युग में निर्मित साहित्य की अन्य विधाओं में 'महाभारत' का नाम उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में अनेक अंश (परिशिष्ट) जुड़कर उसके आकार में वृद्धि हुई। गर्गाचार्य की 'गर्गसंहिता' भी सातवाहन युग की देन है। इसके अतिरिक्त सांख्य, न्याय, योग और वैशेषिक आदि दर्शन-शाखाओं का निर्माण एवं संवर्द्धन होकर वैचारिक दृष्टि से भी इस युग का विशेष महत्त्व बढ़ा।

कला की अभ्युन्नति

सातवाहन शासकों के उपलब्ध अभिलेखों तथा सिक्कों से तत्कालीन कला की स्थिति के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है। किन्तु उस युग की सामाजिक स्थिति से पता चलता है कि तत्कालीन जन-जीवन की विद्या और कला में गहन अभिरुचि थी। सभी क्षेत्रों में विद्वानों और कलाकारों का आदर, सम्मान था। सातवाहन शासक स्वयमेव विद्वान्, विद्याव्यसनी और कलानुरागी थे। उनके दरबारों में विद्वानों और कलाकारों को ससम्मान प्रश्रय प्राप्त था। वे अपने आश्रयदाता शासकों के काव्य-कला विनोद के साथ-साथ राज-काज में भी परामर्शदाता हुआ करते थे।

स्थापत्य

भारत में वास्तुकला के निर्माण और विकास की परम्परा दो रूपों में प्रवर्तित हुई—लौकिक और धार्मिक। उसके लौकिक पक्ष के परिचायक हैं नगर, ग्राम और भवन। इसी प्रकार धार्मिक वास्तुकला के प्रतीक हैं स्तूप, चैत्य, विहार, गुफाएं और मन्दिर-मठ। सातवाहन युग में नासिक, अमरावती तथा धान्यकटक प्रसिद्ध नगर थे। किन्तु उनके वास्तविक निर्माताओं के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। विद्वानों का अभिमत है कि उनकी स्थापना भी उत्तरी भारत के नगरों, जैसे राजगृह, कुशीनगर, कौशाम्बी, मथुरा, श्रावस्ती और कपिलवस्तु के अनुरूप हुई होगी; क्योंकि उन सब पर बौद्ध संस्कृति का प्रभाव है। भज, नानाघाट, कान्हेरी, नासिक और सांची के कला-मण्डपों की कला पर भी सातवाहनयुगीन कला की छाप दीख पड़ती है।

मूर्तिकला

सातवाहन शासक यद्यपि वैदिक धर्म के अनुयायी थे; किन्तु अपनी उदार सहिष्णु और समन्वित नीति एवं विचारधारा के कारण उनका किसी धर्म-विशेष तथा वर्गविशेष से कोई विशेष झुकाव नहीं था। उनसे पूर्व और बाद में भी ब्राह्मण, जैन और बौद्ध, तीनों मुख्य धर्म उन्नतावस्था में रहे। अशोक के राज्यकाल में बौद्धधर्म लोकविश्रुत हो चुका था। सातवाहनों ने इस धर्म की परम्परागत मान्यताओं और लोकप्रचलित विश्वासो को स्वीकार किया।

इस दृष्टि से सातवाहन युग की मूर्ति तथा स्थापत्य कला प्रायः बौद्ध चैत्यों, स्तूपों तथा विहारो के रूप मे ही अभिव्यक्त हुई है। इस रूप में भज, नानाघाट, कोण्डानी, बेडसा, कार्ले, पीपलखोरा अजन्ता, नासिक, जुन्नर और कान्हेरी की गुफाओं के स्तम्भों, द्वारो, वेदिकाओं, छतो, भित्तियों और प्रकोष्ठों आदि में सातवाहन युग के मूर्ति-शिल्प के दर्शन होते हैं।

मूर्तिकला के इतिहास में भज या भाजा की गुफाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। विद्वानो ने उनका निर्माण काल 200 ई० पूर्व में निर्धारित किया है। भज की गुफाओ मे अनेक प्रकार की भव्य मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। ये मूर्तियाँ स्त्री-पुरुष, दोनो से सम्बद्ध हैं। स्त्री-मूर्तियो मे विभिन्न प्रकार के आभूषणो की शोभा भव्य एवं दर्शनीय है। पुरुष बहुधा धोती, पगड़ी धारण किये हुए हैं। राजपुरुषो की मूर्तियाँ शौर्य, पराक्रम एवं ओज से अभिव्यंजित हैं। वे अश्वयुक्त रथों पर आरूढ़ हैं। उनके अगल-बगल परिचारिकाएँ सुन्दर वस्त्राभूषणो से अलंकृत चामर, छत्र धारण किये हुए उत्कीर्णित हैं। हाथी पर सवार एक राजपुत्री की भव्यता दर्शनीय है, जिसके दोनो पार्श्वों में ध्वजधारी परिचारक हैं।

नानाघाट की अधिकतर मूर्तियाँ भग्नावस्था में हैं। नानाघाट के निर्माण का श्रेय कृष्ण को है, जो कि सातवाहन सम्राटों की शृङ्खला का दूसरा राजा था। नानाघाट की गुफाओ में सबसे नीचे वाली गुफा सर्वाधिक प्राचीन है। उसमें तीन कक्ष बचे हैं। वह अनेक स्तम्भों तथा अर्धस्तम्भो से अलंकृत है। नानाघाट से उपलब्ध सामग्री सातवाहनों के इतिहास-ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वहाँ की अवशिष्ट मूर्तियो पर उनके नाम भी अंकित हैं। वे यद्यपि भव्यता और कलाशिल्प की दृष्टि से विशेष महत्त्व की नहीं हैं, तथापि सातवाहन साम्राज्य की ऐतिहासिक उपलब्धियाँ होने के कारण नानाघाट की कला-कृतियों का उल्लेखनीय स्थान है।

कोण्डानी कार्ले, भट्टिप्रोलु, अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा स्थित गुफाओं तथा स्तूपों के निर्माण में सातवाहनों का सम्भवतः कोई स्पष्ट योगदान नहीं था। मूर्तिकला के निर्माण में सातवाहनों के योगदान की दृष्टि से नासिक और सांची का विशेष महत्त्व है।

गोदावरी के उपरले कांठे पर अवस्थित नासिक का न केवल ऐतिहासिक एवं कलात्मक महत्त्व माना जाता है, अपितु अपनी पवित्रता की दृष्टि से वह सम्प्रति धर्मस्थान के रूप मे भी मान्य है। नासिक में कुल मिलाकर 17 बौद्ध गुफाएँ हैं। इन गुफाओं पर सातवाहन शासकों से सम्बद्ध अनेक अभिलेख अंकित हैं। उनमें कृष्ण महाहकुश्री, गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वितीय, वासिष्ठीपुत्र पुलोमावि प्रथम और गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातकर्णि के अभिलेखों का विशेष महत्त्व है। इस दृष्टि से नासिक की गुफाओ का समय 200 ई० पूर्व के लगभग निर्धारित किया गया है (जरनल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी, भाग 3, पृ० 275-288; फर्गुसन-हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ० 94, 115 आदि)।

नासिक की 3 और 8 संख्यक गुफाएँ कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। तीसरी गुफा 46 फुट लम्बी तथा 41 फुट चौड़ी एक विहार के रूप मे है। संख्या आठ की गुफा कला की भव्यता का निदर्शन करती हुई ऐतिहासिक थाती को सुरक्षित रखे है। उसमे क्षहरातो के छह अभिलेख उत्कीर्णित हैं, जिनसे नासिक की गुफाओं के निर्माण मे अनेक शासको का योगदान सिद्ध होता है।

कान्हेरी की गुफाएँ प्राचीनता की दृष्टि से ही नही, विभिन्न शासकों के योगदान को सजोये हुए कला-सगम के रूप मे विश्रुत हैं। उनमें सर्वाधिक महत्त्व की गुफा महाचैत्य के नाम से कही जाती है। इस महाचैत्य की लम्बाई 86½ और चौडाई 39 फुट 10 इच है। उसमे 34 स्तम्भ बने हुए हैं। इस महाचैत्य में गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातकर्णि का अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिससे प्रमाणित होता है कि कान्हेरी की गुफाओ के निर्माण मे सातवाहनों का भी हाथ था।

सातवाहन शासको मे यज्ञश्री सातकर्णि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कान्हेरी की गुफाओ के अतिरिक्त सांची-स्तूप के निर्माण में भी उसका योगदान रहा है। भारतीय मूर्तिकला की परम्परा सांची के तोरणो में अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुई। वहाँ के भव्य तोरणों तथा उनकी शिरोपट्टिकाओ पर उत्कीर्णित

सम्बोधि प्राप्ति, तथागत बुद्ध, बोधिसत्त्व, बुद्ध की पूर्व जीवन-घटनाएँ; अजातशत्रु, जीवक, अशोक, बिम्बिसार और प्रसेनजित् आदि बौद्ध धर्मानुयायी प्रतापी शासकों की आकृतियों का चित्रण हुआ है। उन पर बुद्ध के छह मानुषी रूपों वेस्सभू, ककुसन्ध (ककुच्छन्द), कनकमुनि, काश्यप, विपश्यी और शिखी की मूर्तियाँ भी उरेही गयी हैं, जो अपनी सात्त्विकता, भव्यता और प्रभावोत्पादकता में अनुपम हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों तथा जीव-जन्तुओं का चित्रण साँची की मूर्तिकला की भव्यता के उत्कर्षक हैं।

साँची के दक्षिण दिशा स्थित तोरण की शिरोपट्टिका पर यज्ञश्री सातकर्णि का एक अभिलेख उत्कीर्णित है।

मृण्मूर्तियाँ

मूर्तिकला के साथ-साथ मृण्मूर्तियों के निर्माण की दृष्टि से भी सातवाहन युग का योगदान उल्लेखनीय है। नासिक, कोल्हापुर और तेर (तगर) आदि स्थानों से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री मे सातवाहन युग की मृण्मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। तेर से प्राप्त सामग्री पर विद्वानों ने रोम की कला का प्रभाव सिद्ध किया है। सातवाहनयुगीन भारत का रोम से व्यापारिक सम्बन्ध था और इसीलिए यह सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है कि दोनों देशों की कला-शैलियों में भी आदान-प्रदान हुआ हो। उक्त स्थानो से प्राप्त मृण्मय मूर्तियों और खिलौनों में उन्नत कलात्मक उपलब्धियों का अभाव होते हुए भी इस दृष्टि से उनका महत्त्व है कि उनके द्वारा इतिहास की परम्परागत शृंखला अटूट रूप में सुरक्षित रहकर आगे बढ़ी।

चित्रकला

अजन्ता की गुफाओं पर अंकित चित्रों का महत्त्व उनकी कला-थाती के रूप में ही नही, उनके इतिहास के कारण भी है। इन चित्रों में अनेक शैलियों का समन्वय हुआ है और इस प्रकार विभिन्न युगों के योगदान के कारण वे इतिहास का भी संगम बन गयी हैं। सातवाहनों के राज्यकाल में 9वीं और 10वीं गुफा का निर्माण हुआ। दसवी गुफा के एक अभिलेख में वासिष्ठीपुत्र द्वारा दान दिये जाने का उल्लेख है। यदि यह वासिष्ठीपुत्र पुलोमावि प्रथम है, तो उक्त गुफा का समय प्रथम शती ई० होना चाहिए। किन्तु यह भी सम्भव है कि इस गुफा का निर्माण वासिष्ठीपुत्र पुलोमावि से भी पहले हो चुका हो। यद्यपि यह अभिलेख अपूर्ण

है, किन्तु उसकी लिपि का अध्ययनकर विद्वानों ने इस गुफा को भज की गुफा से भी प्राचीन बताया है और उसका समय 200 ई० पूर्व निर्धारित किया है। विद्वानों का यह भी अभिमत है कि 9वीं तथा 10वी गुफा का समय लगभग एक ही है (याजदानी—अजन्ता, भाग 3, पृ० 86-87)।

नवी गुफा मे विविध प्रकार के चित्र अकित हैं। ये चित्र अजन्ता के प्राचीनतम उदारणों में हैं। दुर्भाग्यवश इस गुफा के अनेक चित्र नष्ट तथा धूमिल पड़ गये हैं। किन्तु कुछ अभी भी अच्छी दशा मे हैं। भित्तिचित्रों में तथागत और उनके अनुयायियों का अकन कला-सौष्ठव की अपेक्षा प्राचीनता की दृष्टि से अधिक महत्त्व का माना जाता है। एक अन्य भित्तिचित्र में कुछ स्त्रियो के साथ एक राजपुरुष भी चित्रित है। उसके शिर पर सर्प का फण है। यह निस्सन्देह नागराज है। कई स्त्रियाँ सगीत में तल्लीन या नृत्य की मुद्राओ मे अंकित हैं। उनकी वेशभूषा बडी लुभावनी है। स्त्रियों का केश-विन्यास भी अत्यन्त सौम्य तथा आकर्षक है।

गुफा नं० 10 में थोडे से चित्र बच सके हैं। ये चित्र शैली-स्वरूप की दृष्टि से 9वी गुफा के अनुरूप हैं। एक चित्र मे राजा स्तूप की पूजा करते चित्रित है। स्तूप की छत्रावली के पास अप्सराएँ उड रही हैं। उनकी वेश-भूषा 6ठी गुफा मे अंकित स्त्री-पुरुषो की तरह है। एक अन्य चित्र मे किसी जलूस का दृश्य अकित किया गया है।

अजन्ता के चित्रो मे पशु-पक्षियो, वृक्ष-लताओं तथा फल-फूलों का मनोहारी चित्रण हुआ है।

अजन्ता के अतिरिक्त सातवाहन युग की चित्रकला के अवशेष बेडसा और पीतलखोरा की गुफाओ मे भी पाये जाते हैं। बेडसा की कुछ गुफाओं का निर्माण और पुनरुद्धार सातवाहन युग मे हुआ। प्रमुख गुफा के सामने वाले अठपहलू स्तम्भों और प्रकोष्ठ के चौबीस अठपहलू स्तम्भो पर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो के चित्र बने हुए थे। किसी स्थानीय शासक द्वारा इस गुफा की सफाई तथा जीर्णोद्धार कराते समय उसमे अंकित चित्रों को बड़ी क्षति पहुँची (बर्गेस—केव टेम्पुल्स ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, पृ० 130-131)। खानदेश जिले के चालीसगाँव स्टेशन से 12 मील दक्षिण की ओर पीतलखोरा की भग्न चैत्य गुफाएँ है। प्रमुख गुफा के स्तम्भो पर अंकित दृश्य चित्रकला की प्राचीनता का द्योतन करते हैं। अजन्ता के चित्रो से उसकी समानता होने के कारण उनमें परस्पर शैलीगत तथा ऐतिहासिक समानता दृष्टिगत होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहनों के शासनकाल में चित्रकला का अच्छा प्रचार-प्रसार था। उस समय चित्रकला की लोकप्रियता का प्रभाव प्रस्तुत करनेवाली प्राकृत भाषा की कथा-कृति 'तरंगवती' है, जिसमें एक बृहत् चित्र प्रदर्शनी आयोजित होने का उल्लेख हुआ है। इस कृति के रचयिता का नाम श्रीपालित था, जो कि जैन धर्मानुयायी था। धनपाल की 'तिलकमंजरी' में 'तरंगवती' की तुलना 'पृथ्वी को पवित्र करनेवाली पुण्यतोया गंगा की धारा' से की गयी है।

संगीत-नृत्य

सातवाहन युग में चित्रकला के अतिरिक्त संगीत और नृत्य कलाओं का भी व्यापक प्रचार था। 'बृहत्कथा' के वर्तमान रूपान्तरों से विदित होता है कि उस समय महिलाएँ संगीत तथा नृत्य में विशेष रुचि रखती थी। नरवाहनदत्त की पत्नी नृत्य और संगीत कलाओं मे निपुण थी। नरवाहनदत्त स्वयं एक अच्छा संगीतज्ञ था। एक सन्दर्भ मे उसे मृदंग बजाते तथा उसकी पत्नी को नृत्य करते हुए वर्णित किया गया है (कथा सरित्सागर 6।171)।

इसके अतिरिक्त सातवाहन युग में निर्मित भरहुत, साँची, नानाघाट, नासिक, कान्हेरी तथा मथुरा की मूर्तिकला में भी संगीत तथा नृत्य के कुछ दृश्य उत्कीर्णित हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है तत्कालीन समाज में उन कलाओं का इतना अधिक प्रचलन एवं प्रभाव था कि धर्म के साथ एकाकार होकर वे धर्मस्थानो मे भी मान्यता प्राप्त कर चुकी थीं (शिवराममूर्ति—अमरावती स्कल्पचर्स, पृ० 150; कनिंघम—स्तूप ऑफ भरहुत, फलक 15, 16)।

इस प्रकार सातवाहन युग न केवल सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टि से अपने उच्च वैभव को प्राप्त था, अपितु परम्परागत कलाओं को राष्ट्रीय सम्मान प्रदानकर उनकी रक्षा और उन्नति के लिए भी शासन की ओर से समस्त सुविधाएँ प्राप्त थी। सातवाहनों की व्यक्तिगत कलाभिरुचि उनकी मुद्राओं से भी अभिव्यक्त होती है। सातवाहन मुद्राओं की त्रिकूट, षट्कूट और दशकूट आकृतियाँ दर्शनीय हैं। 'उज्जैनी' तथा 'सूर्य' चिह्नांकित उनकी चतुर्वृत्त मुद्राओ में 'विन्दु' और 'स्वस्तिक' की संयोजना और उनकी वर्तुलाकार एवं वर्गाकार बनावट निश्चित ही सातवाहनो की कलाप्रियता के परिचायक हैं।

• • •

चौदह/ग्रीक युग

ग्रीक शासक

भारत में मौर्य शासन के अन्तिम चरण में राजनीतिक और सामाजिक स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित तथा अस्थिर हो चुकी थी। मौर्यों के उत्तराधिकारी शुंगवंशीय शासक पुष्यमित्र के शक्तिशाली शासन मे यद्यपि उत्तर भारत की ओर बढ़ता हुआ यवनों का प्रभाव कुछ समय के लिए शिथिल हो गया था; किन्तु पुष्यमित्र के बाद कोई सुयोग्य शासन-संचालक न रहा। बढ़ते हुए यवन प्रभाव का अवरोध करने में शासक असमर्थ रहे।

इतिहास के सन्दर्भों से विदित होता है कि भारत पर ग्रीक सामरिकों के निरन्तर कई आक्रमण हुए। सबसे पहला आक्रमण मकदूनिया के महान् विजेता सिकन्दर ने 326 ई० पूर्व के लगभग किया था। दूसरा ग्रीक आक्रमण सेल्यूकस द्वारा 306 ई० पूर्व मे हुआ। इसी प्रकार तीसरा आक्रमण अन्तियोकस तृतीय ने 306 ई० पूर्व में किया। बाद के शक्तिशाली आक्रान्ताओं मे बाख्त्री के दिमित (डेमिट्रियस), युक्रेतिद और मेनांडर नामक तीन विजेताओं के नाम उल्लेखनीय हैं। ये तीनों आक्रमण लगभग 206-175 ई० पूर्व के बीच हुए। इन तीनो यवन शासकों तथा उनके उत्तराधिकारियों ने लगभग 160 वर्षों तक तत्कालीन सीमाप्रान्त, सिन्ध और पजाब पर शासन किया (राखालदास बनर्जी और काशीप्रसाद जायसवाल—एपि० इंडि०, 20 जन०, पृ० 79; टर्न—दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, परिशिष्ट, पृ० 457-59)।

भारत में अपने शासन और प्रभाव की जड़े जमाने वाले यवन शासकों में सम्राट् मेनाडर (180-145 ई० पूर्व) का नाम उल्लेखनीय है। वह एक शक्तिशाली, न्यायपरायण, उदार और सहिष्णु शासक था। उसके साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त, पंजाब, सौराष्ट्र और सुदूर पश्चिम तक विस्तृत थी। तत्कालीन राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के उद्देश्य से उसने पहले राजपूताना और उसके बाद मथुरा पर तीव्र आक्रमण किये। इन आक्रमणों में उसने व्यापक पैमाने पर भारतीय सैनिको को हत किया। बाद में

बौद्ध भिक्षु नागसेन के प्रभाव में आकर उसने बौद्धधर्म वरण कर लिया था। तत्पश्चात् उसकी आक्रमण प्रवृत्ति मन्द पड़ गयी।

भिक्षु नागसेन और मेनांडर के धार्मिक सद्भाव का परिचय 'मिलिन्द प्रश्न' (मिलिन्दपञ्ह) नामक ग्रन्थ से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ को बौद्ध अनुपिटक साहित्य में प्रमुख स्थान दिया गया है। इसका चीनी भाषा में (317-420 ई०) 'नागसेनसूत्र' के नाम से एक अनुवाद भी हुआ था। इस ग्रन्थ का बौद्ध तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त साहित्य तथा इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्व है। इसमें बौद्ध धर्म-दर्शन की कतिपय मूल मान्यताओं पर प्रश्नोत्तर रूप में वार्तालाप वर्णित है। इस ग्रन्थ का बौद्ध तत्त्वज्ञान तथा साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, अपितु भारतीय तथा यवन संस्कृति का संगम होने के कारण भी बहुत बड़ा महत्त्व है। उसके प्रभाव से यवन शासकों ने बौद्धधर्म की दीक्षा लेकर भारतीयता को वरण किया।

इस ग्रन्थ के प्रभाव से तथा बौद्ध बन जाने के कारण मेनांडर का व्यक्तित्व बौद्ध-साहित्य में व्याप्त हो गया और वहाँ वह 'मिलिन्द' इस नये नाम से अभिहित हुआ। सीमाप्रान्त में प्राप्त खरोष्ठी भाषा के उसके अभिलेखों में उसका 'मिनद्र' नाम से उल्लेख हुआ है। इस यवन शासक के सिक्के काबुल से दक्षिण भारत तथा पश्चिम से मथुरा, कौशाम्बी और वाराणसी आदि अनेक अंचलों से प्राप्त हुए हैं। उसका निधन 150-145 ई० पूर्व के मध्य में हुआ।

मेनांडर के अतिरिक्त अन्य यवन शासकों में डेमिट्रियस, युक्रेटिडीज या युक्रेतिद और अन्तियालसिदाज का नाम उल्लेखनीय है। 'महाभारत' में जिसे दत्तमित्र, बेसनगर मुहर में तिमित्र और 'दिव्यावदान' में कृमिस कहा गया है, सम्भवतः वह डेमिट्रियस से सम्बन्धित है। इन विदेशियों ने मुख्य रूप से अफगानिस्तान, पंजाब तथा सिन्ध क्षेत्र तक ही शासन किया। उनके शासनकाल की अन्तिम सीमा 110 ई० पूर्व तक मानी गयी है। किन्तु उनके बाद भी लगभग दो सौ वर्षों तक भारत में उनकी परम्परा का अस्तित्व बना रहा।

भारतीय धर्म, रीति-रिवाजों और आचार-व्यवहारों को ग्रहणकर उक्त ग्रीक शासकों ने अपनी सहज सहिष्णुता और देशभक्ति का परिचय दिया। यह एक विचित्र संयोग था कि इन यवनों के साथ भारतीयों का राजनीति एवं शासन की अपेक्षा विचारों और कला, संस्कृति की दृष्टि से घनिष्ठ और

चिरस्थायी सम्बन्ध रहा। मेनांडर जैसे धर्मप्राण शासक ने अनेक बौद्धविहारों का निर्माण कराया, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी और कलाकारों को सम्मानित-प्रोत्साहित किया। वह स्वयं भी भारतीय संस्कारों एवं विचारों में घुल-मिल गया था।

यवनों का सांस्कृतिक समन्वय

भारत में यवन संस्कृति का प्रभाव अनेक रूपों मे प्रसारित हुआ। उसका सर्व प्रथम प्रभाव भारतीय सिक्कों पर परिलक्षित हुआ। यवनों की सुरुचि के परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिम भारत में अपूर्व कलात्मक सिक्कों का प्रचलन हुआ। भारत-यवन सांस्कृतिक समन्वय से अनेक क्षेत्रो मे सर्वथा नये रचना-प्रकार प्रकाश में आये, जिन्होने आगे की अनेक पीढियों पर अपने प्रभाव की गहरी छाप अंकित की। भारत मे ग्रीक कला के अनुकरण पर वास्तुकला (Architecture) और तक्षणकला (Sculpture) के क्षेत्र मे जो नमूने प्राप्त हुए हैं, उनमे ई० पूर्व प्रथम शती के प्रसिद्ध ज्ञान-कला-केन्द्र तक्षशिला मे निर्मित एक देवमन्दिर के ऊँचे यवन स्तम्भ और कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। ई० पूर्व प्रथम शती मे उदित 'गान्धार शैली' भारतीय-यवन कला-समन्वय की ज्वलन्त प्रकाश-किरण है, जिसके कारण भारतीय कला के इतिहास को नया आलोक मिला। भारतीय कलाकारो ने गान्धार शैली के नये-नये प्रयोग करके ऐसी अमर कला-कृतियों का निर्माण किया, जिनका महत्त्व सदियो बाद आज भी बना हुआ है। इस प्रकार के विभिन्न कलाकेन्द्रों मे सुरक्षित तथागत बुद्ध की भव्य विशाल प्रतिमाओ मे लाहौर, पेशावर और शिमला सग्रहालयो की प्रतिमाओं का नाम उल्लेख्य है।

इस प्रकार भारत मे यूनानियो और ईरानियो के प्रवेश से कला और संस्कृति के क्षेत्र में निश्चित ही नये मान-मूल्यो की स्थापना हुई और नयी प्रेरणाप्रद एवं उन्नत, परिष्कृत शिल्प-विधियो का विकास हुआ। किन्तु जहाँ तक धर्म, दर्शन और साहित्य का सम्बन्ध है, भारत में उनकी परम्परा इतनी उन्नत, सम्पन्न और स्थायी थी कि यवन संस्कृति उससे प्रभावित हुए बिना न रही। यहाँ के आध्यात्मिक मान-मूल्यों, चिन्तन-पद्धति और महान् विचारों ने यवनो के भौतिकवाद को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र मे यवनों का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। इसी कारण 'गार्गी संहिता' मे ज्योतिर्विद्या के प्रवर्तक होने के कारण

यवनों को देवताओं के समान वन्दनीय कहा गया है। यवनों का यह प्रभाव विशेष रूप से गणित और गौण रूप से फलित ज्योतिष के क्षेत्र में चरितार्थ हुआ। किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसको अतिरंजित रूप मे प्रस्तुत किया है। 'सूर्यसिद्धान्त' के स्वोपज्ञ अनुवाद की भूमिका में ह्विटनी साहब का अभिमत है कि 'ईसवी सन् के प्रारम्भ में रोम के व्यापारिक बन्दरगाहों का भारत के पश्चिमी तट से व्यापार होता था। इस सम्पर्क के कारण ही टालेमी और हिपार्कस की 'ज्या' की कल्पना पर ही हिन्दुओं को 'ज्यार्धों' की कल्पना सूझी। ह्विटनी साहब की इस स्थापना का उत्तर रेवरेंड जे० बर्जेस ने 'सूर्य सिद्धान्त' के अपने पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद की भूमिका में इस प्रकार दिया है "ह्विटनी ने अपनी टिप्पणियो में जो मत प्रकट किया है, उससे मेरी दृष्टि सर्वथा भिन्न है। इसलिए संक्षेप में अपना मत देता हूँ। ह्विटनी का कहना है कि हिन्दुओं ने अपने गणित और जातक मूल रूप मे यवनों से लिये हैं और उनका कुछ अश अरेबियन, खल्डियन एवं चीनियो से लिया। मेरी समझ मे वह हिन्दुओ के साथ न्याय नही कर रहा है और वह उचित मात्रा से अधिक ग्रीक लोगो को मान दे रहा है। यह सत्य है कि यवन लोगो ने इस शास्त्र में आगे चलकर बहुत-कुछ सुधार किये, तथापि उसके मूल तत्त्व और उसमें से बहुत से सुधार हिन्दुओ के अपने थे; और उन्ही से यवनो ने यह शास्त्र ग्रहण किया - यह बात मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।"

भारतीयो, यवनो में पारस्परिक आदान-प्रदान की इस स्थिति को दृष्टि में रखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय तथा यवन गणितज्ञो ने लम्बे समय तक एक साथ बैठकर दोनो देशो के परम्परागत ज्योतिर्विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके समन्वय से कुछ नये सिद्धान्तों का आविष्कार किया। इसी सामंजस्य के फलस्वरूप भारतीय ज्योतिष मे ग्रीक ज्योतिष के आधार पर नये लाक्षणिक शब्दो का समावेश हुआ और कुछ विशिष्ट सिद्धान्तो की स्थापना हुई। फिर भी यह स्वीकार करने मे किसी प्रकार का सन्देह नही है कि भारतीय ज्योतिष के 'होडाचक्र' पर ग्रीक ज्योतिष के 'होरस्कोपस' (Horoskopus) का प्रभाव है। इसी प्रकार भारतीय ज्योतिष का 'जामित्रलग्न' ग्रीकों के दायामेत्रान्' (Diametron) पर आधारित है।

नक्षत्र-विज्ञान की जानकारी भारत को ग्रीकों से प्राप्त हुई। भारतीय 'रोमक' और 'पोलिश' सिद्धान्त ग्रीक ज्योतिष की देन हैं। फलादेश में भविष्य फल बताने के वैज्ञानिक प्रयोग पर यवनो का प्रभाव है। आचार्य कल्याण वर्मा

(577 ई०) कृत यवन-होराशास्त्र का संकलन ग्रन्थ 'सारावली' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। नीलकण्ठ देवज्ञ की 'नीलकण्ठी' (16वी शती) पर भी अरबी-फारसी ज्योतिष का स्पष्ट प्रभाव है।

भारतीय-ग्रीक ज्योतिष के आदान-प्रदान के फलस्वरूप जहाँ एक ओर भारतीय ज्योतिष में नये सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा हुई, वही दूसरी ओर ग्रीक ज्योतिष को भी भारतीय ज्योतिष ने प्रभावित किया। आचार्य ब्रह्मगुप्त (598 ई०) के 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और 'खण्डखाद्यक' ग्रन्थों का अरब ज्योतिष पर व्यापक एवं स्थायी प्रभाव पडा। अरब में उनका अनुवाद हुआ और क्रमशः वे 'असितहिन्द' तथा अलअर्कन्द' के नाम से प्रचलित हुए।

यह आदान-प्रदान भारत में यवनो के सुशासन का ही सूचक नही, वरन् सांस्कृतिक एकता का भी द्योतक है। ग्रीक शासकों की सफलता एवं अविस्मरणीय विशेषता का परिचायक उनका भारतीयता के प्रति गहन अनुराग था। उन्होंने भारतीय धर्म को वरणकर वहाँ की भाषाओं के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की। उनके उत्तर-पश्चिम मे जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उन पर यवन भाषा के साथ-साथ भारतीय भाषाओ का भी प्रयोग किया गया है; किन्तु पूर्व-मध्य में जो अभिलेख प्राप्त हुए है, उनमें केवल भारतीय भाषाओं का ही प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के अभिलेख मथुरा तथा बुन्देलखण्ड से प्राप्त हुए हैं।

क्षत्रपवंश

भारत मे आकर बसने वाले जिन अभारतीय शासकों ने स्वयं को भारतीय संस्कृति में समग्र रूप से विलयित कर दिया था, उनमे शको के क्षत्रपवंश का नाम उल्लेखनीय है। यूनानियो के बाद और कुषाणो से पूर्व भारत के अनेक अंचलों मे कई नये राजवंश का उदय हुआ। उनमे दक्षिण के पार्थव (पह्लव), पश्चिमोत्तर के क्षत्रप, मथुरा के क्षत्रप, महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जैन के क्षत्रपो का नाम उल्लेखनीय है। इन नवोदित राजवशो मे उज्जैन के क्षत्रपवंश का ऐतिहासिक, साहित्यक और सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। विदेश से आये शको के इस यशस्वी राजकुल ने मध्य-पश्चिम भारत पर लगभग दो-ढाई सौ वर्षों तक शासन किया।

उज्जैन के क्षत्रपवंश का प्रथम शासक होने का श्रेय यसामोतिक के पुत्र चष्टन को है, जो कि 130 ई० मे सिंहासन पर बैठा। उसी ने उज्जैन को अपनी

राजधानी बनाया था। चष्टन बड़ा शक्तिशाली शासक था। निरन्तर विपदाओं और चिन्ताओं से घिरे रहने पर भी वह उज्जैन पर अपना अस्तित्व बनाये रहा। जयदामन् उसका उत्तराधिकारी था। अपने पिता की भाँति वह भी युद्धों से घिरा रहा और किसी भी मौलिक तथा रचनात्मक कार्यों के निर्माण मे सफल नही हो सका। जयदामन् के बाद उसका पुत्र रुद्रदामन् गद्दी पर बैठा।

भारत के इतिहास में रुद्रदामन् का कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके यशस्वी व्यक्तित्व और बल-विक्रम का वर्णन जूनागढ के गिरनार पर्वत पर उत्कीर्ण अभिलेख मे सुरक्षित है (एपि० इंडि०, 8, पृ० 36-49)। समस्त भारतीय अभिलेख-साहित्य मे संस्कृत की यह प्रथम गद्यमयी प्रशस्ति है, जिसको शक सम्बत् 72 (150 ई०) में अंकित किया गया था। यह प्रशस्ति ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि जनता ने अपनी रक्षा के लिए सर्वथा सुयोग्य शासक के रूप मे रुद्रदामन् को अपना महाक्षत्रप नियुक्त किया था। रुद्रदामन् ने भी जनता के विश्वासो के अनुरूप अपनी योग्यता और शक्ति का परिचय दिया। उसके पितामह चष्टन के समय सातवाहन शासक गौतमीपुत्र सातकर्णि ने क्षत्रपो के राज्य के जिन भागों को स्वायत्त किया था, रुद्रदामन् ने उन पर पुनः अपना अधिकार किया। उक्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि रुद्रदामन् ने दक्षिणाधिपति सातवाहन सातकर्णि को युद्ध में पराजित किया था। बाद में सातवाहन पुलोमावि से अपनी पुत्री का पाणिग्रहणकर उसने तत्कालीन भारत मे सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्य से अपने मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया था।

रुद्रदामन् एक धार्मिक और प्रजावत्सल शासक था। प्रजा की सुख-शान्ति का उसे सदा ध्यान रहता था। उसने भारत के महान् सम्राटो की शासन प्रणाली को वरण किया था। उसके सुशासन मे बेगारी (विष्टि) पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, ताकि प्रजा का अनावश्यक शोषण समाप्त हो। उसने सुदर्शन झील के बाँध का पुनर्निर्माण कराया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने काठियावाड़ में गिरमार पर्वत के नीचे एक विशाल झील का निर्माण तथा उस पर एक बाँध बधवाया था। रुद्रदामन् के गिरनार अभिलेख में इस झील का, जिसका नाम सुदर्शन सेतुबन्ध रखा गया था, उल्लेख है। रुद्रदामन् ने उसको चिरस्थायी बनाने हेतु उस पर तीन हिस्सों का बाँध बनाया था।

एक शक्तिशाली सुशासक होने के अतिरिक्त महाक्षत्रप रुद्रदामन् विद्वान् तथा विद्यानुरागी भी था। ज्योतिष, व्याकरणशास्त्र, न्याय दर्शन तथा संगीत का वह अच्छा ज्ञाता था।

रुद्रदामन् के बाद भी उज्जैन के क्षत्रपों का राजवंश लगभग दो सौ वर्षों तक शासनारूढ रहा, किन्तु इन वर्षों का इतिहास अन्धकारमय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शकों का यह वंश किसी-न-किसी रूप मे गुप्तकाल के आस-पास तक चलता रहा। बाण के 'हर्षचरित' और विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्त' का शकराज, जिसे कुमारावस्था मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (375-414 ई०) ने मार डाला था, सम्भवतः इस कुल का रुद्रसिंह तृतीय था, जिसके अनेक सिक्के भी उपलब्ध हैं। उज्जैन, महाराष्ट्र और मथुरा के शकों का सर्वथा उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने 'शकारि' का वीरुद धारण किया था।

शक क्षत्रपों द्वारा भारतीय सस्कृति का वरण

भारत के सांस्कृतिक इतिहास मे शक क्षत्रपो का इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है कि विदेशी होते हुए भी उन्होंने स्वयं को भारतीय सस्कृति मे सर्वथा विलयित कर दिया था। अपने विवाह सम्बन्धों को क्षत्रियों तथा ब्राह्मणो से स्थापितकर उन्होंने अपनी समन्वयवादी, सहिष्णु एवं उदार नीति का परिचय दिया। उन्होने अपने नामो का भारतीयकरण किया और ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धर्मों के आदर्शों को ग्रहणकर उनके देवी-देवताओं को स्वीकार कर अपनाया। भारतीय शासको की ही भाँति उन्होने अनेक चैत्यो, गुफाओ तथा मन्दिरो का निर्माणकर धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। उदार और सहिष्णु होने के साथ-साथ वे दानी भी थे। ब्राह्मणो को प्रचुर दान देकर वे भारतीय इतिहास के अभिन्न अग बन गये। इस दृष्टि से शक शासक उषवदात और ऋषभदत्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नासिक से प्राप्त एक गुफालेख (119-125 ई०) से ज्ञात होता है कि उन्होंने ब्राह्मण धर्म को वरण कर लिया था और वे हिन्दू देवताओ की पूजा-प्रतिष्ठा करने लग गये थे। ऋषभदत्त ने बौद्ध सघ को एक गुफा का दान किया। अभिलेख मे उसे तीन लाख गायो के दानदाता (त्रि गोशतसहस्रदा) की उपाधि से विभूषित किया गया है।

विदेशियो के भारतीयता वरण करने की यह परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही थी। समय-समय पर शासनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक

प्रयोजनों से भारत आये विदेशियों ने भारतीय धर्म को वरण करने मे गौरव का अनुभव किया। बेसनगर के गरुड़-स्तम्भ पर उत्कीर्णित अभिलेख से ज्ञात होता है कि अन्तिकिलित के राजदूत हेलियोदोरस ने परम भागवत की उपाधि धारण की थी। महाराज मेनांडर तो बौद्धधर्म का अनुयायी बन गया था। कुषाणराज बीम कदफिसस 'माहेश्वर' उपाधि से युक्त शैवमत का अनुयायी हो गया था। कनिष्क भी भारतीयता का अभिन्न अंग बन चुका था।

विदेशियों के आर्यीकरण या भारतीयकरण का यह अभियान वस्तुत: वैदिक युग से ही प्रचलित हो गया था। स्मृतिकारो ने भी उसे धर्मसम्मत मान लिया था और उसके लिए नियम बना दिया था। 'मनुस्मृति (१०।६७) में मिश्रित या संकर जातियो के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'वे अपने गुण, कर्म के अनुसार आर्य बन सकते हैं।' यह नियम वस्तुतः बाहरी जातियो के आर्य महासंघ मे सम्मिलित होने के उद्देश्य से बनाया गया था। इससे पूर्व महाभारतकार (६५।५।१३) ने यवनों, किरातो, गन्धारो, तुषारो और पह्लवों को वैदिक संस्कारो को वरण करने तथा वैदिको की पूजा-विधियो मे सम्मिलित होने का विधान कर दिया था। इसी आधार पर मनुस्मृतिकार ने 'आपद्धर्म' के अन्तर्गत आर्यीकरण के लिए उक्त अधिनियम की स्वतन्त्र व्यवस्था कर दी थी।

आर्यीकरण या भारतीयकरण के इस अभियान के फलस्वरूप जिन शक शासकों ने अपने नामो मे परिवर्तनकर भारतीयता को वरण किया, उनमे घटक, रुद्रदामन्, राजुल, शोडास, शिवघोष, शिवदत्त, रुद्रसेन और विजयसेन का नाम उल्लेखनीय है। उनकी इस उदारता एवं उनके भारतीय अनुराग के कारण भारत के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन—सभी वर्गों, सम्प्रदायो के समाज ने उनको ससम्मान ग्रहण किया।

शकों की आचार-पद्धति, रहन-सहन और शासन-व्यवस्था सभी में भारत की परम्पराएँ निहित थी। उनका संस्कृतानुराग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रुद्रदामन् की प्रशस्ति संस्कृत गद्य की एक अनुपम कृति है। अपने सम-सामयिक एव पडोसी सातवाहनों के प्राकृतानुराग के विपरीत शको ने संस्कृत को अपने शासनकाल में सम्मानित स्थान दिया।

भारत ने शक सम्बत् को अपना राष्ट्रीय सम्बत् घोषितकर वस्तुत: शक शासकों की सर्वधर्म-समन्वय तथा सहिष्णुता को पुनरुज्जीवितकर अपनी उदार राष्ट्रनीति का परिचय दिया है।

• • •

पन्द्रह/कुषाण युग

कुषाण शासक और कनिष्क

कुषाणवंश का देदीप्यमान रत्न कनिष्क भारत के महानतम शासकों की परम्परा मे हुआ। वह उत्कट राज्यलिप्सु और अद्‌भुत योद्धा होने के साथ प्रजावत्सल, गुणग्राही, उदार, कलानुरागी शासक था। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि एक विधर्मी एवं विदेशी होते हुये भी योग्यता, दूरदर्शिता और कुशलता से उसने भारतीय जनता के मन पर एकाधिकार किया। भारतीय इतिहास में वह अपूर्व उदाहरण के रूप मे हैं। उस महान् विजेता के पराक्रम और निर्माण कार्यों की तुलना मौर्य चन्द्रगुप्त और मौर्य अशोक जैसे शासकों से की गयी है। उसकी सैनिक क्षमता चन्द्रगुप्त जितनी और धार्मिक सहिष्णुता अशोक जैसी महान् थी।

उसके जीवन चरित के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार पर वह मध्य एशिया की एक खानाबदोश तुर्की जाति मे उत्पन्न हुआ था। कुषाण-वंश के सस्थापक का नाम कुजूल कडफिसेस था। 165 ई० पूर्व के लगभग ह्यु,ग-नु नामक जिस तुर्की खानाबदोश जाति ने वैक्ट्रिया से चलकर उत्तर-पश्चिमी चीन के कान-सू नामक प्रान्त में बसने वाली यहूदी जाति पर आक्रमण किया था, वही विजयी जाति तिब्बत की सीमा को पार करती हुई भारत में प्रविष्ट हुई और उसी के द्वारा भारत में कुषाण साम्राज्य की स्थापना हुई। उसके सस्थापक वीर नेता कडफिसेस का उत्तराधिकारी उसका पुत्र वीम कडफिसेस गद्दी पर बैठा। उसने एकाएक इतनी शक्ति अर्जित की कि समस्त उत्तरी और मध्य-पश्चिम भारत पर अपना अधिकार कर लिया (स्मिथ—दि कुषाण ग्रार इण्डो-स्कैथिन पीरियड ऑफ इण्डियन हिस्ट्री; जे० आर० ए० एस०, पृ० 1—64, 1903; स्टेन कोनो—सी० आई० आई० 2, भूमिका पृ० 49-82)।

कनिष्क का पितामह कुजूल कडफिसेस बौद्ध था; किन्तु उसके पिता ने शैवधर्म को वरण कर लिया था और अपने सिक्को पर 'माहेश्वर' खुदवाकर

उसने अपनी धार्मिक सहिष्णुता के बल पर स्वयं को भारतीयता का अभिन्न अंग बना लिया था।

कनिष्क के अभिलेखों से विदित होता है कि अपने शासन के प्रथम तीन वर्षों में ही उसने पेशावर से सारनाथ तक अपना विस्तार कर लिया था। कनिष्क के अभिलेख पेशावर, जेदा, माणिक्याल (दोनों रावलपिण्डी), सुईबिहार (बहावलपुर), मथुरा, कौशाम्बी तथा सारनाथ और उसके सिक्के सिन्ध से लेकर बंगाल तक के विस्तृत भू-भाग से उपलब्ध हुये हैं। उसके अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उसने अपने सुविस्तृत भू-भाग की शासन-व्यवस्था के लिए क्षत्रपों तथा महाक्षत्रपो की नियुक्ति की थी, जो कि उसके प्रतिनिधि रूप में अलग-अलग क्षेत्रों का शासन करते थे। वनस्पर और खरपल्लान ऐसे ही क्षत्रप तथा महाक्षत्रप थे।

इन आधारो पर कहा जा सकता है कि कनिष्क ने उत्तर में कापिश से उत्तर-पूर्व मे सारनाथ तक और पश्चिम में कश्मीर से मध्यभारत (विदिशा) तक के विस्तृत भू-भाग पर शासन किया। उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। सम्राट् कनिष्क कुशल शासक होने के साथ-साथ धार्मिक सहिष्णु, विद्याप्रेमी और स्वयमेव विद्वान् था। भारत की धर्मप्राण जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए उसने और उसके पूर्वजों ने सर्व प्रथम अपना भारतीयकरण किया। उसने अपने पितामह कुजूल कडफिसेस के अनुकरण पर लोकोपकारी बौद्धधर्म को वरण किया। इस सम्बन्ध मे कहा जाता है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण करके वहाँ से वह अश्वघोष नामक एक बौद्ध कवि एवं दार्शनिक को साथ ले आया था। उसी के प्रभाव से कनिष्क ने बौद्धधर्म को ग्रहण किया। बौद्ध होने पर भी भारत की विभिन्न धर्मानुयायी जनता के प्रति वह अन्त तक उदार और सहिष्णु बना रहा। उसके शासन मे सभी धर्मों की समान उन्नति हुई। उसके सिक्को पर उत्कीर्णित ब्राह्मण, बौद्ध, इरानी, यूनानी, रोमन और सुमेरियाई आदि विभिन्न धर्मानुयायी समाज के देवी-देवताओं तथा महापुरुषो की आकृतियाँ उसके धार्मिक समन्वय और महामानवतावादी विचारो के प्रतीक हैं।

कनिष्क के अभिलेखो से उसकी शासन-व्यवस्था पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने शुंग-सातवाहनों की परम्परानुसार शासन की छोटी इकाई ग्राम्य स्तर पर निर्धारित की थी, जिसकी व्यवस्था के लिए 'ग्रामिक' नियुक्त होता था। सम्भवतः उसने कौटिल्य द्वारा निर्धारित समाज व्यवस्था के अनुसार अपने शासन की उत्तरोत्तर सीमाएँ स्थिर की थी।

कनिष्क के शासनकाल के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। विभिन्न विद्वानों ने 58 ई० पूर्व से लेकर 278 ई० तक अनेक तिथियों में कनिष्क का स्थितिकाल निर्धारित किया है (जे० आर० ए० एस० 1913, 1914; इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, खण्ड 5, 1929, पृ० 49-80)। कुछ इतिहासकारों का मत है कि कनिष्क कुजूल और वीम का पूर्ववर्ती था (फ्लीट—जे० आर० ए० एस०, 1903)। किन्तु नयी खोजों के अनुसार कुजूल-वीम-कनिष्क-वसिष्क-हुविष्क और वासुदेव कुषाण साम्राज्य के क्रमशः उत्तराधिकारी हुए।

उत्तरी भारत में जिस शक सम्बत् का आज भी प्रचलन है, इतिहासकार उसको कनिष्क द्वारा स्थापित मानते हैं (त्रिपाठी—प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 171-216)। शक-सम्बत् और ईसवी सन् में 78 वर्षों का अन्तर है। इस दृष्टि से कनिष्क का राज्याभिषेक 78 ई० में सिद्ध होता है। चीनी यात्री ह्वेन-त्साँग ने अपने यात्रावृतान्त मे लिखा है कि कनिष्क बुद्ध-निर्वाण के चार सौ वर्ष पश्चात् सिंहासनारूढ हुआ और समस्त जम्बूद्वीप का स्वामी बना। उसने भारत के बृहद भू-भाग पर लगभग 23 वर्षों, अर्थात् 101 ई० तक शासन किया। अतीत के लगभग दो हजार वर्षों के साहित्य, समाज और शासन पर इस शक सम्बत् का व्यापक प्रभाव रहा। उसे भारतीय ज्योतिर्विदो ने मान्यता प्रदान की और परवर्ती अनेक शासको ने उसका प्रयोग किया। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य भाषाओं मे लिपिबद्ध हस्तलेखो के लिपिकारो एवं प्रतिलिपिकारो ने भी शक सम्बत् का प्रयोगकर उसकी पूर्वागत मान्यता एवं उपयोगिता को सिद्ध किया। आधुनिक भारत ने उसी को राष्ट्रीय सम्बत् का सम्मान देकर वस्तुतः कनिष्क के उदार, सहिष्णु एवं महामानवतावादी सिद्धान्तो की पुनः प्रतिष्ठा की है।

भारत के अतिरिक्त समस्त एशिया के इतिहास मे कनिष्क का व्यक्तित्व समाहित हुआ दिखायी देता है। बौद्ध कुमारलाल कृत गद्य-पद्यमय खण्डित संग्रह 'कल्पना मण्डितक' से ज्ञात होता है कि भारत विजय के पश्चात् कनिष्क ने मध्य एशिया मे खोतान पर विजय प्राप्त की और वहाँ भी शासन किया था। खोतान के अतिरिक्त यारकन्द और कासगर नगरो पर भी उसका अधिकार रहा। रोमको, हूणो और पार्थियाइयों को पराजितकर उसने चीनी तुर्किस्तान तथा मध्य एशिया तक अपनी सीमाओं को बढ़ाया। उसी के प्रभाव से उन देशो में महायान बौद्धधर्म का प्रवेश और उसके कल्याणकारी सन्देशों को लेकर बौद्ध भिक्षुओं का भारत तथा मध्य एशिया में निरन्तर गमनागमन होता रहा, जिसके

फलस्वरूप धर्म के अतिरिक्त साहित्य का भी आदान-प्रदान हुआ। खोतान में उपलब्ध बौद्धकवि अश्वघोष के 'सारिपुत्र प्रकरण' और चीनी तुर्किस्तान में प्राप्त खरोष्ठी लिपि के राजपत्र इसी आदान-प्रदान और कनिष्क के साम्राज्य-विस्तार के प्रमाण हैं।

कनिष्क के सम्बन्ध में ऊपर कहा गया है कि वह स्वयमेव विद्वान् और विद्याप्रेमी था। ज्ञानार्जन में उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, जिसके फलस्वरूप उसने अपने युग के सर्वोच्च विद्वानों को अपने यहाँ प्रश्रय दिया हुआ था। इस प्रकार के विद्वानों, कवियों तथा दार्शनिकों में अश्वघोष, चरक, नागार्जुन, आर्यदेव, कुमारलब्ध (कुमारलात), पार्श्व और वसुमित्र का नाम उल्लेखनीय है। इन विभिन्न विषयों के पारंगत विद्वानों के संसर्ग में रहकर उसने ज्ञान के विभिन्न अंगों का और विशेष रूप से बौद्ध तत्त्वज्ञान का उपार्जन किया। इन दार्शनिकों, तत्त्ववेत्ताओं, महाकवियों, नाटककारों और अद्भुत आयुर्वेदज्ञ विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य के विभिन्न अंगों के निर्माण-विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया और इस प्रकार उनकी अमर कृतियों के रूप में आज भी कनिष्क की कीर्तिकथा लोक में जीवित है।

कनिष्क की चतुर्थ बौद्ध संगीति

सम्राट् कनिष्क द्वारा आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति बौद्धधर्म और साहित्य के नवोत्थान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुछ विद्वानों के मत से इस संगीति का अधिवेशन जालन्धर में हुआ था; किन्तु अब प्रायः विद्वान् इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि उसका आयोजन काश्मीर के कुण्डलवन महाविहार में हुआ था। बौद्धधर्म और उसकी मान्यताओं को लेकर संघ में गहरा मतभेद होने के कारण कनिष्क ने अपने गुरु आचार्य पार्श्व की अनुमति से इस अधिवेशन को बुलाया था। आचार्य वसुमित्र इस संगीति के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। किन्तु उनकी अनुपस्थिति में उसका कार्य-संचालन प्रसिद्ध बौद्ध महाकवि एवं दार्शनिक विद्वान् अश्वघोष ने किया। ह्वेन-त्सांग के अनुसार इस संगीति में भारत के विभिन्न नगरों से पांच सौ सर्वास्तिवादी बौद्ध विद्वान् आमन्त्रित किये गये थे। इस संगीति में कनिष्क की विद्वत्सभा के रत्न चरक, नागार्जुन और कुमारलब्ध (कुमारलात) आदि विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे। ह्वेन-त्सांग ने अश्वघोष सहित उक्त तीनों विद्वानों को समकालीन बताया है और उन्हें संसार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्य कहा है।

इस संगीति में भारतीय बौद्ध संघ के परम्परागत मतभेदों को दूर करने के लिए संघ को तीन शाखाओं में विभाजित किया गया, जिनके नाम थे थेरवाद (स्थविरवाद), सब्बात्थिवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंघिक (महासांघिक)। इस महासांघिक शाखा का महायान के रूप में विकास हुआ और उसने सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त की। इस संगीति में बौद्ध त्रिपिटकों का पुनः संकलन-संस्करण हुआ और उन पर भाष्य लिखने का कार्यक्रम स्वीकृत हुआ। ह्वेन-त्सांग ने लिखा है कि इसी संगीति मे सर्व प्रथम दस हजार श्लोको में 'सूत्रपिटक', दस हजार श्लोकों में 'विनयपिटक' और दस हजार श्लोकों में 'अभिधर्मपिटक' का संकलन हुआ। इस प्रकार छह लाख सॉठ हजार शब्दो मे तीस हजार श्लोक तीन पिटकों में संकलित किये गये। ऐसा उत्तम कार्य इससे पूर्व कभी नही हुआ था। विश्व भर में इस कार्य की प्रशंसा हुई और त्रिपिटकों को पढने तथा समझने का मार्ग सुगम हुआ।

कनिष्क की इस संगीति की उल्लेखनीय ऐतिहासिक विशेषता यह थी कि बौद्ध जगत् में सस्कृत भाषा को सर्व प्रथम मान्यता प्रदान की गयी। उसमे धर्म, संस्कृति और साहित्य के नवोत्थान के लिए योजनाएं बनायी गयी और उन्हे कार्यान्वित किया गया। एक योजना के अनुसार बौद्धधर्म के मूल ग्रन्थों तथा भाष्य-ग्रन्थों पर व्यापक रूप से कार्यारम्भ हुआ। इस संगीति में वैभाषिक सम्प्रदाय के बृहद् भाष्य-ग्रन्थ 'विभाषाशास्त्र' को अन्तिम रूप दिया गया। सस्कृत की मान्यता प्राप्त हो जाने के कारण बौद्ध न्याय के निर्माण का कार्य भी प्रशस्त हुआ।

इस ऐतिहासिक संगीति में सम्राट् अशोक के बौद्धादर्शों (महावाक्यो) को जनता की जानकारी के लिए ताम्रपत्रो पर उत्कीर्णित कराया गया और उन्हें स्तूपो पर लगाया गया।

कनिष्क की चौथी बौद्ध संगीति का सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। यद्यपि बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए सम्राट् अशोक के सराहनीय प्रयासों का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व माना जाता है और उससे पूर्व राजगृह तथा वैशाली मे बौद्धधर्म तथा बौद्धादर्शों के विवादग्रस्त प्रश्नो के निर्णय के लिए आयोजित बौद्ध संगीतियों का नाम उल्लेखनीय है, तथापि सम्राट् कनिष्क द्वारा आयोजित चतुर्थ एवं अन्तिम बौद्ध संगीति का इसलिए विशेष महत्त्व है कि उसके द्वारा बृहत्तर एशिया के साथ भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धो की पुनः स्थापना हुई। इसका श्रेय महायान सम्प्रदाय को है, जिसका

उदय तथा लोक-प्रचार कनिष्क के प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ। बौद्धधर्म की इस नयी शाखा की विचारधारा को बुद्ध के महान् मानवीय आदर्शों के अनुरूप सर्वास्तिवादी नाम से कहा जाता है। महायान का शाब्दिक अर्थ है 'महान् पथ की यात्रा'। यह महान् पथ-यात्रा है व्यापक मानवता की मुक्ति के लिए सतत प्रयास, जिसके अनुसार बुद्धानुयायी भिक्षु आत्मोत्सर्ग करके समष्टि मंगल के लिए प्रयत्नशील रहता हुआ मार्ग की बाधाओं से विचलित नहीं होता। बौद्धानुयायी पवित्र जीवन बोधिसत्त्वों ने पीड़ित मानवता को राहत पहुँचाने के लिए जो कार्य किये, वे ही महायान पन्थ हैं (भारत की संस्कृति और कला)।

महायान की इस उदात्त एवं लोकप्रिय सुगम विचारधारा ने बौद्ध संस्कृति को मध्य एशिया, चीन, जापान, मंगोलिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के फिलिपाइन द्वीप-समूहों तक प्रचारित-प्रसारित किया। इस नयी बौद्ध शाखा ने आगामी पाँच सौ वर्षों तक बौद्ध धर्म, दर्शन और आचार को बृहद् जन-समाज तक पहुँचाया। बौद्ध-साहित्य के नवोन्मेष में सर्वथा नये युग का सूत्रपात किया।

बौद्धधर्म अपने मूल रूप में नैतिक नियमों पर आधारित धर्म रहा है, जिसमे ईश्वर जैसी किसी भी अदृष्ट शक्ति को स्वीकार नहीं किया गया है और न ही उसमें ईश्वर को मनुष्य के भाग्य का निर्माता माना गया है। बुद्ध ने कर्म द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का सहज मार्ग बताया था। किन्तु उनके निर्वाण के लगभग तीन-चार शती बाद बौद्धों के एक वर्ग ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक और वरदान देने वाला बताया। बौद्धो के इस दृष्टिकोण में राष्ट्र-व्याप्त वासुदेव भक्ति के आत्मसमर्पण की भावना निहित थी। उसको प्रबल एवं प्रभावशाली रूप में जन-जीवन में उताने का श्रेय कनिष्क को है। कनिष्क द्वारा संरक्षित एवं प्रचारित महायान की लोकमान्यता के कारण बौद्ध धर्म भक्ति पर आधारित धर्म बन गया और मुक्ति का स्थान भक्ति एवं भावनामय प्रार्थना ने ले लिया। महायान को हिन्दूधर्म के भक्तिमार्ग से आयोजितकर कनिष्क ने बौद्धधर्म को इतना सहज, सुलभ और उदार बनाया कि न केवल भारत में, अपितु समस्त मध्य एशिया की जनता ने उसको वरण किया।

गान्धार शैली का चरमोत्कर्ष

सम्राट् कनिष्क एक सुशासक, सहिष्णु और विद्यानुरागी होने के साथ-साथ अनन्य कलाप्रेमी भी था। उसके शासनकाल में गन्धार कला अपने चरमोत्कर्ष

को प्राप्त हुई, जिसके उदाहरण उसके भव्य स्तूपों और विशाल नवनिर्मित नगरों के रूप में प्रकाश में आये। नये नगरों के निर्माण में कनिष्क की विशेष अभिरुचि थी। कनिष्कपुर (कनिसपोर) नाम से उसने एक भव्य एवं विशाल नगर का निर्माण कराया था। इतिहासकार कल्हण ने लिखा है कि 'राजा अशोक के वंश में क्रमशः जालौक, दामोदर, हुष्क और कनिष्क शासक हुए। अन्तिम तीन शासको ने अपने-अपने नाम से क्रमशः हुष्कपुर, जुष्कपुर और कनिष्कपुर नामक तीन नगरो का निर्माण कराया' (राजतरंगिणी १।१६८-७०)। अपने साम्राज्य के विभिन्न अंचलो में उसने ज्ञान तथा उपासना के उद्देश्य से अनेक बौद्ध विहारो एवं मठो का निर्माण कराया। अपनी राजधानी पुरषपुर (पेशावर) मे उसने अगिशन नामक एक ग्रीक शिल्पी द्वारा अनुपम एव अपूर्व काष्ठस्तम्भ का निर्माण कराया था। (स्टेनकोनो—कोर्प्स इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, खण्ड 2, भाग 1, सं० 72, पृ० 137)। गान्धार-शिल्प का यह सर्वोच्च उदाहरण था। परवर्ती इतिहासकारों ने उसको धर्म तथा कला का सगम बता कर उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है।

मानव मन के द्वेषों, वैमनस्यो और संघर्षों को उपशमित करने के उद्देश्य से एक ओर तो उसने महायान के मानवतावादी आदर्शों को अपने स्तूपो पर उत्कीर्णित कराया और दूसरी ओर कला की भावधारा से जनता की मलिनताओं को धो डाला। मानव मन मे समता, सद्भाव और बन्धुत्व की भावना को उजागर करने के उद्देश्य से उसने कला की उन्नति पर विशेष बल दिया। अपनी चौथी बौद्ध संगीति में उसने परम्परागत बौद्धधर्म की कलाविरोधी निषेधाज्ञाओं पर पुनर्विचार करने का प्रस्ताव रखा और उसको पारित कराया। कला के पुनरुद्धारक के रूप मे उसकी तुलना फारस के अब्बासी शासकों से की जा सकती है।

कनिष्क की चिरस्मरणीय देन गान्धार शैली है। गान्धार शैली का निर्माण क्षेत्र पेशावर (पुरुषपुर), चारसद्दा (पुष्कलावती), हजारा, रावलपिण्डी और तक्षशिला का विस्तृत भू-भाग था। यही तत्कालीन गान्धार देश था, जो कि पहले मौर्य साम्राज्य का अंग रहा और तदनन्तर बाख्त्री के ग्रीक (यूनानी), शक और उसके बाद उस पर कुषाणों का अधिपत्य हुआ। शक और कुषाण, ईरानियों, यूनानियों, रोमकों तथा भारतीयों के ऋणी थे। गान्धार पर कुषाणों का अधिपत्य ई० पूर्व प्रथम सदी से पाँचवीं सदी तक बना रहा।

गान्धार शैली में 'बुद्धविग्रह' के अंकन का सर्व प्रथम दर्शन हुआ, जिसका प्रभाव अफगानिस्तान, मध्य एशिया, जावा, चीन और एशिया के अन्य देशों

पर परिलक्षित हुआ। गान्धार शैली में बुद्धमूर्तियों के साथ-साथ बोधिसत्त्वों की मूर्तियों का भी निर्माण हुआ, जिनमें अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और मैत्रेय की आकृतियाँ मुख्य हैं। बुद्ध की जीवनी से सम्बद्ध श्यामजातक, छन्दजातक, दीपकजातक, वेसन्तरजातक, सिविजातक, ऋष्यश्रृंगजातक और दिव्यावदान के आधार पर निर्मित गान्धार मूर्तियाँ अपने क्षेत्र की न केवल प्रथम उपलब्धियों में से हैं, अपितु शिल्प-सौन्दर्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं। गौतम शाक्यमुनि के जन्म से परिनिर्वाण तक की विभिन्न भाव-भंगिमाओं एवं स्थितियों से सम्बद्ध मूर्तियाँ गान्धार शैली की सर्वोत्तम उपलब्धियाँ हैं।

गन्धार अपने समय भारतीय कला का प्रमुख केन्द्र रहा है। तिब्बती अनुवाद के रूप में सुरक्षित 'चित्रलक्षण' नामक ग्रन्थ के निर्माता नग्नजित् गन्धार का शासक और भारत का प्रथम चित्राचार्य था। उसके 'चित्रलक्षण' के विधानों का प्रभाव गान्धार शैली पर भी परिलक्षित हुआ। गान्धार शैली के माध्यम से मध्य एशिया की कला पर भारतीय प्रभाव व्याप्त हुआ। कुषाणयुगीन कला के इतिहास की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि हिन्दू-ग्रीक युग (200 ई० पूर्व) में जिस गान्धार शैली का उदय हुआ था, उसमें विदेशी (ग्रीक) प्रभाव की मात्रा अधिक थी। कनिष्क के समय महायान के संयोग से गान्धार शैली विशुद्ध भारतीयता में परिवर्तित हुई और गन्धार से लेकर मथुरा तक के विस्तृत भू-भाग में उसका व्यापक प्रचार हुआ। कुषाण कालीन भारत मे बौद्धकला के तीन प्रमुख केन्द्र थे—कापिश, गन्धार और मथुरा। इन तीनों केन्द्रो पर अनेक बौद्ध विहारों, स्तूपों की स्थापना हुई और बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो की बहुसंख्यक भव्य मूर्तियों का निर्माण हुआ। इन तीनों केन्द्रों पर निर्मित बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मथुरा-केन्द्र की मूर्तियो के सम्बन्ध में द्रष्टव्य है कि उनकी अंकन-विधि रोमन तथा हेलेनीय शैली की न होकर विशुद्ध भारतीय आदर्शों पर थी। इन्हीं बुद्ध मूर्तियों के बाद मथुरा-केन्द्र के मूर्ति-निर्माण का स्वर्णयुग आरम्भ हुआ, जिसके शिल्प संविधान का प्रभाव समस्त उत्तर भारत की मूर्तिकला पर परिलक्षित हुआ।

कुषाण युग में कला की इस व्यापकता एवं लोकप्रियता का एकमात्र कारण था महायान का उदय। महायान के प्रभाव से बौद्धानुयायी जनता का बुद्धपूजा के प्रति अनुराग बढ़ा और उसके फलस्वरूप गान्धार कला में शाक्यमुनि और उनके पूर्वजन्म के सात बुद्धावतारो तथा अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, वज्रपाणि

और मैत्रेय आदि बोधिसत्व व्यापक रूप से प्रतिमाओं में उभारे गये। कनिष्क द्वारा संरक्षित एवं प्रोत्साहित गान्धार कला भारत में उत्तरोत्तर नये शिल्प और सुरुचिपूर्ण प्रतिमानों का अभिव्यंजन करती हुई बाद की अनेक शतियों तक निरन्तर फलती-फूलती रही।

नागार्जुन

भारतीय दर्शन के इतिहास में नागार्जुन को अद्वितीय बौद्ध दार्शनिक के रूप में सम्मानित स्थान प्राप्त है। वे रासायनिक और तन्त्रवेत्ता भी थे। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कुमारजीव लिखित नागार्जुन की जीवनी से ज्ञात होता है कि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे और दक्षिण कोसल या प्राचीन विदर्भ (बरार) उनकी जन्म भूमि थी।

बाण ने 'हर्षचरित' में नागार्जुन को समुद्राधिपति सातवाहन नरेश का मित्र बताया गया है। इस दृष्टि से विद्वानों ने उन्हें गौतमीपुत्र यज्ञश्री सातकर्णि (156-196 ई०) का समकालीन माना है। अपने 'सुहृल्लेख' को उन्होने एक पत्र के रूप में अपने मित्र यज्ञश्री सातकर्णि को लिखा था। ईत्सिंग का कहना है कि नीति और सदाचार विषयक उच्च कोटि की इस रचना को तत्कालीन भारत में बालकों तथा वयस्कों को कण्ठस्थ कराया जाता था।

इस दृष्टि से अधिक सम्भव यह जान पड़ता है कि कुषाणों के भारत से चले जाने के बाद नागार्जुन ने दक्षिण के सातवाहन साम्राज्य से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। कुमारजीव के अनुसार नागार्जुन का अधिक समय श्रीपर्वत (गुंटूर जिला स्थित नागार्जुनीकोण्डा) में व्यतीत हुआ। इसलिए बहुत सम्भव है कि कुषाण और यज्ञश्री सातकर्णि, दोनो शासकों से उनका सम्बन्ध बना रहा हो। वे कनिष्क की राज्यसभा में सम्मानित रहकर तदनन्तर सम्भवत: नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान नियुक्त हुए।

नागार्जुन बौद्धधर्म तथा दर्शन के जितने विख्यात एवं विलक्षण विद्वान् थे, वेदों और ब्राह्मण दर्शनों में भी उनका उतना ही अधिकार था। उन्होने शून्यवाद (निर्वाण) का जिस सूक्ष्मता से निदर्शन किया है, उससे उनकी उच्च मौलिक गरिमा का सहज ही में पता चलता है। उन्होने अपने शून्यवाद की प्रस्थापना करते हुए विचारों की एक सर्वथा नयी दिशा का उद्घाटन किया, जिसके कारण उनको विश्व के महान् दार्शनिकों में स्थान दिया गया।

उनकी प्रमुख कृतियों के नाम हैं—'माध्यमिकशास्त्र', 'दशभूमि विभाषाशास्त्र', 'शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता', 'विग्रहव्यावर्तिनी', 'प्रतीत्यसमुत्पादहृदय', 'शून्यतासप्तति' और 'सुहृल्लेख' आदि। इन ग्रन्थों में 'माध्यमिकशास्त्र' और 'विग्रहव्यावर्तिनी' ही अपने मूल रूप संस्कृत में उपलब्ध हैं। शेष तिब्बती एवं चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित हैं।

नागार्जुन का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उनकी कृतियों के माध्यम से ज्ञान सन्दीप्त भारतीय संस्कृति के विश्वजनीन आदर्श तिब्बत, चीन, मंगोलिया आदि देशों को प्रसारित हुए, और जिनकी जड़ें इतनी गहरी जम गयी कि बाद की कई सदियों तक नागार्जुन को भारत का पर्याय मानकर सम्पूजित किया गया।

चरक

सम्राट् कनिष्क के विद्याप्रेम और उनकी सभा का देदीप्यमान रत्न गन्धारवासी आचार्य चरक आयुर्वेदशास्त्र के प्रमुख प्रवर्तकों में से एक थे। आचार्य अग्निवेश से उन्हें आयुर्वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त हुआ था और इसी प्राप्त-ज्ञान को उन्होंने 'चरकसंहिता' के नाम से सर्व प्रथम ग्रन्थ रूप में निबद्ध किया। यह संहिता-ग्रन्थ एक प्रकार से भारतीय आयुर्वेदशास्त्र का विश्वकोश है, जिसमे भृगु, च्यवन, धन्वन्तरि, आत्रेय पुनर्वसु, सुश्रुत और वाग्भट आदि पुरातन आयुर्विज्ञान के प्रवर्तक आचार्यों द्वारा परम्परा से उपदिष्ट ज्ञान को उपनिबद्ध किया गया है।

भारतीय आयुर्वेद विज्ञान का यह सर्व प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ न केवल भारतीयो की उच्च मेधा का द्योतक है, अपितु यूनान और ईराक आदि पश्चिमी देशो के आयुर्वेदज्ञों की प्रेरणा का भी स्रोत रहा है। 'चरकसंहिता' का एक अनुवाद अरबी में 800 ई० के लगभग हुआ और इससे भी पूर्व उसका एक अन्य अनुवाद फारसी में हो चुका था।

कुमारलात

बौद्धाचार्य कुमारलात या कुमारलब्ध सम्राट् कनिष्क के धर्म-समन्वय के ज्वलन्त प्रतीक थे। तत्कालीन बौद्ध जगत् में उनका अपना विशिष्ट स्थान था। बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा मन को पवित्र करने, अच्छी बातों का संग्रह करने और पापों से पृथक् रहने पर विशेष बल दिया है। उनका यह भी कहना था कि ऐहिक पदार्थों की निःसारता, अनित्यता और दुःख से मुक्ति

प्राप्त करने के लिए छह चेतनाओं तथा बारह आयतनों से बनी हुई अठारह विघ्न धातुओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सम्राट् अशोक द्वारा आयोजित 'पाटलिपुत्र की संगीति' में बुद्ध के उक्त विचारों को सैद्धान्तिक रूप दिया जा चुका था। उसके परिणामस्वरूप कनिष्क की संगीति में परम्परागत स्थविरवादियों का सौत्रान्तिक और वैभाषिक इन दो वर्गों में विभाजन हुआ, जिनकी दार्शनिक विचारधारा सर्वास्तिवादी थी। कुमारलात सौत्रान्तिक मत के सर्व प्रथम सर्वास्तिवादी आचार्य थे, जिनके प्रभाव से तत्कालीन शिक्षित समाज प्रभावित था।

जातकों एवं अवदानों का एक गद्य-पद्य-मिश्रित संग्रह 'सूत्रालंकार' या 'कल्पनामण्डितक' के नाम से खण्डित रूप में उपलब्ध है, जिसको लूडर्स ने कुमारलात की कृति बताया है। बौद्ध धर्म-दर्शन की इस सरल एवं सुगम कृति का न केवल भारत, अपितु मध्य एशिया के बौद्धानुरागी समाज पर गहरा एवं चिरन्तन प्रभाव रहा। उसका एक चीनी अनुवाद भिक्षु कुमारजीव ने 405 ई० में किया था। मध्य एशिया के अन्य देशों में भी उसकी अनूदित हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इस जीवन्मुक्त ज्ञानमना विद्वान् ने कनिष्क के बौद्धादर्शों को लोकप्रिय बनाने में अपना विशेष योगदान किया।

आर्यदेव

सम्राट् कनिष्क की विद्वत्सभा के विद्वानों मे आर्यदेव का भी एक नाम है। उनका जन्म यद्यपि सिंहल (श्रीलंका) मे हुआ था; किन्तु बौद्ध धर्मानुराग उन्हें बुद्ध की जन्मभूमि भारत ले आया था। वे माध्यमिक पन्थ के अनुयायी थे। आचार्य नागार्जुन के प्रमुख शिष्यो में उनकी गणना थी और अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानों में उनका नाम था। शान्तिदेव, शान्तरक्षित और कमलशील जैसे प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एवं धर्मोपदेशक उनके कुलिक थे। आचार्य नागार्जुन के बाद वे अपने बहुमुखी पाण्डित्य के कारण नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान नियुक्त हुए।

उनकी कृतियों के नाम हैं 'चतुःशास्त्र' और 'द्वादशनिकायशास्त्र'। उनमें बौद्धधर्म की महायान शाखा की महानताओं का सम्यक् दिग्दर्शन हुआ है। 'माध्यमिक भ्रमघाट' नामक ग्रन्थ का रचयिता भी उन्हें ही बताया जाता है। इस ग्रन्थ का अनुवाद दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बती में किया था और अपने मूल रूप में वह तिब्बती में ही उपलब्ध हुआ।

कनिष्क के सांस्कृतिक समन्वय का दीपक—अश्वघोष

सम्राट् कनिष्क द्वारा कुण्डलवन विहार में आयोजित चौथी बौद्ध परिषद् की उपलब्धि मानवतावादी महायान धर्म की प्रतिष्ठा थी। इस नयी धर्मशाखा को सर्व प्रथम ग्रन्थ रूप में निबद्ध करने का श्रेय अश्वघोष को है। जिस प्रकार मौर्य साम्राज्य का प्रकाश-स्तम्भ कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और शुंगों के सांस्कृतिक नवजागरण का प्रतीक पतंजलि का 'महाभाष्य' तथा शूद्रक का 'मृच्छकटिक' रहा है, उसी प्रकार कुषाणों के सांस्कृतिक समन्वय का दीपक अश्वघोष और उसका कृतित्व रहा है। अश्वघोष का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वह महाकवि, नाटककार, तार्किक और तत्ववेत्ता था। भारत का वह सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार था। उसका जीवन अपने-आप में तत्कालीन इतिहास का एक ऐसा सुनहरा अध्याय है, जिसमें बौद्धधर्म, बौद्धदर्शन तथा बौद्धकला और कुषाणकालीन समाज एवं शासन की समग्रता का एक साथ दर्शन होता है। उसकी कृतियो में तत्कालीन भारत के लोक-जीवन का भी सजीव एवं मार्मिक चित्रण हुआ है।

अश्वघोष की जीवनी और कृतियों को सुरक्षित रखने का एकमात्र श्रेय तिब्बत, चीन तथा खोतान आदि बौद्ध देशों को है। अश्वघोष उनका दत्तक बौद्धनाम है। कहा जाता है कि एक दिन जब वे धर्मोपदेश कर रहे थे तो उनकी मधुर वाणी पर मुग्ध होकर भूखे घोड़े अपना दाना-पानी छोड़कर आध्यात्मिक उल्लास में हिनहिनाने लगे। तभी से लोगों ने उनको 'अश्वघोष' इस नये नाम से कहना आरम्भ कर दिया। इस तिब्बती अनुश्रुति में उनकी मनोमुग्धकारी वाणी का वर्णन निरर्थक एवं कल्पित नही है। उनकी तिब्बती जीवनी से ज्ञात होता है कि वे अच्छे सगीतज्ञ थे और अनेक गायक-गायिकाओं के साथ बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के लिए घूम-घूम कर वैराग्य के गीत गायन करते थे। उन्होंने 'रसतवर' नामक एक वाद्ययन्त्र का भी निर्माण किया था। उनकी वाणी को सुनकर जनता इतनी मुग्ध हो जाती थी कि सहज ही उनका अनुगमन करने लगती थी। लगभग सात सौ वर्ष बाद भारत भ्रमण के लिए आये चीनी यात्री ईत्सिंग ने लिखा है कि बौद्ध विहारों में अश्वघोष के गीत नियमित पारायण का महत्त्व प्राप्त कर चुके थे और उनका संगायन होता था। उनको देवताओ की भाँति पूजा जाता था।

अश्वघोष के जन्मस्थान के सम्बन्ध में सुनिश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है; किन्तु विद्वानों की धारणा है कि वे या तो अयोध्या के निवासी थे अथवा

पाटलिपुत्र के। शुंग साम्राज्य के संस्थापक सेनापति पुष्यमित्र के शासन-काल (200 ई० पूर्व) में उच्चकुलीन पुरोहितों का एक वर्ग बाहर से आकर साकेत (अयोध्या) में बस गया था, जिसमें पुष्यमित्र के पुरोहित महाभाष्यकार पतंजलि का परिवार भी सम्मिलित था। इसी पुरोहित-कुल में अश्वघोष का जन्म हुआ।

सर्वास्तिवादी बौद्धाचार्य पार्श्व से अश्वघोष को भिक्षुपद की उपसम्पदा प्राप्त हुई थी। पाटलिपुत्र के अशोकाराम मे रहकर दस वर्ष तक उसने बौद्ध धर्म, बौद्ध दर्शन तथा यवन दर्शन का विधिवत् अध्ययन किया था। जब पाटलिपुत्र में अश्वघोष प्रौढ़ ज्ञानी के रूप में महापण्डित एवं महावादिन् जैसी सर्वोच्च सम्मानित उपाधियों से समाज में विश्रुत हो चुका था, तभी सम्राट् कनिष्क पूर्व दिशा से अपनी विजय ध्वजा को फहराता हुआ पाटलिपुत्र तक आ पहुँचा। कनिष्क के इस अभियान का उद्देश्य रक्तरंजित युद्धलिप्सा न होकर धर्म-विजय थी। इसी रूप में उसने पाटलिपुत्र पर अपनी विजय पताका फहरायी। मगध नरेश को बौद्धधर्म का अनुयायी बनाकर पाटलिपुत्र की विजय के उपलक्ष्य मे अश्वघोष को भेंटस्वरूप प्राप्तकर कनिष्क पेशावर लौट आया। अश्वघोष को उसने राजकवि और गुरु के रूप मे सम्मानित किया।

यह सच है कि निरंकुश स्वभाव के, मण्डलियों के साथ घूमने वाले ऐसे स्वतन्त्र, स्वाभिमानी व्यक्ति का राजदरबार के बन्धनों में बँधकर नियन्त्रित हो जाना निश्चित ही आश्चर्यजनक लगता है; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी लोकप्रियता और असहज विद्वत्ता से प्रभावित होकर कनिष्क ने उसको किसी प्रकार अपने यहाँ रहने के लिए राजी कर लिया होगा।

अपनी युवावस्था में ही अश्वघोष समाज में, विशेष रूप से युवक समाज में, शृंगारप्रधान कविताओं का गायक, संगीतज्ञ, अभिनेता, नाटककार और महाकवि के रूप मे विश्रुत हो चुका था। किन्तु एक प्रौढ विद्वान् होकर अब वह पेशावर में सम्मानित राजकवि के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था। पेशावर में आकर वहाँ शक, यवन, तुर्क, फारसी और भारतीय आदि विभिन्न धर्मों तथा संस्कृतियों का अपूर्व समन्वय देखकर कनिष्क की समदर्शिता, उदारता तथा निरपेक्षता से वह प्रभावित हुआ। कनिष्क के इन उच्चादर्शों को अधिक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय बनाने के लिए उसने अपना भरपूर योगदान किया होगा।

नाटककार

ऐसा प्रतीत होता है कि अश्वघोष के समय गन्धार में जो नाटक अभिनीत होते थे, उन पर यूनानी प्रभाव था और उनकी वेशभूषा तथा तकनीकी सज्जा यूनानी ढंग की थी। भारत की अन्य नाटक मण्डलियो पर भी उसका प्रभाव था। इस परिस्थिति को देखकर अश्वघोष ने संस्कत-प्राकृत एवं गद्य-पद्य मिश्रित नाटको की रचना की और सम्भवतः उनका अभिनय भी कराया। उनके नाटक विदेशी प्रभाव से सर्वथा मुक्त थे।। इस तरह अश्वघोष ने भारत को अपना रंगमंच दिया। उनका 'शारिपुत्रप्रकरण' जो अधूरा ही उपलब्ध है, सम्भवतः 9 अंकों का प्रकरण था। उसके साथ दो अधूरे नाटक संलग्न हुए भी प्राप्त हुए हैं; किन्तु उनका महत्त्व ज्ञात नही हो पाया है। 'शारिपुत्रप्रकरण' विशुद्ध सामाजिक प्रकरण है। रचना-विधान की दृष्टि से उसकी तुलना शूद्रक (छद्मनाम) के 'मृच्छकटिक' से की जा सकती है। इस प्रकरण में भी लुच्चे-लफंगे, विट, विदूषक, वेश्या, गणिका, चोर, जुआरी, शराबी, दास-दासी और राजकुमार आदि समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्र हैं। उसका नायक उच्च कुलोत्पन्न ब्राह्मण और नायिका एक गणिका है, जिसको आदर्श भारतीय नारी के रूप मे चित्रित किया गया है। कीथ ने उसको 'गणिका रूपक' (हेटेरा ड्रामा) और 'मृच्छकटिक' का प्रेरणास्रोत कहा है।

अश्वघोष का यह प्रकरण समाज-सुधार का एक सशक्त एवं साहसिक प्रयत्न है और उसके द्वारा सामाजिक यथार्थ को मार्मिक तथा प्रभावशाली ढंग पर विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। समस्त सस्कृत-साहित्य मे अपने ढंग का वह मौलिक एवं जीवन्त प्रकरण है और अपने निर्माता के निर्भीक, समाजसुधारक क्रान्तिकारी विचारों की उद्घोषणा करता है।

दार्शनिक

इस प्रकरण को यदि अश्वघोष ने पेशावर जाने के बाद लिखा है तो निश्चित ही उसका उद्देश्य कनिष्क के आदर्शों को परिमण्डित करना ही था। अपने इस प्रकरण द्वारा ही नही, गम्भीर दार्शनिक रचना द्वारा भी उसने सामाजिक संकीर्णताओं पर प्रहार किया है। इस दृष्टि से 'वज्रसूची' या 'वज्रच्छेदिका' का नाम उल्लेखनीय है। इस बौद्धदर्शन-विषयक लघु, किन्तु तीव्र प्रभावकारी कृति द्वारा अश्वघोष ने नयी सामाजिक विचार-संहिता की स्थापना की है। इस कृति में उन्होने विजातीय विवाह-सम्बन्धों को ब्राह्मणों

के वेद-शास्त्रों द्वारा समर्थित सिद्ध किया है। इस प्रकार अश्वघोष ने तत्कालीन समाज के लिए सदाचार की नयी उदात्त पद्धति को स्थापित किया। अपनी इस कृति में उन्होंने वर्णभेद की तीव्र आलोचना की है। उसमें बौद्ध विज्ञान के सूक्ष्म, तर्कपूर्ण एवं गम्भीर विचार प्रकट किये हैं। उसमें आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का विचित्र समन्वय देखने को मिलता है।

अश्वघोष के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में धर्म-निरपेक्षता समाहित है। वे बौद्धधर्म के सभी पन्थों एवं मतों के उच्च मानवोपयोगी विचारों के समर्थक थे। 'विभाषाशास्त्र' के संयोजक होने के कारण वे सर्वास्तिवादी वैभाषिक कहे जाते हैं। 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' के निर्माता के रूप में वे योगाचार सम्प्रदाय के विज्ञानवादी दार्शनिक सिद्ध होते हैं। उनके उदार व्यक्तित्व में हीनयान और महायान दोनों का एक साथ समन्वय हुआ है; जैसा कि उनके काव्यों में भी देखने को मिलता है।

महाकवि

अश्वघोष के महाकवित्व के द्योतक उनके दो महाकाव्य हैं 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द'।

उनका 'बुद्धचरित' तथागत बुद्ध के जीवन पर लिखा गया प्रथम और बृहद् महाकाव्य है। उसे 28 सर्गों की कृति बताया जाता है। सम्प्रति उसके 17 सर्ग ही उपलब्ध हैं, जिनमें से 14 सर्ग के उपरान्त शेष प्रक्षिप्त बताये जाते हैं। इस महाकाव्य की रचना यद्यपि 'रामायण' की शैली पर की गयी है; किन्तु अपनी सगीतात्मकता एव लयता के कारण उसको लोक में अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। व्यास, वाल्मीकि की परम्परा में अश्वघोष ने भी अपने चरितनायक तथागत बुद्ध को एक महापुरुष के रूप में निरूपित किया है। राम की भाँति गौतम भी एक कृपालु पिता, परोपकारी, शरणागतो के दुःखहर्ता और करुणा-दया-ममता-श्रद्धा आदि के भावों से आपूरित लोकहितकारी महापुरुष हैं। अपनी इस महान् कृति में अश्वघोष ने काव्य-सौन्दर्य की रक्षा करते हुए बुद्ध के चरित्र की जन-मंगलकारी लोकदृष्टि का सफल चित्रण किया है। उसमें परम दुःख को परम सुख में परिवर्तित कर देने वाले बुद्ध के विचारों को इतने सहज, हृदयग्राही एवं मार्मिकता से संजोया है कि वह भारतीय जनता की श्रद्धा एव पूजा की वस्तु बन गयी। इस महाकाव्य की रचना का उद्देश्य बौद्धधर्म को लोकप्रिय बनाना तथा सस्कृत काव्य के क्षेत्र मे इस नयी परम्परा के लिए कवियों को प्रेरित एवं प्रभावित करना था।

अश्वघोष का दूसरा महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' 18 सर्गों की कृति है। यह महाकाव्य भी यद्यपि बौद्ध विचारों की लोकहितकारी दृष्टि से परिमण्डित है, तथापि महाकवि के अन्तराल में निहित गहन काव्यात्मक अनुभूति की अभिव्यंजना करना ही उसका प्रमुख लक्ष्य प्रतीत होता है। महाकाव्य के समीक्षक एवं प्रशंसक विद्वानों का कहना है कि उसमें महाकवि ने परोक्ष रूप से आत्मचरित को ही गुम्फित किया है और यही कारण है कि उनमे इतनी अधिक विमुग्ध कर देने वाली काव्यात्मक अनुभूति के दर्शन होते हैं। अश्वघोष के भिक्षुमय जीवन के अन्तराल में सौन्दर्य, प्रेम, अनुराग और मोह की जो मानव सहज अनुभूतियाँ निहित थी अर्हत नन्द और अनुरागमयी सुन्दरी के रूप में उनका खुलकर अभिव्यंजन हुआ है। अश्वघोष के युवावस्था के वे अनुभव, जिनको उसने अपने विमुक्त एवं स्वच्छन्द जीवन-काल में सगीत-नाटक के रसिक अपने सहचरो के साथ अर्जित किया था, उनको अपने इस महाकाव्य में अत्यन्त सजीव और सबल रूप में अभिव्यक्त किया है। नन्द की प्रव्रज्या अश्वघोष की प्रव्रज्या है और उसके पूर्व के विशद भावगर्भित कथानक के उतार-चढाव अश्वघोष की आपबीती के मार्मिक, अविस्मरणीय सन्दर्भ हैं। ठीक वैसी ही आपबीती, जैसी कि महाकवि कालिदास ने सुदूर रामगिरि की पहाड़ियो पर जीवन-यापन करने वाले अभिशप्त यक्ष के माध्यम से अभिव्यजित की है। कालिदास से अश्वघोष ने आत्माभिव्यक्ति का कवित्व-कौशल ही नही प्राप्त किया, उसको लोकोत्तर प्रेम-भावना में किस चतुराई एवं दक्षता से विलयित करके समष्टिमय अनुभूति में परिणत किया जाता है, इसे भी ग्रहण किया और उसी सफलता से उसको प्रस्तुत भी किया।

'सौन्दरनन्द' के तीसरे सर्ग में (श्लोक 14) सेवको के मुख से कुमार के आगमन का वृत्तान्त सुनकर कुमार को देखने के लिए आतुर नागरिकाओ की उत्सुकता, कालिदास के 'कुमारसम्भव' की उन ओषधिप्रस्थ नगर निवासिनी दिव्य वनिताओ की स्थिति को चित्रित करती है, जो पार्वती को वरण वाले शिव के दर्शनों के लिए लालायित तन-मन की सुध विस्मृतकर गवाक्षों तथा छतों पर खड़ी हो जाती हैं। इसी प्रकार कुमार के लिए दर्शनोत्सुक उन ललनाओं का चित्रण करते हुए अश्वघोष ने लिखा है—"कुछ को शीघ्रता के कारण करधनी खिसकने से विघ्न हो रहा था; कुछ के नयन तत्काल सोकर जागने से व्याकुल थे; कुछ ने कुमार के आगमन का वृत्तान्त सुनकर जल्दी-जल्दी में आभूषण धारण किये थे; और कुछ कौतूहलावस्था में ऐसी खड़ी हो गयी थीं कि उन्हें अपने अंगों को आवृत्त करने तक की सूझ न रही"—

ताः प्रस्तकाञ्चीगुणविघ्नताश्च सुप्तप्रबुद्धाकुललोलनाश्च ।
वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृता परीयुः ।।

अपने इस महाकाव्य के कुशल कथा-शिल्प मे अश्वघोष को ऐसे सन्दर्भो को समायोजित करने की पूरी छूट और पर्याप्त गुंजाइश थी, जिनके द्वारा वे स्वानुभूत तीव्र अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर सकते थे। महाकाव्य के पांचवें सर्ग (श्लोक 49) मे उसने एक ऐसी स्त्री के शरीरिक सौन्दर्य का बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है, जो वेसुधावस्था में सोयी हुई कवि को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। किन्तु इस शृगार-वर्णन में काव्यात्मक सौष्ठव के साथ ही मर्यादा का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। कवि कहता है "एक अन्य स्त्री हाथ में बांसुरी लिए थी। उसके स्तन से शुभ्र वस्त्र खिसक गया था। इस अवस्था में सोयी हुई वह ऐसी लग रही थी, जैसे भ्रमर-पक्ति से सेवित दण्डयुक्त कमल वाली जलफेन की उज्ज्वलता से हरती हुई नदी हो"—

विवभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तासितांशुका शयाना ।
ऋजुषट्पदपंक्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ।।

ये अनुभूतियाँ वस्तुतः एक ऐसे शृंगार-प्रेम-रसिक व्यक्ति की ही हो सकती हैं, जो एक कवि-हृदय के होने के साथ-साथ एक ऐसा मानव भी है, जिसने युवावस्था की मनोरमता को पूरी स्वच्छन्दता से बिताया और उसका खुलकर उपभोग किया।

महाकाव्य के ग्यारहवे सर्ग मे स्वर्ग की सम्पदाओ और सम्पूर्ण अभिलाषाओ के स्वेच्छित सुलभता के बावजूद नन्द अपने पत्नी-वियोग को नही भुला पाता और उसका प्रेमी मन स्वर्ग की अप्सराओ को देखकर सयम खो बैठता है। प्रव्रज्या की वितृष्णा में भटकता हुआ युवामन नन्द एक अथाह, अपरिसमाप्य बेचैनी से उद्वेलित है। अपने कामुक मन की जग-हँसाई को भी वह अनदेखी एवं उपेक्षित कर देता है। एक मानव के लिए यह असहज और अस्वाभाविक नही है और इस सर्वथा सहज एवं सम्भव स्थिति के ताने-बाने मे अश्वघोष ने मानव धरा पर अवस्थित नन्द के मन को बुरी तरह उलझा दिया है।

इस प्रकार 'सौन्दरनन्द' की रचना का उद्देश्य महाकवि की घोषणा के अनुसार उसके स्वान्तः सुखाय से सम्बद्ध न होकर भी वह सांसारिक विषयभोगों की अनिवार्यता को अस्वीकार न कर सका और तब चौदह सर्गों तक की लम्बी प्रणय-कथा को कह लेने के बाद अन्त के चार सर्गों में स्वयं शान्त अर्हत् नन्द को समाधिस्थ, मुमुक्षु रूप में दिखाकर वह अपने महाकाव्य को मोक्षप्राप्ति में पर्यवसित कर देता है।

●●●

सोलह/गुप्त युग

गुप्त साम्राज्य

मगध का पुनरुत्थान

प्रतापी एवं यशस्वी मौर्य सम्राटों ने मगध को अपने राज्य का केन्द्र बनाकर भारतीय इतिहास में उसे एक गौरवान्वित स्थान प्रदान किया। गुप्तों ने मगध की उन्नत परम्परा का एक प्रकार से पुनरुत्थान ही किया। इतिहास में गुप्त साम्राज्य को भारत का 'स्वर्णयुग' कहा गया है। उनके शासन में धर्म, राजनीति, साहित्य, संस्कृति, कला और उद्योग-व्यवसाय आदि सभी दृष्टियों से भारत ने अपूर्व उन्नति की। वस्तुतः गुप्तों का उदय भारतीय इतिहास की एक असाधारण घटना थी।

गुप्तो के मूल के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही है। वे किस जाति अथवा वर्ण के थे, इस सम्बन्ध मे कोई सुनिश्चित प्रमाण उपलब्ध नही है। उनके साथ जुड़े 'गुप्त' शब्द के आधार पर कुछ विद्वानों ने उन्हे वैश्य और कुछ ने कक्कड़ (कारस्कर) जाति का जाट बताया है। किन्तु परम्परानुगत अनुश्रुतियो के आधार पर उनको क्षत्रिय मानना ही उचित समझा गया है (जायसवाल—जे० बी० आर० ओ० एस० 19, मार्च-जून, 1933, पृ० 115-16)। वे जिस वर्ण से भी सम्बन्धित रहे हो, इसका उल्लेख करना उन्होने स्वयं भी उचित नहीं समझा। उन्होंने क्षत्रियो और ब्राह्मणो से विवाह-सम्बन्ध स्थापितकर अपने वर्ण-समन्वय के उदार दृष्टिकोण द्वारा स्वयं ही उसका समाधान कर दिया।

गुप्तो ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की वह पूरब में बिहार से पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम में पंजाब एवं काबुल तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण मे समुद्र तक सुविस्तृत था। उन्होंने आर्यावर्त के विशाल भू-भाग पर अपना एकाधिकार स्थापित करने के उपरान्त नेपाल, श्रीलंका और मलय प्रायद्वीपो तक भारत के सुसम्बन्धों को योजित किया। गुप्तों ने अपने प्रबल पराक्रम से यवन, पल्लव, शक, कुषाण, आभीर, गुर्जर, हूण आदि विभिन्न जातियों को पराजितकर एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया।

श्रीगुप्त

इस महान् साम्राज्य के प्रतिष्ठाता का नाम श्रीगुप्त था। उससे सम्बन्धित शिलालेखों में उसे 'महाराज' की संज्ञा दी गयी है। चीनी भिक्षु ईत्सिंग ने लिखा है कि श्रीगुप्त ने चीनी यात्रियों के रहने के लिए 'मृगशिखा वन' नामक एक बिहार का निर्माण कराया था। इससे अधिक उसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। उसने सम्भवत: 275-300 ई० तक शासन किया।

घटोत्कचगुप्त

श्रीगुप्त के बाद उसका पुत्र घटोत्कचगुप्त गद्दी पर आरूढ़ हुआ। वह भी अपने पिता की भाँति 'महाराज' शब्द से अभिहित होता रहा। उसके उन्नीस वर्ष के लम्बे शासन मे कोई उल्लेखनीय घटना नही है। उसने 300 ई० से लेकर 319 ई० तक शासन किया।

चन्द्रगुप्त प्रथम

घटोत्कचगुप्त की मृत्यु के बाद उसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। उसके पूर्ववर्ती दो शासको ने केवल 'महाराज' शब्द का ही प्रयोग किया; किन्तु अभिलेखों मे चन्द्रगुप्त प्रथम का 'महाराजाधिराज' के सम्मान्य विशेषण से उल्लेख हुआ है। उसके कार्यों के अनुरूप उसका यह सम्बोधन सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। उसने गुप्त साम्राज्य की कीर्ति को दिग्दिगन्तर में फैलाकर उसे भारतीय इतिहास मे गौरवान्वित किया। नेपाल मे उसने गणतन्त्र शासन की नींव डाली। चन्द्रगुप्त ने लिच्छवीराज 13वें राजा वृषदेव की कन्या के साथ विवाह किया। लिच्छवीवश की उस काल में बड़ी ख्याति थी। इस विवाह-सम्बन्ध को अपनी प्रतिष्ठा का विषय समझकर उसने नये स्वर्णिम सिक्के ढलवाये और उन पर अपनी तथा लिच्छवीपुत्री कुमारदेवी के चित्र अंकित करवाये।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने मगध से प्रयाग और साकेत (अयोध्या) तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसने अपने वंश की स्मृति में गुप्त सम्वत् का प्रवर्तन किया, जिसका आरम्भ 26 फरवरी, 320 से 15 मार्च, 321 ई० के बीच में माना जाता है। उसने 319-335 ई० तक लगभग 15-16 वर्षों तक शासन किया।

समुद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त गद्दी पर बैठा। कई भाइयों (तुल्यकुलजाः) के बीच उम्र में वह सबसे बड़ा था। समुद्रगुप्त बड़ा प्रतापी एवं पराक्रमी शासक हुआ। उसने अश्वमेध यज्ञ किया और उसकी स्मृति में 'अश्वमेधपराक्रमः' का वीरुद अंकित करवाकरस्वर्ण मुद्राएँ चलवायी। भागवत धर्म के पुनरुद्धारक का प्रतीक गरुड़ भी उसकी मुद्राओं पर अंकित है। विद्वानो ने समुद्रगुप्त को परम वैष्णव की संज्ञा दी है।

उसके प्रतापी एवं पराक्रमी व्यक्तित्व का परिचय उसके दिग्विजय अभियानों से सिद्ध होता है। प्रयाग के किले में स्थित अशोकस्तम्भ पर अंकित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में लगभग छह राज्यों को परास्तकर वहाँ अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का उल्लेख हुआ है। इस प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि उसके शासन की सीमाएँ उत्तर में गढ़वाल-कुमायूं तक, दक्षिण में महाकान्तार, कोराल तथा काँची तक, पश्चिमोत्तर में पंजाब तथा सीमाप्रान्त तक और पूरब में बिहार, बंगाल तथा कामरूप तक फैली हुई थी। भारत के बाहर नेपाल, श्रीलंका और मलय प्रायद्वीप तक उसने अपने सम्बन्धों को स्थापित किया था। प्रयाग की ऐतिहासिक प्रशस्ति को 360 ई० में उत्कीर्णित कराया गया था। इस लेख का निर्माता कवि हरिषेण था। समुद्रगुप्त केवल एक कुशल राजनीतिक एवं महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ही नहीं था, अपितु वह काव्य-कलानुरागी तथा बड़ा विद्वान् भी था। अपने काव्य-कौशल के कारण वह 'कविराज' के वीरुद से विभूषित था। इसी प्रकार अपनी विद्वता से उसने देवगुरु बृहस्पति को भी मात कर दिया था। संगीत कला में वह इतना दक्ष एवं पारंगत था कि तुम्बुरु और नारद सदृश संगीताचार्य भी उसके सामने झुक जाते थे। समुद्रगुप्त की वीणा शैली की स्वर्ण मुद्राओं में उसे वीणा बजाता दिखाया गया है। वह विद्वान् और कलाविद् होने के साथ विद्वानों, कवियों और कलाकारों का आश्रयदाता था। उनको सम्मानित करने में वह अपने को धन्य मानता था।

गुप्त साम्राज्य के इस यशस्वी शासक ने 40 वर्ष (335-375 ई० तक) शासन किया।

रामगुप्त

दिग्विजयी समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त गुप्तवंश का उत्तराधिकारी हुआ। अपने यशस्वी एवं प्रतापी पिता का कोई भी गुण उसमें अंकुरित नही हुआ।

वह बड़ा भीरु एवं दुर्बल स्वभाव का शासक था। उसकी इन दुर्बलताओं का लाभ उठाकर पराजित शकों ने पुनः संगठित होकर उस पर आक्रमण कर दिया, जिससे भयभीत होकर उसने आक्रान्ता शकराज से तत्काल ही सन्धि कर ली। सन्धि की शर्तों के अनुसार उसने अपनी रानी ध्रुवदेवी को शकराज को सौंप देना स्वीकार कर लिया। उसके इस चारित्रिक अधःपतन और कुल को लांछित करने वाले पतित कार्य को उसका कनिष्ठ भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय सहन न कर सका। उसने कपट से शकराज के स्कन्धावार में प्रवेशकर मदिरा तथा अन्य क्रीड़ाओं और रंगरेलियों में मस्त शकराज का वधकर ध्रुवदेवी का उद्धार किया। इसी युद्ध में रामगुप्त भी मारा गया। गुप्तवंश के इस गौरव ने राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया और अपनी विधवा भाभी को पत्नी रूप में वरणकर धर्मसम्मत सामाजिक औदार्य का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

रामगुप्त के अल्पकालीन शासन के बाद ही चन्द्रगुप्त द्वितीय 375 ई० में सिंहासन पर बैठा। वह ऐसे समय सिंहासन पर बैठा, जब गुप्तवंश के विनाश के लिए तत्पर शकराज अनेक सघराज्यो का सगठनकर उत्तर-पश्चिम को स्वायत्त करता हुआ मगध की ओर बढ रहा था। इसी बीच चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने साम्राज्य का सम्बन्ध पश्चिम सीमा पर स्थित वाकाटक राज्य से कर लिया। उसने वाकाटक नरेश पृथ्वीसेन से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। उसके सहयोग से वह पूरी शक्ति के साथ आगे बढ़ता हुआ शकों की बलवती सेना पर टूट पड़ा। शकों को ध्वस्त करने के उपरान्त उसने समस्त मालवा, गुजरात और महाराष्ट्र पर भी अधिकार किया। उधर बगाल के विद्रोही सघराज्यो को उसने पराजित किया। पश्चिम की ओर अपनी विजय-ध्वजा फहराते हुए वह पजाब तथा उत्तर में सीमाप्रान्त का भी स्वामी बन बैठा। उसने भारत की चारों दिशाओं में अपने शासन की स्थापनाकर विस्तृत साम्राज्य के स्वामित्व का गौरव अर्जित किया।

इस प्रकार महान् विजेता, अद्भुत शक्तिशाली एव नीतिपरायण भारतीय इतिहास के इस दिनमणि ने शको के उन्मूलन के उपलक्ष्य मे 'शकारि' का

बीरुद धारण किया और असाधारण पराक्रम के फलस्वरूप 'विक्रमादित्य' की उपाधि प्राप्त की। उसने 375-414 ई० तक लगभग 39 वर्षों तक भारत के विशाल साम्राज्य के निष्कण्टक एकाधिपत्य का उपभोग किया।

कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद, ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसका ज्येष्ठ पुत्र कुमारगुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा। अपने पितामह समुद्रगुप्त की भाँति उसने भी अपनी दिग्विजय के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया और इसी उपलक्ष में अपने 'अश्वमेध' अंकित स्वर्णिक सिक्के ढलवाये। उसके प्रताप एवं पराक्रम के परिचायक उसके सिक्कों पर लिखे 'महेन्द्रादित्य' तथा 'शक्रादित्य' बीरुद हैं। उसके शासन की उल्लेखनीय घटना दक्षिण में पुष्यमित्र की विजय है। उसने 414-455 ई० के बीच लगभग 41 वर्षों तक शासन किया।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्कन्दगुप्त उत्तराधिकारी हुआ। अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा करते हुए अपने यशस्वी पूर्वजों की भाँति उसने 'क्षितिपशतपति' (अधिराट्) का सर्वोच्च सम्मान बनाये रखा। उसने मगध के साथ ही उज्जयिनी को भी द्वितीय राजधानी के रूप में महत्त्व प्रदान किया। स्कन्दगुप्त भागवतधर्म का अनुयायी था और उसका पिता भी परम भागवत था (परमभागवतमहाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य पुत्र तत्पादानुध्यातो परमभागवतो महाराजाधिराजः श्रीस्कन्दगुप्तः, बिहारस्टोन पिलर, इन्स्क्रिप्शन ऑफ स्कन्दगुप्त, कोर्प्स इन्स्क्रिप्शन इण्डिकेरम, वाल्यूम 3, प्लेट 12)।

स्कन्दगुप्त के शासनकाल की उल्लेखनीय घटना हूणों का आक्रमण है। हूण मध्य एशिया की घुमन्तू जाति के लोग थे। बाल्ह्री से चलकर आमू दरिया घाटी होते हुए उनके कबीलों ने उत्तर दिशा से हिमालय को पारकर भारत में प्रवेश किया। उन्होंने गुप्त साम्राज्य पर एकाधिक बार प्रबल आक्रमण किये, जिनका स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने निरन्तर प्रतिरोध किया।

स्कन्दगुप्त साहसी और युद्धकुशल शासक था । उसके शासनकाल में साम्राज्य के अनेक भागों से नयी-नयी शक्तियाँ उभरने लगी थी । हूणों के आक्रमण अति प्रबल थे । युद्ध में लड़ते हुए उसने वीरगति प्राप्त की । उसने 455-467 ई०, याने लगभग 12 वर्षों तक शासन किया ।

पुरुगुप्त प्रकाशादित्य

स्कन्दगुप्त के बाद पुरुगुप्त उत्तराधिकारी हुआ । वह स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था । उसके सिक्को पर अंकित 'प्रकाशादित्य' तथा 'विक्रम' वीरुद यद्यपि उसके उच्च व्यक्तित्व के परिचायक हैं; किन्तु उसके पराक्रमी एवं शौर्यपूर्ण कार्यों का कोई पता नही है । उसका शासनकाल 467-475 ई० के बीच था ।

गुप्तवश के उत्तराधिकारी

गुप्त साम्राज्य की वंश-परम्परा का अध्ययन करते हुए ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के बाद से ही उसकी शक्ति, बल, वैभव और प्रभुत्व क्षीण पड़ने लग गया था । पुरुगुप्त नाममात्र का शासक था । सैदपुर भीतरी से प्राप्त एक मुहर पर उसके दो उत्तराधिकारियो नरसिंहगुप्त बालादित्य और कुमारगुप्त द्वितीय के नाम अकित हैं । उनके बाद उत्तरोत्तर क्षीणोन्मुख गुप्तवश की परम्परा बुधगुप्त, भानुगुप्त, विष्णुगुप्त 'चन्द्रादित्य' तथा वैण्यगुप्त 'द्वादशादित्य' तक प्रवर्तित होती रही । उनका सम्मिलित शासनकाल 475-510 ई० के लगभग तक बना रहा ।

गया जिले के अफसाद और शाहबाद जिले के देव बरणार्क नामक दो स्थानों से प्राप्त अभिलेखों में गुप्तवंश के कुछ परवर्ती शासकों के नाम दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—कृष्णगुप्त-हर्षगुप्त-जीवितगुप्त प्रथम-कुमारगुप्त तृतीय-दामोदरगुप्त-महासेनगुप्त और देवगुप्त ।

इन उत्तरवर्ती गुप्त राजाओ ने पहले तो मगध और मौखरियो द्वारा मगध पर अधिकार होने के बाद मालवा मे राजधानी बनायी । यह परम्परा लगभग 7वी शती ई० के आरम्भ तक किसी प्रकार जीवित रही । मालवराज

देवगुप्त को थानेश्वर के राज्यवर्धन ने मारकर गुप्तवंश को सदा के लिए समाप्त कर दिया था।

गुप्त सम्राटों का वंशक्रम

श्रीगुप्त — 275-300 ई०

घटोत्कचगुप्त — 300-319 ई०

चन्द्रगुप्त प्रथम — 319-335 ई०

समुद्रगुप्त — 335-375 ई०

- रामगुप्त प्रथम-375 ई०
- चन्द्रगुप्त द्वितीय-375-414 ई०
  - कुमारगुप्त प्रथम-414-455 ई०
    - स्कन्दगुप्त-455-467 ई०
    - पुरुगुप्त-467-475 ई०
      - नरसिंहगुप्त
        - कुमारगुप्त द्वितीय
          - विष्णुगुप्त
            - वैण्यगुप्त
    - बुधगुप्त-475-495 ई०
      - भानुगुप्त-495-510 ई०

भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग

भारतीय इतिहास में गुप्त साम्राज्य का उल्लेखनीय स्थान है। लगभग तीसरी शती ई० के अन्तिम चतुर्थांश से छठी शती ई० के प्रारम्भ तक, लगभग ढाई-सौ वर्षों तक गुप्त सम्राटो ने भारत पर शासन किया। इस अवधि में भारत का नव-निर्माण हुआ और वह उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा। गुप्तों के सम्पन्न, शक्तिशाली और नैतिक शासन में भारत ने भौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों दृष्टियों से समान उन्नति की। समाज में अनेक प्रकार के उद्योगों, व्यवसायों और शिल्पों का अभूतपूर्व विकास हुआ। इन क्षेत्रों

में देश इतना आगे बढ़ा कि विदेशों तक उसकी ख्याति व्याप्त हुई। यह युग केवल औद्योगिक-व्यावसायिक दृष्टि ही नहीं, अपितु सामाजिक, वैचारिक, साहित्यिक कलात्मक और प्रशासनिक आदि की महान् उपलब्धियों के कारण भारत का अपितु अपने सम-सामयिक विश्व का अग्रणी रहा। इस युग में अनेक कवि, महाकवि, नाटककार और महान् विचारक हुए। गुप्त युग में जहाँ एक ओर हरिषेण, वीरसेन, वत्सभट्टि, वासुल, मातृगुप्त, भर्तृमेण्ठ, शूद्रक, विशाखदत्त, सुबन्धु, भामह और अमरसिंह जैसे गद्यकार, महाकवि, नाटककार, काव्यशास्त्री एवं कोशकार प्रभृति विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की श्री-वृद्धि की; विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण, दिङ्नाग, उद्योतकर, प्रशस्तपाद और शबरस्वामी जैसे सांख्यकार, नैयायिक, वैशेषिक तथा मीमांसाकारों द्वारा दर्शनविद्या का सर्वांगीण निर्माण हुआ; इसी प्रकार आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर जैसे विश्रुत ज्योतिषशास्त्री हुए; वहाँ दूसरी ओर हिन्दू धर्म के मूल स्रोत पुराणों का प्रतिसंस्करण हुआ, तथा धर्म-अनुशासन-न्याय की प्रवर्तक 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'पराशरस्मृति', 'नारदस्मृति', 'बृहस्पतिस्मृति' और 'कात्यायनस्मृति' जैसी उच्चकोटि की विधि-विधायिका कृतियो का निर्माण और उन पर बृहद् भाष्यो की रचना हुई। संस्कृत-साहित्य की गौरवाभिवृद्धि का यह स्वर्ण युग वस्तुतः भारतीय इतिहास के नवोत्थान का विधायक रहा है। इस युग में देश के विभिन्न क्षेत्रो में ऐसे कला-प्रतिष्ठानों का निर्माण एवं पुनरुद्धार हुआ, जिनकी अद्वितीयता एव ऐतिहासिक गरिमा आज भी बनी हुई है। साहित्य के साथ कला का समन्वय होकर भारत में और सुदूर द्वीपान्तरों में अनेक साहित्य-कला के संगमो की प्रतिष्ठा हुई। साहित्य की अपूर्वता एवं गरिमा को कला मे मूर्त किया गया और उनकी भव्यता एवं विलक्षणता को देखने के लिए सुदूर देशो के लोग भारत आये।

इस प्रकार गुप्तों ने अपने सुशासन मे भारत को बृहत्तर भारत में परिणत कर एक ओर तो राष्ट्रीय जीवन में भावात्मक एकता को सुदृढ़ किया और दूसरी ओर एशिया के उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण के द्वीपान्तरों में भारत की गरिमा को प्रचारित एवं प्रतिष्ठित किया। उन्होने सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों से अनेक द्वीपान्तरो में अपने दूतों एवं विद्वानो को भेजा और बाहरी देशों के दूतों तथा विद्वानों को भारत आमन्त्रित किया। भारतीय विद्वान् भिक्षु चीन तथा इंडोनेशिया गये और वहाँ उन्होंने संस्कृत के ग्रन्थों का व्यापक रूप से अनुवाद किया। इसी युग में चीनी यात्रियों ने भारत की यात्राएँ की और यहाँ की सांस्कृतिक अम्युन्नति पर अपने विचार व्यक्त किये।

इसी समय द्वीपान्तरों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना होकर वृहत्तर भारत का निर्माण हुआ। यही वह समय था, जबकि नालन्दा, श्रीविजय, अनुराधापुर और द्वारावती के विश्वविद्यालयों में बौद्ध-साहित्य और भारतीय विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन का कार्य हुआ और वहाँ के अध्येताओं द्वारा, विशेष रूप से दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में संस्कृत का अभूतपूर्व प्रचार-प्रसार हुआ। इस सामञ्जस्य एवं आदान-प्रदान से अविकसित भौतिक तथा बौद्धिक क्षेत्र उन्नत हुए। कला-विकास की दृष्टि से भी इस युग की उल्लेखनीय उपलब्धि है। इसी युग में सारनाथ, मथुरा, अजन्ता में कला के महान् केन्द्र स्थापित हुए। इस प्रकार गुप्तों द्वारा शासित भारत निरन्तर ढाई-तीन सौ वर्षों तक विद्या और संस्कृति की ज्योति से ज्योतित होता रहा।

गुप्त सम्राटों का संस्कृतानुराग

गुप्त युग में संस्कृत भाषा को अपूर्व सम्मान प्राप्त हुआ। गुप्त सम्राटों की संस्कृतप्रियता के कारण संस्कृत-साहित्य के अनेक अछूते विषयों पर ग्रन्थ निर्माण हुआ। गुप्तो से पूर्व भी सातवाहनों तथा शुंगों ने संस्कृत के विकास-विस्तार के लिए विशेष प्रयत्न किये। अपने अभिलेखों और राजाज्ञाओं के लिए उन्होंने संस्कृत का ही उपयोग किया-शुंगों ने तो सस्कृत को राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित किया। शुंगों के अनुकरण पर क्षत्रपो ने भी संस्कृत को प्रश्रय दिया। महाक्षत्रप रुद्रदामन् का शक सं० 72 (150 ई०) का जूनागढ अभिलेख उसकी संस्कृतप्रियता का द्योतक है। इन पूर्ववर्ती प्रयत्नों के बावजूद साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। इस दृष्टि से गुप्त युग का अपूर्व एवं अतुलनीय योगदान रहा।

गुप्त युग की उल्लेखनीय विशेषताओं में भाषा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। गुप्तों ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित एवं प्रतिष्ठित किया। गुप्त साम्राज्य के लगभग ढ़ाई-सौ वर्षों बाद भारत में आये चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग ने गुप्तयुगीन भारत की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए ब्राह्मण-बौद्धों तथा जन सामान्य द्वारा प्रयुक्त संस्कृत का सर्वाधिक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय भाषा के रूप में उल्लेख किया है। गुप्त युग में परम्परागत पालि तथा प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ले लिया था और समस्त राष्ट्र में दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में उसका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

गुप्त युग में संस्कृत भाषा की इस उन्नति एवं लोकप्रियता का कारण यह भी था कि गुप्त सम्राट् स्वयं कला-मर्मज्ञ और संस्कृतज्ञ थे। समुद्रगुप्त संस्कृत भाषा मे सहज गति रखता था। उसकी काव्यमर्मज्ञता के कारण ही उसे 'कविराज' बीरुद से विभूषित किया गया था। संस्कृत की शिक्षा का सुप्रबन्ध करने के लिए उन्होंने मठों तथा संघारामो में विद्वानों की नियुक्ति की। इन के अतिरिक्त नये शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना भी की गयी। उनमें नालन्दा महाविहार का नाम उल्लेखनीय है, जो कि गुप्तकाल में न केवल भारत, किन्तु एशिया महाद्वीप मे संस्कृत के अध्ययन का सर्वोच्च विद्या-केन्द्र था। संस्कृत के जन-सामान्य में प्रचार-प्रसार के लिए गुप्तो ने अपने स्वर्णिम सिक्कों पर संस्कृत भाषा के लेख ही अंकित करवाये। अपने शिलालेखों, ताम्रपत्रों और प्रशस्तियों को संस्कृत मे उत्कीर्णित कराके एक ओर तो उन्होने अपना गहन संस्कृतानुराग व्यक्त किया तथा दूसरी ओर समाज को सस्कृत-ज्ञान के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया।

उक्त उदाहरणो से सस्कृत भाषा के प्रति गुप्त शासकों की सहज अभिरुचि का पता चलता है। संस्कृत की अभ्युन्नति के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' का शासन विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। वह स्वयमेव विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके नवरत्नों के सम्बन्ध मे परम्परा से अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। ये नवरत्न वस्तुत कौन थे, इस सम्बन्ध मे आज भी अनिश्चितता की स्थिति बनी हुई है, क्योकि उनके अन्तर्गत जिन नामो का उल्लेख किया गया है, ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी समकालीनता सिद्ध नही होती है।

बौद्धों का संस्कृतानुराग

गुप्त युग की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि गुप्त शासकों की उदार नीति के कारण सर्व प्रथम व्यापक रूप से बौद्धों ने अपने साहित्य के लिए संस्कृत भाषा को अपनाया। गुप्त साम्राटो ने एक ओर तो परम्परा से प्रचलित प्राकृत तथा पालि लोक-भाषाओं को, जो कि विगत कई सौ वर्षों तक साहित्य निर्माण का माध्यम भी बनी रही, उचित संरक्षण प्रदान करते हुए संस्कृत को वरीयता दी और दूसरी ओर बौद्ध लोक-विश्वासों तथा उनकी धार्मिक मान्यताओ को ब्राह्मणधर्म के अन्तर्गत समेट लिया। बुद्ध को दस अवतारो में परिगणितकर उन्हे देवत्व की कोटि में प्रतिष्ठित किया गया, जिससे बौद्ध विश्वासी समाज ब्राह्मणधर्म के प्रति सहज ही में निष्ठावान् हो

गया। ईसा की प्रथम शती में महायानधर्म के उदय के बाद बौद्ध और ब्राह्मण धर्म एक-दूसरे के निकट आये। इस कारण देश भर में देवतावाद की भावना प्रसारित हुई। बौद्धधर्म में संसार-त्याग और जीवन के प्रति उदासीनता को वरणकर मठों तथा जंगलों में चले जाने का जो कठिन मार्ग अपनाया गया था, महायान ने उसको समाप्त कर दिया। महायान के कारण कारुणिक बोधिसत्त्वों की अवतारणा होकर समाज में सांसारिक जीवन के प्रति सक्रियता का भाव उत्पन्न हुआ और व्यक्तिगत उद्धार की जगह समष्टिगत शाश्वत मान्यताओं को बल मिला। इसका प्रभाव ब्राह्मणधर्म पर भी परिलक्षित हुआ। ब्राह्मणधर्म ने बौद्धधर्म के आत्मत्याग, सेवा और करुणा के महान् उद्देश्यों को पूर्ण निष्ठा के साथ अपना लिया और इस प्रकार बौद्धधर्म के समस्त मानवोपयोगी उच्चादर्श समन्वित होकर ब्राह्मणधर्म का अभूतपूर्व विकास हुआ। इस परिस्थिति को उत्पन्न करने का श्रेय गुप्त युग को ही है।

अतीत की अनेक शताब्दियों से जैन-बौद्धों की संस्कृत के प्रति जो द्वेष एवं विरोध की भावना चली आ रही थी, यद्यपि गुप्त युग से पूर्व उसको मिटाने के लिए समय-समय पर अनेक प्रयत्न हुए; किन्तु वे पूर्ण रूपेण सफल नही रहे। गुप्त शासकों की उदार और समन्वयात्मक व्यवस्था के कारण जैन-बौद्धो की प्रतिरोधात्मक प्रवृत्तियो का सर्वथा अन्त ही नही हुआ, अपितु भाषाओं के प्रति जो विशेष मोह और साम्प्रदायिक संकीर्णताएँ बनी हुई थीं, वे भी विलुप्त हुई। जैन-बौद्ध विद्वानो मे परम्परागत ब्राह्मणत्व का विरोध समाप्त हुआ और उन्होंने प्राकृत-पालि के स्थान पर संस्कृत को अपनी ग्रन्थ-रचना का विषय बनाया। वसुवन्धु, असग और दिङ्नाग जैसे बौद्ध दार्शनिको ने एकमात्र संस्कृत को अपनाया। ब्राह्मण विचारको के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए जैन बौद्धों ने सस्कृत में एक ओर तो मौलिक कृतियों का निर्माण किया और दूसरी ओर समस्त भाष्य एवं टीकाओ के लिए भी संस्कृत को ही अपनाया गया। गुप्त युग ही बौद्ध न्याय के निर्माण का एकमात्र समय रहा है। इसी युग में जैनधर्म के आधारभूत आगम-ग्रन्थ लिपिबद्ध हुए और जैन न्याय का क्रमबद्ध रूप में संकलन हुआ। इस युग के जैनाचार्यों में सिद्धसेन, दिवाकर, जिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि, समन्तभद्र और देवनन्द का नाम उल्लेखनीय है।

आत्मवादी बौद्ध विचारकों ने वेदान्त के अद्वैत तत्त्व को अपने विभिन्न वादो में अनेक प्रकार से अभिव्यक्त किया। यही कारण है कि आचार्य गौडपाद जैसे वेदान्ती ने बौद्धों के माध्यमिक और योगाचार के सिद्धान्तों को उसी रूप में ग्रहण किया, जिस रूप में नागार्जुन, वसुबन्धु और दिङ्नाग उन्हें प्रतिष्ठित

कर चुके थे। सम्भवतः इसी सैद्धान्तिक एवं वैचारिक एकता के कारण आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया, क्योंकि जहाँ शंकराचार्य ने बौद्धधर्म के अनुयायियों को वाह्यासक्त विचारको की कोटि में परिगणित किया है, वहाँ बुद्ध के एकमात्र लक्ष्य ज्ञान (बोधि) की प्राप्ति पर बल दिया और उसे उसी रूप में स्वीकार किया।

संस्कृत साहित्य का नवोत्थान

गुप्त युग में ज्ञान, विज्ञान और शिल्पविद्या की सर्वथा नयी शाखाओं का निर्माण होकर संस्कृत-साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ। स्वेच्छित सुविधाओं को प्राप्त कर सर्वथा अनुकूल परिस्थितियो से प्रभावित होकर देश के साहित्य-निर्माताओं ने साहित्य की अनेक नयी विधाओं का सृजन किया। जहाँ एक ओर वैचारिक दृष्टि से दर्शन की अनेक शाखाओं का सृजन होकर वेदान्त तथा बौद्ध दर्शनों मे एकता स्थापित हुई, वही दूसरी ओर काव्य, महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य और कथा-कहानियो का भी व्यापक स्तर पर सृजन हुआ। उसके साथ ही ज्योतिष और आयुर्वेद सदृश वैज्ञानिक विषयो पर भी नये दृष्टिकोण से विचार हुआ। पुरातन सिद्धान्तो का व्याख्यान होकर नये प्रयोगो की स्थापना हुई। साहित्य की उक्त नवीन विधाओ को समाजोपयोगी नयी भूमिकाओ से संजोया गया। व्यावहारिक जन-जीवन को साहित्य में उतारा गया और इस प्रकार जन-सामान्य से साहित्य का सम्बन्ध जोडा गया। भास, अश्वघोष, कालिदास और शूद्रक आदि कवि-नाटककार अपनी कृतियों में अपने-अपने समय के समाज की सजीव एव मर्मस्पर्शी झाँकियाँ पहले ही उतार चुके थे, जिनका जन-जीवन पर गहरा प्रभाव था।

दर्शनशास्त्र

भारत के चिन्तन और विचार की गहन गवेषणा के स्रोत षड् दर्शन हैं। श्रुतिकालीन तर्कमूलक तत्त्वज्ञान ही भारतीय दर्शनविद्या का मूल और प्रज्ञामूलक तत्त्वज्ञान ही उपनिषद्विद्या का आधार है। भारत मे इस दर्शनविद्या का उत्तरोत्तर ऐतिहासिक विकास तीन रूपों मे हुआ : सूत्र, भाष्य और वृत्ति। इस विकास-शृङ्खला में भाष्य युग का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उसके द्वारा भारतीय दर्शनविद्या की विभिन्न शाखाओं का निर्माण हुआ और विश्व में उसकी ख्याति प्रसारित हुई। भाष्य-ग्रन्थों के निर्माण का एकमात्र समय गुप्त युग रहा है। गुप्त युग में न्याय, वैशेषिक, सांख्य और पूर्व मीमांसा दर्शन पर गम्भीर भाष्य-कृतियों का सृजन हुआ।

न्यायदर्शन के प्रवर्तक महर्षि अक्षपाद गौतम (500 ई० पूर्व) के न्यायसूत्र पर प्रथम प्रामाणिक भाष्य वात्स्यायन या पक्षिलस्वामी ने लिखा। वात्स्यायन का समय तीसरी-चौथी शती ई० के बीच है। सम्भवतः वे घटोत्कचगुप्त या उसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम के समकालीन थे। बौद्ध न्याय के सर्वोच्च विद्वान् दिङ्नाग और वसुबन्धु का भी लगभग वही समय है। दिङ्नाग ने वात्स्यायन-भाष्य के खण्डनार्थ 'प्रमाण समुच्चय' की रचना की थी। दिङ्नाग के लगभग सौ वर्ष बाद उद्योतकर (600 ई० के प्रारम्भ) ने 'न्यायवार्तिक' की रचनाकर दिङ्नाग के आक्षेपों को निरस्त किया। उद्योतकर सम्भवतः भानुगुप्त (495-510 ई०) के शासनकाल में हुआ। असंग और वसुबन्धु दोनों सहोदर भी गुप्तयुग के ही थे। वसुबन्धु, सम्राट् समुद्रगुप्त के अन्तरंग मित्रों में से था।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद कश्यप का 'कणादसूत्र' पूर्व-गुप्त काल की रचना है। किन्तु उसके प्रथम प्रामाणिक भाष्यकार प्रशस्तपाद गुप्त युग (सम्भवतः समुद्रगुप्त के समय) मे हुए। उनके भाष्य-ग्रन्थ का नाम 'पदार्थ-धर्म-सग्रह' या 'प्रशस्तपाद-भाष्य' है।

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल का 'सांख्यसूत्र' उपनिषत्कालीन ग्रन्थ है। गुप्त युग मे इस दर्शन शाखा की विशेष उन्नति हुई; अपितु यो कहा जाय कि सांख्य दर्शन के निर्माण का एकमात्र श्रेय गुप्त युग को है, तो अनुचित न होगा। उस पर मौलिक तथा भाष्य, दोनों प्रकार के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना हुई। गुप्त युग के प्रमुख सांख्यकारों में विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण, माठर और गौड़पादाचार्य का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने छठी शती ई० में वसुबन्धु का जीवन चरित लिखा। उसमे उल्लेख है कि तत्कालीन अयोध्या नरेश विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के समय वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र तथा आचार्य विन्ध्यवासी के बीच शास्त्रार्थ हुआ था। उसमें बुद्धमित्र पराजित हुए। इस सफलता के उपलक्ष्य मे साहित्यानुरागी विक्रमादित्य ने विन्ध्यवासी को तीन लाख सुवर्ण मुद्राएँ प्रदानकर सम्मानित किया था। बाद मे विन्ध्यवासी के 'सांख्यशास्त्र' के खण्डनार्थ बुद्धमित्र के शिष्य वसुबन्धु ने 'परमार्थसप्तति' की रचना की थी।

गुप्तयुगीन अन्य सांख्यकारों में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका', का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भिक्षु परमार्थ ने 557-569 ई० के बीच उसका चीनी-भाषा में अनुवाद किया और उसका चीनी नाम दिया 'हिरण्यसप्तति' या

'सुवर्णसप्तति'। तिब्बती-परम्परा के अनुसार ईश्वरकृष्ण और वसुबन्धु में शास्त्रार्थ हुआ था। अन्य गुप्तयुगीन सांख्यकारो में माठर की 'माठरवृत्ति' और गौड़पादाचार्य का 'सांख्यकारिका-भाष्य' उल्लेखनीय है।

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि के 'मीमांसासूत्र' के प्रथम एवं एकमात्र प्रामाणिक भाष्यकार शबरस्वामी गुप्तयुगीन दार्शनिक थे। उनके भाष्य का नाम 'द्वादशलक्षणी' है। मीमांसा दर्शन के परवर्ती विकास का एकमात्र आधार यही ग्रन्थ रहा है। शबरभाष्य के प्रमुख तीन टीकाकार हुए—कुमारिल भट्ट, प्रभाकर और मुरारी मिश्र, जिन्होंने क्रमशः भाट्टमत, गुरुमत और मुरारिमत के नाम से साख्य दर्शन का विकास किया।

योग दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि हुए, जिनके 'योगसूत्र' के एकमात्र भाष्यकार व्यास का समय चौथी शती ई० है। 'व्यासभाष्य' भारतीय दर्शन का एक ऐसा प्रौढ एवं गम्भीर ग्रन्थ है, जिसका प्रभाव दर्शन की समस्त शाखाओ पर परिलक्षित हुआ।

वेदान्त दर्शन के क्षेत्र मे गुप्त युग के योगदान का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नही है; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्तसूत्रो के टीकाकार बोधायन, भर्तृप्रपच, दाडिमाचार्य, उपवर्ष, भास्कर और ब्रह्मघोष आदि वेदान्ती गुप्त युग मे हुए। इतना निश्चित है कि वे शकराचार्य के पूर्ववर्ती थे।

विज्ञान साहित्य

गुप्त युग के साहित्य-निर्माण में ज्योतिष और आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक विषयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस युग के गणितज्ञो मे आर्यभट्ट (476 ई०) और वराहमिहिर (495 ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आर्यभट्ट का शून्य तथा दशमलव सिद्धान्त न केवल भारत, अपितु विश्व के वैज्ञानिको के लिए सर्वथा नयी देन थी। इसी प्रकार वराहमिहिर ने यूनानी और भारतीय ज्योतिष का समन्वय करके 'रोमक' तथा 'पोलिश' नाम से नये सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की, जिनसे भारतीय ज्योतिष का महत्त्व बढ़ा। वराहमिहिर के सम्बन्ध में विद्वानो का कहना है। कि "उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'बृहज्जातक' विज्ञान और कला का विश्वकोश है।" इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के जनक ब्रह्मगुप्त का नाम विश्व-इतिहास के शीर्षस्थ गणितज्ञो मे है।

इसी प्रकार गुप्तयुगीन अन्य ज्योतिर्विदो में विक्रमभट्ट के पुत्र लल्लाचार्य (421 ई०), होराशास्त्र पर 'सारावली' नामक जातक-ग्रन्थ के रचयिता कल्याण

वर्मा (600 ई०) और वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशा (600 ई०) का नाम भी उल्लेखनीय है। इस युग के जैन ज्योतिर्विदों में कालकाचार्य (300 ई०), सर्वनन्दि, सिंहसूरि और यतिवृषभ (तीनों का समय 400 ई० के लगभग) ने भी भारतीय ज्योतिष के उन्नयन में योगदान किया।

ज्योतिष और आयुर्वेद, दोनों विषयों का नालन्दा विश्वविद्यालय में विधिवत् अध्यापन होता था। चीनी-यात्री ईत्सिंग (673-685 ई०) ने तत्कालीन भारत में प्रचलित आयुर्वेद की आठ शाखाओं का उल्लेख किया है। उसने यह भी लिखा है कि आयुर्वेद के आचार्यों को राजकीय चिकित्सालयों में सम्मानित स्थान दिया जाता था। प्रसिद्ध रसायनशास्त्री एवं धातु-विज्ञानवेत्ता नागार्जुन गुप्त युग की ही देन था, यद्यपि उसका सम्बन्ध सातवाहन साम्राज्य से भी बना रहा। आयुर्वेद का विद्वान् दृढवल वाग्भट भी इसी युग में हुआ था।

पुरुषार्थ साहित्य

ऐहिक जीवन के उपयोगी पुरुषार्थ साहित्य मे अर्थ, नीति और काम विषयो पर भी गुप्त युग मे ग्रन्थो का निर्माण हुआ। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन शिवरस्वामी का 'कामन्दकीय नीतिसार' वस्तुतः शुक्र कृत 'शुक्रनीतिसार' का ही सस्करण है, जिसमे अर्थ, काम और नीति, तीनो विषयो का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। उसका मूल आधार कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है। कामशास्त्र का एकमात्र गौरवग्रन्थ 'कामसूत्र' का निर्माण भी गुप्त युग मे हुआ। (सोशल लाइफ इन ऐश्येंट इण्डिया, कलकत्ता)। कुछ विद्वानो ने 'कामसूत्र' में उल्लिखित किसी सातवाहन या आन्ध्रभृत्यवंश के राजा का उल्लेख होने से वात्स्यायन को सातवाहन युग का सिद्ध किया है। किन्तु उसका सम्बन्ध गुप्त युग से न बताना इतिहास की अवहेलना करना है। वास्तव मे वात्स्यायन ऐसे समय हुए, जिसमे सातवाहन शासन का अन्त और गुप्तशासन का उदय हो रहा था। इस प्रकार उसके 'कामसूत्र' पर इन दोनो युगो के समाज का समान रूप से प्रभाव है।

वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में जीवन के अभिन्न अंग प्रणय-सम्बन्धो की आदर्शमयी अवतारणा की है। सातवाहनों और विशेष रूप से गुप्तो द्वारा शासित समाज की सौन्दर्यपूर्ण एवं सरस भूमिका का सजीव चित्रण करने में वात्स्यायन सर्वथा सफल हुआ है। 'कामसूत्र' से प्रभावित होकर गुप्तयुगीन साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में यौन सम्बन्धों के ज्ञान के साथ-साथ प्रेम

की परिणति को बड़ी निपुणता एवं सतर्कता से उतारा है। उन्होंने काम को चतुर्वर्ग के साधनों की मर्यादा में और प्रणय को अनुशासन के आदर्श में ग्रहण कर दोनों में संयम का आधान किया है। काम और प्रणय की संयमित परिणति विवाह की स्थापना में है; दाम्पत्य सम्बन्ध में है; जैसा कि वात्स्यायन का मूल उद्देश्य रहा है। काम पुरुषार्थ की इस भारतीय मान्यता को दृष्टि में रखकर यहाँ के कवियों और नाटककारों ने अपने काव्य-नाटकों तथा कथा-उपाख्यानों में प्रणय सम्बन्धों की रचना एकमात्र इस उद्देश्य से की है कि उनके द्वारा एक आदर्श दाम्पत्य जीवन का निर्माण हो सके।

धार्मिक साहित्य

गुप्त सम्राट् मुख्यतः भागवतधर्म के अनुयायी थे। इसलिए हिन्दूधर्म अपने व्यापक परिवेश मे उन्नतावस्था में था। हिन्दूधर्म के आचार-विचारों एवं कर्म-संस्कारो के प्रतिपादक अनेक मौलिक ग्रन्थो का इस युग में निर्माण हुआ और अनेक परम्परागत ग्रन्थों का संकलन, सम्पादन तथा पुनः संस्करण हुआ। इस प्रकार के ग्रन्थों मे स्मृतियों और पुराणों का नाम उल्लेखनीय है।

गुप्त युग धर्मसूत्रों का व्याख्यान युग रहा है। धर्मसूत्रो के व्याख्यान श्लोकबद्ध स्मृतियो मे 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'पराशरस्मृति', 'बृहस्पतिस्मृति' और 'कात्यायनसूत्र' का नाम प्रमुख है। उन्ही के विधि-विधानो द्वारा परम्परा से व्यापक हिन्दू समाज व्यवस्थित एवं अनुशासनबद्ध होता आया है। गुप्त युग में इन स्मृति-ग्रन्थों का पुनः संस्कार हुआ और उनमे समाज की विकसित परिस्थितियो के अनुसार नये प्रक्षेप जुड़े (काणे—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० 210)।

धार्मिक साहित्य के निर्माण में पुराणों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पुराण भारतीय आचारशास्त्र और समाजशास्त्र के विश्वकोश हैं। पुराणों का निर्माण, सकलन, सम्पादन और पुनःसंस्कार वैदिक युग से लेकर लगभग अठारहवी शती ई० तक होता रहा। गुप्त युग में भी कतिपय पुराणों का पुनः संस्करण हुआ। 'स्कन्दपुराण' के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा जाता है कि उसका नामकरण गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के नाम के हुआ (डॉ० पी० के० आचार्य—डिक्शनरी ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर, पृ० 310)। वायु, भविष्य, विष्णु, भागवत, मत्स्य, स्कन्द और शिव आदि पुराणो मे गुप्तवंश का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है, जिससे स्पष्ट होता है कि गुप्त युग में उनका अवश्य संस्कार हुआ।

उनके कलेवर में काट-छाँट की गयी और अपनी ओर से उनमें कुछ नया भी जोड़ा गया। ठीक यही स्थिति 'महाभारत' की भी रही।

काव्य साहित्य

गुप्तयुगीन काव्य साहित्य में प्रमुख स्थान उन काव्य-कृतियों का है, जो पाषाण खण्डों पर उत्कीर्णित है। 'प्रयाग प्रशस्ति' का निर्माता हरिषेण इस विषय का पहला कवि है। हरिषेण, सम्राट् समुद्रगुप्त की विद्वत्सभा का अग्रणी विद्वान्, उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ और न्यायाधीश था। इस कवि द्वारा रचित समुद्रगुप्त की महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति इलाहाबाद स्थित अशोक की लाट पर उत्कीर्ण है।

गुप्त युग का दूसरा प्रशस्तिकार पाटलिपुत्र निवासी वीरसेन था। वह व्याकरण, दर्शन, राजनीति आदि अनेक विषयों मे पारंगत तथा सिद्धहस्त कवि था। वीरसेन, सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विद्वत्सभा का अमर रत्न और सम्राट् के राजकार्यों का सलाहकार भी था। उदयगिरि की गुफा में उत्कीर्ण प्रशस्ति इन दोनो व्यक्तियो की स्मृति को अमरत्व प्रदान किये वर्तमान है।

मन्दसौर प्रशस्ति का लेखक तीसरा प्रशस्तिकार वत्सभट्टि, सम्राट् समुद्रगुप्त का समकालीन था। यह प्रशस्ति 473 ई० (529 मालव सम्वत्) में उत्कीर्ण की गयी थी। मन्दसौर प्रशस्ति का दूसरा लेखक वासुल था, जिसने मालव नरेश यशोधर्मन् (600 ई०) की प्रशंसा में यह प्रशस्ति लिखी थी। वासुल मालव नरेश का विश्वासपात्र तथा उसकी सभा का विद्वान् था। इसी प्रकार मौखरी नरेश ईशानवर्मा का सभा विद्वान् रविशान्ति की काव्य प्रतिमा हरहा अभिलेख में सुरक्षित है, जिसका रचनाकाल 555 ई० (611 मालव सम्वत्) है।

गुप्त युगीन काव्य-साहित्य के अन्तर्गत दूसरा स्थान उन काव्यकारों, नाटककारों एव कथाकारो का है, जिनकी कृतियो से संस्कृत-साहित्य के विभिन्न अंगो की अभिवृद्धि हुई। इस प्रकार के काव्यकारों में काश्मीरदेशीय मातृगुप्त का नाम प्रथम है, जो सरस्वती और लक्ष्मी दोनो के कृपापात्र थे और राजतरगिणीकार कल्हण ने जिनका भूरि-भूरि गुणगान किया है। उन्ही के आश्रित महाकवि भर्तृमेण्ठ हुए, जिन्होने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य लिखकर संस्कृत में अपना अद्वितीय स्थान बनाया। इन दोनो का समय पाँचवी शती ई०

का पूर्वार्द्ध है। इनके अतिरिक्त गद्यकार सुबन्धु, काव्यशास्त्री भामह और कोशकार अमरसिंह आदि गुप्तकालीन साहित्य-निर्माताओं का नाम उल्लेखनीय है।

भागवतधर्म की पुनः प्रतिष्ठा

गुप्त सम्राट् धर्मनिरपेक्ष शासक थे। वे किस वर्ण या जाति के थे, इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की धारणाएँ हैं। व्यावहारिक रूप में उन्होंने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों, दोनों जातियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। तत्कालीन भारत में अनेक धर्म प्रचलित थे, जिनमें जैन, बौद्ध और शाक्त (कापालिक) के अतिरिक्त हिन्दूधर्म के चार सम्प्रदाय—भागवत, पाशुपत, माहेश्वर और सौर्य प्रमुख थे। इनमें ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीन अधिक व्याप्त थे। इन तीनों धर्मों के सामाजिक, साहित्यिक तथा वैचारिक उत्थान के लिए गुप्तों का समान योगदान रहा। गुप्त साम्राज्य के शान्तिमय वातावरण में अनुकूल परिस्थितियों को प्राप्तकर तत्कालीन भारत मे उक्त सभी धर्म तथा पन्थ पारस्परिक सहयोग एवं आदान-प्रदान के द्वारा निरन्तर विकसित होते रहे।

गुप्तयुगीन विभिन्न धर्मों की उक्त स्थिति के बावजूद यह उल्लेखनीय है कि गुप्तों ने सर्व-धर्म-समन्वय के रूप में भागवतधर्म को ही सामाजिक मंगल का एकमात्र आधार स्वीकार किया। गुप्त युग के सास्कृतिक नव निर्माण के इतिहास मे ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पौराणिक भागवतधर्म का उदय इस पुनरुत्थान की सर्वोत्तम उपलब्धि है।

भारत की धार्मिक परम्परा के इतिहास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि अतीत के सैकडों वर्षों तक मानवतावादी सार्वभौम वैदिकधर्म का इस राष्ट्र पर एकाधिकार रहा; किन्तु एक समय आया, जब कि पशुहिंसा और कर्मकाण्ड के प्रतिबन्धों ने उसकी सर्वमान्यता को संकीर्ण बना दिया। उपनिषदो ने कर्मकाण्ड के विरोध में ज्ञानकाण्ड की स्थापना द्वारा वैदिकधर्म को सकीर्णता से उभारने का प्रयत्न किया; किन्तु उनका शुष्क एवं जटिल ब्रह्मवाद जन-सामान्य की ग्रहणशीलता के अनुरूप सिद्ध न हुआ। वेदो और उपनिषदो की धार्मिक चेतना मे समन्वय स्थापितकर बुद्ध ने उसे नया लोकानुग्राही रूप दिया और जनता ने उसको अपनाया भी। किन्तु बौद्धधर्म के वैराग्य तथा संसारत्याग के भावी अभियान और साथ ही बौद्ध सघारामों तथा उपाश्रयो के वैभव-सम्पन्न जीवन ने जन-सामान्य को उसके प्रति उदासीन बना दिया। इस उदासीनता के अन्य भी कारण थे।

तत्कालीन भारत में प्रचलित जैन और बौद्ध, दोनों धर्मों की लगभग एक ही स्थिति थी। वस्तुतः ये दोनों धर्म अब संस्थागत धर्मों के रूप सिमिटकर रह गये थे। उनके गृहत्याग, वैराग्य, अरण्यवास तथा मठाश्रय ने समाज को दायित्वहीन, निष्क्रिय बना दिया और लोग परम्परा से वरण किये गये वर्णाश्रम तथा तदनुसार नियत अपने-अपने कर्मों से विरत होकर हाथ-पर-हाथ रखे जीवन्मुक्त होने की लालसा से मठों तथा उपाश्रयों मे जीवन बिता रहे थे। वे भीतर से अपनी इस निष्ठा के प्रति स्वयं ही शकालु थे। ठीक इसी समय पौराणिक धर्म का उदय हुआ, जो कि वैदिक धर्म का ही पुनः संस्करण था। पुराणों के इस नये धार्मिक जागरण ने समाज को एक नयी दिशा और प्रेरणा दी। यह प्रेरणा थी स्वाभिमान की, आत्मगौरव की। पुराणों ने क्षत्रियों को देशरक्षा और सामाजिक संगठन की ओर प्रवृत्त एवं उद्‌बुद्ध किया। वैश्यो और शूद्रो को उद्योग-व्यवसायो तथा आर्थिक उन्नति के कार्यो मे लगने के लिए प्रेरित किया। ब्राह्मणो ने धर्माध्यक्ष होने का जो मिथ्याडम्बर रचा हुआ था और थोथली मान्यताओं के दम्भ पर लोगों को भुलावे में डालने का स्वांग रचा हुआ था, पुराणो के यथार्थ ने उनके इस भ्रम को दूर कर दिया। पुराणो की ये मान्यताएँ परम्परा पर आधारित होने के कारण परम्परावादी भारतीय समाज को प्रभावित करने मे प्रबल कारगर सिद्ध हुईं।

समाज निष्क्रिय था और पाखण्डों के जाल में अपनी परम्पराओं को भूल बैठा था। देश की इस परिस्थिति का लाभ उठाकर विदेशी शक्तियाँ निरन्तर प्रबल होती जा रही थी। इन परिस्थितियों में विस्मृत स्वाभिमान, गौरव और वीरभाव को उद्दीप्त करनेवाले पुराणों के आख्यानो एवं वृत्तों ने समाज को पतन मे जाने से बचाया और उसे उसकी गौरवशाली परम्पराओ की रक्षा के लिए सचेत किया।

राष्ट्रीय उत्थान एवं सांस्कृतिक जागरण के लिए पौराणिक भागवतधर्म के इस पुनरभ्युदय ने गुप्त साम्राज्य को 'स्वर्णयुग' में बदल दिया।

गुप्तों से पूर्व दक्षिण के शुगों और सातवाहनों ने भी भारत में भागवत-धर्म की गंगा को बहाया था। इस राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए उन्होने इस सार्वभौम धर्म को इतना महत्त्व दिया कि उसे अपने राजधर्म के रूप में घोषित कर दिया। उनके द्वारा देश में सांस्कृतिक समन्वय का जो अभियान चला उसमें हिन्दुओं के अतिरिक्त देश में रहनेवाली यवन, शक तथा यूनानी आदि

जातियाँ भी थी। उनमें भावात्मक एकता स्थापित की। उनके माध्यम से भारत के द्वीपान्तरों में भी मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुए।

शुंगों तथा सातवाहनो के इस धार्मिक नवोत्थान का प्रभाव भारत के आंचलिक छोटे-बड़े राज्यो एवं सामन्त-शासित क्षेत्रो पर भी परिलक्षित हुआ। गुप्तो के सुशासन एव उदार विचारो के फलस्वरूप भारत मे वेदो तथा पुराणों का बहुदेवतावाद पुनः प्रतिष्ठित हुआ। उन्होने अपने सिक्को पर कुछ देवी-देवताओ की आकृतियाँ अंकित करवायी। उनके अभिलेखो मे विष्णु, कुबेर, वरुण, इन्द्र, यम, शिव, सूर्य, कुमारदेव, लोकपाल, नर, किन्नर, विद्याधर और गन्धर्व आदि अनेक देवताओ का सम्पूज्य रूप मे उल्लेख हुआ। उसके प्रभाव मे जनता मे विष्णु, शिव, सूर्य आदि देवताओ के साथ बुद्ध की पूजा-उपासना का व्यापक प्रचलन हुआ।

गुप्तो के शासन मे जैन-बौद्धधर्म एक प्रकार से सस्थागत धर्मो के रूप मे सिमिटकर रह गये थे और हिन्दूधर्म अनेक शाखा-प्रशाखाओ मे पल्लवित होकर अपने चरम विकास की स्थिति मे था। इन दोनो धर्मों को ब्राह्मणधर्म की समन्वयात्मक उदारता ने आत्मसात् कर लिया था और वही ब्राह्मणधर्म हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के विस्तृत भू-भाग मे हिन्दूधर्म के नये नाम से प्रचलित एव प्रतिष्ठित हो चुका था।

नालन्दा विश्वविद्यालय

प्राचीन भारत के ज्ञान-केन्द्रों मे नालन्दा महाविहार का नाम उल्लेखनीय है। भारत मे इस प्रकार के ज्ञान-केन्द्रो की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और व्यापक रूप मे रही है। तक्षशिला, वलभी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, काशी, जालन्धर काश्मीर, पुष्कलावती और कांची इसी प्रकार के विद्यापीठ थे। वहाँ राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था थी। नालन्दा महाविहार इसी प्रकार का विश्वविद्यालय था। इस महाविहार के अवशेष बिहार की वर्तमान राजधानी पटना (पाटलिपुत्र) से 55 मील दक्षिण-पूर्व में बडगाँव के विस्तृत क्षेत्र तक बिखरे हुए मिले हैं। मगध की राजधानी राजगृह से उत्तर-पश्चिम की ओर उसकी दूरी लगभग एक योजन पर्यन्त बतायी गयी है।

नालन्दा बौद्धों तथा जैनों, दोनो धर्मों का महान् केन्द्र था। बुद्ध तथा महावीर के समय नालन्दा एक विशाल एवं प्रसिद्ध नगर के रूप में विद्यमान

था। बौद्धों के निकायों मे उसकी विस्तृत चर्चाएँ हुई हैं। बुद्ध के प्रधान शिष्य उपतिष्य सारिपुत्र का जन्म नालन्दा में ही हुआ था और वही उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उनकी स्मृति में वहाँ एक चैत्य का निर्माण किया गया था। बुद्ध स्वयं वहाँ गये थे। सम्राट् ने भी नालन्दा जाकर सारिपुत्र के चैत्य की पूजा की थी और एक विशाल एवं भव्य स्तूप का निर्माण कराया था।

जैनों के 'कल्पसूत्र' (जैकोबी संस्करण, पृ० 64) में नालन्दा के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। वह इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था कि जैनधर्म के 24 वे तीर्थंकर महावीर स्वामी ने वहाँ लगभग चौदह वर्षों तक निवास किया। इस अवधि में वहाँ जैनो के कई मन्दिर निर्मित हुए, जिनके अवशेष खुदाइयो से उपलब्ध हुए हैं।

चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग और ईत्सिग ने, जो कि सातवी शती ई० में आये थे और कई वर्षों तक यहाँ रहे, विशेष रूप से नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्यों के सान्निध्य मे रहकर ज्ञान प्राप्त किया। अपने यात्रा-वृत्तान्तों में उन्होंने नालन्दा की तत्कालीन स्थिति का स्वानुभूत वर्णन किया है। जिस समय ह्वेन-त्सांग नालन्दा आया था उस समय वहाँ लगभग दस हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे। विश्वविद्यालय मे एक हजार पाँच सौ दस आचार्य-प्राचार्य अध्यापन के लिए नियुक्त थे। बौद्ध-ज्ञान के जिज्ञासु ह्वेन-त्सांग ने नालन्दा के तत्कालीन कुलपति शीलभद्र का शिष्यत्व प्राप्तकर लगभग पांच वर्षों तक एक अन्तेवासी की भाँति विश्वविद्यालय मे जीवन-यापनकर बौद्धधर्म तथा तत्त्वज्ञान का विधिवत् अध्ययन किया था। ह्वेन-त्सांग ने नालन्दा महाविहार को ससार का सबसे बड़ा विद्या-केन्द्र बताया है और वहाँ के आचार्यों की अद्भुत विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हे ज्ञान का प्रदीप्त पुज कहा है।

राष्ट्रीय स्तर पर सचालित नालन्दा बौद्ध विहार को प्रचुर दान देकर उसे महाविहार एवं विश्वविद्यालय स्तर पर उन्नत करने का श्रेय गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त 'शक्रादित्य' (414-455 ई०) को है। उसके बाद बुधगुप्त (475-495 ई०) ने उसका पुनर्निमाण किया। कहा जाता है कि नालन्दा के छमंजले भवन को छह विभिन्न राजाओ ने निर्मित कराया था। नालन्दा के उत्थान और विकास में सर्वाधिक योगदान गुप्त सम्राटों का ही रहा है।

विश्वविद्यालय में अध्ययन हेतु चीन, कोरिया, मगोलिया, जापान, तिब्बत, श्रीलंका और पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीपसमूहों के विद्यार्थी आते थे और ज्ञान-सम्पत्ति लेकर अपने देशो को लौटते थे। विश्वविद्यालय के नियम उदार थे और

तदनुसार सर्व सामान्य के लिए उसमें अध्ययन की सुविधा थी । अन्तेवासी चाहे जिस देश तथा धर्म का हो, उसे नालन्दा विहार में विचार-स्वातन्त्र्य के अधिकार प्राप्त थे ।

उक्त चीनी यात्रियों के विवरणो से ज्ञात होता है कि विश्वविद्यालय में प्रवेश के इच्छुक प्रत्येक छात्र को एक योग्यता परीक्षा देनी होती थी, जो कि विभिन्न विषयों के आचार्यों द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से ली जाती थी । यह परीक्षा अति कठिन हुआ करती थी और उसमें थोड़े-से ही विद्यार्थी सफल हो पाते थे । दस में से केवल दो या तीन सर्वोत्तम विद्यार्थियों को चुना जाता था । किन्तु जो प्रवेशार्थी प्राचीन तथा नवीन विद्या-शाखाओं का ज्ञाता होता था, उसे सरलता से प्रवेश मिल जाता था ।

बालकों के प्रवेशार्थ छह वर्ष की न्यूनतम आयु निर्धारित थी । सभी प्रकार के छात्रों को अपना व्यय स्वयं वहन करना होता था; किन्तु कुछ अध्येताओं के लिए मठ की ओर से भी व्यवस्था होती थी । भिक्षु उनमें प्रमुख थे । आज के गुरुकुल प्राचीन विश्वविद्यालयों के परिवर्तित रूप हैं, यद्यपि अनेक दृष्टियों से वे उतने सर्वांगीण एवं सम्पन्न नहीं हैं ।

विश्वविद्यालय में प्रविष्ट विद्यार्थी को अनेक विषयों की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी । महायान शाखा के अध्यापन की विशेष व्यवस्था थी; किन्तु उसके अतिरिक्त चारो वेद, षड् वेदांग, हेतुविद्या, पुराण, शब्दविद्या (व्याकरण), चिकित्साविद्या, ज्योतिष और ब्राह्मण-बौद्ध-जैन, इन तीनों धर्मों का सम्पूर्ण ज्ञान, इन्द्रजाल (अथर्ववेद), सांख्य, शिल्प-स्थानविद्या (विभिन्न कलाएँ) और अध्यात्मविद्या आदि प्रत्येक विषय के विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा अध्यापन की व्यवस्था थी । भिक्षुओं के लिए विनय के अनुसार कुछ विशेष नियम निर्धारित थे । उनसे खेती नहीं करायी जाती थी, किन्तु उसके बदले दूसरे अनुरूप सेवाकार्य नियत थे । ये भिक्षु अध्येता पाँच विभिन्न श्रेणियों 1. श्रमने (निम्नतम श्रेणी), 2. दहर (लघु भिक्षु), 3. स्थविर, 4. उपाध्याय तथा 5. बहुश्रुत (उच्चतम श्रेणी) में विभाजित थे ।

विश्वविद्यालय के प्रत्येक अन्तेवासी को अपनी प्रतिभा तथा योग्यता को प्रदर्शित करने की पूरी स्वतन्त्रता एवं सुविधा प्राप्त थी । इस हेतु समय-समय पर आचार्यों और छात्रों में पारस्परिक वाद-विवाद की व्यवस्था थी । जो छात्र अपनी तर्कबुद्धि से विशिष्टता प्राप्त करता था, अथवा अनुसन्धान द्वारा

विद्या की किसी नयी धारा को प्रस्तुत करता था, उसका सामूहिक सम्मान किया जाता था।

अनुसन्धान कार्य की सुविधा के लिए विश्वविद्यालय का एक पुस्तकालय था, जिसमें कई सहस्र हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित थी। इस पुस्तकालय के सम्बन्ध में यद्यपि ह्वेन-त्सांग और ईत्सिंग ने कोई प्रकाश नही डाला है; किन्तु जैसा कि तक्षशिला, ओदन्तपुरी, वलभी आदि बौद्ध मठों के विश्वविद्यालयो में सुरक्षित विशाल पुस्तकालयों से ज्ञात होता है, नालन्दा के ज्ञान-केन्द्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग उसका पुस्तकालय भी था। उसमें बौद्ध-साहित्य, तत्त्वज्ञान और शिल्प के प्रामाणिक ग्रन्थ संगृहीत रहे होगे। तिब्बती स्रोतो के अनुसार यह पुस्तकालय एक पृथक् क्षेत्र में स्थापित किया गया था, जिसे कि 'धर्मगंज' नाम से कहा जाता था। उसके तीन प्रमुख अग थे, जिन्हें रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरजक नाम से कहा जाता था। उसके रत्नसागर पुस्तकालय का भवन नौ मजिला था। इसी से नालन्दा के विशाल पुस्तकालय और वहाँ संगृहीत ग्रन्थ-सम्पदा का अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ असम्भव नही है कि वहाँ से समय-समय पर धर्म, संस्कृति और साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु बाहरी बौद्ध देशो मे भी ग्रन्थ भेजे जाते रहे हों। तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान, मंगोलिया, खुत्तन और श्रीलंका आदि विभिन्न एशियायी देशो में सुरक्षित बौद्ध ज्ञान के भण्डारों का प्रेरणास्रोत नालन्दा का यही विशाल ग्रन्थालय रहा होगा। तुर्कों के आक्रमण के समय इस विशाल, बहुमूल्य एवं दुर्लभ पुस्तकालय का ध्वंस हुआ।

नालन्दा के विद्या-वैभव की चर्चा करते हुए, जैसा कि चीनी यात्रियो ने भी विस्मृत कर दिया, तत्कालीन भारत के महान् कृतिकारो का उल्लेख होना नितान्त आवश्यक है। गुप्तकालीन स्वर्णयुग के प्रतीक इन साहित्य-सृष्टाओ में नागार्जुन, बुद्धमित्र, दिङ्नाग, असंग, वसुबन्धु तथा परमार्थ जैसे बौद्ध धर्म-दर्शन के सर्वोच्च विद्वान्; वात्स्यायन, उद्योतकर, प्रशस्तपाद, विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण, गौड़पादाचार्य, शबरस्वामी और व्यासाचार्य जैसे उद्भट दार्शनिक एवं तत्त्ववेत्ता; आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, बल्लभाचार्य कालकाचार्य, और वाग्भट जैसे ज्योतिर्विद् एवं आयुर्वेदज्ञ; शिवस्वामी, हरिषेण, वीरसेन, वत्सभट्टि, मातृगुप्त और सुबन्धु जैसे काव्यकार; भामह जैसे काव्यशास्त्री और अमरसिंह जैसे कोशकार निश्चित ही नालन्दायुगीन भारत के बौद्धिक, वैचारिक एवं

साहित्यिक चरमोन्नति के प्रकाशस्तम्भ और महान् गुप्त शासकों के अमर, कालजयी यश-गौरव के प्रतीक हैं।

कला निर्माण

गुप्त सम्राटों के शासनकाल (300-600 ई०) के तीन सौ वर्षों का समय भारतीय संस्कृति और कला के नव जागरण तथा चरम विकास का स्वर्णयुग रहा है। यद्यपि मौर्यों, शुग-सातवाहनो और कुषाणों के शासनकाल मे भारतीय संस्कृति एवं कला का निरन्तर निर्माण तथा विकास होता रहा और उसमें विश्वजनीन सार्वभौमिकता का दृष्टिकोण उभरता एवं बलवत्तर होता रहा, फिर भी उसका पूर्ण परिपाक और समन्वय गुप्तयग में ही देखने को मिलता है। गुप्त सम्राट् स्वय भागवतधर्म के अनुयायी परम भागवत होते हुए भी धर्मनिरपेक्ष थे। उन्होंने ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनो धर्मों के विभिन्न मतो एवं पन्थो को उनकी निष्ठाओ, परम्पराओ तथा विश्वासो के अनुरूप विकसित होने की समस्त सुविधाएँ प्रदान की। उनके इस धार्मिक औदार्य के कारण एक ओर तो देश के विभिन्न भागों में परम्परागत कला-केन्द्रों के पुनर्निर्माण मे प्रगति हुई और दूसरी ओर कलाकारों तथा शिल्पियों को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त होने के फलस्वरूप नयी कला-शैलियो का निर्माण होकर कला के क्षेत्र मे एक ऐसी भव्यता, कोमलता और सौष्ठवता का उन्मेष हुआ, जिसके प्रभाव की छाप बृहत्तर भारत के भावी कला-निर्माण और सुदूर एशिया की कला-शैलियो पर एक साथ परिलक्षित हुई।

भारत मे प्रचलित सभी धर्मों के अनुयायी साहित्यकारों तथा विचारकों को गुप्त शासको ने प्रोत्साहित किया तथा प्रश्रय दिया और शिक्षा-दीक्षा, चिन्तन-अनुसन्धान के जितने भी ज्ञान-केन्द्र थे उनके संवर्द्धन मे रुचि लेकर उनके नव निर्माण मे सक्रिय योगदान किया। उन्होने बौद्ध मठो, जैन उपाश्रयों और ब्राह्मण मन्दिरो को, जो केवल धर्म के एकागी आश्रय थे, उन्हे विद्यापीठो के रूप मे परिवर्तित किया। नालन्दा विहार को महाविहार के रूप परिणत करके उन्होने उसे विश्वविद्यालय के स्तर पर विकसित एवं प्रतिष्ठित किया, जिसके कारण भारत मे ज्ञान के प्रसार को बल मिला और जिसके द्वारा एशिया के सुदूर देशों में भारतीय ज्ञान का आलोक फैला। तीनो धर्मों की दार्शनिक विचारधाराओ के उन्नयन के लिए देश की बौद्धिक प्रतिभाओं को राष्ट्रीय सम्मान देकर उनको वे समस्त सुविधाएँ दी, जिनके कारण विभिन्न विषयों की

महानतम कृतियों का निर्माण होकर भारतीय वाङ्मय में ज्ञान की नयी शाखाएँ पल्लवित हुईं। गुप्तयुग में धर्म, दर्शन, काव्य, महाकाव्य, नाटक, कथा, काव्यशास्त्र, ज्योतिष और आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों पर श्रेष्ठ कृतियों का सृजन हुआ। इसी युग में पुराणों तथा धर्मशास्त्रों का पुनः संस्करण हुआ और अनेक नये पुराण निर्मित हुए। संस्कृत को राष्ट्रभाषा का सम्मानित स्थान देकर गुप्तों ने उसे राजकाज की भाषा बनाया।

साहित्यिक नव निर्माण के साथ-साथ कला की विभिन्न शैलियों का सृजन होकर लोक जीवन उच्चतर नैतिक अभ्युत्थान की ओर तेजी से अग्रसर हुआ। साहित्य के लोक-हितकारी उन्नत ध्येय कला में रूपायित हुए और उन्होंने समाज के जीवन-स्तर को उन्नत किया। साहित्य और कला का समन्वय होकर निर्जीव एवं कठोर पाषाण शिलाओं एवं पर्वतों से प्राणदायी जीवनधाराएँ बह निकलीं। भास, अश्वघोष, कालिदास और भारवि आदि का भावलोक, उन्हीं गहराइयों तथा उसी ओजस्विता एवं सुन्दरता के साथ रेखाओं तथा रंगों में साकार होकर जनता के जीवन में घुल-मिल गया।

कवियों ने अपनी रचनाओं में नर-नारी के अंग-प्रत्यंगों के जो सुघर, सुगठित, सुमनोहर एवं सन्तुलित प्रतिमान निर्धारित किये थे, कलाकारों ने तदनुरूप दण्डवत् मुखाकृति धनुष की वक्रता धारण किये हुई कमानदार भवें, उत्फुल्ल कमल के समान नयन, परिपक्व बिम्बफल की भाँति अधर, कमलनाल की भाँति उँगलियाँ, नारिकेल की कठोरता को आभासित करने वाले स्वर्ण कलशों की भाँति पुष्ट स्तन, सिंह की कटि को मात देने वाला कटि भाग, कदलीदल की भाँति सुडौल जँघाएँ और सन्तों की प्रज्ञा के समान गहरी नाभि—इस प्रकार काव्य की शोभातिशयिता को अभिव्यंजित करने वाले कला-प्रतिमानों को सर्जित किया गया।

साहित्य-सृष्टाओं की भाँति कलाकारों की भी नारी सौन्दर्य की अभिव्यंजना में विशेष अभिरुचि रही है। जहाँ तक गुप्तयुगीन कलाकारों द्वारा नारी के रूपांकन का सम्बन्ध है, उसकी अपनी अलग विशेषता है, जो उसे परम्परा से अलग करती है। मथुरा, भरहुत और साँची आदि कला-केन्द्रों में परम्परा से जिन अप्सराओं, वनदेवियों तथा यक्षिणियों की मूर्तियों का निर्माण हुआ वे कटिवस्त्र पहने ऊर्ध्वनग्नावस्था में हैं। कुषाणयुगीन मूर्तियाँ तो प्रायः नग्नावस्था में हैं। सवसनाओं में भी पारदर्शिता झलकती है। स्वभावतः इन

कला-कृतियों का प्रयोजन सम्पूर्ण शरीर के आकर्षण को प्रदर्शित करना रहा है, यद्यपि साथ ही उनके उत्कृष्ट कलात्मक अभिप्राय नितान्त अनुपेक्षणीय हैं। गुप्तयुगीन कलाकारों ने भी अर्धनग्न तथा सर्वथा नग्न नारी मूर्तियों का निर्माण किया; किन्तु उनका दैहिक सौन्दर्य उत्तेजनात्मक, उत्कट शृंगारिक न होकर प्रांजल और संयत है; क्योंकि उनके निर्माता कलाकारों के समक्ष गुप्त सम्राटों के नैतिक आदर्श भी विद्यमान थे। गुप्तयुगीन अजन्ता की नारी छवियों मे यह आदर्श-भाव भरपूर रूप से उभरा है।

काव्यगत शारीरिक या आंगिक सौन्दर्ययुक्त ये कला-कृतियाँ वस्तुतः किसी प्रकार की कामुकता तथा संकीर्णता की उद्‌भावक नहीं हैं। ध्वन्यात्मकता, भंगिमा और भाव-सौष्ठवता आदि कला के जो अपरिहार्य गुणधर्म हैं, इनके द्वारा ही उनकी यथार्थता को अभिव्यक्त किया गया है। यदि ऐसा न होता तो गुप्त युग की यह कला-थाती इतनी चिरन्तन, लोकप्रिय और ऐसी विश्वव्यापी ख्याति अर्जित नहीं कर पाती। सौन्दर्य एवं चारुता से आप्यायित इन कलाकृतियों मे कामुकता की खोज करने वाले रसाभासित अरसिक जिज्ञासु के लिए साथ-साथ शिव द्वारा काम-दहन और बुद्ध द्वारा मार-पराजय के आदर्श भी मूर्तित हुए हैं। भारतीय काव्य और कला मे परम्परा से सौन्दर्य मे पापवृत्ति की अवधारणा को हेय समझा गया और जीवन के लिए उसकी अनिवार्यता को भी स्वीकार किया गया है। इसलिए भारत मे कला को सत्य-शिव-सुन्दर त्रिविधरूपा कहा गया है।

गुप्तयुगीन कला-कृतियों की विशेषता उनके विषय-वैभिन्य मे देखने को मिलती है। परम्परा से समाज द्वारा स्वीकृत धार्मिक तथा पौराणिक कथा-आख्यायिकाओं पर आधारित देवी-देवताओ, गन्धर्वों, अप्सराओ, नागो, यक्षों और धार्मिक पुरुषो से सम्बद्ध मूर्तियो तथा चित्रों को गुप्तयुगीन कलाकारों ने ऐसा रूप दिया कि सभी धर्मो के अनुयायियों का उनके प्रति आकर्षण बना रहे। शिव, शक्ति, राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर आदि सभी धर्म-सम्प्रदायों के देवी-देवताओं, महापुरुषो को मूर्तित एवं चित्रित करके गुप्तयुगीन कलाकारो ने जहाँ एक ओर अपनी कला-साधना की गरिमा को प्रस्तुत किया, वही अपनी धर्मनिरपेक्षता का भी परिचय दिया।

गुप्तयुगीन कला की एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि उसमें नव-नवीन कल्पनाओं तथा लोक-विश्वासों को मानवोपयोगी एवं प्रभावकारी

बनाने का अपूर्व प्रयत्न किया गया है। शिव, विष्णु, राम, कृष्ण और बुद्ध की अपरिमेयता, असहज महामानवता को परिमिति देकर उनमें मानवीकरण करके लोक-सहज बना दिया गया है। अधिकतर साहित्य-सृष्टाओं ने जहाँ उनकी लोकोत्तरता का वर्णन करके तथा उन्हें देवत्व के स्थान पर प्रतिष्ठित करके आराध्य एवं सम्पूज्य तो बना दिया किन्तु दोनों में आकाश और पृथ्वी की सनातन गहराई को वे मिटा न सके। कलाकार की तूलिका ने उसे सर्वथा मिटा दिया। कलाकारों ने इन लोकोत्तर चरितों को लोकसामान्य में अवतरितकर आदर्श तथा मर्यादा और लोकहित का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन शाश्वत आध्यात्मिक विभूतियों को लोकानुग्रही, कृपालु और सम्वेदनशील बनाकर मानव धरातल पर उतार दिया। सांसारिक क्रिया-कलापों की गहन अनुभूतियों को अन्तस्तल में समेटे हुए मथुरा की बुद्ध प्रतिमा मानवता को शान्ति, संयम और आत्मनिरीक्षण की ओर प्रेरित करती है। उसमें मानव-मानव के प्रति असीम करुणा और अपरिमित दया का छलकता हुआ भाव दिखायी देता है। इस सार्वभौम मानवीय संवेदना के कारण, मानवता के दुःख से आतुर-कातर महामानव बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की यह ध्यानस्थ मुद्रा जिस प्रकार भारतीय कला की अन्तश्चेतना के रूप में समादृत एवं लोक-सम्मानित होती रही, उसी प्रकार भारत के बाहर लंका, चीन, जापान, कोरिया, मध्य एशिया, वर्मा, श्याम, जावा और कम्बोडिया आदि विभिन्न देशो की कला-थाती को उत्प्रेरित करती हुई विश्व चेतना को सम्मोहित करती रही। उसकी मुखाकृति में देशज भाव की भिन्नता होते हुए भी मुद्रा ठीक वही है, जो मथुरा, साँची, सारनाथ और बोधगया की गुप्तकालीन मूर्तियो में दर्शित है।

भारत और विदेशों मे जिन गुप्तयुगीन मूर्तियो की विशेष ख्याति हुई, वे सौन्दर्य, प्रेम और अनुराग की देवियाँ आज भी अपने निर्माताओ के कौशल की अनुपमता को सुरक्षित बनाये हुई हैं। इस प्रकार की कला-कृतियों में बोस्टन संग्रहालय मे सुरक्षित गगा की मूर्ति, बम्बई संग्रहालय मे सुरक्षित शिवानुरक्त पार्वती की मूर्ति और विभिन्न अप्सराओ, यक्षिणियों तथा वनदेवियो की छबियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमे अन्तर्निहित शिल्प संरचना, आदर्श, नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रयोजन समस्त एशिया की कला पर परिलक्षित हुए। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ कि इन गुप्तयुगीन कला-कृतियों में आध्यात्मिकता और भौतिकता का ऐसा सन्तुलन एवं समन्वय दर्शित है,

जिसके द्वारा नारी के सनातन आदर्श गुणो तथा उसकी सर्वमान्य मर्यादाओं की अवमानना नहीं हुई।

इस प्रकार मूर्तिकला के क्षेत्र में गुप्त युग चरमोन्नत स्थिति में था। गुप्त युग की तक्षण कला (भास्कर्य) भारतीय कला-इतिहास की सर्वथा अपूर्व देन है। कुषाण युग में ग्रीक प्रभावों से मुक्त जिस गान्धार शैली का उदय हुआ था, गुप्त युग में उसका सर्वथा भारतीयकरण हुआ और इस नये रूप में वह देश के विभिन्न कला-केन्द्रों मे प्रतिष्ठित हुई। गुप्त युग मे निर्मित बहुसंख्यक मृण्मूर्तियाँ देश के विभिन्न संग्रहालयों मे अपनी दिव्यता एव भव्यता के लिए कलाविदो की गवेषणा का प्रमुख आकर्षण रही है। इस युग मे धातु-निर्मित कला-कृतियों का भी व्यापक रूप से प्रचलन हुआ। कुर्किहार आदि स्थानो से प्राप्त ताम्रनिर्मित पुरुषाकार विशाल बुद्ध प्रतिमाएँ गुप्तयुगीन कलाकारों के कौशल की अनुपम अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्रकार दिल्ली के निकट मेहरौली का लौह-स्तम्भ तो मानो तत्कालीन धातु-शिल्प का अमर स्मारक है। यह लौह-स्तम्भ शताब्दियो पूर्व से प्रकृति के शीत ताप के आघातो को आत्मसात करता हुआ गुप्तों के गौरव का उद्घोष कर रहा है।

वास्तुकला के क्षेत्र मे भी गुप्त युग उन्नत था। उस युग की वास्तुकला के परिचायक अधिकतर निर्माण-कार्य यद्यपि काल-कवलित हो गये; किन्तु जो उपलब्ध एव जीवित हैं उनसे सहज ही तत्कालीन स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। झाँसी के देवगढ़ और भीतरगाँव के मन्दिरों की भव्य वास्तुकला गुप्तयुग की अविस्मरणीय देन है। इन दोनो स्थानो के मन्दिरो की दीवारो पर बैठायी गयी मृण्मयी मूर्तियो से विदित होता है कि इस क्षेत्र मे गुप्त युग पर्याप्त उन्नति पर था (विंसेंट स्मिथ—ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 161)। इन मृण्मय मूर्तियो द्वारा कला के साथ ही तत्कालीन वैष्णवधर्म की लोकप्रियता का भी पता चलता है। भीतरगाँव मन्दिर की हजारो उत्खनित ईंटें एवं पकाई गयी मिट्टी की खाने लखनऊ सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। अजन्ता की गुफाएँ और वहाँ सुरक्षित तथागत बुद्ध की 'धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रा' तत्कालीन भारतीय स्थपतियो के असाधारण कौशल को द्योतित करती हैं।

अजन्ता

अजन्ता के गुफाचित्रो मे गुप्तयुगीन कलाकारो की साधना चरम परिणति को प्राप्त हुई है। उनमे महायान बौद्ध विचारो के अनुरूप लौकिकता-अलौकिकता,

पार्थिवता-अपार्थिवता और मानवीय-दैवी धारणाओं का अपूर्व संयोग हुआ है। विद्वानों का अभिमत है कि "भित्तिचित्रों में विलक्षण ढंग से चित्रित सौन्दर्य और मुख पर असंग द्वारा प्रस्थापित महायान योगाचार दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है।...... असग कुछ समय तक अजन्ता के संघाराम मे रहे थे और उन्होने घोषणा की थी कि संसार स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नही है। केवल संसार ही नही, अपितु विचार भी क्षणिक है। क्षणों की यह निरन्तर शृंखला है" (भारतीय संस्कृति और कला, पृ० 219)।

भारत के इस अद्वितीय एवं अद्भुत कला-केन्द्र के निर्माण तथा पुनरुद्धार में गुप्त सम्राटो का विशेष योगदान रहा। उनके इस योगदान और कलानुराग की साक्षी पहली, सोलहवी और सत्रहवी गुफाएँ हैं। अजन्ता के कला-वैभव मे इन तीनो गुफाओं का सर्वाधिक महत्त्व है। पहली गुफा का अवलोकितेश्वर का चित्र, सोलहवी गुफा का गृहत्याग शीर्षक चित्र और सत्रहवी गुफा का माता-पुत्र विषयक चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बोधिसत्त्व पद्मपाणि अवलोकितेश्वर अजन्ता की कला की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। "ससार की कला के इतिहास में इसकी तुलना केवल न्यूरेम्बर्ग को मैडोना से—गॉथिक मूर्तिकला की श्रेष्ठ कृति, जिसमे मानवाकृति को रैखिक सयुजन मे प्रतिपादित किया गया है, तथा प्रतिपादन मे अद्भुत सन्तुलन और सगति है—की जा सकती है" (पृ० 220)। पद्मपाणि की इस कृति मे मानवीय तथा आध्यात्मिक सौन्दर्य की चरम परिणति हुई है। यही कारण है कि चीन, जावा, स्याम, वर्मा, कम्बोडिया, लका और जापान आदि एशिया के विभिन्न देशो की कला मे उसको प्रमुख और व्यापक स्थान मिला।

अजन्ता के गुप्तकालीन चित्रों मे रेखाओ का सौष्ठव, रंगों का वैविध्य, आकृतियो की सुघराई और अलकरणों का मार्दव सराहनीय है। उनमें अग-प्रत्यंगो की परिमिति एवं सन्तुलन और मुद्राओं की गतिमत्ता उच्चकोटि की है। प्रायः एक ही लक्ष्य एवं ध्येय मे निहित होने का कारण उनमें एकरूपता है और अपने दर्शको को वे अतीत के उस वातावरण मे ले जाने की पूरी क्षमता रखते हैं, जब एक महामानव इस धरती पर अवतरित हुआ था और जिसने मानवता को करुणा, दया तथा सहानुभूति का दिव्य सन्देश दिया था। इसके अतिरिक्त दृश्यों की अनेकता और भावों की विविधता के अभिव्यजन का कौशल भी गुप्तयुगीन चित्रों की विशेषता है।

अजन्ता की गुफाओं और कलाकृतियों का निर्माण दक्षिण के आन्ध्र-सातवाहनों (200 ई० पूर्व) से लेकर पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम (630-668 ई०) के समय तक होता रहा। चैत्य गुफा 10 तथा विहार गुफा 8, 12 और 13 सर्वाधिक प्राचीन हैं। तदन्तर अनेक वर्षों तक उनका निर्माणकार्य बन्द रहा। फिर वाकाटक युग मे उनका पुनर्निर्माण आरम्भ हुआ। विहार गुफा 11, 7, 6 का निर्माण 500 ई० के आरम्भ में और विहार गुफा 15, 16, 17, 18, 20 तथा चैत्य गुफा 19 का निर्माण 500 ई० के अन्त में हुआ। प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि वाकाटक नरेश हरिषेण (475-500 ई०) के सचिव वराहदेव ने विहार गुफा 16 का निर्माण कराया था। विहार गुफा 17 भी हरिषेण के समय में ही बनी। तदनन्तर विहारगुफा 21, 25 तथा चैत्य गुफा 26 का निर्माण 600 ई० के उत्तरार्ध में और विहार गुफा 1 तथा 2 का निर्माण 700 ई० के आरम्भ में हुआ। पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन् द्वारा पुलकेशी द्वितीय को पराजित करने के उपरान्त अजन्ता का निर्माण कार्य रुक गया।

अजन्ता की ये गुफाएँ चित्रकला की दृष्टि से विगत डेढ़-दो सौ वर्षों से विश्व के कलाप्रेमियों का आकर्षण-केन्द्र बनी हुई हैं। चित्रकला के अतिरिक्त अजन्ता में भारतीय मूर्तिकला की परम्परागत थाती भी सुरक्षित है। इस दृष्टि से चट्टान पर उत्कीर्णित नागराज-दम्पती की आकृति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मूर्ति के शिरोभाग के पृष्ठ-वलय पर सप्तमुखी नाग अंकित है। इसलिए यह मूर्ति नागराज की निर्विवाद सिद्ध है। नागराज की सिंहासनस्थ गरिमामय मूर्ति में शान्ति विराजमान है। बांये कक्ष मे नागराजपत्नी है और दाहिने कक्ष मे परिचारिका खडी है, जो चँवर डुला रही है। मूर्तियाँ सौन्दर्य और सन्तुलन की दृष्टि से क्लासिक कला की परम्परा को उजागर कर रही हैं।

भारतीय मूर्तिकला के उन्नयन मे चौथी-पाँचवी शती ई० में जो देशव्यापी नव जागरण हुआ, उसके परिणामस्वरूप देश का कोना-कोना मूर्तिकला की भव्यता से जगमगा उठा। उसका प्रभुत्व न केवल नगरो एवं मैदानी प्रदेशो तक ही सीमित रहा, अपितु दुर्गम एवं ओझल पर्वतीय अंचलो तक भी व्याप्त हुआ। उसका उदाहरण गढवाल के एक मन्दिर पर उत्कीर्णित, मन्दिर की ओर जाते हुए दो भव्य जलूस हैं। एक जलूस के दाहिने पार्श्व में सूर्य देवता और बायें पार्श्व में मन्दिर के द्वार पर भीख माँगते हुए भिखारी अंकित हैं तथा बीच में जन-समूह मन्दिर की ओर जाता हुआ दर्शाया गया है। दूसरे जलूस के दायें

पार्श्व में चन्द्र देवता और बायें पार्श्व में देवता के आगे राजा घुटने टेके हुए नतमस्तक है तथा बीच में ढोल तथा शंख बजाते और मजीरा, ध्वज लिये जन-समूह मन्दिर की ओर जा रहा है। जलूस का नेतृत्व करने वाला व्यक्ति सम्भवतः राजा है।

इन दोनों वल्लरियों में आकृतियाँ बहुत ही स्पष्ट और पारस्परिक समानान्तर को दिखाने में कलाकार की निपुणता द्योतित होती है। बाँसुरी बजाती हुई एक नग्न स्त्री की मुद्रा अत्यन्त ही मनोरम है और इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि "पूरी क्लासिक ग्रीक मूर्तिकला में इस श्रेष्ठ स्त्री-आकृति से सुन्दर कोई वस्तु नहीं मिलेगी।"

इस चित्र-वल्लरी के सम्बन्ध में श्री चार्ल्स फाबरी का अभिमत है कि "यह एक विशिष्ट कलाकृति है, जिसका मुकाबला संसार के किसी भी देश की सर्वोत्तम प्रतिभा-कृतियों से किया जा सकता है। विशेष दक्षता की चीज है आकृतियो के बीच रखी गयी खाली जगहों के द्वारा भीड़-भाड़ के अट्टहास का परिहार। साथ ही जलूसवालों (पतले आदमी, छोटे आदमी, छरहरी स्त्रियाँ, माताएँ, नंगी स्त्रियाँ, शिरोवस्त्र सहित और उनसे रहित पुरुष; ले जाई जाने वाली अनेक प्रकार की वस्तुएँ; विभिन्न टोकरियों में खाने, बाँसुरियाँ और ढोल, छतरियाँ, तलवारें और कितनी ही दूसरी चीजों की मुद्राओं, उनकी हलचलो, आकारो और डील-डौलों मे एक शानदार विविधता दिखायी गयी है" (भारत का मूर्तिशिल्प, पृ० 26)।

गुप्तयुगीन भारत संगीत का शास्त्रीय युग रहा है। गुप्त सम्राटों की संगीतप्रियता ने उसको पर्याप्त प्रोत्साहित किया। समुद्रगुप्त संगीत का प्रेमी था। उसके स्वर्ण-निर्मित सिक्कों पर उत्कीर्णित वीणा उसके संगीत-प्रेम की द्योतक है। इस चित्रण से यह भी ज्ञात होता है कि उसने संगीतविद्या को राष्ट्रीय सम्मान दिया था। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को तुम्बुरु और नारद जैसे महान् संगीताचार्यों से उच्चतर संगीतज्ञ कहा है।

विष्णुशर्मा का 'पंचतन्त्र' निश्चित ही गुप्तयुगीन (पाँचवी शती) रचना है। यद्यपि उसका विषय संगीतशास्त्र नहीं है, तथापि उसमें उल्लिखित एक श्लोक में सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना, उन्चास तान, तीन मात्रा, तीन स्थान, नौ रस, छत्तीस राग और चालीस भाषाओं का उल्लेख तत्कालीन संगीतविद्या की स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। गुप्त युग के

आस-पास विरचित मातंग कृत 'बृहद्देशीय' संगीत का प्रौढ़ ग्रन्थ है। उसमें ग्राम, मूर्छना और रागो पर विशेष रूप से विचार किया गया है।

कला के लक्षण ग्रन्थ

गुप्त युग में जहाँ कला की सर्वांगीण उन्नति हुई, वहीं कला-विषयक लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण में भी प्रगति हुई। इन ग्रन्थो मे कला-संरचना-सम्बन्धी जो शास्त्रीय आधार निश्चित हुए उनका प्रभाव गुप्तयुगीन स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र आदि कला की समस्त शाखाओ पर लक्षित हुआ और उसके फलस्वरूप ऐसी कला-कृतियाँ प्रकाश मे आयी, जिनके द्वारा भारतीय कला के इतिहास में गुप्त सम्राटों के गौरव की अभिवृद्धि हुई तथा भारत की भावी कला-शैलियो को पल्लवित होने के लिए नयी भाव-भूमि का निर्माण हुआ।

तिब्बत से प्रकाशित तजूर ग्रन्थमाला के 123 खण्डों मे 4 खण्ड शिल्पविषयक ग्रन्थो के हैं। ये शिल्पविषयक ग्रन्थ है - 'दशतल न्यग्रोध परिमण्डल बुद्ध प्रतिमा', 'सम्बुद्ध भाषित प्रतिमालक्षण विवरण', 'प्रतिमालक्षण' और 'चित्रलक्षण।' यह अन्तिम ग्रन्थ नग्नजित् या भयजित् विरचित है। उसका रचनाकाल अनिश्चित है; किन्तु छठी-सातवी शती तक उसकी प्रसिद्धि हो गयी थी। शतपथ ब्राह्मण', 'महाभारत' और जैन ग्रन्थो मे नग्नजित् को गन्धार देश का राजा बताया गया है। यह ग्रन्थ धर्म-प्रचारक भिक्षुओ द्वारा हस्तलेख के रूप मे तिब्बत से लाया गया था। तिब्बती अनुवाद के रूप मे वह प्राप्त हुआ है। प्राप्त प्रति म तोन अध्याय है और वह अपूर्ण है।

इस ग्रन्थ के प्राविधिक एव लाक्षणिक प्रयोगो का प्रभाव एशिया की अनेक देशो की कला-शैलियो पर पड़ा। गान्धार मूर्तिशिल्प पर चित्रकला के लक्षणो का जो प्रभाव लक्षित होता है, उसका कारण सम्भवतः यही ग्रन्थ है। तिब्बत, खुत्तन तथा मध्य एशिया के अन्य देशो की चित्रकला तथा गान्धार शैली की मूर्तिकला मे भारतीय प्रभाव की जो परम्परा व्याप्त हुई उसका आधार भी यही ग्रन्थ रहा है। तिब्बत मे 9 वी से 17 वी शती तक जितने चित्र, पटचित्र और भित्तिचित्र बने, उनके रेखा-सौष्ठव और वर्ण-वैविध्य पर इस ग्रन्थ का प्रभाव स्पष्ट है।

तंजूर ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'चित्रलक्षण' के अतिरिक्त उक्त तीनो शिल्प-विषयक ग्रन्थो के सम्बन्ध में प्रामाणिक ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध नही है; किन्तु उनकी प्राचीनता के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नही है, और साथ ही यह भी निश्चित है कि भारतीय तथा तिब्बतीय मूर्तिकारों एव शिल्पियो पर

उनके लक्षण-विनियोगों का आंशिक रूप में प्रभाव रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बत में भारतीय बौद्धकला के प्रवेश के बाद वहाँ उसका विकास ठीक उसी रूप में नहीं हुआ, जैसा कि भारत में हुआ। इस भिन्न दृष्टि को ध्यान में रखकर भारतीय बौद्ध विद्वानों ने तिब्बत की कला पर स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन किया। 'प्रतिमालक्षण' को छोड़कर शेष ग्रन्थ इसी दृष्टि से लिखे गये और तिब्बतीय स्थापत्य, चित्र तथा मूर्ति-निर्माण की भावी परम्परा पर उनके लक्षणों एवं प्राविधिक स्थापनाओं का व्यापक प्रभाव रहा है।

इसी प्रकार महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित 'वास्तुविद्या', 'मयमत', 'मनुष्यालयचन्द्रिका', 'शिल्परत्न' और 'समरांगणसूत्रधार' में अन्तिम ग्रन्थ को छोड़कर शेष चारों ग्रन्थ प्राचीन हैं। भारतीय मूर्तिकला तथा चित्रकला की शिल्प-संरचना तथा तकनीकी पक्ष पर उनका व्यापक प्रभाव रहा। महाराज भोज (1010-1055 ई०) का 'समरांगणसूत्रधार' एक विशाल ग्रन्थ है और उसके कलेवर तथा विषय-विस्तार से स्पष्ट होता है कि वह भारत में कला के लक्षण-ग्रन्थों की समृद्ध परम्परा का प्रतिफल है। कल्याण के चालुक्य राजा सोमेश्वर (1131 ई०) का 'मानसोल्लास' भी इसी कोटि का ग्रन्थ है। इसी प्रकार प्रो० फणीन्द्रनाथ बसु द्वारा सम्पादित एवं उड़िया लिपि में उपलब्ध 'शिल्पशास्त्र' (समाप्य) और प्रतिमालक्षण' आदि ग्रन्थ शिल्प-विषयक परम्परा के प्रौढ एवं प्राचीन ग्रन्थ हैं।

कला-विषयक प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में 'शिल्प' का अधिकतर उल्लेख किया गया। उसका प्रयोग कला के अर्थ में हुआ है। आरम्भ में समस्त कलाएं शिल्प के अन्तर्गत परिगणित होती रही है और इसीलिए इन शिल्प-विषयक ग्रन्थों में स्थापत्य, मूर्ति और चित्र, कला के इन तीनों प्रमुख अंगों पर विचार किया गया है। इसी प्रकार के बहुसंख्यक ग्रन्थ निरन्तर प्रकाश में आ रहे हैं। ये बहुसंख्यक प्राचीन ग्रन्थ वस्तुत. किसी ऐसी समृद्ध परम्परा के द्योतक हैं, यद्यपि बीच-बीच में कहीं-कहीं जिसमें व्यतिक्रम भी होता गया, तथापि जिसको व्यापक स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी और जिसके द्वारा कला के लोक-प्रचलित प्रतिमान स्थिर एवं निश्चित हो चुके थे। ऐसे ग्रन्थों में गणमाचार्य का 'मयमत शिल्पशास्त्र', कश्यप का 'अंशुमद्भेद', 'विश्वकर्मीय शिल्प', अगस्त्य का 'अगस्त्य सकलाधिकार', सनत्कुमार का 'सनत्कुमार वास्तुशास्त्र' और मण्डन का 'शिल्पशास्त्र' उल्लेखनीय हैं। परम्परा से ऋषियों के नाम पर विश्रुत इन ग्रन्थों की प्राचीनता, मौलिकता तथा अविकलता के सम्बन्ध में विश्वस्त रूप से

कुछ नहीं कहा जा सकता है। यह निश्चित है कि कला के परवर्ती लक्षण-ग्रन्थों के वे प्रेरणा-स्रोत एवं उपजीव्य रहे और भारत की कला-समृद्धि में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

कला के लक्षण-ग्रन्थों की इस परम्परा में 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के 'चित्रसूत्र' का नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि उसमें कलाओं के, विशेषतः मूर्तिकला और चित्रकला के प्राविधिक ज्ञान को पूर्णता प्राप्त हुई है। उसकी प्रस्तावना में पुराकालीन नारायण मुनि द्वारा प्रणीत किसी 'चित्रसूत्र' का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि यह ग्रन्थ उसी पुरातन ग्रन्थ का पुनः सस्करण है। फिर भी यह निश्चित है कि वह अधिक बड़ा नहीं है; किन्तु छोटे या संक्षेप रूप में उसमें जो-कुछ प्रतिपादित है, उसकी समकालीन तथा भावी कला-पीढियों के लिए एकमात्र वही आधार बना रहा। उसके नौ अध्यायों का क्रम इस प्रकार है : 1 आयाम मान वर्णन, 2. प्रमाण वर्णन, 3 सामान्य मान वर्णन, 4. प्रतिमा लक्षण वर्णन, 5. क्षयवृद्धि, 6. रगव्यतिकर, 7. वर्तना, 8. रूप-निर्माण और 9. शृङ्गारादि भाव कथन।

'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' की गणना उपपुराणो में है। उसके ऐतिहासिक पक्ष पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। डॉक्टर जायसवाल का अभिमत है कि 5 वी या इसके बाद तक अधिकतर पुराणो के पुन. सस्करण हो चुके थे। पार्जिटर और हजारा आदि विद्वानो ने 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' को छठी शती का बताया है। बूलर ने अनेक प्रमाणो से इसकी पुष्टि करते हुए यह स्थापित किया है कि उक्त पुराण की रचना काश्मीर मे हुई (इडियन एटीक्वेरी, भाग 19, पृ० 382)। गुप्तयुगीन भारत के विद्याकेन्द्रो में काश्मीर का भी एक नाम था। गुप्तयुगीन काश्मीर में उन दिनो कवि मातृगुप्त का शासन था, जिसकी नियुक्ति तत्कालीन गुप्त सम्राट् ने की थी। अतः 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' की रचना काश्मीर मे होने की बात अधिक युक्तिसगत जान पड़ती है और साथ ही यह भी निर्विवाद सिद्ध होता है कि उसकी देन का श्रेय गुप्तयुग को ही है।

'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के निर्माण में परम भागवत गुप्त सम्राटों की भक्ति भावना अनुस्यूत है। यह सम्भावना इसलिए भी तथ्यपूर्ण जान पड़ती है कि गुप्तयुगीन जैन तीर्थंकरो, बुद्ध, बोधिसत्त्व, शिव, शक्ति, विष्णु, राम, कृष्ण, नर-नारायण, गन्धर्व, अप्सरा, नाग और यक्ष आदि से सम्बद्ध बहुसंख्यक मूर्तियों पर 'चित्रसूत्र' के लक्षण-प्रतिमानों का व्यापक प्रभाव स्पष्ट है। उनके

रूप-विधान, प्रमाण, वर्तना, भाव, वर्ण तथा गुण-दोष विवेचन का आधार यही ग्रन्थ रहा है। गुप्तोत्तर भारत की कला-शैलियाँ भी उससे प्रभावित होती रहीं।

वाकाटक वंश

भारत के सांस्कृतिक निर्माण में जिन राजवंशों का ऐतिहासिक योगदान रहा, उनमें वाकाटकों का नाम उल्लेखनीय है। इस वंश के मूल के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। मध्य भारत में उसने लगभग तीसरी शती से छठी शती तक शासन किया। उसके सर्व प्रथम शासक का नाम 'वायुपुराण' में विन्ध्यशक्ति उल्लिखित है। 'विन्ध्यशक्ति' उसकी पदवी या उपाधि प्रतीत होती है, जो कि उसको विन्ध्यवासी होने के कारण प्राप्त हुई होगी। उसका कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी शती के मध्य मे शक्तिशाली सातवाहन साम्राज्य के क्षीण पड़ने एवं विघटित हो जाने के बाद जिन छोटी-बड़ी शक्तियों का उदय हुआ, वाकाटकवंश उन्ही में से एक था। विन्ध्यशक्ति इस वंश का संस्थापक था।

उसके पुत्र प्रवरसेन ने इस वंश की प्रतिष्ठा को बढाया। प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने दक्षिण (आन्ध्र) तक अपने राज्य का विस्तार किया। उसने मालवा, गुजरात और काठियावाड़ पर अधिकार किया। अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करके उसने वैदिक परम्परा को उजागर किया और अपने राज्य को साम्राज्य में परिणतकर 'सम्राट्' की उपाधि धारण की। उसका स्थितिकाल चौथी शती ई० का पूर्वार्द्ध था।

प्रवरसेन के बाद चौथी शती ई० में उसका पौत्र रुद्रसेन उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। प्रारम्भिक शासनकाल में वह बाहरी तथा भीतरी विपत्तियों के कारण अशान्त वातावरण में कार्य करता रहा। उसका चाचा सर्वसेन उसका प्रबल विरोधी था। विकट परिस्थितियों पर विजय प्राप्तकर उसने अपने पितामह की भाँति दक्षिण-पश्चिम तक अपने राज्य का विस्तार किया। पिता द्वारा विजित प्रदेशों की रक्षा करने में उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। चम्पक ताम्रपत्र (एपि० इं०, भाग 3, पृ० 236) से ज्ञात होता है कि उसके नाना भारशिव, महाराज भवनाग ने उसकी पर्याप्त सहायता की थी।

उसका पुत्र पृथ्वीषेण प्रथम हुआ, जिसने कुन्तल राज्य को जीतकर दक्षिण भारत में भी अपने शासन का विस्तार किया। पृथ्वीषेण के प्रभावशाली तथा

प्रतापी व्यक्तित्व के कारण गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसके पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह किया। गुप्तों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण वाकाटवंश का सम्मान तथा गौरव बढ़ा। अनेक विजय-अभियानों में भी उनका पारस्परिक सहयोग बना रहा। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा काठियावाड़ विजय के समय दामाद रुद्रसेन द्वितीय का भी सहयोग रहा।

रुद्रसेन की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण उसकी पत्नी प्रभावती ने अपने अवयस्क पुत्रों की संरक्षिका बनकर राज्य का संचालन किया। उसके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का सहयोग उसको प्राप्त होता रहा। वयस्क हो जाने पर दामोदरसेन गद्दी पर बैठा। किन्तु उसके शासनकाल की कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है। वस्तुतः वाकाटकवंश की समृद्धि प्रवरसेन से पृथ्वीषेन तक ही बनी रही। लगभग पाँचवी शती ई० मे हरिषेण वाकाटकवंश का उत्तराधिकारी बना। वह बड़ा शक्तिशाली शासक था। उसने अपने पूर्वजों की भाँति अपने साम्राज्य का विस्तार किया। अजन्ता की दूसरी गुफा से प्राप्त हरिषेण (475-500 ई०) के अभिलेख में उसे कुन्तल, अवन्ति, लाट, कोसल, कलिंग और आन्ध्र का विजेता कहा गया है। उसके बाद छठी शती के मध्य तक वाकाटकवंश की स्थिति बनी रही; किन्तु इस अवधि की कोई भी उल्लेखनीय घटना उपलब्ध नहीं है।

वाकाटकों की सांस्कृतिक उपलब्धि

वाकाटकवंश के शासनकाल में संस्कृति, कला और साहित्य की उल्लेखनीय प्रगति हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहनों के आदर्शों पर वाकाटकों ने भी प्राकृत भाषाओं को अधिक प्रश्रय दिया था। वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन स्वयमेव काव्यकार और कला का अनुरागी था। 'सेतुबन्ध' या 'रावणवहो' महाकाव्य उसकी काव्य-दक्षता और लोक-भाषानुराग का परिचायक है। गद्यकार दण्डी ने इस महाकाव्य की 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्' कहकर प्रशंसा की है। वे वैदिक आचारों के अनुयायी थे। उनके अभिलेखों से विदित होता है कि उन्होंने अश्वमेध जैसे दिग्विजयी सम्राटों की परम्परा के विशाल वैदिक यज्ञ का अनुष्ठान किया था।

वाकाटक शासक कलाप्रिय और कलाओं के संरक्षक थे। उनके समय सातवाहनों के परम्परागत कला-विकास का तारतम्य पूर्ववत् बना रहा। उनके सरक्षण मे वास्तु, मूर्ति और चित्रकला, इन तीनो कलाओं की प्रगति हुई।

भावना का प्रसिद्ध मन्दिर उन्हीं के समय बना। इसके अतिरिक्त उदयगिरि, देवगढ़ और अजन्ता के भव्य मन्दिरों एवं वहाँ की मूर्तियों में तत्कालीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला का प्रौढ़ रूप प्रकाश में आया। चित्रकला के विश्वविख्यात कला-केन्द्र अजन्ता के निर्माण में भी वाकाटकों का योगदान रहा। अजन्ता की 1, 2, 16 और 17 संख्यक गुफाओं का निर्माण तथा उनकी चित्रकारी वाकाटकों के ही समय में हुई।

वाकाटकों से पूर्व दक्षिण के शुंगों तथा सातवाहनों ने और उनके बाद उत्तर-पश्चिम में कुषाणों ने जिस सांस्कृतिक समन्वय का अभियान चलाया था, वाकाटकों ने उसका प्रवर्तन किया। उनके शासनकाल में जो कला-केन्द्र और मन्दिर निर्मित हुए, वे दक्षिण तथा उत्तर की सांस्कृतिक परम्पराओं के संगम कल्पित हुए। अपने ढाई-तीन सौ वर्षों के शासनकाल में उन्होंने राजसी वैभव की अपेक्षा आचारनिष्ठ सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक उत्थान की दिशा में विशेष प्रयत्न किया।

● ● ●

सत्रह/राजपूत युग

गुप्तोत्तर भारत

हर्ष का शासनकाल छठी शती मध्य से लेकर सातवीं शती प्रारम्भ तक रहा। कुछ इतिहासकार विद्वानों की यह धारणा है कि छठी शती के उत्तरार्द्ध में भारतीय इतिहास का ज्ञान अत्यल्प रूप में उपलब्ध है और उस समय भारत में कोई सार्वभौम शासन नही था (स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 341)। किन्तु इधर इस समयावधि की विपुल सामग्री उपलब्ध होने के कारण उक्त धारणा सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो जाती है।

हर्ष-पूर्व भारत पर गुप्तों का सार्वभौम शासन था। कुमारगुप्त प्रथम (414-455 ई०) का साम्राज्य बंगाल से लेकर काठियावाड तक फैला हुआ था। किन्तु उसके शासन के अन्तिम दिनो में अनेक ओर से आक्रमण होने प्रारम्भ हो गये थे। ये उपद्रवी थे कुषाणों के बिखरे हुए वंशज और विदेशी हूण। कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त (455-467 ई०) ने उनका दमन करके अपने शासन का और भी विस्तार किया। किन्तु हूणों के बलवे शान्त न हुए। वन्य जीवन के अभ्यस्त ये हूण छापामार युद्धो मे बड़े कुशल थे। उनके साथ स्कन्दगुप्त निरन्तर बारह वर्षों तक युद्ध में जूझता रहा और उसने पश्चिम में सौराष्ट्र एवं मालवा, पूर्व में बिहार तथा बंगाल और मध्य में अन्तर्वेदी के दो-आब पर अपना प्रभुत्व बनाये रखा। उसके बाद भी अनेक गुप्तशासकों का बंगाल से मालवा तक एकछत्र शासन बना रहा। किन्तु पाँचवीं शती के अन्त में गुप्तों की शक्ति मगध और मालवा में विभाजित हो जाने के बाद क्षीण पड़ने लगी थी। प्रतिद्वन्द्वी एवं विद्रोही हूणो ने गुप्तों की इस क्षीणता का लाभ उठाने के लोभ से अपने आक्रमण पुनः प्रबल कर दिये।

हूण एक खानाबदोस जाति थी और सुदूर मध्य एशिया के मैदानों से चलकर वे विश्व के अनेक भू-भागों में फैले। उनमें एक काफिला वंक्षु (आक्सन) नदी के तट पर आकर बस गया था, जिसको बाद में श्वेत हूणों के नाम से

कहा गया । उन्होंने लगभग 5वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में ईरान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और तदनन्तर काबुल को भी अपने अधिकार में ले लिया था । वहाँ से वे पूर्व की ओर बढ़ते हुए भारत में प्रविष्ट हुए । जिस समय वे भारत में प्रविष्ट हुए उस समय भारत पर स्कन्दगुप्त (455-467 ई०) का शासन था । स्कन्दगुप्त ने उनके प्रबल अभियान को आगे बढ़ने से रोक दिया; किन्तु उन्हें शक्तिहीन करके पीछे न ढकेल सका । हूणों का अभियान जारी रहा और उनका नेता तोरमाण उत्तरवर्ती गुप्तशासकों की क्षीणता का लाभ उठाकर किसी प्रकार मालवा तक पहुँचने में सफल हो गया; किन्तु मालवा के तत्कालीन शासक भानुगुप्त द्वितीय ने मालवा से उसको उखाड़ फेंका । उसके बाद यह पराजित हूणराज बंगाल की ओर चला गया और वहाँ उसने दूसरे गुप्त शासक तथागतगुप्त या बालादित्य द्वितीय को परास्तकर स्वयं तो मगध पर आसीन हो गया और बालादित्य द्वितीय के पुत्र को मगधराज के रूप में काशी में प्रतिष्ठित कर दिया । मगध की इस पराजय का बदला लेने के लिए मालवा से भानुगुप्त आगे बढ़ा और उसने तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल को मगध से अपदस्थ कर दिया ।

छठी शती के पूर्वार्द्ध का यह एक ऐसा समय था, जब भारत के चारों ओर युद्ध की विभीषिका व्याप्त थी । जिन दिनों भानुगुप्त का पुत्र प्रकटादित्य मालवा का शासक था, उसी समय थानेश्वर में मांडसोर के राजा जनेन्द्र यशोवर्मन् (533 ई०) का उदय हुआ । वह बड़ा शक्तिशाली और युद्ध-निपुण था । उसने मिहिरकुल को परास्तकर और गुप्त साम्राज्य के समस्त प्रदेशों पर अपना अधिकारकर एक सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना की । हूणों और गुप्तो पर उसका पूरा नियन्त्रण था । उसके मांडसोर लेख से विदित होता है कि ब्रह्मपुत्र (लौहित्य) से लेकर महेन्द्र पर्वत तक और हिमालय से लेकर पश्चिमी समुद्र तक के सामन्त राजा उसके चरणो में लोटते थे (एलन—कैटलॉग ऑफ इण्डियन क्वाइन्स, भूमिका पृ० 60) । यशोधर्मन् के शक्तिशाली प्रभुत्व के कारण हूणों का मिहिरकुल मध्य तथा पूर्व से उखड़कर काश्मीर में जाकर जम गया । तदनन्तर गन्धार को भी उसने अपने अधिकार में कर लिया । अपने अमानवीय अत्याचारों और पैशाचिक कार्यों के कारण उसकी प्रसिद्धि पूर्ववत् बनी रही । 543 ई० में मिहिरकुल का निधन हुआ ।

गुप्तों तथा हूणों का अन्त कर देने के बाद यशोधर्मन् भारत के विशाल साम्राज्य का स्वामित्व भोगता रहा । किन्तु उसके निधन के बाद उसका

शक्तिशाली संगठित साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। उसके बाद भारत के सार्वभौम साम्राज्य का स्वामित्व मौखरियों के हाथों में आया। यह मौखरीवंश थानेश्वर के यशोवर्मन्-वंश से सम्बद्ध था। मौखरियों का मूल मगध में था। गुप्तों के ह्रासोन्मुख काल में कन्नौज में उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया था और थानेश्वर के यशोवर्मन् के बाद अपने प्रभुत्व का विस्तारकर सम्राट् पद को प्राप्त करने में सफल हो गये थे। उन्होंने कन्नौज को उसी ख्याति पर पहुँचाया, जो मगध को प्राप्त थी (राय चौधुरी—पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येंट इण्डिया, पृ० 424)

मौखरियों ने स्वयं को अश्वपति के सौ पुत्रों का वंशज बताया है। मुखर सम्भवतः उनके किसी पूर्वज का नाम था, जिसके कारण इस वंश का 'मौखरि' नामकरण हुआ। लगभग चौथी शती ई० में मगध पर मौखरियों का राज्य था, जिसको चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपदस्थ किया। उनका एक कुल कन्नौज पर राज्य करता था (इण्डियन एंटीक्वेरी, जिल्द 11, पृ०488)। मौखरियों की प्रधान शाखा उत्तर भारत में प्रबल शक्ति के रूप में प्रकाश मे आयी। उसके प्रथम तीन शासकों के नाम थे हरिवर्मा, आदित्यवर्मा और ईश्वरवर्मा। अन्तिम दो शासकों के गुप्तों से वैवाहिक सम्बन्ध थे। अन्तिम शासक ईश्वरवर्मा (524-550 ई०) ने अपनी शक्ति का विस्तारकर अपने वंश की नीव जमायी। उसके पुत्र ईशानवर्मा (550-577 ई०) ने 'महाराजाधिराज' का वीरुद धारण किया था। उसके हरहा अभिलेख से विदित होता है कि छठी शती ई० मे वर्तमान शक्तिशाली आन्ध्र, सुलिक (सम्भवतः चालुक्य) और गौड़ राजाओं से उसके निरन्तर युद्ध होते रहे। उसके शासनकाल में हूणों का भी आतंक बना हुआ था। ईशानवर्मा ने गुप्तों के बाद भारत की विच्छिन्न सामाजिक तथा राजनीतिक अव्यवस्था को दूर करके देश को एकच्छत्र शासन में संगठित किया। उसने हूणों के आक्रमणों के फलस्वरूप फैली हुई वर्ण-संकरता तथा धार्मिक क्षीणता का उन्मूलन करके हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान किया।

ईशानवर्मा के बाद सर्ववर्मा उसका उत्तराधिकारी हुआ, जो कि गुप्त राजा दामोदरगुप्त का समकालीन था। उसकी असीगढ़ मुहर में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। उसने दामोदरगुप्त को पराजितकर मगध तक अपने राज्य का विस्तार किया। अपने यशस्वी एवं प्रतापी कार्यों के कारण वह सर्वमान्य 'परमेश्वर' बन गया और मगध तथा बंगाल के गुप्तवंशीय सामन्त उसके अधीन हो गये (जायसवाल—इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,

पृ० 58)। सर्ववर्मा के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में विवाद है। कुछ विद्वानों ने उसका नाम अवन्तिवर्मा बताया है (राय चौधुरी—पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्थ ईस्टर्न इण्डिया, पृ० 117)। उसकी राजधानी कन्नौज थी। थानेश्वर के राजवंश के साथ उसके अच्छे सम्बन्ध थे। उसके पुत्र ग्रहवर्मा (600-606 ई०) का विवाह थानेश्वर सम्राट् हर्षवर्द्धन की बहिन राज्यश्री से हुआ था।

हर्षवंश

भारतीय इतिहास में मगध और कन्नौज ही दो ऐसे सौभाग्यशाली अंचल रहे हैं, जिन्हें चिरकाल तक भारत के महान् शासकों की राजधानी बनने का श्रेय प्राप्त रहा है। पाटलिपुत्र और कान्यकुब्ज, ये दो नाम प्राचीन भारतीय इतिहास मे गौरव के साथ उल्लिखित हैं। कन्नौज को राजधानी बनाने का सुयोग हर्ष को है। हर्ष के पूर्वपुरुषों की राजधानी थानेश्वर थी।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के तृतीय उच्छ्वास में श्रीकण्ठ जनपद के अन्तर्गत थानेश्वर का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह बड़ा सुख-समृद्ध प्रदेश था। वहाँ के निवासी निष्कलंक, पुण्यात्मा, सदाचारी, अतिथिसेवी और वर्णाश्रमधर्म के अनुयायी थे। उस प्रदेश में तपस्वी, व्यापारी, प्रेमी, योद्धा, विद्वान् और ललितकलाओ के अनुरागी लोग रहते थे।

वहाँ पुष्यभूति नाम का एक राजा हुआ, जो कि शिव का अनन्य उपासक था। उसी ने थानेश्वर के राजवंश की स्थापना की। 'मञ्जुश्री मूलकल्प' और ह्वेन-त्सांग के विवरणो का अध्ययनकर डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का अभिमत है कि थानेश्वर का हर्षवश वैस (या वैश्य) क्षत्रिय जाति का था (इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 45)। इस राजवंश का सर्वाधिक प्रतापी शासक हर्ष हुआ। अतः यह वंश हर्षवंश के नाम से प्रख्यात हुआ। विभिन्न अभिलेखों, दानपत्रों तथा मुद्राओं का अध्ययन करके विद्वानों ने पुष्यभूति के बाद और हर्ष से पूर्व चार शासकों के नामों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—नरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन, आदित्यवर्द्धन और प्रभाकरवर्द्धन (एपिग्राफिया इण्डिया, जिल्द 4, पृ० 208)। ये सभी शासक शिवोपासक थे। हर्ष के उपलब्ध अभिलेखों मे पुष्यभूति को छोड़कर इन्हीं चार पूर्ववर्ती वंशजों का उल्लेख हुआ है। पुष्यभूति के बाद शक्तिशाली हूणों को परास्तकर नरवर्द्धन ने थानेश्वर में 5वीं शती ई० के अन्त में या छठी शती ई० के आरम्भ में इस राजवंश की पूर्ण प्रतिष्ठा की। हर्ष के इन पूर्वजों में प्रभाकरवर्द्धन सर्वाधिक

प्रभावशाली शासक हुआ । उसकी 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'हूणहरिणकेशरी' तथा 'सिन्धुराजज्वर' उपाधियों (हर्षचरित, पृ० 243-244) से विदित होता है कि निश्चित ही वह बड़ा पराक्रमी तथा प्रतापी शासक था । प्रभाकरवर्द्धन ने आस-पास तथा दूरांचलों के छोटे-बड़े राजाओं और सामन्तों पर विजय प्राप्तकर प्रायः समस्त उत्तरी भारत में अपने राज्य का विस्तार किया । उसका निधन 605 ई० में हुआ ।

प्रभाकरवर्द्धन तथा उसकी रानी महादेवी यशोमती के दो पुत्र तथा एक कन्या हुई । दोनों पुत्रों के नाम थे राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन तथा पुत्री का नाम था राज्यश्री । प्रभाकरवर्द्धन के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्द्धन गद्दी पर बैठा; किन्तु एक षड्यन्त्र में उसकी हत्या कर दी गयी । तदनन्तर हर्ष को थानेश्वर की राजगद्दी सम्भालनी पड़ी ।

हर्ष के वंश और शासनकाल पर प्रकाश डालनेवाली ऐतिहासिक सामग्री सौभाग्यवश पर्याप्त रूप मे उपलब्ध है । उसमे अभिलेखो का नाम प्रमुख है । अभिलेखों के अतिरिक्त चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग का भ्रमण-वृत्तान्त 'सि-यु-की' और उसके जीवनीकार हुई-ली की पुस्तक 'लाइफ ऑफ ह्वेन-त्सांग' तथा हर्ष के सभा-विद्वान् और सस्कृत-साहित्य के प्रख्यात गद्यकार बाणभट्ट के ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थ 'हर्षचरित' हर्ष के सम्बन्ध मे प्रकाश डालनेवाली प्रामाणिक सामग्री विद्यमान है । बाण के 'हर्षचरित' मे दिये गये विवरण (पृ० 184) के अनुसार श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 4 जून, 590 ई० को हर्ष की जन्मतिथि निर्धारित की है (वैद्य—हिस्ट्री ऑफ मेडिएवल इण्डिया, जिल्द 1, पृ० 41-43) । बड़े भाई राज्यवर्द्धन का गौडराजा शशाक द्वारा कपट से हत्या किये जाने के बाद प्रजा तथा मन्त्रियो के अनुरोध पर, प्रकृति से ही सन्त एवं त्यागी, हर्ष ने किसी प्रकार राजसिहासन पर बैठना स्वीकार किया । उधर मालवराज (देवगुप्त) द्वारा बहनोई ग्रहवर्मा की हत्या किये जाने तथा बहिन राजश्री को बन्दी बनाये जाने के कारण कन्नौज की राजगद्दी भी खाली पड़ी हुई थी । कन्नौज के राजनीतिज्ञो तथा मन्त्रियो ने अपने नेता भाण्डी (बानि) को थानेश्वर भेजकर हर्ष से कन्नौज की शासन-व्यवस्था सम्भालने का अनुरोध किया । कोई अन्य उपाय न देखकर 606 या 607 ई० के लगभग हर्ष कन्नौज के सिहासन पर बैठा । इस प्रकार हर्ष थानेश्वर और कन्नौज पर एक साथ शासन करने लगा । बाद मे उसने कन्नौज को ही राजधानी के रूप में वरण किया । उसके पश्चात् अनेक राजवंशों ने भी उसी को राजधानी होने का सम्मान दिया ।

वर्तमान कन्नौज उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले के अन्तर्गत है। उसका इतिहास बहुत प्राचीन है। 'रामायण' में लिखा है कि राजा कुश के पुत्र कुशनाभ ने एक नगर बसाया था, जिसका नाम 'महोदय' था। वासुदेव ऋषि ने एक बार क्रोध में आकर कुशनाभ की सौ कन्याओं को शाप दिया कि वे कुबड़ी (कुब्ज) हो जायँ। तभी से उस नगर को कान्यकुब्ज अर्थात् 'कुबड़ी कन्याओं का नगर' नाम से कहा जाने लगा। अपने यशस्वी स्वामियों के कारण भारतीय इतिहास में कान्यकुब्ज को मगध जैसी ख्याति प्राप्त होती रही। हर्ष, यशोवर्मन् और अवन्तिवर्मन् के कारण और उनके द्वारा आश्रित बाण, भवभूति तथा विशाखदत्त जैसे महान् कवियों एवं नाटककारों के संसर्ग के कारण उसका उत्तरोत्तर गौरव बढ़ता गया।

कान्यकुब्जेश्वर हर्ष बड़ा बुद्धिमान्, दूरदर्शी और कुशल शासक था। निरन्तर संघर्षों में जूझते हुए उसने अपने चारों ओर के कण्टकों का उन्मूलन करते हुए अपनी साम्राज्य की सीमाएँ मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के अतिरिक्त हिमालय पर्वत मे नेपाल तक, नर्मदा तथा गंगा की सम्पूर्ण तरेटी तक, विस्तृत की। पूर्व मे सुदूर आसाम, बलभी और पश्चिम में काश्मीर तक उसका स्वामित्व व्याप्त था। सामान्यतः हिमालय पर्वत, पश्चिमी पंजाब, राजपूताना, मध्य प्रदेश, आसाम और बंगाल का विस्तृत भू-भाग के राजा तथा सामन्त उसके अधीन थे। केवल कुछ अचलों पर ही उसका प्रत्यक्ष शासन था। अधिकतर प्रदेश ऐसे थे, जो कि हर्ष की अधीनता स्वीकार करते हुये वहाँ के शासक स्वय थे। इस प्रकार के अनेक पराजित राजाओ को हर्ष ने उनका राज्य लौटा दिया और इस प्रकार उसने भारत के पूर्ववर्ती दिग्विजयी सम्राटों के आदर्श का अनुसरणकर अपनी महानता का परिचय दिया। प्रयाग की मोक्ष परिषद् में हर्ष के अधीनस्थ 19 राज्यों के राजा तथा सामन्त सम्मिलित हुए थे।

हर्ष के समन्वयात्मक समदृष्टिपूर्ण शासन ने उसके व्यक्तित्व को महान् बना दिया था। उसने अपने अधीनस्थ राजाओ तथा सामन्तों को उनकी उन्नति के के लिए प्रोत्साहित किया। पड़ोसी देशों के साथ मैत्री सम्बन्धों को स्थापित करके उसने उनकी हर सम्भव सहायता की। हर्ष के समय नेपाल पर राजा अंशुवर्मन् (635-645 ई०) का शासन था। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में उल्लिखित 'हिमाच्छादित पर्वतोंवाले दुर्गम देश' तथा 'तुषार देश' के आ' पर कुछ विद्वानो ने नेपाल पर हर्ष के शासन करने की बात कही है परमेश्वरेण तुषार-शैल-भुवो दुर्गायाः गृहीत करः)। यदि हर्ष द्वा

विजय की बात सन्दिग्ध भी हो, तो इतना निश्चित है कि भारत का सम्पूर्ण उत्तरी सीमान्त उसके राज्य के अन्तर्गत था। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग ने, जो महाराज हर्ष के समय 627 ई० में भारत आया था और जिसने भारत तथा नेपाल का पर्याप्त भ्रमण किया, लिखा है कि कान्यकुब्ज (कन्नौज) को छोड़कर हर्ष के अधीनस्थ देशों की संख्या 19 थी। इन 19 देशों की नामावली में ह्वेन-त्सांग ने नेपाल का भी उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनको दृष्टि में रखकर यह मानने में किसी प्रकार की बाधा तथा आपत्ति नहीं है कि भारत-नेपाल के उक्त उदार तथा महान् शासकों के समय दोनों देशों के सम्बन्ध घनिष्टतर हुए और उनके पारस्परिक सद्भाव, सहयोग के कारण दोनों देशों की संस्कृति, कला, धर्म तथा साहित्य का उल्लेखनीय विकास-विस्तार हुआ।

'शीलादित्य' (सदाचार का सूर्य) हर्ष का वीरुद था। वह परम माहेश्वर (शैव) था; किन्तु शैव होते हुए भी उसके मन-कर्म मे सुगत (बुद्ध) के प्रति परम निष्ठा थी। उसकी धार्मिक उदारता तथा समन्वित धार्मिक नीति के कारण यह निश्चित करना कठिन है कि उसका व्यक्तिगत धर्म कौन था। हर्ष ने एक ओर जहाँ, अनेक बौद्ध विहारों तथा बौद्धस्तूपो का निर्माण कराके बौद्धधर्म के प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया, वहीं दूसरी ओर हिन्दू देवताओ के प्रति श्रद्धाभाव और ब्राह्मणों को दान-सम्मान प्रदानकर उनके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की (वाटर्स I, पृ० 344)। ब्रह्मवादी कपिल, कणाद; वेदान्ती, ऐश्वरकरणिक (आस्तिक) और भौतिकवादी लोकायतिक आदि की परम्परा के अनेक तत्त्वचिन्तकों एवं विचारकों ने उसके शासनकाल में स्वेच्छित उन्नति की (कावेल तथा टामस—हर्षचरित, पृ० 236)। प्रजा की प्रसन्नता के लिए वह प्रायः सभी धर्मों का समान रूप से आदर करता था। उसका विश्वास और सिद्धान्त था कि समस्त प्रजा अपने-अपने धर्मों पर चलकर सुखी रहे और व्यापक मानव समाज में शान्ति स्थापित करने में यत्नशील बनी रहे। हूणो के आक्रमणों के कारण प्रायः समस्त उत्तर भारत और पश्चिम में पंजाब तथा काश्मीर में ब्राह्मणधर्म को बड़ी क्षति उठानी पड़ी थी। इन प्रदेशों के नैष्ठिक ब्राह्मण परिवार दक्षिण में जा बसे थे। हर्ष के सुख-शान्तिमय शासन में हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान हुआ।

अपनी धर्मनिरपेक्ष नीति को उसने अपने व्यावहारिक एवं व्यक्तिगत जीवन चरितार्थ किया था। हर्ष ने एक ओर तो किसी पारसीक कन्या को अपनी

राजरानी बनाया और दूसरी ओर सौराष्ट्र की उच्चकुलीन हिन्दूकन्या को अपनी राजमहिषी के रूप में वरण किया। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में महाश्वेता के नाम से जिस परम रूपवती नारी का वर्णन किया है, वह हर्ष की ही पारसीक रानी थी। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि 'कादम्बरी' में जिस अद्वितीय सुन्दरी कादम्बरी का वर्णन देखने को मिलता है, वह सौराष्ट्र की रानी का रूपान्तर थी।

हर्ष का उत्तरार्द्ध जीवन शासक की अपेक्षा एक सन्त, विचारक, परोपकारी, करुणामय, त्यागी और महान् दानी के रूप में परिवर्तित हो गया था। उसकी दानशीलता ने उसको इतना निरपेक्ष एवं निस्पृह बना दिया था कि अपने कोष के अर्जित धन को प्रति पाँचवें वर्ष वह प्रयाग के त्रिवेणी तट पर वितरित कर दिया करता था। ह्वेन-त्सांग के उल्लेखानुसार प्रयाग के एक पञ्चवर्षीय दान वितरणोत्सव में समस्त राजा और पाँच लाख व्यक्ति सम्मिलित हुए थे। मण्डप में स्थापित बुद्धदेव, आदित्यदेव (सूर्य) और ईश्वरदेव (शिव) की मूर्तियाँ हर्ष की धर्मनिरपेक्षता तथा आस्तिकता को द्योतित करती थीं। इस दानोत्सव में हर्ष ने अपना सारा राजकोष, यहाँ तक कि शरीर के बहुमूल्य वस्त्रों तक को दान में दे दिया था।

यद्यपि हर्ष के लगभग चालीस वर्षों का शासनकाल न तो अशोक जैसे उच्चादर्शों का परिचायक और न ही चन्द्रगुप्त जसे अतिशय सुख-शान्ति का द्योतक रहा है, तथापि उसने जिन अविरत संघर्षों और घनीभूत कठिनाइयों का सामनाकर बृहद् भारत की शासन सत्ता को सुरक्षित बनाये रखा और जिस निपुणता तथा बुद्धिमत्ता से उसका संचालन किया उसके कारण इतिहास मे उसकी गणना अशोक और चन्द्रगुप्त जैसे महान् सम्राटों की कोटि में की गयी है।

भारत के इस अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट्, भारतीय इतिहास के देदीप्यमान सूर्य और यशस्वी एवं पुण्यात्मा शासक का निधन 646-47 ई० के लगभग हुआ (स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 366; चटर्जी—हर्षवर्द्धन, पृ० 207)।

हर्ष की विद्वत्ता और विद्वत्प्रियता

हर्ष दिग्विजयी साम्राज्य का स्वामी होने के साथ-साथ स्वयमेव विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता, प्रशंसक तथा गुणग्राही शासक था। भारतीय इतिहास में इस प्रकार के बहुगुण-सम्पन्न महान् पुरुषों के अनेक उदाहरण हैं, जिन्हें

श्री और सरस्वती, दोनों का परम अनुग्रह एक साथ प्राप्त रहा। शूद्रक, समुद्रगुप्त, मातृगुप्त, यशोवर्मा, मायुराज, मुंज, भोज और यहाँ तक कि बाबर, जहाँगीर तथा दारा आदि परिवर्ती शासकों का नाम इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है, जिनका काव्य-यश अनेक कृतियों के रूप में आज भी जीवित है। हर्ष इसी परम्परा का यशस्वी शासक था।

एक कृतिकार के रूप में उसने जो यश अर्जित किया और साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बनाकर अपनी जिस विद्वत्ता का परिचय दिया, उससे अधिक श्रेय अर्जित किया बड़े-बड़े कवियों को सम्मानित एवं प्रोत्साहित करके। इतिहास में परम्परा से यह देखने को मिलता है कि भारतीय शासकों ने बड़े-बड़े कवियो, कलाकारों और विद्वानों को अपनी राजसभा में स्थान देकर सम्मानित किया। वे विद्वान् अपने आश्रयदाताओं को धर्म और नीति के सदुपदेशो द्वारा, कवि उनका काव्यविनोद करके और कलाकार उनमें सौन्दर्यानुराग को उद्दीप्त करके उनकी बौद्धिक समृद्धि मे योगदान किया करते थे। वे अपने आश्रयदाता शासक के राजनीतिक संकटों के निवारक, उसके परामर्शदाता, सहायक और अवसर आने पर रणभूमि में शस्त्र धारणकर मातृभूमि की रक्षा में प्राणोत्सर्ग करने में भी अग्रणी होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्वानों, कवियों और कलाकारों का समागम गरिमा, स्वाभिमान महानता और उच्चता का द्योतक माना जाता था। राजसभा के वे भूषण हुआ करते थे और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के परिचायक भी। कनिष्क ने अपने मगध-विजय के रूप मे अश्वघोष को प्राप्तकर महान् सन्तोष का अनुभव किया था। गुप्त सम्राटों का विद्वत्प्रेम इतिहास प्रसिद्ध है। इसी प्रकार कन्नौजराज यशोवर्मा ने भवभूति, प्रतीहारराज महेन्द्रपाल तथा महीपाल ने राजशेखर, चालुक्यराज विक्रमादित्य ने विल्हण और परमारराज मुंज तथा भोज ने अनेक कवियों को प्रश्रय देकर अपने विद्यानुराग का परिचय दिया।

गुणग्राही हर्ष के विद्याप्रेम का उज्ज्वल उदाहरण नालन्दा विद्यालय है। ह्वेन-त्साँग ने लिखा है कि हर्ष के समय नालन्दा विश्वविद्यालय अपने चरमोत्कर्ष पर था। उस समय वहाँ लगभग डेढ़ हजार पारंगत विद्वानों द्वारा विभिन्न विषयो के अध्ययन की व्यवस्था थी। हर्ष ने प्रचुर दान देकर इस विश्वविद्यालय का विस्तार किया था। उसके समय वहाँ देशी-विदेशी अध्येताओं की संख्या लगभग दस हजार तक थी (जीवन चरित, पृ० 112)। हर्षयुगीन नालन्दा विश्वविद्यालय ज्ञानोपदेश एवं शास्त्र-चर्चा की दृष्टि से भारत का ही नहीं,

अपितु विश्व भर का प्रमुख ज्ञान केन्द्र था। सिंहल, सुवर्णद्वीप, यवद्वीप, कम्बोज-द्वीप, चीन, तुषार और पारस आदि विभिन्न देशों के विद्यानुरागी वहाँ आकर ज्ञान का आलोक लेकर स्वदेश लौटते थे।

हर्ष के विद्याप्रेम का यह अनुपम उदाहरण है कि अपने साम्राज्य की आय का चतुर्थांश वह विद्वानों के पुरस्कार-सम्मान के लिए सुरक्षित रखता था (वाटर्स, 1, पृ० 176)। उसकी राजसभा में जैन-बौद्ध-ब्राह्मण सभी धर्मों के विद्वानों का प्रवेश समान रूप से था। उसकी विद्वत्सभा में बाण, मयूर, मातंग दिवाकर और ईशान जैसे संस्कृत तथा लोकभाषा के प्रख्यात विद्वान् साहित्य-सृजन में संलग्न थे। नालन्दा के तत्कालीन तार्किक श्रेष्ठ धर्मकीर्ति के संसर्ग से हर्ष के जीवन में सत्यवादिता, त्याग और ज्ञान का उदय हुआ।

हर्ष के सुसम्पन्न एवं सुखी शासनकाल में प्रजाजन विद्योपार्जन में अग्रसर थे और विद्वत्समाज ज्ञान के प्रचार-प्रसार में संलग्न था। हर्ष जितना ही दानी तथा उदार था, विद्वत्समाज धन-वैभव के प्रति उतना ही विरक्त एवं निरपेक्ष था। दानी हर्ष ने एक बार जयसेन नामक किसी बौद्ध विद्वान् को 'उडीसा के अस्सी बड़े नगरों की आय' दानस्वरूप भेंट देनी चाही; किन्तु उस त्यागी एवं निस्पृत विद्वान् ने उसको लेने से इन्कार कर दिया। भारत में इस प्रकार के दान और त्याग के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं।

इस प्रकार हर्ष वीर, विजेता और दानी होने के साथ-साथ विद्वत्प्रिय और स्वयमेव विद्वान् था। अपनी विद्वत्सभा के कवियों के साथ बैठकर वह काव्य-चर्चाओं में सक्रिय भाग लेता था। इस कारण वह सिद्धहस्त नाटककार एवं सुकवि बन गया था। बाण भट्ट (हर्षचरित, पृ० 58-65), सोढ्ढल (उदयसुन्दरी कथा, पृ० 2), जयदेव (प्रसन्नराघव, १।२२) ने हर्ष के काव्यगुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हर्ष के काव्य-यश को सुरक्षित बनाये रखने वाली उनकी दो नाटिकाएँ और एक नाटक उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं—1. 'प्रियदर्शिका', 2. 'रत्नावली' और 3. 'नागानन्द'। आरम्भ की दोनों नाटिकाएँ चार-चार अंकों की और अन्तिम नाटक पाँच अंकों का है। उनकी दोनों नाटिकाएँ रंगमचीय दृष्टि से संस्कृत-साहित्य की सफल रचनाएँ हैं। देश-विदेश मे उनका अनेक बार अभिनय हो चुका है और इस दृष्टि से उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

हर्षयुगीन कला

भारतीय संस्कृति और कला के इतिहास में 'स्वर्णयुग' के संस्थापक गुप्त सम्राटों का अस्तित्व लगभग छठी शती ई० के मध्य तक बना रहा; किन्तु

उसकी उन्नतावस्था प्रायः भानुगुप्त के शासनकाल (495-510 ई०) तक ही देखने को मिलती है। गुप्तों के शासनकाल में भारत में जो महान् सांस्कृतिक अभ्युदय हुआ, उसकी परम्परा आगे की अनेक शतियों तक बनी रही।

गुप्तों के बाद भारत का एकच्छत्र शक्तिशाली शासन छिन्न-भिन्न हो गया और गुप्तों की केन्द्रित सत्ता अनेक राज्यों तथा उपराज्यों में विभाजित हो गयी। शक्ति एवं सत्ता के इस विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप भी सांस्कृतिक अभियान का क्रम गुप्तोत्तर भारत में भी पूर्ववत् उन्नत बना रहा। इस सांस्कृतिक अभ्युदय के उन्नायक राजवंशों में थानेश्वर के वर्धमानों तथा कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारों से लेकर पूर्व में नेपाल, बंगाल, कामरूप तथा कलिंग के ठाकुरी-वंश, पालवंश, सेनवंश तथा गंगवंश; पश्चिमोत्तर के सिन्ध-काबुल-पंजाब तथा काश्मीर के रायवंश, शाहीयवंश, करकोटकवंश तथा उत्पलवंश; और दक्षिण के चालुक्यों, चोलों, राष्ट्रकूटों तथा पल्लवों तक सारे भारत में गुप्तों की सांस्कृतिक थाती अनेक नये केन्द्रों में पल्लवित होती गयी। इन राज्यों एवं उपराज्यो के समय यद्यपि भारत का राजनीतिक धरातल नितान्त अस्थिर एव उथल-पुथलो से प्रभावित रहा; किन्तु इस अवधि के लगभग छह-सौ वर्षों तक अपनी परम्परागत सांस्कृतिक ज्योति से भारत पूर्ववत् अलोकित होता रहा।

हर्षयुगीन कला का वस्तुतः कोई स्वतन्त्र या पृथक् अस्तित्व नही है। गुप्तकला के साथ ही उसका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। बाण के 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' मे कला तथा शिल्प-विषयक जो विभिन्न विवरण देखने को मिलते हैं, वस्तुतः वे गुप्तयुगीन भारत की कला-समृद्धि के ही सूचक हैं, और यही परम्परा आगे हर्ष युग में भी प्रवर्तित होती रही, यद्यपि उसका यह परवर्ती रूप उतना सशक्त, उन्नत एवं प्रभावोत्पादक नही रहा। हर्ष युग के सामाजिक जीवन मे रहन-सहन, पहनावा, मनोरंजन के साधनों और दरबारी वातावरण के हास-मनोविनोद तथा कला-विलास में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। हर्षयुगीन कलाकारो का अजन्ता, बाघ आदि की परम्परागत कला के विकास में कितना अंशदान रहा, इसका कोई स्पष्ट अलगाव का पता नही चलता है। किन्तु क्योकि हर्ष ने अपने उत्तरार्द्ध जीवन काल में बौद्धधर्म को वरण कर लिया था, अतः यह सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है कि परम्परागत बौद्ध शैली के कलाकारों को अवश्य कुछ प्रोत्साहन प्राप्त हुआ होगा।

हर्षयुगीन भारत में स्थापत्य की दिशा में अवश्य कुछ प्रगति हुई। उसका मुख्य कारण यह है कि हर्ष स्वयं नाटककार था और उसकी दो नाटिकाएँ

रंगमंचीय दृष्टि से सर्वथा सफलता प्राप्त कर चुकी थीं। अतः उनके अभिनय के लिए नाट्यशालाओं तथा संगीतशालाओं का अवश्य निर्माण हुआ होगा। हर्षयुगीन स्थापत्य का अच्छा उदाहरण प्रभाकरवर्द्धन का राजमहल था, जिसका वर्णन 'हर्षचरित' में हुआ है। उसके समय मन्दिरों तथा मठों का भी निर्माण हुआ। गुप्तयुगीन अमरावती, साँची, बोधगया तथा मथुरा की मूर्तिकला-परम्परा का भावी प्रवर्तन किस रूप में हुआ, इसका स्पष्ट विभाजन करना सम्भव नहीं है। किन्तु हर्ष के समय स्वतन्त्र रूप से कुछ मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण अवश्य हुआ। हर्ष के एक शिलालेख से विदित होता है कि वास्तुविद्या में विश्वकर्मा की तरह सर्वज्ञ एवं कुशल सूत्रधार वीरभद्र के पुत्र चण्डशिव ने मण्डपसहित एक सुन्दर शिव मन्दिर का निर्माण किया था (एपि० इं०, भाग 1, पृ० 123)। इस सन्दर्भ में सिरपुर (जिला रायपुर) का लक्ष्मण मन्दिर उल्लेखनीय है। इस मन्दिर का आगे चलकर 9वीं शती में पुनर्निर्माण हुआ। इसी प्रकार शाहबाद जिलान्तर्गत अदर भबुआ नामक स्थान के निकट मुण्डेश्वरी का अष्टकोण मन्दिर भी हर्ष के समय में ही निर्मित हुआ (कुमारस्वामी— इण्डियन ऐंड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० 93, 94)।

हर्ष का पूर्वार्द्ध जीवन ब्राह्मणधर्म के संस्कारों से ओत-प्रोत था। हूणों द्वारा विध्वस्त ब्राह्मणधर्म तथा हिन्दू संस्कृति की पुनः स्थापना में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उसके हिन्दुत्व पुनरुद्धार-प्रवृत्ति के कारण ही उक्त मन्दिरों का निर्माण हुआ और उनमें भव्य मूर्तियों की स्थापना हुई। बाण ने 'हर्षचरित' में महानगरी उज्जयिनी और विदिशा के वैभव का विस्तार से वर्णन किया है। वहाँ के गगनचुम्बी महलों तथा राजपथों के निर्माण की उसने बड़ी प्रशंसा की है और उन्हें निपुण स्थपतियों द्वारा शास्त्रविधि से निर्मित हुआ बताया है। उनके अतिरिक्त कन्नौज, वलभी, वाराणसी, काँची और वातापीपुर के प्रसिद्ध नगरों, मठों तथा मन्दिरों के निर्माण में हर्षयुगीन स्थापत्य का भव्य रूप प्रकाश में आया। इसी प्रकार अहिहोल तथा बादामी की गुफाओं के मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण में भी तत्कालीन स्थपतियों का योगदान रहा। हर्ष के समकालीन काँची के महेन्द्रवर्मा के समय स्थापत्य की नयी शैली का जन्म हुआ, जिसका प्रभाव उत्तर भारत के तत्कालीन स्थपतियों तथा शिल्पियों पर भी परिलक्षित हुआ। नालन्दा के निर्माण में भी हर्ष का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसका उल्लेख ह्वेन-त्सांग ने किया है। वहाँ पर अन्य निर्माण-कार्यों के अतिरिक्त हर्ष ने अवश्य ही कुछ मठों का

निर्माण कराया था। पीतल की चद्दरों से आच्छादित एक मठ की स्थापना का पता हाल ही मे लगाया गया है (आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट,1921-22)। इस प्रकार हर्षयुगीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला का विकास मन्दिरों और मठों के रूप में बना रहा। सम्भवतः उनमें से बहुसंख्यक मठ-मन्दिर लकड़ी तथा बाँस के बने थे, जो कि अल्पकाल मे ही नष्ट हो गये और इसलिए जिनका कोई चिह्न शेष न रहा। इस सम्भावना की इसलिए भी पुष्टि होती है कि ह्वेन-त्सांग ने प्रयाग में आयोजित हर्ष के छठे 'पंचवर्षीय दान-महोत्सव' के जिस विशाल मण्डप तथा उसके पृथक्-पृथक् विश्राम-गृहों का उल्लेख किया है, वे सब काष्ठ तथा बाँस के थे।

हर्ष के समय प्रस्तर, काष्ठ तथा बाँस के अतिरिक्त धातु तथा वस्त्रों के माध्यम से शिल्प की सर्वथा नयी विधाओ का विकास हुआ। धातु की कारीगरी और वस्त्रों की अत्यन्त महीन किस्में तथा उन पर की गयी नक्कासी इस युग की विशेष देन रही। वस्त्रों पर की गयी रंगसाजी भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आभूषणों के विभिन्न नमूनो और उन पर किये गये अलंकरण भी हर्षयुगीन कला की विशिष्टता है। इस प्रकार की कलात्मक वस्तुओं का परिचय राज्यश्री के विवाहोत्सव पर आयोजित सामग्री से प्राप्त होता है, जिसका वर्णन 'हर्षचरित' के द्वितीय उच्छ्वास में बाण ने बड़े ही मार्मिक ढग से किया है।

इस विवाहोत्सव के समय निपुण चित्रकारो का एक दल बुलाया गया था, जिसने विवाह-सम्बन्धी विभिन्न मांगलिक दृश्यों का अंकन किया था। महिलाओं ने धवलित कलशों तथा कच्ची मिट्टी के बर्तनों को विभिन्न अलंकरणो से सज्जित किया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में चित्रकला सम्भ्रान्त समाज की विलास की वस्तु समझी जाने लगी थी। उसमे महिलाओ का विशेष प्रवेश था। हर्षयुगीन चित्रकला की स्थिति से सम्बन्धित कुछ उदारणों से विदित होता है कि उसकी उन्नत परम्परा कुछ क्षीण पड़ गयी थी। जिस समय हर्ष महादेवी यशोमती के गर्भ में थे, उनके लिए जिस विश्रामगृह की व्यवस्था की गयी थी, उसका वर्णन करते हुए बाण ने लिखा है कि 'महारानी की सुप्तावस्था में उस कक्ष की भित्तियों पर चित्रित चमरधारिणी स्त्रियाँ मानो उन पर व्यजन डुलाती प्रतीत हो रही थीं।' इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि राजभवन के उस विश्राम कक्ष की भित्तियो पर अत्यन्त उत्कृष्ट चित्रांकन हुआ था। हर्षयुगीन चित्रकला

का दूसरा उदाहरण सितनवासल की जैन शैली के चित्रों में देखने को मिलता है, जिनका अधिकतर निर्माण सातवी शती में हुआ।

ह्वेन-त्सांग

भारत और चीन के प्राचीन सम्बन्धों की ऐतिहासिक शृंखला मे बौद्धभिक्षु ह्वेन-त्सांग एक ऐसा पवित्र एवं अविस्मरणीय नाम है, जिसके बौद्धिक एवं साहसिक कार्यों ने दोनो देशो के अतीत सम्बन्धों को, विशेष रूप से भारत के प्राचीन गौरव को, सुरक्षित रखने का महान् प्रयास किया। उसके पूर्व भी लगभग पाँच सौ वर्षों से भारत-चीन के पारस्परिक सम्बन्धो की स्थापना के लिए निरन्तर अविरल प्रयत्न होते आ रहे थे; किन्तु उसने जो कुछ किया उसका सर्वथा अलग महत्त्व है।

ह्वेन-त्सांग का जन्म चीन के एक सम्भ्रान्त शाहीवंश मे हुआ था। उसके पूर्वज इतिहास-विश्रुत व्यक्ति थे। उसके प्रपितामह चे-इन, पितामह के-आंग और पिता हुई अपने समय के विख्यात विद्वानो में से थे। ऐसे विद्या और वैभव से सम्पन्न धर्मप्राण परिवार मे 603 ई० मे ह्वेन-त्सांग का जन्म हुआ। इन तीनो सम्पन्नताओं मे ह्वेन-त्सांग ने वैभव को तिलांजलि देकर धर्म और विद्या की प्राप्ति का व्रत धारण किया और उनकी खोज में घर से निकल पडा। चीन के प्राचीन नगर चाङ्-आन के एक बौद्ध मठ मे 623 ई० को लगभग 20-21 वर्ष की अवस्था में उसने पवित्र बौद्धधर्म को वरण किया। यह युवक संन्यासी चीन के विद्वानों के सम्पर्क मे रहकर बौद्ध ज्ञान को प्राप्त करने में तत्पर हो गया। उसके बाद उसमें उस धरती पर विचरण करने की उत्कण्ठा जागी, जिसमे तथागत ने जन्म धारण किया था।

यह चाङ्-आन वही ऐतिहासिक नगर था, जहाँ पर फाह्यान और चि-एन नामक चीनी भिक्षुओं ने भारत आने का व्रत लिया था। इन यात्रियो की पुण्य-स्मृति ने ह्वेन-त्सांग के हृदय मे पश्चिमी देशों के ज्ञानप्रवण देवोपम महात्माओं के सत्संग में रहकर अपनी शंकाओ का समाधान पाने की उत्कट अभिलाषा जगायी। तथागत की पवित्र जन्मभूमि के दर्शनो से स्वय को कृतकृत्य करने के साथ ही वह बौद्ध-ग्रन्थो का उनकी मूल भाषा में अध्ययन करना चाहता था। तब उसकी अवस्था लगभग 26 वर्ष की थी।

भारत यात्रा के उद्देश्य से वह लाङ्-चौ पहुँचा। यह वही स्थान था, जहाँ पर व्यापारी वर्ग के लोग वहाँ के गवर्नर की आज्ञा प्राप्तकर दूसरे देशों की

यात्रा करते थे। उसने अपनी ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा उन व्यापारियों से भी प्रकट की; किन्तु व्यापारियों के कहने के बावजूद गवर्नर ने ह्वेन-त्सांग की प्रार्थना अस्वीकार कर दी। वह तत्कालीन साहित्य और कला के महान् संरक्षक चीन सम्राट् ताङ्-ताई-त्सुग (627-649 ई०) के पास पहुंचा; किन्तु सम्राट् ने भी इस कारण अनुमति देने में विवशता प्रकट कर दी कि बिना संरक्षकों और पर्याप्त साधनों के मार्ग की कठिनाइयों को झेलकर भारत पहुँचना सर्वथा असम्भव था। किन्तु यह निषेध भी उसकी उत्कट उत्कण्ठा को न दबा सका और वह सर्वथा अज्ञात उत्तुग पर्वतमालाओं, दुर्गम घाटियों और गहन जंगलों को पार करता हुआ तथा रेगिस्तान के भीषण कष्टो को सहन करता हुआ, भूखा-प्यासा निरन्तर आगे बढ़ता गया और उसने शाक्यमुनि की पवित्र भूमि में पहुंचने का अपना संकल्प पूरा कर लिया।

उसकी यह यात्रा न तो केवल धार्मिक भावावेश से प्रेरित थी और न उसे रमणीय स्थलों को देखने की उत्सुकता थी, अपितु उसने जो पढ़ा तथा मनन किया था, और जैसा सुना था, उसको प्रत्यक्ष करने तथा अपनी अपूर्ण जिज्ञासाओ का समाधान पाने के उद्देश्य से अनुप्राणित थी। फिर भी उसने जिन स्थानो, पर्वतों, घाटियो, नदियों, अरण्यो, रेगीस्तानो, राज्यो, राजधानियो और नगरों को पैदल पारकर भारत में प्रवेश किया था, उनका बडा ही हृदयस्पर्शी मार्मिक वर्णन अपने 'भारत भ्रमण वृत्तान्त' मे किया है, जो कि ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दोनों दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

उसने जिन स्थानों का वर्णन किया उनके इतिहास, भूगोल, जन-जीवन तथा सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व की एक-एक बात को स्पष्ट किया है। ओकीनी राज्य का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि 'ज्वार, गेहूँ मुनक्का, अंगूर, नाशपाती, बेर तथा दूसरे फलों की उत्पत्ति के लिए यह भूमि बड़ी ही उपयुक्त है। वहां के मनुष्य सच्चे और ईमानदार हैं। वहां की लिपि और भारतवर्ष की लिपि मे थोड़ा ही अन्तर है। वहां के लोगो की पोशक रुई तथा ऊन के कपडों की है। इस देश का कोई इतिहास नही। इस देश मे लगभग दस सघाराम बने हुए हैं, जिनमें हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी दो हजार बौद्ध सन्यासी निवास करते हैं। वहां के सूत्र और विनय भारतवर्ष के ही समान हैं और वही पुस्तकें मुझे वहां भी देखने को मिली, जो भारत मे प्रचलित थी।'

भारत में आकर सर्व प्रथम उसने तथागत मे सम्बद्ध पवित्र-स्थलों एवं स्मारकों का दर्शन किया। उसके बाद वह 637 मे तत्कालीन भारत और विश्व

के सर्वश्रेष्ठ विद्याकेन्द्र नालन्दा महाविहार में पहुँचा। इस बौद्ध मठ का वर्णन करते हुए उसने लिखा है उसकी गगनचुम्बी मीनारें बहुत ही भव्य हैं। वहाँ दस सहस्र विद्यार्थी और एक सहस्र पाँच सौ दस आचार्य अध्ययन-अध्यापन कार्य में निरत थे। वहाँ अठारह विभिन्न विषयों का अध्यापन होता था। वहाँ की अनुशासन-व्यवस्था की उसने बड़ी प्रशंसा की है। उस बौद्धमठ के निर्माता तथा संरक्षक दो गुप्त शासकों कुमारगुप्त (414-455 ई०) और बुधगुप्त (475-495 ई०) की उसने बड़ी सराहना की है।

ह्वेन-त्सांग जिस समय नालन्दा पहुँचा, उस समय धर्मनिधि शीलभद्र उसके कुलपति थे। ह्वेन-त्सांग के अनुरोध पर उसको सर्वथा सुयोग्य जानकर उन्होंने उसे अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। तत्कालीन भारत के सर्वश्रेष्ठ बौद्ध विद्वान् शीलभद्र से ह्वेन-त्सांग ने पाँच वर्षों तक बौद्धधर्म और तत्त्वज्ञान का विधिवत् अध्ययन किया। उसके बाद उसने वसुबन्धु कृत 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के विंशिका प्रकरण और 'मध्यान्त विभंग-भाष्य' का चीनी में अनुवाद किया। उसने चीनी तत्त्वज्ञान को भारतीय बौद्ध दर्शन से समन्वितकर एक नयी बौद्ध विचारधारा को जन्म दिया, जिसे चीन मे 'फाह्याग' नाम से कहा जाता है। उसने अन्य अनेक बौद्ध दर्शन-विषयक ग्रन्थो का अनुवाद करके चीनी बौद्ध साहित्य को समृद्ध किया।

वह पूरे सोलह वर्ष तक भारत में रहा। भारत के प्रायः उन सभी स्थानों का उसने भ्रमण किया, जो किसी-न-किसी रूप में प्रसिद्ध थे। तत्कालीन भारत के विद्या-केन्द्रों, बौद्ध-प्रतिष्ठानों और ऐतिहासिक नगरों का उसने विशेष रूप से भ्रमण किया। इस प्रकार के विद्या-केन्द्रों तथा धर्म-स्थानों में तक्षशिला, काश्मीर, चिनापटी (पंजाब), मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी, वैशाली, मगध, कोशल, गन्धार और खुत्तन आदि का नाम प्रमुख है। इन स्थानों के धार्मिक, ऐतिहासिक महत्त्व का और उनके द्वारा होने वाले ज्ञान के आदान-प्रदान का उसने तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किया है।

ह्वेन-त्सांग के कथनानुसार भारत का प्राचीन नाम 'शिन्दु' और 'हीनताव' था; किन्तु अब उसका शुद्ध नाम 'इन्तु' हो गया था। इस नाम का उच्चारण ह्वेन-त्सांग के अनुसार बड़ा कर्णप्रिय और मधुर था। चीनी भाषा में इस शब्द (इन्तुइन्दु) का अर्थ चन्द्रमा होता है। चन्द्रमा प्रकाश तथा दीप्ति का उपमान है। ठीक ऐसा ही प्रभाव भारत के दीप्तिमान् एवं प्रकाशमान् महात्माओं तथा

विद्वानों का है, जो चन्द्रमा के प्रकाश की भाँति संसार के प्राणियों का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं और इस देश के अस्तित्व को जीवित बनाये हुए हैं।

भारतीय वर्णमाला तथा भाषा के सम्बन्ध मे उसका कहना है कि भारतीयों की वर्णमाला का निर्माण स्वयं ब्रह्मा ने किया। इन वर्णों की सख्या 47 है। ये वर्ण इस वैज्ञानिक विधि से आविष्कृत हैं कि इनसे इच्छित शब्द अनायास ही बनाये जा सकते हैं। यहाँ की भाषा का उच्चारण देवताओं की भाषा की तरह मधुर और कर्णप्रिय है; बहुत शुद्ध एवं स्पष्ट भी।

भारत में बालको की शिक्षा का आरम्भ द्वादश अध्याय वाली, जिसको उसने 'सिद्धवस्तु' नाम दिया है, पुस्तक से होता था। सात वर्ष या इससे अधिक आयु हो जाने पर बालक को पचविद्याओ की शिक्षा दी जाती थी। उन पाँच विद्याओ का क्रमशः नाम है—शब्दविद्या (व्याकरण), शिल्पस्थान-विद्या (कारीगरी, यत्र, ज्योतिष), वैद्यक, हेतुविद्या (आत्मज्ञान) और अध्यात्मविद्या। ये पाँच विद्याएँ ही बौद्ध-साहित्य का पचयान हैं। ब्राह्मण नियमित रूप से चारो वेदो की शिक्षा प्राप्त करते थे। शास्त्रार्थ की रीति प्रचलित थी, जिससे विद्यार्थियो को कठिन-से-कठिन विषय हृदयगम हो जाते थे। तीस वर्ष की आयु मे शिक्षा को समाप्त कर दिया जाता था।

भारत में ह्वेन-त्सांग को यथेष्ठ सम्मान मिला। हीनयान और महायान दोनों शाखाओं के विद्वानो ने उसकी प्रज्ञा-प्रतिमा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। 643 ई० में उसने प्रयाग मे तत्कालीन भारत के निरपेक्ष-बुद्धि, महाज्ञानी शासक सम्राट् हर्ष से भेंट की। इस समय तक ह्वेन-त्सांग की गणना भारत की उच्चतम प्रतिभाओ मे होने लगी थी। ऐसे महान् विद्वान् का विशेष सम्मान करने के लिए सम्राट् हर्ष ने कन्नौज में एक विशेष विद्वत्सभा का आयोजन किया। उसमे देश के सभी प्रख्यात विद्वानों को आमन्त्रित किया गया। पूरे अठारह दिनों तक सभा का अधिवेशन चला। इस बीच जितने भी विद्वानो का ह्वेन-त्सांग से वाद-विवाद एव शास्त्रार्थ हुआ, उन सब मे वे अपनी प्रतिभा तथा योग्यता में पूरे खरे उतरे। इसलिए सम्राट् ने ह्वेन-त्सांग को 10,000 स्वर्ण मुद्राएँ, 30,000 रजत मुद्राएँ और 100 उत्तम सूती परिधान प्रदानकर सम्मानित किया। उन्हें एक सुसज्जित हाथी पर बैठाकर विशाल जलूस के साथ नगर में घुमाया गया।

नालन्दा महाविहार के कुलपति, आचार्यों और विद्यार्थियों ने भी बृहत्तर आयोजन करके ह्वेन-त्सांग की विद्या-बुद्धि की प्रशंसा करते हुए उनको सम्मानित किया। उसकी परिपूर्ण विद्वत्ता के उपलक्ष्य में उसको 'मोक्षदेव' की सर्वोच्च उपाधि से विभूषित किया गया।

12 जनवरी, 1959 ई० को चीनियों ने दोनों देशों के सम्बन्ध-सेतु इस महात्मा के पुनीत अवशेषों को दलाईलामा तथा पंचेनलामा के द्वारा भारत को भेंट किये थे। भारत में उसका स्मारक बनाने के लिए दलाईलामा ने पाँच लाख रुपये देने की भी घोषणा की थी।

हर्षयुगीन भारत का विश्वकोश—हर्षचरित

'हर्षचरित' के आरम्भिक तीन उच्छ्वासों में बाण की आत्मकथा और उसके बाद पाँच उच्छ्वासों में हर्ष की जीवनी वर्णित है। बाण की यह आत्मकथा अपने आप में रोचक, प्रेरणाप्रद और औपन्यासिक लालित्य से ओतःप्रोत है। संस्कृत के एक महान् एवं अद्वितीय कथाकार की जीवनी होने के कारण उसका स्वतः महत्त्व है और उसका सम्बन्ध भारत के एक चक्रवर्ती सम्राट् से जुड़ा होने के कारण उसकी उपयोगिता ऐतिहासिक दृष्टि से महत्तर हो गयी है। इस रूप से यह आत्मकथा तत्कालीन भारतीय संस्कृति का भी एक ऐसा अविभाज्य अंग बन गयी है, जिसके बिना भारत का सांस्कृतिक इतिहास अधूरा प्रतीत होता है।

बाणभट्ट की यह आत्मकथा सुदूर-पूर्व भारत के दो विलक्षण, अद्भुत एवं दिग्गज साहित्य महारथियों की स्मृति को उज्जीवित कर देती है। उन दोनों के नाम हैं कालिदास और अश्वघोष। यद्यपि इन दोनों महाकवियों ने अपनी कोई जीवनी नहीं लिखी है और न उनके जीवन-सन्दर्भों पर स्वतन्त्र रूप से किसी अन्य ग्रन्थकार ने प्रकाश डाला है; किन्तु उनकी रचनाओं के अन्तर्साक्ष्यों से यह ध्वनित होता है कि उनकी साहित्य-साधना को उनके व्यक्तिगत जीवन की विडम्बनाओं ने अतिशय रूप से प्रभावित किया और उन्होंने लोक-जीवन के विभिन्न अनुभवों को बटोरकर उन्हें अपनी रचनाओं में इस प्रकार सँजो दिया कि वे सर्वथा एकाकार हो गये। किन्तु इन अत्यन्त निपुणता से गुम्फित सन्दर्भों से विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे बड़े महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं। सौभाग्यवश 'हर्षचरित' के रूप में बाण की आत्मकथा उपलब्ध है।

बाण का जन्म वात्स्यायनों के उच्च ब्राह्मणवंश में हुआ था। जब वह बालक था, उसकी माता का निधन हो गया था और चौदह वर्ष की अल्पायु

में ही पिता भी दिवंगत हो गये । पिता की मृत्यु से शोकाकुल उसका मन जब कुछ अवचेतन हुआ तो उसने स्वयं को सर्वथा नयी स्थिति में पाया । उसकी अपरिपक्व बुद्धि ने उसके युवा मन को देश-देशान्तरों के नये-नये अनुभव प्राप्त करने के लिए उकसाया । उसकी स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता और अनुशासनहीनता ने कुछ ही दिनों में उसको आवारा (इत्वर) बना दिया । उसने लिखा है—'जैसे किसी के शिर पर ग्रहचाल सवार होती है, वैसे ही स्वच्छन्दता और नवयौवन के नशे में चूर होकर मैं घर से निकल पड़ा, क्योंकि मेरे मन को, देश-देशान्तर का भ्रमण करने की मेरी उत्कण्ठा ने, कसकर बाँध लिया था । मेरे इस आवारेपन की लोगों ने खूब हँसी उड़ायी ।'

यद्यपि बाण की बहुत जग-हँसाई हुई और उसको तरह-तरह से बदनाम किया गया । किन्तु उसके इस आवारेपन ने ही उसको एक दिन महान् बना दिया । उसका प्रवासकाल अनेक परिस्थितियों में बीता । उसके जीवन के ये संस्मरण सुख, दुःख, विनोद, घृणा और आदर्श आदि अनेक अनुभवों से भरपूर हैं । उसने प्रसिद्ध राजकुलों, अनेक केन्द्रों, विभिन्न साहित्यकारों, कलाकारों और भाँति-भाँति के रसिकों के बीच रहकर जीवन बिताया । अपनी मित्र-मण्डली के लगभग चवालीस व्यक्तियों का उसने उल्लेख किया है । उनमे विद्वान्, कलाकार, कवि, नर्तक, संगीतज्ञ, सन्त, आयुर्वेदज्ञ, सिद्ध, धूर्त और परिचारक आदि अनेक भाँति के लोग थे ।

देश-देशान्तरों का भ्रमणकर अनेक वर्षों बाद वह अपने गाँव प्रीतिकूट लौट आया । एक दिन प्रचण्ड गर्मी की ऋतु मे जब वह घर पर आराम कर रहा था, तो एकाएक महाराजाधिराज हर्ष के भाई कृष्ण का सन्देश लेकर मेखलक उसके पास आया । उसने बाण को एक पत्र (लेखमालिका) दिया और प्रणाम करने के बाद पास ही में बैठ गया । बाण ने पत्र को पढ़ा । उसमे लिखा था—'आपको अन्य बातों का पता मेखलक की जवानी विदित होगा । आप बुद्धिमान् व्यक्ति हैं और अब अधिक विलम्ब न करेंगे, जिससे काम बिगड़ता हो ।' तदन्तर मेखलक ने कृष्ण का मौखिक सन्देश इस प्रकार निवेदित किया—'बिना कारण ही मैं तुम्हें अपने बन्धु की भाँति प्रेम करने लगा हूँ । तुम्हारी अनुपस्थिति में दुर्जन लोगों ने सम्राट् से तुम्हारे सम्बन्ध में कुछ उल्टी-सीधी बातें कह डाली हैं । किन्तु मैं जानता हूँ कि वे सही नहीं हैं । मैंने सम्राट् से तुम्हारे सम्बन्ध की सभी बाते विस्तार से बता दी हैं । उन्होंने मेरी बातें मान ली हैं । इसलिए अब अधिक समय गँवाये बिना ही शीघ्र यहाँ

चले आओ। मुझे तुम्हारा इस प्रकार घर पर निष्क्रिय पड़ा रहना अच्छा नहीं लग रहा है। तुम्हें सम्राट् के समक्ष आने में भयभीत नही होना चाहिए और न राज-सेवा को झंझटिया काम समझकर हाथ-पर-हाथ रखे उदासीन बैठे रहना चाहिए।'

रात में बड़ी देर तक उसे नीद नही आयी। अपने हितेच्छु मित्र के प्रति मन-ही-मन वह कृतज्ञता का अनुभव करता रहा; किन्तु राज-सेवा के कष्टप्रद अनुशासन से भी सशकित होता रहा। फिर भी किसी प्रकार उसने अपने को तैयार कर लिया। दूसरे दिन बाण, मेखलक के साथ राज दरबार के लिए चल दिया। एक दिन बाद वह मणितारा गाँव मे अवस्थित सम्राट् की छावनी में पहुँच गया। उसको सम्राट् के पास ले जाया गया। बाण को देखते ही हर्ष ने उपेक्षा भाव से कहा—'मैं तब तक इसे देखना पसन्द नही करता, जब तक यह मेरी प्रसन्नता को प्राप्त नही कर लेता' (न तावदेनमकृतप्रसादः पश्यामि)। हर्ष के इस ओछे व्यवहार से बाण को आघात लगा। राजपुरुषों के समक्ष इस खुलेआम अपमान मे उसका ब्रह्मत्व तिलमिला उठा और उसकी निर्भीक प्रतिभा उद्दीप्त हो उठी। उसने कड़े शब्दों में हर्ष का प्रतिवाद किया। उसने अपनी उच्च वंश-परम्परा, अपने असाधारण पाण्डित्य, अपनी सच्चरित्रता और साथ ही अपने बाल्यकाल की कुछ भूलों पर प्रकाश डाला। बाण का यह वक्तव्य अत्यन्त विनम्र, सयत और स्पष्ट था। उसको सुन लेने के बाद हर्ष ने केवल इतना ही कहा—'हमने ऐसा ही सुना था' और बाण की ओर स्नेहिल दृष्टि डालकर उस दिन राजसभा को विसर्जित कर दिया।

रात में बाण के मन में अनेक विचार उठे। उसने हर्ष की बातो को अनुकूलता से ग्रहण किया और अपनी यह धारणा बनायी कि यह गुणी राजा मुझे अच्छे रूप में देखने का इच्छुक है। इसी प्रकार कुछ दिन बीते। अन्त में हर्ष को जब बाण के व्यक्तित्व की वास्तविक जानकारी हो गयी तो उसने बाण को ससम्मान आमन्त्रित किया। बाण समुचित सुविधाओं को प्राप्त करता हुआ हर्ष के दरबार में रहने लगा। धीरे-धीरे सब पर उसके प्रभाव की छाप पड़ती गयी और उसका सम्मान बढ़ता गया। अनेक वर्षों तक हर्ष के दरबार में रहकर बाण अपने घर लौट आया। यही बाण का आत्मवृत्त है।

एक दिन बाण के भाइयों ने उससे हर्ष के चरित को सुनाने का आग्रह किया। इस पर पहले तो उसने असमर्थता प्रकट की; किन्तु दूसरे दिन अपने

सभी बन्धु-बान्धवों को एकत्रकर बड़ी उत्सुकता से उसने हर्ष के चरित को सुनाना आरम्भ किया। 'हर्षचरित' के पाँच उच्छ्वासों में यह कथा वर्णित है।

समस्त संस्कृत-साहित्य मे बाणभट्ट ही एकमात्र ऐसा दूरदर्शी इतिहासबुद्धि साहित्य-सृष्टा हुआ, जिसने अपना आत्मचरित लिखकर अपने सम्बन्ध की सम्पूर्ण जानकारी को भावी पीढियो के लिए सुरक्षित रखने का सराहनीय प्रयत्न किया और अपनी कृतियो में तत्कालीन भारत की, विशेष रूप से हर्ष के शासनकाल की, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का विशद वर्णन किया।

बाण ने गुप्तो से लेकर हर्ष तक के भारत की अन्तःसीमाओं का भी उल्लेख किया है। उज्जयिनी के वर्णन मे बाण ने बताया है कि महाराज तारापीड के साम्राज्य की सीमाएँ पूर्व मे उदयाचल तक, दक्षिण मे सेतुबन्ध तक, पश्चिम में मन्दराचल तक और उत्तर मे गन्धमादन तक फैली हुई थी।

'कादम्बरी' मे उज्जयिनी की श्रीविशाल समृद्धि के वर्णन मे तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा व्यापारिक स्थितियो का यथार्थ परिचय मिलता है। वह महानगरी 7वी शती का व्यापार-केन्द्र थी। उसमे पद्मपति व्यापारी रहते थे। वह रत्नो तथा मणियो के लिए विश्व-विख्यात थी। वहाँ के नागरिक अपनी दानशीलता के लिए साक्षात् कल्पवृक्ष थे। वे वीर, विनयी, प्रियंवद, सत्यवादी, उदार, दक्ष, अनेक कलाओं में पारगत और नाट्यशास्त्र तथा अभिनयादि कलाओ मे निपुण थे। वहाँ के घर, दूकाने और नगर-मार्ग वास्तुविद्या के आचार्यों द्वारा शास्त्रविधि से बनाये गये थे। पद्मपति व्यापारियो के गगनचुम्बी हर्म्य स्थापत्य के अनूठे उदाहरण थे। वहाँ के राजमहल और व्यापारियो के भवनों मे चित्रकला के अनुपम उदाहरण देखने को मिलते हैं।

उस युग मे काव्य और कला के प्रति कितना अनुराग था, इसका परिचय हमे 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छ्वास मे वर्णित पद-गोष्ठी, काव्य-गोष्ठी, जल्प-गोष्ठी, गीत-गोष्ठी, नृत्य-गोष्ठी, वाद्य-गोष्ठी और वीणा-गोष्ठी से मिलता है। इन गोष्ठियो मे नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र आदि कला और काव्य, आख्यान, आख्यायिका, इतिहास, पुराण आदि साहित्यिक प्रवृत्तियो पर विचार-विनिमय होता था। 'कादम्बरी' मे वर्णित अनेक विद्याओं के आगार भगवान् जाबालि का आश्रम तत्कालीन ज्ञान का महान् केन्द्र था। तारापीड की राजधानी मे साहित्य और कला के अनेक विश्रुत केन्द्र थे। तारापीड स्वयं मन्त्रशक्ति,

प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति का ज्ञाता था। उसका मन्त्री शुकनास तो समस्त शास्त्रों और कलाओं में पारंगत था। महाराज शूद्रक की राजधानी विदिशा कलाओं और शास्त्रो की केन्द्रस्थली थी। 'हर्षचरित' के उक्त विवरण के अनुसार वहाँ काव्य और कला की गोष्ठियों के आयोजन द्वारा साहित्य और कला की निरन्तर चर्चाएँ होती थी।

उस युग के कला-कौशलो तथा शिल्पों की वस्तुस्थिति की जानकारी 'हर्षचरित' के चतुर्थ उच्छ्वास के उस प्रसंग से प्राप्त होती है, जिसमें राज्यश्री के विवाह के अवसर पर तैयार किये गये वस्त्रों का वर्णन किया गया है। ये वस्त्र अनेक प्रकार के थे, जैसे क्षौम (अलसी के रेशों से निर्मित वस्त्र), बादर (सूती वस्त्र), दुकूल (बगाल मे निर्मित वस्त्र), लालातन्तुज (कौशेय वस्त्र), पट्ट-अंशुक-चीनांशुक (झीने-रेशमी वस्त्र), नेत्र (रेशमी डोरे की धोती) और स्तवरक (सितारे तथा मोतियो से जडे शामियाने) आदि। उन वस्त्रो को अनेक रगों में रगा गया था और उन पर भाँति-भाँति की छपाई की गयी थी।

'हर्षचरित' के पाँचवें उच्छ्वास में तत्कालीन धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदायो का उल्लेख किया गया है। बाण ने दिवाकर मित्र के आश्रम मे रहनेवाले उन्नीस सम्प्रदायो के अनुयायियो की नामावली इस प्रकार दी है–1–आर्हत, 2–मस्करी, 3–श्वेतपट, 4–पाण्डुरिभिक्षु, 5–भागवत, 6–वर्णी, 7–केशलुंचन, 8–कापिल, 9–जैन, 10–लोकायतिक, 11–कणाद, 12–औपनिषद्, 13–ऐश्वरकरणिक, 14–कारन्धमी, 15–धर्मशास्त्री, 16–पौराणिक, 17–साप्ततन्तव, 18–शाब्द और 19–पाँचरात्रिक। एक ही आश्रम में एकत्र ये विभिन्न धार्मिक, दार्शनिक सम्प्रदाय वस्तुतः उस युग के वैचारिक सद्‌भाव और बौद्धिक विकास के परिचायक थे।

बाण ने तत्कालीन विद्या-केन्द्रो पर भी प्रकाश डाला है। वे विद्या-केन्द्र नालन्दा, काशी, अवन्ति, मथुरा और तक्षशिला आदि विभिन्न नगरो मे स्थापित थे, जहाँ उस युग के प्रसिद्ध विद्वान् तत्त्व-चिन्तन और विद्याभ्यास किया करते थे। इन विद्या-केन्द्रों में विधिवत् विद्याध्ययन की व्यवस्था थी। सर्व प्रथम मूल ग्रन्थों को पढ़ाया जाता था। तदनन्तर अधीत विद्याओं पर वाद-विवाद हुआ करता था। सभी प्रश्नों का समुचित समाधान किये जाने पर ही अध्येता को शास्त्र-व्युत्पन्न समझा जाता था।

उस युग में द्विजातियो के परिवार अत्यन्त सुसंस्कृत होते थे। उनमे धृति क्षमा, शान्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा, कलाभिज्ञता, शास्त्ररुचि और काव्यप्रेम आदि

अनेक गुण एक साथ देखने को मिलते थे। तत्कालीन संस्कृति और आचारों का वर्णन बाण ने 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छ्वास में अपने बन्धु-बान्धवों के प्रसग में किया है। बाण ने लिखा है कि 'श्रौत आचारो का उन्होंने आश्रय लिया था। झूठ तथा दम्भ को वे पास नही आने देते थे। कपट, कुटिलता और शेखी मारने की आदत उनमें नहीं थी। पापों से वे बचते थे। शठता को दूर करके अपने स्वभाव को वे निर्मल बनाये रखते थे। हीनता उनमें रंचमात्र भी नहीं थी। दूसरे की निन्दा से अपने चित्त को वे वियुक्त रखते थे। उनकी धीर बुद्धि मे याचकता का नाम भी नही था। स्वभाव से स्थिर, प्राणिजनों पर सदय, कवि, वाग्मी, सरस, भाषा में प्रीति रखने वाले, विद्वानों के अनुरूप हास-परिहास मे चतुर, मिलने-जुलने में कुशल, नृत्य-गीत-वादित्र के प्रेमी, इतिहास मे अतृप्त रुचि रखने वाले, दयावान्, सत्यवादी, साधुओं के इष्ट, सब सत्त्वों के प्रति सौहार्द रखने वाले, करुणाद्रवित, रजोगुण से अस्पृष्ट, क्षमावन्त, कलाओ में निपुण और समस्त गुणो से अलकृत द्विजातियो के वे कुल असाधारण थे।'

सुबन्धु और दण्डी

सस्कृत-साहित्य मे तीन महान् गद्यकार हुए सुबन्धु, दण्डी और बाण। इन तीनो का स्थितिकाल प्राय: एक ही है—सातवी शती के लगभग; अर्थात् हर्ष का शासनकाल। सुबन्धु की 'वासवदत्ता' मे राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रणय-कथा वर्णित है। 'वासदवत्ता' एक लम्बी कहानी, या कहना चाहिए एक लघु उपन्यास है। अपनी इस कृति मे सुबन्धु ने तत्कालीन परिस्थितियो का चित्रण चिन्तामणि राजा के सन्दर्भ मे किया है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन आचार-व्यवहार, संस्कृति और लोकाचारो का विस्तृत वर्णन सारिका तथा शुक द्वारा कही गयी कथा में किया गया है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन सामाजिक जीवन आर्थिक दृष्टि से उन्नत था। लोग कुबेर और वरुण के समान दानी थे, उदार तथा धनवान् थे। वे गन्धर्वों के समान प्रियभाषी और कामदेव के समान प्रियदर्शी थे। वे भरत और लक्ष्मण के समान प्रजापालक थे। धर्मों मे उनकी पूर्ण निष्ठा और अतिथि-सेवा मे अभिरुचि थी। वे ज्ञानी, बहुज्ञ, काव्य-मर्मज्ञ और कलाविद् थे। वेश्याओं को समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त नही था। उसने कामकला में चतुर कर्नाटकदेश तथा अपरान्तकदेश की कामकला-चतुर रमणियों, कपोल-फलक पर पत्रावली-रचना

करने में चतुर केरलदेश की युवतियों और चौसठ कलाओं में निपुण मालव देश की ललनाओं का रसभाव-समन्वित वर्णन किया है।

वासवदत्ता स्वयम्बर में उपस्थित विभिन्न देशों के राजाओं तथा राजकुमारों की वेश-भूषा के रोचक वर्णन में तत्कालीन भारत की सास्कृतिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है।

सुबन्धु की अपेक्षा दण्डी के 'दशकुमारचरित' में तत्कालीन भारत की सांस्कृतिक स्थितियों का विशद वर्णन हुआ है। उसमे काँची, सुह्मदेश, अश्मकदेश, लाटदेश, कालपतनद्वीप, अगदेश, अनंगदेश, चम्पा, उज्जैन, श्रावस्ती और विदर्भ आदि भारत के विभिन्न अचलो की सजीव सास्कृतिक झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। जिन राजकुमारों की रोचक कथाएँ उसमें निबद्ध हैं, वे भारत के विभिन्न जनपदों के प्रतिनिधि हैं और उनके द्वारा सामाजिक जीवन के वैविध्य को बडी निपुणता से अभिव्यंजित किया गया है। उनमें राजा से लेकर रंक तक के रोचक चित्र अंकित हैं। ये कथाएँ राजदरबारो के वैविध्यपूर्ण वातावरण से लेकर जन-सामान्य तक के जादूगर, धूर्त, वेश्या, दस्तकार, जुआरी, व्यापारी, जैन साधु और बौद्ध भिक्षुणी आदि के चरित्रो से सम्बद्ध है।

स्त्रियों के मनोरंजन के साधनो मे कलाकारिता तथा कन्दुक-क्रीडा का प्रमुख स्थान था। 'मित्रगुप्त की आपबीती' मे सुह्मदेश के राजा तुगधन्वा की पुत्री राजकुमारी कन्दुकावती की कलात्मक कन्दुक-क्रीडा का मार्मिक वर्णन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय राजमहलों के अन्दर स्त्रियो के लिए कन्दुक-क्रीड़ा की विशेष व्यवस्था थी। यह कन्दुक-क्रीड़ा इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी कि उसके आधार पर कन्दुक-नृत्य के नाम से एक नये नाट्य-विधान का प्रचलन हो गया था। स्त्रियो की कलाप्रियता इस सीमा को पहुँच गयी थी कि अपने कला-विमुख पतियो को छोड़कर वे किसी ऐसे व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ने में अपना सम्मान एव गौरव समझती थी, जो कलारसिक हो। कालिन्दवर्मा की पुत्री कल्पसुन्दरी को कला-कौशलो और शिल्पो का इतना अधिक शौक था कि अपने पति विकटवर्मा से उसकी सदैव इसलिए अनबन रहती थी कि न तो उसकी ललित कलाओं में अभिरुचि थी और न कविता, कहानी तथा नाटक आदि में उसका अनुराग था।

इन कलाओं का निष्कर्ष शिक्षा या नीति में दिखाया गया है। 'दशकुमारचरित' के प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त, विश्रुत, उपहारवर्मा,

अपहारवर्मा, पुष्पोद्भव, अर्थपाल, सोमदत्त और राजवाहन आदि दस राजकुमारों की कलाओं से ज्ञात होता है कि वे विभिन्न लिपियों तथा देश-विदेश की अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। छह वेदांगों सहित चारों वेदों का उन्होंने अध्ययन किया था। काव्य, नाटक, उपाख्यान, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, मीमांसा आदि विद्याओं में उनका सम्यक् प्रवेश था। संगीतशास्त्र की दृष्टि से उन्होंने वीणा, मृदंग आदि वाद्यों को बजाने में विशेष प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। रत्नों और मणियों की परख करना, मन्त्रविद्या का अभ्यास, औषध, चिकित्सा, मायाजाल, अनेक प्रकार के आश्चर्यों को दिखाना वे भली भाँति जानते थे। घुड़सवारी और मृगया में उनकी विशेष गति थी।

राजा को सर्वगुण-सम्पन्न होना अत्यावश्यक था। राजा पुण्यवर्मा की कथा में दण्डी ने सम्भवतः किसी समकालीन या आश्रित शासक का उल्लेख करते हुए बताया है कि वह धर्म का अवतार, पुण्यात्मा, बलशाली, सत्यवादी दानी, विनम्र, अच्छी नसीहत देनेवाला, कृपालु, दर्शनीय, बुद्धिमान्, धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवस्था देने वाला, लोकोपकारी, विद्वानों का प्रेमी, उदार, प्रजापालक, कला-कौशल-हुनर-दस्तकारियों का ज्ञाता, अर्थशास्त्रज्ञ, सन्धि-विग्रह आदि छह उपायों का युक्ति के साथ उपयोग करने वाला, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र को उनके गुण-कर्मानुसार व्यवस्थित करने वाला, कुशल प्रशासक, दीर्घायु और श्रुतकीर्ति था।

इस प्रकार बाण के अतिरिक्त सुबन्धु और दण्डी की कथा कृतियों मे हर्षयुगीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, कलात्मक, शैक्षिक और सांस्कृतिक स्थितियों का विशद रूप मे वर्णन हुआ है।

हर्ष के उत्तराधिकारी

बाण के 'हर्षचरित' तथा ह्वेन-त्सांग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि हर्ष की अनेक रानियाँ होने के बावजूद उसका कोई पुत्र नहीं था। उसके अग्रज राज्यवर्द्धन की भी कोई सन्तान नहीं थी। हर्ष के बाद कन्नौज की शासन-परम्परा के सम्बन्ध में आधुनिक इतिहासकारों ने चीनी स्रोतों की परम्परागत कथा के आधार पर यह मन्तव्य स्थापित किया है कि हर्ष की मृत्यु के बाद उसके मन्त्री अरुणाश्व या अर्जुन ने बलपूर्वक राज्यसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया था। उस समय भारत मे चीनी मिशन का अध्यक्ष

वांग-ह्वेन-सी था। अराजकता उत्पन्न हो जाने के कारण वह तिब्बत भाग गया था। वहाँ उस समय स्रोङ्-बत्सन्-स्गम-पो (617-698 ई०) का शासन था। हर्ष के साथ उसके अच्छे सम्बन्ध थे। चीनी दूत ने उक्त शासक की सहायता से एक सेना का संगठनकर अर्जुन पर आक्रमण कर दिया और उसको पराजित कर बन्दी बना दिया। इसी रूप मे उसको चीन ले जाया गया (स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 367); सिलवां लेवी—इण्डियन एटीक्वेरी, पृ० 111, 1900)। इस सम्बन्ध में इतिहासकारो का यह भी अभिमत है कि आसाम के हर्षद्रोही राजा भास्करवर्मा ने अराजकता का लाभ उठाकर अपने प्रभुत्व का विस्तार किया और तिब्बती-नेपाली सेनाओं की सहायता से अरुणाश्व या अर्जुन को पराजितकर बन्दी बना लिया (चटर्जी—हर्षवर्द्धन, पृ० 208-210)। हर्ष के बाद उसके उत्तराधिकारी के सम्बन्ध मे कोई निश्चित इतिवृत्त उपलब्ध नही है।

मौखरीवंश

उत्तरी सीमा के मध्ययुगीन राजपूत क्षत्रियो मे कन्नौज के स्वामी मौखरियो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतापी हर्ष के बाद कन्नौज की राजगद्दी लगभग अठहत्तर वर्षों तक किसी प्रभावशाली शासक के अभाव मे सूनी पड़ी रही। उत्तर भारत के मध्ययुगीन हिन्दू-साम्राज्य के इन अन्धकारपूर्ण अठहत्तर वर्षों की अवधि हर्ष के निधन काल (647-48 ई०) से लेकर यशोवर्मन् के राज्यारोहण (725-26 ई०) तक है। यशोवर्मन् के बाद कन्नौज की विलुप्त शासन-परम्परा पुनर्जीवित हुई। यशोवर्मन् की वंश-परम्परा के सम्बन्ध मे इतिहासकार मौन हैं। कुछ विद्वान् उसका सम्बन्ध मौर्यवश से और कुछ 'वर्मन्' शब्द के कारण मौखरीवंश से स्थापित करते हैं। उसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वह काश्मीर के दिग्विजयी राजा ललितादित्य मुक्तापीड का समकालीन था। कल्हण ने 'राजतरगिणी' (४।१३४) मे लिखा है कि ललितादित्य ने यशोवर्मन् को परास्त किया था। डॉ० स्टीन ने 'राजतरगिणी' की भूमिका मे इस घटना को 736 ई० से पहले निर्धारित किया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों के मत मे यशोवर्मन् के स्थितिकाल की सीमा (725, 26-752 ई०) के बीच है (त्रिपाठी—हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० 192, 212)।

यशोवर्मन् राम का अनन्य उपासक था। रामायण की कथा के आधार पर उसने 'रामाभ्युदय' नाम से एक नाटक की रचना की थी, जो कि सम्प्रति उपलब्ध नही है; किन्तु जिसके अस्तित्व के प्रमाण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे

वर्तमान हैं। यह मेधावी एवं विद्वान् शासक विद्वानों का भी आश्रयदाता था। कल्हण की 'राजतरंगिणी' (४।१४४) में स्पष्ट रूप से कन्नौजपति यशोवर्मा के दो राजकवियों का उल्लेख हुआ है, जिनके नाम थे भवभूति और वाक्पतिराज। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि वाक्पतिराज, भवभूति का शिष्य था। वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' नाम से एक प्राकृत महाकाव्य की रचना की थी, जिसमें यशोवर्मन् का यशोगान और भवभूति की कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इस महाकाव्य मे यशोवर्मन् को एक महान् विजेता और शक्तिशाली शासक कहा गया है। उससे यह भी विदित होता है कि मगधराज जीवितगुप्त द्वितीय से उसका भयंकर युद्ध हुआ था।

भवभूति

संस्कृत-साहित्य मे भवभूति का स्थान भास और कालिदास जैसे प्रख्यात नाटककारों की कोटि मे निर्धारित किया गया है। उन्होने तीन नाटकों की रचना की थी, जिनके नाम है—'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित'। उनमे प्रथम 'प्रकरण' और अन्त के दो नाटक हैं। भवभूति ने उम्बेक नाम से वेदान्त दर्शन पर 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक एक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ की भी रचना की थी, जिसके कारण वेदान्त के क्षेत्र में भी उनको प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है।

भवभूति की लोकप्रियता उनके नाटकों, और विशेष रूप से 'उत्तररामचरित' के कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ मे उनके नाटकों का उतना सम्मान नही हुआ। उनके आरम्भिक दो नाटकों की प्रस्तावना से यह भी ज्ञात होता है कि नाटकों से उनकी बड़ी घनिष्ठता थी और नाटक मण्डलियों से गहरा सम्पर्क। कुछ असम्भव नही कि बाल्यकाल मे उन्होने इस प्रकार की नाटक-मण्डलियो मे सक्रिय भाग भी लिया हो। उन्होंने अपने नाटक अभिनय की दृष्टि से लिखे थे और उज्जयिनी के भगवान् काल-प्रियनाथ (महाकाल महादेव) के उत्सव पर उनका अभिनय हुआ था। वे शिव के अनन्य उपासक थे।

भवभूति को संस्कृत-साहित्य में करुण रस का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना जाता है। इस करुण रस को भवभूति ने सीता के विछोह में शोकाकुल राम के चरित में बडी मार्मिकता से अभिव्यंजित किया है। सीता के साथ दण्डकारण्य एवं पचवटी में बिताये गये चिरकाल की अनुभूतियां राम के हृदय में व्यथा

बनकर फूट निकलती हैं; और वे कहते हैं—"मेरा यह घनीभूत शोक बहुत दिनों के बाद आज अचानक उमड़कर मेरे सारे शरीर में तीव्र विष की भाँति सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरे हृदय में गड़े हुए शल्य को किसी ने जोर से धक्का देकर हिला दिया है। मेरे हृदय के मर्मस्थल का जो घाव भरा हुआ था, जान पड़ता है कि वह आज दरककर फूट पड़ा है। यह दारुण शोक मुझे विकल कर रहा है। मैं मूर्च्छित हुआ जा रहा हूँ।" राम की इस घनीभूत व्यथा तथा शोकविह्वल मनःस्थिति का चित्रण करते हुए भवभूति लिखते हैं "राम का यह करुण रस उस पुटपाक के समान है, जिसके अन्दर तीव्र अन्दर्वेदना प्रज्ज्वलित हो रही है। यह वेदना हृदय के मर्मस्थल में अनी की तरह चुभकर दारुण यन्त्रणा को उत्पन्न तो करती है; किन्तु कभी भी अमर्यादित या अनर्गल प्रलाप का रूप धारण नहीं करती है"—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥

'उतररामचरित' मे भवभूति की करुणारसमयी वाणी इतनी मार्मिक और प्रभावकारी रूप से उदित हुई है कि वह जड़ में चैतन्य और चेतन में जड़ता भर देती है; और 'तब मनुष्यों की बात ही क्या, पत्थर तक रो पड़ते हैं और वज्र का हृदय भी विगलित हो जाता है'—

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

आयुधवंश

यशोवर्मन् की मृत्यु के लगभग 18-20 वर्ष बाद कन्नौज की राजगद्दी पर एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा हुई, जो कि इतिहास मे आयुधवंश के नाम से विख्यात हुआ। इस आयुधवंश के तीन शासक हुए—वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध। इनमें वज्रायुध का नाम राजशेखर की 'कर्पूरमजरी' (३।५२) में उल्लिखित है। जैन 'हरिवंश' पुराण के अनुसार इन्द्रायुध का समय शक सम्बत् 705 (783-84 ई०) था (बम्बई गजेटियर 1896, खण्ड 1, भाग 2, पृ० 197, नोट 2; इण्डि० एण्टी० 15, पृ० 141-42)। इन तीनो आयुधवंशीय राजाओं का शासनकाल 770-794 ई० के बीच था।

प्रतिहारवंश

राजपूतों के इतिहास में प्रतिहार या परिहारवंश का उल्लेखनीय नाम रहा है। वे अग्निवंशीय क्षत्रिय थे। उन्होने प्रारम्भ में भीनमाल तथा मंडोर को

अपनी राजधानी बनाया। मंडोर के प्रतिहार, भीनपाल के प्रतिहारों के सामन्त थे। भीनपाल के प्रतिहारों ने मेवाड़, गुजरात, दिल्ली तथा कन्नौज तक अपना विस्तार किया। आयुधवंश के बाद आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में कन्नौज पर प्रतिहारवंश का अधिकार हुआ, जिसका प्रथम शासक नागभट्ट था। नागभट्ट के बाद उसका प्रपौत्र वत्सराज, फिर उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय, तदनन्तर उसका पुत्र रामचन्द्र, उसके बाद उसका पुत्र मिहिरभोज और तत्पश्चात् उसका पुत्र निर्भयराज महेन्द्रपाल प्रथम लगभग 885 ई० मे कन्नौज की गद्दी का स्वामी नियुक्त हुआ। ये प्रतिहार मंडोर (मन्दौर, जोधपुर) से अवन्ति होते हुए कन्नौज मे प्रविष्ट हुए थे (एपि० इण्डिका, 6, पृ० 195-96)।

इस प्रतिहारवंश में महेन्द्रपाल प्रथम 'निर्भयराज' ही एक ऐसा शासक हुआ, जिसने विद्वानो को सम्मानित करके साहित्य की अभिवृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उसकी राजसभा का सर्वाधिक देदीप्यमान् रत्न, कवि एवं काव्यशास्त्री राजशेखर हुआ। निर्भयराज 910 ई० मे दिवगत हुआ। उसके उत्तराधिकारियो मे महीपाल, महेन्द्रपाल द्वितीय, देवपाल, विजयपाल, राज्यपाल, त्रिलोचनपाल, और यशपाल का नाम उल्लेखनीय है।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण ने प्रतिहारों को शक्तिहीन बना दिया था। बाद मे 1079 ई० के लगभग राष्ट्रकूटो (राठौरो) ने कन्नौज पर आक्रमण करके उन्हे सर्वथा क्षीण कर दिया। तदनन्तर उनका अस्तित्व राजस्थान में जागीरदारो के रूप मे बहुत समय बाद तक बना रहा।

राजशेखर

कविराज राजशेखर की 'काव्यमीमासा मध्ययुगीन साहित्य-समृद्धि, और सामाजिक आचार-विचारो और लोक-जीवन मे प्रचलित बहुविध मान्यताओ का पिटारा है। राजशेखर ने अपने ग्रन्थो मे, विशेष रूप से 'बालरामायण' की प्रस्तावना मे, अपना जैसा परिचय दिया है, तदनुसार वह विद्वद्वश मे उत्पन्न हुए थे। वे उपाध्याय ब्राह्मण थे और महाराष्ट्रीय यायावरवश मे उनका जन्म हुआ था। उन्होने चौहानवशीया क्षत्रिया अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था, जो कि विदुषी और काव्य-कला-प्रवीणा थी। इस रूप में उनकी उदारता भी प्रकट होती है।

'कविराज' उनका वीरुद था, जो कि उनके विलक्षण व्यक्तित्व और असाधारण पाण्डित्य का सूचक था। वे कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल और

उनके पुत्र महीपाल, दोनों को राजसभा में सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित रहे। वे महेन्द्रपाल के गुरु और महीपाल के संरक्षक थे। इस गुर्जर प्रतिहारवंश की प्रथम राजधानी भिन्नमाल या भिलमाल (राजस्थान) थी और उसके बाद वे कन्नौज के स्वामी बने। इन दोनों शासकों का शासन काल 890-940 ई० था। अतः राजशेखर 9वीं शती मे हुए।

राजशेखर ने पांचाल देशवासियों के काव्यगुणों, भाषा-प्रयोगों और आचारों की बड़ी प्रशंसा की है। राजशेखर ने पांचाल देश की सीमाओं का समीकरण 'मनुस्मृति' के 'मध्यदेश' से किया है। उसकी सीमाएँ थानेश्वर से लेकर प्रयाग तक और हिमालय की उपत्यका से लेकर यमुना तक फैली हुई थीं। वह उत्तर और दक्षिण दो भागों मे विभक्त था। राजशेखर ने पांचाल जनपद को 'अन्तर्वेदी' नाम से भी कहा है। दक्षिण पांचाल की राजधानी कान्यकुब्ज और उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा (वर्तमान अहिच्छन्ता) थी।

राजशेखर ने लिखा है कि पांचाल देश के कवियों की रचनाओं मे ग्रामीणता का अभाव होता है। वे उच्चतर शास्त्रीय तथा लौकिक अर्थों की नव्य-भव्य उक्तियों के अभिव्यंजन मे पटु होते हैं। उनकी काव्य-पाठ-प्रणाली भी सर्वोत्कृष्ट होती है। उसमें अवर्णनीय माधुर्य होता है। उनका भाषा-ज्ञान भी अत्यन्त पुष्ट एव सर्वांगीण है। जबकि भिन्न-भिन्न देशों के कवि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा भूतभाषा आदि किसी एक में निपुण होते हैं; किन्तु पांचाल देश के कवि सभी भाषाओं में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

पांचाल के प्रमुख नगर कान्यकुब्ज में सभ्य एव सुशिक्षित नागरिक निवास करते हैं। वहाँ की रमणियों की वेष-भूषा मुग्धकारी होती है। उनके कानों में लटकते हुए झुमके, छातियों पर झूलते हुए हार और धोती के ऊपर ओढ़ी जाने वाली पैरों तक लटकती हुई चादर वस्तुतः वन्दनीय है। उनका यह वेष-विन्यास, बोल-चाल, व्यवहार की मुग्धकारी शैली, केशों की आकर्षक सज्जा और आभूषण धारण करने का प्रकार इतना उत्कृष्ट होता है कि सभी देशों की सभ्य ललनाएँ सहज ही उनका अनुकरण करने को लालायित रहती हैं।

मध्ययुगीन भाषा-ज्ञान की दृष्टि से 'काव्यमीमांसा' वास्तव में विश्वकोश के समान है। राजशेखर की अन्य कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्हें तत्कालीन लोक भाषा-बोलियों से अत्यन्त अनुराग था। उस युग में संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची आदि भाषाओं में भी

काव्य-रचना होती थी। उन्होंने लिखा है कि इन सभी भाषाओं में समान रूप से काव्य-रचना करनेवाला 'कविराज' महाकवि से भी श्रेष्ठ है।

मध्ययुगीन भारत के विभिन्न अंचलों में विशेष रूप से प्रयुक्त होनेवाली भाषाओं के सम्बन्ध में राजशेखर का कहना है कि गौड़ आदि देशों के कवि संस्कृत में अधिक रुचि रखते हैं। लाटदेश निवासी प्राकृतप्रिय होते हैं। मारवाड़ तथा राजपूताना (मरुभूमि) और पंजाब के कवि अपभ्रंश भाषा में अधिक रुचि रखते हैं। अवन्तिका, पारियात्र और दशपुर आदि देशों के कवि भूतभाषा या पैशाचीभाषा का अधिक प्रयोग करते हैं। किन्तु मध्यदेश के निवासी कवि सभी भाषाओं में समान रुचि रखते हैं।

राजशेखर ने प्राकृत और अपभ्रंश को भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है कि जब प्राकृत भाषा के वर्ण कानों में पड़ते हैं तो अन्य भाषाओं का रस कानों को कड़वा लगता है। लाट देश के लोग संस्कृत के शत्रु होते हैं; किन्तु उनका प्राकृत पाठ बड़ा ही सुन्दर होता है, संस्कृत कठोर और प्राकृत कोमल है। उनमें उतना ही अन्तर है, जितना पुरुष और स्त्री में। प्राकृत ही संस्कृत की जननी है।

अपभ्रंश को उन्होंने भव्य भाषा कहा है। वह काव्य-रचना के लिए अत्यन्त उपयुक्त होती है। भूतभाषा या पैशाचीभाषा काव्य-रचना के लिए अत्यन्त सरस होती है। इस भाषा की उन्होंने विस्तार से चर्चा की है।

राजशेखर की 'कप्पूरमंजरीए' (कर्पूरमंजरी) उनके प्राकृत-प्रेम का अनन्य उदाहरण है। समस्त संस्कृत-साहित्य में यह नाटिका एक नया एवं बेजोड़ प्रयास है।

'कर्पूरमंजरी' राजशेखर की अत्यन्त लोकप्रिय नाटिका है। उसकी लोकप्रियता का कारण उसका लोकभाषा-प्रयोग है। साथ ही अभिनेयता की दृष्टि से भी उसका श्रेष्ठ स्थान है। उसमें सुन्दर गीतों और नृत्यों की योजना करके राजशेखर ने अपने कलानुराग को द्योतित किया है। 'बालरामायण' के पाँचवें अंक में सीता की काष्ठनिर्मित प्रतिमा का उल्लेख काष्ठ मूर्तियों के निर्माण की परम्परा को ध्वनित करता है। इसी प्रकार 'विद्धशालभंजिका' में लाटदेश के राजा चन्द्रवर्मा की छद्मरूपधारिणी पुत्री मृगांकावली राजकुमार विद्याधरमल्ल के गले में उस समय मोतियों की माला पहना देती है, जब वह अपनी चित्रशाला में अपनी प्रेयसी की उत्कीर्णित मूर्ति को देखने में

तन्मय है। इस नाटिका का 'विद्धशालभंजिका' नामकरण ही कलानुराग की तत्कालीन परिस्थितियों का द्योतक है और राजशेखर के कलाप्रेम का परिचायक है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस नाटिका का उल्लेखनीय स्थान है। उसके एक पात्र भैरवानन्द द्वारा राजशेखर ने तत्कालीन समाज में प्रचलित तन्त्रवाद की सजीव झलक प्रस्तुत की है। वह न तो एक अशिक्षित हकीम है और न कोरा जादूगर ही, अपितु एक सिद्धयोगी है। यह सिद्धि उसने तान्त्रिक साधना द्वारा प्राप्त की है। तत्कालीन सामाजिक जीवन में व्याप्त तान्त्रिकता का वह प्रतिनिधि है। अपनी सिद्धि के बल पर वह अद्‌भुत कार्यों का प्रदर्शन करता है। उसकी कुछ बातें अश्लील और अनैतिक प्रतीत होती हैं। वह कहता है कि 'विधवा या चाण्डाल स्त्री को मैं अपनी धर्मानुकूल पत्नी मानता हूं। मैं सुरा पीता हूं और मांस-भक्षण करता हूं। भिक्षा मेरा भोजन है और पशुचर्म मेरा बिस्तर। बताओ तो, यह कौलधर्म किसको अच्छा नहीं लगता ?'

ये उक्तियाँ तत्कालीन समाज में कौलिकों की स्थिति को प्रकट करती हैं। कौलधर्मानुयायी तान्त्रिक के लिए स्त्री-सेवन, मांस-भक्षण और मदिरा-पान न तो अश्लील है और न अनैतिक ही। उसकी दृष्टि से एक शूद्रा तथा विधवा को पत्नी रूप मे वरण करना आध्यात्मिक पतन नहीं है। प्रस्तुत नाटिका में तन्त्र सम्प्रदाय के उक्त नये दर्शन का सुन्दर चित्रण हुआ है।

राष्ट्रकूटवंश

राजपूतों के राष्ट्रकूटवंश या गहड़वालवंश के मूल इतिहास के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। इतिहासकारों का अभिमत है कि कदाचित् वे किसी सामान्य जाति से सम्बद्ध थे, जो राजनीतिक शक्ति अर्जित करने और ब्राह्मणधर्म को अपनाने के कारण बाद में क्षत्रियों से सम्बद्ध हो गये। कुछ विद्वानों ने उनका सम्बन्ध सूर्यवंश से स्थापित किया है। वे पहले दक्षिण के शासक रहे और बाद में प्रतिहारों को पराजितकर कन्नौज के स्वामी बने। कन्नौज में पहले तो वे गहड़वाल कहलाये और बाद में अपने दाक्षिणात्य पुराने वंश राष्ट्रकूटों के नाम से विख्यात हुए। राजस्थान में उनकी जिस शाखा ने अपनी स्थिति को कायम किया, वह कन्नौजिया राठौर के नाम से कही गयी।

दक्षिण में किसी समय राष्ट्रकूट वातापि के चालुक्यों के सामन्त थे । 7वीं शती ई० के लगभग उन्होंने बरार में एक छोटे-से राज्य की नीव डाली और उसको बढ़ाया । इन्द्र का पुत्र दन्तिदुर्ग (740-758 ई०) इस वंश का प्रभावशाली शासक हुआ । उसके बाद उसका चाचा कृष्ण प्रथम गद्दी पर बैठा । उसने दक्षिण के चालुक्यों पर विजय प्राप्त करके अपने राज्य का विस्तार किया । एलोरा के जगत्प्रसिद्ध शिव-मन्दिर का निर्माण उसी ने कराया था । वह परम शिवभक्त था । उसके बाद उसका पुत्र गोविन्द द्वितीय और तदनन्तर उसका छोटा भाई ध्रुव धारावर्ष गद्दी पर बैठा । उसने दक्षिण तथा उत्तर भारत तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया । उसके बाद उसका पुत्र गोविन्द तृतीय शासक बना । उसने कन्नौज से कन्याकुमारी और काशी से भरोच तक के राजाओ को पराजित करके अपने राष्ट्रकूटवंश का विस्तार किया ।

गोविन्द तृतीय के बाद उसका यशस्वी पुत्र अमोघवर्ष (814-878 ई०) गद्दी पर बैठा । उसने अंग, बंग, मगध और मालवा पर कई बार आक्रमण किये । वह बड़ा बलवान् और प्रतापी शासक होने के साथ-साथ प्रजा-पालक, विद्वान् और विद्वानो का आश्रयदाता था । जिनसेन, महावीराचार्य और शाकटायन आदि जैन विद्वानो ने उसके शासनकाल में काव्य, व्याकरण तथा ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का निर्माण किया । उसने स्वयं 'कविराज' नाम से कन्नड भाषा मे एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका कन्नड-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है ।

विद्वान् अमोघवर्ष के बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय (878-914 ई०) उत्तराधिकारी हुआ । तदनन्तर उसका पौत्र इन्द्र तृतीय शासक बना । वह अपने प्रपितामह के समान बड़ा प्रतापी था । उसने सर्व प्रथम कन्नौज पर अधिकार कर उत्तर भारत में अपने अस्तित्व को कायम किया । उसके बाद क्रमशः अमोघवर्ष द्वितीय और अमोघवर्ष तृतीय के अनन्तर कृष्ण तृतीय 936 ई० में गद्दी पर बैठा । वह दक्षिण के राष्ट्रकूटवंश का अन्तिम प्रभावशाली शासक था । उसने सुदूर उत्तर तक अपना विस्तार किया । उसे 'दक्षिणापथ का ईश्वर' कहा जाता है । 967 ई० मे उसकी मृत्यु हो जाने के बाद उसके उत्तराधिकारी खोट्टिग पर मुञ्ज परमार ने आक्रमणकर राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट को ध्वस्तकर दक्षिण में राष्ट्रकूटवंश की इतिश्री कर दी ।

राष्ट्रकूटवंश (कन्नौज)

दक्षिण के बाद राष्ट्रकूटों का यह प्रभावशाली वंश उत्तर भारत में प्रकाश में आया। कन्नौज पर गुर्जर प्रतिहारवंश का प्रभावशाली शासक राज्यपाल 1018 ई० में मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके बाद उसका पुत्र त्रिलोचनपाल कन्नौज की राजगद्दी पर आसीन हुआ। इस वंश का अन्तिम शासक यशपाल 1036 ई० तक कन्नौज की राजगद्दी पर बना रहा।

प्रतिहार यशपाल के बाद कुछ वर्षों तक कन्नौज की राजगद्दी को प्राप्त करने के लिए संघर्ष होता रहा और अन्त में राष्ट्रकूटवंशीय वीर पुरुष चन्ददेव ने गोपाल नामक किसी राजा को पराजित करके 1080-85 ई० के बीच कान्यकुब्ज मे गहड़वालवंश की प्रतिष्ठा की (इण्डियन एण्टीक्वेरी, 17, पृ० 61-64 आदि)।

चन्ददेव के बाद उसका पुत्र गोविन्दचन्द 1114 ई० में गद्दी पर बैठा (त्रिपाठी—हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० 307-416)। तदनन्तर क्रमशः विजयचन्द और जयचन्द कन्नौज के शासक बने। जयचन्द इस वंश का प्रमुख शासक हुआ, जो कि 1170 ई० में गद्दी पर बैठा। दिल्ली सम्राट् तोमर अनंगपाल के पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द दोनों दौहित्र (दुहिता-पुत्र) थे। नाना अनंगपाल द्वारा पृथ्वीराज को उत्तराधिकारी बनाये जाने के कारण जयचन्द असन्तुष्ट हो गया था। बाद मे पृथ्वीराज द्वारा जयचन्द की पुत्री सयोगिता का अपहरण करने के कारण दोनो में गहरी अनबन हो गयी थी। इस अनबन के फलस्वरूप मुहम्मद गोरी द्वारा 1192 ई० मे पृथ्वीराज पर आक्रमण होने के समय जयचन्द बैठा रहा, जिससे कि पृथ्वीराज की पराजय हुई और वह मारा गया। उसके दो वर्ष बाद 1194 ई० में गोरी ने जयचन्द पर आक्रमण किया और उसे भी मार डाला। जयचन्द के बाद उसके पुत्र हरिश्चन्द ने कुछ दिनों तक कन्नौज में शासन किया। उसका समय निश्चित नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि 1226 ई० तक गंगा-यमुना के दो-आब पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने के पूर्व ही उसका पतन हो गया था।

जयचन्द के पौत्र तथा हरिश्चन्द के पुत्र सीहा ने भीनमाल (मारवाड़) में अपना राज्य स्थापित करने की चेष्टा की; किन्तु वह सफल न हो सका। बाद में उसने पाली के पल्लीवाल गणतन्त्र से सहयोग करके वहाँ अपने को

स्थापित किया। उसके बाद उसके वंशज आस्थान ने मारवाड़ में राष्ट्रकूटों की विलुप्त स्थिति को पुनर्जीवित किया। आस्थान के पुत्र मल्लीनाथ की स्मृति में आज भी मेवानगर के तिलवाड़ा गाँव में प्रति वर्ष मेला लगता है। मल्लीनाथ के छोटे भाई वीरमदेव के वंशजों ने जोधपुर में अपने विशाल राज्य की नींव डाली। इस वंश के वीर पुरुष जोधा ने 1458 ई० में जोधपुर किले का निर्माण किया और उसको अपनी राजधानी बनाया। इन्हीं राठौरों की एक शाखा बीकानेर में भी स्थापित हुई। किशनगढ़, अहमदनगर तथा रतलाम तक विस्तृत राजस्थान के मध्यकालीन राज्यवंश इन्हीं राठौरों से सम्बन्धित थे। बुन्देलखण्ड के बुन्देला, अजयगढ़ तथा दतिया के विशाल राज्य और पन्ना के प्रतापी नरेश छत्रसाल इसी राठौर वंश के थे।

सुदूर दक्षिण, मध्य भारत, राजस्थान और उत्तर भारत तक विस्तृत राष्ट्रकूटों का यह इतिहासप्रसिद्ध वंश कन्नौजपति जयचन्द के कारण अधिक प्रख्यात हुआ। इसलिए जयचन्द के सम्बन्ध में फैली कुछ भ्रान्तियों का निराकरण होना आवश्यक प्रतीत होता है। उसके शासनकाल में कुछ घटनाएँ ऐसी घटित हुईं, जिनके कारण उस पर देशद्रोह का लाञ्छन लगाया गया। उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि उसने सिहाबुद्दीन गोरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया था; किन्तु इस प्रकार की सभी बातें भ्रमात्मक तथा निराधार हैं। जयचन्द वस्तुतः बडा वीर पुरुष तथा राजनीतिपटु व्यक्ति था। वह विद्यानुरागी और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके सभापण्डितों में महाकवि एवं दार्शनिक विद्वान् श्रीहर्ष का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

श्रीहर्ष

श्रीहर्ष संस्कृत के महाकाव्यों की उन्नत परम्परा का अन्तिम केन्द्र-बिन्दु है। उनके पिता श्रीहीर स्वयमेव अच्छे कवि और दार्शनिक थे। वे गहड़वालवशीय राजा विजयचन्द के प्रमुख सभापण्डित थे। श्रीहर्ष से सम्बन्धित एक दन्तकथा में कहा गया है कि उन्होंने अपने पिता के प्रतिस्पर्धी विद्वान् नैयायिक उदयनाचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए 'चिन्तामणि मन्त्र' को सिद्ध किया था। वे कान्यकुब्जेश्वर विजयचन्द (1156-1169 ई०) और उनके पुत्र जयचन्द (1170-1193 ई०) के सम्मानित राजकवि थे। जयचन्द के यहाँ रहकर ही श्रीहर्ष ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषधचरित' लिखा था। जयचन्द

की राजसभा में श्रीहर्ष का बहुत सम्मान था। जयचन्द श्रीहर्ष को राजसभा में आने पर प्रति दिन स्वयं आसन और पान के दो बीड़े दिया करते थे। मुगल आक्रमणों के बाद जयचन्द ने अपनी राजधानी कन्नौज से काशी स्थानान्तरित कर दी थी। श्रीहर्ष भी उन्हीं के साथ काशी चले आये थे।

श्रीहर्ष की दो कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके नाम हैं 'नैषधचरित' और 'खण्डनखण्डखाद्य'। उनका यह दूसरा ग्रन्थ वेदान्त के क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि वेदान्त के अतिरिक्त चार्वाक, बौद्ध, न्याय और मीमांसा आदि दर्शन-शाखाओं पर उनका असामान्य अधिकार था। वे व्याकरण और काव्यशास्त्र के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे।

श्रीहर्ष की विशेष ख्याति महाकवि के रूप में है। वे भारवि की चमत्कार-प्रधान कलावादी परम्परा के महाकवि थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके जीवनकाल में 'नैषधचरित' को पर्याप्त सम्मान प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने स्वयं कहा है—'मैंने जो कुछ लिखा है वह विद्वानों के लिए लिखा है। साधारण लोग उसका आदर करे या न करें, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। मुझे सन्तोष है कि विद्वान् वर्ग मेरे काव्य का रस लेता है।' उन्हें यह भी विश्वास है कि उनकी कविता-कामिनी प्रौढ़ सुधी युवकों के दिलों को गुदगुदाने में पूर्ण सक्षम है। अरसिक मूर्ख बालक उनकी कविता का आदर करे या न करें, इसकी उन्हें चिन्ता नही है।

उनके महाकाव्य को पढने के लिए पहली योग्यता कामशास्त्रज्ञता और दूसरी शास्त्रज्ञता है। उन्होंने सर्वत्र ही अपनी इस अहंवादिता का अभिव्यंजन किया है। उनके महाकाव्य में कामदशाओं का अतिशय वर्णन और विलासपूर्ण जीवन का अमर्यादित चित्रण उनकी चमत्कारप्रधान शैली को प्रस्तुत करते हैं।

श्रीहर्ष के इस महाकाव्य मे तत्कालीन सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का भी चित्रण हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कविता का परम्परागत उदात्त दृष्टिकोण क्षीण होकर चमत्कार-प्रदर्शन द्वारा अनूठापन तथा विचित्रता दिखाने मे अधिक रुचि ली जाने लगी थी। शासक के अनुकरण पर शासित जनता मे देशाभिमान की भावना शिथिल पड़ गयी थी। राष्ट्र की सुरक्षा का भाव क्षीणोन्मुख था और एकता एवं संगठन की गरिमा को भुला दिया गया था। राजदरबार विलासता का केन्द्र बना हुआ था। जयचन्द की उत्कट विलासिता इसका उदाहरण है। वृद्धावस्था तक वह अपनी सैकड़ों बाँदियों

के बीच रहकर अपनी क्षीणोन्मुख कामुकता को पुनरुज्जीवित करने की चिन्ता में डूबा रहता था। उसकी इस विलासता ने राष्ट्र की शक्ति को क्षीण कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप देश को दासता के दुर्दिन झेलने पड़े।

एलोरा

राष्ट्रकूटो की अमिट सांस्कृतिक थाती का इतिहास एलोरा की गुफाओ में सुरक्षित है। महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले मे दौलताबाद नगर के निकट एलोरा नाम का एक गाँव है, जो कि औरंगाबाद से लगभग पन्द्रह-सोलह मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है। एरूला से बदलकर इसे एलोरा कहा गया। ठोस पर्वत चट्टानो पर उभारी गयी एलोरा की ये गुफाएँ न केवल समस्त भारत में, अपितु विश्व के कला-निर्माण के इतिहास मे अपना अनन्य स्थान रखती हैं। गुप्तोत्तर भारत मे स्थापत्य एवं मूर्ति के क्षेत्र मे इतना प्रशस्त एव प्रशंसनीय कार्य फिर हुआ ही नही।

एलोरा की इन गुफाओ की संख्या छत्तीस है, जो कि जैन, बौद्ध और ब्राह्मणधर्म के समन्वय की प्रतीक हैं। वहाँ तीनो धर्मों के उच्चतम आदर्शों का संगम हुआ है। प्रथम विहार गुफा बौद्ध भिक्षुओ के रहने के लिए बनायी गयी थी। दूसरी गुफा मे बोधिसत्त्वो से समलकृत बुद्ध भगवान् की सुन्दर प्रतिमा है। उसके बाद एलोरा की प्रसिद्ध 'विश्वकर्मा' गुफा है। उसमें भी बुद्ध भगवान् की विशाल एवं भव्य प्रतिमा बनायी गयी है। यह चैत्य गुफा है। उसकी अन्य दर्शनीय गुफाओ में रावण की खाई, दशावतार, सीता की नहानी, छोटा कैलाश, इन्द्रसभा, जगन्नाथ सभा और कैलाश मन्दिर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लगभग दो सौ पचहत्तर फुट लम्बी कैलाश मन्दिर की गुफा वस्तुतः एक आश्चर्यजनक उपलब्धि है। उसमे वराह, नरसिंह, लक्ष्मी, विष्णु और शिव की भव्य प्रतिमाएँ स्थापित हैं। वह कैलाश पर्वत की शक्ल पर है और उसमे नदी की धारा इस कौशल से घुमाकर लायी गयी है कि उसका पानी शिवमूर्ति के ऊपर टपकता रहता है। कैलाश मन्दिर मे अधिष्ठित नटराज की 'नादन्त नृत्तमूर्ति' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भगवान् शकर की यह नृत्तमूर्ति अष्टभुजयुक्त है। उसके एक हाथ में डमरू है, दूसरा नाभि के निकट है, तीसरा परिधान से ढका हुआ वक्ष के पास अवस्थित है, चौथा कटि पर टिका है और पाँचवाँ ऊपर उठा हुआ है। शेष तीनो हाथ भग्न हो गये हैं। उनके मुख पर उल्लास और अधरो पर मुस्कान है। गले में मुकुटजटित हार है। उनके निकट ही स्कन्द को अंक मे लिये माता पार्वती खड़ी है।

पार्षदों में से एक बंशी बजा रहा है और दूसरा मृदंग। पास में दो स्त्रियाँ वाद्य लिये हुए खड़ी हैं। उनके पैरों के नीचे अज्ञान, अविद्या, दुष्प्रवृत्तियों, बाधाओं और अमंगलों का प्रतीक अपस्मार राक्षस दबा हुआ है।

अजन्ता की गुफाएँ चित्रों की दृष्टि से और एलोरा की गुफाएँ मूर्तियों की दृष्टि से अनुपम हैं। यद्यपि अजन्ता में मूर्ति-शिल्प और एलोरा में चित्रांकन का भी सुन्दर संयोग देखने को मिलता है, तथापि अजन्ता की चित्रों के लिए और एलोरा की मूर्तियों के लिए विशेष ख्याति है।

एलोरा की ये जगत्प्रसिद्ध गुफाएँ लगभग चार-पाँच सौ वर्षों के भीतर निर्मित हुईं। लगमग छठी शती से लेकर ग्यारहवी शती तक उनका निर्माण होता गया। उनमें दक्षिण के राष्ट्रकूट राजाओं का विशेष योगदान रहा। विश्वकर्मा का प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर छठी शती का है। इसी प्रकार कैलाश मन्दिर 8वी शती में बना, जिसके निर्माण में राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम का विशेष योगदान रहा है। उनका अन्तिम उद्धारकर्ता महाराज भोज का भतीजा महाराज उदयादित्य (11वीं शती) था। उसने दक्षिण विजय के उपलक्ष्य में एलोरा की गुफाओ मे चित्राकन कराया। ये चित्र युद्धविषयक हैं, जिन पर 'प्रमार' लिखा हुआ है। इन चित्रों मे अकित बडी-बडी मूंछें और ऊपर कपोलों की ओर चढी हुई दुकाट दाढी राजपूत वेश-भूषा की नकल है। कुछ चित्रों में सैनिक घोडों पर सवार है और कुछ पैदल हैं। सभी चित्र रंगीन हैं। उनमें उल्लिखित 'स्वस्ती स्रि परमारराज' उदयादित्य का सूचक है।

एलोरा का स्थान ब्राह्मणधर्म के श्रेष्ठतम कला-केन्द्रों मे से है। ब्राह्मणकला वहाँ सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्त हुई है। एलोरा का दशावतार मन्दिर विशेष रूप से अवलोकनीय है। बौद्ध-जैन-धर्मों की सामाजिक एवं वैचारिक सक्रान्ति के फलस्वरूप ब्राह्मणधर्म का जो अपकर्ष हुआ, एलोरा की कला-कृतियों में उसकी प्रतिध्वनियाँ अभिव्यजित हुई है।

ब्राह्मणधर्म के अवतारो की सृष्टि मे एक महान् प्रयोजन की सिद्धि निहित है। उनके मूल में निरन्तर सघर्ष की प्रक्रिया रही है। अमानुषी, दानवी, प्रवृत्तियों ने भय और त्रास की जो विकटतम परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थी, उन्ही के उपशमन के लिए अवतारों की सृष्टि हुई। एलोरा की मूर्तियों मे दैत्य, दानव, शिव, भैरव, नृसिंह, रत्नासुर, हिरण्यकशिपु, रावण, महिषासुर और काली (चामुण्डा) अनेकबाहु दुर्गा की विशाल आकृतियाँ निर्मित हुई हैं।

इन मूर्तियों में दैवी शक्ति के समक्ष आसुरी शक्ति के पराजय की अतीतकालीन पौराणिक कथाओं को वर्तमान के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। इतनी अधिक विरोधी शक्तियों को इतनी कुशलता एवं निपुणता के साथ दर्शित करने का सराहनीय प्रयत्न केवल एलोरा में ही देखने को मिलता है। बौद्धोत्तरकालीन भारत के एक महान् वैचारिक अन्तर्द्वन्द्व को नियत परिणति देकर एलोरा के ब्राह्मणधर्मी कलाकारों ने मध्ययुगीन इतिहास की सुरक्षा के लिए स्थायी प्रयास किया है।

एलोरा में अद्‌भुत गुफा-निर्माण के साथ ही मूर्ति-शिल्प की भी अनुपम कला-थाती भारतीय स्थापत्य के इतिहास की सहेजनीय देन है। उनमें जो स्तम्भ बने हैं, वे भी अपनी अपूर्वता तथा अतुलनीयता के लिए प्रसिद्ध हैं।

परमारवंश

मध्ययुगीन राजपूतों में परमारवंश का इतिहास अत्यन्त प्रतापी एवं यशस्वी रहा है। परमारो (पवारों) के मूल वंश के सम्बन्ध में विद्वानो के मतभेद हैं। अहमदाबाद के हरसोल नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख से विदित होता है कि परमार राजपूत, राष्ट्रकूटवंश से सम्बन्धित थे और उनका मूल स्थान दक्कन था (एपिग्रेफिया इण्डिका, 19, पृ० 236-44; गांगोली—हिस्ट्री ऑफ दि परमार डायनेस्टी, पृ० 9)। वे प्रतिहारों की भाँति अग्निकुलीय थे। दक्षिण के बाद उनका उत्तर में प्रवेश हुआ। मध्य प्रदेश के धार, भोपाल और उज्जैन आदि नगरो मे उनकी राजधानियाँ थीं। राजस्थान मे भी उनका विस्तार हुआ और मेवाड़, मारवाड़, बीकानेर तथा जसलमेर मे उन्होंने अपने राज्य स्थापित किये। मध्ययुगीन भारत में व्यापक भू-भाग पर उनका अस्तित्व व्याप्त था।

परमारों के समय उज्जैन का महत्त्व बढा। उज्जैन के प्रतिहारवंश को पराजितकर उसकी जगह परमारों ने स्वयं को स्थापित किया। इस वंश का प्रथम प्रतापी शासक सीयक हर्ष हुआ, जिसका शासनकाल 949-972 ई० था। सीयक हर्ष के बाद उसका शक्तिशाली पुत्र मुंज उपनाम वाक्पति 974 ई० में गद्दी पर बैठा। मुंज वाक्पति बड़ा प्रतापी, कलाप्रेमी और साहित्यानुरागी शासक था। उसके 'उत्पलराज', 'अमोघवर्ष', 'श्रीवल्लभ' और 'पृथ्वीवल्लभ' आदि अनेक बीरुद थे। उसके निर्माण कार्यों में मध्य प्रदेश स्थित धारा नगरी (धार) में खुदवाया हुआ मुंज सागर आज भी उसकी कीर्ति का स्मारक बना

हुआ है (विशेष रूप से द्रष्टव्य:—डॉ० हीरालाल—'दि कलचुरीज ऑफ त्रिपुरी', ए० बी० आर० आई०, पृ० 280-95 (1927); स्मिथ—'कंट्रीब्यूशन टु दि हिस्ट्री ऑफ बुन्देलखण्ड', जे० ए० एस० बी०, खण्ड 1, भाग 1, पृ० 1-52 (1881); सी० ई० लुआर्ड तथा के० के० लेले—परमारस ऑफ धार ऐण्ड मालवा, बम्बई, 1908)। वह स्वयं साहित्यमर्मज्ञ और विद्वानों का आश्रयदाता था। 'नवसाहसांक' का रचयिता पद्मगुप्त, 'दशरूपक' का निर्माता धनंजय, 'दशरूपालोक' का रचयिता धनिक (धनंजय का अनुज) और 'अभिधान रत्नमाला' एवं 'मृतसंजीविनी' का निर्माता हलायुध भट्ट उसकी विद्वत्सभा के उज्ज्वल रत्न थे।

वाक्पति मुंज के अनन्तर उसका सिन्धुल (सिन्धुराज) अथवा 'नवसाहसांक' परमार राजवंश का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ और अल्पकालीन शासन के बाद अपने पुत्र भोज को उत्तराधिकारी नियुक्तकर वह स्वयं अलग हो गया। उज्जैन से हटाकर ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक नगरी धारा को भोज ने अपनी राजधानी बनाया। उसके उपलब्ध अभिलेखों में उसे 'सार्वभौम' तथा 'पृथ्वी का अधिकारी' कहा गया है। भोज 1010 ई० को राजगद्दी पर आसीन हुआ और उसने 'पचपन वर्ष, सात मास और तीन दिन', अर्थात् 1066 ई० तक शासन किया (विस्तार के लिए—प्रो० पी० टी० एस० आयंगर—भोजराज, मद्रास 1731; विश्वेश्वरनाथ रेऊ—राजा भोज, प्रयाग 1932 आदि)।

धारापति भोज असाधारण योद्धा होने के साथ-साथ उच्चकोटि का साहित्यमर्मज्ञ भी था। उसको लगभग दो दर्जन ग्रन्थों का निर्माता बताया गया है। चिकित्सा, ज्योतिष, गणित, कोश, व्याकरण, धर्म (धर्मशास्त्र), काव्यशास्त्र, वास्तु और कला आदि अनेक विषयों पर उसने ग्रन्थ-निर्माण किया। उसकी कृतियों में 'आयुर्वेद सर्वस्व', 'राजमृगांक', 'व्यवहारसमुच्चय', 'शब्दानुशासन', 'समरांगणसूत्रधार', 'सरस्वतीकण्ठाभरण', 'नाममालिका' और 'युक्तिकल्पतरु' आदि का नाम उल्लेखनीय है। वह स्वयं विद्वान्, विद्या का संरक्षक और विद्वानों का प्रोत्साहक था। उसने अपनी राजधानी धारा नगरी में संस्कृत का एक विद्यालय स्थापित किया था, जहाँ कि विभिन्न विषयों के पारंगत विद्वानों के संरक्षण में सुदूर प्रदेशों के विद्यार्थी आकर विद्या-लाभ करके लौटते थे। विद्वान् और विद्वत्संरक्षक होने के साथ ही वह कला-निष्णात भी था। उसने अनेक कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण कराया, जो कि उसकी कलाप्रियता तथा अगाध शिवभक्ति के परिचायक थे (एपिग्राफिया इण्डिका, 1, पृ० 238, श्लोक 20)।

महाराज भोज का भतीजा महाराज उदयादित्य (11वीं शती) बड़ा कलाप्रेमी था। उसने भोज के दाक्षिणात्य आक्रमणकारियों को पराजित करके मालवा में भोज की प्रतिष्ठा को सुदृढ़ किया। भिलसा के निकट उसने लाल पत्थर का एक शिव मन्दिर बनाया था, जो समस्त भारत में स्थापत्य की दृष्टि से अपने ढंग का अनुपम कार्य था। उस मन्दिर में महाराज उदयादित्य ने संस्कृत मे एक प्रशस्ति खुदवायी। मन्दिर के अन्य शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसका निर्माण 1059-1080 ई० के बीच हुआ। उदयादित्य ने दक्षिण विजय के उपलक्ष्य में एलोरा की गुफाओं के भी कुछ चित्र बनवाये थे। ये चित्र युद्ध विषयक हैं, जिन पर देवनागरी मे 'स्वस्ती स्रि परमारराज' अंकित है।

भोज के बाद जयसिंह मालवा का स्वामी नियुक्त हुआ; किन्तु उसके बाद मालवा का शासन-सूत्र दुर्बल राजाओं के हाथों मे चले जाने से 1305 ई० के लगभग मालवा के परमारवंश को अल्लाउद्दीन की सेना ने सदा के लिए रौंद डाला।

भोजशाला

मध्य प्रदेश स्थित ऐतिहासिक धारा नगरी 800-1300 ई० तक यशस्वी परमारवंशीय राजाओं की राजधानी के रूप मे सम्मानित होती रही। इस राजवंश के सातवे तथा आठवे उत्तराधिकारी मुंज और भोज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भोज ने 1010-1065 ई० तक शासन किया। वह बड़ा संस्कृतज्ञ और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार मे अनेक विषयो के विद्वानो का जमघट लगा रहता था। उसके शासनकाल मे धारा नगरी मध्ययुगीन कला, साहित्य और संस्कृति की केन्द्रस्थली के रूप मे विश्रुत थी। नालन्दा, तक्षशिला, मिथिला, ओदन्तपुरी, कांची, काशी और काश्मीर के राष्ट्रीय एव अन्तरराष्ट्रीय विद्याकेन्द्रों की भांति भोजशाला का भी नाम था, जिसका निर्माण भोज ने किया था।

भोजशाला सम्प्रति मध्य प्रदेश सरकार के नियन्त्रण में है। अपने वैभवयुगीन अतीत की अपेक्षा आज वह नितान्त जीर्णावस्था में है। उसके आस-पास फली हुई कब्रों को देखकर कदाचित् भ्रम होता है कि उस स्थान पर सुलतान पठानों का एकाधिपत्य था। भोजशाला के बाँये कक्ष में 'कमालमौला' निर्मित कराने का उद्देश्य भी यही प्रतीत होता है कि भोजशाला के वास्तविक महत्त्व को सर्वथा समाप्त कर दिया जाय। यह सम्भावना

इसलिए मीसत्य प्रतीत होती है कि मालवा के सूबेदार दिलावरखाँ ने 1405 ई० में पास ही के एक मन्दिर को ध्वस्त करके उसकी जगह मस्जिद खड़ी कर दी थी, जो कि आज भी वर्तमान है। भोजशाला के उत्तरी भाग में एक भग्न लौह स्तम्भ पड़ा हुआ है। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि गुजरात के सुलतान बहादुर शाह के आदेश से जब उसे वहाँ से हटाया जा रहा था तो टूटकर उसके दो खण्ड हो गये, जिनमे से 22 फुट लम्बा एक भाग बाद में जहाँगीर ने आगरा पहुँचाया और 13 फुट लम्बा दूसरा खण्ड यही पड़ा रह गया।

भोजशाला के ग्यारह प्रकोष्ठ आज भी वर्तमान हैं। उसके बाहर चाहरदीवारी से घिरा हुआ विशाल प्रांगण है। भोजशाला का यह अंश अध्ययन-अध्यापन के उपयोग मे लाया जाता था। इस भोजशाला में ज्ञान की अधिष्ठातृ सरस्वती की एक भव्य विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित थी, जो कि सम्प्रति लन्दन में है। उसकी जगह मस्जिदनुमा एक चौकोर दरार बना दी गयी है। कहा जाता है कि जिस समय सरस्वती की प्रतिमा हटायी गयी, उसके पीछे से एक शिलाखण्ड निकला, जिसमें भोज कृत प्राकृत भाषा की दो कविताएँ उल्लिखित थी।

भोजशाला के प्रकोष्ठो पर यन्त्र बनाये गये हैं, जो सम्प्रति अपाठ्य हैं; किन्तु जिनसे यह ध्वनित होता है कि वे ज्योतिष-विषयक थे और उन्हे अध्येताओ के लिए बनाया गया था।

भोजशाला का जो भाग सम्प्रति जीवित रह सका है, उसके गर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री निहित होनी चाहिए। कुछ समय पूर्व संयोगवश वहाँ से दो शिलाखण्ड गिर गये थे, जिनके पृष्ठ भाग पर एक अज्ञात एवं दुर्लभ नाटिका के दो अंक उत्कीर्णित हुए पाये गये। इस नाटिका का नाम 'पारिजातमञ्जरी' है, जो कि मदन कवि द्वारा विरचित है। इस नाटिका को परमारवंशीय राजा अर्जुन वर्मा (1210-1212 ई०) की प्रशंसा में लिखा गया है। इसकी लिपि 12वी शती की है। ये दोनों प्रस्तर खण्ड सम्प्रति भोजशाला में वर्तमान हैं। इन दोनों अंको को श्री अनन्त वामन वाकणकर ने सम्पादितकर प्रकाशित किया है। इसी प्रकार के विशाल शिलापट्ट विभिन्न प्रकोष्ठों की भित्तियों पर लगे हुए हैं। सम्भव है कि उनके पृष्ठभाग पर भी कुछ लेख अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री उत्कीर्णित हो। अन्य प्रकोष्ठों के प्रांगण मे बिछाई गयी छह-सात शिलाएँ ऐसी हैं, जिन पर कुछ उत्कीर्णित किया गया था; किन्तु

दुर्भाग्यवश उनको छेनी से इस प्रकार काट-पीट दिया है कि कुछ भी पढ़ने में नहीं आता।

यह भोजशाला अपने वास्तविक रूप में विभिन्न प्रकार की कला-कृतियों से अलंकृत थी। उसके प्रस्तर स्तम्भों के शीर्ष भाग में देवप्रतिमायुक्त शिलाएँ रखी हुई थीं। उन्हें भी उलटकर भूमिशायी कर दिया गया है।

इस प्रकार के दुष्कृत, धार्मिक द्रोह के ही परिणाम हो सकते हैं। भोज और उत्तरवर्तीय परमारवंशीय राजाओं ने जिस भोजशाला को जीवित बनाये रखने और एक ज्ञान कला-केन्द्र के रूप में उसकी सुरक्षा-व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया, निश्चित ही उसकी स्थिति आज की अपेक्षा अधिक उन्नत रही होगी। किन्तु विधर्मियों ने उसको ध्वस्त करके उसके समस्त वैभव को समाप्त कर दिया।

भोजशाला आज जिस स्थान पर वर्तमान है, उसकी अपेक्षा उसका विस्तार कहीं अधिक होना चाहिए। वहाँ पर महाराज भोज के इतिहासप्रसिद्ध पुस्तकालय का कोई भी अवशेष जीवित नहीं है। भोजशाला के डेढ़-दो जरीब हटकर आस-पास कहीं-कहीं कुछ जीर्ण टीले आज भी वर्तमान हैं, जिनसे विदित होता है कि वे भोजशाला की चाहरदीवारी के ध्वंसावशेष हैं। इन जीर्ण एवं विध्वस्त टीलों, स्तम्भों, प्रतिमाओं और प्रकोष्ठों के उत्खनन तथा सर्वेक्षण से भोजशाला के प्राचीन गौरव के परिचायक अनेक तथ्यों का पता लगाया जा सकता है।

भोज का समरांगणसूत्रधार

भारतीय इतिहास में भोज का नाम उसके विद्यानुराग और कला-पाण्डित्य के कारण अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कनिष्क और हर्ष जैसे यशस्वी शासकों में गिना जाता है। भोज के कला-पाण्डित्य के परिचायक शिल्प-विषयक दो ग्रन्थों के नाम है—'समरांगणसूत्रधार' और 'युक्तिकल्पतरु'। उनका 'समरांगणसूत्रधार' कला के लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में उल्लेखनीय स्थान रखता है। इस विशाल ग्रन्थ में 84 अध्याय हैं और उसकी विषय-सामग्री सात अवान्तर भागों में विभक्त है। उनके नाम हैं—प्राथमिका, पुरःप्रवेश, भवननिवेश प्रासादनिवेश, प्रतिमानिर्माण, यन्त्रघटना और चित्रकर्म। उसका 'चित्रकर्म' बड़ी ही विदग्धता से लिखा गया है। उसको इन छह अवान्तर अध्यायों में विभक्त किया गया है—चित्रोद्देश्य, भूमि-बन्धन, लेप्यकर्मादि, अण्डकप्रमाण,

मानोत्पत्ति और रसदृष्टिलक्षण। इसके लेप्यकर्म और रसदृष्टिलक्षण नामक अध्यायों में, परम्परा के लक्षण-ग्रन्थों की अपेक्षा, सर्वथा मौलिक एवं नवीन सामग्री का निरूपण किया गया है।

भोज का यह ग्रन्थ स्थापत्य, मूर्ति और चित्र, तीनों कलाओं का समन्वित रूप है। इस प्रकार कला का सर्वांगीण विवेचन होने के कारण इस ग्रन्थ का उत्तरवर्ती कला-निर्माण पर सर्वाधिक प्रभाव रहा है।

चौहानवंश

राजपूतो का चौहानवंश भारतीय इतिहास का प्रसिद्ध राजवंश है। उसका सम्बन्ध अग्निवंश से था। अपने चाहुमान मूल पुरुष के कारण इस वंश का ऐसा नामकरण हुआ। यह वंश लगभग चौबीस शाखाओं में विकसित हुआ और उसने सुदूर अचलों तक अपना विस्तार किया। इस चौहानवंश ने नागौर, सांभर तथा पुष्कर मे अपनी स्थिति को कायम किया। चौहान पहले तोमरों (तंवरों) के सामन्त थे।

चौहानवश का प्रतापी शासक पृथ्वीराज हुआ, जिसको कि उसके नाना अनंगपाल तोमर ने गोद लिया था। दिल्ली तक उसकी धाक जमी। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध करते हुए उसने 1192 ई० को वीरगति प्राप्त की। पृथ्वीराज के वंशजों मे राजा हमीर का यश आज भी अनेक वीर ख्यातों के रूप में जीवित है। इस वंश के शासको का अस्तित्व रणथम्भौर पर 1193-1303 ई० तक बना रहा। बाद में मुहम्मद खिजली ने उसको हस्तगत कर लिया।

चौहानो की अन्य शाखाओ ने जालौर, सांचौर और जसवन्तपुरा तहसीलों में अपनी स्थिति को उजागर किया। बूँदी का हाड़ाराव भी इसी वंश का था। बाद में जयपुर और बूँदी के पारस्परिक झगड़ों के कारण वहाँ मराठों का प्रवेश हुआ।

महाराज पृथ्वीराज के बाद चौहानो की शक्ति क्षीणोन्मुख हो गयी थी। मुगलों द्वारा युद्ध में बन्दी बनाये गये बहुत-से राजपूत चौहानो को मुसलमान बना दिया गया। विजेता मुसलमानो ने उनसे कठोरता का व्यवहार किया और उन्हें अपना गुलाम बना दिया।

गहलोतवंश तथा सिसोदियावंश

राजपूत गहलोतों की एक शाखा सौराष्ट्र में सम्भात खाड़ी के आस-पास प्रकाश में आयी, जिसकी राजधानी वलभी थी। ये सूर्यवंश से सम्बन्धित थे

और लगभग चौथी शती ई० के आस-पास इन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया। बलभी के पतन के बाद बापा रावल ने 734 ई० के लगभग अपनी राजधानी चित्तौड़ में स्थापित की। चित्तौड़ में रावल राजपूतों की स्थिति आगे कई सौ वर्षों तक बनी रही। 1303 ई० मे रावल रतनसिंह को पराजितकर अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर अधिकार किया। किन्तु कुछ ही वर्षों बाद सिसोदिया राजपूतो ने चित्तौड को पुनः हस्तगत कर लिया। इस सिसोदियावंश के प्रमुख शासकों में राणा हम्मीर सिसोदिया (1326-1364 ई०) और राणा कुम्भा (1433-1468 ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मुगल शाहंशाह बाबर के भारत आक्रमण करते समय मेवाड़ पर प्रतापी सिसोदिया राजाओ का शासन था। उन्होने अपना विस्तार गुजरात तथा मालवा तक कर लिया था। राजस्थान के सभी रजवाड़े मेवाड़ की वश्यता को स्वीकार करते थे। बाबर के विरोध मे मेवाड के राणा सांगा के नेतृत्व में राजस्थान के समस्त राजा 1527 ई० मे खानवा के मैदान में एकत्र हुए; किन्तु उसमे राणा सागा को सफलता नही मिली। मेवाड पर मुगलों का आधिपत्य हो गया। किन्तु जहां एक ओर राजस्थान के अन्य अंचलो के शासकों ने बाबर से सन्धियाँ करके उसके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये, वहाँ राणा सांगा जगलो मे भटकते हुए आजीवन मुगलो का विरोध करता रहा। बाद मे महाराणा उदयसिंह ने 1568 ई० मे मुगलो से चित्तौड़ का दुर्ग हस्तगत कर लिया। इसी सिसोदियावंश में महाराणा प्रताप हुए। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र राणा अमरसिंह गद्दी पर बैठा। उसने शाहंशाह जहाँगीर से सन्धि करके अपने राज्य को बचाया।

सिसोदिया राजपूतो का नाम भारतीय इतिहास का गौरव रहा है। महाराष्ट्रकेशरी शिवाजी तथा राणावत इसी वंश के थे। इस वंश के लोगो ने नेपाल तक अपना विस्तार किया।

• • •

अठारह/पूर्व और पश्चिमोत्तर के राजवंश (गुप्तोत्तर)

पूर्वी सीमा के राजवंश

भारत के पूर्वी सीमा के राजवंशों में नेपाल का ठाकुरीवंश, बंगाल का पालवंश तथा सेनवंश, कामरूप (आसाम) के प्राग्ज्योतिषपुर (गौहाटी) का राजवंश और कलिंग (उड़ीसा) का केशरीवंश तथा कलिंग नगर (कलिंगपत्तन) का पूर्वी गंगवंश मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं।

ठाकुरीवंश

छठी शती ई० के अन्त में तथा सातवीं शती ई० के आरम्भ में नेपाल के ठाकुरीवंश पर अंशुवर्मन् का शासन था। वह लिच्छवीराज, शिवदेव का मन्त्री था, जिसने शनैः शनैः समस्त राजशक्ति को अपने में केन्द्रितकर उस घाटी पर अपना पूर्णाधिपत्य स्थापित कर लिया था। राजा शिवदेव ने मगधराज आदित्यसेन की पौत्री एवं मौखरीराज भोगवर्मा की पुत्री वत्सादेवी से विवाह सम्बन्ध स्थापितकर भारत के साथ अपनी मैत्री को दृढ़ बनाया।

पालवंश

पूर्वी सीमा के राजवंशों में पालवंश का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लगभग 400 ई० पूर्व में बगाल पर नन्दों तथा मौर्यों का पूर्णाधिपत्य रहा। तब से लेकर आगे के लगभग एक हजार वर्षों तक उसकी राजनीतिक स्थिति का अनेक शासकों द्वारा उत्थान-पतन होता रहा। लगभग 7वीं० श० ई० मे कन्नौज के यशोवर्मन्, काश्मीर के ललितादित्य और कामरूप (आसाम) के श्रीहर्ष आदि राजाओं ने उसकी अस्थिर सत्ता का लाभ उठाकर उसे खूब लूटा-खसोटा। इस अराजकता एवं अत्याचार से त्रसित होकर जनता ने एकमत से 765 ई० में गोपाल को अपना एकच्छत्र शासक नियुक्त किया, जो बंगाल के गोपाल या पालवंश का प्रथम राजा था। उसके उत्तराधिकारियों में धर्मपाल,

नारायणपाल, राज्यपाल, महीपाल, रामपाल, कुमारपाल और गोविन्दपाल ने 770 से लेकर 1175 ई० तक बंगाल पर शासन किया—(महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री—मेमो० ए० एस०, बंगाल 3, संख्या 1; जरनल ऑफ दि बिहार ऐण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी, दिस० 1928, पृ० 534)।

पाल राजा बड़े धार्मिक और सहिष्णु थे। वे स्वयं तो बौद्ध धर्मानुयायी थे; किन्तु उन्होंने सभी धर्मों का आदर-सम्मान किया। वे बड़े विद्याप्रेमी एवं कलानुरागी थे। प्रसिद्ध बौद्ध विहार एवं विद्यानिकेतन नालन्दा विश्वविद्यालय और अन्यान्य देवमन्दिरों के निर्माणार्थ उन्होंने प्रचुर दान दिया तथा उनकी स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। पाल राजाओं के प्रश्रय में धीमान् और उसके पुत्र वितपाल ने चित्रकला, मूर्तिकला तथा लक्षणकला के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान किया (विन्सेंट स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 417, चतु० सं०)।

बौद्धानुरागी होने के कारण पाल राजाओं के प्रश्रय में बौद्धधर्म तथा बौद्ध-दर्शन का अच्छा विकास हुआ। उन्हीं के संरक्षण में लगभग 11वीं शती के आस-पास अतीश या अतिशा नामक बौद्ध विद्वान् ने तिब्बत तथा चीन में बौद्ध-धर्म की ज्योति को प्रज्ज्वलित किया। बंगाल में पाल शासन के समकालीन महान् विद्वान् स्वामी अतिशा, उपनाम दीपंकर श्रीज्ञान वास्तव में तत्कालीन बौद्ध जगत् में ज्ञान के प्रकाशपुंज थे। विक्रमशिला महाविहार में उन्होंने लगभग ग्यारह वर्ष तक अनेक विषयों की शिक्षा प्राप्त की थी। तदनन्तर उन्होंने बोधगया में वज्रासन महाविहार के प्रधान वज्रासनीपाद के पास रहकर त्रिपिटकों का अध्ययन किया। इसी प्रकार राजा रामपाल की संरक्षकता में बौद्ध विद्वान् सन्ध्याकरनन्दी ने अपने श्लेषात्मक महाकाव्य 'रामपालचरित' का निर्माण किया।

पाल शासकों द्वारा संरक्षित संस्कृति और कला

गुप्तों के एकाधिकृत बृहत् साम्राज्य के खण्डित हो जाने पर भारत के विभिन्न आन्चलों में जो नये राजवंश उभरे उनमें पूर्वी भारत के पाल शासकों का नाम उल्लेखनीय है। भारत में 8वीं से 14वीं शती का समय सांस्कृतिक पुनर्जागरण का युग रहा है। इस अवधि में एक ओर जहाँ सोमनाथ मन्दिर से लेकर कन्नौज तक देश के कोने-कोने में तुर्कों-अफगानों की ध्वंसलीला व्याप्त थी, वहीं दूसरी ओर ओदन्तपुरी, जगदल, विक्रमपुरी, फुलेरा और देवीकोट

आदि प्रख्यात ज्ञान-केन्द्रों द्वारा सांस्कृतिक जागरण की ज्योति प्रज्ज्वलित हो रही थी। इस समय भारत से नेपाल, तिब्बत और इण्डोनेशिया आदि देशों में बौद्धधर्म के वज्रयान, सहजयान और तान्त्रिक शिवभक्ति का प्रचार-प्रसार हो रहा था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण के रूप में हिन्दूधर्म तथा कला का प्रभाव व्याप्त हो रहा था। जावा, सुमात्रा, बाली, श्याम और कम्बोडिया में मध्ययुगीन बौद्ध, वैष्णव तथा शैव धर्मों का सन्देश निरन्तर लोकप्रिय बनता जा रहा था।

बंगाल के पाल राजाओं के शासनकाल में साहित्य, कला और संस्कृति का पुनर्जागरण राष्ट्रीय चेतना को प्रेरित एवं प्रोत्साहित करता हुआ निरन्तर प्रभावशाली हो रहा था। उनके संरक्षण में चित्रकला के क्षेत्र में जिस 'पालशैली' का उदय हुआ उसका प्रभाव भी सुदूर उत्तर, दक्षिण तथा पूर्व के देशों मे प्रसारित हो चुका था। इस शैली का प्रारम्भ 9वी शती में हुआ था। धर्मपाल और देवपाल उसके मुख्य संरक्षक थे। इस शैली का विकास तिब्बत तथा नेपाल तक हुआ। नेपाली चित्रकला में पहले तो पश्चिम भारत की शैली का प्रभाव रहा; किन्तु बाद मे उसका स्थान पाल शैली ने ले लिया।

पाल शैली में अधिकतर पुस्तकों के दृष्टान्त चित्र बने। इन दृष्टान्त चित्रों में प्रथम स्थान उन चित्रों का है, जो 'प्रज्ञापारमिता' आदि बौद्ध-ग्रन्थो पर आधारित हैं। इस प्रकार के चित्रो का निर्माण 10वी से 12वीं शती के बीच बंगाल, नालन्दा, विक्रमशिला, बिहार और नेपाल तक हुआ। इस अवधि के सभी ग्रन्थ प्रायः तालपत्र पर हैं, जिनमे सुन्दर लिपि, तराशे हुए अक्षर और चटकीली स्याही का प्रयोग हुआ है। इन तालपत्रीय पोथियों के बीच-बीच में सुन्दर चित्र बने हुए हैं। उनकी दफ्तियो या काष्ठपटों पर बुद्ध की जीवनी तथा उनकी शिक्षाओं से सम्बद्ध चित्र बने हुए हैं, जिनका आधार जातक कथाएँ हैं। उनकी शैली पर अजन्ता का प्रभाव है। पाल शैली के ये दृष्टान्त चित्र भारत तथा विदेशों के अनेक व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

सेनवंश

पालवंश के बाद बंगाल में सेनवंश का उदय हुआ। सेनवंश के शासक दक्षिण भारत के ब्राह्मण कुल से सम्बद्ध थे, जो धीरे-धीरे कर्णाटक क्षत्रिय हो गये (जी० एम० सरकार—अर्ली हिस्ट्री ऑफ बंगाल, सेन पीरियड)। सेनवंश

के प्रथम अधिष्ठाता सामन्तसेन ने पालवंश के ध्वंसावशेषों पर लगभग 11वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में सेनवंश की नींव डाली। सामन्तसेन चन्द्रवंशीय था। उसके पिता का नाम वीरसेन था। सामन्तसेन के बाद उसके पौत्र विजयसेन ने लगभग 63 वर्षों (1995-1158 ई०) तक राज्य किया। उसके बाद उसका विद्वान् पुत्र बल्लालसेन 1158 ई० में उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। उसने 'दानसागर' और 'अद्‌भुतसागर' नामक दो ग्रन्थों का प्रणयन किया। अन्तिम ग्रन्थ की पूर्ति उसके पुत्र ने की।

बल्लालसेन के बाद उसका सर्वगुणसम्पन्न विद्वान् पुत्र लक्ष्मणसेन लगभग 1180 ई० में सेनवंश का स्वामी नियुक्त हुआ। उसने अपने नाम से (1119 ई० से) एक नये सम्वत् का प्रचलन किया (सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबली वॉल्यूम, खण्ड 3, पृ० 1–5)। लक्ष्मणसेन अपने पिता की ही भाँति स्वयमेव विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये 'अद्‌भुतसागर' नामक ग्रन्थ को पूरा किया। सुप्रसिद्ध कवि एव 'पीयूषवर्ष' उपाधि से अलकृत जयदेव, 'पवनदूत' के रचयिता धोयिक, 'आर्या सप्तशती' के निर्माता गोवर्धन, उमापति और चरण उसकी विद्वत्सभा के पचरत्न थे।

लक्ष्मणसेन की मृत्यु के लगभग 50 वर्ष बाद तक बंगाल पर सेनवंश का शासन बना रहा।

पूर्वी सीमा के अन्य राजवंशों मे कामरूप (असम) राजवंश तथा कलिंग (उड़ीसा) के राजवंश विशेष ख्याति अर्जित न कर सके। उनके द्वारा न तो जन-जीवन को ही कोई प्रोत्साहन मिला और न उनके संरक्षण मे साहित्य तथा सस्कृति की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कार्य हुआ।

जयदेव का गीतगोविन्द

जयदेव अनेक विषयो के विख्यात विद्वान् थे। नैयायिक, काव्यशास्त्री, नाटककार और काव्यकार के रूप मे उनकी प्रसिद्धि है। नव्य न्याय के प्रवर्तकों में उन्हें पक्षधर मिश्र के नाम से जाना जाता है और काव्यकारों में वे पीयूषवर्ष उपनाम से विश्रुत हैं। संस्कृत मे उन्हें एक असामान्य गीतिकार के रूप मे सम्मान प्राप्त है। उनका 'गीतगोविन्द' काव्य और 'प्रसन्नराघव' नाटक उनकी गीतात्मक श्रेष्ठता के परिचायक हैं।

जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (12वीं श० ई०) की राजसभा के पंचरत्नों में से एक थे। कालिदास के 'मेघदूत' की भाँति जयदेव का 'गीतगोविन्द'

विश्व-साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों में से एक है। समस्त संस्कृत-साहित्य में अपने विलक्षण रचना-विधान की दृष्टि से उसकी अनुपमेयता सिद्ध हो चुकी है। गीति-नाट्य की दृष्टि से 'गीतगोविन्द' का विशेष महत्त्व आँका गया है। उसकी प्रेम और भक्ति की परिपक्वता के कारण उसमें लौकिकता-अलौकिकता का अद्भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। उसमें माधुर्य भाव की चरम परिणति हुई है। माधुर्य भक्ति द्वारा आनन्दातिरेक की स्थिति तक पहुँचने के लिए जितनी मनोदशाएँ हैं, उन सब का उसमें सम्यक् परिपाक हुआ है। उसमें राधा के विरह की मर्मस्पर्शी मनोदशा का मार्मिक वर्णन किया गया है। विद्वानों का अभिमत है कि वियोग की यह मनोव्यथा यदि पूर्व-रागजनित न होकर सुदूर प्रवासजनित होती, जैसी कि कालिदास के 'मेघदूत' में है,—तो उस अवस्था में हृदय टूक-टूक हुए बिना न रहता। राधा की यह गहन पीड़ा ब्रजांगनाओं के साथ केलि-रत श्रीकृष्ण के प्रति ईर्ष्याभाव से प्रसूत हुई थी। अपने प्रेम के पराभव से उसकी यह दयनीय मनःस्थिति वस्तुतः दुर्बलता एवं कायरता की विकट स्थिति में पहुँच चुकी थी। इस पर भी 'गीतगोविन्द' की प्रणय-पराकाष्ठा वस्तुतः मानव मनःस्थिति में व्याप्त हो जाती है।

उसमे प्रेमातुर मानव मन की मनोदशाओ का वैज्ञानिक चित्रण हुआ है और राधा तथा सखियो के माध्यम से अभिव्यंजित आशा-निराशा एव आनन्द-अवसाद की ये विपरीत मनोदशाएँ उसको मानव धरातल के ऊपर उठाकर आध्यात्मिक भावभूमि में पहुँचा देती हैं। अपनी इस उदात्त दृष्टि के कारण वह देश-काल की परिस्थितियो का अतिक्रमण करके सार्वजनीन मानवता की अनुभूति का विषय बन जाता है। यही उसकी प्रेम-भक्ति की विलक्षणता है।

अपने 'गीतगोविन्द' के अध्येता के समक्ष जयदेव ने आरम्भ मे ही दो शर्तें रखी हैं—प्रथम यह कि यदि अध्येता का मन हरिस्मरण की सरसता से ओत-प्रोत हो, और दूसरी यह कि यदि वह विलास कला-कलापों के कौतूहल में अभ्यस्त हो—तब मधुर, कोमल और कान्त पदशय्या पर अधिष्ठित जयदेव की सरस्वती का वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकता है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलास-कलासु कुतूहलम्।
मधुर—कोमल—कान्त—पदावलीं
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

'गीतगोविन्द' की इस मानव-मनोरंजनकारी भावदृष्टि को व्यापक लोकानुभूति में परिणत करने का एकमात्र कारण उसका रचना-विधान है। उसके शब्द-सौष्ठव एवं पद-लालित्य ने उसकी लोकप्रियता को ऐसे समाज में भी सहज बना दिया, जो संस्कृत से अनभिज्ञ था। इस महान् गुण के कारण 'गीतगोविन्द' अतीत के आठ सौ वर्षों से लेकर आज तक जन-जीवन का कण्ठहार बना हुआ है। मध्ययुगीन वल्लभ तथा चैतन्य आदि वैष्णवाचार्यों सहित विशाल जनता के बीच उसकी लोकप्रियता बनी रही। इसी जनप्रियता के कारण उसके संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद तथा रूपान्तर हुए और निरन्तर उसका विस्तार हुआ।

'गीतगोविन्द' का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उसके द्वारा मध्ययुगीन भारत में कृष्ण भक्ति का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। हिन्दी के कृष्ण भक्ति साहित्य पर उसका गहन प्रभाव पड़ा और अष्टछाप के कवियों से लेकर आधुनिक युग के कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं तक उसकी माधुर्य एवं सौन्दर्य समन्वित रसधारा का प्रभाव बना रहा।

पश्चिमोत्तर सीमा के राजवंश

भारत के पश्चिमोत्तर सीमा के राजवंशों मे सिन्ध, काबुल, पजाब और काश्मीर का नाम मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। साहित्यिक तथा सांस्कृतिक अभ्युदय की दृष्टि से काश्मीर का राजवश अपना विशेष महत्त्व रखता है।

रायवंश

सिन्ध के रायवश के सम्बन्ध मे अधिक सामग्री उपलब्ध नही है। जिस समय सिन्ध पर अरबो का आक्रमण हो रहा था, उसके पहले से वहाँ रायवंश का शासन चला आ रहा था। इस रायकुल में प्रमुख पाँच राजा हुए, जिनका शासनकाल कुल मिलाकर 137 वर्षों का बैठता है (त्रिपाठी—प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 252)। जिस समय चीनी यात्री ह्वेनत्सांग (629-645 ई०) भारत भ्रमण कर रहा था, तब सिन्ध पर शूद्र (शु-तो-लो) नामक राजा का शासन था, सम्भवतः जिसका हर्ष के साथ युद्ध हुआ था (कावेल और टामस—हर्षचरित, पृ० 76)।

सिन्ध पर अरबों की विजय हिजरी 15 (636-37 ई०) मे हुई थी, और तभी से वे भारतीयों के साथ अपने अच्छे सम्बन्धों को बनाने की ओर विशेष

ध्यान देने लगे थे। यही कारण है कि वहाँ के मूल निवासियों को विधर्मी शासकों के प्रति अपने अच्छे सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए प्रेरित किया। भारतीय परिस्थितियों ने धीरे-धीरे अरबों को प्रभावित किया, जिसका सुपरिणाम यह हुआ कि दोनो जातियों के ज्ञानजीवियों का ज्योतिष के क्षेत्र में आदान-प्रदान होने लगा। इसी समय 'चरक' जैसे आयुर्वेद विज्ञान के विशाल ग्रन्थ का और 'पंचतन्त्र' जैसे लोकोपयोगी कथाकृति का अरबी मे अनुवाद हुआ (डेनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया, 1, पृ० 20-24)। यह परम्परा निरन्तर विकसित होती रही।

शाहीयवंश

विख्यात कुषाण साम्राज्य का पतन हो जाने के बाद भी कुछ वर्षों तक काबुल तथा पंजाब पर उसके प्रभाव के अवशेष जीवित थे। इन्ही अवशिष्ट कुषाणों ने अपने को 'शाहीय' (शाही) नये उपनाम से अभिहित किया। चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग के भारत आगमन से पूर्व ही काबुल तथा पंजाब के अवशिष्ट कुषाण शाहीय नाम से प्रकाश मे आ चुके थे (सचाऊ का अनुवाद—अल्बेरूनीज इण्डिया, 2, पृ० 10-11)।

कुषाण साम्राज्य के बाद काबुल और पजाब मे तुर्कीशाही और हिन्दूशाहीय नामक दो राजवंश प्रकाश में आये। तुर्कीशाहीवंश का अन्तिम शासक लगतूर्मान को उसके ब्राह्मण मन्त्री कल्लर ने राज्यच्युत करके उसकी जगह हिन्दूशाहीय नये राजवंश की स्थापना की, जिसके उत्तराधिकारी हुए क्रमशः सामन्द, कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, तरोजनपाल और भीमपाल। लगभग 1026 ई० तक इस राजवंश का अस्तित्व बना रहा (अल्बेरूनीज इण्डिया, पृ० 13)। सिन्ध तथा पजाब के उक्त राजवंशों के शासनकाल की कोई विशेष साहित्यिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धि उल्लेखनीय नही है।

करकोटकवंश

काश्मीर के करकोटक राजवंश के शासनकाल की अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ जीवित हैं। यद्यपि काश्मीर की ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त करने के लिए कल्हण तथा जोनराज के ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता मिलती है, तथापि 7वीं शती ई० के पहले का इतिहास बताने में वे भी विशेष रूप से सहायक नही हैं। विभिन्न ऐतिहासिक साधनो से ज्ञात होता है कि मौर्य अशोक, उसका

पुत्र जालौक, कुषाण राजा कनिष्क और हुविष्क तथा मिहिरकुल के राजाओं ने काश्मीर पर अपने-अपने शासन स्थापित किये। गुप्त राजाओं के समय काश्मीर अछूता ही रहा।

काश्मीर का धारावाहिक इतिहास लगभग 7वी शती ई० से आरम्भ होता है, जिसका उदय करकोटकवश से हुआ। करकोटकवंश का प्रथम शासक दुर्लभवर्धन, गोनदवश के ध्वस्त होने के बाद, काश्मीर की राजगद्दी पर आसीन हुआ। इस राजवंश का नामकरण राजा दुर्लभवर्धन के आदि पुरुष नाग करकोटक के नाम से हुआ। चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग राजा दुर्लभवर्धन के शासनकाल मे दो वर्ष (631-33 ई०) तक सुखपूर्वक काश्मीर में रहा। काश्मीर पर करकोटकवश का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक का नाम ललितादित्य मुक्तापीड था, जो दुर्लभवर्धन का तीसरा पुत्र था। उसने 724-760 ई० तक काश्मीर पर शासन किया। काश्मीर में प्रसिद्ध मार्तण्ड मन्दिर का निर्माण उसी ने कराया था।

ललितादित्य मुक्तापीड के बाद उसके गुणग्राही पौत्र जयापीड विनयादित्य का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसका शासनकाल 779 813 ई० था। उसके शौर्य की धाक नेपाल तथा कन्नौज तक थी। उसकी राजसभा में विद्वानो का जमघट लगा रहता था।

कल्हण ने 'राजतरंगिणी' (तृतीय तरंग) मे लिखा है कि जिस प्रकार गुप्त हुई वितस्ता नदी को कश्यप महर्षि ने फिर से काश्मीर मे प्रकट किया था, उसी प्रकार सम्पूर्ण विद्याओ के उद्‌भव स्थान उस काश्मीर देश मे विलुप्तप्राय: विद्याओ को जयापीड़ ने पुनरुज्जीवित किया। उसने अपने आश्रितो को शिक्षित करने के लिए बडे-बड़े विद्वानो को अपने यहाँ नियुक्त किया। अपने देश मे उच्छिन्न हुए व्याकरण महाभाष्य के पुन: प्रचार के लिए देश-देशान्तर के प्रौढ़ वैयाकरणो को बुलाकर व्याकरण महाभाष्य के अध्ययन की ओर लोगो की प्रवृत्ति को जागृत किया। उसने क्षीरस्वामी नामक महावैयाकरण को अपने यहाँ आमन्त्रित किया और स्वय भी उसके पास बैठकर 'महाभाष्य' का विधिवत् अध्ययन किया। अपनी राजसभा को उसने विद्वानो से अलकृत किया। उन्हें राजपदों पर नियुक्त किया। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री 'काव्यालकारसूत्र' के रचयिता वामन उसके मन्त्री थे। थक्किय नामक महापण्डित को उसने अन्नसत्र का अधिकारी नियुक्त किया। प्रति दिन एक लाख दीनार पारिश्रमिक पाने वाला 'काव्यालकारसारसंग्रह' का प्रणेता उद्‌भट भट्ट उसकी राजसभा का सभापति था। उसके यहां 'कुट्टिनीमत' नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थ

का निर्माता दामोदरगुप्त शुक्राचार्य के समान प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त था। इसी प्रकार मनोरथ, शंखदत्त, चरक और सन्धिमान आदि अनेक कवि उसके यहाँ आश्रय पाते थे।

जयापीड की विद्वत्प्रियता के सम्बन्ध मे कल्हण ने लिखा है कि उसने देश भर के सभी उच्चकोटि के विद्वानों को अपने यहाँ बुला लिया था, जिससे कि अन्य राजधानियो में विद्वानों का दुर्भिक्ष हो गया था। उसकी विद्वत्ता के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'अत्यन्त कृतार्थ तथा सद्गुणों को बढाने वाले श्री जयापीड महाराज मे और कृत्य प्रत्ययो का विधान करने वाले तथा गुण-वृद्धि के विधायक महामुनि पाणिनि मे क्या अन्तर है?'

उत्पलवश

जयापीड विनयादित्य के शिर पर मण्डराती हुई युद्धो की निरन्तर दुर्घटा ने उसे क्रूर और अत्याचारी बना दिया था। उसके बाद काश्मीर पर दुर्बल राजा आसीन होते गये और लगभग 9वी शती के मध्य में करकोटक राजवश की जगह काश्मीर मे उत्पल राजवश की प्रतिष्ठा हुई, जिसका प्रथम शासक था अवन्तिवर्मन्। उसने काश्मीर पर 855-883 ई० तक राज्य किया। वह राजा बडा दानी और निर्माण कार्यों के प्रति उत्सुक था। 'ध्वन्यालोक' का यशस्वी प्रणेता आचार्य आनन्दवर्धन उसी की विद्वत्सभा का रत्न था।

उसके बाद उसका पुत्र शकरवर्मन् और तदनन्तर उसका पुत्र गोपालवर्मन् उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। तदनन्तर उन्मत्तावन्ती और उसके पुत्र शूरवर्मन् (939 ई०) के साथ ही काश्मीर का उत्पलवंश अस्त हो गया। उत्पल राजवंश के बाद मुगलो के आक्रमण के समय तक काश्मीर मे पर्वगुप्त का राजवंश, लोहार राजवश और उच्चल राजवश का शासन बना रहा। उच्चल का पौत्र और सुस्सल का पुत्र जयसिंह हुआ। उसने लवन्यो का वधकर काश्मीर पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। राजा जयसिंह का शासनकाल 1129-1150 ई० था। उसी के समय कल्हण ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'राजतरगिणी' की रचना की थी।

कल्हण की राजतरंगिणी

कल्हण की 'राजतरंगिणी' काश्मीर की विश्वकोशात्मक रचना और संस्कृत-साहित्य की महान् कृति है। कल्हण का जन्म 1100 ई० को काश्मीर

के परिहासपुर नामक स्थान में हुआ था। अपनी इस कृति को उन्होंने काश्मीर के राजा जयसिंह के शासनकाल (1129-1150 ई०) में लिखा था। 'राजतरंगिणी' में वर्णित शासकों मे जयसिंह अन्तिम शासक है।

कल्हण के पूर्वज राजवंशों से सम्बन्धित प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनके पिता चम्पक महाराज हर्ष (1089-1101 ई०) के महामात्य तथा चाचा कनक भी उन्हीं के राज्याश्रित विद्वान् थे। कल्हण शैवमतानुयायी था और बौद्धधर्म के अहिंसा सिद्धान्त पर उसकी परम निष्ठा थी।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' समस्त संस्कृत-साहित्य मे अपने विषय की एकमात्र कृति है। उसमे कुल आठ तरंग और 7826 श्लोक हैं। प्रथम चार तरंगों मे पौराणिक युग से लेकर करकोटक वंशीय शासकों का इतिहास वर्णित है। पाँचवी तरंग मे 'वर्मन्' वंशीय शासकों की वंशावली दी गयी है। छठी तरंग मे यशस्कर ब्राह्मण राजा से लेकर छिदा नामक रानी तक का इतिहास उल्लिखित है। सातवी तरंग मे अनन्त, कलश और हर्ष जैसे विख्यात शासको का वर्णन किया गया है। अन्तिम आठवीं तरंग में उच्चल, सुस्सल और जयसिंह प्रभृति राजाओं की वंशावली तथा उनके शासनकाल की घटनाएँ वर्णित हैं।

इस प्रकार 'राजतरंगिणी' में पुरातन पौराणिक युग से लेकर 12वी शती तक, लगभग डेढ हजार वर्षों का शृंखलाबद्ध इतिहास तिथि-क्रम से दिया गया है। इस ग्रन्थ को लिखने मे कल्हण ने अनेक अधिकारपत्रो, दानपत्रो, प्रशस्तियो, शिलालेखो और हस्तलिखित पोथियो के अतिरिक्त अपने पूर्ववर्ती लगभग ग्यारह इतिहास-ग्रन्थो का उपयोग किया था। इस ग्रन्थ से कल्हण की अद्भुत इतिहास-बुद्धि का परिचय मिलता है। उसमे वर्णित प्रत्येक शासक का शासन काल वर्ष, मास और तिथि की गणना से निर्धारित किया गया है। इतिहास-लेखन के क्षेत्र मे इस प्रकार का यह प्रयास विश्व-साहित्य में प्रथम बार देखने को मिलता है।

कल्हण एक निष्पक्ष एव निर्भीक इतिहासकार था। इतिहासकार होने के साथ-साथ वह एक विख्यात कवि भी था। किन्तु कवित्व के प्रवाह मे बहकर उसने इतिहास के तथ्यों एवं साक्ष्यों की उपेक्षा नही की। जिस शासक के जो गुण और अवगुण थे, उनको ठीक उसी रूप में प्रकट किया। इतिहास के आलोक में सत्यासत्य के निर्णय मे उसने गहरी सूझबूझ से काम लिया है। उसकी अद्भुत

प्रतिभा इस बात में देखने को मिलती है कि उसने इतिहास के इने-गिने तथ्यों तथा तत्सम्बन्धी घटनाओं को कविता की सीमा में आबद्ध किया।

उसका ज्ञान अपरिमित था। उसको अपने देश की परम्पराओं, आस्थाओं और आचार-विचारों की व्यापक जानकारी थी। देश की भौगोलिक सीमाओं के तथ्यों को उसने बड़ी सतर्कता से प्रस्तुत किया है। उसमें वनस्पति विज्ञान तथा वास्तु और स्थापत्य आदि कलाओ का भी सम्यक् निरूपण हुआ है। भारत के और विशेष रूप से, काश्मीर के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन की विविधताओं का उसने सूक्ष्म निरूपण किया है। उसने राजपरिवारो की परम्पराओं का भी दिग्दर्शन किया है।

काश्मीर की प्राकृतिक भव्यता को भी कल्हण ने यथावसर चित्रित किया है। वहाँ के पर्वत, नदी, नद, झरने, सरोवर, वन-उपवन और पष्प आदि की रमणीयता का काव्यमय हृदयग्राही वर्णन करने मे उसने विशेष रुचि दर्शित की है। काश्मीर के नगरों, महानगरों, ग्रामों, ग्रामटिकाओ और मठ-मन्दिरो के वर्णन अत्यन्त ही मनोरम हैं। इस प्रकार 'राजतरंगिणी' सहज ही काश्मीर का विश्वकोश बन गयी है।

अपनी इन्ही विशेषताओ के कारण 'राजतरगिणी' विश्व-साहित्य में उच्च सम्मान प्राप्त करने में सफल हो सकी। विश्व की अनेक भाषाओं मे उसके विभिन्न अनुवाद तथा रूपान्तर हो चुके हैं। मुगल कवि एवं इतिहासकार अबुलफजल ने अपनी 'आईने-अकबरी' में 'राजतरंगिणी' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मुगल शाहँशाहों ने उसका फारसी मे अनुवाद कराया। इस दृष्टि से जैनुल आबदीन (1421-1472 ई०) द्वारा कराया गया फारसी अनुवाद 'बहिरुल् अस्मार' (कथासागर) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसका संशोधन एवं अपूर्ण कार्य को विद्याप्रेमी सम्राट् अकबर के विद्वान् इतिहासकार अब्दुलकादिर अलबदौनी ने 1594 ई० मे पूरा किया। इस अनुवाद से अकबर इतना प्रभावित हुआ कि उसने बिना व्यवधान के रात भर जागकर सम्पूर्ण ग्रन्थ को सुना। इसी प्रकार 1617 ई० मे इतिहासकार हैदर मलिक ने भी उसका एक रूपान्तर प्रस्तुत किया।

इस प्रकार 'राजतरंगिणी' की लोकप्रियता निरन्तर बढती गयी। आंग्ल विद्वानों ने उस पर व्यापक कार्य किया। डॉक्टर बर्नियर कृत 'पैराडाइज ऑफ इण्डिया' से विदित होता है कि उन्होंने हैदर मलिक के फारसी रूपान्तर को

अंग्रेजी में अनूदित किया था; किन्तु वह सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। 1823 ई० में मूरक्राफ्ट ने काश्मीर से शारदा लिपि में उपलब्ध देवनागरी लिपि में लिखित हस्तलिखित प्रति को सम्पादितकर 1835 ई० में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल से प्रकाशित कराया। प्रो० बूलर, प्रो० विल्सन और डॉक्टर स्टीन ने भी 'राजतरंगिणी' को प्रकाश मे लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्टीन का संस्करण अत्यन्त खोजपूर्ण और सर्वांगीण है। संस्कृतज्ञ विद्वान् ट्रायर ने 1841-42 ई० में एक प्रामाणिक अनुवाद पेरिस से प्रकाशित कराया।

'राजतरंगिणी' की इस लोकप्रियता ने एक ओर तो इतिहासबुद्धि भारतीयो की प्रतिभा को विश्रुत किया और दूसरी ओर यह सिद्ध किया कि आठ सौ वर्ष पूर्व भारत मे इस प्रकार के बृहत् इतिहास-लेखन का कार्य सम्पन्न हुआ। इस रूप में 'राजतरंगिणी' भारतीयो की उच्च प्रतिभा एव गौरव का प्रतीक बनकर विश्व-विश्रुत हुई।

• • •

उन्नीस/दक्षिण भारत के राजवंशों की सांस्कृतिक उपलब्धि

दक्षिण भारत के राजवंश

भारत की सांस्कृतिक अभ्युन्नति की दृष्टि से दक्षिण भारत का विशेष योगदान रहा है। उसकी ऐतिहासिक परम्परा को सातवाहनों और शुंगों से स्थापित किया जा सकता है। लगभग दो सौ वर्ष ई० पूर्व से लेकर दूसरी शती ई० तक के चार सौ वर्षों के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में जिन विभिन्न राजवंशो का योगदान रहा, उनमें दक्षिण के सातवाहनों और शुगो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके शासनकाल मे साहित्य, संस्कृति और कला के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व उन्नति हुई, उसका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है।

सातवाहनों के ही समकालीन कलिंग के चेदिवंशीय प्रसिद्ध शासक खारबेल (लगभग 200 ई० पूर्व) ने दक्षिण की सांस्कृतिक परम्परा को उजागर किया। यह 'कलिंग चक्रवर्ती' स्वयमेव अनेक विषयों का विद्वान् था और उसी प्रकार उसके प्रताप का आतंक पूर्व मे मगध तक छाया हुआ था। दक्षिण की सांस्कृतिक गरिमा को बढाने वाले राजवशो में गगवंश, पल्लववश, चोलवश और चालुक्यवंश का नाम उल्लेखनीय है। गंगों की कीर्ति का अमर स्मारक कोणार्क का सूर्य मन्दिर अपनी धार्मिक महत्ता और कला की भव्यता को आज भी द्योतित कर रहा है। पल्लवों की संस्कृतप्रियता, धार्मिक उदारता के अनेक प्रमाण आज भी जीवित हैं। अनेक भव्य एवं विशाल मन्दिर और सितनवासल की गुफाएँ उनके धर्मसमन्वित कलानुराग के साक्षी हैं।

इसी प्रकार चोलो और चालुक्यो की धार्मिक सहिष्णुता, विद्यानुरागिता और कलाप्रियता के बहुसंख्यक प्रमाण उनके यश को आज भी सुरक्षित बनाये हुए हैं। चोलों के शासन में मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण विशेष रूप से

हुआ। चालुक्यों की कला-कीर्ति एलीफेण्टा और बादामी की भव्य गुफाओं के रूप में जीवित है। उन्होंने धार्मिक समन्वय के साथ-साथ दक्षिण में साहित्य के निर्माण में भी विशेष योगदान किया। वे स्वयं विद्यावन्त थे और विद्वानों के प्रति निष्ठावान् भी। उनके शासनकाल में कन्नड़ और संस्कृत-साहित्य का नव निर्माण हुआ।

कलिंग का चेदिवंश

कलिंग का चेदिवंश अपनी ऐतिहासिक महत्ता के लिए प्रसिद्ध है। प्राचीन साहित्य मे कलिंग का उल्लेख प्राच्य जनपदो में हुआ है। पाणिनि के अनुसार वह एकराज जनपद था। 'महाभारत' और पुराणों से लेकर दण्डी के 'दशकुमारचरित' और राजशेखर की 'काव्यमीमासा' आदि विभिन्न ग्रन्थो में इस यशस्वी जनपद का उल्लेख हुआ है।

कलिंग जनपद मौर्यों से पूर्व नन्द साम्राज्य का अग था; किन्तु मौर्ययुग में वह स्वतन्त्र हो गया था। प्लिनी ने कलिंग की शक्तिशाली सेना का वर्णन किया है। अशोक के अभिलेखो से विदित होता है कि अशोक ने कलिंग मे भयंकर रक्तपात किया था, जिससे पश्चात्तापवश वह बौद्ध बन गया था। अशोक के समय कलिंग की राजधानी तोसली थी, जो कि आज भी जीवित है।

मौर्य सम्राट् अशोक के निधन के बाद कलिंग पर जिस चेदि नामक ब्राह्मण राजवंश की प्रतिष्ठा हुई थी, खारवेल उसी कुल का था। बाद मे वह ब्राह्मण से जैन हो गया था। उसने उत्तर-दक्षिण के मौर्य तथा सातवाहन साम्राज्यो को आतकितकर बहुत बड़े साम्राज्य का निर्माण किया था। दो बार उसने मगध को विजितकर कलिंग की कालिमा का बदला चुकाया था। वह बड़ा प्रतापी तथा बलवान् राजा था। उसके अभिलेखों मे उसे 'कलिंगाधिपति' तथा 'कलिंगचक्रवर्ती' कहा गया है। उसकी राजधानी कलिंगनगर थी। अभिलेखो के अनुसार एक तूफान में कलिंगनगर के द्वार, प्रासाद, भवन और उपवन, सब नष्ट हो गये थे, जिनका खारबेल ने पुनर्निर्माण-कर एक नहर तथा भव्य मन्दिर का निर्माण करके नगर की शोभा को बढ़ाया था।

खारवेल का एक महत्त्वपूर्ण हाथीगुम्फा (भुवनेश्वर, पुरी जिला के निकट) अभिलेख उपलब्ध है, जिसमे खारबेल को चेदिकुल का तीसरा शासक बताया

गया है (एपि० इं०, 20 जनवरी, 1930, पृ० 71; जे० बी० ग्रो० ग्रार० एस०, 1918 (4) पृ० 364 ग्रादि)। इस ग्रभिलेख के ग्रध्येता ग्राधुनिक इतिहासकार विद्वानों का ग्रभिमत है कि खारबेल यवनराज (योनराज) डेमिट्रियस (दिमित) का समकालीन था ग्रौर हाथीगुम्फा तथा नानाघाट के ग्रभिलेखों मे पर्याप्त एकता होने के कारण वह सातवाहन सम्राट् सातकर्णि प्रथम (172-162 ई० पूर्व) के ग्रासपास हुग्रा, जिससे उसका स्थितिकाल 200 ई० पूर्व के ग्रारम्भ मे सिद्ध होता है। उसके इस महत्त्वपूर्ण ग्रभिलेख में लिखा है कि गणित, व्यवहारशास्त्र (कानून) ग्रौर ग्रर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्तकर वह 24 वर्ष की ग्रवस्था में सिंहासन पर बैठा था।

कलिंगराज खारबेल से पहले ग्रौर उसके बाद के चेदि शासकों का कोई ऐतिहासिक वृत्त उपलब्ध नही होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि खारबेल के बाद कलिंग का राजवंश क्षीण हो गया था; किन्तु उसका ग्रस्तित्व बना हुग्रा था। चौथी शती ई० मे वह एक छोटे-से राज्य के रूप मे वर्तमान था, जिसका कि गुप्त साम्राज्य मे विलय हो गया था। पाँचवीं शती ई० मे मध्य कलिंग पर पितृभक्तवंश ग्रौर दक्षिण कलिंग पर माठर तथा वासिष्ठवंश के राजा राज्य करते थे।

गंगवंश

कलिंग पर चेदिवंश के बाद जिन प्रभावशाली राजवंशों का उदय हुग्रा उनमें गगवंश का नाम प्रमुख है। ईसा पूर्व दूसरी शती मे चेदिराज खारबेल ने कलिंग की कीर्ति को उच्चस्तर पर पहुँचाया। उसके बाद मध्ययुगीन राजवंशो मे हर्षवर्द्धन का भी कुछ समय तक वहाँ शासन बना रहा। उसके समय भारत मे ग्राये चीनी यात्री ह्वेन-त्साँग ने भी ग्रपने यात्रा-वृत्तान्त में कलिंग की स्थिति पर प्रकाश डाला है।

कलिंग पर गंगवंश का शासन 6ठी श० ई० से लगभग 13वी श० ई० तक बना रहा। गंगवंशीय शासकों में नरसिंहदेव प्रथम (1238-1264 ई०) का नाम प्रमुख है। वह बड़ा धर्मप्राण, कलानुरागी तथा विद्याप्रेमी शासक था। कोणार्क के प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर के रूप में उसकी कीर्ति ग्राज भी जीवित है। गंगों की राजधानी कलिंगनगर थी, जिसका समीकरण वर्तमान कलिंगपत्तनम् से किया जाता है।

कलिंग के गंगवंशीय शासकों के समय भारतीय धर्म, साहित्य तथा शासन का द्वीपान्तरों तक प्रचार-प्रसार हुआ। उनमें बरमा और मलय का नाम प्रमुख है। मलय-साहित्य में कलिंग की प्रशस्त चर्चाएँ गंगो के सांस्कृतिक प्रसार की सूचक हैं।

कोणार्क का सूर्य मन्दिर

कोणार्क उड़ीसा प्रदेश के पुरी जिले जगन्नाथपुरी से 26 मील उत्तर-पूर्व दिशा में समुद्र तट पर अवस्थित है। कोणार्क सूर्य मन्दिर के लिए प्रसिद्ध है। मन्दिर की रचना रथ के रूप में की गयी है, जिसमें 9 फुट 8 इंच व्यास के चौबीस विशाल पहिए बनाये गये हैं और जिन्हे सात घोड़ो से खीचते हुए दिखाया गया है। यह रथ ससार-रूप चक्र का प्रतीक है और इसके द्वारा सृष्टि की नित्य सचरण क्रिया का भाव व्यक्त किया गया है। इसका निर्माण गग राजा नरसिंहदेव प्रथम (1238-64 ई०) ने किया था।

यह विशाल मन्दिर 865 × 540 चौकोर प्राकार से घिरा हुआ है। उसका मुख पूर्व की ओर है। मन्दिर के तीन प्रधान अंग हैं—देउल (गर्भ गृह), जगमोहन (मण्डप) और नाटमण्डप। नाटमण्डप का शिखर भाग ध्वस्त हो चुका है।

कोणार्क के सूर्य मन्दिर मे भारतीय स्थापत्य का चरमोन्नत रूप सुरक्षित है। उसकी वास्तुकला और मूर्तिकला की भव्यता दर्शनीय है। उसका नाटमण्डप नाना प्रकार के अलकरणो तथा मूर्तियो से सुशोभित है। उसके सोपानमार्ग के दोनो ओर गजशार्दूलो की विशाल तथा भयावह मूर्तियाँ बनी हुई है।

मूर्ति-निर्माण तथा वास्तुकला की दृष्टि से जगमोहन और देउल का विशेष महत्त्व है। मन्दिर के ये दोनों अग एक ही जगती पर टिके हैं। जगती के नीचे गजरथ बना है, जिस पर विभिन्न मुद्राओ से युक्त हाथियों के सजीव दृश्य अंकित है। उसकी जगती पर विभिन्न देवी-देवताओ गन्धर्व, किन्नर, नाग, विषधर और अप्सराओ की भव्य मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। इसके अतिरिक्त कामासक्त स्त्री-पुरुषो की विभिन्न भाव-भंगिमाओं से युक्त आकृतियाँ अत्यन्त आकर्षक और सुन्दर हैं।

गर्भगृह (देउल) के तीनो भद्रों मे गहरे देवकोष्ठ बने हैं, जिनमें भगवान् सूर्य की अलौकिक दीप्तिमय पुरुषाकार मूर्तियाँ सुशोभित हैं। जगमोहन का प्रवेश द्वार नाना प्रकार के अलंकरणों से सुशोभित है। यह भी तीन तलो में विभक्त है, जिनमे सेना, आखेट, शोभायात्रा, नृत्यगान, पूजापाठ आदि अनेक

विषयों से सम्बद्ध दृश्य अंकित हैं। उनमें स्थापित स्त्री-मूर्तियों की शोभा-सज्जा विशेष रूप से दर्शनीय है। वे बाँसुरी, शहनाई, ढोल, मृदंग, झाँझ और मंजीरा बजाती हुई विभिन्न आकर्षक मुद्राओं में दर्शक को अपनी सजीवता का आभास दिलाती हुई प्रतीत होती है। स्त्री-मूर्तियों से सुशोभित जगमोहन का शिखर न केवल वास्तुकला की सर्वांगीण सुघरता का द्योतन करता है, अपितु कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भी उसका अपूर्व महत्त्व है।

पल्लववंश

पल्लवों के मूल इतिहास के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। विभिन्न विद्वानों की इस सम्बन्ध में अलग-अलग धारणाएँ हैं। प्रायः सभी इतिहासकार यह मानते हैं कि पल्लवों का मूल दक्षिण भारत के ब्राह्मणवंश से था; किन्तु बाद में युद्धजीवी होने के कारण उन्हें क्षत्रिय मान लिया गया।

तीसरी-चौथी शती ई० के बीच प्राकृत भाषा में उत्कीर्णित तीन ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि पल्लव राजवंश के आदि पुरुष का नाम बप्पदेव था, जिसने दक्षिण भारत में काँची (काँजीवरम्) और धान्यकटक (धरणीकोटा) नामक दो राजधानियाँ स्थापितकर पल्लव साम्राज्य की नींव डाली थी (गोपालन्—हिस्ट्री ऑफ दि पल्लवाज ऑफ काँची, पृ० 32)। बप्पदेव के बाद उसका पुत्र शिवस्कन्दवर्मन् और तदनन्तर विष्णुगोप उत्तराधिकारी हुए। विष्णुगोप ने सम्राट् समुद्रगुप्त को आत्मसमर्पण किया था। इन तीनों पल्लव शासकों का समय तीसरी से छठी शती ई० के बीच था।

छठी शती के अन्त में सिंहविष्णु (575-600 ई०) नामक एक प्रतापी सामन्त ने नया पल्लववंश प्रतिष्ठित किया। सिंहविष्णु के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम (600-630 ई०) गद्दी पर बैठा। वह बड़ा पराक्रमी, कलाप्रेमी, साहित्यानुरागी और निर्माण कार्यों में अभिरुचि रखता था। वह शैव था और उसने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के भव्य मन्दिरों का निर्माण कराके अपनी धार्मिक गरिमा को चिरस्थायी बनाया। चित्रकला तथा संगीत में उसकी विशेष अभिरुचि थी। उसे 'मत्तविलास प्रहसन' नामक एक व्यंग्यात्मक प्रहसन का भी रचयिता माना जाता है। 7वीं शती ई० के द्वितीय चरण से लेकर लगभग 895 ई० के बीच पल्लववंश के प्रसिद्ध शासकों में क्रमशः नरसिंहवर्मन् प्रथम, परमेश्वरवर्मन् प्रथम, नरसिंहवर्मन् द्वितीय, नन्दिवर्मन् और अपराजितवर्मन् का

नाम उल्लेखनीय है (विस्तार के लिए—इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड 52, पृ० 77-82; आयंगर—जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, खण्ड 2, भाग 1, पृ० 22-66; जायसवाल—जरनल ऑफ-दि बिहार ऐण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, मार्च-जून 1933, पृ० 181-183; गोपालन्—हिस्ट्री ऑफ दि पल्लवाज ऑफ कांची, पृ० 34)।

संस्कृतप्रियता

पल्लव राजवंश का लगभग छह सौ वर्षों का इतिहास उसकी साहित्यिक अभिरुचियों, कलानुरागिता और धार्मिक सहिष्णुता के कारण अपना गौरवशाली स्थान रखता है। उनका शासनकाल वस्तुतः दक्षिण भारत के साहित्य, धर्म तथा कला का भव्य इतिहास है।

अपनी संस्कृतज्ञता और विद्वन्निष्ठा के रूप में उन्होने शुंग-सातवाहनों की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ और तत्कालीन संस्कृतज्ञ विद्वानो के लिए उन्होने जो कार्य किये, वे इतिहास मे अमर है। पल्लवो की राजधानी कांची संस्कृत-शिक्षा का भारतप्रसिद्ध केन्द्र था। संस्कृत के विशाल वाङ्मय मे कांची का व्यापक उल्लेख पल्लवो की संस्कृतनिष्ठा का ही परिचायक है। पल्लवों के संस्कृतानुराग के प्रमाण उनके उपलब्ध अभिलेख हैं, जो कि प्रायः सभी संस्कृत में हैं। त्रावणकोर निवासी 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के रचयिता महाकवि भारवि पल्लव सिंहविष्णु (575-600 ई०) के सभा विद्वान् थे। दिङ्नाग, मयूरशर्मन्, दण्डी और मानुदत्त आदि विद्वानो के ग्रन्थो से विदित होता है कि वे अपनी ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए कांची आये थे। व्यंग्यात्मक प्रहसन 'मत्तविलास' के रचयिता महेन्द्रवर्मन् की संस्कृत-अभिज्ञता का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। आधुनिक इतिहासकार विद्वानो का अभिमत है कि भास तथा शूद्रक के नाटको को अभिनय योग्य बनाने के लिए नरसिंहवर्मन् के समय (695-722 ई०) उनका संक्षिप्तीकरण किया गया था (हिस्ट्री ऑफ पल्लवाज ऑफ कांची, पृ० 159)।

धार्मिक उदारता

सभी पल्लव शासक धार्मिक उदार एवं सहिष्णु थे। यद्यपि वे अधिकतर शैव थे; किन्तु वैष्णवों तथा अन्य धर्मानुयायियों के साथ उनके सम्मानित सम्बन्ध बने रहे और उन्हें उन्होंने प्रोत्साहित किया। सन्त अय्यर और तिरुमगै या

तिरुज्ञान तथा सम्बन्दर जैसे शैव-वैष्णव सन्त और पेरुन्देवनार जैसे तमिल साहित्यकार उन्हीं के शासनकाल में हुए। उनके द्वारा निर्मित शिव एवं विष्णु के भव्य मन्दिर न केवल उनकी धार्मिक रुचि के परिणाम हैं, अपितु उनके द्वारा कला का भी व्यापक रूप से संरक्षण हुआ।

कलाप्रियता

उनकी धार्मिक सहिष्णुता ने ही पल्लव शासकों को कलानुरागी बनाया। दक्षिण भारत के ओर-छोर तक फैले भव्य एवं विशाल देवमन्दिर न केवल उनके धार्मिक जागरण के स्मारक हैं, अपितु उनके द्वारा भारतीय स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्रकला की थाती का भी संरक्षण हुआ। इन देवमन्दिरों में उत्कीर्णित देव प्रतिमाएँ तथा पल्लव राजा-रानियो की पुरुषाकार प्रतिमाएँ कला की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। महाबलीपुरम् की वराह गुफा में सिंहविष्णु (575-600 ई०) और उसकी दो रानियों की मानवाकार प्रस्तर प्रतिमाएँ इसी प्रकार की हैं।

भारतीय मूर्तिकला की अजस्र धारा अपने-अपने युगों की निष्ठाओं और सौन्दर्य-अनुराग की पद्धतियों को अपने में समेटे हुए भारत के चारों ओर प्रसारित एवं विकसित होती हुई आगे बढ़ती गयी। अजन्ता के बाद दक्षिण भारत में मूर्तिकला की परम्परा विशेष रूप से उजागर हुई, जिसका एक उदाहरण महाबलीपुरम् के मन्दिर की चट्टान पर उत्कीर्णित अर्जुन के रथ की दो आदमकद राजरानियाँ हैं। इस मूर्तिफलक के तीन भाग हैं। बीच में नग्नावस्था मे दो सुकुमार स्त्रियाँ खड़ी हैं और उनके दक्षिण पार्श्व में एक दण्डधारी रक्षक और वाम पार्श्व में हाथी पर एक व्यक्ति सवार है। बीच की दोनों छरहरे शरीर वाली स्त्रियों की आकृतियाँ बडी सम्मोहक तथा गरिमामय हैं। यह मूर्तिफलक अलंकरणों की भरमार से रहित अपनी सादगी और सात्त्विकता की दृष्टि से परम्परागत क्लासिक कला के आदर्शों को अपने में समन्वित किये हुए है। सिंहविष्णु के पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम (600-630 ई०) ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव के भव्य मन्दिरो की स्थापना की। उसके द्वारा स्थापित मन्दिरों में त्रिचनापल्ली, महेन्द्रवाडि और डलवानूर के मन्दिरों का नाम उल्लेखनीय है, जो कि स्थापत्य तथा मूर्तिकला के संगम हैं। ये मन्दिर उसके चित्रकला-प्रेम के भी साक्षी हैं। उसके पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम (630-668 ई०) ने महाबलीपुर का गौरव बढ़ाया। उसने वहाँ एक ही प्रस्तर पर निर्मित मन्दिरो तथा रथों का निर्माण कराके अपनी कलाप्रियता का परिचय दिया।

गुप्तोत्तर मध्ययुगीन भारत में जो कला-निर्माण हुआ और जिस पर गुप्त शैली का प्रभाव रहा, ऐसे कला-केन्द्रों में मामल्लपुरम् का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ की गंगावतरण मूर्ति अपने स्वरूप और अपनी शैलीगत तकनीकी में एलोरा, एलीफैण्टा तथा बादामी के मूर्तिशिल्प से सर्वथा स्वतन्त्र है। इस मूर्ति के गठन तथा उसकी गत्यात्मक लय ने उसमें ओजस्विता तथा आकर्षण को पर्याप्त रूप में निखारा है, जो कि अमरावती और साँची की पुनरावृत्ति को प्रतिभासित करती है। परमेश्वरवर्मन् प्रथम (670-695 ई०) ने भी महाबलीपुरम् की कुछ कला-कृतियों का निर्माण कराया। उसके द्वारा काँची के निकट कूरम् नामक स्थान में निर्मित शिव मन्दिर का नाम उल्लेखनीय है।

उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय (695-722 ई०) के शान्तिपूर्ण एवं समृद्ध शासन में कला तथा साहित्य की पर्याप्त प्रगति हुई। काँची का कैलाशमन्दिर और मामल्लपुरम् का मन्दिर उसी ने निर्मित कराये, जो अपनी विशालता तथा सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं। भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धो की स्थापना के लिए उसने एक राजदूत-मण्डल को चीन भेजा था। तिरुपाडि के शिवमन्दिर को परमेश्वरवर्मन् द्वितीय (722-730 ई०) ने बनवाया था। उसका पुत्र नन्दिवर्मन् द्वितीय (730-800 ई०) बड़ा विद्वान्, कलाप्रिय और धर्मप्रवृत्ति का शासक था। उसने दक्षिण में अनेक पुराने मन्दिरो का जीर्णोद्धार किया और मुक्तेश्वर, वैकुण्ठ पेरुमाल तथा अन्य अनेक मन्दिरो का नये सिरे से निर्माण कराया। वह परम वैष्णव था। प्रसिद्ध वैष्णव सन्त तिरुमगै अल्वार उसी के समय हुआ। नन्दिवर्मन् तृतीय (847-872 ई०) ने स्याम तक सांस्कृतिक प्रचार किया। उसने वहाँ एक विष्णु मन्दिर की भी स्थापना की। अपनी नौ-शक्ति को उसने इतना बढाया कि उसके द्वारा द्वीपान्तरो से भारत के व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थायी परम्परा प्रवर्तित हुई।

सित्तनवासल

पल्लवो की महानतम एव अमर कलात्मक देन सित्तनवासल की गुफाएँ हैं, जो कि तन्जोर के पुदुकोट्टा नामक स्थान पर बनी हुई हैं। यहाँ की गुफाओं तथा गुफाचित्रो के निर्माण में महेन्द्रवर्मन् तथा उसके पुत्र नरसिंहवर्मन् का योगदान रहा। यहाँ के गुफाचित्र अधिकतर ब्राह्मणधर्म के देवी-देवताओ और कुछ जैन तीर्थंकरो के हैं। उन पर अजन्ता का प्रभाव है। वहाँ फूल, फल, पेड़, पौधे, तालाब और पर्वत आदि के प्राकृतिक दृश्य बड़ी भव्यता से उतारे गये हैं।

वहाँ के नृत्य-गान-रत, आभूषण-अलंकृता नृत्यांगनाओ के चित्र विशेष रूप से दर्शनीय हैं।

चोल राजवंश

दक्षिण भारत के मध्ययुगीन राजवंशो में चोल राजवंश का ऐतिहासिक महत्त्व है। यह वंश द्रविड़ संस्कृति का वाहक एवं उन्नायक था। 11वीं शती के प्रारम्भ मे, जब कि उत्तर भारत पर सुबुक्तिगीन गोरी तथा उसके बाद महमूद गजनवी के आक्रमण हो रहे थे और आन्तरिक कलहों के कारण वहाँ का जन-जीवन अशान्त एवं त्रस्त था, दक्षिण मे चोलों का शासन था।

चोलों ने स्वयं को सूर्यवंशी कहा है। उनके मध्यकालीन उत्तराधिकारी अपने को कलिकाल से परम्परागत काश्यपगोत्रीय मानते हैं। उनका इतिहास बहुत प्राचीन है; किन्तु वह क्रमबद्ध रूप मे उपलब्ध नही है। लगभग 9वी शती ई० के मध्य मे विजयालय (850-870 ई०) ने इस राजवंश का पुनरुत्थान किया। उसके बाद उसकी वंश-परम्परा के लगभग बीस शासकों ने चार सौ वर्षों तक दक्षिण मे शासन किया। चोल विजयालय के बाद आदित्य प्रथम (871-907 ई०), परान्तक प्रथम (907-955 ई०) के बाद क्रमशः गण्डादित्य, अरिंजय तथा सुन्दर चोल नामक तीन शासको ने लगभग तीस वर्षों तक शासन किया। तत्पश्चात् राजराज प्रथम (985-1014 ई०) और राजेन्द्र प्रथम (1014-1044 ई०) चोलवंश के उत्तराधिकारी बने। राजेन्द्र प्रथम के शासनकाल मे द्राविड़ संस्कृति अपनी उन्नतावस्था में थी। पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के समुद्रतटों पर उसका स्वामित्व था। उसने चेर, पाण्ड्य तथा सिंहल पर आक्रमणकर उन्हें भी अपने साम्राज्य मे मिला लिया था। सुदूर मलय द्वीप, जावा, सुमात्रा तक उसने तमिल संस्कृति का विस्तार किया। सुमात्रा के शक्तिशाली शैलेन्द्रवंश के अनेक समुद्री उपनिवेशो पर उसने अधिकार कर लिया था। पूर्व मे बंगाल तक वह अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था।

राजेन्द्र प्रथम के बाद क्रमशः राजाधिराज प्रथम (1044-1054 ई०), राजेन्द्र द्वितीय (1055-1066 ई०), वीर राजेन्द्र (1066-1070 ई०) चोलवंश के शासक हुए। वीर राजेन्द्र के कुछ मास शासन करने के उपरान्त चालुक्य कुलोत्तुंग प्रथम (1070-1117 ई०) अधिकारी बना। चोलवंश से उसका मातृ-सम्बन्ध था। उसके बाद चोलों और चालुक्यो में सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष होता रहा और एक-दूसरे के हाथ में सत्ता हस्तान्तरित होती रही। कुलोत्तुंग के

बाद चोल शासकों की परम्परा विक्रम (1118-1133 ई०), कुलोत्तुंग द्वितीय (1151-1173 ई०), राजाधिराज द्वितीय (1174-1179 ई०), कुलोत्तुंग तृतीय (1180-1218 ई०) और राजराज तृतीय (1219-1246 ई०) तक बनी रही। इस वंश का अन्तिम शासक राजेन्द्र तृतीय (1247-1279 ई०) में हुआ। लगभग 1310 ई० तक इस वंश के शासकों की परम्परा पाण्ड्यों के सामन्तों के रूप में बनी रही।

चोलयुगीन संस्कृति

चोल शासक धार्मिक सहिष्णु, उदार, विद्यानुरागी तथा कलाप्रेमी थे। वे स्वयं शिवोपासक थे; किन्तु जैन तथा बौद्ध दोनों धर्मों के उन्नयन में उनका योगदान रहा। राजराज प्रथम के शासनकाल (985-1014 ई०) में तमिल के शैवधर्म ग्रन्थों को सकलित किया गया। इसी प्रकार नाथमुनि ने वैष्णव-धर्म को प्रतिष्ठित किया गया। उनके पुत्र प्रसिद्ध वैष्णवशिरोमणि यामुनाचार्य (आलवदार) हुए। चोलयुगीन धार्मिक स्थिति के उन्नायक यामुनाचार्य के अनुज रामानुजाचार्य का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। वे विशिष्टाद्वैतवादी वैष्णव दार्शनिक थे; किन्तु उन्होंने मन्दिरों की परम्परागत पूजा-विधि में नया सुधारकर यह व्यवस्था की कि वर्ष में एक दिन मन्दिरों को अन्त्यजों के प्रवेश के लिए खोल दिया जाय। रामानुज के इस धार्मिक औदार्य का प्रभाव दक्षिण से उत्तर तक प्रसारित हुआ और उसकी परम्परा निरन्तर प्रशस्त होती रही।

चोलों के शासनकाल में वैष्णव, शैव, जैन और बौद्ध धर्मों के अतिरिक्त पाशुपत, कापालिक, कालमुख या कौलिक जैसे वाममार्गी तान्त्रिक सम्प्रदायों का भी अस्तित्व बना रहा। इन सम्प्रदायों ने विकृत एवं निकृष्ट उपासना पद्धतियों का प्रचलन किया।

चोल शासकों ने मन्दिरों के निर्माण में विशेष अभिरुचि दर्शित की। चोल शासकों को भवन-निर्माण और मूर्ति-मन्दिर-निर्माण का अद्भुत शौक था। उनके द्वारा निर्मित मन्दिरों में सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रभावोत्पादक राजराज प्रथम द्वारा तञ्जोर में निर्मित राजराजेश्वर का मन्दिर है। अपनी ऊँचाई एवं विशालता की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। उसकी भित्तियों पर अंकित चित्र बड़े महत्त्व के हैं। इस रूप में यह मन्दिर स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला के इन त्रिविध रूपों का सहज ही संगम बन गया है। इसी प्रकार राजेन्द्र प्रथम ने गंगैकोण्डचोलपुरम् (त्रिचनापल्ली) में गंगैकोण्डचोलेश्वर मन्दिर का निर्माण

कराया। यह मन्दिर भी अपनी विशालता एवं मूर्ति-निर्माण की दृष्टि से उल्लेखनीय है। मन्दिरों के अतिरिक्त मूर्तियों के निर्माण में चोल युग का विशेष महत्त्व है। अजन्ता, बादामी, एलोरा और एलीफैण्टा के निर्माण तथा पुनरुद्धार और वहाँ के स्थापत्य, मूर्तियों तथा चित्रों के उत्थान में चोलों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इस युग में पाषाण और धातु दोनों प्रकार की बहुमूल्य कलात्मक मूर्तियों का निर्माण हुआ। इस युग की कांस्य प्रतिमाएँ अपनी सुन्दरता के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमें नटराज की मूर्तियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं।

नटराज की नृत्त-मूर्तियों के निर्माण मे चोल राजाओं का शासनकाल स्वर्णयुग रहा है। इस युग में निर्मित चिदम्बरम् का नाम उल्लेखनीय है। इस विशाल एवं भव्य मन्दिर में नटराज के 108 नृत्यों का अंकन हुआ है। चोलकालीन नटराज की मूर्तियो मे मद्रास सग्रहालय का संग्रह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस संग्रहालय मे सुरक्षित अधिकतर मूर्तियाँ 9वीं शती की हैं। इसके अतिरिक्त तिरुवरंगल से उपलब्ध और राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली तथा प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम, बम्बई के संग्रहो मे सुरक्षित चोलकालीन नटराज की मूर्तियाँ का नाम उल्लेखनीय है। इन संग्रहों की अधिकतर मूर्तियाँ 10वीं शती की हैं। भारत के अतिरिक्त चोलकालीन नटराज की मूर्तियाँ श्रीलंका, एमस्टरडम, बैंकाक, पेरिस, बोस्टन, क्रेकलेन और साउथ कैंसिगटन आदि विदेशी कला-संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। ताल-लय-बद्ध नटराज की ये मूर्तियाँ सत्-चित्-आनन्द की प्रतीक और अपने निर्माताओं के कौशल की अमर स्मृतियाँ हैं।

चोलशासकों के समय कांस्य मूर्तियों का व्यापक रूप से निर्माण हुआ। इस प्रकार की लगभग 294 कांस्य मूर्तियों का एक बृहत् संग्रह नागपट्टनम् से प्राप्त हुआ है, जो कि मद्रास सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। यह नागपट्टनम् दक्षिण भारत के पूर्वीय सागर तट पर एक बन्दरगाह था, जिसका उल्लेख सोमेश्वर भूपति के 'मानसोल्लास' आदि ग्रन्थो मे हुआ है। इस संग्रह में नटराज तथा अन्य ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त बुद्ध, मैत्रेय, अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री और तारा आदि बौद्धधर्म से सम्बद्ध मूर्तियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस युग में निर्मित नटराज के अतिरिक्त शिव के विभिन्न रूपों, ब्रह्मा, विष्णु, कृष्ण, राम, सीता, सप्तमातृकाएँ, लक्ष्मी और भू-देवी की अनेक भव्य मूर्तियों का निर्माण हुआ। यह परम्परा लगभग 17वीं शती तक

बनी रही। चोलयुगीन ये मन्दिर धर्म प्रतिष्ठान, कलाकेन्द्र और ज्ञानकेन्द्र थे। उनमें अनेक उच्च विषयों की शिक्षा दी जाती थी। उन्होंने संस्कृत अध्यापन के लिए ब्रह्मपुरी तथा घटिका नाम से विद्यालयों की स्थापना की थी। चोल स्वय संस्कृतज्ञ थे। त्योहारों और उत्सवों के समय वहाँ नाट्य-गान आदि मनोरंजन के भी आयोजन हुआ करते थे। अनेक शिल्पियों एवं कलाकारों के वे आजीविका के केन्द्र थे। उनका शिल्प विशेष रूप से प्रशंसनीय है। उनके विमानों, स्तम्भों, प्रांगणो और गोपुरो की रचना-विधि सर्वथा अपूर्व एवं अनुपम हैं।

चोल युग तमिल-साहित्य के निर्माण का स्वर्णयुग माना जाता है। संस्कृत की भी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इस युग मे निर्मित हुई। दर्शन, पुराण और प्रबन्ध आदि अनेक विषयो की बहुसख्यक कृतियो का निर्माण होकर चोलों के शासन की कीर्ति युग-युगान्तर के लिए अमर बनी। इस युग की रचनाओ मे शेक्किलार का 'तिरु तोण्डर पुराणम्' या 'पेरियपुराणम्' का विशेष महत्त्व है। वैष्णव भक्ति-साहित्य की प्रायः सभी उत्कृष्ट कृतियाँ सस्कृत मे रची गयी। इस प्रकार से वैष्णवाचार्यों के नाथमुनि, यामुनाचार्य और रामानुज की रचनाओ का नाम उल्लेखनीय है। संस्कृत के टीका-ग्रन्थो का भी निर्माण हुआ। जैन-बौद्धो के साहित्य की भी उन्नति हुई। जैन कवि तिरुत्तक्कदेवर 10वी श०) का तमिल महाकाव्य 'जीवकचिन्तामणि' इसी युग की रचना है। इस समय के प्रमुख तमिल ग्रन्थकारो मे तोलामोलि, कल्लाडनार, राजकवि जयन्गोण्डा, राजकवि ओट्टकूत्तन का नाम उल्लेखनीय है। तमिल की प्रसिद्ध 'रामायणम्' या 'रामावतारम्' की रचना महाकवि कम्बन ने कुलोत्तुग तृतीय के शासनकाल मे की थी। जैन विद्वान् अमितसागर ने तमिल छन्दशास्त्र पर 'याप्परुंगलम्' और बौद्ध बुद्धमित्र ने तमिल व्याकरण पर 'वीरशोलियम्' की रचना चोलों के राज्यकाल मे ही की थी।

चोलो के शासनकाल की अनुपम देन वेकट माधव का 'ऋग्वेद-भाष्य' है, जिसका निर्माण परान्तक प्रथम के शासन काल मे हुआ। इसी प्रकार केशवस्वामिन् का 'नानार्थार्णव संक्षेप' नामक कोश-ग्रन्थ की रचना राजराज द्वितीय के आश्रय में हुई।

लगभग 9वी से 12वी शती के अन्त तक श्रीलंका, नीकोबार द्वीप समूह, मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, कम्बुज, पगान, बोरोबुदूर और अंगकोर द्वीपों तक तमिल-साहित्य तथा भारतीय कला का प्रचार-प्रसार हुआ। चोलो के

इस गौरवशाली रिक्थ ने सुदूर द्वीपान्तरों की संस्कृति, कला एवं धर्म को आगे की अनेक शतियो तक प्रभावित किया।

चालुक्यवंश

इतिहासकारो ने चालुक्यों के तीन कुलो का उल्लेख किया है—1. गुजरात (अनहिलवाड), 2. वातापि और 3. कल्याण। चालुक्यों का एक कुल पूर्वी चालुक्य या वेंगी चालुक्य के नाम से भी प्रसिद्ध था, जो कि वातापि के चालुक्यों की ही एक शाखा थी। चालुक्यो का मूल सम्बन्ध सोलंकीवंश से बताया जाता है। इस वंश का मूल संस्थापक मूलराज सोलंकी था। इसी कारण आगे चलकर चालुक्यों और सोलंकियो का एक साथ प्रवर्तन हुआ।

वातापि के चालुक्य

चालुक्यवश का मूल सम्बन्ध अयोध्या से बताया जाता है। अयोध्या से चलकर राजकुमार विजयादित्य ने दक्षिण में अपना राज्य स्थापित किया। उसका पुत्र विष्णुवर्धन् हुआ। उसने कदम्बो तथा गगो को पराजितक बीजापुर को अपनी राजधानी बनाया। उसका उत्तराधिकारी कीर्तिवर्धन् प्रथम हुआ, जिसका समय छठी शती ई० के उत्तरार्द्ध में था। उसके तीन पुत्र हुए—पुलकेशिन् द्वितीय, कुब्ज विष्णुवर्धन् और जयसिह। कीर्तिवर्धन् का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई मगलेश 602 ई० मे गद्दी पर बैठा। उसने अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाना चाहा, किन्तु उसके भतीजे पुलकेशिन् द्वितीय ने उसको मार डाला और स्वयं 609 ई० मे सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा यशस्वी एवं पराक्रमी था। उसने मैसूर के कदम्बो, कोकण के मौर्यों, कन्नौज के हर्षवर्धन और कांची के पल्लवो पर आक्रमण किया और लाट, मालवा, गुर्जर तथा कलिंग तक अपने राज्य का विस्तार किया। सम्भवत: वह पल्लव नरसिंहवर्मन् के साथ युद्ध करता हुआ 641 ई० मे मारा गया। उसका छोटा भाई विष्णुवर्धन् 615-16 ई० में आन्ध्र राज्य का स्वामी बना। उसे बाद में उसने बादामी राज्य मे मिला दिया। उसने वेंगी को अपनी राजधानी बनाया। उसकी शासन-परम्परा पूर्वी चालुक्यो के रूप में प्रसिद्ध हुई।

पुलकेशिन् द्वितीय के बाद लगभग तेरह वर्षों तक दक्षिण पर पल्लवो का अधिकार बना रहा। उसके बाद उसके पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने पल्लवो से पुनः अपना राज्य हस्तगत किया। उसके बाद उसके प्रपौत्र विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची को अपनी राजधानी बनाया। तदनन्तर उसका पुत्र कीर्तिवर्धन् द्वितीय

उत्तराधिकारी बना, जो कि 8वीं शती के लगभग राष्ट्रकूटों द्वारा पराजित कर दिया गया। उसके पतन के बाद चालुक्यों का वंश कल्याण से प्रकाश में आया।

कल्याण के चालुक्य

दाक्षिणात्य कल्याण में चालुक्यों के सर्व प्रथम शासक का नाम तैलप था, जो कि तैलप कीर्तिवर्मन् द्वितीय का वंशज था और जिससे वातापि के चालुक्यों का रक्त सम्बन्ध था। कल्याण के चालुक्यवंश के उत्तराधिकारी क्रमशः सत्याश्रय (997-1008 ई०), विक्रमादित्य पंचम (सम्भवतः 1008-1016 ई०), जयसिंह द्वितीय (1016-1042 ई०), सोमेश्वर प्रथम (आहवमल्ल, 1042-1068 ई०), सोमेश्वर द्वितीय (सम्भवत: 1068-1076 ई०) और विक्रमादित्य षष्ठ (1076-1126 ई०) में हुए (अर्ली हिस्ट्री ऑफ डेकन, प्रकरण 12, पृ० 136-59, एस० एस० कतरे—'दि चालुक्य ऑफ कल्याण' इण्डियन कल्चर, खण्ड 4, सं० 1, पृ० 43-53; फ्लीट—डायनेस्टीज ऑफ दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स)।

विक्रमादित्य षष्ठ के बाद कल्याण मे चालुक्यो का अस्तित्व सोमेश्वर तृतीय (1126-1138 ई०) के बाद सोमेश्वर चतुर्थ (1182 ई०) तक बना रहा; किन्तु विक्रमादित्य षष्ठ ही इस वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा हुआ। वह युद्धप्रिय होने के साथ-साथ विद्याप्रिय भी था। उसने सुदूर प्रदेशो से बड़े-बड़े विद्वानों को आमन्त्रितकर अपने दरबार मे रखा हुआ था, जिन पर उसे अतीव गौरव था। 'विक्रमांगदेवचरित' के रचयिता काश्मीरदेशीय कवि बिल्हण, 'याज्ञवल्क्यस्मृति' की प्रसिद्ध टीका 'मिताक्षरा' के निर्माता विज्ञानेश्वर उसकी राजसभा के प्रसिद्ध विद्वान् थे।

सोमेश्वर का मानसोल्लास

कल्याणराज विक्रमादित्य षष्ठ के द्वितीय पुत्र सोमेश्वर तृतीय ने 1131 ई० मे 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' 'नामक एक विश्वकोशात्मक ग्रन्थ लिखा, जो कि 'मानसोल्लास' के नाम से प्रसिद्ध है। इस विशाल ग्रन्थ में राजाओ के रहन-सहन की विधियाँ तथा उनके मनोरजन की वस्तुओ का बडा ही रस-भाव-पेशल वर्णन किया किया गया है। राजदरबारो में आयोजित होने वाले कला-विनोदो का उसमें व्यापक निरूपण हुआ है। ग्रन्थ की सर्वांगीणता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि ज्ञान और कला का कोई भी ऐसा विभाग बाकी नहीं बचा है, जिसका उल्लेख उसमें न किया गया हो। उसमें राजतन्त्र

से लेकर ज्योतिष, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्य, संगीत, आयुर्वेद, वास्तुकला और चित्रकला आदि अनेक विषयों का समावेश किया गया है।

अनहिलवाड (गुजरात) के चालुक्य

चालुक्य राजपूतों की एक शाखा का सम्बन्ध गुजरात से था। उनका अस्तित्व वहाँ आठवी-नवी शती ई० में प्रकाश मे आ गया था। गुजरात के अनुवृत्त से विदित होता है कि चालुक्य भुवनादित्य के ज्येष्ठ पुत्र का नाम राज या राजी था। उसका विवाह अनहिलवाड पाटन के चावडा या चापोटक सामन्तदेव की बहिन लीलादेवी से हुआ था। उसी से मूलराज उत्पन्न हुआ। अपने मातृवंशजों से गद्दी छीनकर मूलराज 941 ई० मे अनहिलवाड पाटन का स्वामी बना। उसने अपनी शक्ति को बढाया और चावडो सहित चौहानो तथा परमारो को पराजितकर वह गुजरात के विस्तृत भू-भाग का स्वामी बन बैठा (एपिग्रेफिया इण्डिका, 6, पृ० 191 आदि)। सोलंकी मूलराज के बाद उसके भानजे भीम प्रथम ने 1021-1063 ई० तक राज्य किया। तदनन्तर सिद्धराज जयसिंह उसका उत्तराधिकारी बना, जो कि सोलकीवश का था और जिसने 1063-1093 ई० तक गुजरात मे शासन किया। जयसिंह बडा विद्वान् तथा विद्वत्प्रिय शासक था। जैनाचार्य हेमचन्द्र उसके दरबारी विद्वानों मे प्रमुख विद्वान् था।

सिद्धराज जयसिंह का कोई पुत्र न होने के कारण उसका उत्तराधिकारी कुमारपाल नियुक्त हुआ, जो कि उसका कोई सम्बन्धी था (जयसिंह-कुमारपाल चरित की प्रस्तावना)। उसने प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर का पुर्नानर्माण कराया था। वह शिवभक्त था; किन्तु जैनाचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव से वह जैनधर्मानुयायी बन गया था। जैनधर्म वरण कर लेने के बाद वह अहिंसा का पुजारी बन गया और उसने अपने राज्य में पशुवध पर सर्वथा प्रतिबन्ध लगा दिया था (कुमारपाल प्रतिबोध, यशःपाल का मोहपराजय, 14)। उसके प्रश्रय में रहकर आचार्य हेमचन्द्र ने अपने महान् ग्रन्थो का प्रणयन किया। जयसिंह ने अपने 'कुमारपालचरित' महाकाव्य में उसकी जीवनी लिखी, जिसके अनेक स्थल यद्यपि अतिरंजित एवं अनैतिहासिक हैं; तथापि जिसके द्वारा तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। कुमारपाल सम्भवतः 1171 ई० में दिवंगत हुआ। उसके बाद अजयपाल उसका उत्तराधिकारी बना। उसके बाद गुजरात का यह महान् चालुक्यवंश उत्तरोत्तर क्षीण होता गया।

हेमचन्द्र

जैनाचार्य हेमचन्द्र अनेक विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। चालुक्य नरेश जयसिंह और कुमारपाल, दोनो के शासनकाल में उन्होंने ग्रन्थो की रचना की। अपना प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ 'सिद्धहेम' को उन्होंने जयसिंह के अनुरोध कर लिखा था। 'द्वयाश्रयकाव्य' और 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' उनके दो महाकाव्य ग्रन्थ है। उनका यह अन्तिम महाकाव्य अपने ढंग का अद्भुत ग्रन्थ है। उसका कथाशिल्प 'महाभारत' के अनुकरण पर है। उसमें काव्यात्मकता पर विशेष ध्यान दिया गया है। उसकी संवादशैली, उसके लोकतत्त्वो का समावेश और उसकी अवान्तर कथाओ की बहुलता उसको पौराणिक महाकाव्यो की कोटि मे ले जाते हैं। रामायण-महाभारत की शैली पर लिखा गया यह महाकाव्य, जैन महाकाव्यो की परम्परा मे सर्वथा अपूर्व एव विलक्षण है।

चालुक्ययुगीन संस्कृति

चालुक्य शासको के समय दक्षिण भारत तथा गुजरात के सुदूर भागो तक सांस्कृतिक जागृति निरन्तर बनी रही। उनके समय ब्राह्मणधर्म उन्नति पर था। वे स्वयं शिव तथा विष्णु के उपासक थे, जिसके परिचायक पट्टवकल तथा बादामी के भव्य मन्दिर हैं। वे श्रुतियों-स्मृतियो के आचारो के परिपालक, यागप्रेमी और विद्वान्-ब्राह्मणो के प्रति निष्ठावान् थे। ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध धर्मों का भी उस समय पूर्ण प्रभाव था। चालुक्यो ने जैन मन्दिरो के निर्माण मे भी योगदान किया।

चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग के विवरणो से ज्ञात होता है कि चालुक्य शासक विद्या और विद्वानो के प्रति अतिशय निष्ठावान् थे। वे स्वयं शास्त्रज्ञ और विद्वानो के आश्रयदाता थे। उनके समय वातापि सस्कृत शिक्षा का प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्र था। वहाँ सस्कृत के अनेक विषयो का अध्ययन-अध्यापन होता था। वेद, व्याकरण और दर्शन की उच्च शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। ऐहोल प्रशस्ति के रचयिता जैन कवि रविकीर्ति और जैन वैयाकरण जैनेन्द्र इसी युग में हुए थे। जैन महाकवि सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलकचम्पू' और 'नीतिवाक्यामृत' की रचना वेमुलवाड के चालुक्यो के सरक्षण मे की थी। इसी समय वर्धदेव ने 'तत्त्वार्थ-शास्त्र' पर 'चूड़ामणि' नामक टीका की रचना की थी। राजशेखर ने वैदर्भी शैली की प्रसिद्ध कवियित्री जिस विज्जिका या विजयांका का उल्लेख किया है, सम्भवतः वह वातापि के चन्द्रादित्य की रानी विजय भट्टारिका ही थी। प्राकृत, संस्कृत और कर्णाट भाषाओं के ग्रन्थकार श्यामकुन्दाचार्य चालुक्यो के

समय हुए थे। कन्नड़-साहित्य के क्षेत्र में चालुक्यों के शासन का विशेष योगदान है। कन्नड़ भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि और 'आदिपुराण' तथा 'विक्रमार्जुनविजय' के रचयिता पम्प, बेमुलवाड के चालुक्य अरिकेसरि के दरबार मे थे।

कल्याणी के चालुक्यों के आश्रय में संस्कृत और कन्नड दोनों भाषाओं के साहित्य का पर्याप्त निर्माण तथा विकास हुआ। इस युग के साहित्य-निर्माण में जैनों का विशेष योगदान रहा। इस प्रकार के ग्रन्थकारो में वादिराज, बिल्हण, शान्तिनाथ, नागवर्माचार्य, कवि चक्रवर्ती रन्न, चामुण्डाराय, नागवर्मा प्रथम, दुर्गसिंह, गद्यपद्यविद्याधर श्रीधराचार्य, नागचन्द्र, जयसेन और कर्णपार्य आदि अनेक विद्वानो के नाम उल्लेखनीय हैं।

रगले नाम से विशेष प्रकार के गीतो की रचना का श्रेय कल्याण के चालुक्यो के आश्रित कवियो को है। तब तक चम्पू काव्यो की रचना का प्रचलन शिथिल पड चुका था। कन्नड गद्य के विकास में वीर शैवो का विशेष योगदान रहा। इस युग के लगभग दो सौ लेखको के नाम उपलब्ध होते हैं, जिनमे महिला कवियित्रियों का भी उल्लेखनीय स्थान है। बसव और अन्य वीर शैवो ने कन्नडी वचन-साहित्य का तथा लिंगायत विद्वानो ने साहित्य की अन्य विधाओ का निर्माण कर कन्नडी-साहित्य का विकास किया। पूर्वी चालुक्यो ने तेलुगु-साहित्य के निर्माण मे भी योगदान किया।

विज्ञानेश्वर ने 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर 'मिताक्षरा' टीका का निर्माण विक्रमादित्य के समय किया। विज्ञानेश्वर के शिष्य नारायण पण्डित ने 'व्यवहारशिरोमणि' की रचना भी इसी समय की। सोमेश्वर तृतीय ने 'मानसोल्लास' की रचना की। 'पार्वतीरुक्मणीय' का रचयिता विद्यामाधव उसी के दरबार मे रहता था। 'संगीतचूडामणि' जगदेकमल्ल द्वितीय की रचना है। इसी प्रकार 'संगीतसुधाकर' का रचयिता चालुक्य राजकुमार बताया जाता है। 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के रचयिता भारवि का सम्बन्ध चालुक्य विष्णुवर्धन के साथ जोडा जाता है।

चालुक्यों के समय स्थापत्य तथा मूर्तिकला के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। चालुक्य शासक स्वयं कलाविद् और सगीत, नाट्य, चित्र, मूर्ति आदि कलाओं तथा कलाकारों के प्रति गहरी अभिरुचि रखते थे। सगीत में इस राजवश के कुछ व्यक्तियों की दक्षता का उल्लेख हुआ है। सेनापति रविदेव के सम्बन्ध मे कहा गया है कि जब वह अपना संगीत प्रस्तुत करता था तो अमृत झरने लगता था। पट्टदकल के एक अभिलेख में शिल्पकारों तथा मूर्तिकारों के एक वश की तीन पीढ़ियों का उल्लेख हुआ है। एक अन्य अभिलेख में आचार्य भरत की परम्परा

पर आधारित नृत्य के एक नये ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है, जिसमें सर्वथा नयी पद्धति का प्रचलन किया गया था। कुछ अभिलेखों में शंकरार्य, नागोज और महाकाल आदि कुशल शिल्पियों का उल्लेख हुआ है।

ऐहोल, मेगुति और बादामी के मन्दिरों से दक्षिण के मन्दिरों का इतिहास आरम्भ होता है। पट्टदकल के मन्दिरो में उनका विकास हुआ है। लोकेश्वर मन्दिर के निर्माता श्रीगुण्डन् अनिवारिताचारि ने अनेक नगरों के निर्माण की योजना बनायी थी। उसने अनेक वास्तु, प्रासाद, यान, आसन, शयन, मणिमुकुट और रत्नचूड़ामणि बनाये थे। वह त्रिभुवनाचारि और दक्षिण देश के सूत्रधार के रूप में प्रसिद्ध था।

चालुक्य मन्दिरो की बाहरी दीवारों और दरवाजों पर सूक्ष्म अलंकारिता देखने को मिलती है। मन्दिरो के मुख्य द्वार पार्श्व भाग मे है। चलुक्यों के समय बने मन्दिरो का विकसित रूप होयसल के मन्दिरो मे देखने को मिलता है। लक्कुन्दि का काशिविश्वेश्वर मन्दिर, हत्तगि का महादेव मन्दिर और कुरुवत्ति का मल्लिकार्जुन मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

ये मन्दिर सामाजिक, शैक्षिक और धार्मिक जीवन के केन्द्र थे। उनमे नृत्य गीत, और नाटकों का आयोजन होता था। उनके प्रांगणों मे सामाजिक उत्सव तथा धार्मिक मेले आयोजित होते आये हैं।

एलीफैण्टा

बम्बई बन्दरगाह से छह मील पूर्व की ओर लगभग पाँच मील की परिधि में एलीफैण्टा की कला-थाती अवस्थित है। इन गुफाओ को लावा पत्थर की चट्टानो को काट-छाँटकर उभारा गया है। चट्टानों से ही स्तम्भ, छत तथा भित्तियाँ बनायी गयी हैं और उन पर विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्णित की गयी हैं। इस रूप मे ये गुफाएँ भारतीय कला की उदात्तता और भारतीय शिल्पियो के असाधारण साहस तथा कौशल की सूचक हैं। एलीफैण्टा की इन गुफाओ के सरक्षको एव निर्माताओं के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नही होता है, तथापि इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता है कि दक्षिण के पल्लव (300-1000 ई०) और चालुक्य (600-1200 ई०) राजवंशों का उनके निर्माण में योगदान रहा है। इन्हीं कलाप्रेमी राजवंशो के संरक्षण में सितनवासल, एलोरा और बादामी की गुफाओं का निर्माण हुआ। एलीफैण्टा की कला और इन गुफाओ की कला में यद्यपि पर्याप्त भिन्नता है, तथापि उनके निर्माण में अधिक समयान्तर नही है। 7वीं शती के आस-पास उनके निर्माण

का आरम्भ हो गया था और यद्यपि 10वीं शती तक उनका निर्माण तथा पुनरुद्धार होता गया, किन्तु 'त्रिमूर्ति' तथा 'अर्धनारीश्वर' आदि विशिष्ट कलाकृतियों का निर्माण 8वीं शती में हुआ। इसी समय अधिकतर गुफाएं और वहाँ के मूर्ति-चित्रों का निर्माण हुआ। वे गुप्तोत्तर भारत की कला-समृद्धि के उच्चतम उदाहरण हैं।

इन गुफाओं के द्वारा भारत की तत्कालीन धार्मिक एवं वैचारिक स्थिति का भी पता चलता है। वे परम्परागत ब्राह्मणधर्म की उन्नतावस्था की सूचना देती हैं और भारत की अध्यात्म विचार-दृष्टि को अभिव्यंजित करती हैं। उनमें द्वैताद्वैत का अद्भुत समन्वय हुआ है।

एलीफैण्टा की ये गुफाएँ एक ऐसे कला-संगम के रूप में अपनी विशिष्टता का द्योतन करती हैं, जिनमे कला की सुदूर अतीत और भावी परम्पराओ के बीज निहित है। गुप्तो के शासन मे कला के माध्यम से जो धार्मिक तथा वैचारिक अभ्युदय हुआ और सारे देश को सांस्कृतिक एकता में आबद्ध होने का जो सराहनीय यत्न हुआ, एलीफैण्टा की गुफाएं उसी स्वर्णिम इतिहास की उद्भावना है। गुप्तो ने सांस्कृतिक समन्वय का जो अभियान चलाया था, एलीफैण्टा के कलाकारों ने उसको सफलता से रूपायित किया। उत्तर और दक्षिण के सांस्कृतिक सेतु बनकर उन्होंने राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ किया। उनके सम्बन्ध मे विद्वानो का कहना है कि 'उनमे दक्षिण की प्रज्ञा और उत्तर भारत की आत्मा की विदग्धता तथा परिस्मृति का ऐक्य निहित है। वहाँ की उत्कृष्ट प्रतिमाएँ विशेष रूप से आर्यावर्त और दक्षिणापथ की आध्यात्मिक तथा कलात्मक परम्पराओं के समन्वय की प्रतीक हैं।'

एलिफैण्टा की मूर्तियो मे महेश्वर की मूर्तियो की अधिकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आश्रयदाता, सरक्षक एवं निर्माता शिवोपासक थे। महेश्वर की इतनी बडी और सुन्दर मूर्तियाँ भारत मे कही भी नही बनी। उनमे से एक मूर्ति की लम्बाई सत्रह-अठारह फुट और गोलाई तेईस-चौबीस फुट है। इसको 'त्रिमूर्ति' नाम से कहा जाता है। भगवान् शंकर की नौ बड़ी प्रतिमाओ में यह 'त्रिमूर्ति' अनुपम है। वह अपनी चरम शिल्प-संरचना की दृष्टि से ही नहीं, भाव-विचार की दृष्टि से भी सराहनीय है। उसमे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध रूपों की समदर्शितापूर्ण अभिव्यंजना हुई है। मध्य की मुखाकृति परम शिव की है, जो शान्तभाव से मण्डित है और सर्वथा निरपेक्षता तथा अपार आनन्दमयता को द्योतित कर रही है। दांयी मुखाकृति अघोर भैरव की है, जिसमें उग्र भृकुटियाँ तनी हुई हैं

और जिसके द्वारा महा संहार, ध्वंस तथा निर्वाण की भावना प्रतिभासित हो रही है। बायीं मुखाकृति शिव की सतत संगिनी उमा की है, जो समृद्धि तथा सौन्दर्य की प्रतीक है और जिसके द्वारा सृजन, करुणा तथा कल्याण की भाव-धाराएँ निःसृत हो रही हैं। इस प्रकार यह 'त्रिमूर्ति' सृष्टि, स्थिति और प्रलय की तीन महा स्थितियों की प्रतीक है। इस रूप में वह वेदत्रयी का भी रूपान्तर है। उसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्ग की भी अभिव्यंजना हो रही है। अपार ब्रह्माण्ड को अपने में समाहित किये हुए निरपेक्ष, अविचल भाव, समाधिस्थ योगीराज की भव्य मूर्ति की मुद्रा परम मोक्ष की प्रतीक है। उसकी वामांगीण मूर्ति सृष्टि को विमोहित कर देने वाली महामाया का रूपान्तर है, जो अर्थ तथा काम की दुर्जेय आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर रही है। दायें कक्ष की मूर्ति भृकुटि ताने हुए त्रिलोक को भयग्रस्त, आतंकित एवं ध्वस्त कर देने वाली महाकाल की है, जो न्यायान्याय तथा पाप-पुण्य का सन्तुलन अभिव्यजित कर रही है। इस रूप से वह धर्म की सदाशयता का भी द्योतन कर रही है।

इस त्रिमूर्ति मे भारतीय सस्कृति का सनातन स्वरूप और सार्वभौम समन्वय दर्शित हुआ है। भारतीय कला तथा संस्कृति की वाहिका बनकर सुदूर एशिया के भू-खण्ड पर उसका प्रभाव व्याप्त है।

इस त्रिमूर्ति के निकट ही 'अर्धनारीश्वर' की लगभग सोलह फुट ऊँची मूर्ति है। जिस शिला पर यह मूर्ति बनी है, उसके बायी ओर गरुड़ पर आरूढ चतुर्भुज विष्णु और दाहिनी ओर ऐरावत पर बैठे देवराज इन्द्र हैं। इसी प्रकार कमलासन पर अवस्थित ब्रह्मा, दुर्गा, गणेश, पार्वती और अन्यान्य देवी-देवताओं की भव्य मूर्तियां एलोफैण्टा मे सुरक्षित हैं।

इस भव्य एव विशाल कला-केन्द्र को 16वी शती मे पुर्तगालियों ने सैनिक आवास बनाकर उसको बड़ी क्षति पहुँचायी। उनके बाद अंग्रेजो ने भी उसको सैनिक अड्डा बनाये रखा।

बादामी

गुप्तोत्तर भारत मे जो कला-निर्माण हुआ उसमे बादामी की गुफाओं का नाम उल्लेखनीय है। ये गुफाएँ बम्बई के धारवाड जिले मे बनी हैं। वे गुफाएँ सख्या मे कितनी थी, इसका पता नही चलता है। किन्तु उनमें से चार गुफाएँ ही अब तक जीवित रह सकी हैं, जिनके द्वारा तत्कालीन कला के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है।

बादामी की इन गुफाओं का निर्माण दक्षिण के कलाप्रेमी पल्लव राजवंश (300-1000 ई०) के समय आरम्भ हुआ था और उनके पुनर्निर्माण तथा उद्धार में चालुक्यों (600-1200 ई०) का भी योगदान बना रहा। इन अवशिष्ट चार गुफाओं का निर्माणकाल 8वीं से 10वी शती बताया जाता है।

एलोरा की भाँति बादामी में भी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्मों का संगम हुआ है। जो चित्र बच पाये हैं, उनमें तीन ब्राह्मणधर्म के और एक जैनधर्म का है। बौद्धधर्म का कोई चित्र नही बचा है।

शैली, संरचना की दृष्टि से बादामी की कला पर अजन्ता का प्रभाव है, यद्यपि अजन्ता जैसी पटुता एवं निपुणता का बादामी में अभाव देखने को मिलता है। ऐसा सम्भवतः इसलिए है कि बादामी का कोई भी चित्र नही बच पाया है, जो धूमिल न पड़ गया हो तथा खुरच न गया हो।

दक्षिण चित्रशैली

दक्षिण भारत के पल्लव, चोल और चालुक्यो के शासनकाल मे दक्षिणी कलम का चरम विकास हुआ। दक्षिणी चित्रशैली वस्तुतः अपनी पूर्ववर्ती अपभ्रंश तथा अजन्ता और अपनी उत्तरवर्ती राजपूत तथा मुगल शैलियों के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। भारतीय चित्रकला के इतिहास मे 10वी से 14वी शती का समय दक्षिण शैली का स्वर्णयुग है, जिसके संरक्षक विशेष रूप से उक्त तीनो राजवंश रहे हैं।

पल्लवराज महेन्द्रवर्मन् के समुन्दर में सुरक्षित एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन 'मानदण्डकल्प' नामक ग्रन्थ के आधार पर उसने दक्षिण चित्रशैली के निर्माण एवं विकास के लिए व्यापक नियमो तथा पद्धतियों के अनुरूप एक टिप्पणी (वृत्ति) संकलित करायी थी। उसके समय के बने चित्रों का यद्यपि सम्प्रति अभाव है, तथापि इतना निश्चित है कि दक्षिण मे साहित्य और कला का निर्माण एक साथ निरन्तर आगे बढ़ता गया। 13वी, 14वी शती के तिरुपतिपुरम् (जिनकाँची) मे वर्तमान भगवान् वर्धमान मन्दिर के संगीत मण्डप पर अंकित चित्र और अनेगुडी के उच्चयप्प मठ में अंकित भित्तिचित्र दक्षिण की चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस संगीत मण्डप को बुक्कराय द्वितीय के मन्त्री एवं सेनापति इरुगप्पा ने 1387-88 ई० में बनाया था। उच्चयप्प मठ का निर्माण सम्भवतः देवराज ने करायाँ था। इस मन्दिर और मठ के चित्रो को विजयनगर शैली के अन्तर्गत माना जाता है,

क्योंकि इस समय के अधिकतर मठ-मन्दिरों का निर्माण तथा प्रशासन विजयनगर शासन के अन्तर्गत था। इन चित्रों की विशेषताओं के सम्बन्ध में डॉक्टर मोतीचन्द ने लिखा है कि "रंग से पोल दिखाने की क्रिया का अवशेष, रेखाओं में नुकीलापन तथा तरलता, आकृतियो में एक विशेष लोच और गति, मुकुट, वस्त्र और गहने विजयनगर के प्रारम्भिक युग के हैं तथा अजन्ता, एलोरा के वस्त्राभूषणो से भिन्न हैं।"

विजयनगर के राजाओं के ही समकालीन दक्षिण मे बहमनी सुलतानो का भी शासन था, जिनकी सल्तनत की सीमाओ को 14वी से 16वीं शती के बीच रखा जा सकता है। अहमदशाह वली बहमनी के द्वारा 1432 ई० मे निर्मित बीदर दुर्ग के रगमहल के तीन विशाल कक्षो मे किसी समय सुन्दर पुष्पलताओं के चित्र बने थे, किन्तु वे नष्ट हो गये। इन्ही शाहवली का मकबरा ईरानी शैली की सुन्दर नक्काशी से चित्रित है, जिसका चटकीला वर्ण-विधान आज भी सुरक्षित है।

पल्लव और चोल शासको के समय की कला-कृतियो पर यद्यपि उत्तर भारत की पद्धतियो का प्रभाव है, तथापि अपनी भोगोलिक एव वैचारिक स्थिति के कारण उनमे दाक्षिणात्य प्रकृति का ऐसा निजस्व है, जिसके कारण उत्तर की चित्र शैलियो से वे अपनी पृथकता को सुरक्षित बनाये हुए हैं। सितनवासल की गुफाओ के पल्लवकालीन भित्तिचित्रो और चोलराज रामराजा प्रथम के समकालीन वृहदीश्वर मन्दिर (तजोर) के बरामदो तथा भित्तियो पर चित्रित आकृतियों की शैली यद्यपि अजन्ता के आदर्शों पर निर्मित हलके एवं लयप्रधान चित्रो के अनुसार है, फिर भी उनकी सजावट एवं वस्त्रालकरण की विधियाँ तथा अभिव्यक्ति के अधिकतर प्रकार दाक्षिणात्य है। इसी प्रकार बाघ की गुफाएँ, सितनवासल के जैन मन्दिरो, तंजोर के मन्दिरो, केरल के पद्मनाभपुरम् के महलो और कृष्णपुरम् के चित्रो तक दक्षिण मे चित्रकला का निरन्तर निर्माण होता रहा।

गुफाओ तथा गुफाचित्रो के निर्माण में समस्त भारत में दक्षिण का विशेष योगदान रहा है। उत्तर-भारत की सीतामांजी आदि दो-चार गुफाओं के अतिरिक्त भारत की प्राचीन चित्रकला का केन्द्र दक्षिण ही रहा है। विशाखापत्तनम् के निकट इस प्रकार की अनेक गुफाओ और पल्लवयुगीन तिरुचिनापली की गुफाओं को उद्धृत किया जा सकता है। औरंगाबाद की गुफाओं में निहित कला-शिल्प का विशेष महत्त्व है। बम्बई के निकट भज,

कार्ले, नासिक की बौद्ध गुफाएँ और कान्हेरी की बौद्धोत्तरकालीन गुफाओं सहित दक्षिण भारत में लगभग डेढ़ सौ गुफाओं का निर्माण हुआ।

दक्षिण के सुल्तानों द्वारा संरक्षित कला

दक्षिण में बहमनी साम्राज्य के पतन के बाद एक साथ पाँच सल्तनते प्रकाश में आयीं, जिनके नाम थे—बीजापुर के आदिलशाही, अहमदनगर के निजामशाही, गोलकुण्डा के कुतुबशाही, बिरार के इमादशाही और बीदर के बदरीशाही। इन पाँच सल्तनतों में बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर की सल्तनतो के द्वारा ही दक्षिण में कला का सृजन एवं विकास हुआ। लगभग 17वी, 18वी शती तक इन तीनों सल्तनतो द्वारा पल्लवित चित्रकला हैदराबाद, पूना, कडप्पा, कुर्नूल और शोरापुर आदि की उपशाखाओं के रूप में प्रकाश मे आयी।

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से दक्षिण में चित्रकला के विकास-क्रम को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है। विजयनगर के राजाओ तथा बहमनी सुल्तानो के समय को दक्षिण की चित्रकला का आरम्भिक युग कहा जा सकता है। उसका दूसरा युग बहमनी साम्राज्य के पतन के बाद बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर की सल्तनतों की स्थापना से आरम्भ होता है। दक्षिण की चित्रकला का उत्थान इसी दूसरे युग में हुआ, जिसका समय 15वीं शती के अन्तिम चतुर्थांश से लेकर 17वी शती ई० के मध्य तक है।

दक्षिण में जिस समय कला का यह अभियान चल रहा था, केन्द्र में मुगलों का शासन था। मुगल शाहँशाह अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की संरक्षकता में इस्लामी चित्रकला अपनी उन्नति के शिखर पर आरूढ़ थी। अकबर ने उसको अतिशय रूप से प्रोत्साहित किया। तैमूरवशीय होने पर भी उसके हृदय में हिन्दूधर्म, हिन्दूसंस्कृति और हिन्दूकला के प्रति अपार प्रेम था। उसने ईरानी, इस्लामी और भारतीय कला में समन्वय स्थापितकर भारतीय कला के इतिहास को नया जीवन दिया।

मुगलयुगीन भारत में दक्षिण के राज्यों की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। अहमदनगर, बीजापुर तथा गोलकुण्डा के शासक अकबर की नीति से तथा उसके विचारों से अनभिज्ञ थे। वे 'जैसा देश वैसा वेश' के पक्षपाती थे। कला के प्रति उनके मन में अथाह अनुराग था। दिल्ली दरबार में जिस प्रकार चित्रकला को राजकीय सम्मान प्राप्त था, दक्षिण की उक्त तीनों सल्तनतों में

उसी प्रकार संगीतज्ञों, चित्रकारों तथा कवियों को सम्मानित किया जाता था।

उक्त तीनों सल्तनतों में बीजापुर का आदिलशाहीवंश कला का बड़ा प्रेमी था। इस वंश का संस्थापक यूसुफ आदिलशाह (1489-1510 ई०) था, जिसका मूल सम्बन्ध ईरान से था। उसके बाद लगभग 1686 ई० तक बीजापुर पर आठ शासकों ने शासन किया। उसके अन्तिम शासक सिकन्दर आदिलशाह को पराजितकर बीजापुर पर औरंगजेब का अधिकार हुआ।

आदिलशाही सुल्तानों के समय स्थापत्य और चित्रकला दोनों की उन्नति हुई। उत्तर-मध्य युग में स्थापत्य के क्षेत्र में जितने महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय कार्य बीजापुर में हुए उतने किसी दूसरे नगर या सल्तनत में नहीं हुए। उनके कलानुराग का भव्य उदाहरण यमुनातट पर अवस्थित बीजापुर का विशाल दुर्ग है। उनके लम्बे शासन में उनके कलाप्रेम के अमर स्मारक गोल गुम्बद, जामा मस्जिद, इब्राहीम रोजा, सतमंजला महल और महता महल है। मुहम्मद आदिलशाह (1627-1656 ई०) का मकबरा (गोलगुम्बद) आदिलशाही स्थापत्य का श्रेष्ठतम स्मारक है। उसके ऊपर का विशाल गुम्बद विश्व के दूसरे स्थान पर माना जाता है। इन विशाल भवनों एवं इमारतों में कला की भव्यता के साथ-साथ उनके निर्माताओं की समन्वित विचारधारा के भी दर्शन होते हैं। उनमें हिन्दू-इस्लाम स्थापत्य का अपूर्व समन्वय दर्शित है।

स्थापत्य के अतिरिक्त चित्रकला का इस वंश के शासकों को विशेष प्रेम था। इस वंश के संस्थापक यूसुफ आदिलशाह (1489-1510 ई०) अकबर की भाँति उदार और सहिष्णु था। ईरानी होने के कारण कला के प्रति उसकी जन्मजात अभिरुचि थी। उसने ईरान तथा तुर्की से प्रख्यात साहित्यकारों तथा कलाकारों को आमन्त्रितकर दक्षिण में साहित्य और चित्रकला के विकास में सराहनीय योगदान किया। उसका पौत्र इस्माइल अली आदिलशाह (1558-1580 ई०) तथा उसकी पत्नी चाँद सुल्ताना कला के पारखी और कलाकारों के आश्रयदाता थे। 'नुजूम-अल्-उलूम' नामक प्रसिद्ध पुस्तक इन्हीं आदिलशाह के शासनकाल (1570 ई०) में चित्रित हुई थी। इस पुस्तक की चित्रावली में एक ओर तो बीजापुर की उन्नत चित्रशैली के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर ईरानी-भारतीय चित्रकला के समन्वय की अपूर्वता दृष्टिगत होती है। उसकी यह सचित्र प्रति सम्प्रति लन्दन के चेस्टरबेटी संग्रहालय में सुरक्षित है।

अली आदिलशाह प्रथम के भतीजे इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (1580-1627 ई०) के समय बीजापुर कलम की बड़ी उन्नति हुई। उसके समय शबीहें

भित्तिचित्र और स्थानीय लोकशैली की अनेक कला-कृतियाँ निर्मित हुई। इसी प्रकार उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुहम्मद आदिलशाह (1627-1657 ई०) ने भी अपने पिता द्वारा संरक्षित एवं पल्लवित कला को उसी शान-मान से आगे बढ़ाया। उसके उत्तराधिकारी अली आदिलशाह द्वितीय (1657-1672 ई०) और उसके उत्तराधिकारी सिकन्दर आदिलशाह (1672-1687 ई०) के शासन मे बीजापुर कलम उन्नति पर रही। इस समय तक उसमें राजपूत, मुगल तथा पश्चिम भारत की शैलियों का प्रवेश हो चुका था।

बीजापुर का यह आदिलशाहीवंश साहित्यानुरागी तथा संगीतप्रिय भी था। उसके शासनकाल में मीराजी, बुरहानुद्दीन तथा जानम जैसे सूफी सन्त और नुसरती जैसे यशस्वी कवि हुए। इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (1580-1627 ई०) साहित्यानुरागी और संगीत का अद्भुत ज्ञाता था, जो कि 'अलबावली' या 'जगद्गुरु' के वीरुदो से अभिहित था। इब्राहीम की संगीतप्रियता और उसके हिन्दी अनुराग का उज्ज्वल उदाहरण उसके द्वारा रचित 'नवरत्न' नामक ग्रन्थ है। ब्रजभाषा के कृष्णभक्त कवियों के पदो से बीजापुर का महल गुंजायमान होता रहता था।

बीजापुर के साथ ही गोलकुण्डा में भी कला का निरन्तर निर्माण होता रहा। वहाँ के ध्वस्त महलों, मस्जिदों तथा मकबरो द्वारा वहाँ के प्राचीन कला-वैभव का आज भी सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है। गोलकुण्डा का ध्वस्त दुर्ग किसी समय कुतुबशाही सल्तनत के हीरा-जवाहरातो के लिए प्रसिद्ध था। उसका निर्माण बारंगल के राजा ने 14वीं शुती में कराया था। गोलकुण्डा में जिस चित्रशैली का उदय हुआ, उसमे गोलकुण्डा की शैली इतनी अधिक एकरूप हो गयी कि बाद मे इस विधा के सभी चित्रो को गोलकुण्डा-बीजापुर शैली के संयुक्त नाम से कहा गया।

इन बीजापुर-गोलकुण्डा की सल्तनतों द्वारा धार्मिक एवं सास्कृतिक समन्वय का ऐसा सुन्दर वातावरण बना कि दक्षिण में समस्त धार्मिक विषमताओं का अपने-आप शमन हो गया। उन्होंने अपने दरबारों में हिन्दुओं को उच्च पदो पर आसीनकर तथा हिन्दू कवियों, सन्तो और कलाकारो को आमन्त्रित-सम्मानित करके अपने समदर्शी शासन का परिचय दिया।

● ● ●

बीस/भारत का वैचारिक एवं धार्मिक अभ्युदय

सांस्कृतिक नवोत्थान के निर्माता शंकराचार्य

भारत में आठवीं-नवीं शती में जो सांस्कृतिक नवोत्थान हुआ उसका आधार बौद्धिक एवं वैचारिक क्रान्ति थी। इस नयी क्रान्ति के अग्रदूत थे शंकराचार्य। शंकराचार्य (688-720 ई०) के बौद्धिक एवं वैचारिक दिग्विजय का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। उन्होंने पूर्व से पश्चिम तक और दक्षिण से उत्तर तक अपने विलक्षण एवं अद्भुत पाण्डित्य का एकच्छत्र प्रभुत्व स्थापितकर वैदिक एवं पौराणिक परम्पराओं के आधार पर नया सांस्कृतिक अभियान चलाया। उन्होंने वेदों, उपनिषदों, 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र' के पूर्व प्रतिपादित विचारों की भूमि पर अपने अद्वैत की स्थापना की और उसे इतने सूक्ष्म, गम्भीर, व्यापक एवं सुविचारित रूप में प्रतिष्ठित किया कि जिससे उनका नाम न केवल भारत में, अपितु विश्व के सर्वोच्च दार्शनिकों में सम्मानित होने लगा।

शंकराचार्य ने जिस अद्वैत दर्शन की स्थापना की थी, उसकी अपूर्वता स्वयंसिद्ध है। सर्व साधारण की स्थूल दृष्टि के अनुसार न्याय और वैशेषिक में जीव, जगत् तथा परमाणु इन तीनों तत्त्वों के आधार पर ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध किया गया है। वैशेषिक में कुछ भिन्नता के साथ मूल रूप नित्य परमाणु के साथ ब्रह्म-संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है। सांख्य में कुछ आगे बढ़कर पुरुष-प्रकृति के द्वारा सृष्टि का विकास-क्रम निर्धारित किया गया है। वेदान्त में सांख्य के पुरुष-प्रकृति-रूपी द्वैधीभाव को मिटाकर उनका समावेश एक ही परम तत्त्व में किया गया है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म, जगत् का निमित्त भी है और उपादान भी। इसी एकीभाव के कारण ही वेदान्त को अद्वैतवादी दर्शन कहा गया है। शंकराचार्य से पूर्व भी यद्यपि बादरि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, औडलोमि, काशकृत्स्न, गौड़पाद और गोविन्द भगवत्पाद आदि प्रौढ़ वेदान्ती हो चुके थे; किन्तु अद्वैत दर्शन को परम प्रौढ़ता की चरम स्थिति में पहुँचाने का श्रेय शंकराचार्य को ही है।

शंकराचार्य का मुख्य लक्ष्य था बौद्ध तार्किकों को अपदस्थ करके समस्त भारत में हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान करना और सारे राष्ट्र को एक ही हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत संगठित करना। इस प्रयोजन से उन्होंने सर्व प्रथम मूल ग्रन्थों तथा भाष्य-ग्रन्थों के साक्ष्यों के आधार पर अपने वैचारिक अभियान की स्थापना की और अपने अकाट्य तर्कों द्वारा जन समाज के समक्ष हिन्दुत्व विरोधियों के प्रभाव को क्षीण किया। शंकराचार्य से पूर्व भारत की वैचारिक एव सांस्कृतिक थाती पर जैन-बौद्धों का प्रभाव सुदृढ़ हो चुका था। उसके परिणामस्वरूप अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक क्षेत्रों में जैन-बौद्धों का अनेक शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विकास हो चुका था। उनकी प्रतिस्पर्धा में आस्तिक दर्शनो की स्थिति भी निरन्तर उन्नतावस्था में थी। आस्तिक-नास्तिक दर्शनों की प्रतिस्पर्धा के इस युग में ही शंकराचार्य का उदय हुआ। उन्होंने एक ओर तो जैन-बौद्धों के वेद-विरोधी विचारों तथा तत्त्व-चिन्तन-सम्बन्धी उनकी मान्यताओ पर प्रहार किया और दूसरी ओर कर्मकाण्डप्रधान मीमांसा दर्शन के बढते हुए प्रभाव का भी प्रतिरोध किया। वस्तुतः देखा जाय तो शंकराचार्य का जैन-बौद्धो की अपेक्षा मीमांसको से साथ अधिक वैचारिक संघर्ष रहा।

मीमांसा दर्शन के जन्मदाता महर्षि जैमिनि के 'मीमांसासूत्र' पर शबर, प्रभाकर तथा कुमारिल जैसे प्रौढ विद्वानो के गम्भीर भाष्य-ग्रन्थों द्वारा मीमांसा दर्शन का समस्त भारत मे एकाधिकार स्थापित हो चुका था। मीमांसा दर्शन का विषय कर्मकाण्ड है और यद्यपि उसके द्वारा दान, हवन तथा यज्ञ आदि सत्कर्मों के निष्पादन तथा मद्यपान, हिंसा असत्यवादिता आदि निषिद्ध कर्मों से विरत रहने का निर्देश किया गया है; किन्तु ईश्वर एव देवतावाद के सम्बन्ध में वह सर्वथा मौन है। इस दृष्टि से तत्कालीन ब्राह्मण विचारकों पर मीमासको की वैदिक तथा पौराणिक मान्यताओं के प्रति ईश्वर-अस्वीकृति की अनास्था अच्छी प्रभावकारी सिद्ध न हुई। इसी मूल कारण के स्पष्टीकरण के लिए शंकराचार्य का तत्कालीन सर्वोच्च मीमांसक विद्वान् मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ हुआ था। इस शास्त्रार्थ मे, मण्डन मिश्र द्वारा अपने पक्ष का तर्कसम्मत प्रतिपादन न होने के कारण, शंकराचार्य विजयी घोषित किये गये। इस विजय का प्रभाव तत्कालीन भारत के सर्वोच्च विचारको पर पड़ा और इस रूप में शंकराचार्य को व्यापक समर्थन प्राप्त होने के कारण 8वीं शती के अन्त में भारतीय संस्कृति को सर्वथा नये रूप में पल्लवित होने का सुयोग प्राप्त हुआ।

शंकराचार्य की उक्त विजय एवं सफलता का कुछ अंशों में विरोध भी हुआ। ये विरोधी थे कर्मकाण्ड समर्थक ब्राह्मण दार्शनिक। उन्होंने शंकराचार्य पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप लगाकर उनके बढ़ते हुए प्रभाव को धूमिल करने का प्रयत्न किया; किन्तु यह स्थिति स्थायी न रह सकी। यद्यपि नागार्जुन के शून्यवाद और शंकराचार्य के अद्वैतवाद में निकटता है; किन्तु वास्तव में शंकराचार्य ने जिस प्रकार ब्राह्मण मीमांसकों का खण्डन किया है, उसी प्रकार सांख्य, न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दार्शनिको का भी। उन्होंने कर्मकाण्ड और मूर्तिपूजा के बहिष्कार के साथ-साथ तान्त्रिको, भैरवो, गाणपत्यो, कापालिकों और पाशुपतों के पाखण्ड, वामाचार और व्यभिचार आदि के द्वारा समाज का नैतिक पतन करने वाली धूर्तताओं का भी भरपूर विरोध किया। इस दृष्टि से उनकी वैचारिक क्रान्ति का विशेष महत्त्व है।

शंकराचार्य ने मुख्यतः वैदिक एकेश्वरवाद की शास्त्र-सम्मत व्याख्या एवं पुनःस्थापना की। अपने इस महान् वैचारिक अभियान द्वारा उन्होंने भारत की राष्ट्रीय एकता को भी पुनर्गठित करने का अपूर्व प्रयास किया। ऐसा प्रयास कि जिसको बल तथा वैभव के द्वारा सम्पन्न नही किया जा सकता था। उन्होंने परम्परागत ब्राह्मण संस्कृति के विकास को जर्जर करने वाले मिथ्यावादियो का प्रतिरोधकर ऐसी सुदृढ भूमिका का निर्माण किया, जिससे कि भारत और भारत के बाहर भी भारत के धार्मिक, वैचारिक तथा सास्कृतिक अभ्युदय का नया अभियान प्रचलित हुआ। उनका यह नया वैचारिक अभियान न केवल एक विशिष्ट वर्ग तक, अपितु उतनी अधिक उच्च बौद्धिक क्षमता रखने मे असमर्थ जन-सामान्य तक भी व्याप्त हुआ।

शांकर वेदान्त की विशिष्टता इसमे है कि जैसे वह ब्राह्मणो के लिए वैसे ही शूद्रों तथा स्त्रियो के लिए भी उपादेय हैं। उसको प्राप्त करने तथा वरण करने का अधिकार सबको समान रूप से है। किसी भी वर्गविशेष को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का विशेषाधिकार नही है। यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा सूत्र-ग्रन्थों के विपरीत पुराणो में स्त्रियों तथा शूद्रो को ज्ञानार्जन की व्यवस्था की गयी है; किन्तु वैदिक ज्ञान की उपलब्धि के लिए शंकराचार्य ने ही सर्व प्रथम स्त्रियों तथा शूद्रों के लिए द्वार खोले। शंकर ही एकमात्र ऐसे समतावादी समाज के समर्थक थे, जिनके विचारों में सब के लिए समान स्थान है, जबकि उनके उत्तरवर्ती रामानुज तथा मध्व आदि आचार्यों ने शंकराचार्य की इस समन्वयवादी विचार-पद्धति की आलोचना की। शांकर विचारधारा

में रूढ़िवादिता और अन्धविश्वासों को कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि शांकर वेदान्त न तो किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय और वर्गविशेष के अन्तर्गत परिसीमित हुआ और न उसके द्वारा व्यक्ति-हितों का पोषण हुआ। अपनी इस विशिष्टता के कारण ही सम्भवतः विगत बारह सौ वर्षों से वह समस्त बौद्धिक एवं वैचारिक विश्व को समान रूप से प्रेरित तथा प्रभावित करता हुआ आ रहा है।

शंकराचार्य को यह भी भलीभाँति ज्ञात था कि उच्च बौद्धिक वर्ग तक ही सीमित रहने पर भारत के बहुसंख्यक समाज को एक सांस्कृतिक मंच पर नही लाया जा सकता है; और ऐसी स्थिति में जनता के मन पर विगत ग्यारह-बारह सौ वर्षों से जमे हुए जैन-बौद्ध प्रभावों की छाप को नहीं धोया जा सकता है। इस दृष्टि से उन्होंने जन-जीवन को प्रभावित करनेवाले तदनुरूप प्रयत्नों की ओर ध्यान केन्द्रित किया। उन्होने जैन उपाश्रयों और बौद्ध विहारों के अनुकरण पर भारत के चारों कोनो पर चार विशाल मठों की स्थापना की। ये मठ वस्तुतः उसी ढंग के थे, जैसे कि वैदिक युग के भारत में ऋषि आश्रमों की स्थिति हुआ करती थी। उन्ही का रूपान्तर जैन-बौद्धों के उपाश्रय, सघाराम तथा विहार थे और सामाजिक चेतना को उजागर करने के लिए शकराचार्य ने भी ठीक उसी ढग पर चार विशाल मठों की स्थापना की। ये मठ एक प्रकार से ज्ञान-केन्द्र थे और उनके द्वारा ऐसे स्नातक तैयार किये गये, जिन्होंने भारत के कोने-कोने मे भ्रमणकर जनता को, उसको सूझ-समझ के अनुरूप, नये जन-जागरण के लिए उत्प्रेरित किया।

शंकराचार्य द्वारा प्रस्थापित इन मठों का एक विशेष लक्ष्य यह भी था कि जन-जीवन को वैचारिक उन्नयन की ओर अग्रसर करने के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता को भी सुदृढ किया जाय। उन्होंने दक्षिण में शृंगेरी, उत्तर में बदरीनाथ (जोशी मठ), पूर्व में गोबर्द्धन और पश्चिम मे द्वारका के चार मठों की स्थापना कर वहाँ के अधिष्ठाताओ द्वारा इस बात की सुव्यवस्था की कि वे अपनी-अपनी सीमाओं के अन्तर्गत आने वाली जनता को अपने लक्ष्य के अनुसार गठित करने में पूरी शक्ति से कार्य करे। उन्होंने संन्यासियो को दस श्रेणियो (दशनामी) में विभाजितकर यह व्यवस्था की कि वे विभिन्न क्षेत्रो के समाज को धार्मिक अनुशासन मे आबद्ध रखने के अपने दायित्व का पूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह करे। उन्होंने स्वयं भी आवश्यकतानुसार भारत के विभिन्न अंचलों का भ्रमण किया। वे उस युग के सभी प्रख्यात विद्वानों के पास गये; तथा उन्होने उनके विचारों को

जाना और अपने विचारों से उन्हें अवगत किया। उनका उद्देश्य किसी विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित करके उसे अपमानित करना और इस रूप में स्वयं को श्रेष्ठ घोषित करना नहीं था। उनके सम्बन्ध में ये बातें कल्पित हैं और पीछे से जोड़ी गयी हैं।

उनका लक्ष्य समाज को संन्यासी तथा त्यागी बनाकर उसे निरपेक्ष एवं निष्क्रिय करना भी नहीं था। वे ऐसी वैचारिक उन्नति के पक्षपाती अवश्य थे, जिसको प्राप्त करके मनुष्य स्वयं को तथा दूसरे को समझ सकने में समर्थ हो सकें; क्योंकि वे ऐसे समाज के पक्षपाती थे, जिससे देश-भेद जाति-भेद तथा वर्ग-भेद की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर एक समष्टिमय मानव-समाज का निर्माण हो सके। उनका यह उद्देश्य बहुत-कुछ अंशों तक सफल भी हुआ। उन्होंने परम्परा से अर्जित एवं संचित समस्त भारतीय ज्ञान-राशि को सर्वथा नयी विचार दृष्टि देकर उसका नवोत्थान किया। उनकी यह मौलिक विचार दृष्टि विगत बारह सौ वर्षों से आज भी अपनी प्रतिष्ठा मे ठीक वैसी ही वरणीय एवं अनुकरणीय है; और इस रूप मे उसके द्वारा विश्व मे भारत की गरिमा द्योतित हो रही है।

शंकराचार्य वस्तुतः एक युगविधायक तत्त्ववेत्ता, महान् विचारक और समुन्नत भारत के नवनिर्माता थे। उन्होंने वेदान्त की जिस नयी विचारदृष्टि का प्रस्थापन किया, भारत के समस्त भावी विचारकों ने उसको अपनी गवेषणा एवं साधना का केन्द्र बनाकर उसे अनेक शाखाओं मे पल्लवित किया। शाकर वेदान्त के प्रवर्तक प्रमुख आचार्यों में भास्कर (1000 ई०), रामानुज (1200 ई०), मध्व (1300 ई०), निम्बार्क (1300 ई०) और वल्लभ (1500 ई०) का नाम प्रमुख है। भास्कराचार्य ने भेदाभेदवाद, रामानुज ने विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य ने द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद और वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद के नाम से विभिन्न वैचारिक पन्थों को जन्म दिया, जिनके द्वारा स्वतन्त्र सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा होकर वेदान्त विषय का विस्तार हुआ। शांकर वेदान्त के प्रभाव से आगे चलकर रहस्यवादी सन्तो का उदय हुआ और उनका प्रभाव नेपाल, तिब्बत तथा चीन तक विस्तारित हुआ।

शंकराचार्य की उपलब्ध जीवनी से, और आधुनिक विद्वानों ने अन्तः बाह्य साक्षों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनके आधार पर यह माना जाता है कि केवल बत्तीस वर्ष की अल्पायु मे यह युवक संन्यासी मोक्षत्व को प्राप्त हुआ। शंकराचार्य की इस अल्पायु से उनके कृतित्व का सामंजस्य बैठाने

में कठिनाई भले ही प्रतीत हो; किन्तु वह सर्वथा सत्य है। इस विराट् देश की चिरन्तन परम्पराओं और विचारधाराओं के वे संगम थे। इस दृष्टि से उनके व्यक्तित्व में अद्भुत विभिन्नता दृष्टिगत होती है। वे कोरे बौद्धिक एवं शुष्क दार्शनिक मात्र नहीं थे, अपितु उनका युवा मन उन सभी कोमलताओं और मधुर कल्पनाओं से परिमण्डित एवं अभिपूरित था, जो किसी सामान्य युवक में होती हैं। उनके युवा मन की इन कोमलतम भावनाओं का सहज उद्रेक उनके द्वारा रचित 'आनन्दलहरी', 'दक्षिणामूर्ति स्तव' और 'भजगोविन्दम् स्तव' आदि स्तुतियों मे अत्यन्त प्रभावकारी रूप मे उभरकर अभिव्यक्त हुआ है। ये स्तुतियाँ यद्यपि उनके भक्त-हृदय की तीव्रानुभूति की परिचायक हैं; किन्तु उनके द्वारा उनका काव्यानुरूप शब्द-लालित्य और कवि-सहज व्यक्तित्व भी अभिव्यक्त हुआ है।

इस प्रकार वह युवक भिक्षु न केवल प्रखर तार्किक, विचारक, तत्त्वविद्, रहस्यवादी, धार्मिक नेता, समाज सुधारक और भारतीय संस्कृति का अग्रदूत था, अपितु एक भक्त हृदय होने के साथ-साथ एक कवि भी था। अपनी इन सम्मिलित महानताओं के कारण उसने अल्पकाल मे ही इस विशाल देश की विभिन्नतावादी जनता के हृदय, मन और बुद्धि पर एकाधिकार कर लिया था। यही कारण है कि शंकराचार्य को आज भी भारत का महान् निर्माता और इस देश का प्रतीक मानकर सम्मानित एव सादर स्मरण किया जाता है।

शकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैत सिद्धान्त के फलस्वरूप साधना-उपासना के क्षेत्र मे जिन नये पन्थो का उदय हुआ उनमें तन्त्रवाद या तान्त्रिक उपासना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि भारत मे तान्त्रिक उपासना का अस्तित्व बहुत प्राचीन है; किन्तु उस पर जो साहित्य उपलब्ध है वह प्रायः शंकराचार्य के बाद का है और उसकी साधना-पद्धति पर शाकर वेदान्त की स्पष्ट छाप है।

तान्त्रिक उपासना और तन्त्रवाद का उदय

भारत मे उपासना का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन है। न केवल साहित्यिक स्रोतों से, अपितु प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक युगो की उपलब्ध पुरातत्त्व एव कला-सामग्री से भी उसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। सिन्धु सस्कृति के उपलब्ध अवशेषों से पता चलता है कि तत्कालीन समाज मे मातृपूजा तथा लिंगपूजा का प्रचलन था। उन्ही के द्वारा बाद मे तान्त्रिक पन्थों का उदय हुआ।

वैदिक ऋषियों के प्रकृति-पुरुष के रहस्यमय उद्गार ही तान्त्रिक धर्म के मूल उद्गम हैं। उसकी व्यापक तथा गम्भीर भूमिका का निर्माण उपनिषदों तथा दर्शनों में हुआ। उपनिषदों का ब्रह्म-माया-सिद्धान्त और कपिल के सांख्य दर्शन का प्रकृति-पुरुष विवेचन तान्त्रिक धर्म के विकास के परिचायक हैं। उसकी प्रतिष्ठा पुराणों के देवतावाद और विशेष रूप से शक्ति-उपासना के विभिन्न रूपों में हुई। तान्त्रिक उपासना का केन्द्र यही शक्ति-पूजा रही है। अदिति, पृथ्वी, सरस्वती (इड़ा, भारती) आदि वैदिक मातृदेवियाँ शक्ति-पूजा की स्रोत रही हैं। ऋग्वेद का 'देवी-सूक्त' वैदिक संस्कृति का केन्द्र रहा है। उसमे वर्णित ब्रह्म और वाक की अभिधेया शक्ति-रूपा मातृकाएँ पौराणिक शक्ति-उपासना का प्रेरणास्रोत रही हैं। पुराणो की अम्बिका, भवानी, देवी, भद्रकाली, दुर्गा, उमा और माहेश्वरी आदि देवियाँ वैदिक 'देवी-सूक्त' के ही रूपान्तर है। 'मार्कण्डेय पुराण' के 'दुर्गासप्तशती' आख्यान में देवी के जिन विभिन्न नामरूपो, गुणो तथा वैभव का व्याख्यान किया गया है, उसके द्वारा पौराणिक तान्त्रिक युग की पूर्ण प्रतिष्ठा का सहज ही पता चलता है। उसके प्रमाण देश के विभिन्न अंचलों मे प्रतिष्ठित मन्दिरो, मठो तथा उपाश्रयो की कला-थाती मे जीवित हैं। समस्त भारत मे व्यापक रूप से उपलब्ध होने वाली तान्त्रिक अभिप्राय की बहुसंख्यक मूर्तियो मे पौराणिक तन्त्रधर्म के प्रचार-प्रसार का इतिहास गुम्फित है। पुराणो के अगन्यास, अष्टक, स्तोत्र, पटल, कवच, स्तुति, कीलक, मन्त्र, तन्त्र आदि मे तन्त्रविद्या का बृहत् साहित्य प्रकाश मे आया।

मध्ययुगीन भारत मे पुराणों के प्रभाव से जहाँ भक्ति तथा साधना के अनेक मार्ग प्रशस्त हुए, वहाँ पुराने वैदिक देवताओ के स्थान पर नये देवताओ की भी स्थापना हुई। इन नये देवताओ और उनकी विभिन्नविध आराधना ने नये धर्म-पन्थो को जन्म दिया, जिनमें देवताओ के साथ ही उनकी शक्ति-रूपा या पत्नीरूपा शक्तियो की भी कल्पना की गयी। तन्त्र-दृष्टि से 'कूर्म पुराण' और 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' मे तान्त्रिक विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। 'कूर्म पुराण' में कपाल लकुल, वाम, भैरव, और पाँचरात्र आदि जादू-टोना, मारण-मोहन-उच्चाटन से सम्बन्धित तान्त्रिक सम्प्रदायो का उल्लेख हुआ है, जिन्हे कि अवैदिक कहा गया है। इन तन्त्रप्रधान अवैदिक धर्मो का उदय वैदिक युग मे ही हो चुका था, जिनको वैदिको ने भी स्वीकार कर लिया था। अथर्ववेद में उनकी प्रतिक्रिया व्यापक रूप में परिलक्षित हुई है।

भारतीय साहित्य पर तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रभाव निरन्तर बना रहा। 'महाभारत', 'देवी भागवत,' 'बृहत्कथा' और महायान धर्म के बौद्ध ग्रन्थ 'सद्धर्म पुण्डरीक' तथा 'प्रज्ञापारमिता' आदि विभिन्न ग्रन्थो में उसका प्रभाव व्याप्त है। बौद्धधर्म मे महायान सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रभावशाली आचार्य नागार्जुन बौद्धतन्त्र के महान् विद्वान् थे। बुद्धि और कर्म से समन्वित होने के कारण तन्त्रवाद जितना वैज्ञानिक है, उतना ही व्यावहारिक भी है। आचार्य नागार्जुन में इन दोनो का समन्वय था। यही कारण है कि इतिहास मे उनके विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व देखने को मिलते हैं, जिन्होने कि उनकी वास्तविकता को भी भ्रमित कर दिया है। सांख्य, वेदान्त और नागार्जुन के तन्त्रवाद का अन्य समकालीन धर्मशाखाओ पर इतना व्यापक प्रभाव पडा कि शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध धर्मों के अनुयायियो के अलग-अलग 'तन्त्रवाद' प्रचलित हुए।

तन्त्र-साहित्य का क्षेत्र और प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। सभी प्रकार के आगम-ग्रन्थो को तन्त्र कहा गया है। 'सम्मोहनतन्त्र' मे विभिन्न प्रकार के बाईस आगमों का उल्लेख हुआ है, जिनमे चीनागम, पाशुपत, पांचरात्र, कापालिक, भैरव, अघोर, जैन और बौद्धों की परिगणना की गयी है। किन्तु ये आगम अधिक प्राचीन नही हैं। प्राचीन आगम मुख्य रूप से तीन हैं—वैष्णव, शाक्त और शैव। वैष्णव आगमो का नाम है पांचरात्र और वैखानस। शैवो के आगमो का नाम माहेश्वर तथा कापाल है। लकुल, भैरव, काश्मीर शैव आदि उनके अवान्तर भेद हैं। इसी प्रकार शाक्तो के भी केरल, काश्मीर और गौड आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। इन सभी सम्प्रदायों मे अपने-अपने मत के अनुसार अलग-अलग उपासनाओ का विधान है और स्त्री-पुरुष, दोनो को उसका उपासक अधिकारी माना गया है।

पाशुपतमत और शैवमत एक ही है। पुराणो मे पाशुपतमत के प्रवर्तक कालामुखों, कापालिको और लकुलीशों आदि अनेक पन्थो का उल्लेख हुआ है। इन सभी तान्त्रिक सम्प्रदाओ का 10वीं शती तक पूर्ण विकास हो चुका था। इस मत के अनुयायी शिवोपासक हैं। कापालिक वाममार्गी है और उनमें नरबलि का प्रचलन था। नाथ और रसेश्वर सम्प्रदाय भी शैव-मतानुयायी थे। शिवोपासक शैवो की एक शाखा काश्मीर से उदित हुई, जिसके सिद्धान्त विशुद्ध तत्त्वविद्या पर आधारित हैं और जो अद्वैतवादी हैं।

वैष्णव और शैव मत की तरह शाक्तमत भी प्राचीन है। किन्तु उसकी उन्नति का समय सातवीं से बारहवीं शती के बीच है। शाक्तमत, शैवमत से

सर्वथा भिन्न और उपासना-पद्धति की दृष्टि से भी स्वतन्त्र है। तत्त्व-दृष्टि से वह अद्वैतवादी है। 'सम्मोहनतन्त्र' के अनुसार शक्ति और नारायण को एक ही बताया गया है। जो आदि नारायण हैं, वे ही परम शिव हैं और वे ही निर्गुण ब्रह्म हैं। आद्या ललिता महाशक्ति ने ही श्रीकृष्ण और श्रीराम का पुरुष-विग्रह धारण किया था। इसलिए राम, शक्ति और शिव मे कोई विभेद नहीं है।

वैष्णव, शाक्त और शैव आगमो के अतिरिक्त बौद्धागम की भी स्वतन्त्र परम्परा है। बौद्धागम मे तीन प्रकार के साधक बताये गये हैं—श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक् बुद्ध। महायान ही तीनो का योगपथ है, जिसकी दो शाखाएँ है—पारमितानय और मन्त्रनय। इन दोनों शाखाओं के प्रवर्तक बुद्ध हैं। मन्त्रनय के तीन अवान्तर भेद हैं—वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान। पारमितानय का समस्त साहित्य सस्कृत मे है; किन्तु मन्त्रनय का साहित्य सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओ मे है। वज्रयान तथा कालचक्रयान की साधना मे मन्त्र का प्राधान्य होता है। सहजयान की साधना में मन्त्र का प्राधान्य नही होता।

तान्त्रिक उपासना वस्तुत: शक्ति की उपासना है। बौद्ध दृष्टिकोण से प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इस प्रज्ञा के छह गुण है—ऐश्वर्य, समग्रत्व, रूप, यश, श्री, ज्ञान तथा अर्थवत्ता। वैष्णवो के चतुर्व्यूह प्रसंग मे वासुदेव का षाड्गुण्य-विग्रह माना गया है। यही प्रकार बौद्धो के और शाक्तो तथा शैवों के आगमो मे भी है। बौद्ध तान्त्रिको की दृष्टि में मुद्रा का अभिप्राय शक्ति की अभिव्यक्ति या उसका बाह्यरूप है। मुद्रा के चार प्रकार कहे गये हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा। देवता के प्रकट होने पर उसका आवाहन करना होता है। अव्यक्त अग्नि से जैसे दीपक नही जलाया जा सकता है, उसी प्रकार अप्रकट देवता का आवाहन नही हो सकता है। इसी देव-आवाहन का साधन ही मुद्रा है।

भेदवादी तान्त्रिको के मत से शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन तत्त्व हैं। ये तीन तत्त्व ही समस्त जगत् के अधिष्ठान हैं। इस जगत् का उपादान बिन्दु, कर्ता शिव और करण शक्ति है। बिन्दु का अपर नाम महामाया है। उसकी तीन अवस्थाएं हैं—परा, सूक्ष्मा और स्थूला। परा अवस्था में महामाया को परा माया तथा कुण्डलिनी कहा गया है। वह परम और नित्य है। महामाया की सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाएं कार्य होने के कारण अनित्य हैं। महामाया की सूक्ष्म अवस्था का नाम माया है। वह कलादि तत्त्व-समूह का अविभक्त रूप

है। आगमों में उसे जननी तथा मोहिनी कहा गया है महामाया की स्थूल अवस्था का नाम प्रकृति है। वह त्रिगुणात्मिका है।

बिन्दु की शब्दात्मिका वृत्ति के चार भेद हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा (सूक्ष्मा)। वैखरी श्रोत्रग्राह्य स्थूल शब्द शक्ति है। मध्यमा अन्तः संकल्प रूपा (चिन्तन रूपा) वृत्ति हैं। पश्यन्ती अक्षर बिन्दु स्वय प्रकाश वृत्ति है। परा वृत्ति, परा वाक् या नादरूपा है। परमेश्वर की यह स्वतन्त्र शक्ति है, जिसे चिद्रूपा कहा गया है। इस प्रकाशमय महामन्त्रात्मक परा वाक् के गर्भ में 'अकार' से 'क्षकार' पर्यन्त समस्त शक्ति-चक्र निहित है। 'अ' से 'क्ष' तक के वर्णों मे सब प्रकार का ज्ञान अधिष्ठित है। वर्णों से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। अज्ञातावस्था मे वे बन्धन का कारण, किन्तु सम्यक् ज्ञान से परा सिद्धि के कारण होते है (कविराज—भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, तान्त्रिक दृष्टि)। तन्त्र-साधना का यही मूल आधार है।

सिद्धो की परम्परा

बौद्धधर्म मे तान्त्रिक साधना का प्रचलन कब से हुआ, इस सम्बन्ध मे मत-मतान्तर हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसका अस्तित्व अति प्राचीन है। प्रागैतिहासिक युग मे ही उसके अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। भारत, एशिया माइनर और मध्य एशिया के विभिन्न देशो मे उसका प्रादुर्भाव हुआ। तिब्बतीय विद्वान् लामा तारानाथ का अभिमत है कि तन्त्रविद्या की परम्परा बहुत समय तक गुरु-शिष्यों द्वारा मौखिक रूप में प्रवर्तित होती रही। सिद्ध और वज्राचार्य उसके प्रमुख प्रवर्तक थे। सिद्धों की भी अनेक श्रेणियाँ थी; यथा रससिद्ध, महेश्वरसिद्ध और नाथसिद्ध आदि। इन सिद्धो की संख्या यद्यपि चौरासी मानी जाती है, किन्तु वह इससे कही अधिक है। उनमें अधिकतर सिद्ध वज्रयान या कालचक्रयान के अनुयायी और न्यूनतर सहजयानी थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी सिद्ध अद्वैतवादी थे।

तिब्बत और चीन की परम्परा के अनुसार आचार्य असंग द्वारा तुषित स्वर्ग से तन्त्र की अवतारणा हुई। किन्तु भारत में असंग से पूर्व मैत्रेय और नागार्जुन तन्त्रविद्या के क्षेत्र मे पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे। उन्ही के द्वारा सर्व प्रथम शक्ति उपासना का भी प्रचलन हुआ।

तिब्बत में आज भी सिद्धवाणियों के महत्त्वपूर्ण संग्रह हस्तलेखों के रूप में सुरक्षित हैं। जिन सिद्धों की महत्त्वपूर्ण साहित्य-थाती वहाँ सुरक्षित है, उनमें

सरहपा, आर्यदेव, लूहपाद, भूसुक, वीणापा, विरूपा, वारिकप्पा, डोमिप्पा, जालन्धरपाद, कुक्कुरिया, गुण्डरीपाद, मीनपा, कण्हपा, तिलोपा, नाडपा (नारोपा) और शान्तिपा (रत्नाकरशान्ति) आदि का नाम उल्लेखनीय है। सरहपा या सरपा को आदि सिद्ध कहा गया है। वे नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य थे। आचार्य नारोपा विक्रमशिला विश्वविद्यालय के प्रमुख विद्वानों में से थे। विश्वविद्यालय का उत्तरी पीठ उनके अधिकार में था। वे अपने समय के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और मन्त्रयान तथा तन्त्रयान के एकमेव अधिकारी थे। दीपंकर श्रीज्ञान, प्रज्ञारक्षित, कनकश्री, माणकश्री और अनेक सिद्ध तथा ज्ञानी उनके शिष्य थे। शान्तिपा या शान्तिरत्नाकर 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहे जाते थे। वे धर्मपाल के शिष्य और प्रख्यात विद्वान् थे।

वज्रयान

महायान धर्म से सम्बन्ध होने के कारण वज्रयान की प्राचीनता भी स्वयं-सिद्ध है। उसका उदय ईसा की दूसरी-तीसरी शती मे हो गया था। महायानी तान्त्रिक बौद्धों ने एक ही बुद्ध को पाँच ध्यानी बुद्धो मे प्रतिष्ठित किया, जिनकी स्वतन्त्र शक्ति, प्रज्ञा और विद्या थी और जिनके लिए विशिष्ट मन्त्र, मुद्रा और मण्डल निर्धारित थे। इन ध्यानी बुद्धो में अक्षोभ्य, लोचना, वैरोचन, तारा, अमिताभ और अमोघवज्र आदि नये आराध्य देवी-देवो की प्रतिष्ठा हुई। इस विचारधारा के अनुसार 'वज्र' मे 'शून्य' का आधान करके उसे अद्वय, अभेद्य, अविभाज्य और अपर मानकर उसकी उपासना की गयी। उससे ज्ञानवाद तथा रहस्यवाद की नयी विचार-पद्धतियो का निर्माण हुआ, जिनमे कि तान्त्रिक योगविधियों की प्रमुखता थी। उसमें शारीरिक अनुशासन पर बल दिया गया और पूजा, कर्मकाण्ड तथा सन्यास को बहिष्कृत किया गया है। वज्रयान की यौगिक विधियो के गम्भीर व्याख्याता तिब्बत के सिद्धाचार्यों मे आचार्य नादपाद या नारोपा का नाम प्रमुख है। वज्र को आराधना की चरम स्थिति मानने वाले हठयोगियो मे नारोपा के बाद गोरक्षनाथ का नाम उल्लेखनीय है, जिनके द्वारा प्रवर्तित नाथ-सम्प्रदाय का भारत मे और उत्तर-पूर्व देशो में कई शतियों तक प्रभाव बना रहा।

बगाल के पाल राजाओ के शासनकाल में बंगाल मे तान्त्रिक धर्म का विशेष विकास हुआ। उसके प्रचार में पाल नरेश धर्मपाल (770-810) और देवपाल (810-850 ई०) का विशेष योगदान रहा। उनके समय अपराजिता, वज्रशारदा, वर्त्तालि, वराली और मारीची पर्णशबरी आदि देवियों और

वज्रपाणि, मंजुश्री, त्रैलोक्यविजय आदि विभिन्न नये तान्त्रिक उपास्य-देवों की सृष्टि हुई। 10वीं, 11वीं शती के लगभग पूर्वी बंगाल के चन्द्रवंशीय शासकों के समय वज्रयान का विशेष विकास हुआ और उसके साथ ही अनेक तान्त्रिक देवों की उपासना के साथ ओदन्तपुरी, सोमपुर तथा विक्रमशिला के विश्वविख्यात विद्या-केन्द्रों में तन्त्र-साहित्य पर मूल्यवान् कृतियों का निर्माण होता गया। आचार्य शान्तरक्षित (706-762 ई०), जो कि नालन्दा महाविहार के कुलपति थे, वज्रयान के समर्थ विचारक थे। आचार्य शान्तरक्षित का व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है। बौद्ध तत्त्वज्ञान पर उनका 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ वज्रयान विचारधारा का प्रौढ़ एवं बहुमान्य ग्रन्थ है।

नाथपन्थ

सम्राट् हर्ष के बाद भारत मे जो राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त हुई, और जिसका इतिहास तत्कालीन हूणो, तुर्कों, अफगानो, राजपूतो और मुगलों आदि विभिन्न जातियों के संस्कारों से प्रभावित है, मध्ययुगीन भारत में नये धार्मिक उदय का सूचक है। इन विभिन्न जातियों के संस्कारो के फलस्वरूप धार्मिक अक्खड़पन की जो परस्पर विरोधी परम्पराएँ प्रकाश मे आयीं, उन्हीं के परिणामस्वरूप तान्त्रिक तथा यौगिक नामक नये पन्थों का उदय हुआ। लगभग 11वी, 12वीं शती तक इस प्रकार के अनेक नये धार्मिक पन्थ उभरते और विलुप्त होते गये।

नाथपन्थ इसी प्रकार के बनते-बिगड़ते धर्मों का एक संगठन था, जिसमें शैव, शाक्त और बौद्ध आदि अनेक धर्मानुयायी सम्मिलित हुए। वे न तो विशुद्ध हिन्दू थे और न कट्टर मुसलमान ही। तत्कालीन देशव्यापी राजनीतिक उथल-पुथल ने वर्गवाद और धार्मिक पक्षपात को इतना अधिक उभार दिया था कि उसने सारे भारतीय समाज को दो वर्गों मे विभाजित होने के लिए बाध्य किया। समाज का एक वर्ग हिन्दूधर्म के अन्तर्गत और दूसरा इस्लामधर्म के अन्तर्गत सगठित हो गया। इस राजनीतिक संकट ने उन विभिन्न धर्म-पन्थों की जड़ें हिला दी, जो मध्यमार्गी थे और अवसरवादिता का ढोंग रचे हुए थे।

नाथपन्थ का जन्म इसी संक्रान्ति काल मे हुआ। मत्स्येन्द्रनाथ उसके प्रवर्तक और गोरक्षनाथ या गोरखनाथ उसके संगठनकर्ता थे। उन्होने योग द्वारा उपासना की नयी पद्धति का सूत्रपात किया। गोरखनाथ के मत से

सहज (स्वाभाविक तथा स्वतःस्फूर्त) जीवन-प्रणाली ही सर्वोच्च है। उसकी उत्पत्ति सहज शून्य से हुई है और वह दृढ़ तथा कोमल, दोनों है। उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती है। यह सहजजन्य योगमार्ग वस्तुतः बौद्धों तथा शैव-शाक्तों की योगपद्धति का समन्वय है और उसका गठन इसी प्रकार के परम्परागत अनेक साधकों तथा सिद्धों द्वारा हुआ। उसमें उन वाममार्गियों या कापालिकों का योगदान नहीं था, जिन्होंने अचम्भो तथा आश्चर्यों का बवाल खड़ा करके अपने रहस्यात्मक विचित्र करतबों द्वारा समाज को भरमाया हुआ था। नाथपन्थ ने हिन्दूधर्म का उद्घोषक बनकर भारत में अपना अलग अस्तित्व बनाये रखा और उसके बाद तिब्बत, नेपाल तथा सिक्किम-भूटान तक व्याप्त हुआ।

सहजयान

बौद्ध वज्रयान की आराधना-उपासना की कठिन एवं दुस्साध्य यौगिक क्रियाओ को लोक-सहज बनाने के उद्देश्य से वज्रयानियो के एक वर्ग ने कुछ परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया, जिसको समाज में व्यापकता से अपनाया गया। इस नयी सहज सिद्धि का माध्यम नारी को बनाया गया। उसे ही शून्यता का प्रतीक माना गया। उसमें योगाभ्यास पर बल दिया गया। उसका प्रभाव त्वरित गति से समस्त भारत में फैला। सर्व प्रथम वह असम, बंगाल पर परिलक्षित हुआ और फिर महाराष्ट्र तथा गुजरात के साथ-साथ समस्त उत्तर भारत मे व्याप्त हुआ। 950-1200 ई० के बीच नेपाल तथा तिब्बत तक उसका प्रभाव प्रसारित हुआ। इसी अन्तराल मे चौरासी सिद्धों का उदय हुआ।

सहज सिद्धि का यह ढंग विशेषतः उत्तर भारत में इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि उसने शाक्तों, वैष्णवों और शैवो की आराधना-पद्धतियों का अन्तर मिटाकर धार्मिक समन्वय का लोकोपकारी वातावरण स्थापित कर दिया। परम्परागत बौद्ध वज्रयान का स्थान लगभग 10वी शती मे सहजयानी नाथपन्थ ने ले लिया। ये नाथपन्थी सिद्ध एक प्रकार से हिन्दू तथा बौद्ध परम्पराओ के समन्वय थे। इन नाथपन्थी हठयोगियों का प्रभाव बंगाल से काश्मीर तक और महाराष्ट्र-गुजरात से तिब्बत-नेपाल तक फैला। वस्तुतः धार्मिक माध्यम से राष्ट्रीय नव जागरण और एकता को स्थापित करने में जो श्रेय शंकराचार्य को रहा, उससे किसी भी प्रकार कम गोरखनाथ को नही रहा। उसके द्वारा प्रवर्तित नाथपन्थ और सहजयान का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उसने धार्मिक समन्वय के रूप में भारत का नेतृत्व किया। हिन्दी-साहित्य के प्रवर्तक कबीर,

नानक, दादू, रज्जब और पीपा जैसे महान् सन्तों की वाणियों में नाथपन्थ की समन्वयात्मक विचाधारा व्यापक रूप से प्रकाश में आयी।

सिद्धों और नाथों के उदय का श्रेय यद्यपि भारत को है, तथापि सिद्धवाणियों के महत्त्वपूर्ण संग्रह भारत में कम और बाहरी देशों, विशेष रूप से तिब्बत में, अधिकता से उपलब्ध हुए हैं। विशेष रूप से वज्रयान से सम्बन्धित समस्त साहित्य तिब्बती भाषा में ही उपलब्ध है। 9वीं से 14वीं शती तक के विख्यात महापुरुष आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गहनीनाथ, निवृत्तिनाथ तथा ज्ञानेश्वर आदि सिद्धों के ग्रन्थों का तिब्बती में व्यापक रूप से अनुवाद हुआ। इन सन्तो एवं सिद्धो की तिब्बती साहित्य में प्रभूत चर्चाएँ हुई हैं। भारत में तो सिद्धों की परम्परा क्षीण होती गयी; किन्तु तिब्बत में बहुत समय बाद तक बनी रही। इस दृष्टि से 16वीं शती में रचित तिब्बती ग्रन्थ 'रत्नाकर जोपकथा' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इस सम्बन्ध में एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि बौद्ध-परम्परा के अनेक देशो में ऐसे अनेक तन्त्र-सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जो कि भारत में देखने को नहीं मिलते या जिनके अवशेषो के बहुत कम रूप देखने को मिलते हैं। किन्तु यह सत्य है कि इनका जन्म भारत में ही हुआ। इस प्रकार के अनेक तन्त्र-सम्प्रदाय अधिकतर तिब्बत में और उसके बाद सुमात्रा, जावा, स्याम, कम्बोडिया, नेपाल, सिक्किम और भूटान आदि देशों में प्रचलित हुए। उसका कारण यह हो सकता है कि इन देशों के साथ भारत के सुदूर भूत धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। इन सम्बन्धो के कारण पारस्परिक गमनागमन होता रहा और समय-समय पर यहाँ का साहित्य उक्त देशों को जाता रहा। प्रमुख रूप से तिब्बत और गौण रूप से अन्य मध्य एशियायी देशों में इस प्रकार के साहित्य की उपलब्धि, जो भारत की मूल देन है, किन्तु जो अपनी मूल भाषा मे अप्राप्य है, इसी तथ्य को सूचित करता है कि अतीत में समय-समय पर बहुसंख्यक हस्तलिखित ग्रन्थ बाहरी देशों को ले जाये जाते रहे। उनमें बहुत से ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिनमें भारत का सम्बन्ध सर्वथा विलुप्त हो गया और जिनका मूल सम्बन्ध उन्ही देशों से जोड़ दिया गया, जहाँ वे उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार के साहित्य में सिद्धवाणियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वाममार्गी तन्त्रवाद का उदय

परम्परागत धार्मिक अभ्युदय की दृष्टि से मध्य युग के आरम्भ में सन्तोषजनक स्थिति बनी रही। गुजरात से लेकर उत्तर भारत तक और पंजाब

से लेकर बिहार, बंगाल तक जातीय स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय एकता की भावना ने धार्मिक अभ्युदय की गौरवशाली परम्परा को उन्नत बनाये रखने में देशव्यापी अन्तःप्रेरणा का कार्य किया। गुप्तों ने जिस उदात्त एवं उदार धर्म की प्रतिष्ठा की थी, उसके उत्तराधिकार को सुरक्षित बनाये रखने मे दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक के मध्ययुगीन हिन्दू रजवाड़ो ने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। किन्तु उत्तर-मध्य युग (11वीं, 12वीं शती ई० के बाद) में असंगठित स्वाभिमान और सामन्ती भावना ने जहाँ एक ओर समाज मे जातीय पृथकृता तथा वर्गवाद का बीजारोपण किया, वहीं परम्परागत विद्या-व्यसन और चिन्तन-मनन के बौद्धिक विकास को भी भुला दिया गया।

पुराणों द्वारा प्रवर्तित तन्त्रविद्या की जिन जटिल प्रक्रियाओं का प्रचलन हुआ, गुप्त युग के उत्तरार्द्ध मे ही उनमे विकार की मात्रा बलवत्तर हो गयी थी, जिसके फलस्वरूप प्रबुद्ध समाज उनसे अलग होने लग गया था। तान्त्रिक उपासना मे इस विकृतावस्था को वाममार्गी तन्त्रवाद के नाम से कहा गया है, जिसके फलस्वरूप समाज मे जादू, टोना, मंत्र, वशीकरण, मोहन, उच्चाटन, और नरबलि (मारण) के अन्धविश्वासो का प्रचलन हुआ। उसी के परिणामस्वरूप डाकिनी-शाकिनी, भैरव-भैरवी की विकराल उपासनाएँ प्रचलित हुई और मांस-मदिरा तथा यौनाचार की स्वतन्त्रता बलवती होती गयी। 'देवी पुराण' में तो यहाँ तक उल्लेख हुआ है कि तान्त्रिक लोग देवी-रूप मे विवाहिता स्त्रियो का पूजन और उनके साथ माँस-मदिरा भक्षण तथा विहार कर सकते है। बौद्ध मठों में भी इसी वामपन्थ का बोलबाला था।

इसी प्रकार उत्तर-मध्य युगीन भारत मे तान्त्रिक कौलधर्म ने समाज की चारित्रिक श्रेष्ठता को गिरा दिया था और यौन-रहस्यात्मकताओं का खुलकर प्रचार होने लगा था। धर्म के नाम पर प्रेम के सामूहिक क्रीड़ास्थल योजित किये जाने लगे थे और वहाँ देवी की मूर्ति के समक्ष प्रेमिकाओं के साथ अनेक प्रकार की प्रेम-लीलाएँ रची जाने लगी थीं। अब तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी थी कि जहाँ एक ओर सार्वजनिक उद्यान अमर्यादित प्रेम के क्रीडास्थल बन गये थे तथा परिवार एवं विवाह के नैतिक-नियमों की उपेक्षा कर दी गयी थी, वहीं दूसरी ओर साहित्य में भी उसकी व्यापक प्रतिक्रिया परिलक्षित हुई। दामोदरगुप्त (9वी शती) ने 'कुट्टिनीमत', राजशेखर (10वी शती) ने 'कर्पूरमंजरी', सोमदेव (11वी शती) ने 'कथा सरित्सागर', शिवदास तथा जंभलदत्त (11वी शती) ने 'वैताल पंचविंशति' और क्षेमेन्द्र (11वीं शती) ने

'कलाविलास' तथा 'समयमातृका' आदि कृतियों की रचनाकर 'कामसूत्र' में वर्णित वेश्याओं के यौनाचारों को आधार बनाकर ऐसी कथाओं को लिपिबद्ध किया, जिनमें रोमांचकता के साथ-साथ छल, प्रपंच, धोखाधड़ी, मारण, मोहन, उच्चाटन, जटिल रहस्यात्मकता, मदिरासेवन, मांसभक्षण और यौनाचार की विकृत एवं निकृष्ट मनोदशाओं का खुलकर व्यापक रूप से वर्णन किया गया; और विशेष बात यह थी कि ये कथाएँ उन शिक्षाप्रद एवं नीतिपरक कथा-कृतियो के साथ जोड़ दी गयीं, जिन्हें बालको तथा नव शिक्षितों के ज्ञान-संवर्द्धन के लिए लिखा गया था।

वामपन्थी तान्त्रिक कौलाचारों की इस प्रवृत्ति से सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जीवन को अतिशय रूप से प्रभावित था। तत्कालीन शासकों ने उस पर प्रतिबन्ध लगाने की अपेक्षा उसे प्रोत्साहित ही किया। इस नैतिक पतन का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व जयचन्द जैसे शासकों पर था, जो अपनी हजारों रानियों, बांदियो तथा रखेलों के बीच विलास में डूबे हुए समाज के लिए अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे थे। हिन्दुत्व के प्रतीक परवर्ती राजपूत शासकों ने परम्परा की आन-बान को ताक पर रखकर तुर्क, अफगानों तथा मुगलों का आधिपत्य स्वीकारकर जीवन को विलासता की रंगीनियों में डुबा दिया था। राष्ट्रीय कर्णधारो की इस स्थिति ने विधर्मियों को बढ़ावा दिया। उनके प्रभाव से स्वदेश की धार्मिक परम्पराएँ टूटती जा रही थी और शासकों की दासवृत्ति के कारण हिन्दुओं को विधर्मियो की शरण में जाने के लिए बाध्य होना पड़ रहा था।

• मध्ययुगीन भारत में धर्म की इस दैन्यावस्था को उभारने और समाज के गिरते हुए मानसिक बल को उत्थापित करने में जिन धर्म-नेताओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा उनमें हिन्दू सन्तो और मुसलमान फकीरो का नाम उल्लेखनीय है।

सहजयान की विकृतावस्था

परम्परागत वैदिक धर्म के विरोध में जिन अनेक धार्मिक पन्थो का उदय हुआ, उनमें लोकायतिकों, जैनों और बौद्धो का नाम प्राचीन तथा अग्रणी है। इन वेद-विरोधी आलोचक धर्मों का अस्तित्व यद्यपि बहुत प्राचीन है; किन्तु लगभग छठी शती ई० के लगभग उनकी सर्वथा नयी स्थिति प्रकाश में आयी। इन नये स्वरों के उद्घोषकों का सम्बन्ध परम्परागत उक्त धर्मों में से किससे था, निश्चित रूप से यह कहना सम्भव नहीं है; किन्तु इतना निश्चित है कि

उनकी आचार-पद्धति अवैदिक अर्येतरों जैसी थी और वह लोकायतिकों तथा कापालिकों से प्रभावित थी। कोई असम्भव नहीं कि उनका गठन हूणों, तुर्कों अफगानों के उन विफल या प्रतिद्वन्द्वी समुदायों से हुआ हो, जिन्होंने अपनी निष्क्रिता को छिपाने के लिए नया बाना धारण कर लिया था।

वैदिक परम्पराओं के आलोचकों के रूप में इन वाममार्गियों ने अपनी स्थिति को जमाने और समाज पर अपना प्रभाव डालने के लिए अचम्भा उत्पन्न करनेवाली उलटी बातों को कहने में स्वयं को विशिष्ट सिद्ध करना चाहा। उनके पास न तो भाषा थी, न भाव, न विचार और न तर्क। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने (मध्ययुगीन धर्मसाधना, पृ० 78) 'हठयोग प्रदीपिका' (३।४६।४८) का एक प्रसंग उद्धृत करते हुए लिखा है कि "ये लोग अधिकाधिक उत्साह के साथ सीधी बात को भी उलट के जटिल और गुंथीली बनाकर और आक्रामक तथा अक्कामार बनाकर कहते गये। कहने का ढंग कुछ विचित्र-सा था। गोमांस-भक्षण पाप है; लेकिन हठयोगी यही कहेगा कि नित्य गोमांस-भक्षण करना चाहिए, और अमर वारुणी का पान करना चाहिए; क्योंकि यही विष्णु का परम पद है और यही कुलीन का परम पद है।"

इस प्रकार परम्परागत कापालिकों की आचार-संहिता का मण्डन करने वाले इन हठयोगियों ने अपनी रक्षा करने के लिए अपने इन समाज-दूषित विचारों का समाधान अपनी उलटवांसियों मे इस प्रकार कर दिया। गो को उन्होंने जिह्वा कहकर उसे लपेटकर ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना गो-मांस-भक्षण में बदल दिया। इसी प्रकार उन्होंने तालुमूल में चन्द्र-स्थान की कल्पनाकर उससे निर्गत सोमरस को अमर वारुणी का प्रतीक मानकर निराकरण कर दिया। किन्तु वास्तविकता-गोपन का उनका यह प्रच्छन्न प्रयत्न उनकी असलियत की रक्षा न कर सका।

सहजयानियों की इन उलटबानियों को विद्वानों ने 'सन्ध्या भाषा' का नाम दिया है, अर्थात् सन्ध्याकालीन प्रकाश और अन्धकार की भाँति स्पष्टता-अस्पष्टता-समन्वित भाषा। अटपटे विचारों को व्यक्त करने के लिए इस भाषा का प्रयोग करनेवाले सहजयानी और वज्रयानी वस्तुतः बौद्धधर्म के विकृतावस्था के अन्तिम अवशेष थे, जिनको समाज में कोई प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त नहीं था, और जिन्होंने अपने आचरणों से बौद्धधर्म की उच्च मान्यताओं को नीचे गिरा दिया था और जो समाज में नैतिक निरंकुशता तथा आचारभ्रष्टता का प्रचार करके दायित्वहीन सामाजिकों का एक दल बनाने पर लगे हुए थे।

उन्होंने अपनी अटपटी भाषा और रंग-विरंगे विचारों के अतिरिक्त अपनी विचित्र साधना-पद्धति द्वारा भी समाज में अपनी विचित्रता का स्वांग भरा हुआ था। कापालिकों और नीलपटों का सम्प्रदाय इसी प्रकार के मिथ्यावादियों के गुट थे, जिन्होंने समाज में अपने अनैतिक आचारों को प्रभावशाली ढंग पर फैलाया हुआ था।

कापालिक

तान्त्रिकों में एक सम्प्रदाय कापालिकों का भी प्रचलित हुआ। उसका प्रभाव बहुव्यापी है। कापालिक मतानुयायी साधक शिव-संयुक्त शक्ति के उपासक थे। उनके मत से परम शिव ही नाम तथा रूप से प्रतीत जगत् के एकमात्र कारण हैं। वे निर्गुण, निरंजन, निष्क्रिय होते हुए भी ज्ञेय हैं; किन्तु उपासना के विषय नहीं हैं। उपासना का विषय शक्ति है। इस दृष्टि से ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के रूप में अथवा देवताओं की पत्नी रूप में नाना नाम-रूप देवियों की आराधना-उपासना का प्रचलन हुआ। देवताओं की भाँति इन देवियों की संख्या भी अनन्त है। उनमें प्रमुख सप्त मातृकाएँ हैं, जिनके नाम हैं—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐन्द्री। इनके अतिरिक्त भयंकर एवं रुद्ररूपा शक्तियों की भी कल्पना की गयी। इस प्रकार की शक्तियों में काली, कराली, चामुण्डा तथा चण्डी आदि देवियों की उपासना होने लगी। इनके साथ ही कुछ ऐसी देवियों का भी आधान किया गया, जो विलासिता एवं कामकला की सूचक थी। इस प्रकार की देवियों में आनन्दभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी और ललिता आदि का नाम प्रमुख है। उनकी उपासना का आधार तान्त्रिक था। भैरवी-चक्र के उपासक ये तान्त्रिक कौलिक एवं कापालिक कहलाये।

इन वाममार्गियों के दो सम्प्रदाय हैं। प्राचीन मत के अनुयायी कापालिक स्त्री का योनि-प्रतीक बनाकर उसकी पूजा करते थे और दूसरे नवीन सम्प्रदाय के अनुयायी स्त्री की वास्तविक योनि के पूजक हैं। इस पूजन के समय वे मद्य-मांस का भक्षण करते हैं और किसी प्रकार के भेद-भाव को नहीं मानते।

मध्ययुगीन साहित्य में इन कापालिकों की बहुविध चर्चा हुई है। वैचारिक दृष्टि से वे लोकायतिकों की परम्परा के अनुयायी और सहजयान की विकृतावस्था के सूचक हैं। मध्ययुगीन संस्कृत-साहित्य की विभिन्न कृतियों में उनके आचार-विचारों का सम्यक् चित्रण हुआ है। कृष्णमिश्र (12वीं शती)

कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में सोमसिद्धान्त नामक कापालिक के वर्णन में कहा गया है कि वह मद्यपान करता है और स्त्रियों के साथ स्वतन्त्र होकर यौनाचार करता हुआ सहज ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार जैनाचार्य पुष्पदन्त (10वी शती) के 'महापुराण' में भी कापालिकों का उल्लेख हुआ है और सर्वत्र ही उन्हें मद्यपायी तथा स्त्रियो के साथ विहार करने वाला बताया गया है। भवभूति (7वीं शती) के 'मालतीमाधव' पर भी कापालिको का प्रभाव लक्षित होता है। उसमें सौदामिनी नामक एक बौद्ध भिक्षुणी को श्रीपर्वत पर कापालिक साधना करते हुए दिखाया गया है। यह श्रीपर्वत मध्ययुग का प्रसिद्ध तन्त्रपीठ था। बाण के 'हर्षचरित' में उसे शाक्ततन्त्र का साधना पीठ कहा गया है। इसी श्रीपर्वत को वज्रयान का उत्पत्ति-स्थान बताया गया है।

कापालिको का वर्णन करनेवाले मध्ययुगीन ग्रन्थों मे राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' सट्टक का नाम उल्लेख्य है। उसमे भैरवानन्द नामक एक तान्त्रिक अपनी तन्त्र-शक्ति के बल पर अनेक प्रकार के अद्भुत करिश्मे दिखाता है। वह अश्लीलता तथा अनैतिकता का प्रतिनिधि है। उसका कहना है कि 'हम तन्त्र-मन्त्रादि कुछ भी नही जानते है; न गुरु-कृपा से हमे कोई ज्ञान प्राप्त हुआ है। हम तो मद्यपान और स्त्री-गमन करते हैं और कुल मार्ग का अनुगमन करते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं। कुलटाओं को दीक्षितकर हम उन्हे अपनी पत्नी बना लेते हैं। हम लोग मद्य पीते है और माँस-भक्षण करते है। भिक्षा-से प्राप्त अन्न ही हमारा भोजन है और चर्मखण्ड ही हमारी शय्या है। बताओ तो ऐसा सुन्दर कौलधर्म किसको प्रिय न होगा ?'

नीलपट सम्प्रदाय

मध्य युग के वाममार्गी तान्त्रिक सम्प्रदायो मे नीलपट नाम से एक नया सम्प्रदाय प्रकाश में आया, जिसका यद्यपि कोई साहित्य उपलब्ध नही है; किन्तु जिसके सम्बन्ध मे प्राप्त उल्लेखों से उसके अस्तित्व का पता चलता है। जैनो के प्रबन्ध ग्रन्थ से पता चलता है कि ये नीलपटधारी लोग नितान्त भोगवादी थे और खाओ, पीओ तथा मौज उड़ाओ मे विश्वास करते थे। उनमे एक ही नीले वस्त्र में लिपटे स्त्री-पुरुषों के नग्न जोड़े भोग-विलास में लिप्त रहते थे। जैनो मे ही नही, सम्मितीय बौद्धों मे भी इस प्रकार का नीलपट सम्प्रदाय था, जो नीलाम्बर धारण करके वेश्या, सुरा और काम-सेवन को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानता था।

वाममार्ग से प्रभावित कामसमन्वित श्रृंगारमूर्तियाँ

मध्ययुगीन भारत में वाममार्गी तान्त्रिक कापालिकों, कौलिकों तथा नीलपटों का प्रभाव कला पर भी व्यापक रूप से परिलक्षित हुआ। भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में बहुसंख्यक ऐसी नर-नारी मूर्तियाँ निर्मित हुई हैं; जिनमें कामकला सम्बन्धी उत्कट श्रृंगार का अभिव्यंजन हुआ है। ये मूर्तियाँ देव-मन्दिरों पर उत्कीर्णित हैं और अपनी भव्यता तथा यथार्थ भावाभिव्यक्ति में अनुपम हैं। इन मूर्तियों का निर्माण शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुरूप हुआ है और उनके अंग-प्रत्यंग के उभार में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया गया है।

मानव-समाज में ही नहीं, अपितु समस्त प्राणी जगत् में रति-क्रिया को एक नियति के रूप में स्वीकार किया गया है। मानव-जीवन के लिए उसे एक अनिवार्य अनुष्ठान माना गया है। बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय और तन्मात्राओं से अधिष्ठित इस पंचभौतिक जगत् के विकास में नर-नारी का संयोग विद्यमान है। प्रत्येक स्त्री, पुरुष में इस संयोग की प्रवृत्ति रागात्मिका वृत्ति के कारण होती है, जो कि प्रत्येक स्त्री, पुरुष में प्रकृत रूप में विद्यमान रहती है।

काम मनसिज या सकल्पयोनि है। मन का अधिष्ठान मन्यु है। मन्युभाव के लिए जायाभाव की आवश्यकता होती है। मन्युभाव और जायाभाव ही पुरुष-प्रकृति है। मन्युभाव से अधिष्ठित मन ही काम-सकल्प की सृष्टि करता है। उसकी यह सृष्टि अमृतमयी या आनन्दमयी है। कामरूप परमेश्वर उस आनन्द का अधिष्ठान है। इस भौतिक सृष्टि में पति-पत्नी का दाम्पत्यभाव उस आनन्द की चरम परिणति है।

काम का एक रूप आनन्दविधायिनी कला के रूप में लोकसम्पूजित है। कला के रूप में काम का चित्रण एवं अंकन न केवल कलाकारों ने, अपितु साहित्यकारों ने भी अपनी कृतियों का माध्यम बनाया। अनग और अरूप होने पर भी उसकी अनन्त एव सार्वभौमिक सत्ता मानी गयी है। कला के रूप में काम का अधिष्ठान, चित्र, मूर्ति, नृत्य, संगीत आदि सभी क्षेत्रों में स्वीकार किया गया है। काम के साथ-साथ उसकी सहचरी रति-प्रीति का भी व्यापक रूप से अंकन हुआ है। भारतीय दृष्टि से काम के द्वारा ही काम-मुक्ति सम्भव बतायी गयी है। जिस प्रकार चौसठ योगासनों से उपासक ब्रह्म में विलीन

हो जाता है, ठीक उसी प्रकार उतने ही कामासनों द्वारा मनुष्य परमानन्द को उपलब्ध करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार की काम-समन्वित मूर्तियों का निर्माण कोणार्क, भुवनेश्वर, खजुराहो और जमसोत आदि के मन्दिरों में विशेष रूप से हुआ है। इन मूर्तियों में अभिव्यक्त विभिन्न प्रकार के आलिंगनों तथा आसनों में पार्थिव आनन्दातिरेक और परमात्मा में विलीन होते हुए आत्मा के परमानन्द का भाव दर्शित किया गया है। इस मूर्ति-सम्पदा मे मिथुन मूर्तियों का विशेष महत्त्व है। उनमें अनुपम शैल्पिक सौन्दर्य और अपरिमित भावाभिव्यंजन दर्शित है। उनका वाह्याभिव्यंजन इतना तीव्रतम, रसभावातिरेक-समन्वित और उत्कट राग-रंजित है कि उनमें मानवीय शृंगार-प्रेम की समस्त कोटियाँ पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेती हैं और इस रूप में वे तात्त्विक पूर्णता में परिणत हो जाती हैं। ये मूर्तियाँ बौद्ध वज्रयान और सहजयान की वैभवावस्था को ध्वनित करती हैं।

इस तान्त्रिक सहजयान का प्रभाव उक्त देव-मन्दिरों के अतिरिक्त गुप्तयुगीन देवगढ़ के मन्दिरों और बंग, कलिंग, एलोरा, एलीफैण्टा और बादामी के कला-केन्द्रों मे भी व्याप्त है। इन कला-केन्द्रों की शिव-पार्वती की मूर्तियों में दर्शित काम-भाव वस्तुतः पार्थिवता में अपार्थिवता के समन्वय का प्रतीक है। इस दृष्टि से एलोरा स्थित शिव-पार्वती की वह युगल-मूर्ति विशेष आकर्षण का केन्द्र है, जिसमें शंकर की बाईं जाँघ पर बैठी पार्वती शीशे मे अपनी छबि निहार रही हैं और शिव का आलिंगनबद्ध हाथ की उँगलियाँ पार्वती के कपोलों का स्पर्श कर रही हैं। उनके दूसरे हाथ में आधृत नील कमल विश्व की उन्मीलित आनन्दावस्था का प्रतीक है। शिव के इसी भाव का उद्गायन शंकराचार्य की 'आनन्दलहरी में हुआ है। शिव-संयुक्त त्रिपुरासुन्दरी का यह शक्ति अभिप्राय अत्यन्त ही लोकप्रिय रहा है।

बौद्ध तन्त्रयान के काम-भाव की अतिशयता को द्योतित करने वाली कला-सृष्टि भारत मे विभिन्न अञ्चलो में व्यापक रूप से प्रकाश में आयी। बंगाल से काश्मीर तक और महाराष्ट्र-गुजरात से तिब्बत-नेपाल तक के विस्तृत भू-भाग के पायी जाने वाली काम की विभिन्न दशाओं को अभिव्यंजित करनेवाली सहस्रों मूर्तियाँ सहजयान की व्यापकता को ध्वनित करती हैं।

मध्ययुगीन संस्कृति की अन्तश्चेतना का स्रोत भक्ति आन्दोलन

धार्मिक एकता का अभियान

मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति को उज्जीवित करके उसे जन-जीवन की निष्ठाओं के अनुरूप अग्रसर करने में तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। *भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत धर्म रहा है। धर्म का आधार* ईश्वर या भगवान् है। उसको अनेक रूपों मे खोजा और पाया गया है। उसके दो मुख्य रूप हैं–निर्गुण और सगुण। निर्गुण ईश्वर रूप-नाम से रहित केवल आत्मा की अनुभूति का विषय है; ज्ञानियो द्वारा बोधगम्य है। वह निराकार ब्रह्म है। सगुण ईश्वर नाम-रूप से व्यवहृत है। उसे आँखों से देखा जा सकता है और नामो से पुकारा जा सकता है। उसको पाने के लिए न तो ज्ञान की आवश्यकता है और न पाण्डित्य की अपेक्षा। वह सब के लिए समान रूप से ग्राह्य और आराध्य है। किसी ने उसे स्वामी के रूप में भजा, किसी ने सखा के रूप में और किसी ने प्रिय के रूप में पाया। वह भाव-गृहीत है। ऐसे सगुण ईश्वर को पाने के लिए किये गये भाव-प्रयत्न ही भक्ति है।

भक्ति की यह भावधारा भारतीय जनता की प्राणदायिनी शक्ति बनकर समय-समय पर उसको उद्‌बोधित एवं प्रेरित करती रही है। 10वी और 12वी शती ई० में जबकि समस्त उत्तर भारत और सुदूर-दक्षिण तक महमूद गजनवी और मुइज़्ज़ुद्दीन गोरी के आक्रमणो से जनता त्रस्त, भयभीत और आत्मरक्षा के लिए आकुल थी, दक्षिण भारत में चोलो के शासन (9वी से 12वी श०) में भक्ति की एक नयी धारा का उदय हुआ, जिसके नेता थे नम्मालवार। वे पोइहे, पूदत्त तथा पे आदि आलवार भजनीकों की उस परम्परा के अन्तिम केन्द्र-बिन्दु थे, जिन्होंने सारे दक्षिण में घूम-घूमकर अपने हृदयग्राही भजनों के गायन से जनता को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया हुआ था। दक्षिण में, विशेषतः वर्तमान तमिलनाडु मे वैष्णव और शैव मतो के अनुयायी अनेक भक्त गायकों का उदय हुआ, जो वैष्णव तथा शाक्त मन्दिरो में मण्डलियाँ बनाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भगवान् की लीलाओं को गा-गाकर अपने उपास्य के प्रति अपनी अगाध भक्ति का परिचय देते रहे। उनमें समाज के सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे। उनके भजनों का आधार 'रामायण', 'महाभारत' और पुराण थे।

आलवार भक्तों की यह परम्परा लगभग 7वीं शती ई० से प्रारम्भ हुई थी। उन्होंने अपनी कोमल रससिक्त प्रेममयी वाणी द्वारा जनता में एक ऐसी

सगुण ईश्वर-भक्ति का प्रचार किया, जो अत्यन्त कृपालु और दया का सागर है और जिसके अनुग्रह को केवल प्रेम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। दक्षिण का यह भक्ति-आन्दोलन जातीय तथा क्षेत्रीय संकीर्णताओं से ऊपर उठकर वस्तुतः एक ऐसे सार्वजनीन मानवीय धर्म के रूप में विश्रुत हुआ, जिसमें ब्राह्मणधर्म, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड और वर्ण-व्यवस्था के प्रतिबन्ध नहीं थे। उसमें छोटे-बड़े, धनी-निर्धन और अनपढ़-पढ़ेलिखों की विषमताएँ नहीं थी। उन्होंने मनुष्य मात्र को समान दर्जा दिया और सभी को परमेश्वर की दया प्राप्त करने का समान अधिकारी बताया।

सन्त नम्मालवार ने अपने 'तिरुविरुत्तम्' नामक ग्रन्थ मे तथा पेरिया और गोंदा आदि आलवार भजनीकों के पदों मे मानव के प्रति भगवान् की इसी दया-अनुकम्पा का गुणगान किया गया है। उनके बाद उनके शिष्य नाथमुनि (10वी श० ई०) ने आलवार सन्तो के भजनो का एक संग्रह संकलित किया। इन भजनों (प्रबन्धों) को आज भी वहाँ के मन्दिरों मे बडी निष्ठा एवं तन्मयता से गाया जाता है। भक्तप्रवर नाथमुनि के बाद उनके पुत्र यामुनाचार्य हुए, जो कि विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके मत का व्यापक प्रवर्तन उनके अनुज प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य रामानुज ने किया। उन्होंने सर्व प्रथम परम्परागत धार्मिक रूढ़ियो को भी उदार बनाया। उन्होने मन्दिरो की पूजा-विधि में नया सुधार किया और यह व्यवस्था दी कि वर्ष में एक दिन मन्दिरो को अन्त्यजों के प्रवेश के लिए खाल दिया जाय। रामानुज के इस धार्मिक औदार्य का व्यापक प्रभाव पड़ा। ये सभी सन्त चोल शासको के समय हुए, जो कि स्वय भी उदार तथा सहिष्णु थे।

दक्षिण भारत मे आलवारों का भक्ति-आन्दोलन वस्तुतः परम्परागत वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप था। 10वी शती के लगभग प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्र कांची मे 'भागवत' की रचना हो जाने के बाद आलवारधर्म का भागवतधर्म मे विलय हो गया। इस प्रकार दक्षिण से भक्ति की जो भावधारा बही उसने न केवल सकटग्रस्त भारतीय धर्म के ह्रास को बचाया, अपितु उससे साहित्य तथा कला के क्षेत्र मे भी उन्नति हुई। इस नये समन्वित धार्मिक आन्दोलन के प्रभाव से वैष्णव, शाक्त, जैन और बौद्ध धर्मों में जो अलगाव तथा पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना का भाव था, वह भी दूर हो गया।

रामानुजाचार्य

मध्ययुगीन भारत में इस नये धार्मिक समन्वय का नेतृत्व किया रामानुजाचार्य (1027-1137 ई०) के 'विशिष्टाद्वैतवाद' ने। वे गृहस्थ से संन्यासी

हो गये थे। उनसे पूर्व दक्षिण में आलवार भक्तों ने तमिल भाषा में भक्ति का प्रचार-प्रसार किया था। रामानुज ने उपनिषद्, 'गीता' और 'ब्रह्मसूत्र' के सिद्धान्तों से उसको अधिक गहन तथा मान्य बना दिया। इस प्रकार आलवार भक्ति-परम्परा में प्रस्थानत्रयी के सहित तमिल प्रबन्धों को भी उभय वेदान्त के नाम से कहा गया। रामानुज ने 'महाभारत' के पाँचरात्र मत का विकासकर वैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की और उसे 'भागवत' की कृष्णभक्ति के साथ समन्वित करके सर्व सहज बना दिया।

रामानुज का यह विशिष्टाद्वैत वस्तुतः शंकराचार्य के दुरूह अद्वैत का सामाजिक सामान्यीकरण था, जिसका दक्षिण से उत्तर की ओर बड़ी त्वरित गति से प्रचार-प्रसार हुआ।

शंकर और रामानुज ने जिस धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया उसमे कुछ अन्तर है। 'ब्रह्मसूत्र' की विष्णुपरक व्याख्या करनेवाले प्रथम विद्वान् यामुनाचार्य हुए और तदनन्तर उसको व्यापकता प्रदान की 'रामानुजाचार्य' ने। उन्होने ही सर्व प्रथम दार्शनिक विचारो द्वारा वैष्णव धर्म को परिमण्डित करके उसकी लोकप्रियता को बढ़ाया। शंकराचार्य का ब्रह्म अद्वैत है। उससे भिन्न कुछ नही है। किन्तु रामानुज के मत से ब्रह्म वह है, जिसमें अन्य पदार्थ भी समन्वित है और जो उसी के द्वारा बृहत् होते हैं। रामानुज के अनुसार ब्रह्म, चिन्मय आत्मा और जड प्रकृति, दोनो में विद्यमान है; किन्तु वह उन दोनों से 'विशिष्ट' है। आत्मा (जीव) और प्रकृति इन दोनों पदार्थों से अद्वैत, किन्तु दोनों से विशिष्ट होने के कारण रामानुज ब्रह्म का 'विशिष्टाद्वैत' स्वीकार करते हैं। उनका ब्रह्म, जगत् में व्याप्त है और उससे पर भी हैं। वह अपनी इच्छा-शक्ति से जगत् को उत्पन्न करता है। वह उपासना का विषय है और धार्मिक साधना का लक्ष्य भी।

शंकराचार्य की दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नही। अतः समस्त जगत् और-जागतिक प्रपञ्च सब मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुज जगत् को मिथ्या बताये बिना अद्वैत ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके मत से ब्रह्म एक है और उसमें आनन्दस्वरूप ईश्वर, चेतन आत्मा और जड़ प्रकृति ये पदार्थ हैं। जो सम्बन्ध आत्मा का शरीर से है वही सम्बन्ध ईश्वर का आत्मा तथा प्रकृति से है। जिसे हम ब्रह्म कहते हैं, वह ईश्वर से भिन्न नहीं है। रामानुज के मत से आत्मा, प्रकृति और ईश्वर, इन तीनों की समष्टि का नाम ही ब्रह्म है।

शंकर ने ऐसे ब्रह्म का निरूपण किया है, जो शुद्ध, एकाकी, निर्विकार और अमूर्त है। वह स्वयं निर्गुण है। अतः उसमें मनुष्य की दुर्बलताओं को दूर करने के कोई उपाय नहीं हैं। इसके विपरीत रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म को प्रेममय और उसे मनुष्य की दुर्बलताओं को दूर करनेवाला शिवमय और सुन्दरतम कहा गया है। उसे प्रेम, सेवा और सहयोग से प्राप्त किया जा सकता है। रामानुज ने धर्मानुशासित जीवन से ही ईश्वरानुग्रह की उपलब्धि बतायी है। उसमें कर्मों के प्रतिफल का प्राविधान होने के कारण सामाजिक जीवन में कर्मनिष्ठा को बल मिला और उससे पारस्परिक अनुराग-प्रेम का भाव उत्पन्न होकर मनुष्य का नैतिक स्तर उन्नत हुआ। इस प्रकार रामानुज ने शंकर के अद्वैत को लोक सहज बनाकर ऐसे नये धार्मिक पन्थ को जन्म दिया, जिसमें पारस्परिक प्रीति एवं मैत्री की प्रधानता है। उन्होंने शांकर वेदान्त का खण्डन करके सगुण भक्ति को ही मोक्षप्राप्ति का सर्वोत्तम एवं सर्व सुलभ मार्ग बताया।

रामानुज ने शंकराचार्य की भाँति अपने मत के प्रचार के लिए दक्षिण तथा उत्तर भारत के ऐतिहासिक, धार्मिक स्थलो, ज्ञानकेन्द्रों और नगरों का परिभ्रमण कर तत्कालीन दार्शनिको से शास्त्रार्थकर विरोधियों को पराजित किया और अपने सर्वग्राह्य लोकधर्म की प्रतिष्ठा की। उन्होंने शंकराचार्य की ही भाँति अनेक मठ-मन्दिरों तथा ज्ञान-केन्द्रों की स्थापना की और वहाँ सुयोग्य व्यक्तियो की नियुक्तिकर उनके द्वारा सामाजिक विषमताओं तथा धार्मिक संकीर्णताओं को दूर करने का देशव्यापी आन्दोलन चलाया। कहा जाता है कि उन्होंने एक मुसलिम महिला से विवाहकर दोनो धर्मों मे एकता स्थापित करने का सराहनीय कार्य किया था। अपने शिष्यो मे उन्होने ब्राह्मणातिरिक्त निम्न जातियो के लोगो को भी स्वीकार किया। श्रीरंगपट्टम् के मालीकोट मन्दिर में उन्होने अन्त्यजों को पूजा का अधिकार दिया। इस प्रकार एक आध्यात्मिक नेता के रूप में आचार्य रामानुज ने मध्ययुगीन भारत का सफल नेतृत्व किया।

रामानुजाचार्य के बाद उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उनके उदार धार्मिक विचारों का अधिक प्रभावशाली ढंग पर प्रचार-प्रसार किया। उनके प्रमुख अनुयायियो में मध्वाचार्य (13वी शती), निम्बार्काचार्य (13वी शती), लोकाचार्य (13वी शती), वेदान्तदेशिक (14वी शती), वेवराजाचार्य (14वीं शती) और वरदाचार्य (14वीं शती) आदि का नाम उल्लेखनीय है।

रामानन्द

रामानुज और उनके अनुयायियों द्वारा वैचारिक तथा सामाजिक उदारता के बावजूद मुसलमानों के धर्मद्रोह की भावना में कमी नहीं आयी थी। उनके उत्पात दक्षिण तक प्रचारित हो चुके थे। उनके द्वारा लूट-पाट ध्वंसलीला और अत्याचारों की निरन्तर वृद्धि हो रही थी। यह स्थिति सारे भारत में व्याप्त हो गयी थी। अनेक लोगों को प्राणरक्षा के लिए घर छोड़ने को विवश होना पड़ा। ठीक इसी धर्मद्रोह के विनाशकारी समय में दक्षिण भारत में एक नयी ज्योति का आविर्भाव हुआ, जिसका नाम था रामानन्द (1299-1410 ई०)। उन्होंने तत्कालीन देशव्यापी सामाजिक, परिस्थिति की निकटता और देश की निरन्तर बिगडती हुई दशा को देखकर रामानुज द्वारा प्रवर्तित धर्म को अति उदार और सर्वसहज बनाया। विरोधी इस्लाम धर्मानुयायियों द्वारा जो धार्मिक संकीर्णता, वर्गवाद और जातीय अहम्मन्यता का विष-वमन किया जा रहा था, और जिसके फलस्वरूप असहाय हिन्दू जनता प्राणरक्षा के लिए कोई उपाय न देखकर धर्म-परिवर्तन करने तक को उद्यत थी, आचार्य रामानन्द ने सर्व-धर्म-समन्वय का अपना नया अभियान चलाया और उसके अन्तर्गत सभी जातियों, धर्मों तथा मतों के लोगों को सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। उन्होने धर्म के उदात्त पक्ष को जनता के समक्ष रखा। उन्होंने जिस कड़ाई से हिन्दुओं के कर्मकाण्ड तथा पुरोहित, पुजारीवाद का खण्डन किया उसी निष्पक्षता से इस्लाम की संकीर्णताओं तथा कट्टरताओं की भी कटु आलोचना की। उनकी समन्वयात्मक धर्म-पद्धति के कारण परम्परागत रूढियों और वर्गवाद में शिथिलता का वातावरण उत्पन्न हुआ। दक्षिण में शूद्रों को धार्मिक समानता दिलाने का क्रान्तिकारी कार्य सर्व प्रथम रामानन्द के प्रभाव से ही सम्भव हो सका। उन्होने कर्मकाण्ड की पद्धति को दूषित घोषित किया और यहाँ तक व्यवस्था दी कि वैदिक परम्पराओं को अपनाना युग के अनुरूप नही है। उनके द्वारा प्रचारित नये समाजवादी ढाँचे में परिवार, जाति और वैवाहिक सीमा-रेखाओं का कोई स्थान न था।

शंकराचार्य और रामानुजाचार्य की भाँति रामानन्द ने भी सारे देश का भ्रमण किया और परम्परागत वैदिक व्यवस्था के प्रबल समर्थक विजयनगर के प्रसिद्ध विद्वान् मध्वाचार्य, बंगाल के प्रसिद्ध मीमांसक कुल्लुक भट्ट और मिथिला के प्रकाण्ड विद्वान् चण्डेश्वर प्रभृति सम-सामयिक धर्माचार्यों के विचारो का प्रबल विरोध किया। उत्तर और पूर्वी भारत के अनेक नगरों में उन्होंने सभाएँ

आयोजित करके बौद्ध तन्त्रवाद की प्रबल आलोचना की और बौद्ध तान्त्रिकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उनका यह धार्मिक आन्दोलन दक्षिण तथा उत्तर का सेतु बनकर समस्त भारत में व्याप्त हुआ।

सन्त रामानन्द के इस धार्मिक सुधार से प्रभावित होकर निम्न जातियों के अनेक ऐसे सन्तों, महात्माओं और भक्तों का उदय हुआ, जिन्होंने रामानन्द की वर्ण-संकीर्णता के विरोध को अपनी ओजस्वी वाणियों, शब्दों, साखियों, रमैनियों तथा पदों द्वारा अभिव्यंजितकर लोकमानस को अतिशय रूप से प्रभावित किया।

समाज-सुधारक सन्त रामानन्द के इस क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलन के परिणामस्वरूप भारत की परम्परागत धार्मिक पद्धति युग की प्रवृत्तियों एवं निष्ठाओं के अनुरूप प्रतिफलित हुई। उससे भारतीय इतिहास में एक ऐसे मानवधर्म की प्रतिष्ठा हुई, जिसको भारत की समस्त जनता ने स्वेच्छा से अपनाया। भारत जैसे देश में, जहाँ कि वर्णाश्रम की कट्टरताओं में सामाजिक ढाँचे की एकता को विच्छिन्न कर दिया था, सन्त रामानन्द के प्रभाव से वह पुनर्जीवित हुई। इस धार्मिक आन्दोलन से मध्ययुगीन भारत में पहली बार द्विजों, शूद्रों और स्त्रियों को धार्मिक समानता की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। उनके इस मानवतावादी धार्मिक स्वातन्त्र्य से प्रभावित होकर अनेक वर्णों, जातियों, मतों तथा वर्गों के लोग उनके अनुयायी हो गये। नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुसार रामानन्द की शिष्य-परम्परा में अनन्तानन्द, कबीर, सुखानन्द, सरसुरानन्द, पीपा, भवानन्द, रैदास धन्ना, सुरसुरी, सेना, सदना आदि का नाम उल्लेखनीय है। उनके ये शिष्य हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों से सम्बद्ध थे। उनमें जुलाहा, चमार, जाट, कसाई और राजपूत आदि विभिन्न वर्णों एवं वर्गों के लोग थे। उन्होंने स्त्रियों को भी अपने धार्मिक पन्थ में सम्मिलित किया और गंगा नाम की वेश्या तक को अपनी शिष्या बनाया। इन निम्न जातियों के अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण भी उनके शिष्य थे।

रामानन्द के धार्मिक सुधारों की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप मुसलमानों और हिन्दुओं में निकटता का भाव पैदा हुआ। जात पाँत की विषमताओं में शिथिलता आयी और वर्गभेद की बढ़ती हुई धारणाएँ उन्मूलित हुईं। उनके विचारों को हिन्दू, मुसलमान, दोनों धर्मों के अनुयायियों ने व्यापक रूप से अपनाया। अछूतों तथा नारी वर्ग के लोगों पर भी उसकी प्रतिक्रिया हुई। सिक्ख भी उनके प्रभाव से अछूते न रहे। उन्होंने भी अपने 'आदिग्रन्थ' की पवित्र

वाणियों में रामान्द के पदों को ईश्वरीय वाणियों के रूप में संकलित किया। वास्तविकता यह है कि समस्त भारतीय जनता को प्रभावित करने और नये धार्मिक जागरण से जन-जन के मानस को आन्दोलित करने में रामानन्द की वाणी ने अभूतपूर्व कार्य किया।

सन्तप्रवर रामानन्द के इस धार्मिक आन्दोलन ने चार नयी भक्ति-धाराओं को जन्म दिया, जिन्होंने राष्ट्रीय जीवन को पारस्परिक एकता तथा निकटता में आबद्ध किया। उन्होंने सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों में भी सामंजस्य स्थापित किया। ये चार धार्मिक धाराएँ थी—रामभक्ति, कृष्णभक्ति, सन्तमत (नाथपन्थ) और सूफी रहस्यवाद। इन चारों धार्मिक पन्थों का जन्म जनता की नवीन धर्मरुचि के कारण हुआ और इसलिए उनका समस्त साहित्य जनवाणी में ही लिखा गया। रामानन्द की इस पुनर्गठित धार्मिक व्यवस्था ने सामाजिक सद्भाव की जो सुदूरगामी समन्वयात्मक भूमिका का निर्माण किया, उसका इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है कि उससे लोक-भाषाओं के साहित्य की अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई। इस देशव्यापी आन्दोलन के प्रभाव से 14वीं शती से हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती और तमिल आदि प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य का जो नव-निर्माण होना आरम्भ हुआ उसकी परम्परा निरन्तर आगे बढ़ती हुई आज तक पहुँची है।

रामानन्द ने आज से लगभग साढ़े पाँच सौ वर्ष पूर्व जिस धार्मिक जागरण का सूत्रपात किया था, उसने उत्तरोत्तर राष्ट्रीयता का पथ आलोकित किया। वर्तमान भारत की धर्म-निरपेक्षता वस्तुतः अतीत काल से चले आ रहे सन्तमत की समानता एवं एकता का ही सुफल एवं रूपान्तर है। मानव मात्र में समानता स्थापित करने और सब को आत्मोन्नति की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करने में सन्तों के आन्दोलन ने जिस सार्वभौम धर्म की प्रतिष्ठा की, वही आज के भारत का समाजवाद है।

भक्ति की विभिन्न धाराओं का उदय

भारत में शाहेंशाह बाबर के शासनारूढ़ होने के साथ 16वीं शती के लगभग से मुगल युग का आरम्भ होता है। इससे पूर्व महमूद गजनवी के भारत प्रवेश, लगभग 10वीं शती से और तदनन्तर मुहम्मद गोरी के आक्रमणों, अर्थात् 12वीं शती से लेकर 16वीं शती के आरम्भ तक की अवधि भारत के लिए अत्यन्त ही विपत्तिग्रस्त रही है। इस बीच भारत को धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सभी दृष्टियों से व्यापक हानि उठानी पड़ी।

ठीक इसी समय दक्षिण से रामानन्द (14वीं शती) ने जात-पाँत की बढ़ती हुई विषमताओं के विरोध में धार्मिक समन्वय का सूत्रपात किया। उसका प्रभाव सारे देश पर पड़ा। उससे मुगल शाहँशाह भी प्रभावित हुए। अकबर का 'दीन-ए-इलाही' उसी का परिणाम था। दारा का 'मजमा-उल्-बहरीन' इसी हिन्दू-मुसलिम एकता अभियान का प्रतीक है। उत्तर भारत में उसका प्रवर्तन किया कबीर, तुलसी, नाभादास और मीराबाई आदि सन्तो तथा कवियो ने। ठीक यही धार्मिक समन्वय का कार्य महाराष्ट्र में सन्त नामदेव तथा उनके अनुयायियों ने किया। पश्चिम में इस धार्मिक एवं वैचारिक अलगाव को दूर करने के लिए सिक्खों के गुरु नानकदेव (1469-1539 ई०), बुल्लाशाह (18वी शती) तथा उनके अनुयायियों ने अपने मत का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। पूर्वी भारत में इस एकता आन्दोलन को उज्जीवित एवं प्रचारित किया चैतन्य महाप्रभु (1485-1533 ई०) तथा मुकुन्दराम (1593-1606 ई०), गणराम चक्रवर्ती, खेलाराम, मयूर भट्ट, रूपराम और कासीरामदास प्रभृति सन्तो ने। इस प्रकार समस्त भारत मे एक साथ इस भारतव्यापी धार्मिक आन्दोलन ने देश के सामाजिक तथा बौद्धिक पतन को रोकने के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसने जन-जन के भीतर राष्ट्रीयता, स्वाभिमान और परम्पराओ की रक्षा के लिए बलवती विचार-क्रान्ति का अभियान चलाया। इस सामूहिक अभियान के सुपरिणाम भी सामने आये। अपने लोकमगलकारी वाणियो को जनता तक पहुँचाने के लिए इन सन्तों, विचारको एवं कवियों, उपदेशकों ने लोकभाषाओं का आश्रय लिया, जिसके परिणामस्वरूप कन्नड, बंगला पजाबी, मराठी, हिन्दी और उनकी आचलिक बोलियो के साहित्य की अभिवृद्धि हुई।

सन्त रामानन्द ने दक्षिण मे जिस भक्तिधारा को जन्म दिया, उत्तर में आकर वह दो प्रमुख शाखाओ में विभक्त हुई। भक्तो की एक शाखा वह थी, जो वैदिक आचारो की समर्थक थी और जिसने परम्परा की आलोचना किये बिना उसी रूप मे उसको ग्रहण किया। भक्तो की दूसरी शाखा वह थी, जिसने परम्परा के विश्वासो एवं रूढियो की आलोचनाकर अपने नये मार्ग की स्थापना की। प्रथम परम्परा के भक्तों में तुलसीदास तथा सूरदास और दूसरी परम्परा के भक्तो में कबीर तथा रैदास आदि हुए। पहली परम्परा सगुणवादी और दूसरी निर्गुणवादी थी। निर्गुणवादी विचारधारा भी दो मागो मे विकसित हुई—ज्ञानमार्ग और प्रेममार्ग। इसी प्रकार सगुण विचारधारा का विकास भी दो शाखाओ में हुआ—रामभक्ति और कृष्णभक्ति।

दक्षिण से उत्तर भारत में जिस समय भक्ति का आगमन हुआ, वहाँ की सामाजिक परिस्थितियाँ दो भागों में विभक्त थी। राजनीतिक सत्ता मुसलमानों के हाथों मे थी; किन्तु बहुसंख्यक समाज हिन्दू था। ऐसी अवस्था मे धार्मिक परम्परा भी दो भागों में विभक्त हो गयी। वेदानुगत पौराणिक धर्म का परिमण्डन करनेवाले सगुणोपासक भक्तों ने किसी प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचना किये बिना राम और कृष्ण को अपना आराध्य मानकर परम्परानिष्ठ हिन्दू जनता को ऐसे समय नैतिक अवलम्ब दिया, जब विधर्मी प्रभुत्व के कारण हिन्दुत्व का प्रभाव क्षीणोन्मुख था।

दूसरे निर्गुणोपासक भक्तों ने परम्परागत देवी-देवताओं, अवतारों तथा कर्मकाण्ड, पुरोहित-पुजारीवाद के प्रति अविश्वास प्रकटकर और विशेष रूप से सामाजिक असन्तोष के कारण स्वयं को सगुणोपासकों से अलग कर दिया। निर्गुणोपासक भक्तों की यह परम्परा वस्तुतः परम्परागत साधना मार्ग का ही नवीनकरण था। मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ की योगमार्गिक अद्वैत साधना को निर्गुणोपासक भक्तो ने अपना आधार बनाकर एक नया पन्थ प्रचलित किया, जिसे 'सन्त मार्ग' का नाम दिया गया। हठयोगियो एवं सिद्धो का नाथपन्थ ही सन्त मार्ग के नये नाम से प्रकट हुआ। इसलिए नाथपन्थ में समाविष्ट परम्परागत शाक्तों, शैवो तथा बौद्धों की योगपद्धतियाँ और सहजयान, वज्रयान तथा तन्त्रमत की साधनाएँ सन्तमत में स्वयं ही अन्तर्भुक्त हो गयी। वस्तुतः दक्षिण की भक्तिधारा को उत्तर की नाथपन्थी योगधारा के साथ समन्वय का परिणाम ही सन्तमत है। यही कारण है कि इस मध्यमार्गी सन्तमत में एक ओर तो भक्ति की भावातुरता और दूसरी ओर योग-साधना की क्रियाएँ समन्वित हैं। भक्ति का यह उदार मार्ग ब्राह्मणो से लेकर चाण्डालो तक सबके लिए खुला हुआ था।

इन दोनों भक्तिधाराओं ने समाज को समान रूप से प्रभावित किया। भावनाप्रवण भारतीय समाज ने भक्ति के इन दोनों मार्गों को निष्ठा के साथ अपनाया। एक मार्ग ने अपने सगुण, साकार उपास्यदेव को नाना-नामःरूपों से अभिहित करके उसकी लोकोत्तर लीलाओं को अपनी आराधना का विषय बनाया। दूसरे मार्ग ने ऐसी सत्ता की उपासना को अपना लक्ष्य बनाया, जो निर्गुण, निर्विकार और अद्वितीय था। यद्यपि इन दोनों भक्ति-मार्गों से एक ही ईश्वर को दो विभिन्न रूपों में देखा गया; किन्तु अपने आराध्य-उपास्य से उनकी श्रद्धा, भक्ति, एवं आसक्ति एक-दूसरे से किसी भी प्रकार कम नहीं थीं।

"प्रेम दोनों का ही मार्ग था; सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों में से किसी को भी सम्मत नही था; आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों के साधन थे, अहेतुक भक्ति दोनों की काम्य थी; आत्मसमर्पण दोनों के साधन थे; भगवान् की लीला में दोनों विश्वास करते थे" (मध्ययुगीन धर्म साधना, पृ० 100)।

नामदेव

सन्त नामदेव का नाम रामानन्दी परम्परा के महाराष्ट्रीय सन्तों में उल्लेखनीय है। उनके समय महाराष्ट्र मे अलखनिरज नाथपन्थ और महानुभाव पन्थ का प्रचलन था। नाथपन्थी यौगिक साधना के समर्थक तथा बाह्याडम्बरों के विरोधी थे और महानुभावपन्थी वैदिक कर्मकाण्ड तथा बहु देवोपासना के विरोधी होते हुए भी मूर्तिपूजा को सर्वथा निषिद्ध नही मानते थे। इन दो धार्मिक पन्थों के अतिरिक्त महाराष्ट्र के पंढरपुर मे 'विठोबा' उपासना प्रचलित थी, जिसके दर्शनों के लिए प्रतिवर्ष यात्रा (वारी) होती थी। इन वारी करनेवाले लोगों का एक अलग ही सम्प्रदाय 'वारकरी' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय मे विट्ठल की उपासना की प्रमुखता थी। इसी विट्ठलोपासक वारकरी पन्थ मे सन्त नामदेव (1270-1350 ई०) हुए। वे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एव 'गीता' पर 'ज्ञानेश्वरी' टीका के रचयिता सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। जाति के वे दर्जी थे।

कहा जाता है कि नामदेव पहले-प्रसिद्ध डाकू के रूप मे प्रसिद्ध थे, किन्तु बाद मे वे पढरपुर के 'विठोबा' (विट्ठलमतानुयायी) भक्त बन गये। नाथपन्थी बिसोबाखेचर से उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार नामदेव की साधना में प्रेम और ज्ञान का एक साथ समन्वय हो गया। महाराष्ट्र मे प्रसिद्ध हो जाने के बाद नामदेव ने ज्ञानेश्वर के साथ उत्तर भारत की यात्रा की। किन्तु रास्ते मे ज्ञानेश्वर द्वारा समाधि धारण किये जाने के बाद नामदेव अकेले उत्तर भारत होते हुए पंजाब गये। वहाँ पर वे कुछ समय तक रहे। गुरुदासपुर के घोमाना नामक स्थान पर नामदेव की स्मृति का एक मन्दिर तथा उनके पन्थ के अनेक अनुयायी आज भी वहाँ वर्तमान हैं।

नामदेव की विट्ठल भक्ति में सगुण-निर्गुण का समन्वय है। एक ओर तो उसमें हठयोग की कुण्डलिनी योग साधना और दूसरी ओर प्रेमभक्ति की विह्वलता विद्यमान है। महाराष्ट्र से लेकर उत्तर भारत सहित पंजाब तक नामदेव ने अपने आराध्य विट्ठल की महिमा में कीर्तन का व्यापक प्रचार-प्रसार किया।

उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रचार कबीर से पूर्व नामदेव कर चुके थे। कबीर पर उनके विचारों की छाप स्पष्ट है। व्रत, तीर्थ तथा बाह्याडम्बरों के प्रति उपेक्षा का भाव कबीर को नामदेव से मिला। कबीर के भगवन्नाम तथा सतगुरु साधना को भी नामदेव के विचारों ने प्रभावित किया।

सन्त नामदेव ने मराठी तथा हिन्दी-साहित्य को अपनी वाणियों से समृद्ध किया। मराठी में उनके कई सौ अभंग और हिन्दी में सौ के लगभग पद हैं। उनके अभंगों को आज भी महाराष्ट्र में बड़ी निष्ठा के साथ गाया जाता है। सिक्कों के धर्मग्रन्थ 'गुरुग्रन्थ साहिब' में नामदेव के लगभग इकसठ पद संगृहीत हैं, जिन्हें कि आज भी कीर्तनो में गाया जाता है।

इस प्रकार सन्त नामदेव मध्ययुगीन भक्ति-परम्परा के प्रेरणा स्रोत और भारतीय संस्कृति की एकता के विधायक थे। उनका जीवन त्याग, परमार्थ तथा उच्चादर्शों से परिपूरित था और उनका प्रभाव उनके बाद भी भारत में व्यापक रूप से बना रहा। उन्होने जातीय एवं धर्म की असमानताओं को मिटाने में अपना जीवन राष्ट्र को समर्पित कर दिया था।

रामानन्द की परम्परा

सन्त रामानन्द ने जिस नये सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अभियान चलाया था, उसके संवाहक एवं उन्नायक थे कबीर, दादू और नानक। उन्होंने रामानन्द के एकता एवं धर्मनिरपेक्षता के अनुष्ठान को अपने अलग-अलग पन्थों के द्वारा प्रभावशाली ढंग से आगे बढ़ाया। उन्होंने विशेष रूप से सामाजिक भेद-भाव को बढावा देने वाले हिन्दू-इस्लाम दोनों धर्मों की विषमताओं को मिटाकर, उनके अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों की कट्टर आलोचना की। दोनों के बीच विभेद उत्पन्न करनेवाले कट्टरपन्थियों को तीखी फटकार बतायी। उन्होंने दोनों धर्मों में एकता स्थापन का प्रयास किया और सर्वसामान्य को ईश्वर प्राप्ति का सहज मार्ग दिखाया।

कबीर

सन्त कबीर (1410-1518 ई०) रामानन्द की परम्परा के स्तम्भ थे। जाति के वे जुलाहे थे और उनके सम्बन्ध में आज भी इस विवाद का समाधान नही हो पाया है कि वे हिन्दू थे या मुसलमान। वे स्वयं अनपढ़ (निरक्षर) थे। किन्तु जनता ने उनकी वाणियों को ईश्वरीय वाणी के रूप में अपनाकर उनके प्रति अपनी अगाध निष्ठा व्यक्त की।

मध्ययुगीन भारत की सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना का केन्द्र बनकर भारत की धर्मप्राण जनता में वे अवतारी महापुरुष के रूप मे सम्मानित हुए। वे एकता तथा समानता के पक्षपाती थे। उन्होंने ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र और धनी-निर्धन के आपसी भेद-भावों को त्याज्य घोषित किया। उनकी दृष्टि में 'जब ये सभी बर्तन एक ही मिट्टी के बने हैं और उनका बनाने वाला भी एक ही है, तब पारस्परिक भेद-भाव की विषमता क्यों ?' उन्होंने बाहरी वेश-भूषा, धार्मिक विडम्बना और मूर्तिपूजा, व्रत आदि पाखण्डों का तीव्र विरोध किया।

भारतीय सन्तो की परम्परा में उनका व्यक्तित्व सर्वथा विलक्षण और उनकी वाणियाँ निरालेपन का भाव संयोये हुए हैं। वे सार्वभौम विचारो के उदारमना महापुरुष थे। उनके महान् व्यक्तित्व में एक ओर तो शंकर के अद्वैत का दर्शन होता है और दूसरी ओर वैष्णव भक्तों की उत्कट भावातुरता समाविष्ट है। उनके विचारों मे बौद्धों, सिद्धो, नाथों, सूफियो और ईसाइयों के उच्च मानवीय आदर्शों का समन्वय है। उनका 'कबीर पन्थ' इस समन्वय का उन्नायक एवं प्रवर्तक बनकर आज तक अपनी परम्परा को सुरक्षित बनाये हुए है।

दादू

सन्त दादू (1544-1603 ई०) भी जाति के जुलाहे और कबीरपन्थी थे। उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी और उन्होंने अपनी वाणियों से भारतीय जन-जीवन को अतिशय रूप से प्रभावित किया। सम्प्रति उनका कोई प्रामाणिक जीवन चरित उपलब्ध नही है। उन्हें कोई गुजरात (अहमदाबाद) तो कोई उत्तर भारत (जौनपुर) का बताता है। इसी प्रकार किसी के मत से वे ब्राह्मण तो किसी के मत से धुसिया थे और किसी ने उन्हे मोची या जुलाहा सिद्ध किया है। उनके जीवन की ये विविधताएं वस्तुतः उनके सार्वजनिक लोकप्रिय व्यक्तित्व को ध्वनित करती हैं। कहा जाता है कि उनकी समाज-प्रतिष्ठा एवं लोकख्याति के कारण शाहँशाह अकबर ने उन्हे अपने धर्म-स्थान सीकरी मे आमन्त्रित किया था और लगभग चालीस दिनों तक उन्होने उनके सत्संग का लाभ उठाया था।

दयालुता, नम्रता और क्षमा के वे समुद्र थे। इसलिए समाज में वे 'दयाल' नाम से विश्रुत हुए। उन्होंने 'दादू पन्थ' के नाम से अपना एक नया सम्प्रदाय चलाया था, जिसके मूल विचार रामानन्दी थे और जिन पर कबीर के उदार मानवीय विचारों का प्रभाव था। उनका यह पन्थ द्वैतभावनाशून्य

(पक्षपात रहित) और सर्व सहज था। इस 'सकरे' पथ को सहज समर्पण, सुमिरन और सेवाभाव से प्राप्त किया जा सकता था। उनके इस पन्थ के उन्नायक शिष्यों की संख्या 52 या 152 बतायी जाती है। ये शिष्य विभिन्न धर्मों, वर्गों एवं जातियों से सम्बद्ध थे। उन्होंने एक ऐसे परात्मक परमेश्वर की प्रतिष्ठा की, जो शान्ति, सौहार्द्र तथा विश्वप्रेम के आगार हैं। उनके प्रमुख शिष्यों में सन्तदास, जगन्नाथदास, रज्जब और गरीबदास (पुत्र) का नाम उल्लेखनीय है।

सन्त दादू के प्रचार का क्षेत्र यद्यपि उत्तर भारत रहा; किन्तु उसका प्रभाव गुजरात, पंजाब तथा राजस्थान तक व्याप्त हुआ। वे हिन्दी, गुजराती, मराठी और फारसी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे और उनके विचारों का प्रभाव इन सभी भाषाओं के साहित्य पर परिलक्षित हुआ है।

नानक

गुरु नानक (1469-1539 ई०) रामानन्दी परम्परा के कबीरपन्थी सन्त थे। वे सिक्खों के धर्मगुरु थे। नानक का व्यक्तित्व अत्यन्त व्यापक एवं बहुमुखी था। वे एक सद्गृहस्थ होने के साथ-साथ धर्मगुरु, समाज सुधारक, देशभक्त, कवि, दार्शनिक और योगी सब कुछ एक साथ थे। इन अनेक गुणों से विभूषित उनका व्यक्तित्व न केवल भारत मे, अपितु बाहरी देशों में भी श्रद्धेय एवं पूज्य बना रहा।

उन्होंने सर्वहित भावना की दृष्टि से देश का व्यापक भ्रमण किया और अनेक धर्मस्थानों तथा विद्वानो का सत्संग किया। वे अरब, फारस तथा अफगानिस्तान तक गये और वहाँ भी जनता पर उनके विचारों का प्रभाव पड़ा। संकीर्णता और वर्गवाद के प्रति परम्परा से जो विरोध चला आ रहा था, उसको उन्होंने बड़ी सफलता से देशव्यापी बनाया। मूर्तिपूजा और रूढ़ियों का उन्होंने बहिष्कार किया। वाह्याचारों में उनकी कोई निष्ठा नही थी। एक सन्त एवं धर्मनेता होते हुए भी उनका तत्कालीन राजनीतिक जीवन से सदा सम्पर्क बना रहा। उन्होंने नारी को उच्च सम्मान दिया और सामाजिक जीवन में आगे बढ़ने के लिए उसको प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया।

गुरु नानक सर्वास्तिवादी विचारक थे। उनका धार्मिक नारा था 'ईश्वर सत्य है' (सत् श्री अकाल)। उनके विचारों में यही सार्वजनीनता थी। वे जितने सुन्दर वक्ता एवं उपदेशक थे, उतने ही सुन्दर प्रभावशाली कवि भी थे। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। उनकी काव्य-रचना में पंजाबी, सिन्धी, मुलतानी,

खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अरबी और फारसी का समन्वय है। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक समन्वय के साथ ही भाषा-समन्वय का भी अपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया।

वे अद्भुत संगठनकर्त्ता भी थे। सिक्ख सम्प्रदाय के संगठन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा; किन्तु उनका यह संगठन उदार एवं सहिष्णु आदर्शों पर आधारित था। उन्होंने मनुष्य-मनुष्य में एकता स्थापना का अद्भुत कार्य किया। अपनी इस समदृष्टि के कारण वे हिन्दू-मुसलमानों के इतने अधिक लोकप्रिय बन चुके थे कि जब उनकी मृत्यु हुई तब दोनों में यह विवाद उपस्थित हुआ कि उन्हें जलाया जाय या दफनाया जाय।

स्वामी प्राणनाथ

सन्तों की इस परम्परा में धामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथ (1618-1694 ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होने राष्ट्रीय एकता तथा सांस्कृतिक नवजागरण के परम्परागत धार्मिक अभियान को अपना पूर्ण योग दिया। वे फारसी, हिन्दी, गुजराती, अरबी, सिन्धी और सस्कृत आदि अनेक भाषाओं के विद्वान् थे। वे 'प्रणामी मत' या 'धामी सम्प्रदाय' के संस्थापक और कबीर, नानक तथा दादू की परम्परा के सन्त थे। प्रसिद्ध वीर पुरुष छत्रसाल बुन्देला ने उन्हें गुरु रूप मे वरण किया। उन्होंने हिन्दुओ के वेद, उपनिषद्, 'गीता', 'भागवत'; मुसलमानों के कुरान; ईसाइयो की 'बाइबिल'; पादरियों के जम्बूर और दाऊद पैगम्बर के तौरत आदि धर्मग्रन्थों के महान् मानवीय आदर्शों का सार-सग्रहकर विश्व-धर्म-समन्वय का अभियान चलाया था। मध्ययुगीन भारत मे दक्षिण तथा उत्तर का धर्म-सेतु बनकर उन्होने उत्तर भारत से लेकर गुजरात तक भ्रमण किया। उन्होने औरगजेब को सत्यधर्म का उपदेश दिया। अपनी वाणियो को फारसी मे लिपिबद्ध करके तथा कुरान की शरहो की नयी व्याख्या करके उन्होने औरंगजेब को सन्मार्ग पर लाने का अथक प्रयत्न किया था, किन्तु उन्हे सफलता नही मिली। उनका यह सम्प्रदाय व्यापक मानवधर्म का दर्पण था। उसका आधार परब्रह्म कृष्ण हैं, जिसको प्रेमलक्षणा भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति ही उसकी प्राप्ति का साधन है। मूर्तिपूजा को उसमें कोई स्थान नही है। 'कुलजमस्वरूप' इस सम्प्रदाय का एकमात्र ग्रन्थ है।

स्वामी जी प्रखर विद्वान् थे। हरिद्वार कुम्भ के अवसर (1678 ई०) पर उन्होंने रामानुज, मध्व, निम्बार्क और विष्णुस्वामी मत के विभिन्न आचार्यों

को शास्त्रार्थ मे पराजित किया था। हिन्दू-मुसलमान धर्मानुयायियों में एकता स्थापित करने के लिए उन्होंने आजीवन प्रयास किया। वे प्रगतिशील समाजसुधारक और भारतीय संस्कृति के महान् संरक्षक थे।

प्रेममार्गी सूफी शाखा

सन्त रामानन्द के धार्मिक आन्दोलन और उसके प्रवर्तक कबीर, दादू, नानक आदि के समन्वित विचारों के परिणामस्वरूप भक्ति की विभिन्न धाराओं द्वारा राष्ट्रीय एकता का जो वातावरण बना उसी का परिणाम सूफी मार्ग है। कबीर, दादू और नानक ज्ञानमार्गी शाखा के सन्त थे। किन्तु भावनाप्रवण मुसलमान भक्त कवियों ने उसको अपनी परम्परा में ढालकर भगवद् अनुग्रह की प्राप्ति के लिए प्रेममार्ग को अपनाया। इन रहस्यवादी सूफी सन्तों की प्रेम-पद्धति वैष्णवधर्म की भावनाप्रवण भक्ति के अधिक निकट है। वस्तुतः देखा जाय तो निर्गुण सन्तो की आराधना की रहस्यमयता और सगुण सन्तों के *तीव्र तादात्म्य* की सरसता का योग ही प्रेममार्गी सूफी धर्म है।

सूफी-साहित्य अपने-आप में व्यापक, सम्पन्न और प्राचीन है। किन्तु हिन्दी के लिए वह मध्ययुगीन भक्ति की देन है। यद्यपि इस्लाम धर्म मे रहस्यवादी सन्तों का आविर्भाव बहुत पहले ही हो चुका था, और फारस मे सादी, रूमी तथा हाफिज जैसे सुधारवादी सन्त कवियों के प्रभाव से उसमें महान् मानवता को प्रभावित करने वाले उदार सिद्धान्तो का समावेश होने लग गया था, तथापि उसको सामान्य जन-जीवन मे उतारने का कार्य मध्ययुग में ही हुआ। हिन्दी की इस प्रेममार्गी सूफी शाखा पर फारसी रूमानी काव्य-विधा का प्रभाव है। यद्यपि भारतीय साहित्य मे भक्तिपरक रूमानी काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण जयदेव का 'गीतगोविन्द' है। किन्तु प्रेममार्गी सूफी शाखा की रूमानियत फारसी साहित्य से प्रेरित है। हिन्दी-साहित्य में अमीर खुसरो और मुल्ला दाऊद (दोनों 14वी शती) को रूमानी सूफी-साहित्य का जनक माना जाता है। हिन्दी मे इस परम्परा का प्रवर्तन अमीर खुसरो के गीतो, गजलो तथा दोहो और मुल्ला दाऊद की 'लुरक' और 'चाँद की कहानी' से हुआ।

अमीर खुसरो मध्ययुगीन भारत के सांस्कृतिक समन्वय के अग्रदूत थे। वे सन्त रामानन्द के लगभग समकालीन (1253-1325 ई०) थे। उनका पिता तुर्क और माता राजपूतानी थी। प्रसिद्ध सूफी सन्त निजामुद्दीन औलिया के वे शिष्य थे और अलाउद्दीन किशलू, कैकुबाद तथा गयासुद्दीन तुगलक जैसे अनेक

सुलतानों के दरबारों में उन्होंने सम्मान पाया था। वे बहुमुखी प्रतिभा के सन्त थे। वे कवि, गायक, भाषाशास्त्री और दार्शनिक थे। उनका स्थान फारसी के फिरदौसी, सादी, अनवरी आदि प्रख्यात कवियों में परिगणित था। वे फारसी, उर्दू और हिन्दी तीनों भाषाओं के सफल कवि थे। संस्कृत भाषा का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। भारत के प्रति खुसरो के हृदय मे अगाध निष्ठा थी और यहाँ की समन्वित संस्कृति के वे अत्यन्त प्रशंसक थे। भारतीय ज्ञान और विद्या के महत्त्व एवं गौरव का उन्होंने सर्वदा गुणगान किया।

भारतीय कथा-साहित्य में खुसरो की विशेष अभिरुचि थी। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'हश्त-बिहिश्त' (आठ स्वर्ग) भारतीय कथा-साहित्य से प्रभावित है। उनका ऋतुवर्णन संस्कृत की काव्य शैली से प्रेरित है और इसीलिए भारत तथा बाहरी इस्लामी देशो मे उसको इतनी अधिक ख्याति प्राप्त हुई। हिन्दी के लिए उनकी गजलें (रुबाइयाँ) सर्वथा नयी देन हैं। भारतीय जीवन मे, विशेष रूप से उत्तर भारत की पढ़ी-लिखी तथा अनपढ़ जनता मे वे इतनी लोकप्रिय हुई कि लोगो के कण्ठ मे बस गयी। धीरे-धीरे उन्होने एशिया के साहित्य को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया। उनकी इस व्यापक लोकप्रियता का कारण यह था कि उन्होंने अपनी काव्य-रचना के लिए जहाँ एक ओर फारसी 'अर्धाली' का प्रयोग किया, वही दूसरी ओर जन बोलियो के सुपरिचित शब्दो तथा मुहावरों का भी बहुलता से उपयोग किया।

खुसरो की गजलों में घनी, गम्भीर रूमानियत एवं फारसी काव्य-शिल्प की सौम्यता समाहित है। किन्तु उनकी अर्थ-परिणति एक ऐसे भाव-लोक मे जाकर हुई है, जहाँ जीवन की नश्वरता और यौवन का क्षणिक आवेश नही है। यद्यपि खुसरो का अभी तक कोई प्रामाणिक काव्य-संकलन नही हो पाया है, तथापि बिखरे हुए रूप में जो भी उपलब्ध है, उससे उनका काव्य लक्ष्य एक ऐसे आनन्दलोक में जाकर पर्यवसित होता है, जहाँ समस्त द्वन्द्व तथा द्वैत मिट जाते हैं। इस रूप मे अमीर खुसरो अपनी कविता के द्वारा अमर हैं और भारत की सांस्कृतिक थाती के चिरस्मरणीय स्मारक बनकर आज भी भारतीय जनता के प्रेरणा-स्रोत बने हुए हैं।

अमीर खुसरो के बाद हिन्दी में प्रेममार्गी सूफीशाखा की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले कवियों में 'मृगावती' के रचयिता कुतुबन (15वी शती), 'मधुमालती' के रचयिता मञ्झन (16वी शती), 'चित्रावली' के रचयिता उस्मान (17वी शती) और 'पद्मावत' के रचयिता जायसी का नाम प्रमुख है।

मलिक मुहम्मद जायसी (1494-1540 ई०) प्रेममार्गी सूफी शाखा के अग्रणी कवियों में से थे। उनका जन्म उत्तर प्रदेश (गाजीपुर) में हुआ और बाद में वे रायबरेली जिलान्तर्गत जायस नामक गाँव में बस गये थे। किन्तु अपनी काव्य-साधना के लिए उन्होंने अमेठी के निकट रामनगर के एकान्त वनप्रान्त को अपनाया। तत्कालीन प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) उनके गुरु थे। उनकी विचारधारा पर उपनिषदों और हठयोग का गहरा प्रभाव था। भक्ति की भावातुरता उन्हे वैष्णव भक्तो से मिली थी। हिन्दूधर्म और उसकी शास्त्रीय परम्पराओ का उन्हे अच्छा ज्ञान ही नही था, अपितु उनके प्रति गहरी निष्ठा भी थी। अपने विचारों को उन्होने लोक सामान्य के लिए जनबोली अवधी में ही प्रस्तुत किया। किन्तु उनकी अवधी गोस्वामी तुलसीदास की सस्कृतनिष्ठ अवधी की अपेक्षा कही सरल एवं सुगम है। प्रेममार्गी होने के कारण उनमे कबीर जैसे निर्गुणिया सन्तों का कट्टरपन तथा अक्खड़पन नही है। वे उनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति से भी अछूते हैं।

उनका सर्वाधिक प्रभावशाली ग्रन्थ 'पद्मावत' है, जो कि हिन्दी-साहित्य का, विशेष रूप से सूफी शाखा का, स्तम्भ है और जिसकी रचना 1440 ई० में हुई थी। उसमें चित्तौड की राजपूत नायिका पद्मिनी तथा राजपूत राजा रतनसेन की प्रेमकथा वर्णित है। उनके इस महाकाव्य में कल्पना तथा ऐतिहासिकता का अद्‌भुत समन्वय है। इन दो राजपूत चरितो की कथा के माध्यम से जायसी ने हिन्दू-मुसलिम संस्कृति के आदर्शों में एकता स्थापित करने का सराहनीय यत्न किया है। वह एक प्रीतकात्मक महाकाव्य है, जिसमें भौतिक प्रेम की परिणति आध्यात्मिक प्रेम में की गयी है; अथवा लौकिक प्रणय के द्वारा आत्मा तथा परमात्मा के पारलौकिक मिलन का निरूपण किया गया है।

इन सूफी सन्तों-कवियों ने अपनी उदात्त कविताओ द्वारा मानवीय तथा ईश्वरीय प्रेम में प्रतीकात्मक सम्बन्ध स्थापित करके जनता को ईश्वर के निकट ले जाने के सरल प्रेममय मार्ग का निदर्शन किया। मुसलमानधर्म की कट्टर रूढ़िवादिता के फलस्वरूप हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाये जाने के नापाक इरादों के बावजूद हिन्दू सन्तो, वैरागियो और मुसलमान फकीरों तथा सूफियों के उदार विचारों ने जात-पाँत और धार्मिक वैषम्य को दूर करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। दोनों धर्मों के इन सन्तों तथा फकीरों ने सामाजिक जीवन की कृत्रिम मलिनताओं को धोकर उन्हे साफ किया और जनता को सही मार्ग दिखाया।

दोनों के इस सम्मिलित सामाजिक अभियान ने हिन्दू-मुसलमानों को अत्यन्त निकट ला दिया। उनकी अमर वाणियों में हिन्दू-मुसलमानों के समन्वय के आदर्श ठीक उसी रूप मे घुल-मिलकर एकाकार हो गये, जैसे पांडुआ की अदीना मसजिद, आगरा के ताजमहल गौड़ की सोना मसजिद, माण्डू के हिंडोला तथा जहाज महल और दक्षिण के बीजापुर-गोलकुण्डा के विभिन्न मसजिदों, मकबरों, इमारतों आदि में हिन्दू-मुसलमानों का हस्तकौशल एक रूप हो गया।

रामभक्ति शाखा

मध्ययुगीन भारत मे परम्परागत वैष्णवधर्म के प्रभाव से जिस सगुण भक्ति का उदय हुआ उसमें रामभक्ति शाखा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत की आध्यात्मिक गरिमा और भगवद्भक्ति की परम्परागत अटूट निष्ठा को दृष्टि में रखकर रामानन्द के युगप्रवर्तक भक्ति-आन्दोलन ने भारत में जिस धार्मिक पुनरुत्थान का नया अभियान चलाया उसका प्रभाव तत्कालीन भक्त हृदय जनता और शासकों पर समान रूप से परिलक्षित हुआ। उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप शाहंशाह बाबर, अकबर और शाहजादा दारा ने अपनी नरम नीतियों तथा सर्वास्तिवादी प्रवृत्तियों की घोषणा करके जनता के भक्तिभाव को अपना पूर्ण समर्थन दिया।

रामानन्द के भक्ति-अभियान की जन-जीवन पर जो प्रतिक्रिया लक्षित हुई, रामभक्ति का उदय उसी का परिणाम है, जिसका प्रवर्तन किया गोस्वामी तुलसीदास (1497-1623 ई०) ने। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के बांदा जिलान्तर्गत राजापुर में हुआ था और सोरो (एटा जिला) से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। वे गृहस्थ से संन्यासी हुए। उनकी लोकप्रियता के कारण समाज में उनके सम्बन्ध की अनेक दन्तकथाएं प्रचलित है। तुलसीदास, आचार्य नरहरि के शिष्य थे, जो कि रामानन्द की परम्परा के सन्त थे।

कालिदास और भवभूति की भाँति तुलसीदास को भी अपने सम-सामयिको से तिरस्कार एव अपमान का भाजन होना पड़ा। काशी के विद्वत्समाज ने उनका बड़ा विरोध किया। जाँत-पाँत के प्रश्नो को लेकर उनको लांछित किया गया। उनकी साधुता को निरा ढोंग कहा गया। उनके विरोध का एक कारण यह भी था कि उन्होने काव्य-रचना के लिए संस्कृत की जगह जनभाषा को अपनाया था। राम जैसे अवतारी महापुरुष पर लोकभाषा में प्रबन्ध-रचना

करना रूढ़िवादी समाज के लिए विस्मयजनक घटना थी। किन्तु तुलसी ने सम-सामयिक रूढ़िवादियों की आलोचना-प्रत्यालोचना की चिन्ता किये बिना अवधी और व्रजभाषा को अपनी काव्य-रचना का माध्यम बनाकर लोक-जीवन का व्यापक समर्थन प्राप्त किया। प्रबन्ध काव्यों के लिए उन्होंने अवधी और मुक्तक रचनाओं के लिए व्रजभाषा को अपनाया।

वे उच्चकोटि के कवि और अनन्य भक्त थे। यद्यपि उन्होंने राम और कृष्ण, दोनों अवतारी महापुरुषों पर काव्य-रचना की है, तथापि उनका 'रामचरितमानस' लोक में अधिक सम्पूजित हुआ और तुलसी को रामभक्ति शाखा का उन्नायक माना गया। उनका 'रामचरितमानस' एक बृहत्काय महाकाव्य है, जिसमें 'रामायण', 'गीता' और 'भागवत' की ज्ञान, कर्म तथा भक्ति की तीनो धाराओं का संगम हुआ है। यही कारण है कि 'रामचरितमानस' आधुनिक भारत की 'गीता' बन गया और घर-घर उसका उसी पावन भाव से पारायण होने लगा। तुलसीदास ने अपने इस महान् ग्रन्थ में रामकथा को इस सुलभ, सुगम एवं प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया, जिससे कि नगरों से लेकर गाँवो तक समस्त भारत की जनता ने उसको व्यापक रूप के अपनाया। अतीत के चार सौ वर्षों से भारतीय जनता की इतनी अटूट एवं अगाध निष्ठा किसी दूसरे ग्रन्थ में नही दिखायी देती है। भारत के विभिन्न अंचलो मे 'रामलीला' के रूप मे आयोजित होने वाले समारोहो द्वारा 'रामचरितमानस' जनता का मनोरंजन करता हुआ आ रहा है।

तुलसी का यह ग्रन्थ वस्तुतः भारत की आदर्श एवं मर्यादित संस्कृति का संवाहक है। तुलसी ने इस ग्रन्थ द्वारा भारतीय जन-जीवन की नैतिकता तथा मर्यादा की रक्षा की और उससे मानव-प्रेरणादायी महान् आदर्श की सृष्टि हुई। तुलसी ने मानव-जीवन को इतना उदात्त, उन्नत एव महान् बताया, जिसको ईश्वर ने स्वयं वरण किया और अनन्य, अपरिमित एवं असीमित होते हुए भी मानव-सामान्य की भाँति सुख-दुःखो की परिधियों में आबद्ध होकर लोकोत्तर आदर्शों का विधायक बना। मानव हृदय में ओत-प्रोत ऐसे ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करने के लिए तुलसी ने न तो शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया और न जातीय श्रेष्ठता तथा उच्चकुल की अपेक्षा को स्वीकार किया। तुलसी के राम वास्तव में प्रेम, भक्ति निष्ठा और दया के सागर हैं। इसी भक्ति-निष्ठा के परिणामस्वरूप उन्होंने शबरी को तारा और किरात-भीलों को गले लगाया।

तुलसी के इस मानवतावादी दृष्टिकोण, मानवमात्र की समानता और सबके प्रति एक जैसा ईश्वरीय अनुग्रह की भावना को अपनाने वाले उनके सम-सामयिक भक्त कवियों में नाभादास का नाम उल्लेखनीय है। नाभादास, स्वामी अग्रदास के शिष्य थे। उनका स्थितिकाल लगभग 17वीं शती के मध्य में था। महाराष्ट्र में वे पैदा हुए और उत्तर भारत में रामभक्ति के प्रचारक बने।

नाभादास का 'भक्तमाल' समस्त हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का अकेला ग्रन्थ है। उसमें भक्त कवियो, भक्त जनों और सन्तों की जीवनियों तथा उनके सम्बन्ध की अनेक प्रकार की रोचक कथाएँ दी हुई हैं। इन कथाओं में समाज के विभिन्न वर्गों के भक्तों की प्रेरणाप्रद जीवनियाँ वर्णित हैं। उदाहरण के लिए पंढरपुर की भक्तिन नर्तकी कान्होप्रिया, दिल्ली की सुन्दरी वेश्या के उदात्त चरित्रो और दूसरी ओर सती सुरसरी तथा प्रेम-विह्वल विल्वमंगल आदि भक्तों की ऐसी मार्मिक कथाएँ संकलित की गयी हैं, जिन्होने अपने उच्च-निम्न जीवनचर्यायो को करते रहने के बावजूद स्वयं को ईश्वर भक्ति में विलीन कर दिया और जिनके चरित्र समाज के लिए महान् आदर्श बनकर आराध्य एवं पूज्य बन गये।

'भक्तमाल' की लोकप्रियता 'रामचरितमानस' के ही समान व्याप्त है। उसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उस पर प्रियादास, नारायणदास, वैष्णवदास, लालदास, बालकराम, रूपकला और मलूकदास प्रभृति विभिन्न क्षेत्रो के कवियो एवं सन्तों ने टीकाएं लिखी। हिन्दी में जीवनी-साहित्य का वह सर्व प्रथम और सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ है।

कृष्णभक्ति शाखा

उत्तर भारत मे जिस समय सूरदास भक्ति-भाव मे तन्मय श्रीकृष्ण की लीलाओ का गुणगान करने में तल्लीन थे, पूर्व में बंगाल के भक्त शिरोमणि चैतन्य महाप्रभु (1485-1533 ई०) अपनी रस-माधुरी द्वारा जनता को भाव-विभोर किये हुये थे। उन्होंने बंगाल, उड़ीसा और असम मे वैष्णव भक्ति को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया हुआ था। उन्होने अपने इस उदार भक्ति-आन्दोलन में सभी धर्मों तथा पन्थो के लोगों को सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया, जिसके कारण सामाजिक असमानता और भेद-भाव की विषमता कम होने में मदद मिली। उन्होंने 'चैतन्यचरितामृत' की रचना करके उसके द्वारा ऐसी सहज

भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, जिस पर चलकर सभी धर्मावलम्बियों ने देश की अखण्डता तथा एकता को बनाये रखने के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। उन्होंने दक्षिण, उत्तर और पूर्व के अनेक अंचलों का भ्रमणकर जनता के बीच जा-जाकर अपने उदार विचारों को प्रचारित किया और समस्त हिन्दू भक्त जनता को एक मंच पर आने के लिए आह्वान किया। उनका हरिनाम संकीर्तन वस्तुतः एक ऐसा सम्मोहक मन्त्र बन गया, जिसने जनता को अपनी ओर आकर्षित करने में बड़ा कारगर प्रभाव डाला।

भारत में कृष्णभक्ति का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल में ही हो चुका था; किन्तु 'भागवत' की रचना (12वीं शती) के बाद उसका प्रचार-प्रसार अधिक प्रभावशाली रूप में आगे बढ़ा। 15वीं शती मे भक्ति की जिन विभिन्न धाराओं ने धार्मिक आन्दोलन के रूप में राष्ट्रीय एकता को बल दिया, उनमें कृष्णभक्ति शाखा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। 15वी शती में विद्यापति ने अपने शृंगाररसपूर्ण पदों में श्रीकृष्ण की माधुर्य भक्ति का सुन्दर चित्रण किया, जिसका प्रभाव परवर्ती रीतिकालीन शृंगार काव्यों पर भी व्यापक रूप में परिलक्षित हुआ।

स्वामी रामानन्द के भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से उत्तर भारत में जिस कृष्णभक्ति का उदय हुआ उसके उन्नायक सूरदास (1483-1564 ई०) थे। सूर ने कृष्ण के वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भाव का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया है। उनका काव्य एक साथ लोक और परलोक को प्रतिबिम्बित करता है। आत्माभिव्यंजन के रूप मे इतने विशाल काव्य का सर्जन केवल सूर ही कर सकते थे, क्योंकि उसके अन्तर मे सम्पूर्ण युगजीवन की आत्मा समायी हुई थी। उसमे युगजीवन का प्रतिबिम्ब और लोकोत्तर सत्य का सौन्दर्य समन्वित है।

सूरदास यद्यपि मुख्य रूप से एकान्त भक्ति में तल्लीन बाह्यजीवन के प्रति उदासीन रहे, तथापि युगजीवन को प्रभावित करने वाली परिस्थितियो से वे सर्वथा अप्रभावित नही थे। वे उपदेशक तथा समाजसुधारक नही थे, फिर भी उन्होंने उच्च चरित्र और नैतिकता से ही व्यष्टि तथा समष्टि के निर्माण को स्वीकार किया है। उन्होने मानवता की एकता में विश्वास किया है और पारस्परिक असमानताओ एवं भिन्नताओं की अवास्तविकता को अत्यन्त सहज रूप में अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में सूर ही एक ऐसे महाकवि थे, जिन्होने अपनी भक्तिभावपूर्ण रचनाओं द्वारा मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं के साहित्य को प्रभावित किया और परम्परागत वैष्णवधर्म को व्यापक

एवं लोकप्रिय बनाया। उनकी सरस पदावली जिस प्रकार उत्तर भारत की धर्मप्राण जनता का कण्ठहार बनी हुई है, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण के मन्दिरों में कीर्तन-गायन एवं भगवदाराधन के रूप में गुंजायमान होकर भारत की मौलिक एकता को प्रतिध्वनित कर रही है।

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन की प्रेरणा ने जिन महान् कृष्ण-भक्त कवियों को जन्म दिया उनमें मीराबाई (1502-1563 ई०) का विशिष्ट स्थान है। उनके पद गुजरात, राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और बंगाल के विस्तृत भू-भाग तक प्रचारित हुए। उनका स्थान हिन्दी तथा गुजराती के सर्वश्रेष्ठ भक्त कवियों में है। नाभादास, प्रियादास, ध्रुवदास, मलूकदास और हरीराम व्यास प्रभृति हिन्दी के सन्तों एवं भक्त कवियो ने अपने पदो में मीराबाई का प्रभूत गुणगान किया है।

मीराबाई की भक्ति दैन्य और माधुर्य भाव से ओत-प्रोत है। उन पर तत्कालीन योगियों, सन्तो और वैष्णव भक्तो का प्रभाव है। उनके आराध्य श्रीकृष्ण कही तो निर्गुण, निराकार ब्रह्म और कहीं सगुण, साकार गोपीवल्लभ हैं। मीरा के विरहाकुलतापूर्ण माधुर्य-भाव के पदो मे विशेष तन्मयता है। उनकी कविता उनके जीवन की सहज अभिव्यक्ति है। उनकी कविता में राजस्थानी, ब्रज, गुजराती, पंजाबी, खड़ी बोली और पूरबी का सम्मिश्रण हुआ है।

वे उत्कट भक्त थी। भक्ति की तन्मयता में उन्होने अनेक स्थानो की यात्रा की और विभिन्न सन्तो, योगियो तथा भक्तो के सहवास में रही। उनके पद विगत चार सौ वर्षों से पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक की भक्त-जनता के कण्ठहार बने हुये हैं। उनके द्वारा कृष्ण-भक्ति की माधुर्य भावना का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

• • •

इक्कीस/मुगल युग

मुगल सल्तनत की पूर्व पीठिका

भारत में मुगल सल्तनत की स्थापना की भूमिका लगभग आठवीं शती से ही बननी आरम्भ हो गयी थी। विदेशी यूनानियो, फारसियो और अरबों का समय-समय पर भारत में प्रवेश होता गया। आरम्भ में वे मालावार तथा काठियावाड़ के समुद्र तटों और सिन्ध-मुलतान के सुदूर क्षेत्रो मे बसे। गजनी का महमूद (998-1030 ई०) मध्य एशिया के अनेक देशो और अफगानिस्तान को स्वायत्त करता हुआ सिन्ध-मुलतान तक जा पहुँचा। उसके पहले ही से वहाँ बस रहे अरबो की सहायता से उसने पंजाब के मैदानों पर अधिकार किया और तदनन्तर थानेश्वर, कन्नौज तथा मथुरा को रौंदता हुआ वह गुजरात के सोमनाथ मन्दिर तक जा पहुँचा। भारत से लूट की अपार सम्पत्ति को उसने अपनी राजधानी गजनी पहुँचाया। भारत के मन्दिरों, कला-प्रतिष्ठानो और ज्ञान-केन्द्रों को ध्वस्तकर उसने वहाँ के धन से गजनी मे मस्जिदें तथा पुस्तकालयों का निर्माण किया।

इस अत्याचारी एवं धर्मान्ध आक्रान्ता की मृत्यु 1030 ई० में हुई। उसकी मृत्यु के बाद सिन्धु तथा पंजाब को छोडकर समस्त भारत लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक विदेशियो के आक्रमणों से सुरक्षित रहा। लगभग 12वीं शती के मध्य में अफगानों ने गजनी पर आक्रमण किया और वहाँ अपना अधिकार कर लिया। तदन्तर अफगान विजेता मुहम्मद गोरी ने 1192 ई० के लगभग भारत की ओर अभियान किया और पजाब तथा सिन्ध पर अपना अधिकार कर लिया। गौरी के एक सरदार कुतुबुद्दीन ऐबक ने जयचन्द को मारकर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार दूसरी ओर बख्तियार खिलजी ने बंगाल तथा बिहार को स्वायत्तकर नालन्दा, विक्रमशिला और ओदन्तपुरी के विशाल बौद्ध ज्ञानपीठों

को ध्वस्त कर दिया । उधर 1340 ई० के लगभग मुहम्मद बिन तुगलक (1325-1351 ई०) ने दक्षिण में मालाबार तक अपना विस्तार कर लिया ।

इस बीच दिल्ली की सल्तनत को हथियाने के लिए अनेक तरह के पारस्परिक षड्यन्त्र तथा शक्ति की आजमायश होती गयी । अन्त में दिल्ली की सल्तनत को स्वायत्त करने में गोरी का गुलाम कुतुबुद्दीन सफल हो गया । 1210 ई० में उसका निधन होने के बाद उसका पुत्र आरामशा बादशाह बना । उसका उत्तराधिकारी सुलतान इल्तमश नियुक्त हुआ । उसने बंगाल, सिन्ध और राजस्थान तक अपनी सल्तनत का विस्तार किया । उसके शासनकाल में चंगेजखाँ ने भारत पर आक्रमण किया; किन्तु वह सफल न हुआ ।

इल्तमश के बाद उसकी पुत्री रजिया और पुत्र रुकनुद्दीन क्रमशः गद्दी पर बैठे; किन्तु उन्हे षड्यन्त्रकारियों ने मार डाला । 1246 मे इल्तमश का सबके छोटा पुत्र नसीरुद्दीन दिल्ली सल्तनत का स्वामी बना । लगभग 13वीं शती के उत्तरार्द्ध तक दिल्ली पर गुलामवंश का अस्तित्त्व बना रहा ।

गुलामवंश के बाद दिल्ली की सल्तनत खिलजी वश के हाथो मे गयी, जिसका प्रथम शासक जमालुद्दीन खिलजी 1290 ई० में गद्दी पर बैठा । 1294 ई० में उसके भतीजे अल्लाउद्दीन खिलजी (1294-1316 ई०) ने उसे धोखे से मरवाकर सल्तनत को हस्तगत किया । उसने गुजरात, महाराष्ट्र और राजस्थान को जीता और उन्हें दिल्ली के अन्तर्गत मिला दिया । 1316 ई० में उसका निधन हुआ ।

खिलजीवश के बाद दिल्ली तख्त पर तुगलकवंश का अधिकार हुआ । मुहम्मद बिन तुगलक (1325-1351 ई०) इस वंश का प्रसिद्ध बादशाह हुआ । उसके बाद सैयदवंश और तदनन्तर लोदीवंश के हाथों दिल्ली की सल्तनत हस्तान्तरित हुई । किन्तु तत्कालीन राजनीतिक अस्थिरता और चारों ओर से बढते हुए आक्रमणों की भयावहता के कारण कोई भी शासकवंश स्थिरता प्राप्त न कर सका ।

जिस समय दिल्ली पर लोदियों का शासन था, मेवाड़ पर राणा सांगा की विजयपताका फहरा रही थी । समस्त राजस्थान और उत्तरी भारत पर उसका प्रभुत्व था ।

मुगलवंश का संस्थापक बाबर

लोदीवंश के बाद दिल्ली पर प्रतापी मुगलवंश का अधिकार हुआ, जिसका प्रथम शाहंशाह जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर था। उसका जन्म 1483 ई० में महान् विजेता तैमूर की पाँचवी पीढ़ी में हुआ था। उसकी माता मंगोल और उसका पिता उमरशेख तैमूरवंश का था। बाबर का शाहीवंश माता की परम्परा पर मुगलवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब कि बाबर की आयु केवल ग्यारह वर्ष की थी, उसके पिता का 1494 ई० में निधन हो गया था।

बाबर उच्चाकांक्षी व्यक्ति था। उसकी दृष्टि भारत पर थी। 1504 ई० में उसने काबुल में अपने पैर जमाये और उसके बाद दिल्ली की ओर अभियान किया। उस समय दिल्ली पर इब्राहीम लोदी का शासन था। सर्व प्रथम उसने सरदार दौलतखाँ को पराजित करके लाहौर को अपने अधिकार में किया। 1526 ई० में उसने इब्राहीम लोदी पर आक्रमण किया और एक वर्ष बाद दिल्ली तथा आगरा का स्वामी बन बैठा। दिल्ली को हस्तगत करने के बाद 1527 ई० में उसका मेवाड़ के स्वामी राणा साँगा से युद्ध हुआ और उसमें राणा की पराजय हुई। बाबर गंभीर, विचारशील, दूरदर्शी और सात्विक प्रवृत्ति का शासक था।

हुमायूं

बाबर के बाद 1530 ई० में उसका पुत्र नासिरुद्दीन हुमायूं दिल्ली की सल्तनत का स्वामी बना। किन्तु उसकी लापरवाही और अपरिपक्व नीति के कारण अनेक अफगान सरदार तथा हिन्दू राजा उसके विरोधी बन गये। 1540 ई० में कन्नौज के निकट बगाल के अफगान शेरशाह से उसका भयंकर युद्ध हुआ और पराजित होकर वह वहाँ से ईरान के शाह तहमास्य की शरण मे गया। इधर दिल्ली पर शेरशाह का अधिकार हुआ। उसके बाद क्रमशः सलीमशाह, फिरोज, मुम्मदशाह आदिल, इब्राहीम और सिकन्दरशाह दिल्ली के स्वामी बने।

इस बीच एक वर्ष तक हुमायूं ईरान में रहा। शाह की सहायता से एक संगठित सेना के साथ 1544 ई० के लगभग काबुल, कन्धार और लाहौर को पराजित करता हुआ वह लगभग पन्द्रह वर्ष के पश्चात् दिल्ली के तख्त को पुनः हस्तगत करने में सफल हो गया। किन्तु एक वर्ष बाद 1556 ई० में उसका निधन हो गया।

अकबर

हुमायूं के बाद उसका पुत्र जलालुद्दीन अकबर दिल्ली का बादशाह बना। तब उसकी उम्र केवल तेरह वर्ष की थी। उसके शासन के संचालन में बैरमखाँ का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उसने चारों ओर व्याप्त राजनीतिक घटनाचक्र और रहस्यमय वातावरण पर किसी प्रकार नियन्त्रण बनाये रखा। बालिग हो जाने पर अकबर ने हिन्दू राजाओं से मेल-मिलाप किया और हिन्दू कन्याओं से विवाह करके अपनी लोकप्रियता को बढाया। सारे राजा और उमराव उसके अधीन हो गये। उसकी विलक्षण सूझ-बूझ और उत्तम कार्य-प्रणाली ने अल्पकाल में ही लोगों के दिलो पर उसके महान् व्यक्तित्व की छाप अंकित कर दी। 1605 ई० मे इस धर्मप्राण महान् शासक का निधन हुआ।

जहाँगीर

अकबर के बाद उसका पुत्र जहाँगीर सल्तनत का उत्तराधिकारी बना। अपने महान् पिता के उत्तराधिकार को संभालने में वह पूर्ण सक्षम सिद्ध हुआ। वह हिन्दू माँ से उत्पन्न हुआ था। इसलिए उसके मन मे हिन्दुत्व की भावना जन्म से ही उभरने लगी थी। उसने भी हिन्दू परिवारो से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। 1627 ई० मे उसका निधन हुआ।

शाहजहाँ

जहाँगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहाँ मुगल सल्तनत का स्वामी बना। उसने अपने पिता तथा पितामह की उदार परम्पराओं को जीवित रखते हुए लगभग तीस वर्षों तक शासन किया। जीवन के उत्तरार्द्ध मे वह निरपेक्ष एव निरक्त हो गया था। उसका कारण उसके पुत्रो के बीच का कलह था।

दारा

शाहजहाँ के चार पुत्रो मे सबसे बड़ा दारा (1615-1659 ई०) और सबसे छोटा औरंगजेब था। शाहजहाँ दारा को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, किन्तु औरंगजेब ने उसे स्वीकार नही किया और अनेक प्रकार के षड्यन्त्रो की रचना करके सत्ता हथियाने में सफल हो गया। यद्यपि दारा को भारत की बादशाहत प्राप्त न हुई, किन्तु भारतीय इतिहास मे अपने महान् पूर्वजों की अपेक्षा उसका किसी भी प्रकार कम महत्त्व नही रहा। उसके चिर यशस्वी व्यक्तित्व की गणना भारतीय ज्ञानियों एव अध्यात्मजीवी सन्तो में की गयी है।

मुगलयुगीन भारत में ज्ञानियों और सन्तों की परम्परा को उजागर करके उसने अक्षुण्ण कीर्ति को अर्जित किया।

औरंगजेब

औरंगजेब न्यायतः सल्तनत का उत्तराधिकारी न होने के बावजूद अपनी कुटिलताओं और षड्यन्त्रों के कारण सत्ता को हथियाने में सफल हो गया। अपने पिता को उसने बन्दी बना लिया और बन्दीगृह में ही उसकी मृत्यु हुई। औरंगजेब 1658 ई० मे गद्दी पर बैठा। उसने इस्लाम के कट्टरपन्थ को अपनाया। उसकी संकीर्ण मनोवृत्ति और कट्टर मुगलपन ने अपने पूर्वजों की उदात्त परम्पराओं को समाप्त कर दिया। उसके शासनकाल में मुगल सल्तनत की ऐतिहासिक परम्परा छिन्न-भिन्न हो गयी।

औरंगजेब के समय जयपुर मे महाराज जयसिंह और जोधपुर में महाराज जसवन्तसिंह का शासन था। ये दोनों राजपूत राजा बड़े प्रभावशाली थे। औरंगजेब उनसे भय खाता था। महाराज जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद महाराज जयसिंह ने 1681 ई० में औरंगजेब से सन्धि कर ली थी। उसके बाद औरंगजेब के अत्याचारों में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उसने हिन्दू मन्दिरों को ध्वस्त करना आरम्भ किया और हिन्दू त्योहारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसके द्वारा हिन्दुओ पर लगाया गया 'जजिया' कर उसकी हिन्दू-विरोधी कट्टरनीति का परिणाम था।

महाराज जयसिंह के कारण उसने मेवाड मे कोई हस्तक्षेप नही किया। किन्तु हिन्दू जनता अपनी धर्म-रक्षा और देवमन्दिरो की व्यवस्था के प्रति भयभीत थी। मेवाड को सुरक्षित समझकर उसी समय मथुरा, वृन्दाबन तथा जतीपुरा आदि के धर्मस्थानों की मूर्तियाँ उठाकर हिन्दू वैष्णवों ने कोटा, कांकरोली, नाथद्वारा और जोधपुर में स्थानान्तरित किया। उसी समय के अनेक मन्दिर तथा देव-मूर्तियाँ आज भी इन स्थानो में वर्तमान हैं।

मुगलकालीन संस्कृति और कला

भारत मे मुगलों के उदयकाल 15वी शती ई० में सन्तो तथा सूफियों के धार्मिक आन्दोलनों के कारण और साहित्यकारों तथा कलाकारो के पारस्परिक सामंजस्य के कारण सांस्कृतिक उत्थान की दृष्टि से भारत एक नये देशव्यापी जागरण की ओर अग्रसर था; यद्यपि तत्कालीन राजनीतिक एवं धार्मिक प्रभुत्व ऐसे कट्टर तुर्क-अफगानों के हाथों में था, जिन्होंने मन्दिरों, मूर्तियों और

कला-संस्थानों को ध्वस्त करके इस देश की अपूरणीय क्षति की थी। सुलतानवंश के धर्मभरु और संकीर्ण विचारवाले शासकों ने कला को धर्म के दायरे में कसकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता को क्षीण कर दिया था। सुलतान शाहंशाहों का यहूदियों की तरह यह विश्वास था कि आकृतियों को अंकित करना खुदा से प्रतिस्पर्धा करना है, क्योंकि कयामत के समय जब आकृतियों में प्राण-संचार करने का प्रश्न उठेगा, तो अपना प्रतिस्पर्धी एव गुनाहगार समझकर खुदा उसे दोजख मे पटक देगा।

इस परम्परागत धार्मिक भय के कारण फीरोजशाह तुगलक ने अपने कला कक्ष के सभी चित्र एवं भित्तिचित्र नष्ट कर दिये थे। सैकड़ों हिन्दू मन्दिरों को ध्वस्त करके उनकी जगह मस्जिदें स्थापित करने का सुलतान शासकों का एक कारण यह भी था कि भारत भी परम्परागत कला-विरासत को भी नष्ट कर दिया जाय।

एक ओर इन प्रवृत्तियो के परिणामस्वरूप भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को आगे बढ़ने मे यद्यपि अवरोध उत्पन्न हो गया था, ।कन्तु दूसरी ओर इस प्रकार की दुर्दान्त धार्मिक कट्टरता को उपशमित कर देने वाला सन्तो तथा फकीरो का मानवतावादी आन्दोलन निरन्तर जनता के मनो पर गहरा प्रभाव डालता जा रहा था, जिसकी प्रतिक्रिया तत्कालीन शासन पर भी परिलक्षित हुई। उसका पहला प्रभाव स्थापत्य के क्षेत्र में प्रकट हुआ। यहाँ के परम्परागत स्थापत्य से महमूद गजनी इतना प्रभावित हुआ था कि अनेक हिन्दू स्थपतियो के योगदान से उसने गजनी का नव-निर्माण कराया। भारत मे स्थापत्य के नवोत्थान के सूचक दिल्ली की कुतुबमीनार, जमातखाना मसजिद, निजामुद्दीन औलिया दरगाह, पांडुआ की अदीना मसजिद, गौड़ की सोना मसजिद, अहमदाबाद की जामी मसजिद और हिंडोला का जहाजमहल आदि ऐतिहासिक तथा धार्मिक स्मारक हिन्दू-मुगल स्थापत्य के अनुपम उदाहरण प्रकाश में आ चुके थे। दक्षिण भारत, राजपूताना तथा मध्य भारत मे भी हिन्दू-फारसी वास्तुविदो मे आदान-प्रदान की भावना का विकास हो रहा था, जिसके परिणाम विभिन्न माध्यमों से प्रकट हो रहे थे।

दिल्ली पर मुगल साम्राज्य के सस्थापक बाबर के सत्तारूढ़ हो जाने के साथ ही परम्परागत सांस्कृतिक समन्वय का प्रभाव तेजी से प्रसारित हुआ। बाबर ने साहित्य, कला, धर्म और व्यावहारिक रहन-सहन की परिस्थितियों मे पर्याप्त उदारता का परिचय दिया। बाबर बडा कला-पारखी था। वह एक

अच्छा कवि और सिद्धहस्त गद्यकार था। तुर्की भाषा में उल्लिखित बाबर का आत्मचरित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इस पुस्तक के संस्मरणों में बाबर ने फारसी कला की और विशेष रूप से बिहज़ाद के आलेखनों की सूक्ष्म विवेचना की है। 'शाहनामा' की एक सचित्र प्रति, जिसे वह अपने साथ भारत लाया था और जो लगभग दो सौ वर्षों तक दिल्ली के शाही पुस्तकालय में सुरक्षित रही, सम्प्रति वह एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन के पुस्तकालय की दुर्लभ सम्पत्ति बनी हुई है।

हुमायूँ में कलाप्रेम की विरासत पुश्तैनी थी। किन्तु राजनीतिक घटना-चक्रों ने उसके कलानुराग के सारे इरादों को धूमिल कर दिया था। फारस में जिस शाह के यहाँ उसने शरण ली थी वह स्वयं उच्चकोटि का कलाकार था और उसके यहाँ अनेक कलाकार आश्रित थे। एक वर्ष बाद जब वह काबुल वापस आया तो वहाँ उसकी ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी और मीर सय्यद अली से भेंट हुई। ये दोनों शीरीकलम के कुशल चित्रकार थे। दिल्ली में पुनः स्थिर हो जाने के बाद उसने इन दोनो कलाकारों को अपने दरबार में बुलाया। इन दोनो कलाकारो द्वारा ईरानी और भारतीय शैलियो मे स्थापित समन्वय से मुगलकालीन चित्रकला के इतिहास में नये युग का सूत्रपात हुआ। इनके अतिरिक्त नादिर उल् मुल्क हुमायूँशाही, मीर सय्यद अली 'जुदाई' और कमालउद्दीन बेहज़ाद आदि मुसब्बिरों की रची हुयी 'दास्तान-ए-मीर-हम्ज़ा', 'नासिर-उल्-उमरा' तथा 'हम्ज़ानामा' आदि महत्त्वपूर्ण सचित्र पोथियाँ हुमायूँ के कलानुराग की साक्षी हैं। 'हम्ज़ानामा' मुगल कला का मूल उद्गम माना गया है।

कला का उसे इतना शौक था कि युद्ध के समय भी वह सचित्र पोथियो का अवलोकन करता था और चित्रकारों को साथ रखता था। फिर भी यह निश्चित है कि हुमायूँ के समय 'हिरात कलम' का एकाधिपत्य बना रहा।

हुमायूँ की अपूर्ण कला-लालसा को उसके पुत्र अकबर ने पूरा किया। अकबर महान्, मुगल-इतिहास का देदीप्यमान रत्न था, जिसके व्यक्तित्व एवं उदात्त कार्यों से भारतीय इतिहास प्रभावित है। उसने कला को धर्म के साथ समन्वित करके भारतीय जन-जीवन में नये आदर्श की स्थापना की। अकबर ने वस्तुतः हिन्दू, मुसलिम और ईसाई धर्म-गुरुओं, कवि-कथाकारों, विद्वानों एवं कलाकारों से निकट सम्पर्क स्थापितकर विभिन्न धर्मों के मूल आदर्शों का ज्ञान प्राप्त किया और तदनुसार अपनी सल्तनत का संचालन किया।

एक शाहँशाह होते हुए भी वह समन्वित विचारधारा का अध्यात्मप्रवण सम्राट था। उसने शेख मुबारक, मीर अब्दुल फैजी और सलीम चिश्ती आदि सन्तों से सूफी मार्ग की प्रेम-पद्धति का अध्ययन किया था। अपने समय के प्रमुख भक्त कवियों मीराबाई और पंजाब के सिक्ख गुरु अमरदास से भी उसने प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया था। जैनधर्म के प्रसिद्ध आचार्य हरिविजय सूरि और विजयसेन सूरि के सम्पर्क में भी वह रहा। हरिविजय सूरि को अकबर ने 'जगद्गुरु' की उपाधि से सम्मानित किया था। उसने दस्तूर तथा कैवन जैसे फारसी धर्म गुरुओं और ऐक्वावीवा मॉसेराढ जैसे धर्मप्राण पादरियों से सम्पर्क स्थापित किया। इस तरह अकबर ने हिन्दू, फारसी और ईसाई धर्मों के उच्च आदर्शों को ग्रहणकर मुगल भारत में नयी सास्कृतिक चेतना का सूत्रपात किया। इस रूप में अकबर ने भारतीय इतिहास के देदीप्यान रत्न, महान् मानवतावादी सस्कृति के उन्नायक अशोक, चन्द्रगुप्त, कनिष्क, विक्रमादित्य और हर्ष जैसे प्रतापी शासकों की कोटि में सहज ही स्थान प्राप्त किया।

इस प्रकार यद्यपि अकबर ने अपने समय के सभी प्रचलित धर्मों तथा धर्मावलम्बियो से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया, किन्तु उसका विशेष रुझान भारतीयता के प्रति अधिक रहा। उदारवृत्ति के इस महान् सन्त ने कबीर, मीरा, सूर और तुलसी आदि भक्त कवियों की रचनाओं का जी भर श्रवण किया। उसने मुसलमान फकीरों और हिन्दू सन्तों-कवियों की वाणियों को अपने जीवन में चरितार्थ भी किया।

भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के मूल उद्गम उपनिषद्, 'गीता', 'महाभारत' और 'रामायण' के मूल विचारों को हृदयंगमकर उसने उन पर गम्भीरता से मनन किया और उनका फारसी में अनुवाद कराया। 'भगवद्गीता' का उसने 'रज्मनामा' के नाम से फारसी में अनुवाद कराया। ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दू-मुसलिम धर्मों की आलोचनात्मक प्रवृत्ति पर उसने प्रतिबन्ध लगा दिया। किन्तु स्वयं ईसाइयों को प्रार्थना सभाओं मे सम्मिलित होकर गिरजाघरों के निर्माण में योगदान किया। अपने धार्मिक आवास फतेहपुर सीकरी के प्रवेश द्वार पर उसने 'बाइबिल' के दिव्य सन्देसो को उत्कीर्णित कराया और सुयोग्य विद्वान् पादरियो से 'बाइबिल' के उच्च विचारों का श्रवण किया।

अकबरकालीन भारतीय संस्कृति का प्रतीक उसके द्वारा स्थापित 'दीन-ए-इलाही' धर्म था। अपनी बादशाहत की हलचल से दूर फतेहपुर सीकरी

में उसने इस नये धर्म की स्थापना की । यह उसका धार्मिक प्रावास था । 'दीन-ए-इलाही' वस्तुतः सभी धर्मों के उच्चादर्शों का समन्वय था, जिसमें समस्त धर्मावलम्बियों को अपनी-अपनी-आस्थाओं तथा परम्पराओं के अनुसार धर्माचरण, यज्ञ, अनुष्ठान, पूजा, आराधना, भक्ति और भजन आदि कर्मों को सम्पादित करने की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की गयी थी । अकबर का यह धर्मपन्थ वस्तुतः 'सर्व-धर्मसार-सग्रह' (सुलह्-ए-कुल) था । उसमें ईमानदारी, सच्चाई, ईश्वरप्रेम पर बल दिया गया था और इन मूल उसूलों के प्रति संकीर्णता बरतने वाले किसी भी व्यक्ति को अक्षम्य घोषित कर दिया गया था । 'दीन-ए-इलाही' को हिन्दू धर्म की सगुण भक्ति का रूपान्तर कहने वाले आक्षेपकर्ता रूढ़िवादी मुसलमानों को अकबर ने किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया ।

अकबर का यह सर्व-धर्म-समन्वय मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का आदर्श बनकर सन्त रामानन्द के भक्ति मार्ग तथा मुसलिम सन्तों के सूफीवाद की प्रेरणा का मूल स्रोत बनकर विकसित हुआ ।

भारतीय चित्रकला के इतिहास में मुगल शैली ने जिस नये युग का सूत्रपात किया, उसका संरक्षक एव प्रोत्साहक अकबर ही था । अबुलफजल ने 'आईन-ए-अकबरी' में अकबर के परम कलानुराग और उसके द्वारा आश्रित सैकडो हिन्दू-मुसलिम कलाकारों की भूरि-भूरि चर्चा की है । चित्रकला से नफरत करने वाले लोगो से अकबर को नफरत थी । उसके अन्तःपुर, शयनकक्ष, अतिथिशाला सभी चित्रो से सुसज्जित थे । अकबरकालीन 'हम्जा चित्रावली' और 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'नैषधचरित' आदि ग्रन्थो के दृष्टान्त-चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । अकबर के आश्रित कलाकारो ने जिन व्यक्तिचित्रो का निर्माण किया, वे भारत से लेकर योरप तक के संग्रहालयों की बहुमूल्य सम्पत्ति के रूप में आज भी सुरक्षित हैं । वह प्रति सप्ताह चित्रो की प्रदर्शनी आयोजित करके निपुणताप्राप्त कलाकारों को उन्नत पदो पर नियुक्त करता था । उसका 'कला निकेतन' उसकी कलाभिरुचि का द्योतक था, जिसका अध्यक्ष अब्दुस्समद था । उसके कला और साहित्य के प्रेम का अनुपम उदाहरण उसका बृहत् पोथीखाना था, जिसमें चौबीस हजार हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित थीं, जिनमे उसके द्वारा तैयार करायी गयी सचित्र पोथियाँ विशेष महत्त्व की थी । उसका यह शाही पुस्तकालय दिल्ली, आगरा और लाहौर तीन नगरो में विभक्त था ।

अकबरयुगीन चित्रकला की विशेषता यह है कि इसी समय ईरानी कलम का स्थान भारतीय शैली ने लिया और यह परम्परा उसके बाद जहाँगीर के शासनकाल में भी बनी रही। उसमें अपने महान् पिता के समान महनीय गुण समाविष्ट थे। जहाँगीर वस्तुतः अकबर के अनुपम कलानुराग का जीवित रूप था। समीक्षक विद्वानों का अभिमत है कि जहाँगीर एक सहृदय, सुरुचिसम्पन्न, पहले दर्जे का चित्रप्रेमी, सौन्दर्योपासक, संग्रहकर्ता, विशद वर्णनकार और जिज्ञासु तथा प्रज्ञावादी शासक था। वह इतना अच्छा कला-पारखी था कि एक ही रूप-रंग-विषय से सम्बद्ध अनेक चित्रकारों द्वारा तैयार किये गये चित्रों को अलग-अलग कर सकता था।

अपने पिता की ही भाँति अच्छे-अच्छे चित्रों के अलबम तैयार करने और सचित्र पोथियों का निर्माण कराने का उसको बहुत शौक था। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि प्रकृति-चित्रों से उसे अद्भुत प्रेम था। जहाँगीर के समय स्फुट-चित्र अधिक बने और उनकी अपनी विशेषता यह है कि वे ईरानी प्रभावों से विमुक्त सर्वथा भारतीयता से ओत-प्रोत हैं। जहाँगीर की आत्मकथा 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' से विदित होता है कि वह हृदय का पवित्र, विचारों का उदार, दूरदर्शी, बुद्धिमान् और विनोदी स्वभाव का था। उसने परम्परागत सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकता के उद्देश्य से सभी धर्मावलम्बियों और उनके विचारों तथा उनकी परम्पराओं को पल्लवित होने के लिए पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की। उसने सभी धर्मानुयायियों के धर्म-प्रतिष्ठानों के निर्माण में समान रूप से प्रोत्साहन दिया और अपने दरबार को विभिन्न धर्मों तथा संस्कृतियों का संगम बनाकर प्रजा के हृदयों पर एकाधिकार स्थापित किया।

शाहंशाह शाहजहाँ का शासनकाल मुगल सल्तनत का सर्वाधिक वैभवकाल रहा है; किन्तु परम्परागत संस्कृति एवं कला की थाती का उन्नत मानदण्ड बनाये रखने में उसको सफलता नहीं मिली। उसके समय के मुसव्विरों की कलम में सल्तनत के वैभव को प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति अधिक दिखायी देती है। यद्यपि उसके दरबार में भी उन्हीं कलाकारों की अधिकता थी, जो उसके पिता के आश्रय में रह चुके थे; किन्तु अब उनकी कला-कृतियों में उतना आकर्षण तथा प्रभाव नहीं था।

शाहजहाँ की अभिरुचि भवन-निर्माण की ओर अधिक प्रतिफलित हुई। उसकी इस प्रेरणा में सम्भवतः मुमताज की ममता थी, जिसका अमर स्मारक ताजमहल है। ताजमहल का महत्त्व अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। उसमें

हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों का अपूर्व समन्वय दर्शित है। ताजमहल की अपनी विशेषता इस रूप में है कि उसका रचना-विधान हिन्दू वास्तुशास्त्र पर आधारित है और उसके शिल्प में इस्लामी स्थापत्य का संयोजन हुआ है। "संसार की अन्य इस्लामी इमारतों से यह इमारत बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। हिन्दू वास्तुशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन करके इसकी रचना की गयी है। बीच में एक बड़े गुम्बज तथा उसके चारों ओर चार छोटे-छोटे गुम्बजो को देखकर मन में पञ्च-रत्नों की कल्पना का उदय होता है। गुम्बज के मूल मे कमल-दल हैं। गुम्बज की चोटी के पास एक उल्टा कमल दिखाया गया है। चोटी पर त्रिशूल है।। सच तो यह है कि ताजमहल हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों संस्कृतियों के मधुर मिलन का एक नितान्त सुन्दर प्रतीक है" (लक्ष्मण शास्त्री जोशी—वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० 258)। ताजमहल के अतिरिक्त सिकन्दरे का मकबरा, मोती मस्जिद, जामा मस्जिद और लाल किले मे दीवाने खास तथा दीवाने आम भी उसके स्थापत्यप्रेम के उच्च द्योतक हैं। इन शाही इमारतों में वास्तुकला अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची है। उनकी अलंकरण-सज्जा, बारीक नक्काशी अत्यन्त आकर्षक है।

शाहजहाँ की अपेक्षा उसके ज्येष्ठ पुत्र शाहजादा दारा अधिक कलानुरागी था। दारा के विशेष प्रोत्साहन से निर्मित लगभग चालीस चित्रो का एक मुरक्का (अलबम), जो सम्प्रति इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन की सम्पत्ति है, उसके कलानुराग का स्मारक है। उसके द्वारा नादिरा बेगम को उपहार मे दिया गया एक चित्राधार भी उस अलबम में सुरक्षित है।

शाहजादा दारा वस्तुतः एक आध्यात्मिक अभिरुचि का व्यक्ति था। हिन्दू विद्वानो और कलाकारों के प्रति उसका दृष्टिकोण अपने पूर्वजों जैसा था। मुगलकालीन भारतीय संस्कृति के उन्नयन मे जिन यशस्वी मुगलों का अविस्मरणीय योगदान रहा, उनमें मुगल-ए-आजम अकबर के बाद शाहजादा दाराशिकोह का नाम ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दारा ने सल्तनत की अपेक्षा ज्ञानार्जन के मार्ग को अपनाया। वह अपरिमित विद्या-व्यसनी था और अपने समय के विचारवान् एवं ज्ञानी व्यक्तियों मे उसकी गणना होती थी। ज्ञान-प्राप्ति के लिए जीवन को उत्सर्ग कर देने की प्रेरणा उसको भारतीय शास्त्रो, विशेष रूप से उपनिषदों तथा दर्शनो के गम्भीर विचारो से प्राप्त हुई थी।

अकबर की ही भाँति दारा का भी हिन्दू सन्तों, मुसलमान फकीरों, सूफियों और अन्य धर्मों के प्रमुख आचार्यों से सदा ही सम्बन्ध बना रहा।

हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त हिब्रू और ईसाई धर्म-ग्रन्थों का भी उसने अध्ययन किया। राजकीय वैभव-विलास से सर्वथा विमुख होकर उसने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य ज्ञान-प्राप्ति का बना लिया था। अपनी जिज्ञासा-तृप्ति के लिए उसने अरबी, फारसी, संस्कृत और हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं का अध्ययन किया और उनमें सफलता प्राप्त की। उसने अपने अध्ययन और मनन का एकमात्र केन्द्र उपनिषदो को बनाया और उनका फारसी अनुवाद किया। 1640 ई० मे काश्मीर मे उसने काशी, काश्मीर तथा अन्य नगरों और मठों, आश्रमो से ऐसे सैंकडो वेदान्तियों तथा सूफी सन्तो को आमन्त्रित किया, जो सस्कृत-फारसी दानो भाषाओ के ज्ञाता थे। उनसे उसने निरन्तर छह मास तक उपनिषदो का श्रवण किया। तदनन्तर उसने उपनिषदों के भाषान्तर का कार्य आरम्भ किया और 1656 ई० मे उसको पूरा किया। लगभग पचास उपनिषदों के इस भाषान्तर का उसने नामकरण किया 'सीर-ए-अकबर' (महारहस्य)। इसके अतिरिक्त अपनी देख-रेख मे उसने 'भगवद्गीता', 'योगवाशिष्ठ' और 'प्रबोधचन्द्रोदय' का भी फारसी मे अनुवाद कराया।

हिन्दू-मुसलिम धर्मों के समन्वय के लिए दारा ने अकबर की महान् मानववादी विचारधारा को 'मजमा-उल-बहरीन' (दो सागरो का मिलन) नामक ग्रन्थ का प्रणयनकर पूरा किया। धार्मिक दृष्टि से वह अब्दुल कादिर गिलानी के 'कदरिया सम्प्रदाय' का अनुयायी था, जिसके अनुसार ज्ञान और कर्म के निष्पादन के लिए व्यक्तिमात्र को स्वतन्त्रता प्रदान की गयी थी। उसका 'मजमा-उल बहरीन' वस्तुत· मुगलकालीन भारत की सांस्कृतिक एकता का अमर स्मारक है।

शाहजहाँ के बाद मुगल सल्तनत का उत्तराधिकारी उसका सबसे छोटा पुत्र औरंगजेब बना; बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उसने अनधिकृत रूप से सत्ता को हथियाकर महान् मुगल परम्परा को अपने क्रूर स्वभाव के कारण नीचे गिरा दिया था। उसने इस्लाम की कट्टरता एव रूढ़िवादिता को अपनाया। उसकी सकीर्ण मनोवृत्ति और कट्टर मुगलपन ने कला के सभी स्रोतो को सुखा दिया। उसने अपने उन परिवारजनो के चित्र तैयार कराये जिन्हे ग्वालियर के किले मे कैद कर रखा था। उसकी उदासीनता के बावजूद शाही चित्रशालाएँ कायम थीं; किन्तु उनके कलाकार इधर-उधर बिखर गये थे। मुगलो के समय कला का जो उन्नत मानदण्ड स्थापित हुआ था, 17वी शती मे उसकी विरासत दक्षिण के बीजापुर तथा गोलकुण्डा के दरबारों में जा पहुँची।

वस्तुतः अकबर महान् द्वारा भारत में जिस सांस्कृतिक संगम की स्थापना हुई थी, दाराशिकोह ने उसे संवर्द्धित एवं विकसित किया; किन्तु भारतीय इतिहास की यह एक दुःखद घटना थी कि शाहजहाँ का उत्तराधिकार दारा को न मिलकर औरंगजेब के हाथों में गया। औरंगजेब जैसे कट्टरपन्थी शासक ने हिन्दू-इस्लाम के बीच एक खाई बनायी और उनकी एकता का भाव शिथिल पड गया। उसकी क्षुद्रताओं एवं संकीर्णताओ ने देश को कमजोर बना दिया। वस्तुतः 18वी शती का मुगलकालीन भारत सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आदि सभी दृष्टियों से बड़ा चिन्तनीय और दुर्दशाग्रस्त रहा है। उसका एकमात्र कारण मुगल सल्तनत के अन्तिम शासक औरंगजेब की कट्टरता तथा क्रूरता रही है। अपने पूर्ववर्ती महान् मुगलो के कीर्तिशाली एवं यशस्वी कार्यों को उसने सर्वथा भुला दिया था। उसकी संकीर्ण नीतियो से मन्दिरों का ध्वस्त हो रहा था, जनता उत्पीड़ित थी, राज्य तथा साम्राज्य ध्वस्तोन्मुख थे और सारी हिन्दू जाति अपने अस्तित्त्व के आसन्न खतरे मे भयभीत, त्रस्त तथा अनिश्चित भविष्य की स्थिति मे थी।

ठीक इसी समय अनेक सन्तो, कवियो और फकीरों का उदय हुआ। उन्होने अपने सदुपदेशो से, अपनी प्रेम और सौहार्दपूर्ण रचनाओं से जनता के धीरज को बढ़ाया। उन्होने एक ओर इस्लाम की कट्टरता को और दूसरी ओर हिन्दुओ के सकीर्ण कर्मकाण्ड एव पुरोहितवाद की भर्त्सना करके अपनी रससिक्त वाणियो द्वारा मानव-सामान्य मे प्रेम तथा सद्भाव की स्थापना की।

मुगलयुगीन सगीत साहित्य

मुगल सल्तनत की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद परम्परागत भारतीय संगीत की उन्नति में कुछ शिथिलता आयी। किन्तु अकबर जैसे समन्वयवादी विचारधारा के शाहँशाह के दरबार मे हिन्दू सगीतज्ञों को ईरानी संगीतज्ञो जितना स्थान प्राप्त था। उसी का परिणाम था कि अबुलफजल की 'आई-ने-अकबरी' में भारतीय संगीत की प्रशंसा और अनेक वाद्यों की विस्तार से चर्चा हुई है। इस युग में इसराज, सारगी, मयूरी वीणा और दिलरुवा का अधिक प्रचार रहा।

मुगलकालीन भारत में सगीत-विषयक अनेक मौलिक एवं प्रौढ ग्रन्थों के निर्माण से तत्कालीन संगीत की लोकप्रियता का पता चलता है। शाहँशाह अकबर के समकालीन एक कर्नाटकी विद्वान् पुण्डरीक विट्ठल हुआ, जिसका

समय 1599 ई० था। वह फारकीवंशीय बुरहान खाँ के यहाँ रहा करता था। एक महान् संगीतज्ञ होने के साथ ही वह महान् कवि भी था। उसने 'सद्रागचन्द्रोदय', 'रागमाला', 'रागमंजरी' और 'नर्तननिर्णय' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें वाद्य, राग, नृत्य आदि विषयों पर नयी दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। उसकी रचनाओं से उत्तर भारत के संगीत को विकसित होने का सुयोग मिला।

मुगलकालीन संगीतज्ञ ग्रन्थकारों में सोमनाथ पण्डित का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका 'रागविबोध' भारतीय संगीत का प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसकी रचना 1610 ई० में हुई। सोमनाथ दाक्षिणात्य विद्वान् थे; किन्तु उनकी रचनाएँ उत्तर भारत के संगीत से प्रभावित हैं। उन्होंने उत्तर और दक्षिण की पद्धतियों मे समन्वय स्थापित करके अपने अपूर्व पाण्डित्य का परिचय दिया।

ठीक इसी समय (1610 ई०) में दाक्षिणात्य श्रीरंग के राजा रामराज की आज्ञा से टोडरमल के पुत्र रामामात्य ने 'स्वरकलानिधि' नाम से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।

भारतीय संगीत के क्षेत्र में दामोदर पण्डित का उल्लेखनीय स्थान है। उनका स्थितिकाल 1625 ई० है। उनका 'संगीतदर्पण' भारतीय संगीत के सर्वोच्च ग्रन्थों मे गिना जाता है। इस ग्रंथ का 18वीं शती में एक फारसी अनुवाद हुआ। हिन्दी, बंगला और गुजराती आदि भाषाओं में भी उसके अनुवाद हो चुके हैं।

मुगल शाहंशाह औरंगजेब के शासनकाल में अहोबल पण्डित ने 1750-1757 ई० के बीच 'संगीत पारिजात' नाम से एक वृहद् ग्रन्थ की रचना की, जिसका दीनानाथ नामक संगीतज्ञ विद्वान् ने 1774 ई० मे फारसी अनुवाद किया। सोमनाथ की भाँति अहोबल ने भी दक्षिण तथा उत्तर भारत की संगीत-पद्धतियो में समन्वय स्थापित करके महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

भारतीय संगीत के इतिहास में पण्डित भावभट्ट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने 1674-1709 ई० के बीच 'अनूपविलास', 'अनूपांकुश' और 'अनूपसंगीतरत्नाकर' नाम से तीन ग्रन्थों की रचना की। उनके पिता जनार्दन भट्ट शाहंशाह शाहजहाँ के दरबार में रहा करते थे। भावभट्ट बीकानेर नरेश कर्णसिंह के पुत्र अनूपसिंह के दरबारी विद्वान् थे।

●●●

बाईस/हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान

मुगलोत्तर भारत

मुगल साम्राज्य के अन्तिम शाहंशाह औरंगजेब की हिन्दू विरोधी कट्टर नीति के कारण समस्त हिन्दू जनता उसकी विरोधी बन गयी थी। मुगल साम्राज्य को ध्वस्त करने के उद्देश्य से हिन्दुत्व समर्थक जो संगठन बने उनमे मथुरा के जाटों का प्रमुख स्थान है। उनके नेता गज्जा, राजाराम और चूड़ामन ने एक सशस्त्र सगठन तैयार किया; किन्तु जयपुर के सवाई प्रतापसिंह की सहायता से दिल्ली की शाही सेना ने उसको ध्वस्त कर दिया। अब स्थिति यह थी कि राजपूत रजवाड़े मुगलों के हमदर्द बन गये थे और उनकी जी-हुजूरी मे ही अपने अस्तित्व को कायम रखे हुए थे।

कुछ दिन बाद चूड़ामन के भाई भावसिंह के पुत्र बदनसिंह ने जाटों के सगठन को पुनर्जीवित किया और भरतपुर में अपने को एक स्वतन्त्र शासक के रूप में स्थापित किया। उसके उत्तरवर्ती शासकों में सूरजमल और जवाहरसिंह का नाम प्रमुख है।

जोधपुर के यशस्वी राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसका पुत्र अजीतसिंह उसका उत्तराधिकारी बना; किन्तु औरंगजेब ने उसको स्वीकार नहीं किया। उसने अजीतसिंह को शाही दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया, जिससे संशकित होकर वीर दुर्गादास ने अजीतसिंह को लेकर दिल्ली से मारवाड़ की ओर प्रस्थान किया। शाही फौज के पीछा करने के बावजूद अजीतसिंह मारवाड़ तक पहुँचने में सफल हो गया। औरंगजेब ने अपने शाहजादा अकबर (द्वितीय) को सेना के साथ युद्ध के लिए मारवाड़ भेजा; किन्तु लड़ने के बजाय वह राजपूतों से जा मिला। बाद में वह राजधानी दिल्ली लौट आया। अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक बनाने तक वीर दुर्गादास दिल्ली की मुगल सेना से निरन्तर लोहा लेता रहा।

उधर दक्षिण से मराठों और पश्चिम से सिक्खों का विरोध निरन्तर बढ़ता जा रहा था और इधर औरंगजेब निरन्तर युद्धों के कारण क्षीण होता जा रहा था। औरंगजेब की अन्तिम अवस्था में उसके तीन पुत्र वर्तमान थे, जिनके नाम थे मुहम्मद मुआज्ज़म, आजम और कामबक्स। औरंगजेब के बाद मुहम्मद मुआज्ज़म, बहादुरशाह के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा। अपने दोनों भाइयों को उसने मरवा डाला। उसके बाद फर्रुखसियर, मुहम्मदशाह और उसके बाद बहादुरशाह द्वितीय के समय तक (1787 ई०) दिल्ली पर मुगलों का शासन बना रहा। किन्तु औरंगजेब के बाद के ये उत्तराधिकारी नितान्त अयोग्य और असफल सिद्ध हुए।

मुगल साम्राज्य के अस्त हो जाने के बाद भारत के विभिन्न अंचलो मे जिन नये राज्यों तथा उपराज्यो का उदय हुआ, उनमे से अधिकतर ऐसे थे, जिनके द्वारा आशा के विपरीत राष्ट्रीय उत्थान मे कोई महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त नही हुआ। एक प्रकार से सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता की अराजकता एवं निरंकुशता ने देश की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया।

दक्षिण के जिन मराठों ने एक समय हिन्दुत्व-रक्षा के अपने इतिहास मे नाम कमाया, उन्होंने गाँवों को लूटना, जलाना और अपहरण करना आरम्भ कर दिया। अपने को राजा तथा शासक घोषित करने वाले वे 'ऐशो-आराम' और भोग-विलास के जीवन मे लिप्त हो गये।

यादववंश

भारतीय इतिहास में यादववश अपनी प्राचीनता, ख्याति और व्यापकता आदि सभी दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसकी प्राचीनता वैदिक युगीन है। इस वंश का सम्बन्ध चन्द्रवंशीय राजा ययाति तथा देवयानी के पुत्र यदु से बताया जाता है, जिसका राज्य दक्षिण में था। दक्षिण से यदुवंशज यादव पश्चिम पंजाब और तदनन्तर उत्तर भारत में मथुरा तक फैले। श्रीकृष्ण इस यादववश के सार्वभौम अधिष्ठाता थे। उन्होंने अपनी राजधानी को मथुरा से ले जाकर द्वारिका में स्थापित किया।

पश्चिम में यादवो की शाखा पंजाब से काबुल और कन्धार तक फैली। उस शाखा के गज नामक एक पराक्रमी यादव ने गजनी को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के एक शालिवाहन राजा ने अपने नाम से शालिमान नगर बसाया, जिसे आज शियालकोट के नाम से कहा जाता है। इसी वंश के एक

भट्टी या भाटी नामक यादवनरेश ने भटनेर (आधुनिक हनुमानगढ़) को अपनी राजधानी बनाया। मुगल आक्रमणकारियों ने भाटियों को पंजाब से भगाया और वे राजस्थान में आकर जैसलमेर में बस गये। आधुनिक भारत के प्रसिद्ध व्यापारिक भाटिये इन्हीं यादववंशीय राजपूतों के वंशज हैं; किन्तु वे स्वयं अपने को वैष्णव वैश्यों में परिगणित करना उपयुक्त समझते हैं।

यादवों की एक शाखा काठियावाड़, कच्छ, जामनगर तथा राजकोट तक फैली। दक्षिण में कलचुरी यादव भी इसी वंश के हैं। उनका मूल स्थान करौली (राजस्थान) था। कल्याण के चालुक्यवंश के पतन के बाद यादवों ने देवगिरि (दौलताबाद, हैदराबाद, आन्ध्र) में अपने नये साम्राज्य की नींव डाली। इस यादववंश के प्रतिष्ठाता भिल्लम् पंचम ने 1187 ई० में देवगिरि को अपनी राजधानी बनाया। लगभग 1210 ई० तक उसका शासन बना रहा। 1210-1313 ई० तक जिन यादववंशीय शासकों ने देवगिरि पर शासन किया उनमें क्रमशः जैत्रपाल, सिंघण, कृष्ण, महादेव और रामचन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस वंश का सर्वाधिक प्रतापी राजा सिंघण हुआ। वह बड़ा धार्मिक सहिष्णु, विद्यानुरागी और कलाप्रेमी शासक था। 'संगीत रत्नाकर' का रचयिता शार्ङ्गदेव और प्रसिद्ध ज्योतिर्विद्, विद्वान् चांगदेव उसकी विद्वत्सभा के रत्न थे। चांगदेव ने ज्योतिष के अध्ययन और विशेष रूप से भास्कराचार्य के 'सिद्धान्त शिरोमणि' के अध्ययनार्थ पटना (जिला खानदेश) में एक विद्यालय की स्थापना की थी। सिंघण स्वयं संस्कृतज्ञ था और उसने 'संगीत रत्नाकर' पर एक टीका लिखी थी।

यादव राजा महादेव और रामचन्द्र के शासनकाल में प्रसिद्ध धर्मशास्त्र के आचार्य हेमाद्रि हुए, जिन्होंने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' जैसे अद्वितीय स्मृति-ग्रन्थ का प्रणयन किया।

चन्देलवंश

मध्ययुगीन भारत के इस प्रसिद्ध राजवंश ने बुन्देलखण्ड तथा दक्षिण-पश्चिम उत्तर प्रदेश पर 10वीं से 12वीं शती तक शासन किया। नंनुक इस वंश का संस्थापक था। धंगदेव (950-1000 ई०) इस वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध राजा हुआ। खजुराहो के प्रसिद्ध विश्वनाथ तथा पार्श्वनाथ मन्दिर उसी ने बनवाये। उसके पुत्र गंड (1001-1017 ई०) ने जगदम्बी वैष्णव मन्दिर और चित्रगुप्त

शिवमन्दिर का निर्माण कराया। उसके पुत्र विद्याधर (1018-1029 ई०) ने महादेव के विशाल मन्दिर की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारियों में क्रमशः विजयपाल, कीर्तिवर्मन्, मदनवर्मन्, सल्लक्षणवर्मन्, जयवर्मन्, पृथ्वीवर्मन् देव और परिमर्दिदेव (या परमाल) ने लगभग 1208 ई० तक चन्देलवंश के गौरव को कालिंजर में बनाये रखा। उनमें कीर्तिवर्मन् (1070-1098 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। वह बड़ा कलाप्रेमी और साहित्यानुरागी शासक था। उसके समय कृष्णमिश्र ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक की रचना की थी और उसके दरबार में उसका अभिनय हुआ था। उसके समय खजुराहो के मन्दिरों का भी निर्माण हुआ।

चन्देलवंश का अन्तिम शासक महाराज परिमर्दिदेव (1165-1208 ई०) हुआ। पृथ्वीराज चौहान से उसका संघर्ष हुआ था। उसके बाद कुतुबुद्दीन ने कालिंजर गढ़ पर आक्रमण करके चन्देलो के वैभव को समाप्त कर दिया था।

चन्देलवंश के शासक वैष्णव धर्मानुयायी थे। उनके समय पौराणिक धर्म का पुनरभ्युदय हुआ। उन्होने विष्णु, वराह, वामन, नरसिंह, राम, कृष्ण आदि अवतारों तथा हनुमान, अष्टशक्तियों, सूर्य, ब्रह्मा, गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती, इन्द्र, चन्द्र, गंगा आदि के मन्दिर तथा मूर्तियाँ निर्मित कराके अपनी धार्मिक निष्ठा एवं उदारता का परिचय दिया। ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त बौद्ध और जैन धर्मों के प्रति भी अपनी निष्ठा व्यक्तकर उन्होंने इन धर्मों को खजुराहो के मन्दिरों में मूर्तित किया।

चन्देल शासक और उनके मन्त्री तथा सामन्त स्वयमेव बड़े विद्यानुरागी थे। उनके अभिलेखों में उन्हें कवि, बालकवि, कवीन्द्र और कवीन्द्र चक्रवर्ती आदि वीरुदो से अभिहित किया गया है।

उनका कलानुराग खजुराहो तथा महोबा के बौद्ध मन्दिरों के रूप में विश्वविश्रुत हो चुका है। भवन-निर्माण कला मे खजुराहो के मन्दिर भारतीय शिल्पियो की सर्वोच्च, सदाशय देन है। खजुराहो के मन्दिर अपनी विशालता मे ही नही, भव्यता और रचनात्मक कौशल की दृष्टि से भी अनुपम हैं। उनके गर्भगृह, मण्डप, अर्ध मण्डप, अन्तराल, महामण्डप और अधिष्ठान (चबूतरे) शास्त्रीय दृष्टि से निर्मित हैं।

खजुराहो

मध्य प्रदेश के छतरपुर नगर से 25 मील उत्तर-पूर्व में खजुराहो की अपार कला-सम्पत्ति सुरक्षित है। खजुराहो को चन्देल राजाओं की राजधानी होने का

सुयोग प्राप्त रहा। खजुराहो के चारों ओर खेतों में फैली गिट्टियों और छोटे-छोटे टीलों को देखकर यह ज्ञात होता है कि इस विस्तृत क्षेत्र में कोई विशाल नगर था और उसका वैभव कई सौ वर्षों तक बना रहा।

खजुराहो की भव्य कला-थाती का निर्माण चन्देलवंशीय शासक धंग (950-1000 ई०), विद्याधर (1018-1029 ई०), कीर्तिवर्मन् (1070-1098 ई०) और मदनवर्मन् (1129-1163 ई०) के समय में अर्थात् 12वीं शती के मध्य से 12वीं शती के अन्त तक हुआ।

प्रचलित परम्पराओं के अनुसार खजुराहो के मन्दिरों की संख्या 85 बतायी जाती है; किन्तु सम्प्रति वहाँ केवल 25 मन्दिर ही किसी प्रकार सुरक्षित रह सके हैं। उनमें भी अनेक भग्नावशेष मात्र हैं।

खजुराहो के मन्दिर भारतीय कला-परम्परा के चरम विकास के परिचायक हैं। वे उन कालजयी अमर कलाकारों की साधना के सजीव रूप हैं। उनमें विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों का समन्वय देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन भारत में प्रचलित शैव, शाक्त, वैष्णव और जैन आदि धर्मों के अनुयायी कलाकारों ने अपनी कला-साधना को वहाँ पर मूर्तिमान कर दिया था। मानो उन्होंने अपने कला-कौशल की स्वयं ही परीक्षा लेने की ठान ली थी।

खजुराहो की अपार मूर्ति-सम्पदा की विशेषता इसमें है कि वहाँ दो सर्वथा विरोधी भाव-विचारों के दर्शन होते हैं। उनमें एक ओर तो गम्भीर आध्यात्मिकता और दूसरी ओर उत्कट लौकिकता की सूक्ष्म दृष्टि सन्निहित हुई देखने को मिलती है; और वस्तुतः दोनों को इसी रूप में आँकने का अन्तिम प्रयत्न किया गया है। एक ओर तो वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, शिव के विभिन्न रूप, अष्ट दिग्पाल, पार्श्वनाथ, आदिनाथ, पार्वती जगदम्बा आदि विभिन्न रूपों की छवियाँ देखने को मिलती है और दूसरी ओर चौसठ योगिनियों, मिथुनों, अप्सराओं तथा नायक-नायिकाओं की उत्कट वासनारंजित आकृतियों के दर्शन होते हैं। सात्त्विक भावों और रजस् मनोविकारों के सर्वथा वैपरीत्य की दुरन्त दशाओं का संगम करके समष्टिगत मानवता को किसी निश्चित स्थिति पर पहुँचाने के लिए खजुराहो के दिव्य चेता कलाकारों का लक्ष्य ऊपर से देखने में जितना ही पृथुल है, उसका विश्लेषण करने पर वह उतना ही सूक्ष्म प्रतीत होता है। विभिन्न मनोदशाओं की चरम परिणति की अवस्था में आत्मसामीप्यता का बोध कराने के लिए एक कला साधक ने

यावज्जीवन जो अर्जित तथा संचित किया, उसे उसने खजुराहो की कला-कृतियों में बिखेर दिया, जो कि सदियो से अनेक दर्शकों को आनन्दविभोर करती आ रही हैं।

खजुराहो के मन्दिरों का मूर्ति-शिल्प समस्त भारत के उपलब्ध मूर्ति-निर्माण मे अपनी समता का स्वयं ही उपमान है। वहाँ नाना प्रकार की चेष्टाओ तथा हाव-भावो से संयुक्त अप्सराएँ और मिथुन मूर्तियाँ कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं। गुप्त युग की कला-परम्परा को द्योतित करने वाली उन्नत नासिका और लम्बे मुख वाली नारी-मूर्तियाँ शरीर की सुकुमारता और लालित्य की दृष्टि से अनुपम हैं। इसी प्रकार कमनीय देहयष्टि और वासना से ओत-प्रोत मिथुन मूर्तियाँ खजुराहो के अपार कला-वैभव को ध्वनित करती हैं। उनमें अश्लीलता का दोषारोपण करनेवाले समीक्षकों ने उनके एकांगीण पक्ष के ही दर्शन किये हैं।

खजुराहो की देव-मूर्तियो का सौष्ठव और सौन्दर्य-गठन भी विशेष रूप से दर्शनीय है। उनमे एक ओर तो परम्परागत कौल तथा कापालिक सम्प्रदायो की विकृत मनोदशाओ तथा प्रचलित सामाजिक कुरीतियो का दिग्दर्शन किया गया है और दूसरी ओर मानसिक विचारों की विभिन्न अवस्थाओ का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। शैव, वैष्णव और जैन देव-मूर्तियाँ अपनी परम्परा की चरम कृतियाँ हैं। 'रामायण' और 'भागवत' जैसे लोकप्रचलित एवं लोकसम्मानित ग्रन्थों के आधार पर निर्मित मूर्तियाँ इस दृष्टि से विशेष रूप से दर्शनीय है। इसी प्रकार जैन-तीर्थकरो तथा यक्षणियों की मूर्तियाँ भी जन-भावना की प्रतीक हैं।

खजुराहो के प्राय: सभी मन्दिरो के कोनो मे नीचे की ओर मूर्तिपंक्ति मे अष्ट दिक्पालो और उनके ऊपर गोमुख नन्दिकेश्वर की मूर्तियाँ बनी हुई है। कुछ मन्दिरो के अधिष्ठान की प्रतिमाओ पर चामुण्डा, सप्तमातृकाएँ, गणेश, दुर्गा, कार्तिक और वीरभद्र की मूर्तियाँ बनी हैं। इसी प्रकार कल्याणसुन्दर, उमा, महेश्वर, अन्धकासुर-सहार, विष्णु नटराज, हरिहर, गजेन्द्रमोक्ष, अर्धनारीश्वर, सदाशिव, वैकुण्ठ, अनन्त, नवग्रह, दशावतार, लक्ष्मी, सूर्य और हिरण्यगर्भ की मूर्तियाँ देवछवियो की दृष्टि से दर्शनीय हैं। शंकर के विभिन्न रूपो का उत्कीर्णन विशेष रूप से आकर्षक है। छः मुखो, चार पैरो और बारह हाथों वाली सदाशिव की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें शिव के साथ ब्रह्मा और विष्णु के संयुक्त रूपों का अंकन किया गया है। नन्दी, हस और गरुड़ उनके वाहन हैं।

खजुराहो का मूर्ति-निर्माण जितना ही प्रशस्त एवं उत्कृष्ट है, उसी प्रकार मन्दिरों का स्थापत्य भी उतना ही अनुपम है।

राजपूतयुगीन संस्कृति

भारतीय इतिहास में राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से मौर्यों से लेकर गुप्तों तक का इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण एवं प्रशस्त रहा है। आजीवन युद्धों में जूझते हुए हर्ष ने इस परम्परागत राष्ट्रीय अखण्डता का और अपने पूर्ववर्ती चक्रवर्ती सम्राटों के आदर्शों का निर्वाहकर स्वयं को इतिहास में अमर बनाया। हर्ष के बाद भारत की एकच्छत्र शासन-व्यवस्था अनेक छोटे-बड़े राज्यों एवं उपराज्यों में विकेन्द्रित हो गयी थी। इस विकेन्द्रित शासन सत्ता के उत्तराधिकारी मध्ययुगीन राजपूत हुए, जिनके अनेक वंश भारत के विभिन्न अंचलों से एक साथ उदित हुए।

राजपूतों का इतिहास नितान्त ग्रस्त-व्यस्त और अनेक प्रकार के उत्थान-पतनों से प्रभावित है। प्रारम्भ में क्षत्रियों के केवल दो ही वंश विश्रुत थे—सूर्यवंश और चन्द्रवंश। बाद में 'अग्निवंश' के नाम से एक नये क्षत्रियवंश की उत्पत्ति हुई। इस वंश की उत्पत्ति महामुनि वसिष्ठ द्वारा अर्बुद पर्वत (आबू) पर सम्पादित यज्ञकुण्ड से बतायी गयी है। यज्ञकुण्ड से उत्पन्न होने के कारण ही उसको अग्निवंश कहा गया। इस अग्निवंश के क्षत्रियों में चौहान, परमार, चालुक्य और प्रतिहारों का नाम प्रमुख है।

राजपूतों के सम्बन्ध में इतिहासकारों की धारणा है कि उनके वंशज उत्तर-पश्चिम से 5वीं. 6ठी श० ई० के लगभग भारत में आये। उनमें से अधिकतर कबीले मध्य एशिया से चले और लगभग 10वीं श० ई० तक राजस्थान तथा मध्य भारत में आकर बस गये। धीरे-धीरे वे हिन्दू संस्कारों के साथ इतने घुल-मिल गये थे कि हिन्दुत्व के अभिन्न अंग बन गये। इस प्रकार की लगभग छत्तीस विभिन्न विदेशी जातियों का इतिहासकारों ने उल्लेख किया है, जिन्होंने हिन्दुत्व को वरण किया। उनमें गुर्जर, प्रतिहार, हूण, गोंड, भर, गूजर, जाट, अभीर और खसिया प्रमुख थे। क्षत्रियों और राजपूतों के सम्बन्ध में कुछ बातें ऐसी हैं, जिनके विषय में मत-मतान्तर हैं। भारत में जो मूल क्षत्रियवंश था और जिसने परम्परा से राष्ट्र-रक्षा तथा प्रशासनिक व्यवस्था का भार वहन किया था, वह ईसा पूर्व से आने वाले पश्चिम के दुर्दान्त कबीलों और शकों तथा कुषाणों के आक्रमणों और बाद में हूणों तथा परिहारों के संघर्षों के फलस्वरूप लगभग 5वीं शती ई० में गुप्तों के साथ ही पूर्णतया क्षीण हो चुका था। इस

विलुप्त हुई क्षत्रियत्व की विरासत को अग्निकुलीय चौहान, परमार, चालुक्य और प्रतिहार राजपूतो ने सम्भाला। निरन्तर उनकी संख्या में वृद्धि होती रही। उन्होंने निःसंकोच भाव से ब्राह्मणो तथा वैश्यों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये। इस प्रकार के राजपूत क्षत्रिय 11वीं शती तक समस्त भारत में फैल गये थे।

वस्तुतः मुगलों के भारत में प्रवेश करने से पूर्व 11वीं शती के लगभग तक क्षत्रियों के जो वंश प्रकाश मे आ चुके थे, उनमे राजपूतो की कही भी गणना नही हुई है। वे वैदिक परम्परा से चले आ रहे विशुद्ध भारतीय क्षत्रियो के वंशज नही थे। 11वी 12वी, शती के बाद राजपूताना तथा मध्य भारत मे विभिन्न नाम-रूपो से प्रकाश मे आनेवाले क्षत्रिय राजपूतों को इतिहासकारों ने हूणों तथा सीथियनो की सन्तानें कहा है। उनका क्षत्रियों में परिगणित होने का एकमात्र कारण उनका शौर्य, ओज और वीर, बलिदानी स्वभाव रहा है।

राजपूतों के सम्बन्ध मे एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि कन्नौज के बाद उनका प्रमुख केन्द्र राजस्थान रहा है। उन्ही के नाम पर मेवाड़, मारवाड़, बीकानेर, उदयपुर तथा जैसलमेर आदि विभिन्न अंचलों को राजपूताना या राजस्थान नाम से कहा गया है। अपने वर्तमान रूप की अपेक्षा पुरातन काल मे राजस्थान अनेक छोटी-बडी रियासतों में विभक्त और तदनुसार विभिन्न क्षेत्रीय नामों से अभिहित होता रहा। 'राजस्थान' यह नाम सर्व प्रथम इतिहासकार टॉड ने दिया। अंग्रेजो के शासनकाल मे उसे राजपूताना कहा जाता रहा। छठी-सातवी शती ईसवी तक वह प्रमुख चार भागो मे विभक्त था, जिनके नाम थे गुर्जर, बागड, वैराट् और मथुरा। ह्वेन-त्सांग के समय उसकी यही स्थिति थी।

उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक फैले मध्ययुगीन राजपूत जातियाँ भले ही पुरातन क्षत्रियो की परम्परा से प्रसूत न भी रही हों, तथापि यह सत्य है कि इस देश की जनता ने उनको हिन्दुत्व के गौरव के रूप में सम्मानित किया। राजपूत श्रम, साहस, शौर्य और आत्म-बलिदान के महनीय गुणो से समन्वित होने के कारण उच्च हिन्दुत्व के अधिकारी बने। लगभग चार सौ वर्षों के लम्बे समय तक हिन्दुत्व की आन-बान को बनाये रखने मे उन्होंने जिस अपूर्व वीरता और आत्म-बलिदास का परिचय दिया, उससे भारतीय इतिहास मे उनका नाम सहज ही वरेण्य बन गया। उन्होंने अपनी खड्ग की धार से नयी परम्पराओ की और नये आदर्शों की स्थापना करके इतिहास में अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किये।

युद्धजीवी वीर जाति राजपूतों की सांस्कृतिक परम्पराएँ अति ही गौरवपूर्ण रही हैं। उनमें नारी-सम्मान की भावना इतनी दृढ़ एवं अडिग थी कि उसकी रक्षा में उन्होंने अपनी रक्षा की भी चिन्ता नहीं की। अपने भयंकर शत्रुओं के साथ भी उन्होंने सहृदयता का व्यवहार किया और विजित को क्षमादान कर दिया। उनकी यह वंशानुगत स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि शरण मे आये किसी भी शत्रु को वे क्षमादान कर देते थे। मित्र या शत्रु जो भी हो, कुछ अपेक्षा करके आये हुए प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति के लिए चाहे जितना भी खतरा उठाना पड़ता, उससे वे पीठ नही फेरते थे। आन के धनी, वचन के पक्के, जान को हथेली पर रखकर सदा ही आत्म-बलिदान के लिए प्रस्तुत रहनेवाले राजपूतों के आदर्श चरित्र से भारतीय संस्कृति गौरवान्वित हुई।

राजपूतों की भाँति वीरप्रसू राजपूतानियो का इतिहास भी कम गौरवान्वित नही है। उन वीर ललनाओं ने अपने पतियो तथा सैनिको के साथ युद्ध-भूमि मे प्रवेशकर अपूर्व शौर्य का परिचय दिया और वीर माताओं का बीरुद धारण कर भारत की मान-रक्षा की। उन्होंने वीरगति को प्राप्त हुए अपने पतियों की चिताओ में आत्मदाह करके अपने 'जौहर' से विश्व के नारी-इतिहास में अक्षुण्ण कीर्ति को स्थापित किया। "वह युद्ध और शिकार में अपने पति की सहचरी थी तथा अपमान, सतीत्वहरण एव दासता की अपेक्षा चिता पर जीवित जल जाना अधिक पसन्द करती थी" (भारत की संस्कृति और कला पृ० 261)।

राजपूतों के शौर्य और राजपूतानियों के सतीत्व की अनेक रोमांचक गाथाएँ आज भी अनेक ख्यातों के रूप मे सुरक्षित है। इन वीर गाथाओं को चारण या भाट ओजस्वी लोक-भाषा मे गा-गाकर वीरो को उत्साहित करते रहे। इन गाथाओ के उद्‌गाता वे भाट या चारण राजस्थानी साहित्य के उत्प्रेरण एवं जनक थे। राजपूतों का लगभग आठ सौ वर्षों का सुदीर्घकालीन इतिहास इन ओजस्वी वीर गाथाओ से ओत-प्रोत है। इन वीर गाथाओं मे चित्तौडगढ़ का सर्वाधिक गुणगान हुआ है। राणा रतनसिंह, उनकी वीरांगना महारानी पद्‌मिनी, महाराणा प्रताप और राणा अमरसिंह के शौर्य की गाथाएँ आज भी राजपूताना के अतीतकालीन गौरव की द्योतक हैं।

भारत के इन मध्ययुगीन रजवाड़ो में राजपूताना के अतिरिक्त, गुजरात, मालवा, विजयनगर, बुन्देलखण्ड और कालिंजर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के निर्माण और उन्नयन में उन्हीं

का एकमात्र योगदान रहा। देश के अनेक अंचलों में फैले इन राजपूतवंशों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा करने और राष्ट्रीय गौरव बनाये रखने में जो अद्भुत कार्य किये उनकी थाती छोटे-मोटे सैकड़ों ग्रन्थों में आज भी सुरक्षित है। सांस्कृतिक गौरव की संरक्षक इस प्रकार की साहित्यिक निधि में राजपूत चारण चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' का नाम अग्रणी है, जिसमें चौहान पृथ्वीराज के शौर्य, पराक्रम और साहस की अद्भुत कथा वर्णित है। उन्हीं के सम-सामयिक कवि जगनिक के 'आल्हा खण्ड' में महोबा के वीर राजपूत युवकों आल्हा और ऊदल के अदम्य साहस की कहानी कही गयी है। इसी प्रकार कवि शारंगधर के 'हम्मीरविजय' में रणथम्भोर के हम्मीरदेव के साहसिक कार्यों का ओजस्वी वर्णन किया गया है। लगभग चार सौ वर्षों के मध्ययुगीन भारत में जो घटनाएँ घटित हुई, उनका आँखों देखा हाल इन ग्रन्थों में वर्णित है। उनके रचयिता स्वयमेव ऐसे सेनानायक थे, जो रणभूमि में उतरकर तलवार भी चलाते थे और अवकाश के समय उसे लेखनी द्वारा लिपिबद्ध भी करते रहे। राजपूतों की उन्नत सांस्कृतिक थाती का प्रतीक इस प्रकार का विशाल साहित्य सम्प्रति हिन्दी-साहित्य के जीवन्त अंग के रूप में विद्यमान है।

राजपूतों के पराजय के कारण

सम्राट् हर्षवर्धन स्वयं एक वैस राजपूत और मध्ययुगीन भारत के राजपूत इतिहास का गौरव था। उसके शासनकाल में ही अनेक प्रकार के राजनीतिक संकटों का उदय हो चुका था, जिनका पूर्णरूप उसके बाद प्रकाश में आया। हर्ष के बाद भारत की एकच्छत्र शासन-व्यवस्था अनेक हिन्दू रजवाड़ों में बँटकर विच्छिन्न हो चुकी थी। हर्ष के बाद भारत का शासनतन्त्र राजपूतों के हाथों में आया।

राजपूतों के संरक्षण में वीर प्रसविनी राजपूताना की धरती पर, जिसका प्रभाव सुदूर गुजरात और मध्य भारत तक फैला हुआ था, भारतीय संस्कृति की मानरक्षा के लिए जो अपूर्व कार्य हुए और इतिहास में जिनका गौरव के साथ उल्लेख हुआ है, भारतीय जन-जीवन के लिए अतीत के आठ सौ वर्षों तक वे प्रेरणा के अजस्र स्रोत बने रहे। राजपूत युद्धजीवी, शूरवीर और त्याग-बलिदान के प्रतीक थे; किन्तु उनमें एकता और राष्ट्रीय अखण्डता की भावना का अभाव था। उनमें पारस्परिक संगठन नहीं था और वे अलग-अलग फिरकों में बँटकर युद्ध करते रहे। उनका बल-वैभव अपने-अपने रजवाड़ों की सीमाओं तक ही सिकुड़ा हुआ रहा। उनकी यह सीमित दृष्टि इतनी स्वार्थपरक

एकांगी और संकीर्ण बन गयी थी कि अपने पड़ोसी रियासतों पर विधर्मी तुर्क-अफगानों के आक्रमण होने पर भी वे चैन की सांस लेकर तमाशा देखते रहे।

उनकी कमजोरी का कारण उनका व्यर्थाभिमान था। अपने प्रशसकों और चापलूसों से सदा घिरे रहने के कारण उनमे जो 'अपने से बढ़कर दूसरे को न मानने' का स्वाभिमान जागा और उन्होंने अपने को 'विशिष्ट' समझने का जो अहकार धारण किया, उसके कारण उनका पतन हुआ। विदेशी आक्रमणकारियो की सगठित क्षमता के मुकाबले में स्वयं संगठित होकर लडाई लड़ने की बात तो दूर रही, वे अपने को देवत्व की गरिमा से परिमण्डितकर छोटी-छोटी बातो पर स्वय ही परस्पर लड़ पडते थे। उनमें जातीयता, उच्चकुलीनता और सामन्तवाद की भावना व्याप्त हो गयी थी। वे अपने को गुर्जर, राष्ट्रकूट, चन्देल, कलचुरि, परिहार, पवार, गहड़वाल, चौहान और सोलकी आदि की जातीय सकीर्णताओं में उलझकर राष्ट्रीय एकता को भुला बैठे थे।

राजपूतों की इस परवर्ती स्वाभिमान तथा अहकार की दूषित प्रवृत्ति ने सामाजिक कुरीतियों को भी जन्म दिया। जिन राजपूत ललनाओं ने 'जौहर' की उदात्त गरिमा से समस्त नारी वग के इतिहास को गौरवान्वित किया था और जो पुरुषो के शौर्य तथा साहस की दीपशिखा एवं प्रेरणा-स्रोत थी, अब वे महलो या हर्म्यों के अन्दर, परदे के भीतर सिमिटकर विलास की वस्तु मात्र बनकर रह गयी। इस प्रकार परदे की कुप्रथा को जन्म देकर राजपूत जाति ने न केवल अपना ही ह्रास किया, अपितु सारे भारत मे इस कुरीति के जनन का भी श्रश्रेय प्राप्त किया। राजपूतों की सामन्ती भावना ने उनको शेष समाज से अलग कर दिया। उन्होंने अपने विशेषाधिकारों और उच्च सामन्ती परम्पराओं का दावा प्रस्तुत किया, जिसके परिणामस्वरूप समाज मे वर्गवाद तथा शोषक-शोषितो की असमानता का उदय हुआ। इस सामन्ती वर्गवाद से प्रभावित सामान्य हिन्दू समाज को धर्म-परिवर्तन के लिए भी विवश किया।

13वीं शती ई० के अन्त तक यह स्थिति बन गयी थी कि जहाँ मुगल सेनाएँ 'जेहाद' के जोश मे निर्दयतापूर्वक स्त्रियो का अपहरण करने और बच्चों तक को काटने में नहीं हिचके और धर्मान्ध होकर हिन्दू मन्दिरों, पुस्तकालयों, ज्ञान-प्रतिष्ठानो और कलाकेन्द्रों को निर्दयतापूर्वक ध्वस्त करते

गये, वहाँ दूसरी ओर नियमों, परम्पराओं और कुलीनता की कुण्ठाओं में आबद्ध एवं ग्रसित हिन्दू रजवाड़े आत्मरक्षा की चिन्ता में विकेन्द्रित होकर अपनी-अपनी खोहों में चुपचाप बैठे हुए, एक के बाद दूसरा अपने विजेताओं की आधीनता को स्वीकार करते गये।

राजपूतों के पराजय का एक प्रबल कारण उनके रणकौशल के पुराने तरीके थे। खड्ग के धनी, अद्‌भुत साहसी और स्वाभिमान की भावना से ओत-प्रोत राजपूतों की पराजय का एकमात्र कारण था उनकी असंगठित रणनीति। अपने वंशाभिमान और क्षेत्रीय स्वत्व की संकुचित भावना के कारण उनमें स्थायी एकता तथा सैन्य-संगठन का अभाव सदा बना रहा। उनके पास न तो कारगर हथियार थे और न युद्ध-कुशल अश्वारोही सेना।

इन सब कारणों ने मिलकर भारत को भविष्य की अनेक पीढ़ियों तक पराधीनता की बेड़ियो में आबद्ध किया।

राजपूतयुगीन कला

वास्तुकला

राजपूतों की कलात्मक देन मुख्यतः वास्तुकला, और चित्रकला दो रूपो मे जीवित है। भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय में राजपूतो का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उसके उदाहरण मध्य भारत तथा राजस्थान के विस्तृत भू-भाग मे विशाल एव सुदृढ़ दुर्गों, राजमहलों, मन्दिरों और निजी आवासों के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। चित्तौडगढ, रणथम्भौर, जोधपुर, माण्डू, बीकानेर, ग्वालियर, चन्देरी, दतिया, अम्बर, वैराट, ओरछा और वस्तुतः समस्त राजस्थान तथा मध्य भारत मे वर्तमान सहस्रों दुर्ग न केवल उनके वीरतापूर्ण, ओजस्वी और अदम्य शौर्य-साहस की यशोगाथा के परिचायक हैं, और गगन मे उत्तुग भाल उनके स्वाभिमान को घोषित कर रहे हैं, अपितु उनके द्वारा यह भी अवगत होता है कि वास्तुकला के प्रति उनकी कितनी अधिक अभिरुचि तथा जानकारी थी। सारे विश्व मे राजपूतों की यह देन वास्तव मे अपने ढंग की अपूर्व, अतुलनीय एव अविस्मरणीय है। उनको जिस उन्मुक्त प्राकृतिक एव भव्य भौगोलिक वातावरण मे निर्मित किया गया है और उन्हें जिन कृत्रिम झीलो तथा जलाशयों से सौन्दर्यमय बनाने का प्रयत्न किया गया है, वह सर्वथा अद्‌भुत है।

अम्बर के शाहपुरा द्वार के समीप बिहारीमल तथा भगवानदास (दोनों 16वीं शती) की छतरियों और बैराट के मानसिंह (16वीं शती) का उद्यान भवन तत्कालीन स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। जयपुर के सवाई जयसिंह (1686-1699 ई०) ने नये नगरों का निर्माण कराया। साथ ही उसके द्वारा जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, वाराणसी और मथुरा में निर्मित वेधशालाएँ न केवल भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के लिए आधुनिक विश्व की नयी खोजों का सुपरिणाम है, अपितु वे भारतीय स्थापत्य के लिए भी अनुपम देन हैं। बीकानेर के राजा सूरतसिंह (1787-1828 ई०) तथा राजा रतनसिंह (1828-1851 ई०) को भवननिर्माण का अद्भुत शौक था। उनका समय राजपूत स्थापत्य का स्वर्णयुग माना जाता है। राजा सूरतसिंह ने प्रसिद्ध शीशमहल का निर्माण कराया और उसे रंगवाया गया। इसी समय अनूप महल का भी पुनरुद्धार हुआ। इसी प्रकार फूलमहल, चन्द्रमहल और सुजानमहल राजपूत स्थापत्य के अमिट स्मारक आज भी अपने स्वामियों एवं शिल्पियों की कीर्ति-कथा का उद्घोष कर रहे हैं।

राजपूतों द्वारा पल्लवित वास्तुकला का प्रभाव मन्दिरों पर भी लक्षित हुआ, जिसके फलस्वरूप गुजरात, काठियावाड, उड़ीसा, मध्य भारत, पंजाब और उत्तर-पूर्व में हिमालय तक भव्य एवं विशाल मन्दिरों का निर्माण हुआ। चन्देल राजपूतों के समय 10वीं, 11वीं शती के बीच निर्मित खजुराहो और 11वीं शती ई० में उदयादित्य परमार द्वारा उदयपुर (ग्वालियर) में निर्मित उदयेश्वर भगवान् का मन्दिर भारत के सुन्दरतम मन्दिरों में से अन्यतम है। उनके सभा-मण्डप, गर्भ-गृह-वेदियाँ, कलश और शृङ्ग आदि प्रत्येक अंग वास्तुशास्त्र के विधानों पर निर्मित हुए। इसी प्रकार शास्त्रीय दृष्टि के इतिहास प्रसिद्ध राजपूत मन्दिरों में भुवनेश्वर और कोणार्क के मन्दिरों का नाम उल्लेखनीय है।

महलों और मन्दिरों के भीतर तथा बाहर उत्कीर्णित प्रस्तर मूर्तियों तथा भित्तिचित्रों की भव्यता को देखकर राजपूतों की सर्वांगीण कलाप्रियता का पता चलता है। उन मन्दिरों में स्थापित विभिन्न आकार की भव्य मूर्तियाँ भारतीय मूर्तिकला इतिहास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। ये विशाल एवं दिव्य देव मन्दिर उन मध्ययुगीन राजाओं, सामन्तों, क्षत्रपों और धनिकों के धर्मानुराग तथा कलाप्रेम के मूर्त उदाहरण हैं, जिन्होंने अपार धन व्यय करके उनका निर्माण कराया। इन महान् कला-स्मारकों के निर्माता शिल्पियों एवं कारीगरों

की अद्‌भुत सूझ-बूझ, साधना और कौशल भी उल्लेखनीय है। मुगल आक्रान्ताओं द्वारा भारत की इस भव्य कला-थाती का निर्ममतापूर्वक ध्वंस किये जाने के बावजूद आज भी उनका अस्तित्व बना हुआ है।

चित्रकला

भारत में कला, संस्कृति, धर्म और साहित्य की दृष्टि से 15वीं शती का समय पुनरुत्थान युग रहा है। इस समय कला के क्षेत्र में स्थापत्य, संगीत, मूर्ति, नाट्य और चित्र आदि कला के विभिन्न अंगों का सृजन हुआ। भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजपूत शैली का अपना विशिष्ट स्थान है।

राजपूत चित्रकला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसकी समृद्धि के अनेक केन्द्र हैं। वे मध्य भारत से राजस्थान के व्यापक भू-भाग में फैले हुए हैं। उनमें ग्वालियर, मेवाड़, बीकानेर, किशनगढ़ और कोटा-बूँदी के केन्द्रों का नाम मुख्य है। राजपूत चित्रकला के सम्बन्ध में यह कहना अधिक उचित होगा कि राजस्थान के जितने नगर उतनी ही शैलियाँ हैं।

गुजरात कलम या अपभ्रंश शैली के बाद कला का रचनात्मक विकास-केन्द्र ग्वालियर में स्थापित हुआ, जिसके पोषक एवं संरक्षक थे कछवाहा तोमर और बुन्देला राजपूत। ग्वालियर पर 16वीं शती में लोदियों के आक्रमणों के कारण वहाँ के कलाकार दतिया, ओरछा, वैराट और अम्बर के विभिन्न केन्द्रों में बिखर गये, जहाँ से उन्होंने राजपूत शैली को पुनरुज्जीवित किया। ग्वालियर के बाद अम्बर सर्वाधिक प्रभावशाली केन्द्र बना, जिसका अस्तित्व जहाँगीर के शासनकाल तक बना रहा। मानसिंह (1586-87 ई०) उसका प्रमुख संरक्षक रहा। अम्बर शैली में भित्तिचित्र और 'भागवत' के दृष्टान्त-चित्र अधिक बने।

अम्बर की सम-सामयिक राजपूत शैली का दूसरा प्रभावशाली केन्द्र मेवाड़ है। चित्तौड़, चावन्दा, नाथद्वारा और उदयपुर आदि अनेकों केन्द्रों से एक साथ मेवाड़ शैली का उदय हुआ। उसका समय 16वीं, 17वीं शती है। जगतसिंह प्रथम का शासन काल (1628-1652 ई०) मेवाड़ शैली का स्वर्णयुग रहा। इस शैली के चित्रकारों का मुख्य आधार वैष्णवधर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'भागवत' रहा है। 'भागवत' के अतिरिक्त राधा-कृष्ण की ललित लीलाओं से सम्बद्ध 'गीतगोविन्द' के भी दृष्टान्त-चित्र उतार गये। 'सूरसागर', 'रामायण' और केशवदास की 'रामचन्द्रिका' के भी ग्रन्थ-चित्र बने। रीतिकालीन नायक-नायिकाओं के शृंगार-चित्र भी मेवाड़ शैली में निर्मित हुए।

राजपूत शैली की एक प्रभावशाली शाखा बीकानेर से प्रकाश में आयी, जिसका प्रथम संरक्षक राजा रायसिंह (1571-1611 ई०) था। उन्हें चित्रों के संग्रह का बड़ा शौक था। उन्होंने अम्बर, जोधपुर तथा उदयपुर आदि अनेक राज्यो से उत्कृष्ट लघु-चित्रो का संग्रह किया था। राजा अनूपसिंह (674-1698 ई०) के समय बीकानेर शैली का उत्कर्ष युग रहा है। इस समय राम-सीता-लक्ष्मण, उमा-महेश्वर तथा राधा-कृष्ण के पौराणिक एवं धार्मिक चित्रो का बड़े पैमाने पर निर्माण हुआ। रागमाला और बारामासा के चित्र भी बने।

मारवाड शैली का विकास 18वीं शती में हुआ। इस शैली के प्रमुख चितेरो में निहालचन्द, अमरचन्द और सीताराम का नाम उल्लेखनीय है। निहालचन्द ने किशनगढ के राजा सामन्तसिंह के आश्रय में रहकर सैकड़ो चित्रो का निर्माण किया। किशनगढ शैली के निर्माण तथा विकास मे महाराज सामन्तसिंह और उनके कलाकार निहालचन्द का वही स्थान है, जो कांगडा शैली मे महाराज संसारचन्द और नैनसुख का है।

राधा-कृष्ण की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत करने वाले चित्र किशनगढ शैली मे मनमोहनी राधा की एकचश्म छबि समस्त भारतीय चित्रकला के लिए एक अनुपम देन है। इस छबि मे वैष्णव कवियो की कविता का रस-भाव-समन्वित सौन्दर्य साकार होकर उभरा है। घूंघट का दाहिना छोर कुछ आगे को खीचे हुए राधा की छवि मर्यादा का सजीव प्रतीक है। उसकी शुकनासिका, कमान की तरह तनी हुई भवें, पीछे की ओर ढलकता हुआ माथा, मत्स्याकार आँखें और अपरिमित भावो को अभिव्यजित करने वाली उँगलियाँ—सब में अद्‌भुत समन्वय, तारतम्य एवं सन्तुलन समाहित है। नारी-चित्रो का अकन विशेष रूप से आकर्षण का विषय है। उनमे रंग-योजना, वस्त्रो की सज्जा और चोलियों के ऊपर लहराते हुए मोतियो के हारो का अकन सौन्दर्यपूर्ण है। इस शैली में मोतियों की मालाओ का भव्य चित्रण उसकी निजी पहचान है। किशनगढ़ शैली में शबीहो का भी अपना विशिष्ट स्थान है। इस प्रकार के चित्रों में सन्तो, दरवेशों, गायको, राजा-महाराजाओ, नवाबो, बादशाहो नायक-नायिकाओं की प्रतिकृतियों का विशेष महत्त्व है। इन चित्रों मे पुष्टिमार्गीय आचार्यों एवं अष्टछाप के कवियो से सम्बद्ध चित्र अपनी भव्यता मे अनुपम हैं।

राजपूत शैली की एक समृद्ध शाखा कोटा-बूँदी के नाम से प्रकाश में आयी। कोटा-बूँदी के महलों एवं घरों में आज भी उनके भव्य अंकन सुरक्षित हैं। इस

शैली के लघुचित्रों का विशेष स्थान है। हरे रंग की पृष्ठभूमि पर गुलाबी और भूरे रंगों का समन्वय कोटा शैली के चित्रों का वैशिष्ट्य है। इसी प्रकार अम्बर शैली से प्रभावित बूँदी शैली के चित्रों में काली स्याही का प्रयोग उसके निजत्व का द्योतक है।

राजपूत शैली की समृद्धि में श्वेताम्बरीय जैनो की जती शाखा का विशेष योगदान रहा है। जैन पोथियों को चित्रित करना उनका पुश्तैनी पेशा रहा है। उन्होंने व्यापक रूप से अनेक पोथियों को चित्रित करके राजपूत शैली के महत्त्व को बढाया।

इस प्रकार राजपूत चित्रकला की विभिन्न शाखाओं का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उसमें बृहत्-चित्र, लघुचित्र, प्रतिकृतिचित्र (शबीहे), चित्रफलक, भित्तिचित्र और ग्रन्थचित्र आदि विभिन्न भाँति के चित्रो का निर्माण हुआ। उनके विषय मुख्यतः सामाजिक और धार्मिक रहे हैं। पुस्तक-चित्रो मे 'रामायण', 'भागवत', 'पचतन्त्र', 'गीतगोविन्द', 'सूरसागर', 'रज्मनामा', 'रामचन्द्रिका', 'रसिकप्रिया' और 'उत्तराध्ययनसूत्र' का नाम मुख्य है। महाराज मानसिंह के समय (1592-1611 ई०) में निर्मित अम्बर शैली के 'भागवत' चित्र विशेष रूप से दर्शनीय हैं। इसी प्रकार अम्बर के शाहपुरा द्वार के समीप बिहारीमल तथा भगवानदास (दोनो 16वी शती) की छतरियो और विराट के मानसिंह (16वी शती) के उद्यान भवन की दीवारो पर अंकित भित्तिचित्र उल्लेखनीय हैं। 'रूपासनाचर्यम्' नामक जैन-ग्रन्थ के दृष्टान्त-चित्र राजपूत शैली के लघुचित्रो की भव्यता एव सम्पन्नता को द्योतित करते हैं।

राजपूत चित्रकला मे लाक्षणिकता की प्रमुखता है। उसका कारण यह है कि वह मुख्यत: कविता पर आधारित है। उसमे 'रामायण', 'भागवत' जैसे धार्मिक ग्रन्थों से लेकर 'गीतगोविन्द' तथा रामानन्द, कबीर, सूर, मीरा जैसे भक्तिकालीन सन्तो एवं कवियों और केशव, मतिराम, बिहारी, पद्माकर आदि रीतिकालीन कवियो की रोमानी कविताओ को रूपात्मक सज्जा दी गयी है। 'भागवत' के राधा-कृष्ण राजपूत शैली के चित्रकारों के मुख्य आकर्षण रहे हैं। राजस्थान पर वैष्णवधर्म के बल्लभ सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव होने के कारण चित्रकारों ने राधा-कृष्ण की विभिन्न मनोरम लीलाओं का भव्य अंकन किया है। प्रकृति-पुरुष के प्राकृतिक वातावरण से युक्त राधा-कृष्ण के प्रेम-निरूपण में अपार्थिवता में पार्थिवता का भव्य समन्वय हुआ है। राधा-कृष्ण का अनुराग ही यह आनन्दमयी सृष्टि है। ब्रजभूमि की अपार प्राकृतिक शोभा, ब्रज के

गोप-गोपिकाओं और गौवों के साथ विचरण करनेवाले श्रीकृष्ण, इसी प्रकार वृन्दावन के निकुंजों की सघन छाया में, वसन्त की चाँदनी में यमुना तट पर कदम्ब वृक्षों के नीचे राधा-कृष्ण का मिलन आदि दृश्य उसी अपार आनन्दमयी लीला की विविध झाँकियाँ हैं। इसी प्रकार जयदेव के 'गीतगोविन्द' और केशवदास की 'रसिकप्रिया' के आधार पर निर्मित राधा-कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध चित्रों में मानवीय प्रेम के ऐसे उदात्त स्वरूप को चित्रित किया गया है, जो एक चिरन्तन ऐक्य की ओर प्रेरित करता है।

राजपूत चित्रकला में भारतीय आध्यात्मिक भावभूमि का दो परस्पर विरोधी तत्त्वों में समन्वय हुआ है। एक के प्रतिनिधि हैं कृष्ण और दूसरे के शिव। प्रेम तथा अनुराग से व्यवहित, किन्तु भोग तथा आसक्ति से अव्यवहित श्रीकृष्ण का चित्रण, और इसी प्रकार सर्वथा विराग को धारण किये शान्ति तथा एकान्त के प्रतीक शिव, दोनों की पारभौतिकता को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। एक यदि पुष्पालंकृत है तो दूसरा सर्पालंकृत। इसलिए राजपूत शैली की कलाकृतियों में एक ओर तो पुष्पित निकुंज, सघन निकुंजों के बीच झिलमिलाती चन्द्रकिरणों और दूसरी ओर ऊबड़-खाबड़ पर्वतों, उफनती नदियों के दृश्य अंकित हुए देखने को मिलते हैं।

राजपूत शैली में ऋतुओं के अनुरूप राग-रागिनियों तथा बारामासा आदि के चित्रों का विशेष महत्त्व है। उनमें शृङ्गार की विभिन्न दशाओं का मार्मिक चित्रण हुआ है। ये रागमाला-सम्बन्धी चित्र संगीतकला के भी अनुपम उदाहरण है।

राजपूत चित्रकला में उसके कलाविदों की अभिव्यंजित भावनाओं और भंगिमाओं की विशेष प्रशंसा की गयी है। इन भाव-भंगिमाओं का सफल अवतरण ग्रामीण जीवन के चित्रण, काव्यमय प्रेमकथाओं लोककथाओं और धार्मिक रीति-रिवाजों के अंकन में देखने को मिलता है। वस्त्र बुनता हुआ जुलाहा, छपाई करता हुआ रंगसाज, जाड़े की रातों में अलाव के पास बैठकर आग सेंकता हुआ किसान आदि के दृश्य राजपूत शैली के वास्तविक जन-जीवन की मार्मिक झाँकियाँ हैं।

मुगल शैली की भाँति राजपूत शैली भी राजस्थान के राजा-महाराजाओं, राजपुत्रों, सामन्तों, क्षत्रियों और जागीरदारों के आश्रय में निर्मित एवं पल्लवित हुई। उन्होंने कवियों, कलाकारों और विद्वानों को प्रश्रय देने में अपना गौरव

समझा। उनके लिए विशेष वृत्तियाँ बाँधी, उन्हें जागीरें दी और धन-मान द्वारा सम्मानित किया। इस रूप मे कला एक पुश्तैनी व्यवसाय बन गया और वे वेतनभोगी रूप में भी जीविकोपार्जन करते रहे। कुछ राजा ऐसे हुये, जिन्होंने लाखों रुपया व्यय करके चित्र-संग्रह तैयार कराये। चित्रो पर सच्चे मोती, माणिक, पन्ना तथा नग जड़वाकर उन्हे राजदरबारो मे सज्जित किया। इस प्रकार के कलाप्रेमी शासको मे जयपुर के महाराज प्रतापसिंह, ईश्वरीसिंह, रामसिंह; कोटा के छत्रसाल, बूँदी के रामसिंह; उदयपुर के सग्रामसिंह द्वितीय, अमरसिंह, भीमसिंह; जोधपुर के बख्तावरसिंह और बीकानेर के सूरतसिंह आदि का नाम उल्लेखनीय है।

राजपूत शैली के निर्माण मे यद्यपि सैकडो चित्रकारो का योगदान रहा; किन्तु मुगल शैली के चित्रकारो की भाँति अपने चित्रो पर नाम लिखने की परम्परा उनमे नही थी। जिन चित्रकारो के नाम उपलब्ध होते हैं उनमे साहिबराम, लालचन्द, लक्ष्मणदास, हुकुमचन्द, सालगराम, मन्नालाल, रामचन्दर, मुरली और गंगाबख्श उल्लेखनीय हैं।

मध्ययुगीन भारत की केन्द्रीय सत्ता के स्वामी मुगलो के समय मे ही राजपूत चित्रकला का स्वर्णयुग रहा है। अतः राजपूत शैली मे मुगलो की महानता, सहिष्णुता, उदारता और कलानुरागिता के उच्च गुण स्वभावतः समाविष्ट हुए मिलते हैं। रामानन्दी परम्परा के सन्तों, कवियो, सूफियो और फकीरो ने दक्षिण से उत्तर तक तथा पूर्व से पश्चिम तक जिस मानवोपयोगी उदात्त धर्म एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया और जिसके परिणामस्वरूप जनता के बीच फैले अन्धविश्वासों तथा धार्मिक संकीर्णताओं एवं ऊँच-नीच के विभेदों का उन्मूलन हुआ, उसका व्यापक प्रभाव राजपूत चित्रकला पर भी परिलक्षित हुआ।

यद्यपि राजपूत और मुगल शैलियो के निर्माण तथा विकास का समय एक ही है और इस दृष्टि से उनका पारस्परिक रूप में प्रभावित होना स्वाभाविक ही था, विशेष रूप से इस कारण भी कि दोनो शैलियो के अधिकतर चितेरे एक ही थे—फिर भी दोनों मे अपनी मौलिक भिन्नताएँ हैं। विषय की दृष्टि से मुगल शैली के चित्रो मे जहाँ राजसी तथा सामन्ती परम्पराओ का प्रभाव है, वहाँ राजपूत शैली कल्पनाप्रचुर, रूमानी और जनवादी विचारधाराओं से उत्प्रेरित है। मुगल कलम के मुसव्विरो ने जहाँ सामन्तो तथा बादशाहों के पोर्ट्रेट बनाये और राजपरिवारों तथा राजदरबारों के चित्रण में विशेष अभिरुचि दर्शित की, वहाँ राजपूत शैली के चित्रकारों ने काव्यमय प्रेमकथाओं, धार्मिक रीति-रिवाजों

के चित्रण की ओर विशेष उत्सुकता दिखायी। उन्होंने कृष्ण की लीलाओं, व्रजभूमि के दृश्यों, रामानन्द तथा कबीर जैसे रहस्यवादी सन्तों की वाणियों को अपनी कला-कृतियों में रूपायित कया।

मुगल शैली के चित्रो में अन्तःपुर का रूप-सौन्दर्य, विलासपूर्ण जीवन का चित्रण, बादशाहों के प्रमोद-प्रमोद के लिए दासियों तथा बेगमों की भड़कीली पोशाकों एवं झीने वस्त्रों के भीतर उभरते हुए अंग-प्रत्यंगों का रूपांकन अधिकता से पाया जाता है। इसके विपरीत राजपूत शैली में राधा-कृष्ण तथा कृष्ण-गोपियों के राग-रसात्मक चित्रो में आध्यात्मिक प्रेम-भावना का समावेश है। राजपूत शैली के चित्रों मे आदर्शमय हिन्दू जीवन की पौराणिक परम्पराओं से प्रभावित सौन्दर्य का चित्रण अत्यन्त भव्यता से हुआ है।

मुगल शैली की सुव्यवस्थित, सुललित एवं सौन्दर्यसिक्त पृष्ठभूमि पर राजपूत शैली की लाक्षणिक रूप-विधाओं को लेकर पहाड़ी चित्रकला और उसकी विभिन्न शाखाओ का निर्माण हुआ। पहाड़ी शैलियो को जीवनी तत्त्व यद्यपि राजपूत शैली से मिले; किन्तु उसको रचना-सौष्ठव प्राप्त हुआ मुगल शैली से। वास्तविकता यह है कि मुगल शैली के चितेरे ही पहाड़ी शैलियों के जन्मदाता थे।

संगीत कला

राजपूतो ने जिस प्रकार वीरता को अपना बाना बनाया, उसी प्रकार कला को भी अपनी संगिनी के रूप में अपनाया। राजपूत क्योंकि हिन्दुत्व की भावना से ओत-प्रोत थे, इसलिए भक्ति-भावना की प्रबलता के कारण संगीत का अस्तित्व बना रहा। राजपूत चूड़ामणि महाराज पृथ्वीराज स्वयं वीणावादन मे सिद्ध-हस्त थे।

सौराष्ट्र के सौमनाथ के मन्दिर में चौला देवी नर्तकी अपने समय की प्रसिद्ध वीणावादिका थी।

हिन्दू युगीन भारत की संगीत कला वस्तुतः कला-कृतियों के रूप में उभरी। अजन्ता, एलीफैण्टा और एलोरा आदि की कला-कृतियों से विदित होता है कि तत्कालीन भारत में संगीत के प्रति जन-सामान्य का अनुराग बना हुआ था।

संगीत के विषय में मध्ययुगीन हिन्दू शासकों की विशेष रुचि रही है। मेवाड़ के महाराणा कुम्भनदेव रचित (1748 ई०) 'वाद्यरत्नकोश' का इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है। इसी प्रकार नावानगर (सौराष्ट्र) के महाराजा

जाम साहब के आश्रित विद्वान् श्रीकण्ठ पण्डित की 'रसकौमुदी' 18वीं शती की उल्लेखनीय कृति है। तंजोर के राजा रघुनाथ की आश्रिता मधुरवाणी नामक एक विदुषी ने संगीत पर एक प्रौढ ग्रन्थ की रचना की थी। मेवाड़ दरबार के आश्रित विद्वान् कृष्णानन्द व्यास का 'रागकल्पद्रुम' (1843 ई०) उच्च कोटि का ग्रन्थ है।

मध्ययुगीन मूर्तिकला की विशेषताएँ

मध्ययुगीन मूर्तिकला के अध्येता विद्वानो ने उसकी विशेषताओं को चार वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग मे नारी-सौन्दर्य की प्रतीक उन अप्सराओं, नर्तकियो और नायिकाओ को रखा गया है, जिनको निर्मित करने में उनके निर्माता कलाकारो का विशेष प्रयत्न रहा है। ये नारी-मूर्तियाँ परम्परागत भारतीय आदर्श और मर्यादा की प्रतीक हैं और उनमे मानवीय तथा दैवीय विश्वासो का समन्वय होकर कही तो उनमें लोकरजन तथा सौन्दर्य का आधान किया गया है और कही उनमे अज्ञात रहस्यात्मकता का अधिरोपण करके अपार्थिवता का भाव व्यक्त किया गया है।

दूसरे वर्ग मे ऐसी मूर्तियो को परिगणित किया गया है, जिनमें कामकला को प्रदर्शित करनेवाली विविध क्रियाओ का समावेश है। इस प्रकार की मूर्तियां बहुधा शैव मन्दिरो पर पुरुष-नारी के युगल रूप मे निर्मित है, जिनके द्वारा रतिसुख के आनन्दातिरेक को ध्वनित किया गया है। इस प्रकार की मिथुन मूर्तियो पर तान्त्रिक कौलाचार का प्रभाव है। इनमे केवल पार्थिवता का अन्वेषण करना अभिप्रेत नही रहा है। उनकी परिपूर्णता मे वस्तुतः नर-नारी (पुरुष-प्रकृति) के योग को दिखाया गया है। इसलिए इन युगल मूर्तियो मे घोर सासारिकता मे भी घोर आध्यात्मिकता निहित है।

तीसरे वर्ग की मूर्तियों मे विशुद्ध लोक-भावना सन्निहित है। इस प्रकार की मूर्तियाँ मन्दिरो के विभिन्न भागो मे उत्कीर्णित हैं, जिनमे राजसी वातावरण, खेल-कूद, त्योहार, उत्सव, नृत्य-संगीत-युद्ध, विभिन्न कौतक आदि धार्मिक तथा सामाजिक विषयो के दृश्य अंकित हैं। मध्ययुगीन मूर्तिकला मे लोक-जीवन की इन अभीप्साओ को अधिक अपनाया गया है।

चौथे वर्ग की मूर्तियों मे नटराज शिव की नृत्य-मुद्राओं को रखा गया है, जो कि विशेष रूप से एलोरा तथा बादामी और सामान्यतः अजन्ता, एलीफैन्टा और ऐहोल के मन्दिरो में सुरक्षित हैं। नटराज की इन मध्ययुगीन भव्य

मूर्तियों का प्रभाव समस्त भारत पर परिलक्षित हुआ। उनके द्वारा मूर्तिकला के इतिहास का संवर्द्धन हुआ। नटराज की ये मुद्राएं शास्त्रीय विधानों पर आधारित हैं और उनके द्वारा परम्परागत विविध वैदिक तथा पौराणिक रूपों का आकलन किया गया है। उनकी इस ताण्डव मुद्रा में संहार और सृजन, युद्ध और शांति तथा नाश और निर्माण की सर्वथा विरोधी प्रवृत्तियों का समाधान दार्शनिक पृष्ठभूमि में किया गया है।

संस्कृत और जन भाषाओं के साहित्य का स्वर्णयुग

भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक अभ्युदय, वैभारिक उन्नति और साहित्यिक निर्माण की दृष्टि से मध्ययुग का विशेष महत्त्व रहा है। यही एकमात्र ऐसा समय था, जबकि संस्कृत-साहित्य के विभिन्न अंगों पर उच्चतम कृतियों का प्रणयन हुआ। संस्कृत के महाकाव्य, काव्य, नाटक, चम्पू, काव्यशास्त्र, व्याकरण, कोश, आयुर्वेद, ज्योतिष, कामशास्त्र, संगीत, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति और दर्शन आदि विभिन्न विषयों पर सैकड़ों कृतियों का निर्माण हुआ।

संस्कृत के अतिरिक्त दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु, मलयालम्, कन्नड़ी और पूर्व में बंगला तथा मैथिली आदि क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य की भी इसी युग में अभूतपूर्व उन्नति हुई। पश्चिम और उत्तर भारत का भाषायी प्रतिनिधित्व संस्कृत को ही प्राप्त था। संस्कृत के अतिरिक्त जन बोलियों के साहित्य की भी इस युग में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। जनभाषा प्राकृत का यह स्वर्णयुग था। प्राकृत की विभिन्न शाखाओं मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, आवन्तिक और अपभ्रंश आदि पर सबसे अधिक कृतियाँ मध्य युग में ही निर्मित हुईं। प्राकृत के इन विभिन्न नामों का आधार उनके उन मूल प्रदेशों से है, जहाँ के जन-जीवन में उनका प्रचलन था।

मागधी प्राकृत का सर्व प्रथम प्रयोग सम्राट् अशोक की धर्मलिपियों में देखने को मिलता है। उनके अतिरिक्त कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल', कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय' और नारायण भट्ट के 'वेणीसंहार' आदि नाटकों में मागधी को पर्याप्त स्थान दिया गया। अर्धमागधी का प्रयोग बहुधा जैनों के आगम ग्रन्थों तथा काव्यों में देखने को मिलता है।

संस्कृत के नाटकों में अपढ़ पुरुष पात्रों द्वारा मागधी और अपढ़ स्त्री पात्रों तथा विदूषकों द्वारा शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग हुआ है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'मृच्छकटिक' और 'रत्नावली' आदि नाटकों में इसका व्यवहार हुआ है।

दिगम्बरी जैनों का अधिकतर साहित्य शौरसेनी प्राकृत में उल्लिखित है। 'पवयनसार' और 'कत्तिकेयानुपेक्खा' आदि प्रमुख दिगम्बरीय ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं।

साहित्य में महाराष्ट्री प्राकृत का सर्वाधिक उपयोग हुआ। काव्य-रचना के लिए उसको व्यापक रूप में अपनाया गया। हाल की 'गाथा सप्तशती', प्रवरसेन का 'सेतुबन्ध', वाक्पतिराज का 'गौडवहो' और हेमचन्द्र का 'द्वयाश्रयकाव्य' महाराष्ट्री प्राकृत की लोकप्रिय कृतियां हैं। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' महाराष्ट्री प्राकृत की ख्यातिप्राप्त नाटिका है। इसी प्रकार धार (मध्य प्रदेश) की भोजशाला में शिलाओं पर उत्कीर्णित 'कूर्मशतक' और 'पारिजातमंजरी' भी महाराष्ट्री प्राकृत की रचनाएं हैं। इस प्राकृत में उत्कीर्णित अनेक शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं।

पैशाची प्राकृत या भूत भाषा में उल्लिखित गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' यद्यपि सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, तथापि उसके अस्तित्व के तीन संस्कृत रूपान्तर आज भी जीवित हैं। आवन्तिक वस्तुत: पैशाची प्राकृत का ही अवान्तर भेद है, जिसका प्रयोग अवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा तथा चम्बल का दो-आब) और दशपुर (मन्दसौर) के क्षेत्र में होता था।

प्राकृत भाषाओं की भांति अपभ्रंश का भी साहित्य में व्यापकता से उपयोग-प्रयोग हुआ। अपभ्रंश किसी देशविशेष या क्षेत्रविशेष की भाषा नहीं थी, अपितु उसका प्रयोग एवं प्रचार-प्रसार सर्वत्र था। प्राकृतों का बिगड़ा हुआ मिश्रित रूप ही अपभ्रंश है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के 175 भेद तथा उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। चारणों तथा भाटों की डिंगल तथा पुरानी हिन्दी को जन्म देने वाली भाषा अपभ्रंश ही है। जैन ग्रन्थकारों ने सर्व प्रथम और व्यापक रूप से अपभ्रंश को ग्रन्थ-रचना का माध्यम बनाया। धनपाल (10वीं श०) की 'भविसयत्त कहा' अपभ्रंश की प्रथम एवं बृहत् कृति है। उसके अतिरिक्त महेश्वर सूरि, पुष्पदन्त, मयनन्दी, बरदत्त, सोमप्रभ और हेमचन्द्र प्रभृति ग्रन्थकारों ने अपभ्रंश में ग्रन्थ-रचना करके हिन्दी-साहित्य की सुदृढ़ भूमिका का निर्माण किया।

हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान

मध्ययुगीन भारत में विधर्मी मुगल शासन के बलात् धर्म-परिवर्तन और परम्पराओं के उन्मूलन के विक्षोभकारी कुकृत्यों के विरोध में संस्कृति की

मानरक्षा एवं राष्ट्रीय गौरव के उत्थान के लिए स्वाभिमानी वीर भारतीय देश की दासता-मुक्ति हेतु छिपे तौर पर सशक्त संगठन तैयार करने पर लगे हुए थे। इस प्रकार के संगठनों में तीन का नाम मुख्य है। दक्षिण भारत के संगठनकर्ता छत्रपति शिवाजी (1627-1680 ई०), उत्तर में छत्रसाल बुन्देला (1649-1731 ई०) और पश्चिम में गुरुगोविन्द सिंह (1666-1708 ई०) कार्यरत थे। ये तीनों राष्ट्रभक्त एवं देशाभिमानी वीर पुरुष सम-सामयिक थे और उनके प्रबल प्रहारों से मुगल सल्तनत का आसन डोलने लग गया था।

छत्रपति शिवाजी

दक्षिण भारत में एक शक्तिशाली संगठन की रचना करनेवाले छत्रपति शिवाजी जनता के हृदयों के स्वामी थे और 'सिंहासनाधीश्वर' के रूप में विधिवत् अभिषिक्त हो चुके थे। उन्होंने हिन्दू संस्कृति की रक्षा तथा धर्मोद्धार का बीड़ा उठाकर जन-जीवन को अपनी उत्तेजनात्मक जोशीले विचारों से व्यापक रूप मे प्रभावित कर दिया था।

राष्ट्ररक्षा के इस महान् व्रत को पूरा करने के उद्देश्य से वे अपने सम-सामयिक महान् सन्त तुकाराम के पास गये, जो अपनी कविता के द्वारा राष्ट्रीय उद्बोधन का लगभग वही कार्य कर रहे थे, जो तलवार के बल पर शिवा जी। सन्त तुकाराम (1608-1649 ई०) से शिवाजी ने स्वयं को शिष्यत्व रूप में स्वीकार करने का अनुरोध किया; किन्तु सन्त ने उन्हें सारी बातों को समझा-कर सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति समर्थ रामदास (1608-1681 ई०) के पास भेज दिया। रामदास ने शिवाजी के उच्च आदर्श और व्रत का सारा ब्यौरा सुनने के बाद उन्हें शिष्य रूप मे स्वीकार कर लिया; किन्तु उन्हें वैराग्योन्मुख आध्यात्मिकता का उपदेश न देकर संसार में रहकर कर्त्तव्य-पालन का मार्ग सुझाया। उन्होंने अपने 'दासबोध' ग्रन्थ मे धार्मिक समन्वय पर बल दिया और हिन्दू परम्पराओं की रक्षा के लिए समस्त दक्षिण भारत के ओर-छोर तक लगभग आठ सौ मठों की स्थापनाकर उनमे वीरभावद्योतक राम तथा हनुमान की मूर्तियों की स्थापना की। उन्होंने प्रत्येक हिन्दू को अपनी भाँति समर्थ बनने का सदुपदेश दिया। इस प्रकार शिवाजी ने अपने एक बलशाली राष्ट्र के निर्माण की कल्पना को साकार करने के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति को गुरु रूप में वरण करने का अपना लक्ष्य पूरा कर दिया। उन्होंने दक्षिण के क्षत्रिय राजाओं को पराभूत करके और उत्तर भारत मे छत्रसाल तथा जयसिंह जैसे राजाओं को अपना अनुयायी बनाकर अपने 'सार्वभौम' राज्य की स्थापना की सुदृढ़ भूमिका का निर्माण किया।

शिवा जी राष्ट्र-रक्षा व्रत को परिपुष्ट करने में पण्ढरपुर के सन्तों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन सन्तों में सन्त गोविन्दाचार्य, उनके शिष्य चक्रधर स्वामी, नामदेव, भूपदेव, सन्त ज्ञानेश्वर, जर्नादन स्वामी और एकनाथ का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार शिवाजी के एक सशक्त, अजेय हिन्दू राष्ट्र के निर्माण का उद्देश्य निरन्तर सफल होता गया और 18वी शती तक भारत की प्रमुख शक्तियों के रूप मे उसकी गणना होने लगी। गुजरात, राजपूताना, बुन्देलखण्ड तथा उत्तर भारत के राजाओ, सरदारों ने एक जुट होकर शिवाजी के इस हिन्दू राष्ट्र का समर्थन किया।

वीर शिवाजी के शौर्य का सजीव चित्रण उनके आश्रित कवि एवं हिन्दी साहित्य मे वीर रस के एकमात्र साहित्य-स्रष्टा भूषण ने अपनी 'शिवा बावनी' तथा दूसरे ग्रन्थ 'शिवराजभूषण' मे किया है। इन ग्रन्थो मे शिवाजी की जीवनी तथा समस्त जीवन-घटनाओं का बडी ओजस्वी भाषा में वर्णन किया गया है। शिवाजी के ओजस्वी व्यक्तित्व की भाँति उनके चरित्र पर लिखी गयी ये कृतियाँ रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य मे सर्वथा अतुलनीय स्थान रखती है।

छत्रसाल बुन्देला

छत्रसाल बुन्देला पन्ना (मध्य प्रदेश) राज्य के संस्थापक चम्पतराय बुन्देला के चतुर्थ पुत्र थे। उनके पिता चम्पतराय मुगलों का प्रबल विरोध करने के फलस्वरूप आत्मरक्षा के लिए वर्षों तक अज्ञातवास का कष्टप्रद जीवन व्यतीत करते रहे और अन्त में अपमानित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा उन्होने आत्महत्या कर ली। छत्रसाल तब युवक हो चुके थे। 1667 ई० में उनकी भेंट शिवाजी से हुई और लगभग एक वर्ष तक वे उनके साथ पूना मे रहे।

औरंगजेब ने 1669 ई० में हिन्दू मन्दिरों को ध्वस्त करने के लिए अपना फरमान जारी किया, जिसके फलस्वरुप ओरछा के मन्दिरो को तोडने के लिए आये हुए फिदाई खाँ को छत्रसाल ने पराजित करके हिन्दुत्व की मान रक्षा की। इस वीरोचित कार्य के कारण सहज ही छत्रसाल को हिन्दू जनता ने अपना संरक्षक स्वीकार कर लिया। तदन्तर विधर्मियो से लोहा लेने के लिए उसने छिपे तौर पर अपना एक सगठन बनाया और आस-पास के प्रदेशों को लूटना तथा चौथ वसूलना आरम्भ कर दिया। सारे बुन्देलखण्ड में उसका आतंक छा गया। उसके दमन के लिए दिल्ली से सेना भेजी गयी; किन्तु वह पराजित

होकर लौट गयी। 1675 ई० में उसने पन्ना के गोंड राजा को पराजित करके पन्ना को अपनी राजधानी बनाया। उसके बढ़ते हुए प्रभाव और कई बार मुगल सेना की पराजय के परिणामस्वरूप अन्त में छत्रसाल की मुगल शाहंशाह के साथ सुलह हो गयी। अन्त तक मुगलों के उसके साथ अच्छे सम्बन्ध बने रहे। फिर एक बार उसकी लड़ाई इलाहाबाद के सूबेदार मुहम्मद खां बगश के साथ हुई, जो कि निरन्तर तीन वर्षों तक चली और जिसमें छत्रसाल को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु धीरे-धीरे छिपे तौर पर वह शक्ति-संचय करता रहा और चिमाजी अप्पा तथा पेशवा बाजीराव से सहायता प्राप्त करके उसने अमझेरा के युद्ध में बंगश को पुनः ललकारा। मराठों और बुन्देलों की सम्मिलित सेना ने बंगश को पराजित कर दिया। बाद में बगश के साथ उसकी सन्धि हो गयी।

छत्रसाल बुन्देला तलवार और कलम दोनों का धनी था। उसकी रचित अनेक कविताएँ व्रजभाषा में उपलब्ध हैं, जिनसे उसके अगाध भक्ति हृदय का परिचय मिलता है। मध्ययुगीन भारत में उसका काव्यानुराग तथा कवि-प्रेम इतिहास प्रसिद्ध है। उसके दरबारियों में भूषण, लाल कवि, हरिकेश, नियाज और व्रजभूषण आदि अनेक कवियों ने आश्रय पाया और अपनी रचनाओं से हिन्दी-साहित्य के भण्डार की अभिवृद्धि की। भूषण रचित 'छत्रसालदशक' और लाल कवि रचित 'छत्रप्रकाश' के रूप में बुन्देला छत्रसाल की कीर्ति आज भी जीवित है।

सिक्खों का उदय

मुगल शासन के अन्त के बाद भारत में जिस धार्मिक तथा राष्ट्रीय पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ उसमें राजपूतों तथा मराठों के अतिरिक्त सिक्खों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण की अदम्य शक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने प्रबल विरोध का ऐसा वातावरण तैयार किया कि औरंगजेब के बाद भारत से मुगलों के पैर सदा के लिए उखड़ गये।

मुगलों का भारत-प्रवेश पश्चिम से हुआ था। इसलिए विधर्मियों की प्रताड़ना, प्रतिहिंसा और उत्पीड़न के प्रथम लक्ष्य पश्चिमवासियों को ही होना पड़ा था। इसी कारण मुगलों की क्षीणता एवं दुर्बलता पर पहला सशक्त प्रहार पंजाब से ही हुआ, जिसका नेतृत्व किया सिक्खों के एक नवजात संगठन

ने। इस संगठन के उन्नायक एवं संचालक गुरु गोविन्दसिंह थे, जो सिक्खों के अन्तिम दसवें गुरु तथा औरंगजेब के समकालीन थे।

सिक्खधर्म का उदय वस्तुतः एक मानवतावादी आध्यात्मिक एवं नैतिक पन्थ के रूप में हुआ था। मध्ययुगीन भारत में सन्त रामानन्द ने जिस उदार धर्मपन्थ का प्रचलन किया था, सिक्खधर्म का जन्म उसी की प्रेरणा के फलस्वरूप हुआ। उसके जनक वे महामना सन्त थे, जिन्होंने भारतीय अद्वैत को अपना बाना बनाया। उन सन्तों मे गुरु नानक का नाम मुख्य है। गुरु नानक (1469-1538 ई०) एक ऐसे सन्त पुरुष थे, जिन्होंने मूर्तिपूजा, जातिप्रथा और धार्मिक सकीर्णताओं की तीव्र आलोचना की और पश्चिम भारत में एक ऐसे सबल, शक्तिशाली समाज-गठन की आवश्यकता का अनुभव किया, जिसका आधार नैतिकता हो और जिसमे विधर्मियो के बढते हुए अत्याचारो का प्रतिरोध करने की क्षमता हो। नानक जी के इस लक्ष्य को पूरा करने मे उनके जिन उत्तराधिकारियो का सक्रिय योगदान रहा, उनमे गुरु अगद, गुरु अमरदास और गुरु रामदास का नाम मुख्य है। इन सिक्ख गुरुओ ने एक ओर तो सामाजिक कुरीतियो तथा शासन की दमनकारी शक्तियो से लोहा लिया और दूसरी ओर सामाजिक सद्भाव को बढावा देने वाले सत्सगो एव धार्मिक आयोजनों को प्रचलित किया। सहभोज के रूप मे उन्होंने जिस 'लगर' प्रथा का प्रचलन किया, वह अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई। इस सहभोज लंगर मे धनी से लेकर निर्धन तथा राजा से लेकर रंक तक सभी को एक पंक्ति मे बैठकर भोजन करने का नियम बनाया गया, जो आज भी पूर्ववत् प्रचलित है और जिसके द्वारा एकता, समानता तथा बन्धुत्त्व का पवित्र अभियान आज भी उसी रूप में जीवित है।

गुरु रामदास के बाद सिक्खो के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव (1563-1606 ई०) हुए। उन्होंने गुरु नानकदेव की शिक्षाओं का प्रसार करके सिक्खधर्म को उन्नत किया तथा उसके अनुयायियों की संख्या बढाई। वे शान्ति, सरलता, पवित्रता और सेवा के सजीव स्वरूप थे। उन्होंने अनेक गुरुद्वारो तथा नगरों का निर्माण किया। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य 'गुरु ग्रन्थ साहब' का सकलन है, जिसे उन्होने 1604 ई० में पूरा किया। अपनी 'सुखमनी' में उन्होंने परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन किया है, जिसमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का सम्मिश्रण हुआ है। उनमें जितनी आध्यात्मिक तेजस्विता थी, उतनी ही संगठन-शक्ति भी थी। उनके द्वारा सिक्ख सम्प्रदाय की एकता तथा शक्ति का

पर्याप्त विकास हुआ। उनकी इस बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर मुगल शाहंशाह जहाँगीर ने उन पर राजद्रोह का अभियोग लगाया और उन्हें फाँसी पर चढ़ा दिया गया। यही हाल नवें गुरु तेगबहादुर का भी हुआ। मुगलों के अन्यायो से उत्पीड़ित कुछ काश्मीरी ब्राह्मणो की सहायता करने के अपराध में क्रूर औरंगजेब ने उन्हें फाँसी पर लटका दिया था।

इस प्रकार की गम्भीर प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप सिक्खों ने आत्मरक्षा के लिए नये प्रयत्न किये। जिस सिक्खधर्म का उदय वस्तुतः सामाजिक सद्भाव, आध्यात्मिक जागरण और नैतिक निर्माण के लिए हुआ था, अब उसका एकमात्र लक्ष्य बन गया शक्ति-संचय करना और प्रतिपक्षियो से बदला लेने के लिए हिंसा का आश्रय लेना। मुगलों के नृशंस अत्याचारों से पीड़ित एवं भयभीत विशाल हिन्दू जनता ने भी सिक्खो की इस हिंसात्मक क्रान्ति को अपना व्यापक समर्थन दिया। इस शक्ति-संवर्द्धन का कार्य गुरु गोविन्दसिंह (1666 1703 ई०) ने किया।

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खो के दसवें एव अन्तिम गुरु थे। वे बड़े दूरदर्शी और सहिष्णु महापुरुष थे। उनमें अद्भुत संगठन शक्ति और जातीय स्वाभिमान का भाव था। उन्होंने सिक्ख जाति के विस्तार के लिए 'पाहुल संस्कार' नाम से एक नया सहज मार्ग निकाला, जो कि 'लंगर' का ही विकसित रूप था, जिसमे दीक्षित होने के कारण और साथ-साथ 'कड़ाह प्रसाद' खाने तथा पानी पीने के कारण सभी मनुष्य समानता का दर्जा पा लेते हैं। गुरु साहब के इस नये धार्मिक अभियान से प्रभावित ब्राह्मण, मेहतर, चमार आदि सभी जातियो के लोग एक 'लगर' मे बैठकर 'कड़ाह प्रसाद' खाने लगे और यह मान बैठे कि पुनर्जन्म में सब एक हो जाते हैं।

इस नये आन्दोलन ने सिक्खधर्म के अन्तर्गत एक 'खालसा पन्थ' को जन्म दिया। गुरु साहब ने दयाराम, धर्मदास, मुहकमचन्द, साहिबचन्द और हिम्मत—इन पाँच सिक्खो को मृत्युजयी घोषित किया और उन्हें 'सिंह' नाम से अभिहित किया। तभी से सिक्खो के नाम मे 'सिंह' शब्द जोड़ने का प्रचलन हुआ। गुरु साहब ने यह भी घोषणा की कि उन पाँच दीक्षित खालसो में प्रत्येक मे इतनी शक्ति है कि उनमें से अकेला ही पाँच लाख व्यक्तियों से लोहा ले सकता है। उन्होने अपने इस पन्थ की अखण्डता तथा अजेयता के लिए यह प्रचारित किया कि सब सिक्ख समान हैं। 'सत् श्री अकाल' (ईश्वर एक है) उनका नारा था। उन्होंने घोषणा की कि 'गुरु ग्रन्थ साहब' ही सिक्खो का

एकमात्र पूज्य होगा । अमृतसर उनका धर्मतीर्थ होगा । प्रत्येक सिंह को केश, कंघा, कड़ा, कृपाण और कच्छ धारण करना अनिवार्य होगा ।

गुरु साहब स्वयमेव एक शक्तिशाली योद्धा होने के साथ-साथ अच्छे कवि एवं विद्वान् भी थे । वे हिन्दी, पंजाबी, फारसी और संस्कृत आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे । उन्होंने हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों धर्मों के इतिहास-पुराणों का गम्भीर अध्ययन किया था । समस्त हिन्दू जाति में एकता स्थापित करके और उनमें राष्ट्रीयता को उद्बोधित करके उन्होंने देश का महान् उपकार किया । उन्होंने परम्परा को उदार एवं व्यापक बनाने की दृष्टि से हिन्दुओं के देवी-देवताओं एवं पौराणिक चरित्रों की गरिमा को अपने काव्य में मार्मिक ढंग से अभिव्यंजित किया । राम-कृष्ण जैसे हिन्दू अवतारों को उन्होंने वही मान्यता दी जो परम्परागत हिन्दू विश्वासों में निहित थी । अपनी वाणियों में उन्होंने 'गीता' के कर्मयोग तथा ज्ञान का समन्वय किया है । उनकी वाणियों में 'गीता' के विचार पुनरुज्जीवित होकर भारतीय जीवन के प्रेरणा-स्रोत बने ।

उनके इन उदार कार्यों ने सिक्खधर्म की उन्नति में योगदान किया तथा भारतीय संस्कृति का गौरव बढ़ाया । देश के लिए अपने चारों पुत्रों और स्वयं को बलिदान कर गुरु गोविन्दसिंह ने भारतीय इतिहास में अपने नाम को अमर किया ।

सिक्खधर्म की उदारता, सहिष्णुता और उसके द्वारा हुए सामाजिक सुधार का चित्रण 'गुरु ग्रन्थ साहब' या आदि ग्रन्थ में किया गया है । उसमें तत्कालीन धर्म तथा राजनीति का सजीव वर्णन हुआ है । उसमें हिन्दुओं, जैनों, बौद्धों, योगियों, मुल्लाओं और काजियों के पाखण्डों तथा बाह्याचारों का भरपूर खण्डन हुआ है । छुआ-छूत और जातीय संकीर्णताओं पर प्रहार करके उसमें समस्त मानवता को एक ही परमेश्वर का प्रतिरूप बताया गया है । उसकी यह एकेश्वरवादी विचारधारा उपनिषदों तथा 'गीता' से प्रभावित है । माया तथा अहंकार के ज्ञान के लिए कर्म तथा योग के समन्वय पर बल दिया गया है । यह समन्वय ही उसका पवित्र भक्ति मार्ग है, जिसे कि सर्वोपरि साधन माना गया है । सद्गुरु, नामोपासना, साधु संगति, परमात्मप्रीति और भगवत्कृपा से ही सद्गति प्राप्त हो सकती है ।

'गुरु ग्रन्थ साहब' वस्तुतः मध्ययुगीन भारतीय धार्मिक आन्दोलन का एक संगम है, जिसमें जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, रामानन्द, कबीर, बेनी, धन्ना,

पीपा, सेन, रविदास और सूरदास जैसे हिन्दू सन्तों और फरीद तथा मीखन जैसे मुसलमान सन्तों की वाणियों का संग्रह हुआ है। इस रूप में वह धार्मिक समन्वय का भी महान् ग्रन्थ है। उसमें हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण करके उसके द्वारा एकता स्थापित करने का महान् कार्य हुआ है।

इस प्रकार सिक्ख गुरुओं द्वारा राष्ट्रीय नव जागरण तथा सांस्कृतिक नवोत्थान के जिस देशव्यापी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ और जिसका प्रतीक 'गुरु ग्रन्थ साहब' है, उसे पूरा किया सिक्खों के एकमात्र शासक महाराज रणजीतसिंह (1780-1839 ई०) ने। अपने अद्भुत साहसिक तथा महान् आत्मत्याग के कारण वे 'पंजाब केशरी' के नाम से विख्यात हुए। उन्होंने अपनी राजनीति-पटुता, साहस और शक्ति के बल पर पंजाब में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और सशक्त सेना का संगठन किया।

यद्यपि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी उनमें शासन और संगठन की अद्भुत शक्ति विद्यमान थी। वे धार्मिक दृष्टि से भी अत्यन्त उदार एवं सहिष्णु थे। उन्होंने अपने राज्य के प्रशासनिक अधिकारों पर मुसलमानों को भी रखा हुआ था। अल फकीर अजीमुद्दीन उनका प्रधानमन्त्री था। इसी प्रकार राजपूतों तथा अंग्रेजों को भी उन्होंने सेना तथा प्रशासनिक सेवाओं में नियुक्त किया हुआ था। राष्ट्र-रक्षा के लिए उन्हें जो मूल्य चुकाना पड़ा, इतिहास का वह अपूर्व उदाहरण है।

महाराज रणजीतसिंह का जीवन यद्यपि संघर्षों में ही बीता; किन्तु अपने सम-सामयिक शासकों की भाँति कला के प्रति भी उनका अनुराग था। उनके दरबार में अनेक उच्चकोटि के कलाकार थे। उनके राज्य की सीमाएँ काँगड़ा और सिन्धु घाटी तक फैली हुई थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि हिमालयवर्ती पहाड़ी रियासतों की कला-थाती का उनके शासन पर भी प्रभाव पड़ता। कुछ असंगत नहीं है कि काँगड़ा, गुलेर और बसौली राज्यों के कलाकारों ने उनके यहाँ संरक्षण पाया हो। अठारहवीं शती की पहाड़ी चित्र-शैलियों में 'सिक्ख कलम' का उदय महाराज रणजीतसिंह के प्रश्रय में ही हुआ था। इस चित्रशैली का आधार मुगल कलम न होकर स्थानीय लोक शैलियाँ थीं, जिनका क्षेत्र टेहरी गढ़वाल से लेकर काँगड़ा तक फैला हुआ था। सिक्ख कलम के अधिकतर चित्र सिक्ख गुरुओं के व्यक्तिचित्र हैं। इसके

अतिरिक्त उसमें दरबारी तथा आखेट के दृश्यों का भी अंकन हुआ है। अपने आश्रयदाता के साथ ही उसका भी अन्त हो गया।

पंजाब में हिन्दू-मुसलिम एकता तथा सद्भाव के लिए गुरु नानक तथा अन्य सिक्ख गुरुओं द्वारा जो प्रयत्न हुए उनका अपना-अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। इस प्रकार की एकता के स्थापक मुसलमान सन्तों में बुल्लाशाह (18वीं शती) का नाम उल्लेखनीय है। वे लाहौर के सूफी शाह इनायत के प्रमुख अनुयायियों में से थे। उन्होने अपने काव्य में इस्लामी रहस्यवाद का मार्मिक चित्रण करके उत्तर मध्ययुगीन भारत के धार्मिक समन्वय को बल दिया है। उनकी कविता मे राम, कृष्ण तथा पैगम्बर मुहम्मद का उदात्त एवं लोक हितकारी स्वरूप वर्णित है, जिसने औरंगजेब के शासनकाल की बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दू-मुसलमानों की बढ़ती हुई कुण्ठाओ तथा धार्मिक विषमताओ को कम करने मे कारगर प्रभाव डाला। उन्होंने दोनो धर्मों के अवतारी एव दैवी महापुरुषो को समान रूप से मानवता का उपकारक बताया और ऊँच-नीच की दुर्भावनाओ को फैलाने वाले मुल्ला-पुरोहितो को तीखी फटकार बतायी। इन्सानियत को सर्वोपरि महत्त्व देने वाले पंजाब के इस सूफी सन्त ने धर्मप्राण भारत की उदार सस्कृति को संरक्षण देकर जो कार्य किया इतिहास उसका साक्षी है।

• • •

तेईस/आँग्ल युग और गाँधी युग

आंग्लयुगीन भारत

भारत के सम्बन्ध में पश्चिमवासियों की जानकारी उनके भारत प्रवेश के कहीं पूर्व ही हो चुकी थी; किन्तु ऐसे भारतविज्ञों की संख्या नितान्त न्यून थी। यह जानकारी केवल पौर्वात्य विद्या-बुद्धि तक ही सीमित थी। लगभग 14वी, 15वी शती से पश्चिमवासियो का भारत मे प्रवेश होने लगा था। यह प्रवेश जल-मार्गों द्वारा आरम्भ हुआ और उसका उद्देश्य केवल साहसिक यात्राओं तथा देश-देशान्तरो का पता लगाने मात्र तक ही सीमित था। इस प्रकार के यात्रियो मे कोलम्बस, मैगेलान और वास्को डि गामा का नाम उल्लेखनीय है। 1498 ई० में वास्को डि गामा ने भारत मे प्रवेश किया और यहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन-अनुभव करने के बाद उसके साथ आये पुर्तगालियों ने सर्व प्रथम कोचीन मे एक फैक्ट्री की स्थापना करके भारत मे धीरे-धीरे अपने पैर जमाये और उसके बाद अपना प्रसार करना आरम्भ किया। इसी बीच भारतीय व्यापारियों ने भी समुद्री बेडों द्वारा योरोप और लालसागर के अनेक द्वीपों से अपने व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे।

भारत मे पुर्तगालियों के स्थिर होने के लगभग एक वर्ष बाद, लगभग 16वी शती के आरम्भ में अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश लिया था। वे पूर्व निश्चिय कार्यक्रम के अनुसार भारत आये थे और इसीलिए उन्होंने अल्पकाल में ही सूरत से आगरा तक अपने अनेक व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिए थे। पुर्तगालियों द्वारा अधिकृत हुगली और चटगाँव के व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर भी उन्होंने अपना अधिकार जमाने का जाल फैलाया। सूरत तथा बंगाल के शासकों से सन्धि करके उन्होंने वहाँ की व्यापारिक मण्डियों पर भी अधिकार कर लिया और पाण्डिचेरी, मसलीपट्टम् तथा चन्द नगर पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। तदनन्तर बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पराजित करके उन्होंने बगाल को भी अपने अधिकार में कर लिया, और इस प्रकार इंग्लैण्ड की ईस्ट इण्डिया

कम्पनी को अपनी भावी योजना की सफलता के लिए आश्वस्त कर दिया। तदनन्तर उन्होने तत्कालीन भारतीय शासकों से सन्धि करके व्यापारिक बन्दरो पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और इस प्रकार व्यापारिक क्षेत्र मे विशेषाधिकार प्राप्त करके भारतीय व्यापार को क्षति पहुँचाई। 1700 ई० के लगभग कम्पनी के स्वामियो ने इंग्लैण्ड में भारतीय वस्त्रों के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया, जिससे कि भारतीय वस्त्र-उत्पादन व्यवसाय को भारी क्षति उठानी पडी।

अंग्रेजों के इस राजनीतिक कुचक्र के कारण एक ओर तो भारत मे उनका प्रभुत्त्व बढता गया और दूसरी ओर भारतीय उद्योगपतियो तथा उद्योगो पर आजीवित लोगो को विवश होकर उनका आश्रय लेना पड़ा। अंग्रेजो के प्रभुत्त्व को स्थापित करने के लिए भारत के अभाग्यजनित अकालों तथा प्राकृतिक विपदाओ ने साथ दिया, जिसके परिणामस्वरूप जर्जरोन्मुख भारत पर दासता का कुहरा छाने लगा।

उन्नीसवी शती का राष्ट्रीय नव जागरण

भारत मे मुगल सल्तनत के स्थापित हो जाने के बाद, अर्थात् 14वी, 15वी शती मे लेकर अंग्रेजो के प्रभुत्व, अर्थात् 20वी शती के मध्य तक भारत की आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, शैक्षिक और राजनीनिक चेतना प्रायः विघटित एव धूमिल रही। इस घोर अव्यवस्था तथा दासता के समय भारत का सर्वतोभावेन जो शोषण हुआ, उससे उसकी प्रगति के सभी द्वार बन्द हो गये और आगे के लिए भी वह जर्जर बन गया।

मुगलो और अंग्रेजो की दासता मे एक मौलिक अन्तर था। मुगलो ने अपने प्रभुत्व की स्थिरता के लिए धार्मिक प्रभाव पर बल दिया; किन्तु भारतीय परम्परा का बहिष्कार करके नही। इसके विपरीत अंग्रेजों की दासता का लक्ष्य था समस्त भारतीय सामाजिक जीवन को निष्क्रिय तथा पंगु बनाकर निरंकुश स्वामित्व की स्थापना करना। उन्होने अपने कूटनीतिक प्रभाव से भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक क्षेत्रों पर अपना एकाधिकार किया। उन्होने धार्मिक विषमता को बढ़ाया और भारतीयों में पारस्परिक विघटन का विष वमन किया।

भारत की इस गिरती हुई दशा की वास्तविकता को आंकने वाले कुछ जागरूक भारतीयो ने दृढता से अंग्रेजों की नीति का प्रतिरोध किया। उनके

प्रेरणाप्रद एवं सबल नेतृत्व ने भारतीय जनता मे राष्ट्रीय जागरण की तीव्रता को उभारा। इस प्रकार 19वी शती के भारत में दासता के विरोध में एक नयी क्रान्ति की भूमिका का निर्माण हुआ। यह क्रान्ति एकांगी एवं केवल शाब्दिक न होकर सक्रिय थी। उसने भारत के सभी क्षेत्रों मे सामाजिक राजनीतिक, साहित्यिक और कलात्मक नव जागरण को उद्वेलित किया। भारत की सांस्कृतिक एवं धार्मिक महनीयताओं को विस्मृत एवं आच्छादित करके ईसाई मिशनरियों द्वारा पश्चिमी धर्म तथा संस्कृति की स्थापना करके जो देशव्यापी अभियान चलाया जा रहा था, उसका विभिन्न संगठनो के द्वारा तीव्रतर विरोध हुआ। ये सामाजिक और धार्मिक संगठन विशुद्ध भारतीय थे और उनके द्वारा देश के ओर-छोर तक भारतीय जनता को अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए बल एवं प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार के सगठनो मे ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसाफिकल सोसाइटी, रामकृष्णमिशन और सत्यशोधक समाज का नाम प्रमुख है।

ब्रह्मसमाज

पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित कुछ नव शिक्षित भारतीयों ने यह अनुभव किया कि हिन्दुओं की पुरानी धर्म सस्था सामाजिक समानता, बन्धुत्व और सांस्कृतिक परम्पराओं को अवरुद्ध किये हुए है और उसने मानवीय शक्ति को धर्मभेद तथा वर्णभेद से कुण्ठित कर दिया है। आधुनिक भारत को इस प्रकार की नयी प्रज्ञा का बोध कराने वाले भारतीयों मे राजा राममोहन राय (1774-1833 ई०) का नाम अग्रणी है। वे महान् त्यागी, राष्ट्रभक्त और उच्चकोटि के विद्वान् थे। उन्होंने भारतीय जीवन के वैविध्य को दृष्टि मे रखकर समस्त धर्मानुयायी समाज के धर्म-ग्रन्थों का अनुशीलन करके पुरातन भारतीय विचार-पद्धति पर नये युग के अनुरूप एक ऐसे ईश्वरवाद की स्थापना की, जो समस्त मानव धर्मों के मूल में निहित है। अपने इस नये धर्म-दर्शन के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने 1828 ई० को बंगाल मे 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की।

राजा राममोहन राय 19वी शती के उन मानवतावादी विचारो के व्यक्ति थे, जिन्होंने आधुनिक जन जागरण का सूत्रपात किया। वे भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं के संरक्षक, किन्तु सामाजिक संकीर्णताओं के विरोधी थे। उन्होंने जिस निर्भीकता से हिन्दुओं के कर्मकाण्ड तथा उनकी मूर्तिपूजा तथा संकीर्णताओं का विरोध किया, उसी प्रकार ईसा को ईश्वर पुत्र होने के 'बाइबिल' के विचारों की भी आलोचना की। राजा राममोहन राय मूलतः एक राजनीतिक

नेता न होकर गम्भीर विचारक और शिक्षा-शास्त्री थे। बँगला, संस्कृत, अंग्रेजी, ग्रीक, हिब्रू और फारसी आदि अनेक भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। वे महामानवतावादी उदार विचारो के पोषक थे और इसीलिए उन्होंने राष्ट्रीयता तथा अन्तरराष्ट्रीयता के समन्वय पर बल दिया। उनका एकमात्र लक्ष्य था मानवजाति का कल्याण करना, जिसका प्रतिनिधित्व किया ब्रह्मसमाज ने।

उनकी यह नयी धर्म सस्था उपनिषदो, 'गीता' और वेदान्त के उदार विचारो पर आधारित थी और उसमें पूर्व तथा पश्चिम की विचारधाराओं का समन्वय था। उनके मानवमंगलकारी आदर्श थे 'यह व्यापक, विशाल विश्व ब्रह्म का पवित्र मन्दिर है, शुद्ध चित्त ही पुण्य क्षेत्र है, सत्य ही शाश्वत धर्मशास्त्र है, श्रद्धा ही धर्म का मूल है, प्रेम ही परम साधन है, और समस्त स्वार्थों का सर्वथा परित्याग ही वैराग्य है। उन्होंने अपने सन्देश में एक ऐसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एव शाश्वत परमात्मा के अस्तित्व की उद्घोषणा की जो मगलमय और श्रेयस्कर है। अपने इस शाश्वत सिद्धान्त के द्वारा ब्रह्मसमाज ने एक ऐसी उदार संस्कृति को जन्म दिया, जिसमे परम्परा के आदर्श और सर्व-धर्म-समन्वय की भावना तथा विश्वबन्धुत्व का सन्देश निहित था।

इस नये धार्मिक जागरण ने पुरुष के ही समान नारी के सामाजिक अधिकारों की भी व्याख्या की। पुरानी धर्म संस्था ने नारी के अधिकारो को सीमित करके उसे सर्वथा पुरुष पर समर्पित कर दिया था। इस धर्मानुशासन ने एक अबोध बालिका को विवाह-बन्धन में आबद्ध होने के लिए विवश किया हुआ था। इसी प्रकार वंचिता बाल विधवाओं को बलात् सती होने के लिए अथवा उसकी जगह आजीवन सन्यासिनी का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया गया था। ब्रह्मसमाज ने इस सामाजिक कुरीति के दुष्परिणामो की व्याख्या की और उसके अदम्य विरोध के कारण तत्कालीन लार्ड विलियम बेंटिक ने सतीप्रथा को बन्द करने के लिये 1829 ई० में एक कानून बनाया। ब्रह्मसमाज की प्रेरणा से 1856 ई० में विधवा विवाह को न्यायिक स्वीकृति प्राप्त हुई, जिसका कि समाज पर दूरगामी सुप्रभाव परिलक्षित हुआ।

राजा राममोहन राय की प्रेरणा से समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता को बल मिला। अंग्रेजो द्वारा बंगाल में जिस भूमि सुधार-व्यवस्था के नाम पर जनता को उत्पीडित तथा आतंकित किया जा रहा था उसका भी उन्होंने खुलकर विरोध किया। तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उन्होंने भारतीय

स्कूल-कालेजों-विश्वविद्यालयों में विज्ञान विषय के लिए अंग्रेजी को अध्ययन-अध्यापन का माध्यम स्वीकार कराया और संस्कृत के संरक्षण तथा विकास के लिए भी एक 'याचिका' प्रस्तुत की। भारत में प्रशासनिक उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति करने के लिए उन्होने जोरदार आवाज उठायी, जिसके फलस्वरूप 1833 ई० में अंग्रेजो द्वारा 'चार्टर ऐक्ट' पारित हुआ, जिसके अनुसार भारतीयो को भी उच्च पदों पर नियुक्त किये जाने की व्यवस्था हुई।

बगाल के बाद ब्रह्मसमाज का प्रचार-प्रसार महाराष्ट्र तथा गुजरात मे हुआ, जिसके फलस्वरूप मानवधर्मसभा, परमहंससभा और प्रार्थनासभा आदि विभिन्न लोकहितकारी संगठनो का उदय हुआ। ब्रह्मसमाज के सुधारवादी आन्दोलन ने श्री बी० एन० मालाबारी, डॉक्टर रा० गो० भाण्डारकर, न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैसे महान् व्यक्तियो को समाजोत्थान की ओर प्रवृत्त किया।

आगे चलकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए देश के जिन आन्दोलनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा और जिन्होने स्वयं को राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप मे विलयितकर राष्ट्र मे नव जागरण का उद्बोधन किया, उनमे ब्रह्मसमाज का भी नाम अग्रणी है।

आर्यसमाज

आधुनिक भारत के राष्ट्रीय उत्थान मे जिन सामाजिक सगठनों का योगदान रहा, उनमें आर्यसमाज का भी एक नाम है। जिस समय ब्रह्मसमाज बंगाल, मद्रास, गुजरात तथा महाराष्ट्र मे और आंशिक रूप से उत्तर भारत में विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक संगठनों का प्रेरणास्रोत बनकर राष्ट्रीय नवोत्थान की भूमिका का निर्माण कर रहा था, उसी समय पश्चिम भारत मे आर्यसमाज नाम से एक नये धार्मिक संगठन का उदय हुआ। उसके जन्मदाता स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। आर्यसमाज का जन्म 1875 ई० को लाहौर मे हुआ था।

वैचारिक एवं तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज दोनो एकेश्वरवादी सगठन हैं, किन्तु जहाँ ब्रह्मसमाज विश्व के सभी धर्मों-सम्प्रदायो की ईश्वर सम्बन्धी श्रद्धा को वरीय मानते हुए भी किसी एक धर्म-ग्रन्थ को प्रमाण नही मानता है, वहाँ आर्यसमाज समस्त मानवता के मूल में एक ही सत्ता का आधार स्वीकार करने पर भी उसका समन्वय वेदो से करता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में जहाँ एक ओर पौराणिक आचारों तथा हिन्दूधर्म मे व्याप्त पाखण्डों का खण्डन किया है, वही दूसरी ओर वैदिक रीति-नीति की विशुद्धता को सर्वोपरि स्वीकार किया है। इस दृष्टि से उन्होंने वेदों पर भाष्य लिखकर वैदिक धर्म की स्वतन्त्र व्याख्या की है।

आर्यसमाज के समाज-सुधार-सम्बन्धी दृष्टिकोण वही हैं, जो ब्रह्मसमाज के हैं। उसमें हिन्दुओ के सनातनधर्म की आचार-परम्पराओं का खण्डन करके जातीय समानता, स्त्री-शिक्षा, पुनर्विवाह और अन्तरजातीय विवाहों का समर्थन किया गया है। उसमे ईसाई तथा इस्लामधर्म के पाखण्डो तथा बाह्य-आचारों की भी कटु आलोचना की गयी है। आर्यसमाज ने आधुनिक भारत को, विशेष रूप से हिन्दू समाज को, धार्मिक पुनर्जागरण की ओर प्रवृत्त किया और भारत के समस्त प्रबुद्ध वर्ग ने उसको अपना कर हिन्दुत्व की पुनः स्थापना मे अपना पूरा योगदान किया। इस नये धार्मिक पन्थ ने वैदिक परम्परा के आचारों और वेदान्त के अद्वैतवादी विचारों को पुनरुज्जीवित किया। उसने हिन्दुत्व के नवोत्थान के लिए प्रबल अभियान चलाया। राष्ट्रीय एकता के निर्माण के लिए समस्त हिन्दू समाज को एक मच पर सगठित होने का आह्वान किया। उसके इस राष्ट्रीय अभियान को समस्त उत्तर भारत और मध्य भारत मे व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ।

सत्यशोधक समाज

आधुनिक भारत मे समाज सुधारक आन्दोलनो के इतिहास मे सत्यशोधक समाज का नाम भी उल्लेखनीय है। उसकी स्थापना ज्योतिबा फुले ने 1873 ई० मे की थी। धार्मिक दृष्टि से यह सगठन एकेश्वरवादी था। इसका विशेष प्रभाव महाराष्ट्र पर रहा। इस सगठन ने हिन्दू समाज मे व्याप्त ऊँच-नीच की विषमताओ पर तीव्र प्रहार किया और अज्ञान तथा दरिद्रता के विरुद्ध आवाज उठाकर समानता के जन्मसिद्ध मानवीय अधिकारो का समर्थन किया। इस आन्दोलन ने किसानो, कारीगरो तथा मजदूरो के दीर्घकालीन आर्थिक शोषण को भी प्रभावित किया।

इस संगठन ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए भी सशक्त एवं व्यापक आन्दोलन चलाया और पिछड़े हुए समाज के प्रति होने वाले अन्यायों का तीव्र विरोध किया। वर्गवाद और जातीय श्रेष्ठता की परम्परागत मान्यता के विरोध मे उसने अपने समानता तथा एकता के आदर्शों को प्रस्थापित किया। इस प्रकार वर्गवाद तथा जातीयवाद के कारण जो हानि हो रही थी, और समाज की

मेहनतकश जनता में जो असन्तोष व्याप्त था, सत्यशोधक समाज ने उसके सुधार के लिए अभियान चलाया।

थियोसाफिकल सोसाइटी

आधुनिक भारत के निर्माणक एवं राष्ट्रीय नव चेतना के जनक विभिन्न आन्दोलनों ने भारतीय जनता को उद्बोधित करने का सराहनीय कार्य किया। उन्होंने न केवल भारतीयों को, अपितु भारत में बस रहे उन अंग्रेजों को भी प्रभावित किया, जो मानवता के संरक्षक, न्याय के पक्षपाती और वैचारिक दृष्टि से उन्नत थे। श्रीमती एनी बेसेंट इसी प्रकार के मानवतावादी विचारों की महिला थीं। उन्होंने थियोसाफिकल सोसाइटी की स्थापना करके भारत में समानता तथा एकता के अभियान में अपना योगदान किया। समस्त धर्म एवं दर्शन का मूलाधार 'सत्य' ही थियोसाफी है। थियोसाफिकल सोसाइटी वस्तुतः सब प्रकार के भेद-भाव से रहित सत्यान्वेषी साधकों का एक समूह है। इस अन्तरराष्ट्रीय सोसाइटी की स्थापना 1875 ई० में न्यूयार्क (अमेरिका) में हुई थी। 1879 ई० को उसका कार्यालय न्यूयार्क से भारत (बम्बई) लाया गया। भारत में उसकी शाखा 1890 ई० में स्थापित हुई और 1895 ई० में उसे वाराणसी लाया गया। उसके तीन प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं :

1. मानवजाति के सार्वभौम भ्रातृभाव का एक केन्द्र बिना किसी जाति-धर्म के स्थापित करना; 2. विभिन्न धर्म, दर्शन तथा विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहित्य करना; और 3. प्रकृति के अज्ञात नियमों तथा मानव में अन्तर्निहित शक्ति का विकास करना।

उसका एक सर्वव्यापी सत्ता में विश्वास है, जो कि समस्त सृष्टि का मूल-स्रोत और सर्वत्र व्याप्त है। उसका लक्ष्य एक ऐसे मानव-समाज का निर्माण करना है, जिसमें सेवा, सहिष्णुता, आत्मविश्वास और समत्वभाव की प्रतिष्ठा हो।

राष्ट्रीय नव जागरण में प्रज्ञावादियों का योग

देश के विभिन्न अंचलों से संचालित इन नये आन्दोलनों ने भारतीय स्वाधीनता की लौ जलायी। राष्ट्रीय आन्दोलन की इस लौ को जिन राष्ट्रवादी भारतीयों ने प्रज्ज्वलित किया उनमें श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री फीरोजशाह मेहता, श्री गोपालकृष्ण गोखले, श्री दादाभाई नौरोजी, श्री मायकेल मधुसूदनदत्त, श्री महामना मदनमोहन मालवीय और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का नाम

मुख्य है। इस राष्ट्रीय आन्दोलन ने तत्कालीन शिक्षा के पुनर्गठन को भी प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप 1906 ई० को बंगाल में एक 'राष्ट्रीय शिक्षा समिति' का गठन हुआ और उसके द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा की पुनर्व्यवस्था के कार्यक्रम को सक्रियतापूर्वक कार्यान्वित किया गया। उसके लगभग दस वर्ष बाद महामना मालवीय जी के अथक प्रयास से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इस विश्वविद्यालय ने प्रत्येक विषय के पाठ्यक्रम को अधिक सुनियोजित ढंग पर संचालित किया और छात्रों मे चरित्र-निर्माण, हिन्दू संस्कृति के उत्थान तथा राष्ट्रीय भावना का बीजारोपण किया। भारत के इस नये शैक्षिक आन्दोलन ने सामाजिक क्षेत्र को भी प्रभावित किया और उसके फलस्वरूप युवकों में 'गाँवों की ओर चलो' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

इस प्रकार पूर्व से लेकर पश्चिम तक और दक्षिण से लेकर उत्तर तक राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए जन-जागरण निरन्तर प्रबल होता जा रहा था। इस राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ सांस्कृतिक नव निर्माण के लिए भी स्थायी प्रयत्न हो रहे थे। एक ओर राजा राममोहन राय भारतीय संस्कृति के पुरातन आदर्शों को नये युग की बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार प्रस्तुत कर रहे थे और दूसरी ओर महामना मदनमोहन मालवीय हिन्दुत्व के नवोत्थान के लिए चेष्टारत थे। इसके साथ ही आधुनिक भारत के ऋषि कर्मयोगी बालगंगाधर तिलक 'गीता' के आदर्शों को इस रूप में प्रस्तुत करने पर लगे हुए थे, जो विश्व के लिए उपादेय सिद्ध हो सकें और जिनसे मानवता का मंगल हो सके। हजारों वर्ष पूर्व कहे गये 'गीता' के कर्मयोग को आधुनिक विश्व पर चरितार्थ करने की दृष्टि से उन्होंने 'गीता' की सर्वथा नवीन व्याख्या की और उसमें यह सिद्ध किया कि अरस्तू, सुकरात, मिल, स्पेन्सर, काण्ट और ग्रीन आदि अध्यात्मवादी तथा आधिभौतिकतावादी विचारों से उसकी अभिन्नता है।

लोकमान्य तिलक की सर्वथा नयी स्थापनाओं ने भारतीय संस्कृति के एक ऐसे पक्ष को उजागर किया, जो युग और परिस्थितियों के अनुरूप था। उन्होंने समस्त मानव जाति के नीतिशास्त्र को एक बताकर पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृतियों में एकता स्थापित करने का सराहनीय यत्न किया। लोकमान्य ने भारतीय अध्यात्मवाद का आधुनिक पदार्थविज्ञान, सृष्टिशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के साथ तादात्म्य स्थापित करके भारतीय संस्कृति की युगानुरूप नवीन व्याख्या की।

लोकमान्य के कर्मयोग की चरम परिणति योगिराट् अरविन्द की साधना में देखने को मिलती है। उन्होंने 'गीता' के सहित वेदों तथा उपनिषदों के तत्त्वज्ञान को सर्वथा अपूर्व रूप में प्रस्तुत किया। इन दोनों प्रज्ञावादी विचारकों की व्याख्यान-शैली में बड़ा अन्तर है। जहाँ लोकमान्य की प्रतिपादन शैली अधिकाधिक सुगमता के कारण अध्येता को अपनी ओर आकर्षित करती है वहाँ योगिराज की उलझी हुई तर्क-पद्धति सुविज्ञ को भी एक बार पुनर्विचार के लिए बाध्य करती है। उन्होंने पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विज्ञान और दर्शन के पारिभाषिक शब्दों से और उच्च कल्पनाओं से संश्लिष्ट करके अपने विचारों को दुरूह एवं जटिल बना दिया है। उनके तर्क-ज्ञान की विशेषता यह है कि उसमें आधुनिक विज्ञान को आध्यात्मिक भूमिका में समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है।

योगिराज अरविन्द ने 'गीता' पर विस्तृत एवं गम्भीर व्याख्यान लिखे और उनमे यह प्रतिपादित किया कि सहस्रों वर्षों पूर्व कहे गये उसके सिद्धान्त आधुनिक जन-जीवन के लिए नितान्त उपयोगी एवं प्रेरणादायी हैं। उन्होंने यह प्रस्थापित किया कि 'गीता' के महान् आदर्श एवं सन्देश आज के मानव-समाज के लिए व्यवहारसापेक्ष्य तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक मान-मूल्यों के उन्नायक हैं। उन्होंने 'गीता' की सतत सजीवता तथा नित नवीनता का प्रतिपादन करके अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया। उनकी मान्यता है कि 'गीता' राष्ट्रीय नवोत्थान और सांस्कृतिक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त करने मे भी सर्वथा समर्थ है और इस दृष्टि से उसका अध्ययन अपेक्षित है।

योगिराज मनुष्य की भौतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। उन्होंने मानव और मानवजाति के पारस्परिक सम्बन्धों मे तादात्म्य स्थापित करने के लिए अपना यह मतव्य प्रकट करते हुए लिखा है कि उसी स्थिति मे मानव मे अन्तर्हित दिव्य सत्ता के दर्शन किये जा सकते हैं, जब प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया जाय। यदि किसी जातिविशेष का धर्म-विधान यह निर्देश करें कि अमुक मार्ग ही श्रेष्ठतम एवं वरिष्ठ है, उसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग है ही नहीं, तो ऐसी सीमा या शर्त के आधार पर वास्तविकता को पा सकना, एक सर्वहितकारी व्यवस्था दे सकना कदाचित् असम्भव होगा।

योगिराज के वैचारिक ऐक्य तथा धर्म-समन्वय के सुविन्तित सिद्धान्तो का सरलीकरण डॉक्टर भगवानदास (1869-1958 ई०) के विचारों में अभिव्यक्त

हुआ। उनके मत से सभी धर्मों के आदर्श एवं उद्देश्य एक हैं। सभी धर्मों में यह माना गया है कि परमात्मा सब के भीतर आत्मा के रूप में विद्यमान है। सभी धर्म ज्ञान, भक्ति और कर्म के मानने वाले हैं। सबके मजहबों में ज्ञानकाण्ड और हकीकत की बातें एक जैसी हैं। सभी मजहबवाले यह मानते हैं कि खुदा है और वह एक है, अद्वितीय है। सभी धर्मानुयायी यह स्वीकार करते हैं कि पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है। किन्तु उन्होंने यह स्थापित किया कि मनुष्य की रूह सर्वोपरि है। मनुष्य ने ही मजहब या धर्म को समय-समय पर परिवर्तित किया है।

उनके दार्शनिक विचारों का सार 'अहम्, एतत्, न' (मैं-यह-नहीं) महावाक्य है, जिसके अनुसार केवल एक, एकाकार, एकरस, अखण्ड और निष्क्रिय सम्वित् के अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनकी दार्शनिक विचारधारा में प्राच्य तथा पाश्चात्य और भूत तथा वर्तमान का ऐक्य है। उन्होंने हीगेल और शंकराचार्य के दर्शनों का निर्विकार ब्रह्-सिद्धान्तों का, समन्वय किया था।

डॉक्टर भगवानदास भारत की पुरातन परम्पराओं से परिमण्डित आधुनिकता के आधार-स्तम्भ थे। उनके महान् व्यक्तित्व में पुरातन तथा आधुनिक का एक साथ समन्वय हुआ था। उनके इस समन्वित व्यक्तित्व की राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास पर भी अमिट छाप है। हिन्दुत्व के पुनरुत्थान और शैक्षिक पुनर्गठन के रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करके जो एक प्रयोग किया गया था उसकी सफलता के भागीदारों में महामना मालवीय के बाद डॉक्टर भगवानदास का ही दूसरा स्थान है। काशी विद्यापीठ की स्थापना से ही वे अनेक वर्षों तक उसके कुलपति रहे।

राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका सक्रिय योगदान रहा। असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण 1921 ई० में उन्हें एक वर्ष के कारावास का दण्ड मिला था। उन्होंने श्री चितरंजनदास के साथ मिलकर 1923 ई० में स्वराज्य की रूपरेखा तैयार की थी, जिसमें व्यापक प्रशासनिक व्यवस्था की। वे गांधीयुग के महान् दार्शनिक थे।

राष्ट्रीय नव जागरण में कलाकारों और साहित्यकारों का योग

परम्परा से ही राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक अभ्युत्थान में साहित्य तथा कला का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। समय-समय पर राजनीतिक कारणों से

सामाजिक जीवन के क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए और विदेशी सत्ता के कारण इस देश की संस्कृति में जो नये तत्त्व समाविष्ट हुए उसके इतिहास की प्रमाण-सामग्री तत्कालीन कला-कृतियाँ हैं।

19वीं शती में भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का पूर्ण आधिपत्य हो जाने पर भारत के विभिन्न अंचलो में देश का कला-धरातल भी उससे अप्रभावित न रह सका। इस राष्ट्रीय चेतना से देश के कवियो, कलाकारो, पत्रकारो और राजनीतिक नेताओ को एक नयी प्रेरणा प्राप्त हुई। इन कला-कृतियो मे जो दुःख, उत्पीड़न, घृणा और निराशा आदि विभिन्न भावो का समावेश देखने को मिलता है उसका कारण दासता और उसके प्रति तीव्र आक्रोश था।

इस राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव बंगाल पर अधिक प्रभावशाली रूप में परिलक्षित हुआ। 1903 ई० में लार्ड कर्जन द्वारा किये गये बग-भंग से जनता पर और बुद्धिजीवियो तथा कलाकारो पर जो दुष्प्रभाव व्याप्त हुआ उसका आक्रोश कला-कृतियों मे उभरा। उसके फलस्वरूप और स्वाधीनता तथा राष्ट्रीय नव जागरण के देशव्यापी आन्दोलन ने कलाकारो को कला के पुनर्मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त किया। इससे पूर्व विद्यालयो तथा विश्वविद्यालयों मे कला के अध्ययन के लिए योरोपीय प्रतीक तथा आधार थे और उनसे प्रभावित वे निर्जीव कला-कृतियाँ अध्ययन-अध्यापन का विषय थीं, जिनसे न तो इस देश के जन-जीवन का कोई सम्बन्ध था और न ही उनकी शिल्प-संरचना भारतीय कला के उत्थान के लिए उपयोगी थी। इस कमी को पूरा करने के लिए श्री ई० बी० हैवेल, आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री नन्दलाल वसु, श्री क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार, श्री शैलेन्द्रनाथ डे, और श्री असितकुमार हाल्दार प्रभृति कलाचार्यों ने अपनी तूलिकाओं द्वारा भारतीय अनुभूतियो तथा विशुद्ध आदर्शों को प्रस्तुत किया।

देशव्यापी आन्दोलन को आगे बढाने के लिए जिस प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अन्य लेखकों का योगदान रहा, वही योगदान कला के क्षेत्र में अवनीन्द्र बाबू का रहा। इसी प्रेरणा से उन्होने अपने अग्रज श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के सहयोग से 'इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएण्टल आर्ट' की स्थापना की। इस राष्ट्रीय नवोत्थान का क्षेत्र बम्बई से कलकत्ता तथा मद्रास तक के कलाकारों मे व्याप्त हुआ। इन दोनों केन्द्रों के जिन कलाकारों का इस अभ्युत्थान में लम्बे समय तक योगदान रहा उनमें श्री प्रदोष दासगुप्ता, श्री रथिन मित्रा,

श्री प्राणकृष्णपाल, श्री सुनील माधवसेन, श्री विनोद मजूमदार, श्री परितोष सेन, श्रीमती कमला दासगुप्ता और श्री हेमन्त मिश्र का नाम उल्लेखनीय है।

इन कलाकारों के अतिरिक्त साहित्यकारों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन में भरपूर योगदान किया। राजा राममोहन राय ने जिस ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी, उसकी जन्म भूमि बंगाल थी। अतः स्वभावतः उसकी प्रतिक्रिया भी पहले बंगाल पर ही परिलक्षित हुई। राजनीति और धर्म के अभ्युदय के साथ ही वहाँ कला और साहित्य की दिशा मे भी प्रगति हुई। ब्रह्मसमाज ने ही आधुनिक भारत को रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा विश्वकवि एव कलाकार और बंकिमचन्द्र चटोपाध्याय जैसा महान् साहित्यकार दिया।

19वी शती के प्रख्यात एव विश्रुत विद्वान् बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (1838-1894 ई०) ने अपनी समर्थ लेखनी से राष्ट्रीय आन्दोलन को उत्प्रेरित करने मे प्रेरणा-स्रोत का कार्य किया। 1833 ई० मे 'चार्टर ऐक्ट' सम्बन्धी प्रसिद्ध मसविदे के कारण जहाँ एक ओर अँग्रेजी को उच्च अध्ययन के लिए एकमात्र अधिकार प्राप्त हुआ, वहाँ दूसरी ओर विदेशी भाषा के प्रभुत्व के कारण देशी भाषाओ की गति मे अवरोध उत्पन्न हुआ। इस कुप्रभावकारी नीति को निष्फल करने के उद्देश्य से बंकिम बाबू ने अपनी कृतियो का माध्यम बंगला भाषा को बनाया। बंकिम बाबू की बंगला रचनाओ का प्रभाव अन्य भाषा-भाषी साहित्यकारो पर भी पडा। उनकी कृतियो का अनुवाद तथा रूपान्तर प्रायः सभी भारतीय भाषाओ मे हुआ। इस प्रकार उन्होने आधुनिक साहित्यकारों को भारत की प्रादेशिक भाषाओ के प्रति उन्मुख किया।

उनका 'आनन्दमठ' उपन्यास राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास का एक अंग है। उसके द्वारा उस क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसने देशव्यापी असहयोग का विकट रूप धारण किया। भारतीय स्वाधीनता का बीज मन्त्र 'वन्दे मातरम्' इसी उपन्यास का उद्घोष है।

बंकिम बाबू की ही भाँति विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941 ई०) ने भी स्वाधीनता-आन्दोलन को बल दिया। वे गाँधीयुग के प्रभावशाली दार्शनिक और मानवतावादी विचारधारा के महाकवि थे। उन्होने व्यष्टि मे समष्टि के दर्शन किये। अपने इस मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण वे सम-सामयिक विश्व मानवता तथा अपने आस-पास की राष्ट्रीय समस्याओ से अप्रभावित न रह सके। उन्होंने अपनी कविताओं मे, और विशेष रूप से अपने उपन्यासो एव अपनी कहानियों मे विश्व स्तर पर तथा राष्ट्रीय स्तर पर

सामाजिक असमानताओं का सफल, वास्तविक एवं सशक्त चित्रण किया। उनके काव्य में अभिव्यक्त दार्शनिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना ने समस्त भारतीय साहित्य को प्रभावित किया और उसके अनुकरण पर देश की विभिन्न भाषाओं के कवियों, लेखकों ने अपनी रचनाओं का निर्माण किया। उनकी कविता पर वाल्मीकि तथा व्यास और दार्शनिक विचारधारा पर 'गीता' तथा शंकराचार्य के एकेश्वरवाद तथा सामाजिक अभिन्नतावाद का प्रभाव है।

इस राष्ट्रीय आन्दोलन को यद्यपि देश की सभी भाषाओं के साहित्यकारों का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ; किन्तु उन सब का समावेश करना यहाँ सम्भव नहीं है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में खड़ी बोली का उदय एकमात्र राष्ट्रीय चेतना से हुआ, जिसके प्रवर्तक थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (1850-1885 ई०)। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता और उदार विचारों के व्यक्ति थे। वे परम राष्ट्र-भक्त थे। उन्होंने आंग्ल शासन में बढ़ती हुई अनीतियों, आर्थिक शोषण, काले-गोरे के भेद-भाव पर अपनी रचनाओं में क्षोभ व्यक्त किया। भारतवासियों का पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण और निज भाषा के प्रति उदासीनता का उन्होंने विरोध किया है। उनका 'भारतजननी' और 'भारतदुर्दशा' नाटक उनके राष्ट्रीय प्रेम के परिचायक हैं।

राष्ट्रीयता को अपने साहित्य का सम्बल बनाने वाले हिन्दी के कवि मैथिलीशरण गुप्त का नाम भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। उन्हें 'राष्ट्रकवि' का सम्मान प्राप्त था। उनकी प्रायः सभी रचनाएं राष्ट्रप्रेम से ओत-प्रोत हैं। किन्तु 'भारत भारती' का निःसन्देह आधुनिक युग के समस्त भारतीय साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। उनका प्रभाव अपने सम-सामयिकों तथा परवर्ती साहित्यकारों पर भी परिलक्षित हुआ। गुप्त जी ने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी जगत् को राष्ट्रीयता का प्रेरणाप्रद सन्देश दिया और वाल्मीकि, कालिदास की परम्परा की मार्यादित संस्कृति को पुनर्जीवित किया।

आधुनिक भारत

राष्ट्रीय स्वाधीनता का गांधी युग

अंग्रेजों द्वारा भारतीय शासन को स्वायत्त करने के उपरान्त 18वीं शती के मध्य से देश में जो धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक आन्दोलन हुए, उन सब ने आधुनिक नये भारत के निर्माण के लिए एक सुस्थिर भूमिका की रचना की।

अठारहवी शती ईसवी के प्रारम्भ से (1865 और उसके बाद भी) सती प्रथा (1829 ई०), गुलामो के व्यापार की प्रथम (1843 ई०), सामाजिक न्याय तथा समानता (1860 ई०), पुनर्विवाह (1856 ई०) और अन्तरजातीय विवाहों (1865 ई०) के लिए जो नियम बने उनके मूल में उक्त संगठनों और उनके संचालक राष्ट्रभक्त भारतीयो का योगदान रहा है। इन समस्त आन्दोलनों ने मिलकर अन्त में एक नयी चेतना को जन्म दिया, जिसके केन्द्र राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी थे। सारे देश मे एक साथ राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप प्रत्येक भारतीय को स्वधीनता-प्राप्ति के संकल्प को पूरा करने के लिए त्याग तथा आत्मसमर्पण के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया। इस देश-व्यापी राष्ट्रीयता की भावना का सफल संचालन करने के लिए राष्ट्र का नेतृत्व मोहनदास कर्मचन्द गाँधी के हाथ मे आया। उनके नेतृत्व को 'गरम' और 'नरम' दोनो दलो ने स्वीकार किया। गाँधी जी ने भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के सचालन के लिए राजनीतिक अभियान को नया रूप दिया। यह नया रूप था 'सत्याग्रह'। उनके इस सत्याग्रह मे सत्य, अहिंसा, त्याग, नैतिक बल और आत्म-परिष्कार के महान् उद्देश्य निहित थे। उन्होने अन्याय और असमानता के विरुद्ध उद्घोषणा की, जो कि सारे देश के जन-जन की वाणी मे देश के ओर-छोर तक गूंज उठी। उन्होने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए चर्खा यज्ञ और पचायती राज्य को प्रचलित करने की दिशा मे प्रयत्न किया। उनके सत्याग्रह का प्रभाव विदेशी शिक्षा और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के रूप मे सामने आया।

इस प्रकार महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे एक नये राजनीतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। महात्मा गाँधी ने गत शताब्दी के समाज सुधारो को कार्यान्वित करके एक ओर तो श्रीमती अमृत कौर, श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू जैसी राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय ख्याति की महिलाओं के नेतृत्व में भारतीय नारी-समाज को आगे बढने के लिए प्रेरित किया और दूसरी ओर अन्तरजातीय विवाहो, ऊँच-नीच की विषमताओं तथा अपृश्यता-निवारण के कार्यक्रमो को तीव्रता से आगे बढाया।

भारतवासियो को पारस्परिक विरोधों के बीच उलझाये रखने वाले इन भीतरी झगडो के कारण देश की जर्जरता के परिणाम और भी उभरकर सामने आते, यदि गाँधी जी उनके दमन के लिए सक्रिय न हुए होते। इन भीतरी वैषम्यो का अन्त करने के साथ-साथ उन्होने देश के प्रत्येक व्यक्ति के

जोरदार उसके मौलिक अधिकारों की माँग के औचित्य को अधिक प्रभावशाली रूप में उभारा और दासता के विरुद्ध जन-जन में तीव्र आक्रोश की धारा बहाकर अपने राष्ट्रीय स्वाधीनता के अभियान को सबल बनाया।

गाँधी जी ने भारतीय तत्त्वज्ञान को प्रत्यक्ष आचरण मे अवतरित किया। उन्होंने लोकमान्य तिलक तथा योगिराज अरविन्द के दिव्य जीवन की झाँकियों को जन-जीवन में प्रतिबिम्बित करने का नया योग-साधन किया। उन्होंने एक सच्चे सन्त की भाँति सात्त्विक और सरल नैतिक आचरण को वरीयता दी। उन्होने परलोक की अपेक्षा इह लोक में मानव के पद की सुस्थिरता पर अधिक-ध्यान दिया। अहिंसात्मक आत्मशक्ति को उजागर करके उन्होंने समाज-संस्था को दूषित करने वाली हिंसक प्रवृत्तियो का दमन किया। उनकी दृष्टि से सामाजिक स्वस्थता और स्थिरता के लिए हिंसक शक्ति का विध्वंस करके ही नैतिकता को उजागर किया जा सकता है।

गाँधी जी ने पाश्चात्यों की धर्म-संस्कृति और उस पर आधारित आधुनिक सुधारों का अस्वीकृत करके अपने अध्यात्मवाद के आधार को समूचे विश्व मे फैलाने का नया रास्ता बनाया। उन्होने विकसित यान्त्रिक शक्ति मे मनुष्य की बढती हुई पराधीनता का आत्मदर्शन किया। उन्होने इस विच्छेदक यन्त्र-संस्कृति को नैतिकता के ह्रास का कारण सिद्ध किया और भारत की सामूहिक प्रगति के लिए उसके अतीत की ग्राम्य संस्कृति की ओर उन्मुख करके एक नये जीवन दर्शन की स्थापना की। इसकी सफलता के लिए उन्होने ग्रामोद्योगी अर्थशास्त्र की पुन: संस्थापना की। उसके कार्यान्वयन के लिए उन्होने ऐसी आश्रम संस्था को जन्म दिया, जिसके अनुशासन मे प्रत्येक व्यक्ति अपने भरण-पोषण, अपने नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के लिए स्वयं को ही उत्तरदायी अनुभव करे। उनकी इस आश्रम-जीवन-व्यवस्था में वर्ग-भेद और राष्ट्र-भेद की क्षुद्रताओं को कोई भी स्थान नहीं दिया गया है।

गाँधी जी ने भौतिक एवं यान्त्रिक शक्ति के नियन्त्रण के लिए आत्मशक्ति के महत्त्व पर बल दिया। किन्तु आज का गाँधीवादी समाज गाँधी जी के ध्येय की प्राप्ति के लिए कहाँ तक सफल हुआ, कहा नही जा सकता है। गाँधी जी मे आत्माधिकार करने वाला जो स्थिर निश्चय और अदम्य इच्छा शक्ति विद्यमान थी, आधुनिक गाँधी वादियों ने उसको चरितार्थ एवं कार्यान्वित करने की अपनी क्षमता का कहाँ तक विस्तार किया है, इसका निश्चयपूर्वक निर्णय करना सन्दिग्ध है। उसका कारण यह है कि "गाँधीवादियों के मन में अब तक

उस मनीषा का उदय नही हुआ है, जो वर्तमान समय के विशाल ज्ञान-विज्ञानों की नेतृता मे निर्माण होने वाले विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने वाला चरम बौद्धिक उत्कर्ष प्राप्त कर सके।"

राष्ट्रपिता द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय स्वाधीनता के इस महान् आन्दोलन को संचालित करने मे जिन महापुरुषो का अनवरत योगदान रहा उनमे भी सुभाषचन्द्र बोस का नाम मुख्य है। इस अदम्य साहसी, बुद्धिमान् और प्रभावशाली व्यक्ति ने अनेक देशो का भ्रमण करने के उपरान्त 1943 ई० मे जापान मे आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की और लाखो प्रवासी भारतीयो को उसके प्रति वफादारी की शपथ के लिए राजी किया। इस सरकार का एकमात्र लक्ष्य था भारत को स्वतन्त्रकर दिल्ली के लाल किले पर तिरगा झण्डा फहराना। उनकी आजाद हिन्द सेना के राष्ट्रीय नारे थे 'जय हिन्द' और 'दिल्ली चलो।' उन्होने एक शक्तिशाली सेना का भी सगठन किया। किन्तु दूसरे महायुद्ध में जापान की पराजय के कारण आजाद हिन्द सेना के अनेक प्रमुख व्यक्ति कारागार मे डाल दिये गये और दिल्ली के लाल किले मे उन पर राष्ट्रद्रोह का मुकदमा चलाया गया, और उन्हे कई तरह से दण्डित किया गया।

अंग्रेजो की इस क्रूरता और कूटनीति के कारण स्वधीनता-आन्दोलन की भावना और भी बलवती हो उठी। देश मे घट रही इन दुर्घटनाओ का प्रभाव सेना के तीनो अगो पर भी लक्षित हुआ और वहाँ भी क्रान्ति की आग सुलगने लगी। इसी बीच 1942 ई० मे भारत छोडो आन्दोलन आरम्भ हुआ। महात्मा गाँधी तथा उनके सहयोगियो को कारागार मे बन्द कर दिया गया। अंग्रेजो की इस दमनपूर्ण अनीति से सारे देश मे असन्तोष की आग भभक उठी। इस जन-क्रान्ति का प्रभाव सेना पर भी पड़ा और 1945-46 ई० मे नौसेना ने विद्रोह कर दिया। उधर उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर तैनात स्थल सेना के जवानों ने भी विद्रोह कर दिया। अब सारे देश मे एक स्वर से 'भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द हो उठा।

स्वाधीनता की इस एकमात्र बलवती आवाज ने अंग्रेजो को भारत छोड़ने पर विवश किया। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ; किन्तु स्वाधीनता प्राप्ति की इस सफलता को विफल करने के लिए अंग्रेजो ने अपने खैर-ख्वाहो का एक वर्ग बना लिया, जिसने देश-विभाजन की माँग की। देश के लिए यह एक दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति थी; किन्तु तत्कालीन राष्ट्र नेताओं के समक्ष इसके अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प नही था। देश-विभाजन के बिना राष्ट्रीय

स्वाधीनता सम्भव नहीं थी । अँग्रेजों ने भारत को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो अलग-अलग देशों में बाँट दिया । जन-समाज में उसकी अच्छी प्रतिक्रिया नहीं हुई; परन्तु कोई कुछ नहीं कर सका । धार्मिक कठमुल्लापन और असहिष्णुता के शिकार लगभग एक करोड़ हिन्दुओं को पाकिस्तान छोड़ने के लिए विवश किया गया । लाखों हिन्दुओं को मौत के घाट उतारा गया । भारत पर भी उसकी प्रतिक्रियास्वरूप यहाँ भी मारकाट हुई । पाकिस्तान ने एकमात्र यह उद्देश्य बना लिया कि भारत की प्रगति में सदा बाधा उत्पन्न की जाय ।

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के रूप में भारत विभाजन से केवल ईर्ष्या-द्वेष तथा घृणा का प्रचार-प्रसार हुआ । वास्तव में यह इतिहास की एक अत्यन्त दुःखद घटना थी । एक लम्बे अर्से तक जिन हिन्दू-मुसलमानों ने एक होकर स्वाधीनता प्राप्ति के लिए असह्य यातनाओं को सहन किया, उन्हें विवश होकर भारत-विभाजन स्वीकार करना पड़ा । विगत सैकड़ों वर्षों से जिनकी इतिहास और परम्पराएँ अटूट रूप मे परस्पर गुम्फित थीं, अतीत में हुए अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों मे भी जिन्होंने दो टुकडे होना स्वीकार नहीं किया, वे सहज मे हो दो देशो के रूप मे बंट गये ।

भारत-विभाजन के पश्चात् भी देश में 600 रियासतों के राजा मौजूद थे । उनके निरकुश सामन्तवादी एव तानाशाही शासन मे राज्यों की जनता गुलामी का जीवन व्यतीत कर रही थी । स्वाधीन भारत के प्रथम मन्त्रि-मण्डल के गृहमन्त्री लौहपुरुष सरदार बल्लभभाई पटेल ने बडी बुद्धिमानी से इन रियासतो को भारतीय संघ में विलय करवा कर सामन्तशाही का भी अन्त कर दिया ।

संविधान-सभा ने 1950 ई० मे संविधान तैयार किया और उसे तुरत लागू कर दिया गया । इस संविधान में भारत को एक धर्मनिरपेक्ष जनतन्त्र घोषित किया गया । देश से गरीबी को मिटाना, जन-सामान्य के जीवन-स्तर को उन्नत करना, साम्प्रदायिक-सद्भाव को जाग्रत करना और अस्पृश्यता का निवारण करना संविधान के प्रमुख उद्देश्य थे । भारत में इस प्रकार के गणतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना के लिए पंचायती-राज, कृषि-सुधार, औद्योगीकरण और समस्त सेवाओं का राष्ट्रीयकरण किया गया । पं० जवाहरलाल नेहरू इस समाजवाद के संस्थापक थे । उन्होंने गणतन्त्रात्मक समाजवाद की धर्म-निरपेक्ष और गुट-निरपेक्ष नीति की घोषणा करके भारत को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित-प्रतिष्ठित करने में अपनी शक्ति तथा अपने

प्रभाव का पूरा उपयोग किया। समाजवाद की सफलता के लिए उन्होंने औद्योगीकरण और कृषि-सुधारों पर बल दिया। नेहरू जी की मृत्यु के बाद लाल बहादुर शास्त्री भारत के दूसरे प्रधानमन्त्री बने। उन्होने भी भारत के रचनात्मक गठन पर जोर दिया और गरीबी, असमानता तथा भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए सुयोजित अभियान चलाया। एक सर्वोच्च शासक की अपेक्षा उन्होंने एक देशभक्त के रूप में अपनी ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा से समस्त देशवासियो के हृदयो मे अपना प्रतिष्ठित स्थान बनाया। उनके समय भारत-पाकिस्तान युद्ध भी छिड़ा। उनकी दृढ़ता तथा अनोखी सूझबूझ के कारण यह युद्ध तुरत ही समाप्त हो गया। अपने अल्पकालीन शासन में ही शास्त्री जी ने अपार लोकप्रियता अर्जित की और अन्त मे स्वय को राष्ट्र पर समर्पित करके राष्ट्रीय इतिहास मे अपने को अमर बनाया।

स्व० लालबहादुर शास्त्री के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी प्रधानमन्त्री हुईं। उन्होने नेहरू जी के समाजवादी लक्ष्यो को चरितार्थ करने के लिए देशव्यापी अभियान चलाया। देश के भीतर की असमानताओ को दूर करके उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भारत के सम्मान को बढ़ाया। मानव स्वातन्त्र्य के सघर्ष को अपना योगदान करके उन्होने आधुनिक विश्व के इतिहास मे बगला देश को जन्म देकर भारत के गौरव को बढाया।

आँग्लयुगीन भारत का सांस्कृतिक नवोत्थान

प्राच्यविद्या का अध्ययन-अनुसन्धान और पुनर्मूल्यांकन

आँग्लयुगीन भारत के सास्कृतिक अध्ययन को मुख्यत: दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—भौतिक और बौद्धिक। अँग्रेजी शासन की स्थापना के बाद भौतिक उन्नति के क्षेत्र मे समाचार-पत्रो तथा यातायात की सुविधाओ द्वारा आचार-विचारो के आदान-प्रदान की सुविधा प्राप्त हुई। इसी समय भारत को सुदूर योरप के देशो की यान्त्रिक एव विद्युत् प्रगति का परिचय भी प्राप्त हुआ। शिक्षा की दिशा मे विशेष प्रगति हुई। अतीत की अनेक पीढ़ियों से भारत मे विभिन्न रूढियो, कुप्रथाओ, भ्रमो और अन्धविश्वासों की परम्पराएं प्रचलित थीं। इन अप्रगतिशील परम्पराओ ने एक बहुत बड़े वर्ग को सकीर्ण एवं काल्पनिक जीवन बिताने के लिए बाध्य किया हुआ था। भाग्यवाद के भरोसे पर जीवित रहते हुए वे अपनी सभी विपत्तियो का एकमात्र कारण अदृष्ट को मानते आ रहे थे। आँग्लयुगीन भारत में नयी शिक्षा-दीक्षा और विभिन्न क्षेत्रों

में हुए सामाजिक सुधारों ने यहाँ के जन-जीवन को प्रभावित किया और उसके फलस्वरूप भारतवासियों का सम्पर्क आधुनिक नये विश्व से हुआ। इस युग में इतिहास, गणित, भूगोल और तुलनात्मक भाषा विज्ञान की नयी खोजों तथा स्थापनाओं ने भारतीयों के पुराने रूढ़िगत विचारों एवं अन्ध विश्वासों को मिटाने में सहायता की। इस पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति ने बुद्धिवाद, व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के नये आयामों को भी आलोकित किया। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि अपनी भौतिक, शैक्षिक एवं यान्त्रिक उन्नति के कारण भारत ने नये युग में प्रवेश किया। इस भौतिक उन्नति के साथ-साथ भारत मे प्राच्यविद्या के अनुसन्धान तथा पुनर्मूल्यांकन पर विशेष बल दिया गया। यह बौद्धिक उन्नति आंग्लयुगीन भारतीय इतिहास की सर्वथा नयी उपलब्धि है।

अंग्रेजो के भारत-आगमन से पूर्व यद्यपि भारतीय विद्याओं एव कलाओ के प्रति पाश्चात्यो की निष्ठा बहुत पहले ही जग चुकी थी, तथापि उसके व्यापक अध्ययन-अनुशीलन का मार्ग अंग्रेजो के आगमन के बाद ही प्रशस्त हुआ। धर्म-प्रचारार्थ ईसाई मिशन जब भारत आये, तो वे भारतीय धर्म-ग्रन्थो का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। ईसाई पादरी संस्कृत के धर्मग्रन्थो का उदाहरण देकर परोक्ष रूप से ईसाई मत का प्रचार करते रहे।

अंग्रेजो को भारत के प्रति आकर्षित करने का श्रेय पुर्तगालियो को है। लगभग 14वी, 15वी शती मे देश-देशान्तरो की खोज की जिज्ञासा से कोलम्बस, मंगेलान और वास्को डि गामा ने भारतीय महाद्वीप की सर्व प्रथम खोज की। इस प्रकार भारत का सर्व प्रथम सम्पर्क पुर्तगालियो से हुआ। तदनन्तर भारत-पुर्तगाल के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए और साथ ही पुर्तगाली ज्ञानजीवियो को भारतीय विद्या के प्रति अभिरुचि हुई। उसी के परिणाम स्वरूप अब्राहम रोजर ने 1651 ई० मे भर्तृहरि के शतको के कुछ ललित श्लोको का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद किया, जिसको देखकर पाश्चात्यो का भारतीय साहित्य के प्रति आकर्षण बढ़ा।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा काव्य-कला के प्रति आकर्षित होने वाले पाश्चात्य देशो के विद्वानों में जर्मनवासियो का नाम अग्रणी है। भारतीय ज्ञान की जिज्ञासा के फलस्वरूप हेनरिच नामक एक जर्मन विद्वान् ने 1664 ई० मे सस्कृत का अध्ययन किया। 1699 ई० में एक जर्मन पादरी ने भारत और संस्कृत का ज्ञान अर्जित करके सर्वप्रथम जर्मनी मे सस्कृत व्याकरण की रचना की। इसी समय आर्थोलोमिया नामक दूसरे विद्वान् ने व्याकरण विषय पर दो लघु कृतियो का निर्माण किया।

योरोप, अमेरिका तथा अरब के सुदूर देशों में भारतीय तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए मुगल शाहजादा दाराशिकोह (1615-1659 ई०) द्वारा सम्पादित उपनिषदों का फारसी अनुवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध हुआ। 1640 ई० में उसने काश्मीर में ऐसे उभय-भाषा-विद् वेदान्तियों तथा महामना सन्तों को आमन्त्रित किया, जो संस्कृत तथा फारसी के ज्ञाता थे। उनसे उसने छह मास तक उपनिषदों का श्रवण किया और 1656 ई० (1077 हिजरी) को 50 उपनिषदो का भाषान्तर कार्य सम्पन्न किया। इस ग्रन्थ का नाम उन्होंने 'सीर-ए-अकबर' (महारहस्य) रखा। उसके द्वारा हिन्दू मुसलमानों में जो धार्मिक एकता का कार्य हुआ, उसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। किन्तु वह महाग्रन्थ जब पश्चिम के देशो में पहुँचा तो उससे पाश्चात्यो मे मूल उपनिषदो के महान् ज्ञान को उसकी मूल भाषा संस्कृत में जानने की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हुई।

1775 ई० तक समस्त पाश्चात्य देशों के विद्वान् उपनिषदो के तत्त्वज्ञान से प्रायः अपरिचित थे। इसी समय अयोध्या के नवाब सुआजुद्दौला के फारसी रेजिडेंट एम० गेंटिल ने 1775 ई० मे प्रसिद्ध फ्रेंच पर्यटक एंक्वेटिल डुपेरन के लिए दारा द्वारा सम्पादित फारसी अनुवाद की एक प्रति अवलोकनार्थ भेजी। डुपेरन ने उस अनुवाद की एक अन्य फारसी हस्तलिखित प्रति प्राप्त करके उन दोनों के आधार पर फ्रेंच और लैटिन अनुवाद तैयार किये। 1801-2 ई० मे लैटिन अनुवाद औपनेखत (Oupnekhat) नाम मे ट्रासबर्ग (पेरिस) से प्रकाशित हुआ। इस लैटिन अनुवाद के माध्यम से दारा द्वारा सम्पादित ग्रन्थ के पश्चिम की अनेक भाषाओ मे अनुवाद हुए। इस लैटिन अनुवाद को देखकर प्रसिद्ध इतिहासकार एवं संस्कृतज्ञ विद्वान् विंटरनित्स ने कहा कि यद्यपि वह एकांगी और अनेक त्रुटियो से भरपूर था; किन्तु उसी के आधार पर शेलिंग और शोपेनहार को भारतीय तत्त्वज्ञान का पारंगत कहा जाने लगा। डुपेरन का यह लैटिन अनुवाद 1808 ई० में जर्मन भाषा मे अनूदित होकर नूनवर्ग मे प्रकाशित हुआ, जिसकी प्रेरणा से अनेक प्राच्यविद्या जिज्ञासु जर्मन विद्वान् उपनिषदों की खोज के लिए प्रवृत्त हुए। उसी के परिणामस्वरूप ओथमर फ्राक (1820-21 ई०) और जे० डी० लंजुईनास नामक दो फ्रेंच विद्वानो ने क्रमशः सक्षिप्त तथा विस्तृत फ्रेंच रूपान्तर प्रस्तुत किये। लजुईनास ने अपने रूपान्तर का नामकरण किया 'भारतीयो का भाषा-वाङ्मय, धर्म तथा तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अन्वेषण'।

उपनिषदों के अनुवाद तथा भाषान्तर का यह कार्य निरन्तर प्रशस्त होता गया। इस परम्परा के तत्त्वान्वेषियों में जर्मन विद्वानों का विशेष योगदान रहा। इस प्रकार के विद्वानों में वेबर, मैक्समूलर, पिशेल, बोटलिंग, पालड्यूसन और रोजर प्रभृति विद्याविदों का नाम उल्लेखनीय है।

आंग्लयुगीन भारत में यहाँ की विद्याओं का तथा कलाओं का अध्ययन-अनुशीलन तथा प्रचार-प्रसार का विधिवत् एवं व्यापक कार्य एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के बाद हुआ। भारत में इस सोसाइटी की स्थापना 1784 ई० में हुई। तदनन्तर बंगाल के तत्कालीन गवर्नर (1772 ई०) वारेन हेस्टिंग्स ने 1785 ई० में संस्कृत विद्वानों के सम्मिलित प्रयास से धर्मशास्त्र पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ का संकलन कराया और उसका अंग्रेजी अनुवाद कराके प्रकाशित किया। चार्ल्स विल्किंस का 'गीता' अनुवाद भी 1785 ई० में इंग्लैण्ड से प्रकाशित हुआ, जिसने पाश्चात्य विद्वानों को अतिशय रूप से प्रभावित किया। इस भारतविद्यानुरागी विद्वान् ने 'हितोपदेश' और 'महाभारत' के 'शकुन्तलोपाख्यान' का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया।

आंग्लयुगीन भारत के आंग्ल विद्वानों में सर विलियम जोन्स का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी संस्कृतानुरागी विद्वान् के सत्प्रयास से एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना हुई थी। यह संस्था भारत में हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थो की खोज के लिए स्थापित हुई थी। इस संस्था द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों के उद्धार तथा अनुसन्धान के लिए जो कार्य हुआ उसका श्रेय उक्त विद्वान् को ही दिया जाना चाहिए। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के ग्रन्थ-संग्रह की जो सबसे पहली सूची लन्दन 1807 ई० में मुद्रित हुई थी उसको सर विलियम जोन्स और लेडी जोन्स ने ही तैयार किया था। 1789 ई० में जोन्स ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अंग्रेजी अनुवाद और उसके बाद 1792 ई० में 'मनुस्मृति' तथा 'ऋतुसंहार' का अनुवाद प्रस्तुत किया। जोन्स के अनुवाद के आधार पर जर्मन विद्वान् जार्ज फोर्स्टर ने 1791 ई० में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का जर्मन अनुवाद किया। इस अनुवाद की हर्बर्ट और गेटे ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भारतीय विद्याविद् आंग्लविद्वानो में हेनरी टामस कोलब्रुक (1765-1837 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। 1783 ई० में उनको ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से भारत भेजा गया था और 1815 ई० के लगभग छत्तीस वर्षों तक वे भारत में रहे। 1807 ई० में

वे एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के सभापति नियुक्त हुए। अपने इस सभापति काल में उन्होंने भारत के विभिन्न अंचलों से हस्तलिखित ग्रन्थों का उद्धार किया। उनके द्वारा एकत्र और सम्प्रति इण्डिया ऑफिस लन्दन में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों पर उनके द्वारा लिखे गये खोजपूर्ण विवरण बड़े महत्त्व के हैं। इस कार्य के लिए उन्होंने अपने पास की विपुल निधि को भी व्यय किया था।

1776 ई० में विधिवेत्ता विद्वान् वारेन हेस्टिंग्स के प्रोत्साहन से विलियम जोन्स ने जिस 'हिन्दू और मुसलमानों के कानून-सार' नामक ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद आरम्भ किया था, उनकी मृत्यु के बाद कोलब्रुक ने ही उसको पूरा किया। पाणिनि व्याकरण पर उन्होंने 'संस्कृत व्याकरण' नामक जो पुस्तक लिखी, मैक्समूलर ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भारतीय विधिशास्त्र पर गम्भीर प्रकाश डालने वाला उनका ग्रन्थ Supplement of the Digest of law भारत में पाश्चात्य न्यायाधीशों एवं विधिवेत्ताओं का पथ-प्रदर्शक बना रहा। 1871 ई० में उन्होंने भारतीय ज्योतिष पर भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जिसमें ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने 'अमरकोश', 'हितोपदेश' और 'किरातार्जुनीय' का भी अनुवाद किया।

कोलब्रुक द्वारा भारतीय तत्त्वज्ञान, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, व्याकरण, छन्दशास्त्र तथा हिन्दुओं के रीति-रिवाजों, वर्ण-व्यवस्था और भाषा आदि विभिन्न विषयों पर लिखे गये 1797 ई० से 1828 ई० तक के अनेक निबन्ध अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण तथा द्रष्टव्य हैं। इंग्लैण्ड लौटने पर उन्होंने 1821 ई० में वहाँ भी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की, जिसने पश्चिम के देशों में संस्कृत के अध्ययन-अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त किया।

अलेक्जेण्डर हैमिल्टन ने अनेक वर्षों तक भारत में रहकर वैदिक साहित्य का अच्छा ज्ञान अर्जित किया। यह आंग्ल विद्वान् 1802 ई० में जब अपने सहयोगियों सहित स्वदेश लौट रहा था तो रास्ते में नैपोलियन ने पेरिस में उन्हें पकड़कर कैद में डाल दिया। अपने इस बन्दी जीवन में भी उन्होंने भारतीय विद्याप्रेम को विस्मृत नहीं किया। उसी समय जर्मन विद्वान श्लीगल ने उनसे संस्कृत का अध्ययन किया। उसका भाई आयस्ट डब्ल्यू० श्लीगल और वे फ्रेंच विद्वान् शेजी के शिष्य थे। शेजी फ्रांस में संस्कृत के विद्वान् थे। शेजी ने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का सम्पादन किया और 1823 ई०

में 'इण्डियन लाईब्रेरी' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन करके भारतीय भाषा विज्ञान पर अपूर्व प्रकाश डाला। 1808 ई० में श्लीगल ने अपने पाण्डित्यपूर्ण लेखों द्वारा भारतीय ज्ञान के प्रति पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। 1818 ई० में वह वान विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्यापक नियुक्त हुआ। उसने भारतीय विद्याओं का तुलनात्मक अध्ययन और अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का जर्मनी में अनुवाद किया। उसके भाई आगस्ट श्लीगल ने भी 1823 ई० में 'भगवद्गीता' का जर्मन संस्करण निकाला और 1829 ई० में 'वाल्मीकि रामायण' का पहला भाग प्रकाशित किया।

श्लीगल के ही समकालीन एक फ्रेंच विद्वान् बौप हुए। उनका जन्म 1791 ई० में हुआ था। 1812 ई० में पेरिस में उन्होंने शेजी से संस्कृत का अध्ययन किया। 1816 ई० में बौप ने संस्कृत के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पर निबन्ध लिखकर अपने गम्भीर अध्ययन का परिचय दिया। उन्होंने 'नलदमयन्ती आख्यान' का लैटिन भाषा मे अनुवाद किया। 1827 ई० में उन्होने संस्कृत-व्याकरण पर एक पुस्तक लिखी और एक कोश-ग्रन्थ का प्रणयन किया। समस्त योरोप में इन दोनों ग्रन्थों का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ।

फ्रांस में भारतीय सभ्यता और ज्ञान का महत्त्व बहुत पहले ही वाल्टेयर (1694-1778 ई०) प्रकाश में ला चुके थे। उन्होंने भारतीय ज्योतिर्विज्ञान तथा भारतीयों की प्राचीन कला की अत्यन्त सराहना की है। उन्होंने लिखा है कि यूनानियों ने भारतीय ज्योतिष के ज्ञान के लिए भारत का भ्रमण किया। उनकी कला-विरासत फारस से भी अधिक प्राचीन है।

भारतीय विद्या-बुद्धि और सभ्यता-संस्कृति के प्रशंसक फ्रांसीसी विद्वानों में सिल्वेन लेवी का नाम उल्लेखनीय है। भारत के सम्बन्ध में अभिव्यक्त उनके विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने लिखा है कि अति प्राचीन काल में ही फारस से चीन सागर तक, साइबेरिया के बर्फीले प्रदेशो से जावा तथा बोर्नियो तक और प्रशान्त महासागर से सुदूर दक्षिण तक भारत अपनी सभ्यता तथा अपने ज्ञान का प्रचार-प्रसार कर चुका था। अतीत की अनेक शताब्दियों में विश्व के एक चौथायी भाग पर उसने अपनी विद्या-बुद्धि की अमिट छाप अंकित कर दी थी। इस इतने विस्तृत भू-भाग में अज्ञानता को मिटाने के लिए उसने जो कार्य किया, उसके फलस्वरूप उसको विश्व के सार्वभौम इतिहास में प्रतिष्ठित पद प्राप्त करने का अधिकार है। उसका

स्थान विश्व के महानतम राष्ट्रों में है, क्योंकि उसने मानवता के उत्थान के लिए कार्य किया।

इसी प्रकार एशिया में दक्षिण-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व के सुदूर भू-खण्ड पर भारतीय सभ्यता, संस्कृति, कला और विद्या के सार्वभौम प्रभुत्व की चर्चा करते हुए दूसरे फ्रांसीसी विद्वान् रेने ग्रूसे ने लिखा है कि बिना किसी बल-प्रयोग के चीन पर भारत का लगभग दो हजार वर्षों तक प्रभुत्व बना रहा। पश्चिम में भारतीय बौद्धधर्म और वेदों की खोज का कार्य सर्व प्रथम फ्रांसीसी विद्वानों द्वारा ही हुआ। इस दृष्टि से पेरिस के संस्कृत विद्वान् सर यूजेन बर्नीफ का नाम उल्लेखनीय है। उन्होने महायान बौद्ध-ग्रन्थ 'सद्धर्म पुण्डरीक' का फ्रेंच अनुवाद करके बौद्धधर्म के सिद्धान्तों को सर्व प्रथम विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया। मैक्समूलर ने उन्ही से वेदों का अध्ययन किया था।

1821 ई० में जर्मन विद्वान् वान हम्बोल्ट और उसके भाई अलेक्जेण्डर हम्बोल्ट ने भारतीय दर्शन का अध्ययन किया। 'गीता' का ज्ञानयोग उनके अध्ययन का मुख्य विषय था। इसी प्रकार शेलिंग, कॉट और शिलर प्रभृति जर्मन विद्वानों ने उपनिषदो का अध्ययनकर उनका जर्मन भाषा में अनुवाद किया। जेम्स फर्गुसन एक प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् हुए। उन्होने 1843 ई० में दक्षिण भारत के खण्डहरों तथा देवालयों की अज्ञात सामग्री को प्रकाश में लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1848 ई० के लगभग उन्होने भारतीय वनस्पति विज्ञान पर 'हिन्दू प्रिंसिपल ऑफ ब्यूटी इन आर्ट' नामक पुस्तक लिखी।

महापण्डित मैक्समूलर अपने महत्तम कार्यों के लिए भारतीय इतिहास के अभिन्न अंग बन चुके हैं। उनका जन्म जर्मनी के देसाऊ नामक एक छोटे-से गाँव मे 6 दिसम्बर, 1823 ई० को हुआ था। अपने जीवन के 56 वर्ष उन्होंने भारतीय साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन पर लगाये। 1849-1875 ई० तक उन्होने सायण भाष्य सहित ऋग्वेद को छह जिल्दों मे सम्पादित तथा प्रकाशित किया। इस कार्य के अतिरिक्त उन्होंने 1873 ई० में मूल ऋग्वेद के दस मण्डलो को बड़ी शुद्धता के साथ लन्दन से मुद्रित किया।

मैक्समूलर ने ऋग्वेद के सम्पादन के अतिरिक्त भारतीय धर्म, भाषा विज्ञान और भारतीय आदिम जातियों पर विभिन्न ग्रन्थों का निर्माण किया। उन्होने 1859 ई० मे 'संस्कृत साहित्य का प्राचीन इतिहास' (ए हिस्ट्री ऑफ दि एन्शेंट संस्कृत लिटरेचर) का निर्माण करके वैदिक साहित्य के प्रति विश्व के

विद्वानों की रुचि को जागृत किया। प्रो० विल्सन ने इस ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए लिखा है कि मैक्समूलर का कार्य पूर्वी देशों के लिए एक महान् प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ। उन्होंने 'हितोपदेश', 'मेघदूत', 'धम्मपद' और उपनिषदों का भी अनुवाद किया। 'दि सेक्रैड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज' के 48 खण्डों का सम्पादन भी उन्होंने किया। भारत की महानताओं और उसकी विद्या-बुद्धि की उच्चतम उपलब्धियों का निरूपण उन्होंने 'इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस' नामक पुस्तक में किया है। उन्होंने भारत पर कुल मिलाकर लगभग 18 ग्रन्थों का निर्माण किया। समय-समय पर उनके द्वारा दिये गये 'भारत की सबसे प्राचीन भाषा' और 'आधुनिक साहित्य तथा भाषा' नामक व्याख्यान उनकी पुस्तकों जितने ही महत्त्वपूर्ण एवं स्थायी महत्त्व के हैं।

मैक्समूलर की ही भाँति भारतीय ज्ञान की प्राप्ति और भारतीय साहित्य की खोज में स्वयं को समर्पित कर देने वाले जर्मन विद्वान् डॉक्टर जे० जी० बूलर (1837-1898 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। जर्मनी के एक गाँव में उनका जन्म हुआ था। गाटिजन विश्वविद्यालय में उनकी शिक्षा हुई और वहीं से उन्होंने डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर बेनफे की प्रेरणा से बूलर को संस्कृत के ज्ञान-प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त हुई। अपनी इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वे गृहत्यागी बनकर पेरिस, आक्सफोर्ड और इण्डिया ऑफिस के ग्रन्थालयों में सुरक्षित भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में तल्लीन हो गये। मैक्समूलर के सम्पर्क से उनको बड़ी सहायता प्राप्त हुई। उन्ही के प्रयास से बूलर बम्बई आये और इस रूप में भारत के विद्वानो तथा साधु-सन्तो के सम्पर्क में रहने की उनकी इच्छा पूरी हुई। उन्होंने ब्रिटिश सरकार को भारतीय संस्कृत पण्डितो की दयनीय स्थिति पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। उन्होंने 'बम्बई संस्कृत सीरीज' के नाम से एक ग्रन्थावली का प्रकाशन किया और उसमें 'पंचतन्त्र', 'दशकुमारचरित' तथा 'विक्रमांगदेवचरित' के स्वसम्पादित संस्करणों को प्रकाशित किया। सर रेमण्ड वेस्ट के सहयोग से उन्होंने 'डाइजेस्ट ऑफ हिन्दू ला' का भी निर्माण किया।

1866 ई० में उन्हें उनकी रुचि का कार्य मिला। भारत की ब्रिटिश सरकार ने उन्हें बंगाल, बम्बई और मद्रास में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का कार्य सौंपा। बम्बई शाखा के वे अध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होने हजारों ग्रन्थों को एकत्र किया और उनकी सूचियाँ तैयार कीं। 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डो-आर्यन रिसर्च' उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसे कि उन्होंने लगभग

तीस विद्वानों के सहयोग से तैयार किया था और जिसके केवल नौ भाग ही प्रकाशित हो सके हैं। बूलर जैसे विद्यानुरागी विद्वान् कम हुए हैं। इसी समय विल्सन ने 'हिन्दू थियेटर' और 'विष्णु पुराण' के सहित ऋग्वेद का छह जिल्दों में अनुवाद किया। वेदों के शब्दार्थ-ज्ञान के लिए जर्मन विद्वान् रॉथ का लिखा 'संस्कृत-जर्मन विश्वकोश' अत्यन्त उपयोगी एवं बृहत् कार्य है। 1870 ई० में एच० ग्रासमन और विल्सन ने सायण भाष्य के आधार पर ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया।

भारतीय विद्याप्रेमी पाश्चात्य विद्वानों में रूडोल्फ, गोल्डनर, लुदविग्, रैक्य और पिशेल का नाम उल्लेखनीय है। लुदविग् ने ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद किया। आर० पिशेल भी जर्मन थे। बर्लिन और आक्सफोर्ड में उनकी शिक्षा सम्पन्न हुई थी। 1872 ई० में वे कील विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए। 1885 ई० में वे हेल के सैक्सन विश्वविद्यालय में गये और अन्त में इसी पद पर वे बर्लिन विश्वविद्यालय मे रहकर आजीवन संस्कृत की सेवा करते रहे। मुख्यत: वे वेदविद् विद्वान् थे। इस विषय पर उनका 'वैदिक स्टडीज' ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भारतीय नाट्य तथा काव्य विधाओं पर भी उन्होंने कार्य किया। उन्होंने कालिदास तथा आचार्य हेमचन्द्र की कृतियों का भी अनुवाद किया।

भारतीय साहित्य पर व्यापक एव गम्भीर रूप से प्रकाश डालनेवाले विद्वानों में वेबर का नाम उल्लेखनीय है। इस जर्मन विद्वान् का जन्म 1825 ई० में हुआ था। उनका जीवन संस्कृत की सेवा करते हुए व्यतीत हुआ। मैक्समूलर ने जो कार्य ऋग्वेद के क्षेत्र में किया, वही कार्य वेबर ने यजुर्वेद के क्षेत्र में किया। उन्होंने 'मैत्रायणीसंहिता' (1847 ई०) और 'काण्वसंहिता' (1852 ई०) का सम्पादन तथा प्रकाशन किया। अनेक वर्षों के परिश्रम से उन्होंने 1882 ई० में संस्कृत-साहित्य पर सर्व प्रथम विवेचनात्मक इतिहास 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' का प्रणयन किया। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं बृहत् कार्य 'इण्डिस्केन स्टडियन' है। यह ग्रन्थ सत्रह जिल्दो में पूरा हुआ है और इसको लिखने में लगभग पैंतीस वर्ष लगे। उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में 'शतपथ ब्राह्मण' (1824 ई०) तथा 'कात्यायन श्रौतसूत्र' (1859 ई०) नाम उल्लेखनीय है।

वेबर बड़े विद्यानुरागी विद्वान् थे। बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों का बृहत् सूचीपत्र तैयार करके उन्होंने

पुरातन एवं अज्ञात ग्रन्थराशि को प्रकाश में लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वेबर द्वारा संगृहीत और बर्लिन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित 500 जैन हस्तलिखित ग्रन्थों का अनुशीलन करके उन्होंने जैन-साहित्य पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है।

भारतीय विद्या-विषयक वेबर के महान् कार्यों से प्रेरित होकर योरोप और अमेरिका के अनेक प्राच्यविद्याप्रेमी उनके शिष्य बने। उनके कार्यों से भारतीय साहित्य का पश्चिम के देशों में व्यापक प्रचार-प्रसार और स्वागत हुआ।

भारतीय विद्याप्रेमी विद्वान् डॉक्टर आर्थर एंथनी मेक्डोनेल का जन्म 1854 ई० में मुजफ्फरपुर (भारत) में हुआ था। उनके पिता अलेक्जेण्डर मेक्डोनेल भारतीय सेना के एक उच्चाधिकारी थे। मेक्डोनेल की शिक्षा-दीक्षा जर्मनी तथा आक्सफोर्ड में हुई थी। उन्होंने तुलनात्मक भाषा विज्ञान की दृष्टि से जर्मन, संस्कृत और चीनी भाषाओं के विशेष अध्ययन पर अच्छा प्रकाश डाला है। उनके संस्कृत गुरु विख्यात वैयाकरण एवं कोशकार सर मोनियर विलियम्स, बेन्फे, रॉथ तथा मैक्समूलर थे।

लिपजिग विश्वविद्यालय से ऋग्वेद पर कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' का पाठशोध और उस पर प्रबन्ध लिखने के उपलक्ष्य में उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि मिली थी। तदनन्तर वे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने संस्कृत के अध्ययन-अनुशीलन पर व्यतीत किया। वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में उनकी कृतियों के नाम हैं—'ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी' (1896 ई०), 'वैदिक रीडर' (1897 ई०), 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' (1900 ई०), 'वैदिक ग्रामर' (1910 ई०) और 'वैदिक इण्डैक्स' (कीथ के सहयोग से)।

वेबर और मेक्डोनेल के अतिरिक्त तीसरे इतिहासज्ञ विद्वान् का नाम आर्थर बेरीडेल कीथ है। उनका जन्म 1879 ई० को ब्रिटेन में हुआ था। एडिनबरा और ऑक्सफोर्ड में उनकी शिक्षा हुई। एडिनबरा विश्वविद्यालय में ही भाषा विज्ञान तथा संस्कृत विषय के लिए वे अध्यापक नियुक्त हुए और लगभग तीस वर्षों तक वहाँ अध्यापन कार्य करते रहे। मेक्डोनेल को वे अपना गुरु मानते थे। 1907 ई० में जब मेक्डोनेल भारत की यात्रा पर आये तो उनके उक्त स्थान पर कीथ की नियुक्ति हुई। 'वैदिक इण्डैक्स ऑफ नेम्स ऐण्ड सब्जेक्ट्स' को तैयार करने में मेक्डोनेल के साथ उनका सहयोग रहा। वैदिक ज्ञान-सम्बन्धी उनका दूसरा ग्रन्थ 'रिलिजन ऐण्ड फिलॉसफी ऑफ दि वेद ऐण्ड दि

उपनिषद्स' उनकी गंभीर गवेषणा तथा उनके व्यापक अध्ययन का परिणाम है। उन्होंने 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा 'कौषीतकी ब्राह्मण' का भी दस जिल्दों में अनुवाद (1920 ई०) किया। 'शांखायन आरण्यक' (1922 ई०) और 'कृष्ण यजुर्वेद' (1924 ई०) का भी उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद किया। उनके बौद्ध दर्शन विषयक प्रौढ़ ग्रन्थ का नाम है 'बुद्धिस्ट फिलॉसफी इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन'। हिन्दू तत्त्वज्ञान पर उन्होंने 'सांख्य सिस्टम', 'कर्ममीमांसा' और 'इण्डियन लॉजिक ऐण्ड आटोमिज्म' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य 'संस्कृत ड्रामा' और 'हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (1928 ई०) है। उनका इतिहास-ग्रन्थ अपने विषय का आज भी प्रतिनिधित्व करता है। धर्म, दर्शन, साहित्य और इतिहास विषयक अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियों के अतिरिक्त उन्होंने लन्दन के इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में और ऑक्सफोर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी मे सुरक्षित संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की बृहत् सूची (1935 ई०) के निर्माण मे योगदान किया।

जर्मन विद्वान् थीबो, मैक्समूलर की प्रेरणा से भारतीय ज्ञान की ओर आकृष्ट हुए थे। 1885 में वे अध्यापक होकर वाराणसी आये और 1888 ई० तक वही रहे। उन्होने 'पंचसिद्धान्तिका' और शाकर-रामानुज-भाष्य सहित वेदान्त सूत्रों का प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित किया। मीमांसा दर्शन तथा ज्योतिर्विज्ञान पर भी उन्होंने गवेषणात्मक निबन्ध लिखे।

भारतीय तत्त्वज्ञान, धर्म और साहित्य के प्रति पाश्चात्य विद्वानों की जिज्ञासा निरन्तर बढ़ती रही। इसी प्रेरणा से एम० रोजाँ नामक एक फ्रांसीसी विद्वान् ने योरोप मे ही 1814 से 1832 ई० तक संस्कृत का अध्ययन तथा प्रचार-प्रसार किया। जैन-साहित्य के विद्वान् जैकोबी ने भी जैन सूत्रों का अंग्रेजी अनुवाद किया। उन्होने ज्योतिर्विद्या पर भी कार्य किया। सर एडविन आर्नल्ड ने (1896 ई०) में भी 'चौरपचाशिका' का पद्यबद्ध अंग्रेजी अनुवाद किया। प्रसिद्ध वैयाकरण बोटलिंग ने पाणिनि व्याकरण का विशुद्ध संस्करण तैयार किया और रॉथ के सहयोग से संस्कृत कोश का भी सम्पादन किया। पाणिनि के स्थितिकाल पर विशद प्रकाश डालने वाली गोल्डस्टकर की कृति में प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश किया गया है।

मूल वेदों और वैदिक साहित्य पर कार्य करनेवाले विद्वानों में मुइर और आफ्रेक्तको का नाम उल्लेखनीय है। मुइर का 'ओरिजिनल संस्कृत टेस्ट' वैदिक जीवन पर व्यापक रूप से प्रकाश डालने वाला अपने विषय का एकमात्र

ग्रन्थ है। वह पाँच भागों में पूरा हुआ है। इस ग्रन्थ में वैदिक वाङ्मय, इतिहास तथा तत्कालीन जन-जीवन पर मौलिक प्रकाश डाला गया है। वैदिक संस्कृति के अध्येताओं के लिए इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। इसी प्रकार आफेक्तको ने ऋग्वेद तथा 'ऐतरेय ब्राह्मण' का रोमन संस्करण निकालकर अपूर्व कार्य किया। इसी प्रकार ऋग्वेद का एक अन्य रोमन संस्करण एदाक्क नामक विद्वान् ने भी तैयार किया।

अमेरिका में जिन प्राच्यविद्याप्रेमी विद्वानों ने सर्व प्रथम भारतीय साहित्य को अपनी साधना का विषय बनाया, उनमें विलियम ह्वाइट ह्विटनी (1827-1894 ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैदिक और लौकिक संस्कृत पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों में ह्विटनी का नाम अग्रणी है। उन्होंने अथर्ववेद के 'प्रातिशाख्य' का समीक्षात्मक अनुवाद तैयार करने के अतिरिक्त अथर्ववेद पर एक अनुक्रमणिका भी लिखी और सम्पूर्ण अथर्ववेद पर अंग्रेजी भाष्य भी। भाषा विज्ञान, व्याकरण और ज्योतिष आदि विषयों में भी उनका पर्याप्त ज्ञान था। 1875 ई० में प्रकाशित उनका 'संस्कृत ग्रामर' अपने विषय का सर्व प्रथम प्रौढ़ ग्रन्थ है। उसके बाद मेक्डोनेल ने इस विषय पर कार्य किया। 'सूर्यसिद्धान्त' का भी ह्विटनी ने अनुवाद किया। प्राच्यविद्या की विभिन्न शाखाओं पर लिखे गये उनके लेखों तथा ग्रन्थों की संख्या 360 के लगभग है।

ऐसे समय, जब कि विश्व के विभिन्न राष्ट्र, विशेषरूप से पश्चिमी जगत् भौतिक एवं वैज्ञानिक प्रगति की ओर अग्रसर था, और संस्कृत का अध्ययन-अनुशीलन लोकप्रियता एवं अर्थ की दृष्टि से नितान्त गौण समझा जाता था, ह्विटनी साहब ने विश्व को संस्कृत विद्या की ज्योति से आलोकित किया। उसकी इस साधना तथा निष्ठा की प्रो० लैनमैन ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

प्रोफेसर ओल्देनबर्ग ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के ग्रन्थों का अनुशीलन करके ऋग्वेद पर सोद्धरण टिप्पणियाँ लिखी। 'विनयपिटक' पर भी उन्होंने कार्य किया। सांखायन गृह्यसूत्रों का भी उन्होंने सम्पादन किया। इसी प्रकार प्रोफेसर ब्लूमफील्ड ने भी अथर्ववेद का अनुवाद किया। प्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् हिलेब्राण्ट ने 'शांखायन श्रौतसूत्र' के सम्पादन के अतिरिक्त तीन भागों में 'वैदिक मैथालॉजी' ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता एवं वैयाकरण

विद्वान् बोथलिंग ने 'बृहदारण्यक' तथा 'छान्दोग्य उपनिषद्' का पाठशोध और सम्पादनकर वैदिक ज्ञान की विरासत को प्रवर्तित किया। उन्होंने पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' और हेमचन्द्र की 'अभिधान चिन्तामणि' का भी सम्पादन किया।

चीन मे भारतीय प्रभावों की खोज का कार्य पहले सिल्विन लेवी ने और तदनन्तर सर ग्रेल स्टाइन ने किया। वे 1903 ई० में उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त और बलूचीस्तान में पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होंने चीन के सम्राटो और मध्य एशिया के विभिन्न महान् व्यक्तियों के बीच व्यवहृत चर्मपत्रों पर संस्कृत लेखो का और वाकू के निकट एक हिन्दू मन्दिर का पता लगाकर उसके द्वार पर देवनागरी मे उत्कीर्णित शिलालेख की जानकारी की। उन्होने बामियान तथा फोदुरिस्तान (मध्य एशिया) के बौद्धमठों से प्राप्त सचित्र भित्तियों को उतारकर उन्हें दिल्ली के सेंट्रल एशियाटिक एन्टीक्विटीज म्युजियम में व्यवस्थित किया।

भारतीय तत्त्वज्ञान, भाषा विज्ञान और साहित्य की विभिन्न विधाओ पर अन्य भी अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने कार्य किया। इस प्रकार के विद्वानों में राइस डेविड्स, मारिस हार्डी और प्रो० जीन फिलियोजेट प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। भारतविद्यानुरागी आधुनिक संस्कृत-ग्रन्थो के अध्ययन, अनुशीलन तथा अनुवाद के अतिरिक्त फ्रांसीसी विद्वानों मे अशोक के अभिलेखों के अध्येता एमिले सेनाई, बौद्धधर्म-दर्शन तथा कला के अन्वेषी पी० पौलेयन तथा कोडेस फउचर और चीनी यात्रियो के भ्रमण-वृतान्तों के अनुवादक चावन्नेस तथा एस० जूलियन का नाम उल्लेखनीय है। स्वामी रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जीवनी लेखक रेने, गैगान तथा रोमाँ रोलाँ का नाम अविस्मरणीय है। रोमाँ रोलाँ ने गाँधी दर्शन को आधुनिक विश्व के नव-निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी बताया है और परम्परागत भारतीय सम्यता तथा ज्ञान की विरासत की भूरि-भूरि प्रशसा की है।

19वी शती तथा उसके बाद भारत के विभिन्न अंचलों में बिखरे हुए और सुरक्षा-व्यवस्था के अभाव में नष्टोन्मुख संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का कार्य भी बड़ी तन्मयता से सम्पन्न हुआ। इस प्रकार के विद्वानों में कीलहार्न, पीटर्सन, आफेक्ट और स्टीन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ० बूलर के निरीक्षण में मध्य भारत में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों को व्यवस्थित करके

कीलहार्न ने 1874 ई० में नागपुर से उनकी एक सूची प्रकाशित की। इसी प्रकार बर्नेल ने 'ए क्लासीफाइड इण्डैक्स टु दि संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि पैलेस एट दि तञ्जोर' नाम से तञ्जोर पुस्तकालय के संग्रह का सूचीपत्र तैयार करके उसे 1880 ई० में लन्दन से मुद्रित कराया। 1880-81 ई० में बम्बई प्रदेश के हस्तलेखों की एक रिपोर्ट कीलहार्न ने 1881 ई० में बम्बई से ही मुद्रित करायी।

बूलर और कीलहार्न के अनन्तर बम्बई प्रदेश के संस्कृत-ग्रन्थों की खोज का कार्य पीटर्सन ने किया। उन्होंने 1881 ई० के बाद प्राप्त ग्रन्थों की सूची छह जिल्दों में प्रकाशित की। उन्होंने 1892 ई० में अलवर महाराज के संग्रह की सूची भी तैयार की। पीटर्सन की ही भाँति महाराज जम्मू-काश्मीर के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय के ग्रन्थों की सूची डॉ० स्टीन ने तैयार की, जिसका प्रकाशन 1894 ई० को बम्बई से हुआ। डॉ० स्टीन ने कल्हण की 'राजतरंगिणी' की प्राचीनतम प्रतियों की खोज करते समय काश्मीर से कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संग्रह किया था, जो कि इस समय इण्डियन इन्स्टिट्यूट, ऑक्सफोर्ड में है।

19वीं शती के उत्तरार्द्ध तक संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की जितनी भी सूचियाँ तैयार हो गयी थीं उन सबको क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित करके डॉ० ऑफ्रेक्ट ने तीन जिल्दों में एक बृहत् सूची तैयार की, जिसका नाम है 'कैटेलोगस कैटलोगरम'। इन तीनों जिल्दों का प्रकाशन लिपजिग से क्रमशः 1891, 1896 और 1903 ई० में हुआ। यह सन्दर्भ-सूची अत्यन्त ही उपादेय है।

इस प्रकार आंग्लयुगीन भारत में वेदों, वैदिक साहित्य और संस्कृत-साहित्य की विभिन्न शाखाओं पर पाश्चात्य विद्वानों ने कार्य किया और इस रूप में भारत का गौरव एवं महत्त्व विश्व-विश्रुत हुआ। भारत में जो बृहद् ग्रन्थ-निधि हस्तलेखों के रूप में बिखरी हुई थी और नष्ट होती जा रही थी, विद्यानुरागी आंग्ल तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों के अनवरत परिश्रम से उसका उद्धार हुआ और उसके विवरणात्मक बृहत् सूची-ग्रन्थों का निर्माण होकर भावी शोधार्थियों के लिए कार्य सुलभ एवं सुगम हुआ। इसी अवधि में मूल वेदों से लेकर परवर्ती काव्य-नाटक-कथाओं तक की अनेक कृतियाँ विशुद्धता से सम्पादित होकर सर्व प्रथम अध्येताओं को प्राप्त हुईं।

आंग्ल भारत के इन प्रेरणाप्रद बौद्धिक कार्यों से भारतीय विद्वान् भी प्रभावित हुए और उन्होंने भी भारत के आदिम जीवन, उसकी भाषा, लिपि और उसके धर्म, दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व और भूगोल आदि विभिन्न विषयों पर बृहत् कृतियों का निर्माण किया। अंग्रेजों ने भारतीयों को उनकी महान् विरासत से परिचित कराया और विश्व में उनके ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशलों की वरिष्ठता को स्थापित किया।

अंग्रेजों द्वारा स्थापित दासता के चरण-चिह्न भारत से कभी के मिट चुके हैं; अब वे इतिहास में ही शेष रह गये हैं। किन्तु उन्होंने भारत का जो नैतिक तथा बौद्धिक उत्कर्ष किया उसका महत्त्व चिरन्तन है। आंग्लयुगीन भारतीय संस्कृति के इतिहास के पुनर्मूल्यांकन के लिए इस महान् उपलब्धि का विशेष एवं स्थायी महत्त्व है।

• • •

खण्ड : 3

चौबीस/द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति

बृहत्तर भारत

द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार की वस्तुस्थिति का भी एक अनूठा इतिहास है। संस्कृत-साहित्य की विभिन्न कृतियों, इतिहास-पुरातत्त्व विषयक सामग्री और कला-वस्तुओं के आधार पर ज्ञात होता है कि भारत की वर्तमान भौगोलिक सीमाएँ प्राचीन काल में इससे कहीं अधिक विस्तृत थीं। अनेक इतिहासकारों एवं पुरातत्त्ववेत्ताओं ने प्राचीन भारत के इस 'बृहत्तर' रूप पर प्रकाश डाला है। भारत का यह बृहत्तर रूप सुमात्रा (सुवर्ण द्वीप या सुवर्ण भूमि), मलय, जावा, बर्मा, श्रीलंका, मलाया, बोर्नियो, बालि तथा अनाम (चम्पा), कम्बोडिया (कम्बुज) और हिन्द-चीन, नेपाल, तिब्बत, ईरान, ईराक, मिश्र, चीन, जापान आदि देशों तथा द्वीपान्तरों तक फैला हुआ था। साहित्य, धर्म, व्यापार, शासन, भाषा, लिपि और आचार-विचार आदि विभिन्न उद्देश्यों एवं प्रयोजनों से प्राचीन भारत के उक्त देशों से घनिष्ठ एवं स्थायी सम्बन्ध थे। इन सम्बन्धों की व्याख्या से द्वीपान्तर में व्याप्त बृहत्तर भारत की संस्कृति पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

द्वीपान्तर उन देशों का समूह है, जहाँ भारतीय उपनिवेश स्थापित थे। वे उपनिवेश भारतीय सम्राटों के अन्तर्गत रहते हुए भी स्वतन्त्र शासकों द्वारा शासित एवं संचालित होते थे। किन्तु भारतीय साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के लिए उन्हें कर या भेंट स्वरूप कुछ निश्चित धनराशि निर्धारित समय के अन्तर्गत भारत को भेंट करनी होती थी। इस प्रकार वे भारत के प्रति अपनी निष्ठा तथा अपने सम्बन्ध प्रगट करते थे।

दोनों ओर पानी से घिरे हुए भू-भाग को 'द्वीप' कहा गया है। पुराणों में नौ द्वीपों (नव द्वीप) का उल्लेख हुआ है, जिन्हें द्वीपान्तर भारत भी कहा गया है। ये नवद्वीप हैं—1. इन्द्रद्वीप (बर्मा), 2. कसेरुमत, 3. ताम्रपर्ण (ताम्रपर्णी), 4. गभस्तिमत, 5. नागद्वीप (नीकोबार), 6. कटाह (केडह),

7. सिंहल (श्रीलंका), 8. वरुणा या वहिण (बोर्नियो) और 9. कुमार। इन पुराण-प्रोक्त द्वीपों में अधिकतर का कोई पता ही नहीं है। इसी प्रकार 'ब्रह्माण्ड पुराण' में 'जम्बूद्वीप' के अन्तर्गत अंगदद्वीप (सम्भवतः कम्बुज तथा चम्पा), यवद्वीप (जावा), मलयद्वीप, कुशद्वीप, शंखद्वीप और वराहद्वीप आदि का उल्लेख हुआ है, जो कि बृहत्तर भारत के ही अंग थे।

एशिया के विभिन्न छोरों में संस्कृत के हस्तलेखों, संस्कृत, ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि के अभिलेखों की प्राप्ति से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ईसा पूर्व से ही एशिया के अनेक देशों में कुछ भारतीय जा पहुँचे थे। यात्रा जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों से सम्पन्न होती थी। द्वीपान्तरों से भारत आनेवाले मार्गों का चीनी यात्रियों ने भी उल्लेख किया है। 7वीं शती में चीनी यात्री ई-त्सिंग भारत आते हुए लगभग छह माह तक सुमात्रा में रुका था। वहाँ उसने संस्कृत-व्याकरण का अध्ययन किया। अपने यात्रा-वृत्तान्त में उसने लिखा है कि जावा, बोर्नियो, कुनलुन और बाली आदि देशों में भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। वहाँ सस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त भारतीय आचार-विचार और धार्मिक परम्पराएँ प्रचलित थीं। इन कारणों से मलय, कम्बोडिया और इण्डोनेशिया आदि देश बृहत्तर भारत के अन्तर्गत परिगणित होने लगे थे।

प्राचीन काल से ही भारतीयों में बाहरी देशों में जाने मे उत्सुकता जाग चुकी थी। धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रयोजनों से जलमार्गीय तथा स्थलमार्गीय साहसिक यात्राएँ करके वे बाहरी द्वीपान्तरों मे प्रविष्ट होकर वहीं बस गये। उनमें क्षत्रिय, सामन्त, ब्राह्मण-पुजारी, बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी और वैश्य व्यापारी प्रमुख थे।

पुराण, जातक, 'बृहत्कथा' और 'मिलिन्द पञ्ह' में विदेशों में स्थापित भारतीय उपनिवेशों के विषय मे बड़ा सुन्दर वर्णन है। कालिदास ने भी 'रघुवंश' में पूर्वी द्वीपान्तरों का उल्लेख किया है। चीनी और जावाई परम्पराओं तथा इतिहासों में भी द्वीपान्तरों मे ऐसे भारतीय उपनिवेशों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

भारतीय इतिहास में ऋषि परशुराम अपने ओजस्वी व्यक्तित्व एवं दृढ़ सकल्प के लिए प्रसिद्ध हैं। भारत से बाहर आर्य संस्कृति के प्रसार में ऋषि अगस्त्य के बाद उन्हीं का दूसरा उल्लेखनीय नाम है। उन्होंने नर्मदा घाटी और

सुदूर अरब सागर के तट पर आर्य बस्तियों को बसाया और वहीं से भारतीय संस्कृति को द्वीपान्तरों में प्रसारित करने का अभियान चलाया।

ऋषि परशुराम की परम्परा को सातवाहन शासकों ने उजागर किया। इन पूर्वी द्वीपान्तरों के लिए बंगाल की खाड़ी के धनकटक, मसुलिपत्तन तथा कोनारक बन्दरगाहों से अरब सागर पार के वैजयन्ती (गोवा) और कल्याणी के बन्दरगाहों तक जलमार्ग द्वारा गमनागमन की सुव्यवस्था का आरम्भ दक्षिण के आन्ध्र सातवाहनों के शासनकाल (लगभग दूसरी शती ई० पूर्व) में हुआ। 'बृहत्कथा' के विभिन्न सन्दर्भों में सातवाहन राजा हाल (प्रथम शती ई० पूर्व) की साहसिक समुद्री यात्राओं का उल्लेख हुआ है। इन सन्दर्भों में सुवर्ण, सिंहल तथा कर्पूर आदि द्वीपान्तरों के नाम इस धारणा की पुष्टि के सुदृढ़ प्रमाण हैं कि सातवाहनो के शासनकाल में भारत के दक्षिण-पूर्वी द्वीपान्तरो के साथ समुद्री मार्गों द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे।

भारत में सातवाहन साम्राज्य के अन्तिम समय, अर्थात् ईसा की लगभग दूसरी शती के आरम्भ मे शक, पह्लव, चोल और पाण्ड्य आदि के आक्रमणों तथा उनके पारस्परिक संघर्षों के फलस्वरूप भारत में राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इस कारण भी कई भारतीय बाहरी देशो के फैल गये। मलय, कम्बोडिया, सुमात्रा, जावा और बाली आदि द्वीपान्तरो मे ईसा की दूसरी या तीसरी शती में इस वर्ग के लोगों ने उपनिवेशों की स्थापना की। यद्यपि शासन में उनका प्रमुख स्थान नहीं था; किन्तु वे भारतीय संस्कृति की स्थापना तथा उत्तरोत्तर उन्नति में बड़े सक्रिय रहे।

द्वीपान्तरों मे भारतीय संस्कृति, कला और धर्म की महान् एवं विशाल थाती को प्रचारित-प्रसारित करने में भारतीय ज्ञान-ग्रन्थो एवं ज्ञानप्रवण सन्तो, महात्माओं का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। जिन भारतीय ग्रन्थो के उच्चादर्श विभिन्न कलाओं में रूपायित होकर एशिया के विशाल भू-खण्ड में भारतीय संस्कृति के वाहक बने, उनमे 'रामायण' तथा 'महाभारत', महाकाव्य, जातक, पुराण, आगम, तन्त्र, 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'प्रज्ञापारमिता', 'ललितविस्तर', 'श्रद्धोत्पाद', 'दिव्यावदान', 'अभिधर्मकोश', 'सूत्रालंकार' और 'बुद्धचरित' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुषाण साम्राज्य (प्रथम शती ई०) में 'सद्धर्मपुण्डरीक' की रचना हुई और तीसरी शती ई० के अन्त में उसका चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। धर्म तथा दर्शन का अद्भुत समन्वय के लिए इस ग्रन्थ

पर 'भगवद्‌गीता' का व्यापक प्रभाव है। उसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि 'आधे एशिया में उसने बौद्ध 'बाइबिल' का जैसा दर्जा प्राप्त कर लिया' (भारत की संस्कृति और कला, पृ० 21)। भारतीय उच्चादर्शों, शान्ति, सद्‌भाव और एकता की सार्वभौम स्थापना करके जिन बौद्ध-ग्रन्थों ने कला-माध्यम में परिमण्डित होकर विस्तृत भू-खण्ड पर अपना एकाधिकार स्थापित किया, उनमें अश्वघोष का 'बुद्धचरित' और आर्यशूर की 'जातकमाला' का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके उच्चादर्श एवं महान् सन्देश पहले तो अजन्ता में उभरे और फिर एशिया के भू-भाग की कला पर छा गये।

इन बौद्ध-ग्रन्थों के अतिरिक्त 'रामायण' तथा 'महाभारत' और अनेक पुराणों द्वारा भी भारतीय संस्कृति तथा कला का एशिया में प्रचार-प्रसार हुआ। इसका मुख्य श्रेय गुप्त सम्राटों को है। शक्ति-सम्पन्न एवं सहिष्णु गुप्त शासकों ने एक ओर तो भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अपने प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील शकों, यवनों, कुषाणों, हूणों और पल्लवों के अस्तित्व को आहत करके वृहद् भारत में एकाधिकार-सम्पन्न साम्राज्य की स्थापना की तथा राष्ट्र-रक्षा के कार्यों को सुदृढ़ करते हुए परम्पराओं को पुनर्जीवित किया, और दूसरी ओर साहित्य, संस्कृति तथा कला के प्रचार-प्रसार के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया। उनके समय भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का सन्देश विद्वानों तथा भिक्षुओं के द्वारा सुवर्णद्वीप, चम्पा, ताम्रलिप्ति द्वारावती और पनपन आदि प्रायद्वीपों में पहुँचा तथा वहाँ हिन्दू उपनिवेशों की स्थापना हुई। इन देशों के अतिरिक्त इण्डोनेशिया, तिब्बत, नेपाल, मंगोलिया और चीन आदि देशों में भी गुप्तों के सांस्कृतिक तथा कलात्मक उच्चादर्श प्रसारित हुए।

गुप्तों ने जिस भूमिका का निर्माण किया उसको गुणवर्मन् (423 ई०), शान्तरक्षित (7वीं शती), वज्रबोधि (711 ई०), कुमारघोष (782 ई०) और दीपंकर श्रीज्ञान (1011 ई०) जैसे विद्वान् भिक्षुओं के द्वारा जावा से कम्बोडिया और वर्मा से बाली तक समस्त दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में ब्राह्मण, बौद्ध तथा शैव धर्मों का प्रवेश हुआ। उनके प्रवेश एवं प्रभाव के स्थायी स्मारक अनेक मठ, मन्दिर तथा उनमें रूपायित कला की भव्यता आज भी उनकी गौरवगाथा को सुरक्षित बनाये हुए हैं।

एशिया माइनर

एशिया के विभिन्न देशों के साथ भारत के सम्बन्धों की स्थापना ईसा के कई सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। उसके प्रमाण एशिया माइनर के बोगाजकुई

नामक स्थान में प्राप्त अभिलेख हैं, जिनका समय विद्वानों ने 1400 ई० पूर्व के लगभग निर्धारित किया है। इन अभिलेखों में खत्ती (Hittites) और मितानी (Mitani) जातियों में हुई पारस्परिक सन्धि का उल्लेख हुआ है। इस सन्धिपत्र में साक्षी-स्वरूप जिन देवताओं का उल्लेख किया गया है, उनके नाम हैं—मि-इत्-र (मित्र), उ-रु-व-न (वरुण), इन्-दार (इन्द्र) और न-स-अ (त-ति-इअ-अ) न्-न (नासत्य)। दोनों नासत्य देवताओं सहित इन्द्र, मित्र और वरुण ऋग्वेद के मुख्य अधिष्ठाता एवं बहुचर्चित देवता हैं। ईरानियों के धर्म ग्रन्थ 'अवेस्ता' में भी इन देवताओं को इसी रूप में मान्यता दी गयी है।

उक्त अभिलेखो के समय (1400 ई० पूर्व) के कुछ पत्र तल्ल-अल्ल-अमरना नामक गाँव से प्राप्त हुए हैं। उसमें कुछ मितानी राजाओं के नाम संस्कृत भाषा में उल्लिखित हैं। उदाहरण के लिए आर्ततम, तुषरत और सुतर्तन (सुत्राण) हैं। इसी प्रकार बेबीलोनिया के कस्सी (Kassites) शासको 1746-1180 ई० पूर्व) के नाम सुरिअस् (सूर्य) और मर्तयस् (मरुतम) भी संस्कृतनिष्ठ है। असीरिया के राजा असुर बनीपाल (700 ई० पूर्व के लगभग) के पुस्तकालय से एक सूची प्राप्त हुई है, जिसमे अस्सर-मजस् आदि देवताओ के नाम उल्लिखित हैं। इन नामों की एकता एक ओर तो ईरानियों के धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' मे उल्लिखित अहुर-मज्द नामो से और दूसरी ओर संस्कृत के 'असुर' शब्द से बैठती है।

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि एशिया माइनर के विस्तृत भू-भाग में अति प्राचीनकाल मे ही ऋग्वैदिक संस्कृति का प्रभाव व्याप्त हो गया था और वहाँ के साहित्य तथा जन-जीवन के साथ भारत के सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे।

मलय देश (मलेशिया)

वर्तमान मलेशिया प्राचीन काल मे मलय देश के नाम से प्रचलित था, यद्यपि इस मलय देश के अन्तर्गत वर्तमान मलेशिया की अपेक्षा, बृहत् भू-भाग सम्मिलित था। दक्षिण भारत से लगभग दो हजार मील की दूरी पर अवस्थित प्राचीन मलय देश के अनेक अंचलो पर भारतीयों का शासन था। उसके 'मलय' नामकरण से ही भारतीयता का आभास होता है। उसका यह नामकरण, सम्भवतः इस देश में अधिकता से उगने वाले चन्दन के वृक्षों के ही कारण हुआ।

एशिया महाद्वीप के विभिन्न स्थानों से प्राप्त अभिलेखों तथा संस्कृत-पालि ग्रन्थों और चीनी-मलियाई परम्पराओं में मलय को सुवर्ण भूमि के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। वहाँ से उपलब्ध प्राचीन अभिलेखों तथा प्रशस्तियों की भाषा संस्कृत है और उनमें प्रयुक्त लिपि की समानता पाँचवी शती ई० की उत्तर भारतीय गुप्तलिपि से मिलती-जुलती है। ये अभिलेख स्तम्भों तथा शिलाओं पर उत्कीर्णित हुए मिले हैं और उनका लेखन-प्रकार तथा दान किये जाने आदि का वर्ण्य विषय सर्वथा भारतीय है।

बौद्ध-ग्रन्थ 'महावंश' में सोम तथा उत्तर द्वारा उपनिवेश स्थापित करने का उल्लेख हुआ है। एक लेख में कहा गया है कि बुधगुप्त नामक एक नाविक कर्ण सुवर्ण (उत्तरी बंगाल) से मलय प्रायद्वीप गया था (महानाविक-बुधगुप्तस्य रक्तमृत्तिका-वास्तव्यस्य—ज०ए० सो० बंगाल, भाग 94, पृ० 75)। उपलब्ध अभिलेख-सामग्री में मलय के प्राचीन हिन्दू शासकों में लंककेसु (200 ई०) और उसका पुत्र भगदत्तो या भागवत तथा श्रीपाल वर्मा (500 ई०) का नाम प्राप्त होता है।

विभिन्न रूपों में अभी तक जो पुरातात्त्विक तथा ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री प्राप्त हुई है, उससे विदित होता है कि भारत की ही भाँति मलय प्रायद्वीप में भी छोटे-छोटे राज्य स्थापित थे, जिनमें कतिपय राज्यों में हिन्दू शासक थे। मध्य युग में इन पर अरबों ने आक्रमण किया और भारत की ही भाँति वहाँ भी धर्म तथा कला-संस्कृति के संस्थानों को क्षत-विक्षत किया। अरबों ने अनेक हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य किया। अनेक हिन्दू देव मन्दिर मस्जिदों में परिवर्तित कर दिये गये। किन्तु वहाँ पर व्याप्त हिन्दू संस्कृति की विरासत सर्वथा समाप्त नहीं हुई। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के समय तक वर्तमान मलेशिया के कुछ भागों पर अंग्रेजों का शासन था। भारत को स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद वे भाग भी दासता से मुक्त हो गये।

मलय से जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि लम्बे समय तक वहाँ संस्कृत का व्यापक प्रचार-प्रसार रहा। संस्कृत-ग्रन्थों में पूर्वी मलय को 'ताम्र लिंग' नाम से कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मलय प्रायद्वीप में ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म और साहित्य का सुदीर्घ काल तक प्रचलन रहा। वर्तमान मलेशिया के अनेक स्थानों के संस्कृत नामों से वहाँ संस्कृत के व्यापक प्रभाव का पता लगता है। मलेशिया की वर्तमान राजधानी कुआलालम्पुर का 'पुर' शब्द निश्चित ही नगर का बोधक है। इसी प्रकार सरेमबन

(श्रीरामवन) सुंगी पट्टनी (श्रृंग पट्टन), जेतालिंग जप (स्फटिकलिंग जप) आदि शब्द संस्कृतमूलक हैं। सिंहापुर (सिंहपुर) नितान्त संस्कृतज शब्द है, जिसका अर्थ है सिंहों का नगर (सिंह+पुर)। मलय के एक स्थान की खुदाई में 'परमेश्वर' नामक किसी हिन्दू द्वारा बनाये गये एक गढ़ के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह गढ़ सिंहपुर के दक्षिण में था, जो कि बाहरी देशों का समुद्रपथ था। इस स्थान पर प्राप्त शिलापट्टों पर भारतीय निर्माता एवं शासकों का नाम लिखा है। प्रमुख और सुरक्षा दोनों दृष्टियों से इस दुर्ग का बड़ा महत्त्व था। सुंगी पट्टनी में भी एक शिव मन्दिर प्राप्त हुआ है।

मलय द्वीप के प्राचीन और आधुनिक नामों में 'लिंग' शब्द के अधिकाधिक प्रयोग का आशय सम्भवतः यह हो सकता है कि वहाँ शैव धर्म की प्रधानता थी।

मलय प्रायद्वीप में भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत भाषा के प्रभुत्व एवं प्रचार-प्रसार के अनेक प्रमाण आज भी वहाँ जीवित हैं। भारत की भाँति आज भी वहाँ अस्थान (स्थान), पुत्र, पुत्री, महादेवी (महारानी), सेंजाकाल (सन्ध्याकाल), सेक्सा (शिक्षा), सम्रोदर (सहोदर), रोम (रोम), रथ (रथ), ऋषि (ऋषि), सुआमी (स्वामी), सुअर्ग, शर्ग या सोर्ग (स्वर्ग), सिंग (सिंह), सेरु (सर्व), सेरी (श्री) और रंजुन (अर्जुन) आदि शब्दों का व्यापक प्रचलन है।

जावा

दक्षिण-पूर्वी द्वीपान्तरों मे जावा मे विविध प्रकार की सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत तथा जावा के प्राचीन काल मे घनिष्ठ सम्बन्ध थे। सुमात्रा और मलय की भाँति जावा में भी हिन्दू तथा महायान बौद्धधर्म और भारतीय साहित्य का प्रभाव रहा है। वहाँ ब्राह्मण, शैव और बौद्ध, तीनों धर्मों का प्रचार था। सम्पूर्ण दक्षिणावर्त जिसमें श्रीलंका, जावा तथा सुमात्रा आदि द्वीप भी सम्मिलित थे, ऋषि अगस्त्य ने आर्य-संस्कृति का प्रसार किया। उनका यह सांस्कृतिक अभियान धर्म के माध्यम से हुआ। दक्षिण भारत और सुदूर द्वीपो में अगस्त्य 'शिव गुरु' के रूप में पूजे जाते थे। जावा मे उनके नाम पर एक मन्दिर की भी स्थापना की गयी। दक्षिण के अगस्त्य पर्वत पर उनका साधना-स्थल स्थित था। यहीं बैठकर उन्होंने 'अगस्तायम्' व्याकरण और प्रतिमा विज्ञान पर 'सकलाधिकार' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनका व्याकरण आज भी तमिल साहित्य का मूल बताया जाता है।

जावा में उपलब्ध संस्कृत अभिलेखों से ज्ञात होता है कि लगभग दूसरी शती ई० से ही वहाँ भारतीयों का गमनागमन आरम्भ हो गया था। इन अभिलेखों की लिपि तथा उत्तर भारतीय गुप्तलिपि के बीच समानता है। वहाँ की कवि भाषा पर संस्कृत तथा अन्य साहित्य पर 'रामायण', 'महाभारत' तथा कालिदास का प्रभाव है।

जावा से प्राप्त बहुसंख्यक संस्कृत अभिलेखों से विदित होता है कि पूर्वी जावा (कलिंग) में देववर्मन् नामक एक राजकुमार द्वारा 200 ई० से शासन स्थापित हो चुका था। उसके वंशज पूर्णवर्मन् के समय के एक अभिलेख द्वारा जावा मे भारतीय संस्कृति का प्रभाव सिद्ध होता है। जावा के इतिहास में गुजरात के एक राजकुमार द्वारा 750 ई० में एक उपनिवेश स्थापित करने का उल्लेख भी मिलता है, इसकी पुष्टि कम्बोडियाई तथा चीनी इतिहासकारो ने भी की है।

जावा का प्रसिद्ध शैलेन्द्र राजवंश बौद्धधर्म का अनुयायी था। इस वंश के राजाओं ने अनेक बौद्ध मन्दिरो का निर्माण कराया तथा उनमे भव्य मूर्तियों को स्थापित किया। इस वंश के राजा बालपुत्रदेव ने नालन्दा में दो विहार बनवाये। उनकी देख-रेख के लिए पालवंशीय राजा देवपाल ने पाँच ग्रामो का दान किया। (ए० इं०, भाग 17, पृ० 310)। इस वंश के दूसरे राजा मार विजयी तुंगवर्मन् ने नागपट्टन (आन्ध्र प्रदेश) में एक बौद्ध विहार बनवाया था। चोल राजा राजेन्द्र से कुछ दिनों तक उसके अच्छे सम्बन्ध रहे। किन्तु बाद में सम्बन्ध बिगड़ गये। चोल राजा ने जावा सहित सुमात्रा तथा मलय पर अधिकार कर लिया। मेलूर के तथा तजोर के लेखों और शैलेन्द्रवंश के इतिहास में इस विजय का उल्लेख हुआ है।

जावा मे आज भी संस्कृत भाषा तथा साहित्य और भारतीय संस्कृति का प्रभाव है। वेदो से लेकर 'गीता', 'रामायण', 'महाभारत', पुराण और परवत काव्य, नाटक, कोश और कथाम्कृतियो की लोकप्रियता आज भी वहाँ पूर्ववत् है। सम्राट् सिंडोक के शासन काल (929-947 ई०) मे 'रामायण' का जावाई रूपान्तर किया गया था। इस ग्रन्थ का कथानक बाल्मीकि 'रामायण' तथा कुमारदास के 'जानकीहरण' पर आधारित है। इसी प्रकार सम्राट् एयरलंग के शासनकाल (1037-1049 ई०) में 'महाभारत' के जिन तीन पर्वों—(आदि, विराट्, भीष्म) का जावाई अनुवाद हुआ था, उनके अध्ययन तथा पारायण का आज भी वहाँ पूर्ववत् प्रचलन है। जावाई भाषा के नाटक अधिकतर 'रामायण'

तथा 'महाभारत' की कथाओं पर आधारित हैं। उनमें राम, रावण, हनुमान, सुग्रीव, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण और भीम आदि चरित्रों का मर्यादित एवं ओजस्वी वर्णन हुआ है। 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' जैसी लोकप्रिय कथा-कृतियों का भी वहाँ पर्याप्त प्रचलन है। इन कथाओं को वहाँ के चित्रकारों ने चित्रों में भी रूपायित किया है।

जावा की लिपि और कला पर गुप्त युग का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। राजा रजसंगर (1350-1389 ई०) ने जावा की प्राचीन राजधानी मजपहित में स्थित पनतरन नामक मन्दिर की भित्तियों पर 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'कृष्णायन' के दृश्यों को अंकित कराया था। लीडेन के संग्रहालय में सुरक्षित जावा की 'चण्डी मेण्टोन की बुद्ध प्रतिमा' और 'प्रज्ञापारमिता की मूर्ति' पर गुप्तकला का यथेष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार बैंकाक संग्रहालय में सुरक्षित विभिन्न कांस्य मूर्तियों के शिल्प में भी भारतीय प्रभाव है (चक्रवर्ती—इण्डिया ऐण्ड जावा; ब्रोजेल—दि अर्लीयस्ट इन्सक्रिप्शन्स ऑफ जावा)।

सुमात्रा

सुमात्रा (सुवर्ण द्वीप) से भारत के प्राचीन एवं दीर्घकालीन सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। संस्कृत-साहित्य, विशेष रूप से बौद्ध-ग्रन्थों मे दोनो देशो के पारस्परिक सम्बन्धों का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। इन साहित्यिक सन्दर्भों से विदित होता है कि सुवर्ण द्वीप पर ईश्वरवर्मा ने विजय करके वहाँ अपना राज्य स्थापित किया था। वह इस द्वीप का प्रथम भारतीय शासक था। सुमात्रा से उपलब्ध अभिलेखों मे भी ईश्वरवर्मा के विजय की चर्चा हुई है। उपलब्ध अभिलेखों से यह भी विदित होता है कि सुमात्रा का श्रीविजय नगर संस्कृत-अध्ययन का प्रमुख केन्द्र था। अभिलेखों में जिस लिपि का प्रयोग किया गया है, विद्वानो ने उसे पाँचवी शती ई० की उत्तर भारतीय गुप्तलिपि के समान बताया है। इन अभिलेखों मे दो अभिलेख संस्कृत के प्राप्त हुए हैं, जिनमे बौद्धधर्म के प्रचार पर बल दिया गया है।

सुमात्रा या सुवर्ण द्वीप में भारतीय सांस्कृतिक थाती को प्रसारित करने का श्रेय दक्षिण के चोल और शैलेन्द्र शासकों को है। इन द्वीपान्तरो में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना करने में इन शासकों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। उन्होंने लगभग 13वी शती ई० तक निकोबार, वर्मा, मलय, स्याम, सुमात्रा और श्रीविजय को स्वायत्त करके वहाँ भारतीय धर्म, साहित्य, संस्कृति तथा कला

का सन्देश पहुँचाया और उसको स्थिरता प्रदान की। 8वीं शती में जब दक्षिण के शैलेन्द्र साम्राज्य का उदय तथा विस्तार हुआ तो उसने चोलों द्वारा विजित अधिकाधिक उपनिवेशों पर अपना अधिकार कर लिया। भारतीय चोल राजाओं को मलय तथा नीकोबार द्वीप-समूहों के उपनिवेशों के लिए शैलेन्द्रों से लगभग सौ वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा। अन्त मे चोलों की पराजय हुई। किन्तु इन संघर्षों के बावजूद द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में कोई व्यवधान उत्पन्न नही हुआ। यद्यपि भारत में चोलों के अस्तित्व को शैलेन्द्र बार-बार चुनौती देते रहे; किन्तु उसमे वे असफल रहे। द्वीपान्तरों में शैलेन्द्रों ने लगभग सात सौ वर्षों तक निरकुंश शासन किया।

द्वीपान्तरों मे शैलेन्द्रो के इन सात सौ वर्षों का इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। 8वी शती के लगभग शैलेन्द्रों ने सुमात्रा मे श्रीविजय साम्राज्य की स्थापना की और बाद मे उसका मलेशिया, जावा, कम्बुज तथा चम्पा तक विस्तार किया। शैलेन्द्र साम्राज्य की शक्ति की समस्त एशिया मे चर्चा थी। चीनी तथा अरबी व्यापारियो ने उसकी शक्ति और विशाल सम्पत्ति की प्रशंसा की है।

शैलेन्द्र साम्राज्य की स्थिरता, उत्तरोत्तर उन्नति और ख्याति का एकमात्र कारण उनकी समन्वयात्मक नीति रही है। उनकी इस नीति के आधार उनके वंशगुरु कुमारघोष थे। वह गौड़ देश का निवासी और ब्राह्मण तथा बौद्धधर्म के समन्वय का सजीव प्रतीक था। उसने 782 ई० को श्रीविजय में बोधिसत्त्व मजुश्री की एक मूर्ति की स्थापना की थी, जिसमें बौद्ध त्रिरत्न, ब्राह्मण त्रिदेव और अन्य अनेक धर्मों के देव-प्रतीकों का समन्वय था। उसी के फलस्वरूप सम्भवतः शैलेन्द्रो का बगाल के पाल राजवश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। शैलेन्द्रो के विशाल एवं सात सौ वर्षों के सुदीर्घ शासन में विभिन्न भारतीय उपनिवेशों की कला पर जो पाल शैली का प्रभाव पड़ा वह इसी वैवाहिक सम्बन्ध के कारण था।

श्रीलंका

दक्षिण-पूर्वी द्वीपान्तरों में जल-मार्गों के यातायात की सुविधाओं के कारण श्रीलंका में भारतीयो का गमनागमन और भारतीय संस्कृति का प्रवेश लगभग 500 ई० पूर्व से ही होने लग गया था। इस प्रकार के द्वीपान्तरों में श्रीलका

का नाम उल्लेखनीय है। लगभग 500 ई० पूर्व में दक्षिण भारतीय शासक विजयसिंह ने श्रीलंका में प्रवेश करके वहाँ अपना राज्य स्थापित किया।

सिंहल से भारतीय सम्बन्धों की स्थापना का एक पुष्ट आधार लंकापति रावण है। रावण को दस शिरो वाला कहा गया है। यह 'दस स्कन्ध' वस्तुत: दक्षिण के राजाओं की ख्यात थी और परम्परा से वहाँ लोकोत्सवों में कृत्रिम मुखौटों द्वारा प्राचीन लोकप्रिय शासकों का स्मरण किया जाता था, जैसा कि वहाँ आज भी प्रचलन है।

सम्राट् अशोक ने बुद्ध परिनिर्वाण के 236 वर्ष बाद (300 ई० पूर्व) पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध-संगीति का आयोजन किया था। इस संगीति में अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी निश्चय किया गया था कि भारत तथा द्वीपान्तरों में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ भिक्षुओ को भेजा जाय। वहाँ अनेक भिक्षु ही नहीं गये, उनके साथ अशोक के पुत्र तथा पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा भी श्रीलंका गये।

महेन्द्र और संघमित्रा अपने साथ बौद्धधर्म के प्रथम अनुश्रुति-ग्रन्थ 'त्रिपिटक' भी ले गये थे, जो कि अशोक की तीसरी बौद्ध-संगीति में अन्तिम रूप से संकलित हुए थे। श्रीलंका के महाविहार में त्रिपिटक का अनेक वर्षों तक मौखिक अध्ययन चलता रहा और बाद में वहाँ के राजा वट्टगामणि (89-77 ई० पूर्व) के शासन काल में उनको सिंहली भाषा में लिपिबद्ध किया गया और सिंहली भिक्षुओ की महापरिषद् ने उनको अन्तिम स्वीकृति दी। तदनन्तर वहाँ साहित्य-रचना के लिए पालि को स्वीकार किया गया।

सिंहली अनुपिटक-साहित्य के अध्ययन के लिए चौथी शती मे दक्षिण भारत के निवासी आचार्य बुद्धदत्त सिंहल गये थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा सिंहल में अनुराधापुर के महाविहार में हुई थी। उनके बाद आचार्य बुद्धघोष अट्ठ कथाओ के अध्ययनार्थ श्रीलंका गये। इन अट्ठ कथाओं का एक अनुवाद श्रीलंका में राजा पराक्रमबाहु के समय (12वी शती) में हुआ। आचार्य सारिपुत्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा के समय (13वीं शती) तक श्रीलका मे बौद्ध-साहित्य का निरन्तर निर्माण होता रहा और बौद्ध भिक्षुओं का भारत से अटूट सम्बन्ध बना रहा।

बर्मा

पालि भाषा के पिटक और अनुपिटक-साहित्य का बर्मा और श्रीलका में अधिक प्रचार है। इस कोटि का संपूर्ण साहित्य प्रायः इन्ही देशो में पाया जाता है।

वर्मा के भिक्षु संघ ने पालि-साहित्य के अर्जन-वर्द्धन की दिशा में जो कार्य किया उसकी तुलना नही है। इस प्रकार के स्थविरो में मेधंकर, शीलवंश, राजा बोदोपया (बुद्धप्रिय), कंटकखियनाजित, सद्धमविलास, राजा क्यच्चा महाविजितावी आदि का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होने अधिकतर पालि-ग्रन्थो की रचनाकर और अपने शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा इस परम्परा को आगे बढाकर ऐतिहासिक कार्य किया।

पालि व्याकरण की परम्परा मे 'सद्नीति' सम्प्रदाय वर्मा की देन है। वर्मा से पहले सिंहल मे व्याकरण की शिक्षा में अच्छा कार्य हो चुका था। किन्तु कुछ सिंहली भिक्षुओं ने वर्मा मे आकर जब 'सद्नीति' व्याकरण को देखा तो उन्हें यह बात स्वीकार करनी पडी कि सिंहली व्याकरण-परम्परा में अभी तक 'सद्नीति' जैसी उच्च कोटि की रचना की समानता मे कोई पुस्तक नहीं रची गयी।

वर्मी भिक्षु अग्गवश ने, जो कि अग्गपीडित तृतीय के नाम से प्रसिद्ध थे, 1154 ई० मे 'सद्नीति' व्याकरण की रचना की, जो कि 'कच्चायन' व्याकरण पर आधारित है। हिंगुलवल जिनरतन नामक वर्मी भिक्षु ने 'सद्नीति' पर 'धातुरूपावली' के ढंग की 'धात्वर्थदीपिनी' नामक पुस्तक लिखी। इनका समय निश्चित नही है।

पालि के विपुल व्याकरण-ग्रन्थो मे वर्मी भिक्षु रामणेर धम्मदस्सी (14वी श०) कृत 'बच्चवाचक' का नाम उल्लेखनीय है, जिस पर वर्मी भिक्षु सद्धम्मनन्दी ने 1768 ई० मे टीका लिखी। इनके अतिरिक्त मगल, अरियस, वर्मी राजा क्यच्चा की पुत्री, जम्बुध्वज, सद्धम्मगुरु, विचित्ताचार तथा सद्धम्मकित्ति का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य सद्धमकित्ति का कोश संस्कृत के एकाक्षरी का पालि रूपान्तर है, जिसका उल्लेख उन्होने पुष्पिका मे किया है। इस कोश की रचना 1465 ई० में हुई थी।

पालि-साहित्य मे वश-ग्रन्थो का वही स्थान है, जो सस्कृत-साहित्य मे पुराणो का है। ये वंश-ग्रन्थ अधिकतर सिंहली भिक्षुओं के द्वारा रचे गये और सिंहल तक ही सीमित हैं। वर्मा में भी इन वंश-ग्रन्थों का अच्छा प्रचार-प्रसार है। 'छकेसधातुवंश' के लेखक सम्भवत कोई वर्मी भिक्षु थे। इसी प्रकार बुद्ध परिनिर्वाण से लेकर उन्नीसवी श० ई० के सुदीर्घ समय तक बौद्धधर्म का जिस क्रम से एशिया के देशो में और विशेषतः वर्मा में, विकास हुआ, उसका पूरा इतिहास इस वंश-ग्रन्थ में मिलता है। तीसरी बौद्ध-संगीति के बाद विदेशों

में भेजे गये धर्मोपदेशक भिक्षुओं का वर्णन भी इस ग्रन्थ मे किया गया है। वर्मी भिक्षु पंचसामी (प्रज्ञास्वामी) ने 19वीं शती ई० में इस ग्रन्थ की रचना की थी।

ऐतिहासिक दृष्टि में 'गन्धवंश' या 'ग्रन्थवंश' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें पालि-ग्रन्थों, ग्रन्थकारो और उनके रचनाकाल तथा रचना-स्थान का क्रमबद्ध ब्योरा दिया हुआ है। भारतीय और लकावासी ग्रन्थकारो का इसमें अलग-अलग वर्णन किया गया है। साथ ही उसमें ऐसे भी ग्रन्थो की एक सूची है, जिनके रचयिता अज्ञात हैं। पालि-साहित्य का यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसकी रचना भी वर्मा मे 19वी शती में हुई थी।

इस प्रकार ईसा की आरम्भिक शतियो से लेकर आधुनिक काल तक वर्मा में बौद्धधर्म तथा उसके साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार रहा है। बुद्ध, बौद्धधर्म तथा बौद्ध भिक्षुओ के सम्बन्ध में सुरक्षित वर्मी अनुश्रुतियाँ विशेष रूप से सग्रहणीय हैं।

इण्डोनेशिया

इण्डोनेशिया से भारत के सुदीर्घ काल तक घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। पुराणो मे उसे 'नवभेद' कहा गया है। इण्डोनेशिया मे भारतीयों का प्रवेश श्रीलका के माध्यम से हुआ। इन पुरातन सम्बन्धो को पुनर्जीवित करने मे सम्राट् अशोक का नाम उल्लेखनीय है। पाटलिपुत्र की तृतीय बौद्ध-संगीति के निर्णयानुसार अशोक ने 300 ई० पूर्व मे द्वीपान्तरों मे अपने धर्मप्रचारक भिक्षुओ को भेजा। इण्डोनेशिया (सुवर्णभूमि) में स्थविर शोण और उत्तर दोनो सहादरो को भेजा गया था। तब से वहाँ भारतीयो का निरन्तर गमनागमन होता रहा।

इण्डोनेशिया के शासन-तन्त्र पर भारतीयो का व्यापक प्रभाव रहा है, जिसके प्रमाण वहाँ के उपलब्ध अभिलेख तथा सिक्के हैं। वहाँ मन्दिरो, मठों, विहारो तथा विद्यापीठो की अधिकता थी और विष्णु, महेश, इन्द्र, बुद्ध, दुर्गा, लक्ष्मी आदि देवी-देवताओ की पूजा-प्रतिष्ठा का प्रचलन भारत जैसा ही था। संस्कृत का वहाँ उतना ही प्रचार तथा सम्मान था, जितना भारत में। वहाँ के साहित्य में संस्कृत-ग्रन्थो के संक्षिप्त रूपान्तर हुए। इण्डोनेशिया के साहित्यिक, वैचारिक, धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओ को दृष्टि में रखकर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनको पल्लवित तथा उन्नत करने में भारत के लोगों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

बाली

बाली द्वीप से कई संस्कृत के अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वहाँ भी हिन्दू उपनिवेश स्थापित थे। वहाँ भी भारतीय धर्म, संस्कृति तथा साहित्य का प्रचार था। बाली में उपलब्ध अभिलेखों की लिपि गुप्तलिपि के ही समान है।

बाली द्वीप की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर भारत का गहन प्रभाव है। वहाँ की वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दू धर्म-ग्रन्थों पर आधारित है। भारत की ही भाँति वहाँ भी वेदों, वेदांगों 'गीता' पुराणों, 'महाभारत', 'रामायण', 'अमरकोश' और 'पंचतन्त्र' का प्रचार एवं सम्मान है। उनका पठन-पाठन होता है। वहाँ सांग वेद का अध्ययन-अध्यापन होता है और मन्दिरों में सस्वर वेदपाठ की परम्परा है। भारत की ही भाँति बाली द्वीप में भी शिव, सूर्य, विष्णु, लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती आदि हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा-प्रतिष्ठा प्रचलित है।

बाली में अतीत के कई सौ वर्षों तक भारतीय धर्म, आचार तथा संस्कृति का एकाधिपत्य होने के कारण आज भी वहाँ की भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। वहाँ की लोककथाएँ और परम्पराएँ विशुद्ध भारतीय हैं। वर्तमान बाली द्वीप यद्यपि अपनी स्वतन्त्र सांस्कृतिक तथा शासनिक दृष्टि से विकास की ओर अग्रसर है, फिर भी भारत के साथ उसकी अभिन्नता बराबर बनी चली आ रही है।

बोर्नियो

बोर्नियो में भारतीय संस्कृति का प्रवेश गुप्त युग से पहले ही हो चुका था। वहाँ राजा मूलवर्मन् ने यूपों की स्थापना करके भारतीयता का बीजारोपण किया। मूलवर्मन्, हिन्दू उपनिवेशों के संस्थापक महान् प्रतिभाशाली ब्राह्मण कौण्डिन्य का पौत्र था। मूलवर्मन् की संस्कृत-प्रशस्तियों में यज्ञ तथा दान आदि का वर्णन हिन्दू-परम्परा के अनुरूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि बोर्नियों में ब्राह्मण-धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार था।

चम्पा (हिन्द चीन)

विश्व के कई देशों में भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य का प्रसार बौद्धधर्म के माध्यम से ही हुआ; किन्तु कुछ देश ऐसे भी हैं, जहाँ बौद्धधर्म के

प्रवेश से पूर्व ही ब्राह्मणधर्म या हिन्दू संस्कृति का प्रसार हो चुका था। ऐसे देशों में हिन्द चीन और कम्बोडिया का नाम, जिन्हें भारतीय साहित्य में चम्पा और कम्बुज कहा गया है, उल्लेखनीय हैं।

चम्पा से प्राप्त प्राचीन अभिलेखों तथा प्रशस्तियों में वहाँ का नाम 'अत्तम' लिखा हुआ मिलता है। प्राचीन काल में वह वृहत्तर भारत का अंग रहा है। चीनी इतिहासकारों के अनुसार चम्पा में प्रथम शती ई० के लगभग हिन्दू विचारधारा तथा हिन्दूधर्म का प्रवेश हो चुका था। ऐसी जनश्रुति है कि दक्षिण भारत से कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मण ने चम्पा में अपना राज्य स्थापित किया था। वहाँ लगभग 200 ई० में श्रीमान् तथा दक्षिणवर्मन् आदि शासकों ने भारतीय उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। 380 ई० में वहाँ चन्द्रवर्मन् नामक राजा राज्य करता था, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि वह हिन्दूधर्म का परम अनुरागी और वेदों का प्रकाण्ड विद्वान् था। भारतीय शासकों की परम्परा किस रूप में आगे बढ़ी, इसका कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है। जिन परवर्ती भारतीय शासको के अभिलेख उपलब्ध हैं, उनमें चन्द्रवर्मन् के अतिरिक्त मदनवर्मन् प्रथम का नाम उल्लेखनीय है।

चम्पा मे प्राप्त अभिलेख ब्राह्मी तथा पल्लव लिपि मे हैं। उनकी भाषा सस्कृत है और वे लगभग तीसरी शती ई० के हैं। इन अभिलेखो से प्रतीत होता है कि चम्पा मे संस्कृत का पर्याप्त प्रचार-प्रसार था। वहाँ की राजभाषा किसी समय संस्कृत ही थी। चम्पा की वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक वस्तुस्थिति से ज्ञात होता है कि वहाँ भारतीयता का आज भी गहन प्रभाव है। भारत की ही भाँति वहाँ के साहित्य पर भी सस्कृत का प्रभाव है। वहाँ के साहित्य के लिए 'रामायण' तथा 'महाभारत' उपजीव्य ग्रन्थ रहे हैं और इन दोनों ग्रन्थों की कथाओं के आधार पर वहाँ के साहित्य मे कथा, काव्य तथा नाटक आदि अनेक विषयों की कृतियो का निर्माण हुआ है।

चम्पा की धार्मिक परम्पराओ पर भी भारत के पौराणिक भागवतधर्म का प्रभाव रहा है। वहाँ से प्राप्त अभिलेखों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इस त्रिदेव की विशेष चर्चा हुई है।

ब्राह्मणधर्म के बाद वहाँ बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ और उसके फलस्वरूप वहाँ के धर्म तथा दर्शन विषयक साहित्य पर पालि के बौद्ध-साहित्य का प्रभाव

पड़ा। इस प्रकार चम्पा में ब्राह्मण और बौद्ध-साहित्य तथा धर्म का अपूर्व संयोग देखने को मिलता है (मजुमदार—चम्पा)।

ख्मेर

मध्य एशिया के अनेक देशों पर ख्मेर जाति के लोगों का व्यापक प्रभाव रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मणधर्म तथा वैदिक संस्कृति के अनुयायी थे। ख्मेर देश के श्रीक्षेत्र और ईशानपुर के बीच भारतीय उपनिवेश के रूप में एक नगर का उल्लेख हुआ है। इस नगर में विभिन्न युगों से सम्बद्ध अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका समय विद्वानों ने 5वीं से 10वीं शती ई० के बीच निर्धारित किया है। इन मूर्तियों पर गुप्तकला का स्पष्ट प्रभाव है। इनसे स्पष्ट है कि ख्मेर में भी भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो चुकी थी। इस उपनिवेश का इसलिए विशेष महत्त्व है कि वहाँ से भारतीय संस्कृति, धर्म और कला का प्रभाव फुनान तथा कम्बोडिया मे एक साथ व्याप्त हुआ।

मध्य स्याम में भी उनके शासनकाल में ब्राह्मणधर्म से प्रभावित मन्दिर स्थापित हुए। कम्बोडिया पर भी ख्मेर राजाओं का शासन रहा। वहाँ का ख्मेर राजा जयवर्मन् महायान सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसकी राजधानी बेयोन थी। उसने बौद्धधर्म के अनेक मठ बनवाये। उसके द्वारा निर्मित मठों की विशेषता यह थी कि उन पर बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के चार मुख बने हुए हैं। वे चार मुख सम्भवतः बुद्ध के शान्ति, करुणा, दया और सर्वहित के आदर्शों के प्रतीक थे। इस धर्मपरायण शासक ने परम्परागत शैव और वैष्णव धर्मों को भी विकसित होने की स्वतन्त्रता प्रदान की।

ख्मेर स्थित अंगकोर थोम कम्बोडिया की प्राचीन राजधानी थी। अंगकोर थोम (यशोधरपुर या नगरधाम) में 12वीं शती के आरम्भ में अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। वहाँ का विशाल बेयोन मन्दिर ब्राह्मण और बौद्ध आदर्शों का समन्वित प्रतीक है, जिसमे लगभग तीन सौ वर्षों के शासकों की कलाप्रियता का एक साथ दर्शन होता है। उसके निर्माण मे यशोवर्मन् प्रथम (889-910 ई०), सूर्यवर्मन् द्वितीय (1125 ई० के लगभग) और यशवर्मन् सप्तम (1181-1201 ई०) नामक तीन शासको की कीर्ति विशेष रूप से सुरक्षित है। इस मन्दिर के मुख्य स्तम्भ पर चतुरानन शिव की विशाल ध्यानस्थ मूर्ति स्थापित है, जिसमें निर्माण और विनाश के सनातन भाव बड़ी

सुन्दरता से अभिव्यंजित किये गये हैं। मन्दिर की भित्तियों, स्तम्भों और छतों पर, 'रामायण', 'महाभारत', 'भागवत', 'हरिवंश' और हिन्दू कथाओं से सम्बद्ध सहस्रों विषयों को उत्कीर्ण किया गया है। शिव और विष्णु के साथ-साथ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की मूर्तियों का निर्माण हुआ है।

बेयोन के इस मन्दिर में ख्मेर की पुरातन सभ्यता के आदर्श नाग पर आसीन विष्णु भगवान् की एक मूर्ति है। यह मूर्ति मन्दिर के प्रवेश द्वार पर बनी हुई है, जिसमें सप्तफनी नाग पर विष्णु आसीन हैं। इस मन्दिर की कला पर गुप्त और गुप्तोत्तर भारतीय कला का स्पष्ट प्रभाव है।

पगान

लगभग 11वीं शती ई० के मध्य में बर्मियों ने पगान पर अधिकार किया। विजयी राजा अनोराता ने ईरावदी तथा चिदविन नदियों के सगम पर अवस्थित पगान में अपनी राजधानी स्थापित की। वह बौद्ध था। इसलिए उसने अनेक बौद्ध मन्दिरों का निर्माण करवाया। उसके बाद भी लगभग ढाई सौ वर्षों बाद तक पगान में मन्दिर-निर्माण की यह परम्परा बनी रही। किसी समय पगान (अरिमदनपुर) को विश्व के सबसे सुन्दर मन्दिर-नगर का श्रेय प्राप्त था। यह नगर सम्प्रति एक छोटे से गाँव के रूप में जीवित है; किन्तु वहाँ की कला-सम्पदा आज भी वहाँ के भव्य अतीत को सुरक्षित रखे हुए है। पगान में बौद्धों के अतिरिक्त अनेक हिन्दू मन्दिरों का भी निर्माण हुआ। ऐसे भी मन्दिर निर्मित हुए, जिनमें हिन्दू और बौद्ध, दोनों धर्मों के देवताओं की मूर्तियाँ एक साथ पूजी जाती हैं। इस प्रकार के मन्दिरों में 'पचास सहस्र पैगोडा' का नाम उल्लेखनीय है, जो गुप्तयुगीन कला-शिल्प का भव्य नमूना है। उसमें ब्राह्मण तथा बौद्ध आदर्शों का समन्वय, धार्मिक औदार्य तथा उच्च मानवीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है। उसमें विष्णु के दशावतारों के साथ-साथ जातक-कथाओं पर आधारित बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का अंकन अत्यन्त दर्शनीय है। पगान की मूर्तिकला तथा चित्रकला पर गुप्त शैली के अतिरिक्त पाल शैली का प्रभाव भी पड़ा है।

पगान की अधिकतर इमारतें बौद्ध शैली पर हैं। बौद्धधर्म की व्यापक लोकप्रियता के कारण वहाँ लगभग पाँच सहस्र स्तूपों का निर्माण हुआ, जिनमें से अधिकतर के अवशेष आज भी वर्तमान हैं। वहाँ का 'श्वेत आनन्द मन्दिर,' जिसका निर्माण 11वीं शती के लगभग द्वितीय शासक अनोराता के पुत्र

थियानसात ने कराया था, विशेष रूप से दर्शनीय है। इस बौद्ध धर्मानुरागी शासक ने बुद्ध की जन्मभूमि भारत की भी यात्रा की थी। उसने बोध गया बिहार के प्रसिद्ध बौद्धतीर्थ का भी पुनरुद्धार किया था। इसी बोध गया मन्दिर के अनुकरण पर पगान में 'श्वेत आनन्द' नामक मन्दिर के निर्माण के लिए उसने भारतीय शिल्पियों को आमन्त्रित किया था। उसकी माँ स्वयं भारतीय थी और उसने आठ भारतीय बौद्ध भिक्षुओं से बौद्धधर्म की विधिवत् दीक्षा ग्रहण की थी।

स्याम

बर्मा के अतिरिक्त स्याम (कलिंग) में भी मोन जाति के लोग जाकर बसे। दूसरी शती ई० मे सुवर्ण द्वीप की यात्रा के लिए जो व्यापारी तथा धर्मप्रचारक दक्षिण भारत आते-जाते थे, सम्भवत: वे मौलमीन और थाई पैंगोडा होते हुए स्याम भी जाते थे। वहाँ कुछ बौद्ध मन्दिर और उनमें स्थापित अमरावती कला के अनुकरण पर बुद्ध मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। बैंकाक में आज भी एक 380 फुट ऊँचा विशाल स्तूप वर्तमान है, जिसके स्थापत्य-शिल्प पर उत्तर भारतीय (गुप्तयुगीन) कला का प्रभाव है। उत्तरी स्याम के लैम्पून नामक स्थान मे ईटो का बना हुआ एक वर्गाकार पाँच मंजिला बौद्ध मन्दिर है। स्तूप के दोनो ओर बुद्ध की साठ खड़ी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इस मन्दिर की बनावट श्रीलंका के पड महल प्रासाद से मिलती-जुलती है, जो 12वी शती ई० से कुछ पहले बनाया गया था। इसके अतिरिक्त लेबपुरी तथा कैम्बेटोग में कलापूर्ण गुप्तयुगीन मूर्तियाँ तथा बुद्ध के प्रतीक हरिण तथा धर्मचक-प्रवर्तन-मुद्रा की मूर्तियाँ और पाँच खण्डो मे निर्मित बुद्ध की एक 25 फुट ऊँची विशाल मूर्ति प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ जहाँ एक ओर स्याम में बौद्धधर्म के व्यापक प्रभाव को घोषित करती हैं, वहो बौद्धकला की प्राचीनता को भी सिद्ध करती हैं।

स्याम के मूल निवासी यूनान तथा दक्षिण चीन से आये थे। इसलिए उनके साथ ही स्याम मे दोनों देशों की सस्कृति का प्रवेश हुआ। चीन से आये लोग हीनयान के समर्थक थे, जिसकी परम्परा उन्होने श्रीलका से प्राप्त की थी। इसलिए स्याम के आरम्भिक मन्दिरों तथा मूर्तियों पर श्रीलंका, यूनान तथा चीन की कला-शैलियों का प्रभाव है। थाई पैंगोडा की कला पर श्रीलका की कला का विशेष प्रभाव है; किन्तु वहाँ की विहार गुफाओं मे जो नाग-फन बने हैं, उन पर चीन का स्पष्ट प्रभाव है, क्योंकि ऐसा अंकन न तो भारत और न

श्रीलंका में ही था। स्याम तथा बैंकाक आदि स्थानों में 13वीं शती ई० के मठ तथा बहुसंख्यक मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिन पर बौद्धधर्म का प्रभाव है।

अंगकोर का मन्दिर विश्व की सर्वश्रेष्ठ इमारतों में से है। आरम्भ में वह विष्णु का मन्दिर था; किन्तु बाद में उस पर बौद्धों का अधिकार हुआ और बौद्ध शैली पर ही उसका पुनर्निर्माण हुआ। यह इमारत बौद्धकला-शिल्प की दृष्टि से अनुपम है। स्याम के उक्त विष्णु मन्दिर से स्पष्ट है कि वहाँ आरम्भ में हिन्दूधर्म का प्रचार था। रमञ्जदेश के हिन्दू राजा ने लवो या लोयबुरी की राजकुमारी चमतेवी या चमदेवी से विवाह किया। दक्षिण बर्मा स्थित यह हिन्दू राज्य 7वीं शती ई० तक ख्याति प्राप्त कर चुका था। इस राजवंश का प्रवर्तन मातृप्रधान चमदेवीवंश से हुआ। चमदेवी ने अलम्बगनपुरी (लम्पाँग लूग्राँग) नाम से स्याम में एक नया नगर बसाया था। उक्त विष्णु मन्दिर का निर्माता सम्भवतः इसी हिन्दूवंश का कोई शासक था।

लगभग 11वीं शती ई० के आरम्भ में ख्मेर लोगों ने मध्य स्याम पर अधिकार कर लिया था और उनका प्रभुत्व वहाँ लगभग ढाई सहस्र वर्षों तक बना रहा। ख्मेर के कलाकारों ने बुद्ध की मूर्तियों के निर्माण में अत्यन्त कुशलता प्रदर्शित की। इन मूर्तियों के शिल्प पर मोन की कला का प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य स्याम में ब्राह्मण धर्मानुयायी लोग भी स्थायी रूप से बस गये थे। वहाँ बौद्ध मन्दिर-मूर्तियों के अतिरिक्त ब्राह्मण मन्दिरों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं।

कम्बोडिया

द्वीपान्तर भारत के जिन देशों में भारतीय धर्म, संस्कृति और आचार-विचारों का लम्बे समय तक व्यापक एवं गहन प्रभाव रहा, उनमें कम्बोडिया (कम्बुज या कम्बोज) का नाम अग्रणी है। कम्बोडिया के धार्मिक, वैचारिक तथा सांस्कृतिक निर्माण में भारत का इतना अधिक योगदान रहा कि एक समय उसे उप भारत के नाम से जाना जाता था। यही कारण है कि कम्बोडिया से प्राप्त अभिलेखों तथा प्रशस्तियों में भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और उनके निर्माताओं का विस्तार से उल्लेख हुआ मिलता है।

कम्बोडिया तथा भारत के सम्बन्धों का इतिहास शृंखलाबद्ध नहीं है। उपलब्ध साधनों से ज्ञात होता है कि इन्द्रप्रस्थ के किसी आदित्यवंशीय क्षत्रिय राजा ने सर्व प्रथम कम्बुज (फुनान) में हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। इस

हिन्दू राज्य का कम्बोडिया के अतिरिक्त कोचीन, चीन तथा अन्नम तक विस्तार हो गया था। हिन्दू राज्य के संस्थापक इस क्षत्रिय राजा ने कम्बोडिया के नागवंशीय राजा की पुत्री सोमा से विवाह किया और उसके नाम पर वहाँ सोम राजवंश की स्थापना की। इसी प्रकार कम्बोडियायी तथा चीनी ऐतिहासिक स्रोतों से यह भी विदित होता है कि कौण्डिन्य नामक एक ब्राह्मण ने भी उक्त द्वीपों में हिन्दू राज्य की स्थापना की थी। इन दोनों भारतीय शासकों ने ईसा की प्रथम या द्वितीय शती के लगभग वहाँ लगभग बारह भारतीय उपनिवेशों की स्थापना की। कौण्डिन्य की वंश-परम्परा उत्तरोत्तर प्रशस्त होती रही। उसके पौत्र राजा मूलवर्मन् (200 ई०) ने बोर्नियो में यूपों की स्थापना की थी।

कम्बोडिया से जो अभिलेख तथा प्रशस्तियाँ प्राप्त हुई हैं, प्रायः वे 7वीं से 10वी शती ई० के बीच की हैं। वे सभी लेख संस्कृत भाषा के हैं। उनमें ऐसे ब्राह्मणो को ही दान देने का अधिकारी बताया गया है, जो वेद-वेदांग-पारंगत हों। जिन सुपात्र ब्राह्मणो को दान दिया गया था, वे हिन्दूशास्त्रों के अतिरिक्त बौद्धधर्म तथा दर्शन, 'रामायण' तथा 'महाभारत' के भी ज्ञाता थे।

कम्बोडिया से प्राप्त 8वी, 9वी शती ई० के अभिलेखो से विदित होता है कि तत्कालीन शासकों द्वारा वहाँ संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचार-प्रसार के लिए विशेष कार्य सम्पन्न हुए। कम्बुज शासक यशोवर्मन् का शासनकाल इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। एक अभिलेख से यह भी ज्ञात हुआ है कि उसने पतञ्जलि के 'महाभाष्य' पर टीका लिखी थी। उसी अभिलेख मे वाकाटक नरेश प्रवरसेन के 'सेतुबन्धु' महाकाव्य की भी चर्चा है। राजा यशोवर्मन् तथा राजा शिवसोम ने धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों के चिन्तन-मनन एवं विचार-विनिमय के लिए कम्बोडिया में अनेक उच्चस्तरीय ज्ञानपीठो की भी स्थापना की थी।

कम्बोडिया मे जो अभिलेख तथा दानपत्र प्राप्त हुए हैं, उनकी भाषा अत्यन्त प्रांजल तथा काव्यमय है और उनमे स्थान-स्थान पर कालिदास तथा मनु के श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कम्बोडिया अनेक वर्षों तक एशिया के प्रसिद्ध संस्कृत-केन्द्रों में से था (मजुमदार—हिन्दू कालोनीज इन फॉर ईस्ट, पृ० 182 आदि; कम्बोज इन्स्क्रिप्शन्स)।

कम्बोडिया शैव और वैष्णव दोनों धर्मों से प्रभावित था। वहाँ के शासक वैदिक परम्पराओं के अनुयायी थे और उन्होंने महाहोम, लक्षहोम तथा

कोटिहोम आदि यज्ञों को सम्पादित किया था। वर्तमान कम्बोडिया में प्रायः सभी मन्दिर हिन्दू देवताओं और विशेष रूप से शिव तथा विष्णु के हैं। इन मन्दिरों के निर्माण का श्रेय ख्मेर जाति के लोगों को है, जिनका एशिया के अनेक देशों में व्यापक एवं सुदूरकालीन प्रभाव रहा है और जो हिन्दू संस्कृति के संरक्षक एवं प्रवर्तक थे।

सूरीनाम द्वीप

दक्षिण अमेरिका में डचगायना स्थित सूरीनाम द्वीप में बसने वाले भारतीयों की संख्या सम्प्रति लगभग डेढ़ लाख से अधिक है। वहाँ के निवासी भारतीयों की भाषा हिन्दी है।

भारत से लगभग बीस हजार मील दूर सूरीनाम द्वीप में बसने वाले इन भारतीयों के पूर्वज सैकड़ों वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश और बिहार से गये। वे भारतीय गुलाम या मजदूर बनाकर जबर्दस्ती डच गायना ले जाये गये थे। उस समय इस द्वीप में आबादी प्रायः नहीं के बराबर थी। कृषि, उद्योग आदि का भी वहाँ सर्वथा अभाव था। किन्तु भारतीय पूर्वजों ने इस द्वीप में कृषि, उद्योग और व्यापार आदि के विकास में जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, उससे वहाँ उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया। उन्होंने वहाँ प्राचीनकाल में अनेक हिन्दू मन्दिरों की स्थापना की।

यद्यपि इस द्वीप में नीग्रो लोगों की संख्या भी बहुत है; किन्तु भारतीय ही वहाँ सभी क्षेत्रों में अग्रणी हैं। वे बड़े-बड़े किसान, उद्योगपति और व्यावसायिक हैं। वहाँ की संसद् में भी उनका स्पष्ट बहुमत है। यद्यपि वहाँ की राजकाज की भाषा डच है; किन्तु हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए भी छोटी-छोटी पाठशालाएँ चलायी जा रही हैं। इस प्रकार के हिन्दी विद्यालयों की संख्या डेढ सौ तक पहुँच गयी है। वहाँ मुसलमान भी हैं, जिनका हिन्दुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

● ● ●

पच्चीस/एशियायी सांस्कृतिक एकता का सेतु बौद्धधर्म

बौद्धधर्म और उसका प्रसार

बौद्धधर्म अतीत के अनेक वर्षों तक भारत में सांस्कृतिक एकता को स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण माध्यम बना रहा। न केवल भारत में अपितु समस्त एशिया में भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों को योजित करने में उसने अटूट सेतु का काम किया। उसके मानव मंगलकारी सन्देश एक ओर तो कुच, कासगर, चोखुक, तुरफान, शानशान, निय और खोतान आदि एशिया के सुदूर पश्चिम तथा मध्यवर्ती देशों तक फैले और दूसरी ओर उत्तरी हिमालय के ऊपर तिब्बत, नेपाल, सिक्किम, भूटान, चीन मंगोलिया तथा वियतनाम आदि देशों में वे प्रसारित हुए। मानव कल्याणकारी यह धर्म-सम्पदा न केवल उपदेशों तथा शिक्षाओं के रूप में, अपितु साहित्य और कला के रूप में भी व्याप्त हुई। उनके प्रचार-प्रसार में जिस प्रकार लोकहितेच्छु विद्वान् भिक्षुओं का योगदान रहा, इसी प्रकार वैचारिक एकता की स्थापना में बुद्धजीवियों और इसी प्रकार शान्ति तथा सद्भाव को उजागर करने में कलाकारों का भी अपरिहार्य सहयोग रहा।

एशिया के अनेक देश अतीत की अनेक शतियों तक भारतीय संस्कृति के केन्द्र बने रहे। वहाँ धर्म, कला और साहित्य अनेक रूपों में भारतीयता का व्यापक प्रभाव लक्षित हुआ। पालि तथा संस्कृत ग्रन्थों और अभिलेखों में उल्लिखित उनके संस्कृत नाम यह सिद्ध करते हैं कि भारत का उन देशों के साथ चिरकाल तक अटूट सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा। इस प्रकार के देशों में शैलदेश (कासगर), चोखुक (यारकन्द), भारुक (तुरफान), कुचि (कुच), अग्निदेश (कड़शहर), तुरपत्ति (तुरफान), कुस्थान (कुस्तन या खोतान), चवोत (निय) और चलमद (शानशान) आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। न केवल इन देशों के संस्कृत रूपान्तर के आधार पर, अपितु वहाँ के शासकों के भारतीय नामकरण भी उनके भारत सम्बन्धों की घनिष्ठता को सूचित करते हैं। इस प्रकार के

भारतीय नामों में खोतान के शासक विजितधर्म तथा विजितकीर्ति; कुच के शासक सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प तथा सवर्णदेव और कड़शहर के शासक इन्द्रार्जुन तथा चन्द्रार्जुन उल्लेखनीय हैं।

भारत में बौद्ध-ज्ञान की थाती को सुरक्षित बनाये रखनेवाले राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के ज्ञान-केन्द्रों तक्षशिला, नालन्दा, अनुराधापुर श्रीविजय, ओदन्तपुरी, मगध, जलन्धर तथा कुण्डलवन महाविहारों के आधार पर कपिश, कासगर, कुच, कड़शहर और तुरफान आदि उत्तर-पश्चिम के देशों में बौद्ध-ज्ञान के केन्द्र स्थापित हुए, जहाँ अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त सुदीर्घ काल तक संस्कृत और पालि भाषाओं के अनुवादों, रूपान्तरों एवं मूल ग्रन्थों की रचना होती रही। ब्राह्मी, खरोष्ठी, संस्कृत तथा प्राकृत के बहुसंख्यक अभिलेखों और हस्तलिखित पोथियों की उपलब्धि से इन देशों में भारत के चिरन्तन सांस्कृतिक सम्बन्धों की परम्परा सिद्ध होती है।

उत्तर-पश्चिम के इन देशों में बौद्ध-ज्ञान के अतिरिक्त बौद्धकला की थाती भी व्यापक रूप से प्रसारित हुई। अमरावती, मथुरा की मूर्तिकला तथा अजन्ता और बाघ गुफाओं के भित्तिचित्रों के आधार पर फोन्दुकिस्तन, मिरन, निय तथा तुन-हुआंग की गुफाएँ निर्मित हुई और वहाँ भव्य भित्तिचित्रों का अंकन हुआ। पश्चिम सीमान्त की तुन-हुआंग में 182 सचित्र गुफाओं का निर्माण हुआ, जिन्हें 'बुद्ध की गुफाएँ' कहा जाता है और जो न केवल उत्तर-पश्चिम एशिया, अपितु भारत से लेकर समस्त विश्व में बौद्धकला की अतुलनीय, अपूर्व एव अनुपम देन हैं। साँची, अमरावती और मथुरा का भव्य मूर्ति-शिल्प और अजन्ता तथा बाघ की गुफाओं के भित्तिचित्रों में अभिव्यक्त करुणा, प्रेम तथा सौन्दर्य समन्वित उच्चादर्शों ने सुदूर एशिया में पुनर्जीवित होकर भारत के प्रभाव एवं महत्त्व को उजागर बनाये रखा।

उत्तर-पश्चिम देशो को बौद्ध-ज्ञान तथा बौद्धकला की यह थाती कुषाण सम्राट् कनिष्क के समय (प्रथम शती ई०) में विशेष रूप से प्रचारित-प्रसारित हुई। कनिष्क के समय काबुल काँठे से लेकर वल्ख तक का गान्धार क्षेत्र एशियायी व्यापार का ही प्रमुख केन्द्र नहीं था; अपितु यह क्षेत्र बौद्धधर्म तथा भारतीय संस्कृति का भी सर्वश्रेष्ठ केन्द्र था और यहाँ से होकर भारतीय ज्ञान-कला की थाती एशिया के अधिकतर देशों में पहुँची। छठी सातवीं शती ई० के लगभग अरबों के आक्रमणों के कारण कुषाणों द्वारा संरक्षित एवं पल्लवित

गान्धार में कला के अनेक भवन तथा प्रतिष्ठान विनष्ट हो गये; किन्तु गान्धार से उसकी परम्परा तिब्बत, चीन तथा मंगोलिया आदि उत्तरी देशों में पुनरुज्जीवित हुई।

भारतीय कला की सैकड़ों वर्षों की सुदीर्घ परम्परा के निर्माण और विकास में समय-समय पर भारत में आकर बसनेवाली विभिन्न जातियों के धर्मों, विश्वासों तथा आदर्शों का समन्वय है। अपने इस सार्वभौम, विश्वजनीन व्यापक रूप में जब भारत के बाहर उसके उच्च आदर्श एवं महान् सन्देश प्रसारित हुए तो विश्व के अनेक देशों ने उसको ठीक उसी रूप में समादृत एवं ग्रहण किया, जिस रूप मे भारत में उसकी प्रतिष्ठा स्थिर हो चुकी थी। अतीत के विभिन्न युगों में पौराणिक ब्राह्मणधर्म, वैष्णवधर्म, शैवधर्म, बौद्धधर्म और तान्त्रिक धर्मों तथा उनके उच्च दार्शनिक विचारों की वाहिका बनकर भारतीय कला ने दक्षिण-पूर्व की भाँति उत्तर-पश्चिम में बैक्ट्रिया, फरगना, बदख्शाँ, अफगानिस्तान, सीस्तान और बलूचिस्तान के उन देशों में अपना व्यापक प्रभाव प्रस्थापित किया, जो पूरे एक हजार वर्षों तक बृहत्तर भारत के अंग थे और जिन्हें यूनानियों ने 'श्वेत भारत' के नाम से कहा है। एक समय उसका प्रसार ईरान, ईराक और सीरिया के दूरांचलों में हुआ और सर्वथा नव्य-भव्य रूप धारणकर उसने तिब्बत, चीन तथा मंगोलिया आदि देशों पर भी अपने प्रभाव की छाप अंकित की। भारतीय कला की इस अपूर्व एवं अतुलनीय प्रभावकारिता के मूल कारण थे उसमें निहित धार्मिक उच्चादर्शों की उदात्त कल्पना और गम्भीर दार्शनिक विचारों का बौद्धिक चरमोत्कर्ष।

उत्तर-पश्चिम

खुत्तन (कुस्थन या खोतान)

पूर्वी तुर्किस्तान के खोतान (खुत्तन) तथा जबनोर आदि क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति और बौद्धधर्म घुमन्तू जातियों तथा बौद्ध भिक्षुओं द्वारा प्रसारित हुआ। वहाँ सम्भवतः भारतीय उपनिवेश भी थे। खोतान में प्रचलित एक प्राचीन परम्परा के अनुसार सम्राट् अशोक के पुत्र कुस्तन ने 240 ई० पूर्व में वहाँ एक उपनिवेश स्थापित किया था। उसके प्रपौत्र विजयसम्भव ने भी वहाँ बौद्धधर्म का विस्तार किया। इस परम्परा के अनुसार खोतान में प्रथम बौद्ध विहार 211 ई० पूर्व में स्थापित हुआ और उक्त भारतीय राजवंश की लगभग 56 पीढ़ियों ने वहाँ शासनकर एक सहस्र बौद्ध-केन्द्रों की स्थापना की थी।

विजयसम्भव के समय आर्य वैरोचन नामक एक बौद्ध भिक्षु वहाँ गया और उसका राजगुरु बना।

चीनी यात्री फाहियान, सोङ्-युन् और ह्वेन-सांग ने अपने यात्रा-वृत्तान्तों में बताया है कि खोतान में 5वीं से 8वीं सदी तक बौद्धधर्म उन्नतावस्था में रहा। इस अवधि में वहाँ लगभग चार सहस्र बौद्ध-केन्द्र स्थापित हो चुके थे। खोतान ने बौद्धधर्म, संस्कृति और साहित्य-निर्माण की दिशा में जो ख्याति अर्जित की उससे अधिक प्रसिद्धि उसने उत्तरी एशिया के देशों के लिए एक बौद्ध-केन्द्र होने से कारण प्राप्त की। उसके द्वारा निय, कालमदन, क़ाराइना और काशगर आदि दक्षिण के प्रदेशों में बौद्धधर्म की विरासत फैली।

तुरफान और कुच (चीनी तुर्किस्तान)

भारत के उत्तरी सीमान्त के देशों में कुच और तुरफान नामक राज्यों का नाम उल्लेखनीय है। चीनी तुर्किस्तान के उत्तर में स्थित अक्षु (भरुक), कुच, कड़शहर (अग्निदेश) और तुरफान (काओ-चंग) इन चार राज्यों द्वारा बौद्धधर्म, संस्कृति और साहित्य के अपनाव और प्रचार-प्रसार में बड़ा योग रहा है। उनमें कुच राज्य का विशेष स्थान है। संस्कृति, शासन और समृद्धि की दृष्टि से उक्त चारों राज्यों में कुच राज्य सर्वाधिक उन्नत था। वहाँ बौद्धधर्म का प्रवेश लगभग ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में हो चुका था। कुछ ही वर्षों में वहाँ बौद्धधर्म इतना लोकप्रिय हुआ कि सैकड़ों की संख्या में स्तूपों, विहारों और मठों का निर्माण हो गया। बौद्धधर्म ने वहाँ लोकधर्म का स्थान ग्रहण किया और बुद्ध के उपदेश वहाँ की जनता के आदर्श बने। इस कुच राज्य के बौद्ध-धर्मानुराग का प्रभाव अक्षु, कड़शहर और तुरफान आदि पड़ोसी राज्यों पर भी पड़ा। फलस्वरूप उत्तर के सभी छोटे-छोटे राज्य बौद्धधर्म और बौद्ध संस्कृति से प्रभावित हुए।

न केवल उक्त पड़ोसी राज्यों में, बल्कि चीन में भी बौद्धधर्म और बौद्ध संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए कुचवासी भिक्षुओं ने ठोस कार्य किया। वे बड़ी संख्या में चीन गये और वहाँ उन्होंने वर्षों तक ठहरकर बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद किया।

कुच और तुरफान राज्यों में बौद्धधर्म और साहित्य-संस्कृति के लिए जो कार्य हुआ, उसका तो अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। उसके साथ ही इन राज्यों के बौद्धों ने चीन में बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार करके, एशिया के बौद्धधर्म के इतिहास में अपना नाम अमर किया।

ईसा की प्रथम शती के अन्त में भारत के अनेक बौद्ध भिक्षुओं ने उत्तरी सीमान्त के राज्यों में आकर बड़ी लगन तथा निष्ठा से कार्य किया। कुच, तुरफान आदि राज्यों पर उनका यथेष्ठ प्रभाव पड़ा। किन्तु चीन के सामन्तशाही कन्फ्यूशियनधर्म से प्रभावित चीनी जनता में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में भारतीय बौद्धों को कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा। किन्तु कुच और तुरफान के बौद्धों के सहयोग तथा बारम्बार गमनागमन के कारण चीन में बौद्धधर्म के लिए उपयुक्त भूमिका बनती गयी।

उत्तरी सीमान्त के उक्त चारों राज्यों में लगभग 8वीं श० ई० तक बौद्धधर्म फूलता-फलता रहा। कुच के बाद बौद्धधर्म का सबसे बड़ा केन्द्र तुरफान था। तुरफान के उइगुर और तुर्क राजाओं ने बौद्धधर्म को प्रश्रय देने और बौद्ध-साहित्य के निर्माण के लिए बड़ा प्रोत्साहन दिया। यही कारण है कि तुरफान में भारतीय हस्तलिखित पोथियों के अनेक वृहत् संग्रह गये। अनेक दुर्लभ कृतियाँ तुरफान से आधुनिक विद्वानों ने प्राप्त की हैं।

उक्त चारों राज्यों में और विशेष रूप से कुच तथा तुरफान में लगभग 11वीं श० ई० तक बौद्धधर्म और साहित्य का निरन्तर अर्जन-वर्द्धन होता रहा। इन राज्यों के पतन के पश्चात् शताब्दियों तक वहाँ का राजनीतिक और बौद्धिक जीवन अस्तव्यस्त बना रहा। इस अव्यवस्था का प्रभाव बौद्धधर्म की प्रगति पर भी पड़ा।

कोरिया

उत्तर-पूर्व के जिन देशों मे बौद्धधर्म ने मानव जीवन को नयी विचार धारा प्रदान की और इतिहास में परिवर्तन किया, उनमें कोरिया देश मुख्य है। कोरिया में बौद्धधर्म का प्रवेश लगभग 4थी शती के आरम्भ में हुआ। सबसे पहले उसका प्रवेश उत्तरी कोरिया के कोगुर्य क्षेत्र में हुआ। उसके बाद धीरे धीरे वह समस्त कोरिया में फैल गया।

कोरिया में बौद्धधर्म की विरासत को ले जाने का श्रेय कुच, तुरफान और चीन के भिक्षुओं को है। इन भिक्षुओं के संयुक्त प्रयत्नो से कोरिया में बौद्ध संस्कृति का विकास और साहित्य का निर्माण हुआ।

कोरिया के बौद्धधर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उसके द्वारा अन्य पड़ोसी देशों में भी बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। चीन और जापान के बीच उसने एक ठोस शृंखला का कार्य किया। कोरिया के माध्यम से चीनी बौद्ध जापान

पहुँचे। उनके प्रभाव से जापान में बौद्धधर्म को राजधर्म का सम्मान प्राप्त हुआ। उसके बाद चीनी और जापानी भिक्षुओं का एक-दूसरे देश में आगमन बना रहा। इन दोनों देशों में बौद्धधर्म का आदान-प्रदान कोरिया के ही माध्यम से हुआ। चीन और जापान जैसे सीमावर्ती देशों में बौद्धधर्म को बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ; किन्तु कोरिया में उसको जो सम्मान प्राप्त होना चाहिए था, वह कई शताब्दियों के परिश्रम के पश्चात् हुआ। कोरिया में बौद्धधर्म को प्रारम्भ से ही राज्याश्रय तो मिला, लेकिन उसके सैद्धान्तिक और मौलिक पक्ष का विकास नहीं हुआ। लगभग 7वीं श० ई० तक कोरिया में वह एक आंचलिक राजधर्म के रूप में बना रहा। उसका सबसे पहला आश्रयदाता उत्तरी कोगुर्य राजवंश था।

7वीं श० के अन्त और 8वीं श० के प्रारम्भ में कोरिया में बौद्धधर्म अपनी पूर्ण उन्नत स्थिति में पहुँचा, जबकि दक्षिण-पूर्व के सिला राजवंश ने उसको अपनाया। यह वांग राजवंश का समय था। इस युग में कोरिया के अनेक विद्वान् बौद्धधर्म के सैद्धान्तिक और रचनात्मक विकास के उद्देश्य से चीन गये। इस प्रकार के विद्वानों में युआन-त्सो (613-683 ई०), युआङ-हिआओ (617-670 ई०) और यी-सिआङ् (625-702 ई०) का नाम उल्लेखनीय है।

कोरिया में बौद्धधर्म को लोकप्रिय बनाने में भिक्षुओं के पवित्र और साधनामय जीवन ने बड़ा काम किया। वांग राजवंश (11वीं श०) से पूर्व, कोरिया में बौद्धधर्म जन-सामान्य का धर्म न होकर उच्च सामन्ती लोगों का धर्म था। किन्तु यि-ति-एन, प-उ-चाओ आदि प्रसिद्ध बौद्ध-भिक्षुओं के प्रभाव एवं कृत्यों के परिणामस्वरूप बौद्धधर्म का सन्देश जन-सामान्य तक पहुँच गया। उन्होंने तथा अन्य भिक्षुओं ने कोरिया में बौद्ध-साहित्य के रचनात्मक विकास के लिए बड़े प्रयत्न किये।

यि-ति-एन नामक बौद्ध भिक्षु ने सर्व प्रथम चीनी त्रिपिटकों की सूची का सम्पादन कार्य किया। चीन में बौद्धधर्म का गहन अध्ययन करने के बाद वह कोरिया पहुँचा। कोरियायी भाषा में उसने बौद्धधर्म तथा साहित्य-सम्बन्धी अनेक लेख एवं ग्रन्थ लिखे। प-उ-चाओ नामक दूसरे कोरियायी बौद्ध भिक्षु ने कोरिया में जेनधर्म का प्रचार किया।

वांग राजवंश के बाद कोरिया में मंगोल के युआन राजवंश का आधिपत्य हुआ। मंगोल मूलतः लामा धर्मराज्य के समर्थक थे। तिब्बत और नेपाल में भी इसी मंगोल राजवंश के प्रोत्साहन-प्रश्रय के कारण लामा धर्मराज्य की स्थापना हुई। कोरिया में भी मंगोल साम्राज्य के समय लामामत का

प्रचार हुआ । किन्तु कुछ वर्षों बाद ही, मंगोल साम्राज्य के पतन के साथ ही कोरिया से सामावाद का भी अन्त हो गया । मंगोल के बाद कोरिया में चौसेन राजवंश ने शक्ति-संचय करके अपना प्रभुत्व स्थापित किया । वे कन्फ्यूशियन धर्म के अनुयायी थे । इस धर्म का जन्म चीन में हुआ था, जहाँ कि यह सामन्त वर्ग का धर्म ही बना रहा । इस कारण जन स्वातन्त्र्य के समर्थक बौद्धधर्म के प्रति उसका निरन्तर वैर-विरोध बना रहा । कोरिया के चौसेन राजवंश ने, जो कि सामन्तवर्ग का कट्टर समर्थक था, स्वभावतः कन्फ्यूशियनधर्म को अंगीकार कर जन-सामान्य के बीच प्रचलित बौद्धधर्म को राजधर्म के स्थान से च्युत कर दिया । इस धर्म-परिवर्तन से बौद्धधर्म की प्रगति और लोकप्रियता क्षीण पड़ गयी । उसके बाद लगभग 14वी शती ई० तक ही-प्रान तथा कमकुर युगों में बौद्धधर्म को लोकप्रचलित करने के उद्देश्य से बौद्ध सिद्धान्तों का राष्ट्रीयकरण हुआ, जिसके कारण राजधर्म तथा लोकधर्म का स्थान प्राप्तकर उसने कोरिया की धरती को नये आलोक से दीप्त किया । इस समय तक यद्यपि भारत में बौद्ध-धर्म अपनी क्षीणावस्था में था और जिस चीन से कोरिया में उसका प्रवेश हुआ था, वहाँ भी एक समर्थ वर्ग द्वारा बौद्धधर्म के प्रति विदेशीपन का भाव उत्पन्न होकर चीन में भी उसकी समुन्नत परम्परा शिथिल पड़ने लगी थी; किन्तु कोरिया में बौद्धधर्म की प्रगति का इतिहास लगभग 15वीं शती तक पूर्ववत् बना रहा । उसके बाद देश की आन्तरिक स्थितियों के कारण उसमे क्षीणता आती गयी और उसका विकास-क्रम मन्द पड़ गया ।

तिब्बत

तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रवेश लगभग चौथी शती ई० में हुआ । किन्तु उसके विकास-क्रम का इतिहास लगभग 7वीं शती ई० से प्राप्त होता है । उस समय वहाँ राजा स्रोङ्-वत्सन्-स्गम-पो (613-698 ई०) शासन करता था । उसने भारतीय बौद्ध-साहित्य, वर्णमाला, शिलालिपि, ध्वनिशास्त्र और व्याकणर का अध्ययन करने के लिए अपने मन्त्री एवं विख्यात बौद्ध विद्वान् थोन-मि-सम्-भो-ट और उसके साथ सोलह अन्य भिक्षुओं को भारत भेजा । इन भिक्षुओ ने भारतीय विद्वानों के सम्पर्क तथा सन्निध्य में आकर उक्त विषयों का मौलिक अध्ययन किया और फिर तिब्बत आकर सर्व प्रथम तिब्बती भाषा की लिपि, वर्णमाला तथा उसका व्याकरण बनाया ।

थोन-मि-सम्-भो-ट को तिब्बती-साहित्य का जन्मदाता माना जाता है । उसने तिब्बती लिपि और व्याकरण पर आठ स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे, अनेक

संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया और इस तिब्बतीय राजा से बौद्धधर्म की उन्नति के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण योजनाएँ कार्यान्वित करवाईं। तिब्बती बौद्धधर्म के इतिहास में राजा स्रोङ्-ब्त्सन्-स्गम-पो को उसके महान् कार्यों के लिए तिब्बत का 'अशोक' कहा गया है। स्रोङ्-ब्त्सन्-स्गम-पो के पांचवें उत्तराधिकारी खी-स्रोङ्-ल्दे-ब्त्सन् (802-845 ई०) ने अपने देश के विद्वान् भिक्षु ज्ञानेन्द्र को दो बार भारत भेजा और उसके द्वारा नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य शान्तरक्षित को 814 ई० में तिब्बत आमन्त्रित किया। शान्तरक्षित के रहने के लिए तिब्बत में ब-सम-यास मठ (823-835 ई०) का निर्माण किया गया। तिब्बत का यह सर्व प्रथम मठ था, जिसमें शान्तरक्षित और उसके बाद भी अनेक बौद्ध विद्वानों ने तिब्बती बौद्ध-साहित्य का निर्माण किया। शान्तरक्षित ने वामपन्थी बोनधर्म और तन्त्रवाद को समाप्त करके बौद्धधर्म की ज्योति से तिब्बत को आलोकित किया। उन्होंने काश्मीर के संस्कृतज्ञ विद्वान् अनन्त की सहायता से अनेक बौद्ध-ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया। अनन्त पण्डित उस समय तिब्बत में रह रहे थे। वे तिब्बती भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। इस अनुवाद कार्य में दुभाषिये तिब्बती विद्वान् धर्मकोष का भी योगदान रहा। शान्तरक्षित का 'तत्त्वसंग्रह', 'ज्ञानसिद्धि' और 'वादान्यविपंचितार्थ' प्रमुख ग्रन्थ हैं, जिनके आधार पर तिब्बत तथा नेपाल, दोनों देशों में बौद्ध-ज्ञान की विरासत आगे बढ़ी।

आचार्य शान्तरक्षित ने तिब्बत में जिस नव जागरण का आरम्भ किया था, उसका प्रवर्तन उनके दो शिष्यों—कमलशील और पद्मसम्भव ने किया। कमलशील नालन्दा विश्वविद्यालय का आचार्य था। इन दोनों विद्वानों को शान्तरक्षित के कहने पर तिब्बत बुलाया गया था। किन्तु प्रतिक्रियावादी तान्त्रिक भिक्षुओं ने शास्त्रार्थ में पराजित होने के कारण कमलशील की हत्या करा दी। अपनी असामान्य विद्वत्ता और तिब्बत में बौद्धधर्म के उन्नयन के कारण वहाँ के इतिहास में कमलशील 'तिब्बती मञ्जुश्री' के नाम से प्रख्यात हुए।

तिब्बत में धर्म तथा साहित्य के इस पुनर्जागरण को राजा खी-ल्दे-ब्त्सन्-पो (847-877 ई०) ने आगे बढ़ाया। वह एक धर्मानुरागी तथा ज्ञानप्रेमी शासक था। उसने तिब्बत-चीन के परम्परा से चले आते विवादों के निराकरण के लिए दोनों देशों की सीमाएँ निर्धारित की और उनके मध्य लुं-खु-मेरु नाम से एक लेखयुक्त प्रस्तरस्तम्भ गड़वाया।

साहित्य तथा धर्म की उन्नति के लिए उसने भारतीय तथा तिब्बती विद्वानों की बृहत् परिषद् का आयोजन किया। इस परिषद् में जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शीलेन्द्रबोधि, दानशील, बोधिमित्र आदि भारतीय विद्वानों और रत्नकीर्ति, धर्मशील, ज्ञानरक्षित, जयरक्षित, मञ्जुश्री तथा रत्नेन्द्रशील आदि तिब्बती विद्वानों ने मिलकर अनुवाद-कार्य के लिए एक योजना बनायी। इसी योजना के अन्तर्गत नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, चन्द्रकीर्ति, विनीतदेव, शान्तरक्षित और कमलशील के ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद हुआ। इनके अतिरिक्त 'महाव्युत्पत्ति' नामक कोश-ग्रन्थ का निर्माण तथा प्रकाशन भी हुआ।

इस शासक के पश्चात्, 9वीं शती से लेकर 11वीं शती तक तिब्बत में तन्त्रवाद का प्रभुत्व रहा और उसका परम्परागत एकसूत्र शासन चार प्रान्तीय शासनों में विभाजित हो गया। उनमें से गुगे प्रान्त (शैन-शुंग) का शासक ह्-खोर-ल्दे (ज्ञानप्रभ) ने अपनी जगह अपने छोटे भाई को राजगद्दी पर प्रतिष्ठित करके स्वयं भिक्षु पद वरण कर लिया। उसने तिब्बत के इक्कीस सुयोग्य युवक विद्वानों को रत्नवज्र के पास अध्ययनार्थ काश्मीर भेजा। उसने विक्रमशिला (बिहार) के प्रधान एवं अपने समकालीन तत्त्ववेत्ता विद्वान् अतिश (दीपंकर श्रीज्ञान) को तिब्बत आमन्त्रित किया, जिसके आध्यात्मिक प्रकाश से तिब्बत की धरती को ज्ञान का आलोक मिला।

तिब्बत को दीपंकर श्रीज्ञान की देन

बौद्धधर्म तथा साहित्य की महानताओं को सुदूर देशो में प्रचारित करने और बौद्ध-ग्रन्थो का अनुवाद एवं व्याख्या-व्याख्यान करनेवाले भारतीय बौद्ध विद्वानो मे शान्तरक्षित के बाद दीपंकर श्रीज्ञान का नाम उल्लेखनीय है। तिब्बती साहित्य मे अतिश या अतिशया (जो-वो-र्जे-पल-दन) नाम से विख्यात दीपकर श्रीज्ञान का जन्म पूर्वी भारत के सहोर नामक स्थान में 982 ई० मे हुआ था। उनका बाल्य नाम चन्द्रगर्भ था। बालक की इच्छा पर पिता राजा कल्याणश्री ने विक्रमशिला महाविहार के निकट होने पर भी उसे नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययनार्थ भेज दिया। जिज्ञासु बालक नालन्दा विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति आचार्य बोधिभिक्षु के समक्ष प्रवेश पाने के लिए उपस्थित हुआ। किन्तु आयु कम होने के कारण उसे विश्वविद्यालय मे प्रवेश नहीं मिला। फिर भी बोधिभिक्षु ने बालक को निराश नहीं किया। उसने अपने निजी आवास में ही बोधिभिक्षु को रहने की स्वीकृति दी। उन्होंने इस बालक को बौद्ध-परम्परा के एक पवित्र नाम दीपंकर की संज्ञा दी। इसी नाम के एक

बुद्ध तथागत भी हो चुके थे। गुरु प्रदत्त इस नये नाम को उसने वास्तव में चरितार्थ किया और अपनी विलक्षण प्रतिभा से इस धरती को नये ज्ञान के प्रकाश से आलोकित किया। इसी कारण बौद्ध-जगत् में उसे 'श्रीज्ञान' के नाम से अभिहित किया गया।

नालन्दा में शिक्षा समाप्त करके दीपंकर श्रीज्ञान विक्रमशिला आये और पुन: उन्होने महाविहार के विभागीय अध्यक्ष आचार्य नारोपा के आधीन रहकर पठन-पाठन किया। वहाँ प्रज्ञारक्षित, मानकश्री, रत्नकीर्ति और ज्ञानश्री आदि विद्वानों से उनकी भेंट हुई। इन विद्वानों के परामर्श से दीपंकर बौद्ध-ज्ञान की अभिलाषा से सुमात्रा गये। वहाँ कुछ दिन तक एकान्तवास करने के पश्चात् वे आचार्य धर्मपाल के पास गये और उनके संरक्षण मे रहकर पूरे बारह वर्षों तक धर्म-ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन किया। अब तक वे चौतीस वर्ष के हो चुके थे। सुमात्रा की बौद्ध-परम्परा का अध्ययन करने के पश्चात् वे पुन: विक्रमशिला वापस आये और वहाँ उन्हें ससम्मान महत्त्वपूर्ण पद पर अधिष्ठित किया गया। विक्रमशिला महाविहार मे 108 विद्वान् और 8 महापण्डित थे। इन महापण्डितों में उन्हें भी स्थान प्राप्त हुआ।

दीपकर श्रीज्ञान के तिब्बत प्रवेश से पूर्व ही वहाँ रत्नभद्र (रिन-छेन-जँग-पो) तथा सुप्रज्ञ (लेग्स-पहि-शेष-रब) और उनसे भी पूर्व ज्ञानप्रभ बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में सलग्न थे। राजसी वैभव की जगह वैराग्य को वरण करने वाले युवक संन्यासी ज्ञानप्रभ को दीपकर की प्रतिभा का पता लग चुका था। अत: उसने कुछ भिक्षुओं को विक्रमशिला भेजा; किन्तु दीपंकर ने तिब्बत जाना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसे अभी अपना संकल्प पूरा करना था। कुछ वर्षों बाद देवगुरु ज्ञानप्रभ ने दीपंकर को तिब्बत लाने का भार अपने पुत्र बोधिप्रभ (ब्यंग्-चब्-ओद) को सौपा। बोधिप्रभ अपने प्राणो की चिन्ता न कर किसी प्रकार भारत पहुँचा; किन्तु इस बीच उसके धर्मप्राण पिता का निधन हो गया था। जब उसने यह दु:खद समाचार दीपंकर को सुनाया तो उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। लगभग 18 मास बाद तिब्बत आने का वचन देकर उन्होंने बोधिप्रभ को वापस किया। लगभग 1040 ई० मे दीपंकर तिब्बत पहुँचे।

दीपंकर के रहने की व्यवस्था मानसरोवर प्रदेश के थो-लिन्-विहार में की गयी। उन्होंने इस बिहार में आठ मास बिताया और वहाँ अपने विख्यात ग्रन्थ 'बोधिपथप्रदीप' की रचना की। उसके बाद उन्होने पैदल यात्रा करके बौद्धधर्म का लोक-मंगलकारी सन्देश जन-जीवन में प्रसारित किया। समय निकाल वे

एकान्त स्थानों में बैठकर नये ग्रन्थों का निर्माण और विभिन्न ग्रन्थों के अनुवाद कार्य में संलग्न रहे। इस कार्य में तिब्बती विद्वान् भिक्षु रत्नप्रभ का सहयोग भी उन्हें प्राप्त हुआ। दीपंकर के एक तिब्बती शिष्य, डोम-तोन-प ने 'गुरुगुणधर्माकर' नाम से तिब्बती में उनकी जीवनी भी लिखी।

ग्यारह वर्ष तक तिब्बत में रह तथा वहाँ के विहारों का भ्रमण करने के उपरान्त उन्होंने 1051 ई० में 'कालचक्र' पर एक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान लिखा। 73 वर्ष की अवस्था में बौद्ध-जगत् के इस यशस्वी विद्वान् ने धर्म तथा साहित्य की सेवा करते हुए तिब्बत में ही 1054 ई० को मोक्षत्व प्राप्त किया।

दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बती में अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया।। उनमें से विभिन्न स्रोतों द्वारा निम्नलिखित 11 ग्रन्थों का अब तक पता लग पाया है :

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
1—माध्यमक रत्नप्रदीप	भव्य
2—माध्यमक हृदयकारिका	,,
3—माध्यमक हृदयकारिका वृत्ति	,,
4—माध्यमकार्थसग्रह	,,
5—माध्यमक भ्रमघाट	आर्यदेव
6—पञ्चस्कन्ध प्रकरण	चन्द्रकीर्ति
7—रत्नकरण्डोद्घाट	स्वनिर्मित
8—शिक्षासमुच्चयाभिसमय	धर्मपाल
9—बोधिपथप्रदीप	स्वनिर्मित
10—बोधिपथप्रदीपपंजिका	,,
11—महासूत्रसमुच्चय	,,

भिक्षु ज्ञानप्रभ के समय तिब्बत में जो साहित्यिक एवं धार्मिक अभ्युन्नति हुई, उसमे ज्ञानकीर्ति तथा सूक्ष्मदीर्घ नामक दो भारतीय विद्वानों का योगदान उल्लेखनीय है। ये दोनों विद्वान् दुमाषिया पधरुचि की प्रेरणा से तिब्बत गये थे। ज्ञानकीर्ति ने पूर्वी तिब्बत में 'अभिधर्मकोश' अध्ययन के लिए एक विद्यालय की स्थापना की और 'चतुष्पीठ टीका' तथा 'वचनसुख' नामक ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया। भिक्षु ज्ञानप्रभ के बाद उसके छोटे भाई भिक्षु शान्तिप्रभ (शिवरोद) की प्रेरणा से सुजय श्रीज्ञान, मन्त्रकलश और गुणभद्रकर आदि अनेक विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया।

ज्ञानप्रभ के उत्तराधिकारी वंशज राजा र्चे-ल्दे (1076-1109 ई०) ने तिब्बत में अनेक धार्मिक तथा शैक्षिक संस्थान स्थापित किये और वुर्वेग नामक एक युवक विद्वान् को बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययनार्थ काश्मीर भेजा। इस विद्यानुरागी युवक भिक्षु ने 17 वर्ष तक काश्मीर में रहकर परहितभद्र, भव्यराज, सज्जन और अमरगोमी नामक विद्वानों से बौद्ध-साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया। तिब्बत आकर उसने विशेष रूप से धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का अनुवाद किया। इस 12वीं शती के अन्य अनुवादकों में फ-दम्-प-सङ्स-ग्र्येस और रविकीर्ति का नाम उल्लेखनीय है।

इस शती में तिब्बती साहित्य, धर्म तथा संस्कृति के उन्नयन में स-स्क्य विहार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस विहार की स्थापना यद्यपि 1073 ई० में हो चुकी थी; किन्तु 12वीं शती में उसके द्वारा साहित्य-निर्माण का विशेष कार्य हुआ। उसके विद्वान् भिक्षुओं को धर्म प्रचारार्थ चीन, मंगोलिया और नेपाल भेजा गया। उसके द्वारा भारतीय विद्वानों को भी नेपाल आमन्त्रित किया गया, जिनमें शाक्य श्रीभद्र का नाम मुख्य है। विहार के तत्कालीन आचार्य फोन-फु (12वीं शती ई०) तिब्बत गये थे और पूरे दस वर्षों तक वहाँ रहे। तिब्बत में धर्मराज्य की स्थापना का एकमात्र श्रेय इसी विहार के आचार्यों को है। तिब्बत का प्रथम एवं प्रसिद्ध इतिहासकार बु-स्तोन (1290-1364 ई०) इसी मठ की परम्परा का विद्वान् था। बु-स्तोन और भिक्षु सुमतिकीर्ति (1357 ई०) को तिब्बत में धार्मिक तथा साहित्यिक पुनर्जागरण का श्रेय है। उनके कार्यों को आगे बढ़ाने में भारतीय विद्वान् वररत्न (1384-1468 ई०) और सम-सामयिक तिब्बती विद्वान् धर्मपाल भद्र का नाम भी उल्लेखनीय है। तिब्बत में इस साहित्यिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के अन्तिम नेता, इतिहासकार लामा तारानाथ (जन्म 1573 ई०) हुए। उनके द्वारा लिखित 'भारतीय बौद्ध धर्म का इतिहास' नामक ग्रन्थ से बौद्धधर्म की परम्परा का योरप तथा एशिया के विभिन्न देशों में प्रचार-प्रसार हुआ।

तिब्बत से भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध

तिब्बत हमारी सांस्कृतिक निधियों का महान् केन्द्र रहा है। सहस्राब्दियों पहले से लेकर अब तक दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध अटूट रूप में बने हुए हैं। दोनों देशों की सांस्कृतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक एकता, दोनों के रीति-रिवाजों और आचार-व्यवहारों की परम्परा ऐसे ठोस रूप में आबद्ध है

कि उनको किसी भी प्रकार से अलग करना सम्भव नहीं है। दोनों देशों के लोक-जीवन में परम्परा से जो विश्वास और मान्यताएँ प्रचलित हैं, उनसे सहज ही यह ज्ञात होता है कि दोनों देशों की संस्कृतियों का एक ही मूल स्रोत है। न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से, अपितु भौगोलिक दृष्टि से भी दोनों की एकता स्पष्ट है। यदि आचार-विचार, भाषा-साहित्य और स्वरूप-स्वभाव की दृष्टि से दोनों देशों के जन-जीवन की तुलना की जाय, तो दोनों में आश्चर्यजनक समानता देखने को मिलती है।

इस दृष्टि से यदि दोनों देशों के सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होता है कि उनकी जड़ें सुदूर अतीत की गहराई तक जमी हुई हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में तिब्बत के माहात्म्य की अनेक रोचक कथाएँ वर्णित हैं। कहा गया है कि 'त्रिविष्टप्' मानवी सभ्यता का उद्गम तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल का उद्गम स्थल था और वहीं से सृष्टि का सूत्रपात हुआ तथा मनुष्य को ज्ञान का सर्व प्रथम आलोक प्राप्त हुआ। वैवस्वत मनु ने आर्यावर्त की जो सीमाएँ निर्धारित की हैं, वर्तमान तिब्बत उनके अन्तर्गत सम्मिलित था। ब्रह्मपुत्र से परिवृत, नेपाल और बर्मा भी इसी आर्यावर्त के अन्तर्गत थे। मनु का यह भी कथन है कि इस सुमहत् आर्य देश के निर्माण तथा नामकरण के मूल में विशिष्ट एवं विचारवान् लोगों का हाथ था। इसलिए उसको देवनिर्मित देश की संज्ञा दी गयी थी।

सम्राट् हर्षवर्धन के समय (7वी श० ई०) तक भारत की जो उत्तरी सीमा थी और तत्कालीन चीनी पर्यटक ह्वेन-त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में जिसका विस्तार से वर्णन किया है, वह ब्रह्मपुत्र तक फैली हुई थी। ब्रह्मपुत्र के निकट ब्रह्मपुर नगर का आँखों देखा हाल भी उक्त यात्री ने वर्णन किया है। यह नगर 660 मील लम्बा-चौड़ा था। उसके उत्तर में 'सुवर्णभूमि' नाम से एक प्रसिद्ध स्थल था, जो कि मानसरोवर के निकट था। आधुनिक विद्वानों की खोज के अनुसार वर्तमान बाड़ाहाट (उत्तरकाशी) ही प्राचीन ब्रह्मपुर नगर था। प्रसिद्ध पुरातत्त्व विद्वान् कनिंघम ने इसी को 'वैरापटटन' कहा है। यह सम्पूर्ण भू-भाग (ब्रह्मपुर) भारत-तिब्बत का दुसंध है, जो सम्राट् हर्षवर्धन के साम्राज्य (605-647 ई०) का एक अंग था।

उत्तरी हिमालय पर अवस्थित ब्रह्मपुर नामक एक प्राचीन राज्य का 'मार्कण्डेय पुराण' में भी विस्तार से वर्णन हुआ है। उसके एक ओर 'वनराष्ट्र' था और दूसरी ओर 'एकपद'। ये दोनों भू-खण्ड सुवर्णभूमि के दो प्रदेश थे।

सम्भव है कि गढ़वाल तथा कुमायूं के उत्तर में अवस्थित सुवर्णभूमि या स्वेन्-चाङ, जो कि इस समय मानसरोवर (ङ्-री-कोर-सुम) प्रदेश के नाम से अभिहित है, प्राचीन काल में भारत का ही अंग रहा होगा। 'महाभारत' में लिखा है कि इस प्रदेश में अच्छी जाति का पिप्पीलिक (चीटी) सुवर्ण निकलता था। आधुनिक ऐतिहासिक खोजों से भी यह सिद्ध होता है कि यह प्रदेश लगभग 7वीं शती ई० तक भारत का अविभाज्य अंग था।

सम्राट् हर्षवर्धन के समय तिब्बत पर राजा स्रोङ्-वत्सन्-स्गम-पो (617-698 ई०) नामक राजा का शासन था। उसने सम्राट् हर्षवर्धन के आदर्शों पर दिग्विजय का निश्चय किया; किन्तु उसकी यह दिग्विजय नेपाल और चीन में कुछ भू-भागों को स्वायत्त करके, विशेष रूप से इन दोनों देशों के तत्कालीन राजाओं की कन्याओं का वरण करने तक, ही सीमित रह गयी थी।

तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार और बौद्ध-ग्रन्थों के अनुवाद तथा रूपान्तर का कार्य लगभग 13वीं शती ई० तक निरन्तर होता रहा। इस बीच तिब्बत के साथ भारत के सम्बन्धों की परम्परा पूर्ववत् बनी रही। विदेशी आक्रमणों, तथा राजनीतिक अस्थिरता के कारण भारत में बौद्धधर्म और बौद्ध संस्कृति का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया। फलस्वरूप तिब्बत और अन्य बौद्ध देशों से भारत के सम्बन्धों में भी शिथिलता आती गयी। इस समय तक तिब्बत एक स्वतन्त्र देश के रूप में अपना अस्तित्व स्थिर कर चुका था। किन्तु हिमालय के दुर्गम शैलशृंगों को लांघकर आधुनिक विकसित सभ्यता-संस्कृति तिब्बत तक पहुँचने में समर्थ न हो सकी थी। इसीलिए कई शतियों तक तिब्बत विश्व के नये विकास कार्यों से अछूता ही रहा।

भारत-तिब्बत के उत्तरकालीन सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि अन्त तक दोनों देशों में व्यापारिक तथा धार्मिक सम्बन्ध बने रहे। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि तिब्बत के अपने पास-पड़ोस के सभी देशों से समय-समय पर अनेक समस्याओं को लेकर संघर्ष होते रहे; किन्तु भारत के साथ उसके मैत्री सम्बन्ध बने रहे। जब तिब्बत पर कोई दैवी या मानवी संकट आया, तो भारत पहला पड़ोसी देश था, जिसने उसकी सहायता की और उसकी उन्नति में पूर्ण योगदान किया।

भारत से कला का सन्देश पहले नेपाल और तत्पश्चात् तिब्बत पहुँचा। तिब्बत में बौद्धधर्म की विरासत के साथ ही बौद्धकला की महान् थाती का भी प्रवेश हुआ। इस कला-थाती का ले जाने वाली नेपाली राजकन्या ब्रि-चुन् थी, जो नेपाल

के राजा अंशुवर्मन् (655-665 ई०) की पुत्री थी और जिसका विवाह तिब्बत के राजा स्रोङ्-वत्सन्-स्गम-पो (617-698 ई०) के साथ हुआ था। नेपाल की यह राजकन्या सौगात के रूप में अपने साथ अक्षोभ्य मैत्रेय और शाक्यमुनि की जो मूर्तियाँ ले गयी थी, वे तिब्बत में बौद्धधर्म तथा बौद्धकला की स्थापना तथा उन्नति का कारण बनीं। इस धर्मप्राण रानी के आग्रह पर राजा ने भारत से न केवल विद्वानों एवं भिक्षुओं को, अपितु स्थपतियों तथा चित्रकारों को भी तिब्बत बुलाकर कला को उन्नत किया। इन भारतीय-नेपाली स्थपतियों एवं चित्रकारों ने तिब्बत मे विहारो, स्तूपों, मन्दिरों, मूर्तियों, चित्रपटों और भित्तिचित्रों का निर्माण करके तिब्बत की धरती पर कला को पल्लवित किया।

राजा स्रोङ्-वत्सन्-स्गम-पो के पाँचवें उत्तराधिकारी राजा खी-स्रोङ्-ल्दे-वत्सन् (802-845 ई०) ने ल्हासा के निकट व-समयास नामक बौद्ध विहार की स्थापना की। इसको उदन्तपुरी महाविहार के अनुकरण पर भारतीय स्थपतियों एवं कलाकारों के सहयोग से बनाया गया था। यह विहार तिब्बत मे न केवल स्थापत्य एवं शिल्प, अपितु चित्रकला की ृष्टि से कभी अपने ढंग का प्रथम प्रयास था। उसकी भीतरी दीवारो पर अंकित चित्रों के प्रेरणा-स्रोत अजन्ता के भित्तिचित्र थे। चित्रकारों में एक का नाम वैरोचनरक्षित था, जो आचार्य शान्तरक्षित का शिष्य था। इस विहार के वर्तमान भित्तिचित्र बहुत बाद के हैं।

तदनन्तर राजा मु-ने-वत्सन् (845-846 ई०) और खी-ल्दे-वत्सन्-पो (847-877 ई०) के समय तिब्बत मे धार्मिक सुधारों के अतिरिक्त कलाकारों तथा साहित्यकारो का भी यथोचित सम्मान हुआ। इसी समय तिब्बत मे बंगाल की पाल शैली के अनुकरण पर पटचित्रो का निर्माण हुआ। तिब्बत के ताङ्-का के मन्दिर में लटकने वाले पटचित्र इसी समय बनाये गये। उनकी प्रेरणा से तिब्बत के अन्य कलाकारों ने भी पाल शैली के रचना-विधान के आधार पर चित्र बनाये। पाल शैली के अनुकरण पर बने कुछ धार्मिक चित्र बड़े सुन्दर हैं। राजा रल्-प-चन् (877-901 ई०) के शासनकाल में तिब्बत के बहुसंख्यक विहारों का निर्माण हुआ, उनकी भित्तियों को नाना प्रकार के चित्रों से अलंकृत किया गया। इस युग में सर्व प्रथम ग्रन्थों के दृष्टान्त-चित्र बने। चित्रकला के अतिरिक्त स्थापत्य और मूर्तिकला के निर्माण में भी इस युग का उल्लेखनीय योगदान रहा।

लगभग 11वीं शती ई० में तिब्बत में एक शासक का उदय हुआ, जिसने स्वयं भिक्षुमय जीवन वरण करके तिब्बत की धरती पर साहित्य, कला और धर्म की त्रिवेणी बहाकर उसका आध्यात्मिक तथा भौतिक विकास किया। तिब्बत के इस त्यागी संत का नाम ज्ञानप्रभ (ह-खोर-ल्दे) था। इसके काल में भारत से अनेक कलाकार और कला-वस्तुएँ तिब्बत गयीं। स-स्क्य मठ में सुरक्षित अनेक पीतल की मूर्तियां भारतीय हैं। भारतीय कला ने तिब्बत के स्तूपों, विहारों तथा मठों के स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प को व्यापक रूप से प्रभावित किया। वहाँ के विहारों में निर्मित पटचित्रों पर अजन्ता शैली का निश्चित प्रभाव है।

तिब्बत में लगभग 16वीं शती ई० तक निरन्तर कला का विकास होता रहा। इन परवर्ती कला-कृतियों पर चीनी प्रभाव है। इस समय ल्हासा के जो-खङ् मठ की भित्तियों पर और ल्ह-लुङ्-ल्ह-खम् के महल पर बने चित्र इस प्रभाव के उदाहरण हैं।

तिब्बत के बहुसंख्यक चित्र तथा मूर्तियाँ भगवान् बुद्ध, पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, बोधिसत्त्वों तथा स्थविरों से सम्बन्धित हैं। तिब्बती चित्रकला मे धार्मिक पटचित्रों और व्यक्तिचित्रों का विशेष स्थान है। ये पटचित्र देवी-देवताओं, धर्मगुरुओं, तन्त्र-मन्त्रों और प्राकृतिक दृश्यों से सम्बद्ध हैं। उनमें ध्वज-पटचित्रों (बैनर पेंटिंग्स) की अधिकता है। व्यक्ति-चित्रों में आचार्यों, भिक्षुओं तथा राजाओं के नाम प्रमुख हैं। शान्तरक्षित, कमलशील, पद्मसम्भव, ज्ञानप्रभ और दीपंकर श्रीज्ञान के चित्र अधिक लोकप्रिय रहे हैं। आचार्य पद्मसम्भव ने तिब्बती जन-जीवन और कलाकारों में इतनी अधिक ख्याति प्राप्त की कि आज भी कोई मठ तथा मन्दिर ऐसा नहीं है, जहाँ उनका चित्र न टँगा हो। उनका आधार मुख्यत: अजन्ता और बाघ के गुफाचित्र हैं और विषय भी तदनुरूप जातक कथाएँ है। तिब्बत में इस प्रकार के चित्र तथा मूर्तियाँ 7वी से 17वी शती ई० तक निरन्तर बनती रही। पाँचवें दलाई लामा सुमतिसागर के समय (1617-1682 ई०) में तिब्बती कला का अच्छा विकास हुआ। यही स्थिति बाद के लामा धर्मगुरुओं के शासनकाल में भी बनी रही। 19वी शती में कलाकारों के व्यापारिक दृष्टिकोण के कारण तिब्बती कला का ह्रास हुआ। भारत की ही भाँति तिब्बती कला के केन्द्र मठ, मन्दिर तथा विहार रहे हैं।

तिब्बत में उपलब्ध और तंजूर ग्रन्थमाला में प्रकाशित गान्धारराज नग्नजित् के 'चित्रलक्षण' का तिब्बती चित्रकला पर व्यापक प्रभाव रहा। तिब्बत मे 9वीं से 17वीं शती ई० तक जितने चित्र, पटचित्र और भित्तिचित्र बने, उन पर इस

ग्रन्थ के रचना-विधान का प्रभाव है। भारतीय-तिब्बती कला के समन्वय का आधार भी यही लक्षण-ग्रन्थ रहा है।

चीन

चीन मे बौद्धधर्म का प्रवेश हानवंशीय सम्राट् वू-ती के शासनकाल (148-80 ई० पूर्व) मे ही हो चुका था, जिसका प्रमाण 'वाई राजवंश में बौद्धधर्म और ताम्रोवाद का अभिलेख' है। चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थायी एव अटूट परम्परा 64 ई० से आरम्भ होती है, जिसका साक्षी सुंग युग (1127-1280 ई०) में वर्तमान पुरोहित चिह-यांग द्वारा लिखित पुस्तक 'बुद्ध और महास्थविरो की वंशावली' के अभिलेख हैं। इस पुस्तक के विवरणो से विदित होता है कि भारतीय बौद्ध भिक्षु काश्यप मातंग (किया-एह-मोतान) और धर्मरत्न के चीन प्रवेश तथा वहाँ 'बयालीस परिच्छेदीय सूत्र' आदि ग्रन्थो के भाषान्तर होने के उपरान्त चीन-भारत के सांस्कृतिक आदान-प्रदान की परम्परा का प्रवर्तन हुआ।

चीन में बौद्धधर्म के प्रवेश का प्रामाणिक उल्लेख यू-हु-आन द्वारा लिखित 'वाई-लिम्राम्रो' (239-265 ई०) नामक इतिहास-ग्रन्थ से प्राप्त होता है। उसमें लिखा है कि दूसरी शती ई० में सम्राट् आई-ती ने राजकुमार हुएह-ची के दरबार मे अपने राजदूत चिंग-चिंग को भेजा था। राजकुमार ने सम्राट् का अनुरोध स्वीकारकर अपने आश्रित विद्वान् ई-त्सुन को आज्ञा दी कि वह चिंग-चिंग को 'बुद्धसूत्र' नामक पवित्र बौद्ध-ग्रन्थ को कण्ठस्थ करा दे (चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० 20)।

दूसरी शती ई० के लगभग पार्थिया (मध्य एशिया) के आन-शिह-काओ (लोकोत्तम) नामक एक राजकुमार ने राज्य का त्यागकर संन्यास धारण किया और चीन जाकर लो-यांग में रहने लगा। उसका चीन प्रवेश हानवंशीय सम्राट् हुआग-त्सी के शासन (148 ई०) मे हुआ और लो-यांग मे वह लगभग 171 ई० (लिंग-ती के शासन काल) तेईस वर्षो तक रहा। प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु ताओ-आन का कथन है कि आन-शिह-काओ ने चीन में रहकर दस लाख शब्दो से युक्त तीस ग्रन्थो का अनुवाद किया।

विद्वानो का अभिमत है कि तीसरी शती ई० के अन्त तक चीन में 186 बौद्ध मठ निर्मित हो चुके थे और धर्म, संस्कृति तथा साहित्य के निर्माण में लगभग 3700 भिक्षु कार्यरत थे।

भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार और विशेष रूप से बौद्ध-ज्ञान की विरासत को मध्य एशिया तथा चीन में पहुँचाने और उसका अभूतपूर्व विस्तार करनेवाले भिक्षुओं में कुमारजीव (344-413 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। कुमारजीव भारत और मध्य एशिया के सांस्कृतिक सम्बन्धों का सेतु था। कुमारजीव का पिता कुमारायन भारतीय ही था। उसकी माता जीवा कुच की राजकुमारी थी। उसने ब्राह्मण दर्शन का अध्ययन बन्धुदत्त से काश्मीर में और बौद्ध दर्शन का अध्ययन गोक्कुक में किया था। 401 ई० में कुच पर जब चीन का आक्रमण हुआ तो कुमारजीव को बन्दी बनाकर चीन ले जाया गया। किन्तु चीन के त्सिनवंशीय बौद्धानुरागी सम्राट् को जब उसकी विद्वत्ता का पता चला तो उसने कुमारजीव को मुक्त करके अपना गुरु बना लिया। उसने चीन में 800 भिक्षुओं की एक अनुवाद समिति का गठन करके उसके द्वारा लगभग 300 जिल्दों से अधिक ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद कराया। स्वयं भी उसने चीनी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया और अश्वघोष, नागार्जुन, असंग तथा वसुबन्धु आदि बौद्ध विद्वानों की कृतियो का चीनी भाषा मे अनुवाद करके चीनी बौद्ध-साहित्य का आशातीत विकास-विस्तार किया। 401 से 413 ई० तक के अल्प काल में ही उसने लगभग 106 संस्कृत ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उसने 401-410 ई० के बीच नागार्जुन और वसुबन्धु के जीवन चरित्र भी लिखे।

कुमारजीव के अपूर्व बौद्धिक एवं धार्मिक कार्य के कारण न केवल चीन, अपितु समस्त मध्य एशिया के विद्वत्समाज मे उसकी ख्याति फैल गयी। उसकी विद्या-बुद्धि से प्रभावित होकर खोतान, काशगर, यारकन्द और तुर्किस्तान से बहुसंख्यक व्यक्ति उसके दर्शनो के लिए आये। चीन में उसने सत्यसिद्धि तथा निर्वाण नामक दो नये बौद्ध-सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। इनके प्रचार में उसने लगभग 3000 शिष्यो को जुटाया। चीन के अतिरिक्त अन्य बाहरी देशों मे भी कुमारजीव के अनेक प्रतिभाशाली शिष्यों ने बौद्ध-ज्ञान की ज्योति को बृहत्तर जन-जीवन में प्रसारित किया।

ईसा की प्रथम शती से तेरहवी शती तक अनेक भारतीय बौद्ध भिक्षु चीन जाते रहे, जहाँ उन्होंने अनेक ज्ञान-केन्द्र तथा बौद्ध मठ स्थापितकर कई सौ विद्वान् भिक्षुओं को तैयार किया। सैकड़ों ग्रन्थो का अनुवाद किया गया। इस शृंखला में धर्मरक्ष (284 ई०) और बोधिभद्र (398 ई०) का नाम उल्लेखनीय है। धर्मरक्ष (चु-फा-लान) ने अश्वघोष के 'बुद्धचरित' का अनुवाद करके चीनी-साहित्य को अतिशय रूप से प्रभावित किया। इन भिक्षुओं के प्रेरणायुक्त

कार्यों के फलस्वरूप अनेक जिज्ञासु चीनी बौद्ध भिक्षु समय-समय पर भारत आये।

भारत के अतिरिक्त बाहरी बौद्ध देशों से भी भारतीय बौद्ध भिक्षु चीन गये। इस प्रकार के विद्वान् भिक्षुओं में संघवर्मन् और गुणवर्मन् का नाम उल्लेखनीय है। ये दोनों भिक्षु जावा होते हुए 5वीं शती ई० के प्रारम्भ में चीन गये। गुणवर्मन् के प्रवचनों से प्रभावित होकर चीन सम्राट् ने नानकिंग में जेतवन विहार का निर्माण कराया। इस प्रकार के अन्य धर्मप्रचारक भिक्षुओं में काश्मीर के बुद्धजीव (423 ई०), मध्य भारत के धर्मक्षेत्र (414 ई०) और मध्य भारत के ही गुणभद्र का नाम उल्लेखनीय है। वह भी 435 ई० में लंका से चीन गया था और उसने वहाँ 'संयुक्तागम' का अनुवाद किया। 470 ई० में बोधिधर्म चीन गया और उसने अपने उपदेशों से तत्कालीन चीन सम्राट् वू कोङ्लना को प्रभावित किया कि वह उसका शिष्य बन गया। सन् 488 ई० संघभद्र ने प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ 'सामन्तपासादिका' का अनुवाद किया।

चीन जानेवाले भारतीय बौद्ध भिक्षुओं में परमार्थ (499-560 ई०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह उज्जयिनी निवासी था और 546 ई० में चीन गया। वहाँ नानकिंग के जेतवन विहार में रहकर उसने लगभग 500 ग्रन्थों का अनुवाद करके चीनी-साहित्य में अनेक अछूते विषयों की कृतियों का समावेश किया। उसने आचार्य वसुबन्धु तथा दिङ्नाग के प्रायः सभी ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उसने बौद्धधर्म तथा तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थों का भी चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस प्रकार के ग्रन्थों में शंकराचार्य, ईश्वरकृष्ण और माठर प्रभृति वेदान्तियों और सांख्यकारों के ग्रन्थों का नाम उल्लेखनीय है। परमार्थ कृत ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' का चीनी अनुवाद (557-569 ई०) 'हिरण्यसप्तति' अथवा 'सुवर्णसप्तति' के नाम से चीन में प्रख्यात हुआ। उसने वसुबन्धु की भी जीवनी लिखी, जो कि सम्प्रति उपलब्ध है और जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् तकाकुसु ने किया है।

लगभग छठी शती ई० तक चीन जानेवाले बौद्ध भिक्षुओं में काश्मीर के जिनगुप्त, बंगाल तथा असम के ज्ञानभद्र, यशोगुप्त और जलालाबाद के बुद्धिभद्र, कान्यकुब्ज के धर्मगुप्त और गौतम धर्मज्ञान के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने चीन में रहकर दर्जनों ग्रन्थों का अनुवादकर चीनी बौद्ध-साहित्य

को समृद्ध किया। इन भिक्षुओं के प्रयत्नों से लिआंग राजवंश (505-557 ई०) तक चीन में बौद्धधर्म का विकास किस सीमा तक हो चुका था, इसका अनुमान डॉक्टर चाउ सिआंग कुआंग (चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० 111) द्वारा विभिन्न अभिलेखों तथा ऐतिहासिक सामग्री पर आधारित निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है :

राजवंश	मन्दिर संख्या	भिक्षु भिक्षुणियों की संख्या
पूर्वी त्सिंग	1756	24000
लिउ सुंग	1913	36000
ची	2015	32500
लिआंग	1846	82700

चीनी बौद्धधर्म के इतिहास में तांगवंश (618-907 ई०) काल को 'स्वर्णयुग' कहा गया है। इस युग मे धार्मिक, वैचारिक और साहित्यिक उद्देश्यों को लेकर चीन जानेवाले बौद्ध भिक्षुओं में बोधिरुचि या धर्मरुचि तथा नालन्दा के स्नातक वज्रबोधि का नाम उल्लेखनीय है। बोधिरुचि दक्षिण भारत में एक ब्राह्मण परिवार से पैदा हुआ था। अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानो के उसकी गणना थी। इस 156 वर्षीय दीर्घजीवी भिक्षु ने 693-713 ई० के भीतर लगभग 56 संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उसने चीन में दशभूमिक (ति-लुन-त्सुग) सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी।

बोधिरुचि की अध्यक्षता में चीन के तत्कालीन सम्राट् ने भारतीय तथा चीनी विद्वानो की एक समिति का गठनकर उसके द्वारा महायान बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में प्रामाणिक अनुवाद करवाया। वज्रबोधि ने चीन में वज्रयान, की प्रतिष्ठा करके एक नये धर्म-सम्प्रदाय को प्रसारित किया। इस प्रकार के अन्य भिक्षुओं एवं विद्वानों में प्रभाकर मित्र, अतिगुप्त, नादि, बुद्धपाल) दिवाकर, देवप्रज्ञ, शुभकरणसिंह, ह्वेन-त्सांग, ई-त्सिंग और शिक्षानन्द का नाम उल्लेखनीय है।

एशियायी सांस्कृतिक, वैचारिक एवं धार्मिक एकता की स्थापना में जो अविस्मरणीय ऐतिहासिक प्रयत्न हुए उनमें ह्वेन-त्सांग का योगदान चिरस्मरणीय है। इस विद्वान् भिक्षु के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से यथास्थान लिखा जा चुका है। उसके शिष्य महायान प्रदीप का नाम भी उल्लेखनीय है। ह्वेन-त्सांग के प्रमुख चीनी शिष्यो में उसकी गणना की गयी है। प्रदीप ने भी द्वारावती, सिंहल और दक्षिण भारत का भ्रमण किया। उसने कुछ समय ताम्रलिप्ति के

मठ में अध्ययन किया और साथ ही उपदेश तथा व्याख्यान भी दिये। बाद में उसने नालन्दा, महाबोधि, वैशाली और कुशीनगर आदि प्रसिद्ध ज्ञान एवं धर्म तीर्थों की यात्रा की। इस भिक्षु ने अपनी मौन एवं मौलिक सेवाओं द्वारा मानवीय एकता की स्थापना तथा ज्ञान और धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए आजीवन कार्य करके फिर कुशीनगर मे प्राण त्याग किया।

बंगाल के भिक्षु कुमारघोष ने 8वी शती मे जावा तथा सुमात्रा होते हुए चीन में प्रवेश किया और वहाँ बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान किया।

इन विद्वान् भिक्षुओ ने चीन में रहकर सैकड़ों बौद्ध-ग्रन्थों का प्रणयन, सम्पादन तथा अनुवाद किया। उक्त तांगवंश के शासनकाल मे प्रतिष्ठित त्रिशास्त्र सम्प्रदाय, धर्मलक्षण सम्प्रदाय, अवतसक सम्प्रदाय और ध्यान सम्प्रदाय आदि विभिन्न धार्मिक पन्थ चीन मे बौद्धधर्म तथा साहित्य की चतुर्मुखी उन्नति के परिचायक हैं।

भारत-चीन सम्बन्धो के फलस्वरूप भारत से सीधे या अन्य देशों की यात्रा करते हुए जो बहुसंख्यक भिक्षु चीन गये, सम्प्रति उन सबका ऐतिहासिक वृत्त सम्भव नही है। इसका एक कारण यह भी है कि बाद मे अनेक भारतीय ज्ञान-प्रचारको ने चीनी नाम धारण कर लिये थे और इसलिए उनको चीनी ही मान लिया गया।

चीन में बौद्धधर्म की उक्त परम्परा का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि लगभग बारह-तेरह सौ वर्षों के सुदीर्घ समय मे दोनो देशो के विद्वान् भिक्षुओ का निरन्तर गमनागमन होता रहा, जिसके फलस्वरूप दोनो देशो मे सांस्कृतिक सम्बन्धो की स्थिरता बनी रही। 11वी शती के आरम्भ मे जब गजनी के सुलतान महमूद ने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ के धर्म, साहित्य, सस्कृति के केन्द्र मन्दिरो, मठो, कला-सस्थानों और ग्रन्थालयो को ध्वस्त किया, तो भारत से बहुत बड़ी संख्या में बुद्धिजीवी, कलाकार तथा भिक्षु चीन की ओर चले गये। जितना सम्भव हो सका, बहुमूल्य कला-कृतियाँ और पोथियाँ भी वे साथ लेते गये। इस लूट-मार से भारत की अपार क्षति हुई। इस गड़बड़ी के कारण भिक्षुओ की चीन-यात्रा की परम्परा समाप्त-सी हो गयी।

चीनी बौद्धधर्म के इतिहास पर दृष्टि डालन से ज्ञात होता है कि 13वीं तथा 14वी शती से चीन मे बौद्धधर्म के अनुयायियो की सख्या घटने लगी थी।

इन शतियों में वहाँ का एक नवोदित बुद्धिजीवी वर्ग बौद्धधर्म के प्रति विदेशीपन की हीनता का भाव अनुभव करने लगा था, जिसके फलस्वरूप भिक्षुओं के गमनागमन की गति मन्द पड़ने लगी। फिर भी 'चीनी बौद्धधर्म का इतिहास' और 'चीनी बौद्ध विश्वकोश' आदि अनेक ग्रन्थ इस बात के स्थायी एवं अमिट प्रमाण हैं कि अतीत की अनेक शतियों तक दोनों देशों का जन-जीवन एक ही महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहा और निःसन्देह अपने उद्देश्य में वह सफल भी रहा।

चीन के वर्तमान प्रजातन्त्र राज्य मे, जिसकी प्रतिष्ठा 10 अक्टूबर, 1911 ई० में हुई, बौद्धधर्म तथा साहित्य की उन्नति के लिए अनेक प्रकार के साधन जुटाये गये। प्रजातन्त्र के चौथे वर्ष चीन सरकार के गृह विभाग ने एक विशेष अधिनियम बनाकर बौद्धमठों का जीर्णोद्धार कराया। इस कार्य मे भिक्षु ताई-हु और ओउ-यांग-चिंग-बू का नाम उल्लेखनीय है। इन दोनो प्रमुख भिक्षुओं के प्रयत्न से आधुनिक चीन में अनेक साहित्यिक संस्थाएँ, विद्यापीठ और परिषदें स्थापित हुईं। उन्होने स्वयमेव कई ग्रन्थो का निर्माण, अनुवाद, सम्पादन और पाठशोध करके उन्हे प्रकाशित किया और इस प्रकार उन्होने एक ओर तो चीनी बौद्ध-साहित्य एवं बौद्धधर्म की अभिवृद्धि मे योगदान किया और दूसरी ओर दोनो देशो के विगत दो सहस्र वर्षों से चले आ रहे पारस्परिक सम्बन्धो की परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया।

नेपाल

एशिया के जिन उत्तर-पूर्व देशों के साथ भारत के सहस्राब्दियों पूर्व से अब तक घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं, उनमे नेपाल मुख्य है। इन सम्बन्धो के आधार दोनों देशों के पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक सामग्री, धार्मिक एकता तथा परम्परागत अनुश्रुतियाँ हैं। नेपाल वंशावली मे भारत-नेपाल के पौराणिक सम्बन्धो की प्रशस्त चर्चा हुई है। उससे ज्ञात होता है कि त्रेता युग मे नेपाल पर राजा सुधन्वा का शासन था। कहा जाता है कि वह सीता के स्वयंवर मे सम्मिलित होने के लिए जनकपुरी भी आया था। इसी वंशावली से ज्ञात होता है कि द्वापर युग में काशी से काश्यप बुद्ध (कंक मुनि) गुह्येश्वरी देवी के दर्शनों के लिए नेपाल गये थे। उनकी प्रेरणा से ही बंगाल (गौड़ देश) के राजा प्रचण्डदेव नेपाल गये थे, जो बाद मे वहाँ भिक्षु बन गये और शान्तिकर नाम से कहे जाने लगे। नेपाल के प्रसिद्ध स्वयम्भू मन्दिर का निर्माण उन्होंने ही कराया था।

पौराणिक स्रोतों से विदित होता है कि श्रीकृष्ण बाणासुर का पीछा करते हुए नेपाल गये थे। काठमाण्डू से आठ मील पश्चिम में विध्वस्त पानकोट नगर, जिसे 'भागवत' आदि पुराणों में शोणितपुर कहा गया है, बाणासुर की राजधानी थी। बाणासुर की सुन्दरी कन्या उषा से श्रीकृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध का विवाह हुआ था। महाभारत के वन पर्व से विदित होता है कि द्रौपदी के लिए कमल पुष्प की खोज करते हुए भीमसेन हिमालय की अनेक उपत्यकाओं का भ्रमण करते हुए नेपाल तक पहुँचे थे। काठमाण्डू से साठ मील पूर्व दोलखा नामक स्थान में स्थापित भीमसेन मन्दिर, भीमसेन की उसी नेपाल-यात्रा का स्मारक है। नेपाल उपत्यका में भीमसेन के अनेक मन्दिर आज भी सुरक्षित हैं। आज भी नेपाली जन-जीवन मे भीमसेन की पूजा-प्रतिष्ठा प्रचलित है। इसी दोलखा की एक पहाडी को पाण्डवों का द्वैतवन बताया जाता है। भारत-युद्ध के समय नेपाल के किसी किरात राजा ने पाण्डवो के साथ लड़ाई मे भाग लिया था। नेपाल की उत्तरी पर्वतमालाओं का 'महाभारत' नामकरण इन्ही पुरातन सम्बन्धों का स्मारक है। अपनी दिग्विजय-यात्रा मे अर्जुन ने उत्तर मे जिस महाद्वीप को विजित किया था, वह गढवाल-नेपाल-शासित सयुक्त राज्य था।

इन दोनो देशो के अटूट सम्बन्धो का आधार धर्म रहा है। उनकी पुराण-कथाओ और लोक-श्रुतियो से ज्ञात होता है कि बुद्ध अपने शिष्यो के साथ नेपाल गये थे। उस समय नेपाल पर सातवें किरातराजा जितेदस्ती (510 ई० पूर्व) का राज्य था। भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह बौद्धधर्म का अनुयायी हो गया था। काठमाण्डू से बीस मील पूर्व स्वयम्भू पर्वत के पश्चिम मे नमुरा नामक स्थान में एक प्राचीन स्तूप है, जिसमे बुद्ध टिके थे। उसे तथागत की नेपाल-यात्रा का स्मारक बताया जाता है।

नेपाल से भारत के ऐतिहासिक सम्बन्धो की प्रामाणिक परम्परा आज से लगभग तेईस सौ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होती है। सम्राट् अशोक इस परम्परा के कीर्तिस्तम्भ थे। सम्राट् अशोक द्वारा बुद्ध परिनिर्वाण के 266 वर्ष बाद (300 ई० पूर्व) पाटलिपुत्र में आयोजित तीसरी बौद्ध-संगति में हिमालय के पाँच प्रदेशो मे भेजे जानेवाले धर्मप्रचारक भिक्षुओ का एक दल नेपाल भी गया था। अशोक स्वयं भी वहाँ गये थे। तथागत की जन्मभूमि लुम्बिनी (रुम्मिनदेई) दोनो देशों की सीमान्त भूमि है। वहाँ पर सम्राट् अशोक ने राज्याभिषेक के 21वें वर्ष (249 ई० पूर्व) में एक स्तूप तथा एक लेखयुक्त स्तम्भ को स्थापित किया था। नेपाल में अशोक ने एक स्थिर शासन की व्यवस्था की और वहाँ देवपाल

को शासक नियुक्त किया । देवपाल से अशोक ने अपनी पुत्री चारुमती का विवाह किया । दोनों देशों के सम्बन्धों की चिरन्तनता के लिए नेपाल मे उन्होंने 500 स्तूपों का निर्माण कराया, जिनमें कुछ आज भी वर्तमान हैं । वर्तमान ललितपुर प्राचीन अशोकपट्टन विगत कई सौ वर्षों तक नेपाल की राजधानी के रूप में विश्रुत रहा । काठमाण्डू में आज भी ऐसे बहुसंख्यक परिवार हैं, जो अपने को चारुमती का वंशज बताते हैं ।

अशोक द्वारा प्रचारित बौद्धधर्म के प्रभाव से भारत की ही भाँति नेपाल में भी वज्जि, लिच्छवी, मल्ल, कोलिय तथा शाक्य गणतन्त्रों की स्थापना हुई और भारत से उनका सुदूर भविष्य तक अटूट सम्बन्ध बना रहा ।

अशोक के बाद दक्षिण के ब्राह्मणधर्मी सातवाहनों और उत्तर के बौद्धधर्मी कुषाणो का संयुक्त प्रभाव नेपाल पर पड़ा । सातवाहन कालीन हिन्दू संस्कृति को नेपाल मे व्यापक रूप से अपनाया गया । सातवाहन काल मे दक्षिण के अनेक विद्वान् धार्मिक एकता के कारण नेपाल तक गये । नेपाल के ग्रन्थ-भण्डारो मे सुरक्षित तमिल और कन्नड़ के बहुसंख्यक हस्तलेख उसके प्रमाण हैं । नेपाल की नेवारी भाषा दक्षिण भारत के नैयरो की देन है । नेपाल मे पैगोडो के निर्माण और उनके शिल्प में दक्षिण भारत के मन्दिर-स्थापत्य तथा मूर्ति-शिल्प का प्रभाव है ।

गुप्त सम्राटों के नेपाल से दीर्घकालीन सम्बन्ध रहे हैं । ऐतिहासिक तथा पुरातत्त्व-सामग्री से विदित होता है कि नेपाल के शासको और शासनतन्त्र पर गुप्त सम्राटों का एकाधिपत्य रहा है । नेपाल के लिच्छवी राजाओं ने गुप्त सम्राटों को कर देकर उनका आधिपत्य स्वीकार किया । इसका प्रमाण समुद्रगुप्त (335-375 ई०) की प्रयाग प्रशस्ति में सुरक्षित है (समतट-उवाक-कामरूप-नेपाल······ सर्व्व करदानाज्ञाकरण-प्राणामागमन······) ।

चन्द्रगुप्त प्रथम (319-335 ई०) ने नेपाल की लिच्छवीवंश की राजकुमारी कुमारी देवी से सम्बन्ध स्थापित करके सम्राट् अशोक द्वारा स्थापित वैवाहिक सम्बन्धो की परम्परा को उजागर किया । नेपाल मे उपलब्ध अभिलेखों आलेखों, स्मारकों तथा हस्तलेखों पर अंकित गुप्त सम्बत् दोनों देशों के सम्बन्धों की पुष्टि करते हैं । इसी प्रकार ब्राह्मी लिपि मे अंकित संस्कृत अभिलेख और उन पर अंकित भारतीय विक्रमी सम्वत्, मास, तिथि आदि का प्रयोग लिच्छवी शासकों के भारतप्रेम के द्योतक हैं ।

गुप्तो के साहित्यक एवं धार्मिक जागरण का प्रभाव नेपाल पर भी परिलक्षित हुआ। भारतीय बौद्धधर्म तथा साहित्य की थाती का नया सन्देश लेकर आचार्य वसुबन्धु (400 ई०) नेपाल गये। उनके सत्संग से नेपाल के विद्वानों मे नयी विचारधारा के सृजन की प्रेरणा मिली। आज नेपाल के ग्रन्थागारों में बसुवन्धु की मूल एवं अनूदित कृतियो की उपलब्धि का यही कारण है।

गुप्तों के बाद वृहद् भारत के शासन की बागडोर सम्राट् हर्षवर्धन (605-647 ई०) के हाथो में आयी। उनके समय नेपाल पर यशस्वी राजा अशुवर्मन् (635-645 ई०) का शासन था। हर्ष का प्रभुत्व नेपाल तक प्रसारित हुआ और उसके कारण दोनो देशों के सम्बन्ध पुष्ट हुए। इस छठी तथा सातवी शती के सर्वतोमुखी स्वस्थ एवं शान्तिमय वातावरण में दोनों देशों से विद्वानो तथा भिक्षुओ का गमनागमन होता रहा। अंशुवर्मन् के बाद नेपाल पर विष्णुगुप्त का शासन हुआ। वह लिच्छवीवंश का था। लिच्छवी शासक स्वय विद्वान् और विद्वानो के परम आश्रयदाता थे। उनके समय में नेपाल में बौद्ध और ब्राह्मण दोनो धर्म उन्नति की चरम सीमा पर थे। 7वी, 8वी शती के लिच्छवी राजा नरेन्द्रदेव के पुत्र राजा शिवदेव ने मगध सम्राट् आदित्यसेन की पौत्री वत्सादेवी तथा उसके पुत्र राजा जयदेव गुणकाम ने कलिंग के राजा हर्षदेव की पुत्री राज्यमती से विवाह करके दोनो देशो के सम्बन्धो को दृढ किया। राजा जयदेव गुणकाम बौद्ध धर्मानुयायी था और उसके राज्यकाल मे नेपाल सर्वतोभावेन उन्नति पर पहुंचा।

8वी शती मे नेपाल के सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक जीवन पर महात्मा मत्स्येन्द्रनाथ और महात्मा गोरखनाथ का अतिशय प्रभाव रहा। ये दोनों सन्त नेपाल गये थे। मत्स्येन्द्रनाथ को नेपाल मे भगवान् अवलोकितेश्वर के नाम से पूजा-प्रतिष्ठा होती है। आज भी नेपाल मे मत्स्येन्द्रनाथ की यात्रा एक महोत्सव के रूप मे मनायी जाती है। गोरखनाथ के नाम से एक जिला तथा पर्वत और गोरखनाथ का मन्दिर आज भी उनकी पुनीत स्मृति के परिचायक हैं। नेपाल को बहादुर गोरखा जाति का सम्बन्ध गोरखनाथ से बताया जाता है। इन दोनो महात्माओ को आज भी वहाँ देव-तुल्य पूजा जाता है।

9वी शती ई० मे आचार्य शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील तथा पद्मसम्भव ने दोनो देशों के परम्परागत सम्बन्धो को नूतन रूप दिया। आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (982-1042 ई०) ने भी नेपाल में बौद्धधर्म तथा बौद्ध-साहित्य का प्रचार-प्रसार किया। 12वीं शती ई० में मुगलों के अत्याचारों से

आतंकित होकर अनेक भारतीयों ने नेपाल तथा तिब्बत में शरण ली। उसी समय विक्रमशिला विश्वविद्यालय के प्रधान शाक्य श्रीभद्र आठ अन्य विद्वानों के साथ नेपाल गये थे।

13वीं से 18वीं शती ई० तक नेपाल पर मल्लवंस, ठाकुरीवंश, सेनवंश और गोरखावंश का शासन रहा। मल्लवंशीय विद्याप्रेमी राज जयस्थितमल्ल (1385-1392 ई०) ने दक्षिण भारत से महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को बुलाया। उन्हें पशुपतिनाथ मन्दिर मे सेवा तथा पूजा का अधिकार दिया। तब से इस मन्दिर में केवल महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों का ही प्रवेश होता आ रहा है। सम्भवतः यह विशेषाधिकार उस सम्बन्ध के प्रतिफल का परिणाम था, जिसके अनुसार दक्षिण भारत के रामेश्वरम् मन्दिर में अतीत काल से एकमात्र नेपालियों को प्रवेश पाने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है।

भारत का रामेश्वरम् मन्दिर और नेपाल का पशुपतिनाथ मन्दिर, दोनों देशों की धार्मिक एकता के अजर-अमर साक्षी हैं। अतीत काल से अब तक यह नियम चला आ रहा है कि रामेश्वरम् के शिव मन्दिर में नेपाली, शृंगवेरी मठ के जगद्गुरु शंकराचार्य और मन्दिर के मुख्य पुजारी ही प्रवेश कर सकते हैं। इन्ही तीन व्यक्तियो को भगवान् शंकर की पूजा करने का अधिकार है। हमारे पौराणिक एवं धार्मिक ग्रन्थों मे द्वादश ज्योतिलिंगों मे भगवान् पशुपति को आदि ज्योतिलिंग होने का सम्मान दिया गया है। उनकी पूजा-प्रतिष्ठा का एकमात्र अधिकार महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो को है। इसके अतिरिक्त बदरीनाथ और केदारनाथ दोनों देशों की एकता के सनातन आधार रहे हैं।

धार्मिक दृष्टि से दोनों देशों की जनता एक सूत्र में आबद्ध है। भारत की ही भाँति नेपाल मे भी वैष्णव, शैव, शाक्त, तान्त्रिक और बौद्ध आदि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायी लोग हैं। भारत की ही भाँति नेपाल में भी पशुपतिनाथ, गणेश, विष्णु, राम, लक्ष्मी, सीता, पार्वती, सरस्वती, दुर्गा, हनुमान् और बुद्ध आदि देवताओं के असंख्य मन्दिर हैं। इस धार्मिक एकता के कारण दोनों देशो का जन-जीवन एकप्राण होकर पारस्परिक मैत्री सम्बन्धो से बन्धा रहा। आज भी जिस प्रकार नेपालियों के लिए बदरीनाथ, केदारनाथ, काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, जगन्नाथ, सारनाथ, बुद्ध गया, लुम्बिनी, कुशीनगर और काश्मीर पवित्र तीर्थस्थलों के रूप में पूजित है, ठीक वैसे ही पशुपतिनाथ, गुह्येश्वरी देवी, मुक्तिनाथ, गोसाइंकुण्ड, जनकपुर, बाराहक्षेत्र, स्वयम्भू चैत्य और कपिलवस्तु आदि तीर्थस्थान भारतीयों की श्रद्धा-भक्ति के

केन्द्र बने हुए हैं। विश्व में भारत और नेपाल दो ही ऐसे हिन्दू राष्ट्र हैं, जिनकी परम्पराएँ और मान्यताएँ एक सी-हैं।

धार्मिक एकता के अतिरिक्त दोनों देशों में भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से भी अभिन्नता है। नेपाल तथा भारत में पुराकाल से लेकर आज तक संस्कृत एक सम्माननीय भाषा है। उसके अध्ययन-अध्यापन और संरक्षण के लिए दोनों देशों का समान योगदान रहा है। मौर्य, शुग, सातवाहन और गुप्त युगो में भारत के बाद नेपाल संस्कृत का दूसरा केन्द्र था। इन युगों के जितने भी अभिलेख, दानपत्र तथा वंशावलियाँ प्राप्त हुई हैं, वे अधिकतर संस्कृत में ही है। अंशुवर्मन् के समय मे तो नेपाल की राजभाषा संस्कृत थी।

नेपाल के आदि कवि भानुभक्त ने 'रामायण' की रचना करके नेपाली तुलसीदास के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त की। 'भागवत', 'रामायण' और 'महाभारत' का भी नेपाली में अनुवाद हुआ। उनकी प्रेरणा से अनेक काव्य-नाटको की रचना हुई। ज्योतिष, आयुर्वेद तथा व्याकरण आदि विभिन्न विषयो पर भी मौलिक तथा अनूदित कृतियो का निर्माण हुआ। 'अष्टाध्यायी', 'चान्द्र व्याकरण' और 'सारस्वत प्रक्रिया' के आधार पर राजगुरु हेमचन्द्र ने 'चन्द्रिका', पण्डित सोमनाथ ने 'मध्यचन्द्रिका' और देवदत्त ने 'चन्द्रोदय नामक व्याकरण-ग्रन्थों की रचना की। संस्कृत की भाँति पालि भाषा का भी नेपाल मे पर्याप्त प्रचार-प्रसार रहा। बर्नफ द्वारा लिखित 'नेपाली बौद्धधर्म का इतिहास' और राजेन्द्रलाल मित्रा द्वारा लिखत 'नेपाल मे संस्कृत बौद्ध साहित्य' नामक पुस्तकों से नेपाल मे प्रचलित संस्कृत तथा पालि का सम्यक् परिचय प्राप्त किया जा सकता है। नेपाल का अपना समस्त वाङ्मय संस्कृत, पालि तथा नेवारी भाषाओ मे ही सुरक्षित है। आज के नेपाल में हिन्दी को वही स्थान प्राप्त है, जो भारत मे। आधुनिक नेपाल की प्रचलित भाषाओ में हिन्दी प्रमुख है।

भारत और नेपाल की धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और कलात्मक प्रेणा का अजस्र स्रोत हिमालय रहा है। नेपाल के बहुसंख्यक मन्दिर स्तूप, विहार और चैत्य नेपाली वास्तु, मूर्ति और चित्रकला के केन्द्र हैं। इन सब पर गुप्तकला का प्रभाव है। बौद्धधर्म के समन्वयात्मक आदर्शों को आधार मान करके नेपाली कला का विकास हुआ। ललितपुर या पाटन का प्रसिद्ध महाबौद्ध मन्दिर नेपाली स्थापत्य का अनूठा उदाहरण है। नेपाल की पैगोडा शैली ने समस्त एशिया की कला को प्रभावित किया। मल्लवंशीय राजाओं की राजधानी भातगाँव (भक्तपुर) नेपाली कला तथा संस्कृति का विख्यात केन्द्र रहा है। भातगाँव के ह्यातपोल का शिवमन्दिर, दत्तात्रेय का त्रिमूर्ति मन्दिर,

तुलसी देवी का मन्दिर और भक्तपुर का अद्भुत राजभवन स्थापत्य के बेजोड़ उदाहरण माने जाते हैं।

लगभग 9वीं शती ई० में बंगाल के धर्मपाल तथा वितपाल राजाओं के संरक्षण में अजन्ता के अनुकरण पर जिस नयी चित्र शैली का उदय हुआ उसका एक केन्द्र नेपाल भी था। नेपाल में इस शैली के अनेक मूल्यवान् ग्रन्थ-चित्र सुरक्षित हैं। इस प्रकार की बहुमूल्य सचित्र पुस्तकें राष्ट्रीय पुस्तकालय (भूतपूर्व राजगुरु पुस्तकालय) और वीर पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

भारत-नेपाल में विद्वानों और कलाकारों के गमनागमन के कारण साहित्य और कला के क्षेत्र में निरन्तर आदान-प्रदान होता रहा। दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण समय-समय पर भारत से अनेक कलाकार नेपाल गये। इस प्रकार धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और कलात्मक आदि विभिन्न क्षेत्रों मे सुदूर अतीत से लेकर अब तक भारत-नेपाल के अटूट सम्बन्ध बने रहे। इन सम्बन्धों की स्थिरता एवं उनके अधिकाधिक विकास-विस्तार के लिए दोनों देश आज भी प्रयत्नशील हैं।

जापान

जापान में भारतीय संस्कृति, साहित्य और कला का प्रवेश चीन तथा कोरिया के माध्यम से बौद्धधर्म के द्वारा पहुँचा। जापान मे बौद्धधर्म का प्रवेश सर्व प्रथम 552 ई० में हुआ, जब कि कोरिया के शासक ने जापान के सम्राट् किमेई के दरबार में शाक्यमुनि की प्रतिमा के साथ बौद्ध-सूत्रो तथा अन्य बौद्ध ग्रन्थों को भेंटस्वरूप भजा। उस समय बौद्धधर्म में ऐसा चमत्कार था कि वह तुरन्त त्रस्त एवं क्षुब्ध मानवता को प्रभावित कर देता था। इस कारण एशिया भर का बृहत् समाज सहज ही उसके प्रभाव में आ गया।

जापान में बौद्धधर्म के प्रवेश तथा प्रचार-प्रसार की रोचक कहानी है। जिस समय बौद्धधर्म का प्रवेश जापान में हुआ, उस समय वहाँ के लोकधर्म एवं राजधर्म पर शिन्तोधर्म का प्रभाव था। महायानी बौद्धों ने शिन्तोधर्म की मान्यताओं को बौद्धधर्म के साथ समन्वित करके उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया कि जापान की जनता को उसे अपनाने में न तो कोई आपत्ति हुई और न उसका विरोध ही हुआ। बौद्ध मतानुयायियो ने शिन्तोधर्म में पितरपूजा तथा देवपूजा के विश्वासों को वरण करके उनके सम्पूजित देवताओ को बुद्ध के अवतारों के रूप में घोषित किया। इस रूप से महायान बौद्धधर्म ने अपनी

उदारता एवं समन्वयवादी नीति के कारण धीरे-धीरे समस्त जापान पर अपना एकाधिकार कर लिया। लगभग 5वीं, 6ठी शती ई० में जापान के कलाकारों ने भारतीय बौद्ध प्रतिमानों के आधार पर अपनी कला-कृतियों का निर्माण करके जापानी चित्रकला के इतिहास में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। चीन, कोरिया तथा मंगोलिया की कला में बौद्ध प्रभाव की जो सुरुचि, सौम्यता और प्रभावोत्पादकता थी, उसकी रचना-प्रक्रिया के अनुकरण पर जापानी चित्रकला का उत्थान हुआ। जापान के राजकुमार शौतक तायाशी ने 604 ई० में बौद्धधर्म को राष्ट्रीय धर्म के रूप में वरीयता दी, जिसके परिणामस्वरूप जापान में बौद्धधर्म की लोकप्रियता बढ़ी। उसके कुछ वर्ष बाद 607 ई० मे नारा के प्रसिद्ध होरयूजी के मन्दिर का निर्माण हुआ। इस धर्मप्राण राजकुमार की प्रेरणा से जापान मे उत्तरोत्तर मन्दिरों, मठों, कला-सस्थानो तथा साहित्य-प्रतिष्ठानो का नव निर्माण होता गया। जापान का यह प्रसिद्ध मन्दिर भारतीय बौद्ध स्तूपो के अनुकरण पर निर्मित हुआ। उसके स्थापत्य और कला-निर्माण पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है। मन्दिर की दीवारो की चित्रकारी पर अजन्ता शैली का प्रभाव है। इसी प्रकार सेरयूजी के मन्दिर की बुद्ध प्रतिमाओ का आधार गान्धार शैली रही है। इन प्रतिमाओ की शिल्पगत संरचना में भारतीय-जापानी कला-शैलियों का अद्‌भुत समन्वय है।

जापान मे बौद्धधर्म और बौद्ध-साहित्य के प्रचार तथा उन्नयन की दृष्टि से भिक्षु वोधिसेना की जापान-यात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। यह बौद्ध भिक्षु दक्षिण भारत का निवासी था और उसने 739 ई० मे जापान की यात्रा की। बाद मे उसको जापान के बौद्ध मठों का प्रधान बनाकर सम्मानित किया गया। बौद्ध भिक्षुओ के अतिरिक्त व्यापारियो तथा सांस्कृतिक और साहित्यिक सद्‌भावना मण्डलो द्वारा भी जापान मे भारतीय कला का प्रवेश हुआ।

जापान मे इस समय लगभग बारह बौद्ध सम्प्रदाय हैं। प्रत्येक का अधिष्ठाता एक मुख्य भिक्षु है। यह परम्परा इसी रूप में अतीत काल से चलीआ रही है। जापानी बौद्धधर्म के इतिहास मे जिन बौद्ध भिक्षुओ का विशेष योगदान रहा है उनके नाम हैं—कुकइ (774-835 ई०), शिनरन (1175-1262 ई०), डोजेन (1200-1253 ई०) और निचिरेन (1222-1283 ई०)।

जापानी बौद्ध परम्परा में कुकइ सर्वाधिक लोकप्रिय भिक्षु हुआ। वह शिगोन सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसने इस सम्प्रदाय-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों

का निर्माण ही नहीं किया, अपितु शिक्षा, कला तथा समाज-कल्याण के विभिन्न क्षेत्रों मे भी योगदान करके जापानी संस्कृति का पुनरुद्धार किया। उसकी एक कविता आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है, जिसमें जापानी वर्णमाला के 47 वर्णों में बौद्धधर्म के उपदेशों को व्यक्त किया गया है। इस धर्मप्राण भिक्षु ने कोंगोबुजि विहार में शाश्वत समाधि प्राप्त की थी। भिक्षु शिनरन जोदो-शिन सम्प्रदाय के संस्थापक थे। वे आजीवन ग्रामीण एवं किसान जनता के बीच रहे और उन्होंने सामान्य जन-जीवन में बौद्धधर्म के प्रचार तथा प्रसार का कार्य किया। भिक्षु डोजेन सेतो जेन सम्प्रदाय के संस्थापक थे। उन्होंने ध्यान सम्प्रदाय के ईहीजी बौद्ध विहार की स्थापना की। उन्होंने इस सम्प्रदाय के नये नियम बनाये, जिनको ध्यान सम्प्रदाय के सभी विहारो ने स्वीकार किया। जापानी बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में उनकी कृति 'सत्यसिद्धान्तसार' (शो-बो-जेन-जो) का, जिसके सिद्धान्तो को अन्य सम्प्रदायो ने भी मान्य रूप में ग्रहण किया, बडा महत्त्व है। भिक्षु निचिरेन ने अपने नाम से 'निचिरेन' सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जिसकी व्यापक ख्याति हुई और जिसके बहुसख्यक अनुयायियो ने इस भिक्षु को 'महाबोधिसत्व' के रूप मे पूजित एव प्रतिष्ठित किया।

भिक्षु निचिरेन परम देशभक्त तथा त्यागी व्यक्ति थे। उन्होंने 'सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र' को बौद्धधर्म का एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकार किया और उसकी शिक्षाओ का व्यापक प्रचार करके जापान की मंगोलियन आक्रमण से रक्षा की। अपने इन विचारों के कारण उनको अनेक बार अपनी सरकार से भी दण्डित होना पडा; किन्तु उनकी देशभक्ति तथा सादे जीवन के कारण वे विजयी रहे। जापान के लोगो के बीच उनका बहुत उच्च स्थान था और विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करने के फलस्वरूप तो वे इतिहास मे एक देशभक्त भिक्षु के रूप में अमर हो गये।

सिक्किम

आधुनिक विश्व के नवोदित राष्ट्रो की श्रृंखला में सिक्किम का भी एक उल्लेखनीय नाम है। हिमालय की दिव्य घाटियो मे बसा हुआ यह सिक्किम राज्य अपनी प्राकृतिक एवं भौतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक गरिमा के कारण अत्यन्त दर्शनीय एवं सुरम्य है। अपने अपूर्व प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण वह विश्व के सैलानियो की जिज्ञासा का केन्द्र बना रहा। उसकी हिम-धवल पर्वत मालाएँ, रमणीय झीलें और दिव्य घाटियो को गुजायमान करती हुई सदानीरा नदियाँ और सुदूर अंचलों तक फैले हुए देवदारु, बाँज, बुराँस के सघन वन एक अवर्णनीय सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। अपनी इन विशेषताओं के बावजद

सिक्किम, आधुनिक सभ्यता और विकास-कार्यों की दृष्टि से उपेक्षित ही रहा। इधर पिछले वर्षों से सिक्किम में कई नयी योजनाएँ चालू की गयी हैं।

सिक्किम का प्राचीन इतिहास अभी तक अज्ञात है। उसके अतीत की धुंधुली और बिखरी हुई कड़ियों को जोड़ने में धर्म के साक्ष्य उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। ईसा की आरम्भिक शतियों में बौद्धधर्म का प्रवेश तिब्बत और नेपाल में हो चुका था। जो धर्म प्रचारक भिक्षु बौद्धधर्म का महान् सन्देश उत्तरापथ की ओर ले गये थे, उनकी नामावली बौद्ध-ग्रन्थों में सुरक्षित है। यह बौद्धधर्म उत्तरापथ में इतनी तीव्रता से फैला कि समस्त उत्तरी भू-खण्ड बौद्ध विहारों, मठों तथा गोम्पाओं से जगमगाने लगा। सिक्किम भी इस प्रभाव से अछूता न रहा, यद्यपि वहाँ बौद्धधर्म का प्रवेश बहुत बाद मे हुआ। तिब्बत के माध्यम से सिक्किम में बौद्धधर्म का प्रवेश लगभग 12वी शती ई० में हुआ। किन्तु विहारो का निर्माण कार्य 14वी शती ई० मे प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार के प्राचीन विहारों में सुब्दी विहार का नाम मुख्य है। उसके बाद पैमोयोग्ची (पद्मायागची) विहार का नाम आता है, जिसका निर्माण 15वी शती ई० के अन्त मे हुआ। सिक्किम का यह सबसे बडा विहार है। वह धर्म, ज्ञान और कला का महान् केन्द्र है और उसका पुस्तक-सग्रह बहुमूल्य है। वहाँ के भित्तिचित्र और मूर्तियाँ सिक्किम की कला की एकमात्र महत्त्वपूर्ण धरोहर हैं। अशोक और परवर्ती अनेक भारतीय शासकों के अनुकरण पर सिक्किम के प्रथम लेप्चा शासको ने बौद्धधर्म को राजधर्म के रूप मे स्वीकार किया। बौद्धधर्म की इस परम्परा को आगे बढ़ाने मे तिब्बत के लामाओं का विशेष योगदान रहा। सिक्किम के शासकों से उनका निरन्तर सम्बन्ध बना रहा।

सिक्किम में लेप्चा, भोट और नेपाली जातियों की प्रमुखता है। वहाँ के निवासी बौद्ध तथा हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। धार्मिक सहिष्णुता और एक-दूसरे की सस्कृति तथा-मान्यताओं का आदर-सम्मान करना सिक्किमवासियो के स्वभाव का विशेष गुण रहा है। बुद्ध और शक्ति उनके उपास्य हैं। बुद्धानुयायी समाज तथागत बुद्ध की उपासना के साथ-साथ वसमुजा देवी की भी अर्चना-उपासना करते हैं। हिन्दू लोग विष्णु, गणेश और अन्यान्य देवी-देवताओं के उपासक हैं। वहाँ पूजा-उपासना की पद्धति भारत जैसी ही है।

बौद्धधर्म के माध्यम द्वारा सिक्किम से भारत का सम्बन्ध चिर पुरातन है। पिछले तीन सौ वर्षों से दोनो देशों के राजनीतिक सम्बन्ध भी हैं। समन्वित भारतीय संस्कृति और धार्मिक उदारता के आदर्शों को सिक्किम में पूरी तरह से चरितार्थ किया गया। कुमायूं, गढ़वाल और सिक्किम के सांस्कृतिक एवं धार्मिक

परम्पराओं के आधार लगभग समान हैं। यह सांस्कृतिक एकता भूटान, तिब्बत और नेपाल तक फैली हुई है। उनमें भाषा-साम्य ही नही, रक्त-सम्बन्ध भी है। उनके इस पारस्परिक रक्त-सम्बन्ध का ज्वलन्त प्रमाण उनकी मुखाकृति और उनके रहन-सहन के स्तर में आज भी देखने को मिलता है।

सिक्किम के इतिहास की बिखरी हुई कड़ियों को जोडने पर ही उसके साथ भारत के अतीतकालीन सम्बन्धों की परम्परा को प्रामाणिकता के साथ स्थापित किया जा सकता है। जहाँ तक आधुनिक सिक्किम का सम्बन्ध है, भारत ही एकमात्र ऐसा देश है, जिसने उसके नव निर्माण में पूरा योगदान किया। भारत के सहयोग से आधुनिक सिक्किम मे चतुर्मुखी विकास के लिए अनेक योजनाएं कार्यान्वित हो रही हैं। ये योजनाएँ कृषि, यातायात, संचार, विद्युत, उद्योग-व्यवसाय, चिकित्सा, शिक्षा और संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित है। इधर दोनों देशों के सांस्कृतिक शिष्टमण्डलों के गमनागमन के कारण दोनों देशों के मैत्री सम्बन्धों के वर्तमान तथा भावी विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

भूटान

आधुनिक विश्व के नवोदित राष्ट्रों में भूटान का विश्व के मानचित्र में विशिष्ट स्थान है। उसको यह अन्तरराष्ट्रीय सम्मान दिलाने मे भारत का प्रमुख योगदान रहा है।

सिक्किम की ही भाँति भूटान का इतिहास भी सर्वथा अज्ञात है। आठवी शती ई० के मध्य से उसके राजनीतिक एवं शासनिक इतिहास का आरम्भ माना जाता है; किन्तु उसकी उत्तरोत्तर परम्परा सर्वथा विछिन्न एवं अस्त-व्यस्त है। भौगोलिक दृष्टि से भूटान के उत्तर मे तिब्बत, दक्षिण में असम तथा दार्जिलिंग, पूर्व में बोमडिला, डिब्रूगढ़ तथा डाफला पहाड़ियाँ और पश्चिम में सिक्किम तथा नेपाल हैं। इस प्रकार भूटान की दक्षिण-पश्चिम की लगभग ढाई सौ वर्गमील लम्बी सीमा भारत से लगी हुई है। भारत की ही भाँति भूटान में अनेक जातियों तथा सम्प्रदायों और मतों के लोग रहते हैं। उनमें भूटानी, मंगोल, तिब्बती और नेपाली प्रमुख हैं।

भूटान में अनेक जातियों तथा संस्कृतियो का संगम होने के कारण वहाँ के धार्मिक अनुष्ठान तथा कर्मकाण्ड की विधियाँ सर्वथा भिन्न हैं। भूटान के प्रमुख देवता धुर्मा राजा हैं। उनकी विशालकाय अतिमानुषाकार प्रतिमा के सामने भूटानवासी विभिन्न वाद्ययन्त्रों के साथ संगीतबद्ध भजन गाते हैं। उनकी हिन्दू

दे वी-देवताओं और बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की अर्चना-पूजा की पद्धतियाँ भी सर्वथा निजी हैं। धर्मप्राण भूटानियों के धार्मिक क्रिया-कलापों का अनुष्ठान किसी नवागन्तुक के लिए आकर्षण का विषय होता है। भूटान की भाषाएँ तिब्बती भारतीय मूल की हैं।

भूटान बौद्ध देश है। उसके साथ भारत के, तिब्बत और सिक्किम के माध्यम से, परम्परागत सम्बन्ध रहे हैं। ये सम्बन्ध धार्मिक स्तर पर अधिक रहे हैं। इन पुरातन धार्मिक सम्बन्धों का यद्यपि क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है, तथापि इतना निश्चित है कि उत्तरापथ को बौद्धधर्म की जन-मंगलकारी वाणियों को प्रचारित-प्रसारित करनेवाले धर्मप्राण भिक्षुओं का भूटान से भी सम्बन्ध बना रहा। बौद्धधर्म के प्रचारक इन सन्तों, महात्माओं के प्रयास से हिमालयवर्ती सिक्किम, भूटान और तिब्बत, तीनों देशों की धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता बनी रही। तिब्बत उनका पवित्र तीर्थ रहा। ल्हासा के प्रति भूटानियों का वही आदर-सम्मान रहा, जो किसी समय पश्चिमवासियों का रोम के प्रति था। इस प्रकार भूटान से भारत के सीधे सम्बन्ध न होकर तिब्बत के माध्यम से रहे हैं।

आधुनिक भूटान के साथ भारत के सम्बन्धों की स्थापना 1770 ई० से आरम्भ हुई। इन सम्बन्धों का आधार राजनीतिक था और भूटान की स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता का समर्थक होने के कारण भारत के ये सम्बन्ध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होते गये। 1947 ई० में भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के कारण भारत में ब्रिटिश सरकार के शासन-सम्बन्धी सारे उत्तराधिकार भारत को प्राप्त हुए। सिक्किम तथा भूटान को भी ब्रिटिश शासन से मुक्ति मिली। इस तरह भारत-भूटान का दो स्वतन्त्र देशो की भाँति पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हुए। इन सम्बन्धों की स्थिरता तथा उत्तरोत्तर विकास के लिए दोनों देशो के राज्याध्यक्षों का समय-समय पर एक-दूसरे के देश में गमनागमन हुआ। दोनो देशो के सद्भावना मण्डलों द्वारा भी नये सम्बन्धो की पुनः स्थापना हुई।

सम्प्रति भूटान भी भारत की ही भाँति स्वतन्त्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्र है और दोनों देश समानता के आधारों का आदर करते हैं। अपने इस नवोदित पड़ोसी राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति में भारत निरन्तर योगदान करता आ रहा है। भारत के आर्थिक तथा तकनीकी सहयोग से भूटान के यातायात, संचार, विद्युत्, उद्योग-व्यवसाय, कृषि, शिक्षा और सांस्कृतिक परियोजनाओ का संचालन हो रहा है।

● ● ●

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

•

अग्रवाल, वासुदेवशरण : गुप्ता आर्ट, लखनऊ, 1948; कला और संस्कृति, प्रयाग, 1952; इण्डिया, ऐज नोन टु पाणिनि, लखनऊ, 1953; हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1953; मार्कण्डेय पुराण, एक सांस्कृतिक अध्ययन, प्रयाग, 1957; पाणिनिकालीन भारतवर्ष, बनारस, वि० 2012; भारतीय कला, वाराणसी, 1966.

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल : पतञ्जलिकालीन भारत, पटना, 1963.

अबुल फज़ल : आईने-अकबरी (अनु०), कलकत्ता, 1973-94.

अरविन्द, योगिराज : भारतीय संस्कृति के आधार (अनु०), पाण्डिचेरी 1968; भारतीय संस्कृति (अनु०), पाण्डिचेरी, 1968.

अलबेरूनी : अलबेरूनी का भारत (अनु०), इलाहाबाद, 1967.

अल्तेकर, ए० एस० : एजुकेशन इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, बनारस, 1948; स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, बनारस, 1950.

अवस्थी, रामाश्रय : खजुराहो की देव प्रतिमाएँ (खण्ड-1), आगरा, 1967.

अहमद, लईक : भारतीय मध्यकालीन संस्कृति (अनु०), इलाहाबाद, 1968.

आचार्य, प्रसन्न कुमार : डिक्शनरी ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर, आक्सफोर्ड 1917; आर्किटेक्चर ऑफ मानसार, आक्सफोर्ड, 1933.

आत्रेय, भीखनलाल : भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, लखनऊ, 1964.

आनन्द, मुल्कराज : दि हिन्दू व्यू ऑफ आर्ट, लन्दन, 1942.

आप्टे, वी० एम० : सोशल ऐण्ड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज, बम्बई 1939.

आयंगर, पी० टी० एस० : भोजराज, मद्रास, 1731.

आर्चर, डब्ल्यू० जी० : बाजार पेंटिंग्स ऑफ कलकत्ता, लन्दन, 1953; गढ़वाल पेंटिंग्स, लन्दन, 1954.

इलियट, एच० एम० ऐण्ड डाउसन, जे० : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऐज टोल्ड बाई इट्स हिस्टोरियन्स; मुगलकालीन भारत (अनु०), दिल्ली, 1966; भारत का इतिहास (अनु०), आगरा, 1972.

उपाध्याय गंगाप्रसाद : वैदिक कल्चर, दिल्ली, 1949.

उपाध्याय, भगवतशरण : गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, 1969.

उपाध्याय, भरतसिंह : पालि साहित्य का इतिहास, प्रयाग, वि० 2008.

उपाध्याय, रामजी : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, इलाहाबाद, 1966.

उपाध्याय, वासुदेव : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रयाग, 1939; प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, वाराणसी 1961; प्राचीन भारतीय मुद्राएँ, पटना, 1971, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुफा एवं मन्दिर, पटना, 1972.

एलेन : ब्रिटिश म्यूजियम कैटलॉग ऑफ क्वाइन्स ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, लन्दन, 1936.

ऐवलॉन, आर्थर : प्रिंसिपल ऑफ तन्त्र, मद्रास, 1951.

ओझा, गौरीशकर हीराचन्द : राजपूताने का इतिहास, अजमेर, जयपुर, 1983-88.

ओझा, दशरथ : नाटय समीक्षा, दिल्ली, वि० 2016.

ओरिएण्टल सीरीज : राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देयर टाइम्स, पूना, 1934.

कनिंघम : स्तूप ऑफ दि भरहुत, कलकत्ता, 1879.

कनिंघम, आर्थर : हिस्ट्री ऑफ दि सिक्स, कलकत्ता, 1885.

कपूर, कालिदास : भारतीय सभ्यता का इतिहास, लखनऊ, 1939.

कर्मवेलकर, वी० डब्ल्यू० : दि प्लेस ऑफ अथर्ववैदिक कल्चर इन टु इण्डो-आर्यन कल्चर, नागपुर, 1922.

कविराज, गोपीनाथ : भारतीय सस्कृति और साधना, पटना, 1963.

काणे, पाण्डुरंग वामन : धर्मशास्त्र का इतिहास (तीन जिल्दों में, अनु०), लखनऊ, 1965.

कार्पेण्टर, जे० ई० : थीइज्म इन मेडीवल इण्डिया.

कावेल (अनु०) : जातक, क्रैम्ब्रिज, 1905.

कीथ, ए० बी० । हिस्ट्री ग्रॉफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, 1920; दि रिलिजन ऐण्ड फिलासॉफी ग्रॉफ दि वेदाज ऐण्ड उपनिषद्स, हार्वर्ड यू० प्रेस, 1925; बुद्धिस्ट फिलासॉफी इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन, लन्दन, 1935; संस्कृत ड्रामा, ग्राक्सफोर्ड, 1954; संस्कृत नाटक (ग्रनु०), दिल्ली, 1965; संस्कृत साहित्य का इतिहास (ग्रनु०), वाराणसी, 1967.

कीलहार्न : कात्यायन ऐण्ड पतंजलि, देयर रिलेशन टु इन ग्रदर ऐण्ड पाणिनि.

कुमार विमल : सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, दिल्ली, 1967.

कुमारस्वामी, ए० के० ऐण्ड गोपालकृष्णय्या : दि मियर ग्रॉफ जेश्वर, लन्दन, 1917.

कुमारस्वामी, ए० के० : इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन ग्रार्ट, मद्रास, 1923; हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन ग्रार्ट, लन्दन, 1927; दि डान्स ग्रॉफ शिवा, बम्बई, 1952.

कृष्णमाचार्य, एम० । हिस्ट्री ग्रॉफ क्लेसिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, 1937.

कृष्णा राव : ग्रर्ली डायनेस्टीज ग्रॉफ दि ग्रान्ध्र देश, मद्रास, 1942.

क्रॉम, एन० जे० : दि लाइफ ग्रॉफ बुद्ध ग्रॉन दि स्तूप ग्रॉफ बोरोबुदुर.

खाण्डेलवाल, कार्ल : इण्डियन स्कल्पचर ऐण्ड पेंटिंग, बम्बई, 1938; दि लैण्ड रागमाला मिनिएचर्स, ग्राक्सफोर्ड, 1953; पहाड़ी मिनिएचर पेंटिंग, बम्बई, 1958.

गांगोली, ग्रो० सी० ऐण्ड ग्रबर्स : दि ग्रार्ट ग्रॉफ चन्देल्स, कलकत्ता, 1956.

गांगोली, ग्रो० सी० : इण्डियन ग्रार्ट ऐण्ड हेरिटेज, कलकत्ता, 1957.

गाइल्स : फाहियान, लन्दन, 1906.

गोर्डन, डी० एच० : भारतीय सस्कृति की प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि (ग्रनु०), पटना, 1970.

गुप्त, परमेश्वरीलाल : भारतीय वास्तुकला, वाराणसी, वि० 2003; गुप्त साम्राज्य, वाराणसी, 1970.

गेरिनी, जी० ई० : रिसर्चेज ग्रॉन टालेमीज ज्योग्राफी.

ैरोला, वाचस्पति : संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, 1960; भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, 1963; वैदिक साहित्य ग्रौर संस्कृति, इलाहाबाद, 1963.

गोइट्ज, हरमन : इण्डियन पैंटिंग इन दि मुस्लिम पीरिएड, बम्बई, 1941.

गोखले, बी० जी० : प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति, बम्बई, 1957.

गोपालचारी : दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि आन्ध्र कण्ट्री, मद्रास, 1942.

गोरख प्रसाद : भारतीय ज्योतिष का इतिहास, लखनऊ, 1956.

ग्रिफिथ : पैण्टिंग्स इन दि बुद्धिस्ट केव्ज ऑफ अजन्ता, लन्दन, 1896.

घोष, एन० एन० : अर्ली हिस्ट्री ऑफ कौशाम्बी, इलाहाबाद, 1935.

घोष, मनमोहन : अभिनयदर्पण (अनु०), कलकत्ता, 1934.

चटर्जी, बी० आर० : इण्डियन कल्चर इन्फ्लुएन्स इन कम्बोडिया.

चतुर्वेदी, परशुराम : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, इलाहाबाद, वि० 2021.

चतुर्वेदी, सीताराम : भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, लखनऊ, 1964; कालिदास ग्रन्थावली, काशी, वि० 2019.

चाऊ सिआंग कुआंग : चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, प्रयाग, वि० 2013.

चित्राव, सिद्धेश्वरशास्त्री : प्राचीन चरित्रकोश, पूना, वि० 2021.

चौधरी, जे० बी० : हिस्ट्री ऑफ दूतकाव्य ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1937.

जहाँगीर : तुजुक-ए-जहाँगीरी (अनु०), लन्दन 1909-14.

जायसवाल, काशीप्रसाद : हिन्दू राजतन्त्र (अनु०), प्रयाग, काशी, 1984.

जैन, हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल 1962.

जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम : मथुरा मूर्तिकला, मथुरा, 1966.

टर्न, डब्ल्यू० : दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया, कैम्ब्रिज, 1938.

टामस, ई० जे० : हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट थॉट.

टेलर, आइजक : दि ओरिजन ऑफ अर्यन्स, लन्दन, 1889.

टैगोर, अवनीन्द्रनाथ : षडंग ऑर दि सिक्स लिम्ब्स ऑफ पेंटिंग्स, कलकत्ता, 1921; भारत शिल्प के षडंग (अनु०), इलाहाबाद, 1958.

टैगोर, रवीन्द्रनाथ : प्राचीन साहित्य (अनु०), बम्बई, 1933.

ठाकुर, आद्यादत्त : वेदों में भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 1967.

तकाकुसु, जे० : ईत्सिंग, ए रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन ऐज प्रेक्टिस्ड इन इण्डिया ऐण्ड मलय आर्चीपेलागो, लन्दन, 1943.

तिलक, बालगंगाधर : आर्कटिक होम इन दि वेदाज, पूना, 1903; श्रीमद्भगवद्-गीता और कर्मयोग रहस्य (अनु०), पूना 1955.

त्रिपाठी, आर० एस० : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, दिल्ली, 1959.

दत्त, नलिनाक्ष : ऐस्पेक्ट ऑफ महायान इन रिलेशन टु हीनयान, लन्दन, 1930.

दत्त, भूपेन्द्रनाथ : इण्डियन आर्ट इन रिलेशन टु कल्चर, कलकत्ता, 1956.

दत्त, रमेशचन्द्र : प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास (अनु०), दिल्ली, 1962.

दास, एस० सी० : ऋग्वैदिक इण्डिया, कलकत्ता 1927.

दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता, 1947; सौन्दर्य तत्त्व (अनु०), इलाहाबाद, वि० 2007; हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी, कैम्ब्रिज, 1955; भारतीय दर्शन का इतिहास (अनु०), जयपुर, 1972.

दास, एस० के० : एजुकेशन सिस्टम ऑफ ऐंश्येण्ट हिन्दूज कलकत्ता, 1925; दि एकनोमिक हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता 1925.

दीक्षित, बालकृष्ण : भारतीय ज्योतिष (अनु०), लखनऊ, 1957.

दुबे, श्यामाचरण : मानव और संस्कृति, दिल्ली, 1967.

दे, एन० एल० : ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1943.

देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, लखनऊ, 1957.

दे, सुशीलकुमार : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, कलकत्ता, 1942; अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव फेथ ऐण्ड मूवमेण्ट इन बंगाल, कलकत्ता, 1945.

द्विवेदी, हजारी प्रसाद : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, बम्बई, 1952; मध्ययुगीन धर्मसाधना, प्रयाग, 1956; नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, दिल्ली, 1963.

धनंजय : दशरूपक, बम्बई 1928.

पाटिल, डी० आर० : कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम दि वायुपुराण, 1921.

पाण्डेय, चन्द्रभान : आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, दिल्ली, 1963.

पाण्डेय, राजबली : अशोक के अभिलेख, वाराणसी, 1965; विक्रमादित्य, वाराणसी, वि० 2016.

पाण्डेय, विनोदचन्द्र तथा सिंह, के० : भारतीय संस्कृति का विकास, लखनऊ, 1972.

पाण्डेय, सिद्धनाथ : पोजिशन ऑफ ब्राह्मण्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1969.

पार्जिटर, एफ० ई० : ऐंश्येण्ट इण्डियन ट्रेडिशन्स, ग्राक्सफोर्ड, 1922.

पाल, सुचितेन्द्रनाथ : भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का इतिहास (अनु०), जयपुर, 1968.

पावगी, नारायण भवनराव : दि आर्यावर्तिक होम ऐण्ड दि ग्रार्यन क्रेडल इन सप्तसिन्धूज, पूना, 1910.

पिगट, एस० : प्रि-हिस्टारिक इण्डिया.

पुरी, बी० एन० : इण्डिया ऐट दि टाइम्स ऑफ पतञ्जलि, बम्बई, 1957; सुदूर पूर्व मे भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 1962.

पुशलकर, ए० डी० : स्टडीज इन दि एपिक्स ऐण्ड पुरान्स ऑफ इण्डिया, बम्बई, 1963.

पुणताम्बेकर, श्रीकृष्ण व्यंकटेश : भारतीय लोकनीति और सभ्यता, काशी, वि० 1991.

फर्कुहर : माडर्न रिलीजस मूवमेण्ट्स इन इण्डिया, ग्राक्सफोर्ड, 1920.

फर्गुसन ऐण्ड बर्गेस : केव टेम्पुल्स ऑफ इण्डिया, लन्दन, 1880.

फर्गुसन : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, लन्दन, 1910.

फाबरी, चार्ल्स लुई : भारत का मूर्तिशिल्प (अनु०), दिल्ली, 1970.

फास्बोल : दि जातकाज, लन्दन, 1977-97.

बनर्जी, जे० एन० : दि डेवलपमेण्ट ऑफ हिन्दू इकॉनोग्राफी, कलकत्ता, 1956; पौराणिक ऐण्ड तान्त्रिक रिलिजन, कलकत्ता, 1966.

बनर्जी, प्रभानाथ : पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, लन्दन, 1916.

बर्गेस, जे० : दि बुद्धिस्ट स्तूपाज ऐट अमरावती ऐण्ड जग्गयापेट, लन्दन, 1887.

बाजपेयी, कृष्णदत्त : उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, आगरा, 1959; भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ, 1972.

बाबर : बाबरनामा (अनु०), इलाहाबाद, 1968.

बिनियोन, लारेन्स : दि कोर्ट पेंटिंग्स ऑफ दि ग्रेड मुगल्स, लन्दन, 1921.

बील, एस० : लाइफ ऑफ ह्वान च्वांग, लन्दन, 1914; सी-यू-की रेकर्ड्स ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, लन्दन, 1918.

बुद्धप्रकाश : भारतीय धर्म एवं संस्कृति, मेरठ, 1967.

बेनीप्रसाद : स्टेट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, प्रयाग, 1922.

बोस, एन० एस० : हिस्ट्री ऑफ दि चन्देलाज ऑफ जेजाकमुक्ति, कलकत्ता, 1956.

ब्राउन, पर्सी : इण्डियन पैंटिंग, कलकत्ता, 1947.

भगवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, लाहौर, 1935; भारतीय संस्कृति का इतिहास, दिल्ली, वि० 2022.

भट्ट, गौरीशंकर : भारतीय संस्कृति, एक समाजशास्त्रीय समीक्षा, दिल्ली, 1965.

भट्टाचार्य, एच० : दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया (सम्पा०).

भट्टाचार्य, सुखमय : महाभारतकालीन समाज (अनु०), इलाहाबाद, 1966.

भण्डारकर, आर० जी० : दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ डकन, बम्बई 1895, वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, स्ट्रेनवर्ग, 1913.

भरत : नाट्शास्त्र (अभिनवभारती सहित), बड़ोदा, 1954; नाट्यशास्त्र (अंग्रेजी अनुवाद), कलकत्ता, 1956.

भारतीय विद्याभवन : हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल, बम्बई, 1958.

भारद्वाज, दिनेशचन्द्र : मध्यकालीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति, भोपाल, 1967.

भोज, महाराज : समरांगणसूत्रधार, सेंट्रल लाइब्रेरी, बड़ोदा, 1925.

मंकड, डी० आर० : ऐंश्येण्ट इण्डियन थियेटर, दिल्ली, 1950.

मजुमदार, एच० सी० : अर्ली हिस्ट्री ऑफ बंगाल, ढाका, 1924.

मजुमदार, डी० एन० : भारतीय संस्कृति के उपादान (अनु०), बम्बई, 1958; प्रागितिहास (अनु०), दिल्ली, 1967.

मजुमदार, रमेशचन्द्र ऐण्ड पुशलकर, ए० डी० : दि हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल (भाग 1-5), लन्दन-बम्बई 1950-57.

मजुमदार, रमेशचन्द्र : भारतीय जन का इतिहास (अनु०), दिल्ली, 1968 बृहत्तर भारत (अनु०) जयपुर, 1971; ऐंश्येण्ट इण्डियन कॉलोनीज इन दि फॉर ईस्ट.

मार्शल, सर जॉन एच० ऐण्ड अदर्स : दि बाघ केव्स इन दि ग्वालियर स्टेट, लन्दन, 1927; मोहेन-जो-दारो ऐण्ड दि इण्डूज सिविलाइजेशन, कलकत्ता, 1922-27.

मिराशी, वासुदेव विष्णु : वाकाटक राजवंश का इतिहास, वाराणसी, 1966; कलचुरि नरेश और उनका काल, भोपाल, वि० 2022.

मिश्र, शिवशेखर : भारतीय संस्कृति में आर्येतरांश, लखनऊ, 1953.

मुंशी, के० एम० : सेज ऑफ इण्डियन स्कल्पचर, बम्बई, 1957.

मुकर्जी, राधाकमल : दि कल्चर ऐण्ड आर्ट ऑफ इण्डिया, लन्दन, 1959; भारत की संस्कृति और कला (अनु०), दिल्ली, 1959; भारतीय कला का विकास (अनु०), इलाहाबाद, 1964.

मुकर्जी, राधाकुमुद : लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया; हिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग, लन्दन, 1912, ऐंश्येण्ट इण्डियन एजुकेशन, लन्दन, 1926; हिन्दू सभ्यता (अनु०), दिल्ली, 1958, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल (अनु०), दिल्ली, 1962.

मुकुन्दीलाल : गढवाल स्कूल आफ पेंटिंग, नई दिल्ली 1967.

मेकडोनल और कीथ : वैदिक इण्डेक्स (अनु०), वाराणसी, 1912.

मेकडोनल, ए० ए० : वैदिक माइथोलॉजी, ट्रांसबर्ग, 1897, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, 1920; वैदिक इण्डेक्स ऑफ नेम्स ऐण्ड सब्जक्ट्स, वाराणसी, 1958.

मेहता, नानालाल चमनलाल : भारतीय चित्रकला, (अनु०), इलाहाबाद, 1933.

मेकालिफ : सिख रिलिजन, इट्स गुरूज, सेक्रेट टाइटिंग्स ऐण्ड आवर्स, लन्दन, 1644.

मैके, ई० : चान्हूदड़ो; अर्ली इण्डूज सिविलाइजेशन.

मैक्रिंडल, ए० ए० : दि इनविजन ऑफ अलेक्जैण्डर दि ग्रेट, वेस्टमिस्टर, 1893; ऐंश्येण्ट इण्डिया, ऐज डैस्क्राइब्ड बाई मेगास्थनीज ऐण्ड एरियन, लन्दन, 1877; दि वैदिक माइथोलॉजी, वाराणसी, 1963.

मैक्समूलर, एफ० ए० : इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस (सीरीज), 1883; वैदिक माइथोलॉजी, वाराणसी, वि० 2018; हिस्ट्री ऑफ ऐंश्येण्ट संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, 1860; भारत से हम क्या सीखें (अनु०), इलाहाबाद, 1964; दि बुक्स ऑफ दि ईस्ट (सम्पा०).

मोतीचन्द्र : दक्खिनी कलम, बीजापुर, वाराणसी, 1952; सार्थवाह, पटना, 1953, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, वि० 2007.

याजदानी, जी० : अजन्ता, लन्दन 1946.

यूसुफ अली, ए० : कल्चरल हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डिया.

राइज डेविड्स, टी० डब्ल्यू० : मिलिन्दपञ्हो (अनु०), ग्राक्सफोर्ड, 1890; बुद्धिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1950.

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली : धर्म और समाज (अनु०), दिल्ली 1960; भारतीय दर्शन (अनु०), दिल्ली, 1969; दि हिन्दू व्यू ग्रॉफ लाइफ दि उपनिषद्स.

रानाडे, ग्रार० डी० : कांस्ट्रक्टिव सर्वे ग्रॉफ दि उपनिषदिक फिलासॉफी, पूना, 1926.

रानाड, महादेव गोविन्द : रिलिजस ऐण्ड सोशल रिफार्म, पूना, 1938.

राय, उदयनारायण : प्राचीन भारत के नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद, 1965.

राय, गोविन्दचन्द्र : भरत नाट्यशास्त्र मे नाट्यशालाग्रो के रूप, वाराणसी, 1958.

राय चौधुरी, एच० सी० : दि ग्रर्ली हिस्ट्री ग्रॉफ वैष्णव सेक्ट्स, कलकत्ता 1930; पॉलिटिकल हिस्ट्री ग्रॉफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1930.

रालिन्सन, एच० जी० : इण्डिया ऐण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, कैम्ब्रिज, 1916; इण्डिया, ए शार्ट कल्चर हिस्ट्री, कैम्ब्रिज, 1727.

रिजवी, सैयद ग्रतहर ग्रब्बास : तैमूरकालीन भारत, ग्रलीगढ़, 1958.

रेऊ, विश्वेश्वरनाथ : राजा भोज, प्रयाग, 1932.

रैप्सन, ई० जे० . कैटलॉग ग्रॉफ दि कोइन्स ग्रॉफ ग्रान्ध्र डायनेस्टी, लन्दन, 1908; दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डिया, लन्दन, 1955, भारतीय इतिहास के स्रोत : सिक्के (ग्रनु०), वाराणसी, 1966.

रोलेण्ड, बेंजैमिन : दि वाल पेंटिंग्स ग्रॉफ इण्डिया, सेंट्रल एशिया ऐण्ड सीलोन, बोस्टन, 1938.

लॉगहर्ट : दि बुद्धिस्ट एण्टिक्विटीज ग्रॉफ नागार्जुनीकोण्डा.

लाहा, विमलचरण : ऐश्येण्ट इण्डियन ट्राइब्ज, कलकत्ता, 1932; उज्जयिनी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, ग्वालियर 1944; प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, (ग्रनु०), लखनऊ, 1972.

ली मे, ग्रार० : दि कल्चर ग्रॉफ साउथ-ईस्ट इण्डिया 1933.

लूअर्स, सी० ई०, तथा लेले, के० : परमारस ऑफ धार ऐण्ड मालवा, बम्बई, 1908

लेग्गे : फाहियान, आक्सफोर्ड, 1886.

लेवी, साइलावेन : प्रि-प्रार्यन ऐण्ड प्रि-द्राविडियन इन इण्डिया, कलकत्ता, 1929.

वत्स, एम० एस० : एक्सकैवेशन ऐट हड़प्पा.

वर्मा, जगमोहन : फाहियान का यात्रा विवरण (अनु०), काशी, वि०, 2000.

वर्मा, राधाकान्त : भारतीय प्रागितिहास, इलाहाबाद, 1970.

वाटर्स, टी० ग्रॉन : युग्रान-च्वाङ्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, लन्दन, 1905.

वाशम, ए० एल० : हिस्ट्री ऑफ डाक्ट्रिन ऑफ दि आजीविकाज, कलकत्ता, 1959.

विंटरनित्स, एम० : प्राचीन भारतीय साहित्य (अनु०), पटना, 1961.

विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक, कलकत्ता, 1958.

विद्यार्थी, मोहनलाल : इण्डियाज कल्चर थ्रो दि एजिज, कानपुर, 1951; भारतीय संस्कृति, कानपुर, 1954.

विद्यालंकार, जयचन्द्र : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, प्रयाग, 1933.

विद्यालंकार, सत्यकेतु : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, मसूरी, 1953.

वियोगी, मोहनलाल महतो : जातककालीन भारतीय संस्कृति, पटना, 1958.

विलियम्स, सर मोनियर : ब्राह्मनिज्म ऐण्ड हिन्दूज्म, लन्दन, 1887, भारतीय प्रज्ञा (अनु०), वाराणसी, 1965.

विल्सन, डब्ल्यू० जे० : हिन्दू माइथोलॉजी, वैदिक ऐण्ड पौराणिक, लन्दन, 1900.

विल्सन, एच० एच० ऐण्ड अदर्स : थिएटर ऑफ हिन्दूज, कलकत्ता, 1955.

वेंकटाचलम्, जी० : कान्टेम्पोरेरी इण्डियन पेंटर्स, बम्बई, 1948.

वेबर : ऑन दि डेट ऑफ पतञ्जलि.

वैद्य, सी० : महाभारत मीमांसा (अनु०), पूना, 1950.

व्यास, शान्तिकुमार नानूराम : रामायणकालीन संस्कृति, नई दिल्ली, 1958.

शर्मा, आर० एस० : शूद्राज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1958.

शर्मा, ठाकुर प्रसाद : ह्वेन-त्सांग की भारतयात्रा (अनु०), प्रयाग, 1972.

शर्मा, मनमोहनलाल : भारतीय संस्कृति और साहित्य, अजमेर, 1967.

शर्मा, रघुनन्दन : वैदिक सम्पत्ति, बम्बई, 1987.
शामशास्त्री, आर० : वेदांग ज्योतिष, मैसूर 1936.
शास्त्री, उदयवीर : सांख्य दर्शन का इतिहास, सहारनपुर, वि० 2007.
शास्त्री, के० ए० नीलकण्ठ : मौयज ऐण्ड सातवाहनाज, मद्रास, 1939; नन्द-मौर्ययुगीन भारत, वाराणसी, 1969.
शास्त्री, चतुरसेन : भारतीय संस्कृति का इतिहास, मेरठ, 1952.
शास्त्री, मंगलदेव : भारतीय संस्कृति का विकास, वाराणसी, 1956.
शास्त्री, शकुन्तला राव : वोमेन इन वैदिक एज, बम्बई, 1954.
शाह, उमाकान्त परमानन्द : स्टडीज इन जैन आर्ट, बनारस, 1955.
शिन्दे : रेलिजन ऐण्ड फिलासॉफी ऑफ अथर्ववेद, पूना, 1952.
शिवराममूर्ति, सी० : अमरावती स्कल्पचर्स, मद्रास, 1942.
शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ : प्रतिमा विज्ञान, लखनऊ, वि० 2013; भारतीय स्थापत्य, लखनऊ, 1968.
शेपीरो, हेरी एल० : मानव सस्कृति तथा समाज (अनु०), भोपाल, 1971.
सचाओ, ई० सी० : अल्बेरुनीज इण्डिया, पापुलर एडिशन, 1914.
सन्तराम बी० ए० (अनु०) : ईत्सिंग की भारतयात्रा, प्रयाग, 1925.
सम्पूर्णानन्द : आर्यों का आदि देश, प्रयाग, वि० 1987.
सरकार, यदुनाथ : फॉल ऑफ दि मुगल एम्पायर.
सरकार, विनयकुमार : हिन्दू एचीवमेंट्स इन ऐक्जैक्ट साइंस, कलकत्ता, 1942; ए कोर्स ऑफ माडर्न इन्टेलेक्युअल कल्चर, कलकत्ता, 1945.
सरस्वती, दयानन्द : ऋग्वेद भाष्य भूमिका, लाहौर, वि० 1992.
सांकृत्यायन, राहुल : बौद्ध संस्कृति, कलकत्ता, 1952, ऋग्वेदिक आर्य, इलाहाबाद 1957.
सागरनन्दि : नाटकलक्षणरत्नकोश, आक्सफोर्ड, 1937.
सारस्वत, केदारनाथ शर्मा (अनु०) : काव्य मीमांसा, पटना, 1954.
सावरकर, विनायक दामोदर : भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ (अनु०), लखनऊ, 1970.
सिन्हा, पी० एन० : दि स्टडी ऑफ भागवतपुराण, मद्रास, 1950.
सिंह, राजेन्द्र प्रताप : द्वीपसमूह का सास्कृतिक अध्ययन, आगरा, 1970.
सोलोमन, डब्ल्यू० ई० : मास्टर पीसेज ऑफ मुगल आर्ट, बम्बई, 1920.
स्कॉफ : पेरिप्लस ऑफ दि एरीथियन सी, लन्दन, 1912.

स्मिथ, विन्सेण्ट ए० : जैन स्तूपाज ऐंण्ड अदर एण्टिक्विटोज फ्रॉम मथुरा, इलाहाबाद 1901; अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (चतु० सं०), आक्सफोर्ड, 1924; अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1913; ए कैटलॉग ऑफ इण्डियन क्वायन्स इन इण्डियन म्यूजियम्स, कलकत्ता, 1921; ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन, आक्सफोर्ड, 1930.

हजारा, रमेशचन्द्र : पुराणिक रेकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स, कलकत्ता, 1940; इण्डियन कल्चर, कलकत्ता, 1948, स्टडीज इन दि उप पुरान्स, कलकत्ता, 1958.

हुसेन, एस० आबिद : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति (अनु०), झाँसी, वि० 2015

हैवल, ई० बी० : इण्डियन स्कल्पचर्स ऐण्ड पैंटिंग, लन्दन, 1908, दि हिमालयाज इन इण्डियन आर्ट, लन्दन, 1908.

होपकिन्स, ई० डब्ल्यू० : एपिक्स माइथोलॉजी, ट्रान्सबर्ग, 1915.

ह्वीलर, जे० टी० : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, लन्दन, 1869.

पत्र-पत्रिकाएँ और ग्रन्थमाला

आकियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया
दि जरनल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल
दि जर.ल ऑफ दि बिहार ऐण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी
एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
इण्डियन ऐन्टीक्वेरी
एपिग्राफिया इण्डिका
इण्डियन कल्चर
मैनुअल ऑफ जेयोलॉजी
सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट (ग्रन्थमाला)
जर्मन ओरिएण्टल जरनल
जरनल ऑफ गगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट
बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज
इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया
इण्डियन कल्चर

● ● ●

सांकेतिका

अ

आ

इ

ऊ

ऋ

ए

ऐ

ओ

औ

क

ख

ग

प

फ

ब

भ

म

य

र

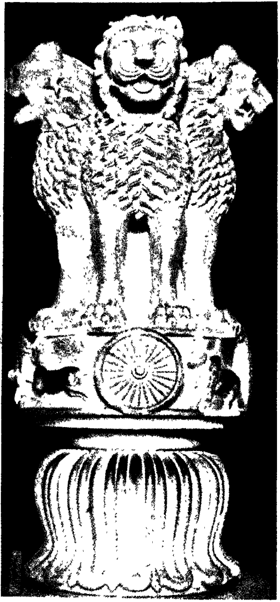
श

ह

प्लेट I



चतुष्कोण मुद्राएँ
मोहनजोदारो, 3000-2500 ई० पूर्व



सिंहशीर्ष (प्रस्तर)
सारनाथ, 3री शती ई० पूर्व

प्लेट III



वृषभशीर्ष (प्रस्तर)
रामपुरवा, 3री शती ई० पूर्व



मातृ देवी (मृत्तिका)
2री शती ई० पूर्व

प्लेट V



महिला मूर्ति (मृत्तिका)
कौशाम्बी, 2री शती ई० पूर्व

प्लेट VI



यक्षी (प्रस्तर)
भरहुत, 2री शती ई० पूर्व

प्लेट VII



यक्ष (प्रस्तर)
पीतलखोडा, प्रथम शती ई० पूर्व

प्लेट VIII



धनपति कुबेर (प्रस्तर)
अहिच्छत्रा, 2री शती ई०

प्लेट IX



बुद्ध (प्रस्तर)
अहिच्छत्रा, 2री शती ई०

प्लेट X



वेदिका स्तम्भ (प्रस्तर)

मथुरा, 2री शती ई०

प्लेट XI



जैन तीर्थंकर का शिर (प्रस्तर)
मथुरा 2री शती ई०

प्लेट XII



बुद्ध (प्रस्तर)
मथुरा, 3री शती ई०

प्लेट XIII



शिराकृति (चूर्ण)
गान्धार, 3री शती ई०

प्लेट XIV



बोधिसत्व (प्रस्तर)
गान्धार, 5वी शती ई०

प्लेट XV



एकमुखी शिवलिंग (प्रस्तर)

भूमरा (मध्य प्रदेश) 5वीं शती ई०

प्लेट XVI



युगल मूर्ति (प्रस्तर)
नाचना (मध्य प्रदेश), 5वीं शती ई०

प्लेट XVII



बुद्ध (प्रस्तर)
मथुरा, 5वी शती ई०

प्लेट XVIII



गंगा (मृत्तिका)
अहिच्छत्रा, 5वीं शती ई०

प्लेट XIX



बोधिसत्व का शिर (मृत्तिका)
अखनूर (जम्मू), 5वीं शती ई०

प्लेट XX



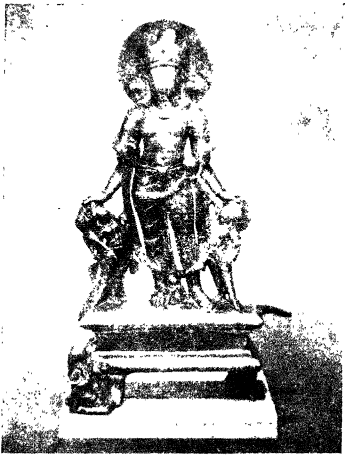
चामरगाहिणी (पीतल)
अकोटा, 7वीं शती ई०

प्लेट XXI



सूर्य मन्दिर (प्रस्तर)
महाबलीपुरम्, 7वी. 8वी शती ई०

प्लेट XXII



विष्णु (पीतल)
काश्मीर, 8वीं शती ई०

प्लेट XXIII



नटराज (पीतल)
तिरुवलगडु (दक्षिण), 11वीं शती ई०



पत्र लिखती हुई महिला (प्रस्तर)
खजुराहो, 11वीं शती ई०

प्लेट XXV



माता और शिशु (प्रस्तर)
खजुराहो, 11वीं शती ई०



नायिका (प्रस्तर)
भुवनेश्वर, 11वीं शती ई०

प्लेट XXVII



सुर-सुन्दरी (प्रस्तर)
जमुआ-जमसोत (इलाहाबाद), 11वीं शती ई०

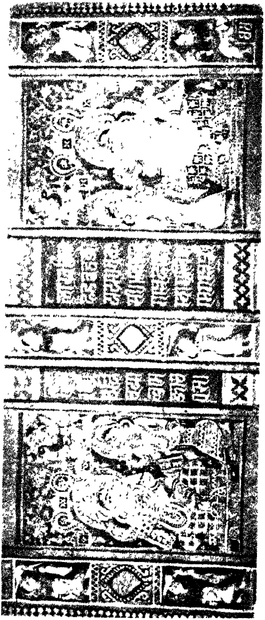


प्रज्ञापारमिता (प्रस्तर)
जावा, 13वीं शती ई०



चतुर्भुज शिव (ताम्र)
दक्षिण भारत, 14वी शती ई०

प्लेट XXV



पश्चिम भारत, 16वीं शती ई०
जैन 'कल्पसूत्र' का चित्रित पृष्ठ

प्लेट XXXI



रामायण का एक दृश्य
मुगल शैली (अकबरकालीन), 16वीं शती ई०

प्लेट XXXII



ककुभ रागिनी

राजपूत शैली, 18वीं शती ई०

प्लेट XXXIII



कजरी वन में जंगली हाथियों को बांधना

राजपूत शैली, 18वी शती ई०

प्लेट XXXIV



कृष्ण और राधा
राजपूत शैली, 18वीं शती ई०

प्लेट XXXV



मुगल चित्र
दकनी कलम, 18वीं शती ई०

प्लेट XXXVI



द्वार पर

गगनेन्द्रनाथ टैगोर, 20वीं शती ई०